प्रकाशक— हुकमचन्द्र जैन
(पार्षद नगर-निगम, जबलपुर)
मन्त्री—म. प्र. वर्णी जैन साहित्य मंदिर, जबलपुर

प्रथमावृत्ति— १०००

मूल्य— पन्द्रह रुपये मात्र

मुद्रक— सरस्वती प्रेस, पान दरीबा, जबलपुर

श्री

समयसार कलश प्रवचन भाग ३, ४

तृतीय भाग अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ-संख्या

आश्रवाधिकार

समयसार कलश प्रवचन चतुर्थ भाग
(बन्धाधिकार)

क्रम	विषय	पृष्ठ-संख्या
१३१५	उपयोगमे विकारको ले जाना व विकारमे उपयोगको ले जाना इन दो प्रतिपादन पद्धतियोका तथ्य	२६५
१३१६	मैं यह हूँ व यह मैं हूँ इन दो प्रतिपादनपद्धितियोंका अन्तर	२६६
१३१७	आर्षवचनोमे अनेक रहस्य	२६६
१३१८	निरर्गल प्रवर्तनकी अनुचितता	२६७
१३१९	अकामकृत कर्ममे ही बन्धकी अकारणता	२६७
१३२०	निष्कामकर्मयोग व अकामकृत कर्मका विश्लेषण	२६८
१३२१	ज्ञाताके कर्तृत्वका अभाव व कर्ताके ज्ञातृत्वका अभाव	२६८
१३२२	जीवविकार व अजीवविकारके द्वैविध्यके प्रतिपादनसे आत्मा अनात्मामे भेदका समर्थन	२६९
१३२३	कर्ताका लक्षण कर्मराग	२६९
१३२४	मोहसम्पर्कसे अज्ञानमय भावकी मुद्राका निर्माण	२७०
१३२५	जानन और विकार मे अनाटकी सूचना	२७१
१३२६	विशुद्ध अभेदषट्कारताके परिचयका प्रताप	२७१
१३२७	कर्मरागकी सकटमूलता	२७२
१३२८	कर्मरागकी ससारबधहेतुता तथा मिथ्याध्यवसायरूपता	२७२
१३२९	बुद्धिपूर्वक विकारके प्रसगम उपादान, निमित्त व आश्रयभूत साधनका परिचय	२७२
१३३०	निर्विवाद प्रगतिमार्गपर चलनेका अनुरोध	२७३
१३३१	मिथ्याध्यवसायकी ससारबन्धतरूपता व बन्धहेतुता	२७४
१३३२	अकालमृत्युमे भी आयुकी उपभोगमे क्षीयमाणता	२७४
१३३३	बहिरगसाधनोमे अन्यके प्रति अकर्तृत्व व निमित्तत्वाभाव	२७५
१३३४	सर्व ससारियोकी सुख दुःख आदिकी कर्मविपाकप्रभवता	२७५
१३३५	अचेतनविकारमे उपादान निमित्तका प्रसग व बुद्धिपूर्वक चेतनविकारमे उपादान निमित्त व आश्रयभूत साधनका प्रसग	२७६
१३३६	अज्ञानी जनोका मिथ्याध्यवसाय	२७६
१३३७	मिथ्याध्यवसायका एक दृष्टान्त	२७६
१३३८	कमरागकी मिथ्याध्यवसायरूपताका समर्थन	२७७
१३३९	कष्टरूप अज्ञानमयभावको दूर हटानेका सदेश	२७७
१३४०	सर्वत्र आयुकर्मकी स्वोपभोगसे क्षीयमाणता	२७८
१३४१	स्थितिपूर्वनिर्जरणकी उपयोगिता	२७८
१३४२	आयुकर्मके स्थितिपूर्वनिर्जरणका दिग्दर्शन	२७९
१३४३	निमित्तनैमित्तक योगकी प्रतिनियत व्यवस्थामे होते हुएका विशिष्ट ज्ञानियो द्वारा ज्ञान हो जानेकी दृष्टिमे कार्यके निश्चित समयका बोध	२८०
१३४४	अज्ञानवश हुए कर्मरागकी व्यग्रता	२८०
१३४५	अध्यवसाय दूर करनेकी प्रकरणसे शिक्षा	२८१
१३४६	कर्मरागकी ससारबधहेतुता	२८१
१३४७	अध्यवसायोकी अज्ञानात्मकता व निष्फलता	२८२

प्रकाशकीय



श्री अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त-न्याय-साहित्य शास्त्री पूज्य १०५ क्षु. श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज के चातुर्मास योग का शुभ सयोग श्री भगवान महावीर २५०० वें निर्वाण महोत्सव वर्ष मे मिला। इस ऐतिहासिक एव सास्कृतिक महापर्व के पुनीत प्रसग पर जन-जन मे महावीर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का उत्साह परिलक्षित हो रहा था। महावीर स्वामी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने हेतु भौतिकी प्रयासो की सर्वत्र गूज सुनाई देती थी। लेकिन हमारे जीवन को निरन्तर पीडित, चिंता, व्यामोह आदि से उन्मुक्त रखने की दिशा मे हमारे प्रयास सार्थक कैसे हो, इस पर जब श्री वर्णीजी महाराज के विचार सुने गये तो उन्होने स्वाध्याय की महत्ता प्रतिपादित की। उनकी ही प्रेरणा से हमने स्वपर कल्याणकारी सस्था के रूप मे सस्था को जन्म दिया। नि'सन्देह हमे स्थानीय समाज के साथ ही कुछ अन्य स्थानो के विशिष्ट समाजसेवी, धार्मिक सज्जनो का सहयोग व आश्वासन मिला जिससे हम अपने कार्यको प्रगति दे सके। उनसब के सहयोग के लिये सस्था आभारी है।

चातुर्मास के इस पुनीत अवसर पर हमारे दैनिक जीवन मे कुछ क्षण हमे चिंतन मनन के लिये मिले और जिन्होने सत्सग का लाभ लिया उन्होने अपने जीवन मे वास्तविक आनद का स्वर्ण सयोग प्राप्त किया। श्री वर्णी जी एक तपस्वी साहित्यसाधक एव चारित्रिक सम्पदा के धनी मे रूप के किसी देश या सप्रदाय से बधे नही है। अत्यत उदारमना, निष्पक्ष विचारधारा एव सर्वसाधारण के हितू के रूप मे न केवल समाज वरन सम्पूर्ण देश की निधि है तथा ज्ञान एव सयम की दृढतम मूर्ति हैं। उन्होने अपने जीवन का मूल आधार निरन्तर चिंतन मनन व लेखन ही बना रखा है। इसकी साधना मे वे दिन रात अथक परिश्रमशील हैं।

सस्कृत, हिन्दी, प्राकृत आदि मे साहित्य लिखकर सर्वसाधारण को ज्ञान की अनुपम दिशा दी है। अनेक क्लिष्ट विषयो को सरलरूप मे प्रकट करके तो मानो गागर मे सागर भर दिया है। निःसदेह हमारे जीवन मे एक ऐसी प्रेरणा मिली है जिससे हम ग्रथो के पठन पाठन मे अभिरुचि लेने लगे है। अभी तक के सहजानद साहित्य की ओर हम दृष्टि डालें तो हमे ज्ञात होगा कि छोटे बडे लगभग ४५० ग्रथ रचे गये जिनमे लगभग ३०० प्रकाशित हो चुके हैं।

नि.सन्देह ही श्री वर्णी जी ने अपने जीवन को साहित्यमय बना लिया है। निरतर जिनवाणी की सेवा गद्य मे ही नही अपितु पद्य के माध्यम से भी आत्मविभोर होकर की है। यौवन के २६ वसत भी न बीत पाये थे तभी वैराग्य भावना बलवती हो गई थी। आपने अनेक आध्यात्मिक भजन लिखे है जिन्हे गुनगुनाकर कोई भी आत्मतत्वरसिक आत्मविभोर हो जाता है। जनकल्याण की दृष्टि से भजनो के रिकार्ड तैयार कराये गये हैं। यह कार्य भी समय की आवश्यकता है।

जैन धर्म के तत्वो को उद्घाटित करने के लिये आपकी निष्पक्ष लेखनी ने चिंतन मनन हेतु अपूर्व मार्गदर्शन दिया है। निर्मल ज्ञानधारा के साथ ही चारित्रिक धरोहर को सम्भालने के लिये हमे सभी स्तरो पर अनुशासनबद्ध रहकर विचार करना होगा। हमे आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि श्री वर्णी जी के जीवन से हमे श्रद्धा की पृष्ठभूमि के साथ ज्ञान एवं चारित्र की साधना एव आराधना करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

प्रस्तुत ग्रथ 'समयसार कलश —प्रवचन' श्री वर्णी जी महाराज द्वारा श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य की समयसार कलश टीका पर दिन प्रतिदिन का शब्दश प्रवचन है। पढते समय ऐसा आभास होता है जैसे साक्षात वर्णी जी उपस्थित होकर बोल रहे हैं। प्रवचनो को विषय के अनुरूप शीर्षबद्ध किया गया है जिससे प्रतिपादित विषय पर लक्ष्य बना रहता है। हमारा तो यह निश्चित मत है कि यदि ग्रथ का नियमित स्वाध्याय चले तो स्व के साथ ही अनेक जीवो को यथेष्ठ मार्गदर्शन मिलेगा। आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त होगा और मानव जीवन सार्थक होगा। श्री मध्यप्रदेशीय वर्णी जैन साहित्य मदिर के प्रथम पुष्प के रूप मे इसका प्रकाशन हो रहा है। वर्तमान मे पहला दूसरा व तीसरा-चौथा भाग प्रकाशित हो सका है। शीघ्रही पाँचवा-छटवा भाग प्रकाश मे आवेगा जिससे समयसार कलश प्रवचन सम्पूर्ण हो सकेगा। साहित्य के प्रचार प्रसार की दिशा मे कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लेकर जन अभिरुचि जागृत कर नित्य स्वाध्याय की परम्परा बनाने का जब हमारा प्रयास सफल होगा तभी हम प्रकाशन का मूल्यांकन कर सकेंगे केवल ग्रन्थ सग्रह रूप मे न रह कर नित्यप्रति आत्म चिंतन, मनन, विचार विमर्श की सामग्री बने तभी आत्मबोध हो सकेगा। इस प्रकाशन को यदि व्यापक समर्थन मिला तो निकट भविष्य मे हम जनसाधारण को अभिरुचि के अनुरूप प्रकाशन सामग्री भेंट करेंगे।

सभी शुभेच्छुओ के प्रति पुन आभार व्यक्त करता हू,।

अनतचतुर्दशी
वीर नि० स० २५०३

शुभेच्छु
हुकमचद जैन 'पार्षद'
मत्री



आभार प्रदर्शन



श्री मध्यप्रदेशीय वर्णी जैन साहित्य मंदिर की स्थापना हेतु समाज के अदम्य उत्साही सहयोगी कार्यकर्ताओं मे निःसन्देह एक विशिष्ठ लगन थी, फलस्वरूप किंचित विषमताओं के रहते हुये भी यह पुनीत कार्य सम्पादित हो सका। सर्व प्रथम हम चिरऋणी है श्री १०५ क्षु श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के जिन्होने जनसाधारण को जैनधर्म के गूढतत्वो को विभिन्न दृष्टिकोण से समझाने हेतु साधारण बोलचाल की भाषा में ग्रंथ प्रस्तुत किया। भू पू माननीय मुख्य मन्त्री श्री प्रकाशचन्द जी सेठी के जिन्होंने ग्रंथो के प्रेस मे रहते हुये भी ग्रंथ का प्रारंभिक विमोचन किया। इसके अतिरिक्त हमे श्री मुलायमचदजी इन्जीनियर, श्री सि. कोमनचदजी, श्री बाबूलाल पारस, माता व सुमनिबाई, भाई गुलाबचदजी नायक, ब्र०गोकुलचदजी, भाई सभाचद जी प मोहनलालजी, श्री खूबचदजी खादीभडार, भाई प्रेमचद नरेशचद जी जिनसे सरस्वती भडार के साथ ही आर्थिक सहयोग अपेक्षित है एव भाई दर्शनाचार्य गुलाबचदजी आदि का प्रभावी सहयोग मिला है। सस्था इनकी आभारी है। सभी दान-दाताओं के प्रति जिनमें महिलायें भी सम्मिलित हैं, सस्था आभारी रहेगी। आजीवन सदस्य बनकर योजना को सफल बनाने हेतु जो भी महानुभाव सहयोगी बने हैं वे सभी धन्यवाद के पात्र है।

मानसिक व शारीरिक श्रम के सहयोगी श्री मोहनलाल चिल्लरवाले, श्री गलवलीलाल जी श्रीमती विद्याबाई डेवढिया, सरोजबाई शिक्षिका आदि सदैव हमारे आदर के पात्र हैं।

प सुशील कुमार जी दिवाकर, श्री सेठ हरिश्चद्र जी, श्री धन्नालालजी, दादा नेमचद जी, प श्री ज्ञानचद जी, श्री फूलचन्द जी एडवोकेट आदि ने श्री वर्णी जी के प्रवचन मनोयोग से धर्मलाभ लेते हुये सुनकर सस्था के निर्माण हेतु वातावरण बनाने मे सहयोग दिया। सस्था आप सबकी आभारी है।

अत मे हमारे प्रथम प्रयास में यदि कही असावधानी से छपाई मे, ग्रन्थ के क्लिष्ट विषय का अनुभव न होने से भावो को लिपिबद्ध करने मे त्रुटियाँ रह गई हो तो विज्ञ पाठक वृन्द से सानुरोध निवेदन है कि वे अवश्य ही मार्ग सुझायेगे। हम उनके आभारी रहेगे।

पुन जिनवाणी की पुनीत सेवा में तनमनधन से समर्पण करने वाले सभी उदारमना सज्जनो के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

अनतचतुर्दशी
वीर नि० स० २५०३

विनयान्वत
हुकमचंद जैन 'पार्षद'
मत्री

卐 आत्म कीर्तन 卐

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।। टेक ।।

मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहाँ राग वितान ।। १ ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञाननिधान ।।
किन्तु आश वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।। २ ।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुख का नहिं लेश निदान ।। ३ ।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।।
राग त्यागि पहुँचू निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ।। ४ ।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ।।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।। ५ ।।

श्री मध्यप्रदेशीय वर्णी जैन साहित्य मंदिर के आजीवन सदस्य बनने सबंधी नियम :-

(अ) आजीवन प्रतिष्ठापक—१०००१) रु० प्रदान करने वाले या १२००१) रु० की वस्तु, कमरे आदि के लिये दान देनेवाले सज्जन ।

(ब) आजीवन सरक्षक—५००१) रु० प्रदान करने वाले या ६००१) रु० की सामग्री भेंट करने वाले सज्जन ।

(स) आजीवन प्रवर्तक—२००१) रु० प्रदान करने वाले या ३००१) रु० की सामग्री भेंट करने वाले सज्जन ।

(ड) आजीवन सयोजक—१००१) रु० प्रदान करने वाले या १६०१) रु० की सामग्री भेंट करने वाले सज्जन ।

(इ) आजीवन सहयोगी—५०१) रु० प्रदान करने वाले या ७५१) रु० की सामग्री दान करने वाले सज्जन ।

(ई) प्रारंभिक सदस्य—२०१) रु० प्रदान करने वाले सज्जन ।

(फ) हितैषी सदस्य—मनवचनकाय से सस्था की सेवा करने वाले सज्जन ।

शान्तमूर्ति, अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त-न्याय-साहित्यशास्त्री, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, स्वपरकल्याणरत संत



पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज



समयसार कलश प्रवचन ३-४ भाग

तृतीय भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

तदथ कर्म शुभाशुभभावतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

८३१—नकली असली व आन्तरिक नाटक—

अब जो कि कर्म शुभ और अशुभके भेदसे दोपनेको प्राप्त हो गया था उसको एक ही रूप करता हुआ अर्थात् एक ही श्रेणीमे करता हुआ अब ज्ञानामृतका प्रवाह प्रकट होता है, जो इस मोहभावको दूर कर देता है। इस कलशमे अथ शब्द कहनेसे कितनी ही स्फूर्तियां आती हैं। इससे पहले जो नाटक देख रहा था यह मानव चलने फिरने, लडने-झगडने, आदिकका, वह जानता था कि यह सब इसका असली नाटक चल रहा है और जो उसकी फिल्म उतार ली जाती हैं रीलमे तो वह उसका नकली नाटक हो गया, लेकिन लोगोकी दृष्टि, लोगोकी उमग नकली नाटकपर विशेष रहती है, असली नाटक जो रात दिनके २४ घटेमे गुजर रहा उसको देखनेकी उमग नही जगती है। तो जैसे ये दो प्रकारके नाटक हैं—असली नाटक और नकली नाटक, ऐसे ही इन दोनो प्रकारके नाटकोसे परे एक तीसरा नाटक जो अपने ही आत्मप्रदेशोमे चल रहा है, उसकी तो यह जीव कुछ खबर ही नही रखता।

८३२—जीवके नाटककी भूमिका—

पहिले तो जीव अजीवका परिचय किया था, फिर नाटक शुरू किया गया। तो कर्ता कर्मके भेषमे नाटक चल रहा था। यह जीव कर्ताके भेषमे आया और ये पौद्गलिक कर्मवर्गणायें कर्मके भेषमे आयी, तो आवो, दो ने अपना भेष बनाया, मगर यह अज्ञानी कर्ता अपनेको अलग नही समझता था। यह कर्म मेरा है ऐसा ही मानता रहा, तो उन दोनोका परस्पर सम्बन्ध हो गया कर्ता और कर्म। कर्ता कौन बना था ? कर्ता वह जीव था जिसने अपने उपयोगमे छाये हुए, प्रतिविम्बित हुए कर्मरसको जुदा नही जाना और उसे आत्मारूपसे अनुभव किया और आत्मारूपसे अनुभव करनेके कारण उसके अनुकूल अपनी क्रिया बनी। कौन है कर्ता ? जिसने अपने अन्दरसे उन दोका भेद नही समझा—जीव और कर्म, जीव और पुद्गल और उस कर्मपुद्गलका रस विपाक जो इसके उपयोगमे प्रतिफलित हो गया उसीको अपनाकर रह गया, यह ही मैं वडा अच्छा, इसमे ही प्रीति जग गई, अपने स्वरूपमे रुचि तो नही हुई, किन्तु अपनेमे जो कर्मरस झलका उसमे रुचि जगी। ऐसे जीव कितने है ? अनन्तानन्त। उन्हे अपनी खबर ही नही कि मैं वास्तवमे कुछ हूँ। जो निरन्तर वाहरी साधनोपर दृष्टि रखती है, यह मकान, वैभव, इज्जत, कुटुम्ब और बाहर ही बाहर उपयोग चलता है और वहाँ ही इष्ट अनिष्ट लगा करता है, यह सब भीतरके अपराधका फल है।

८३३—कर्मलीलाके प्रसंगकी रुचि छोडकर भागवती स्वानुभूतिकी उपासनामे भलाई—

मोहीने यहाँ भेद नही कर पाया कि मैं तो यह चैतन्यरस मात्र हूँ और यह सब जो झलक है क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, यह सब कर्मरसकी छाया है, कर्मलीला है, इसमे बढनेसे तो मैं बरबाद ही होता हूँ। जो इनमे नही पडे वे बने भगवान। भगवानकी भक्ति करे और उस समयमे इतना ध्यान रखे कि प्रभुने इस कर्मलीलासे अपनेको निराला समझ लिया था और उसकी बिल्कुल उपेक्षा कर दी थी तो यह भगवान बने। मैं ऐसा नही कर पा रहा था, ससारमे चल रहा था, अब मैं करूँगा यह ही। दूसरा काम मेरे करनेको इस जीवनमे क्या है ? इन सारे अनन्त कालोमे भी कुछ नही है। इस आत्मोद्धारके कामके सिवाय बाकी सब काम जो जीवनमे किए जाते हैं व्यर्थ हैं, इस जीवनमे करनेका एक यह ही काम है कि मै अपना असली स्वरूप जानकर वहाँ ही रुचि करूँ, मरकर किसी दूसरी जगह जन्म पाऊँगा तो वहा भी वास्तवमे करनेका यह ही काम है, दूसरा काम मेरे करनेके लिए है ही नही। बडा सकट है इस जीवपर। जो एक व्यर्थका अध्यवसान बन गया, लगाव बन बैठा। मकान, दूकान, धन वैभव परिवार गोष्ठी, ये मेरे है इस तरहका जो लगाव बना भीतरमे, चित्तमे यह तो एक विकट विपत्ति है। जो लोग इस दुर्गाकी उपासना न करे वे बडी भारी विपत्तिमें हैं। दुर्गाके मायने है स्वानुभूति। दुर्गा नामकी देवी कोई अलग नही। जो बडी कठिनाईसे पाई जाय वह है दुर्गा। अपने आपमे वह शक्ति है जो स्वानुभवमे जगने वाली शक्ति है वह इन कर्म शत्रुओका विध्वस कर देती है। वह शक्ति है स्वानुभूति। ज्ञानकी ओरसे देखो तो यह सरस्वती है, और इसका फल क्या हो रहा। कषायोका विध्वस बन जाता। उसकी ओर से देखो तो यह ही स्वानुभूति महाकाली है, लेकिन अनेक सन्यासी शक्तिके रूपमे दुर्गाकी उपासना करते हैं, अरे वह है कहा। क्या चीज है ? अपने आत्मतत्त्वको पहिचाने तो इसमे ही वह शक्ति है, बस वही उपासनाके योग्य है और उसकी उपासनामे ज्ञानविकास होता है, कर्मका विध्वस होता है। ज्ञानविकासकी ओरसे देखें तो यह स्वानुभूति सरस्वती है और कर्म-विध्वसकी ओरसे देखे तो यह स्वानुभूति काली है। तो यह स्वानुभूति कैसे प्राप्त हो, इसका उद्यम करे, बाकी तो जो कुछ मिला है, जो पुण्यबध हुआ उसका फल है। कमानेसे क्या मिलता ? आपके विशुद्ध परिणामोका फल है कि ये सब चीजें प्राप्त हुई।

८३४—बहुरूपियाके मूलरूपकी पहिचानमे बहुरूपियापनका नि सरण—

हा जो नाटक चल रहा था, जिस नाटकमे अटकनेसे स्वानुभूति नही हो पा रही थी उस नाटकका वर्णन इससे पहले कर्ता कर्म अधिकारमे किया गया। इस जीवने अभी तक यह प्रतीति नही रखी कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ मेरे मे ज्ञान (जानन) परिणमन होता रहता है, बस मैं जानता हूँ, यह तो प्रतीतिमे नही लाया यह जीव और मैं करता हू, इस पर पदार्थको करता हू, अमुकको करता हू, ऐसा करनेका विकल्प करता है। तो जब इस बहुरूपियोको पहचान लिया गया, जैसे कर्मवर्गणाये तो एक शुद्ध पुद्गलके रूपमे है। जहा जीवके शुभ अशुभ भावका निमित्त पाया वहा वे कर्म बन बैठे। कर्म बने, यह बहुरूपियापन हो गया। यह जीव तो विशुद्ध चित् प्रतिमास मात्र है स्वरूपत, मगर कर्मरसमे यह जीव आकर्षित हो गया तो यह नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, इन सब रूपोको धारण कर रहा है, इस कारण यह मोही अज्ञानी जीव बहुरूपिया बन गया। जब इसने पहचान लिया कि यह तो असलमे यह है तो जैसे जब कोई बहुरूपिया आपकी दूकानपर आफीसर या पोस्टमैन वगैरह कुछ बनकर आता है और आप उसे पहिचानकर कह देते कि आप तो अमुकलाल हैं तो झट वह वहा से आगे बढ जाता, वह जानता है कि यहासे मुझे कुछ

मिलनेका नही है, इसने मेरी पोल जान ली है, वह अब शिथिल हो गया क्योंकि उसके बहुरूपियापनका अहकार रहा नही, जो जिसने रूप धारण किया वह उस रूपकी ओरसे ही ज्ञानके साथ बात कर सकता। वह ताकत तो उसमे अब रही नही इससे वह भाग जाता है। बस यह ही बात तो इस कर्ता कर्मकी हुई। जब ज्ञानी पुरुषने जान लिया कि यह चित् तो चित् ही है, चित्प्रतिभासमात्र है और ये ये कर्म कार्माणवर्गणा जातिके पुद्गल स्कध हैं, जब उन बहुरूपियो की असली मूल स्थिति जान ली तो ये कर्ता कर्म भेष छोडकर इस रगभूमिसे निकल भागते है। अब उसके बाद क्या होगा ? उसका जिक्र चल रहा है। वे दो आपसमे पार्ट अदा कर रहे थे एक दूसरेके प्रति—अज्ञानी जीव और पौद्गलिक कर्म और परस्पर व्यवहार चल रहा था और एक दूसरेके निमित्तसे अपनी अपनी लीलाका बढावा दे रहे थे, लेकिन यह पार्ट से निकल गया, खेल हो गया।

८३५—एकके दो भेषोमे एकताके परिचयके प्रभावकी सूचना—

अब दो का तो परस्परका नाटक उठ गया सो सिलसिलामे वह एक पौद्गलिक कर्म अब वही शुभ और अशुभके भेषमे इस रगभूमिमे आता है अपना नाटक दिखानेके लिए, यह भी भेष है, इसे भी पहिचान लेगा ज्ञानी और जब जान लिया तो यह भी भेष न रहेगा, पर ये कर्म अब शुभकर्म, अशुभकर्म, पुण्यकर्म, पापकर्म ऐसे दो रूप रखकर आये। इसका वर्णन इस अधिकारमे आयगा कि कैसे ये दो है और कैसे ये एक हैं ? इस कलशमे यह बतला रहे कि यो पुण्यकर्म, पापकर्म इन रूपोमे आया यह दो बनकर, मगर जब एक ज्ञानका प्रवाह चला, भीतरसे ज्ञानका एक प्रकाश फैला, प्रवाह चला तो उस प्रवाहमे मोहरज दूर हो गई। तब यह सम्यक् ज्ञान प्रकट हो गया कि ये दोनो एक है—पुण्यकर्म और पापकर्म, ये दो मूलसे कोई भिन्न-भिन्न दो व्यक्ति नही है, दो पदार्थ नही है, किन्तु वे तब एक पौद्गलिक कर्म ही तो हैं। इस तरह पुण्यकर्म और पापकर्ममे दोनोको एकतासे देखते हुए अब ज्ञान प्रकट हुआ है। यह एक सूचना रूप कलश है।

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः स्वयमयमहं स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

८३६—भ्रमवश एक ही के दो रूपोकी मान्यता—ये पौद्गलिक कर्मवर्गणाये रूप, रस, गध, स्पर्श वाली है, तो यह मूलमे है एक ही कर्म, इसके जो दो रूप बन गए, पुण्यकर्म और पापकर्म उसका आधार भ्रम है। और बन कोई कैसे गए ? जीवके विभावका निमित्त पाकर बन गए तो इस दृष्टिसे यो समझिये कि ये जीवके विभावसे उत्पन्न हुए हैं पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ विभाव। कुछ अच्छा राग जगे उपकारका, दयाका, भक्तिका, त्यागका, दानका, तो उससे तो उपजा पुण्यकर्म, उपादान दृष्टिसे तो पौद्गलिक कार्माणवर्गणाये है, ये सब बाते परके विसम्वादमे होती हैं, परसन्निधान बिना नही हुआ करती हैं। और, जो अशुभ राग हुआ, व्यसन, पापभाव, उसका सन्निधान पाकर पापकर्म उत्पन्न हुआ। तो पुण्यरूप और पापरूप दो प्रकारका यह भाव आया। सो पुण्यकर्ममे पुण्य जैसी ही बात चल रही है, और पाप कर्ममे पाप जैसी बात चल रही है, मगर ये दोनो उपादानतया एक स्वरूप हैं और निमित्त दृष्टिसे विभावसे उत्पन्न हुए है, ये दो हैं कहाँ ? इसके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है।

८३७—भ्रमवश एक ही जातिके विभिन्न आचरणका उदाहरणपूर्वक आख्यान—

एक उदाहरण देते हैं मानो कोई शूद्री चाडालिनी एक तुच्छ वर्ग वाली उसके एक साथ दो बच्चे उत्पन्न हुए। किसी गरीबीके कारण या कोई अन्यायके कारण। उसने दोनो बच्चोको उत्पन्न होते ही रातको जाकर

एक वृक्षके नीचे रख दिया और ढक दिया, अपने घर चली आई। सवेरा हुआ, लोगोंका आवागमन शुरू हुआ तो सबसे पहले वहाँसे एक ब्राह्मण निकला। उसने उन दोनो वालकोंको पेड़के नीचे लेटा हुआ पाया, शरीरसे वे दोनो वालक सुन्दर थे। उसके कोई पुत्र था नही सो वह एक वालकको अपने घर उठा ले गया, उसका पालन पोषण किया। दूसरा पुरुष कोई चाण्डाल (शूद्र) वहाँसे निकला, उसने वालकको वृक्षके नीचे लेटा हुआ पाया, उसे अपने घर उठा ले गया। उसका पालन पोषण अपने घर किया। दोनो ही वालक वडे हुए। ब्राह्मणके घर पला हुआ वालक ऐसे वातावरणमे पला पुसा था कि वह विडी सिगरेट तक नही पीता था, मद्य मास वगैरहको छूना भी वुरा समझता था, खाने पीनेकी वात तो दूर रही। आखिर उसका यज्ञोपवीत सस्कार हुआ। वह वालक अपनेको ब्राह्मण समझता था। उसका आचरण पवित्र था। उधर चाण्डालके घर पले हुए वालककी क्या स्थिति थी कि उसके घर जो आचरण पहलेसे ही चला आ रहा था, विडी सिगरेट पीना, मद्य मास वगैरह खाना पीना, मद्य पीनेकी तो वात क्या, मद्यसे प्रतिदिन स्नान करना" वह अपनेको चाण्डाल समझता था। इस प्रकारसे वे दोनो ही वालक भिन्न भिन्न जगहोमे पलने पुसनेके कारण भिन्न भिन्न प्रकारका अहकार करते थे, उन दोनोका आचरण, उन दोनोकी क्रियाये भिन्न-भिन्न हो गई। ठीक इसी प्रकारसे ये पौद्-गलिक कर्मवर्गणाये, मूर्तिक है। जैसा यह शरीर दिख रहा है, स्थूल है, मूर्तिक है, आँखो दिख रहा ऐसे ही कर्म भी हैं, जो कि सूक्ष्म है, मूर्तिक है, आत्माके साथ रहते हैं वे कहलाती है कर्म वर्गणायें। सो आत्माके विभाव का निमित्त पाकर कर्म वर्गणाय विभिन्न आचार प्रकृतिवाली पुण्य पाप कर्मरूप वन गई।

८३८—पुण्य पाप विभावरूप एक होनेपर भी अहंकारवश उनकी विविध चेष्टायें—

विभाव क्या चीज कहलाती ? याने जीवके ऐसे भाव जो जीवके स्वरूपमे नही, स्वभाव नही, निरपेक्ष नही, किन्तु पूर्ववद्ध कर्मका कर्मरस उपयोगमे झलका, प्रतिफलित हुआ, उस ही मे यह मुग्ध हो गया। कोई मुग्ध हो गया तो उस समय अच्छी भी वाते सूझी वुरी भी। व्यसन और पापके परिणाम भी हुए, और जिसे लोग धर्म कहते हैं—दान, पूजा, प्रतिष्ठा, परोपकार ऐसे भी भाव हुए, ये सब भाव विभाव है, स्वभाव नही हैं। स्वभाव भाव तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहना है, चैतन्य स्वरूप मात्र रहना है। चेतना ही चेतना, उसके अतिरिक्त वाकी सब विभाव हैं। देखो इन विभावोसे उत्पन्न हुए ये कर्म सब विकृत ही तो हैं और पौद्गलिक कर्म वर्गणाओका ही तो पुञ्ज है। ये दोनो पुण्यकर्म, पापकर्म ये विभावोसे उत्पन्न हुए सो परिणतिसे ये दोनो एक हैं मगर पुण्यरसमे जैसा अहकार है कि मैं यह हूँ या कुछ भी वात बनती है तो उसमे उस तरहकी चेष्टा बनती है। पापरसमे दूसरे प्रकारकी चेष्टायें बनती है, तो ये पुण्य और पाप हैं तो दोनो एक ही रूप, मगर जुदे जुदे रस होनेके कारण यह अज्ञानी जीव उनको जुदा जुदा दो रूपोमे देख रहा और पुण्यकी वडी महिमा गा रहा। कहते ना कि इसके बहुत वडा पुण्य है, यह वडा पुण्यवान जीव है, यो लोग उस पुण्यवानकी प्रशसा करते और जो पुण्य वाला जीव है वह विकल्पोमे रह रहा। जो कम जानता है वह व्यक्त रूपमे कम विकल्प कर पाता, जो अधिक समझदार बनता है वह वहुत-वहुत विकल्पोको व्यक्त कर रहा है, ये सब वातें देखते तो जाते ना ? देखो छोटे लोगोके (किसानोंके, मजदूरोके) हार्टफैल बहुत कम सुने जाते है और वडे वडे अधिकारियोंके, वडे वडे धनिकोंके हार्टफैल बहुत अधिक देखे जाते हैं। ये लोग विकल्प अधिक करते हैं इसलिए इनके हार्टफैल हो जाते हैं, और जो गरीव हैं, मजदूर हैं, खुश रहते, गाते हैं, कुछ चिन्ता नही, शल्य नही। हाला कि शल्य सब जगह है, अज्ञान सब जगह है, पर लौकिक हिसावसे जो कुछ वात देखी जा रही है उस रूपकी वात

कह रहे, उसके हार्टफैल कम होते, तो पुण्यसे कौनसा बढावा मिल गया और पापमे पुण्यका अपेक्षासे बिगाड क्या बना ? बिगाड है पापमे अधिक, पापके फलमे दुर्गति होती है मगर पुण्य भी तो दुर्गति दिलायेगा। पुण्यका उदय आया तो उससे किया अन्याय, आपेमे न रहे, वैभव पाकर इतरा रहे तो परम्परया यह भी तो दुर्गतिमे जायगा।

८३९—पुण्यकर्म व पापकर्म दोनोकी दुःखरूपताके परिचयमें विभेषका निःसरण—

पुण्य तो भला तब माना गया है जब कि पुण्य विपाकमे अच्छे अच्छे प्रसग मिले, और उनमे धर्मकी ओर रुचि बने, धर्मका प्रभाव बने, इस कारण पुण्यको ठीक कहा जाता है, पर परमार्थसे पुण्य और पाप ये दोनो बेडिया ही तो है। अगर किसीको सजा दे दी जाय तो उसे चाहे सोनेकी बेडी पहना दी जाय, चाहे लोहेकी पहना दी जाय, पर आखिर बेडी तो बेडी ही है। बताओ कैदीको सोनेकी बेडीसे कुछ फायदा है। बन्धन परतन्त्रताके लिये तो दोनो ही बेडी बराबर है। तो ऐसे ही यह पौद्गलिक कर्म जो दो भेष लेकर यहाँ उपस्थित हुआ है और इस दर्शनमोही जगतको अपनी लीलाये बताता है, जिससे दर्शक लोग पुण्यकी ओर आकर्षित होते हैं और पापको जान तो लेते है, छोड न सकें वह बात अलग है, मगर चित्तमे एक बार तो आ ही जाता है कि यह पाप है, यह मेरे लिए भला नही है, ऐसे जो दो रूप आये कार्माण-वर्गणाओमे, ज्ञानी उन दोनोको एक रूप समझ रहा। ये सब ससारके कारण है। ये सब जन्ममरणकी बाते है। यहाँ ही सुख दु ख पानेकी बाते हैं, ये सब बेकार है, विडम्बनाये हैं, मेरा आनन्द तो आत्मा के उत्थानमे है, आत्माका स्वभाव है आनन्द। इस सहज स्वभावका आश्रय नही है इस कारण ये पाप अधिक रुला रहे है, मैं इस सहज स्वभावका आश्रय करूँ तो जैसे सहज स्वभावकी पहिचानमे कर्ताकर्म भेप छोडकर वे दोनो निकल गए थे ऐसे ही मैं स्वभावकी रुचि करूँ तो पुण्य पापके भेषमे वे कर्म भी भेष छोडकर निकल जायेंगे। कर्म नष्ट न होगा। वह तो भेप छोडकर निकल जायगा। जीव और पुद्गल नष्ट न होगे, वे तो भेप छोडकर निकल जायेंगे। जैसे नाटकमे पार्ट अदा करने वाला लडका कही पार्ट अदा करने के बाद मर तो न जायगा, वह तो अपना पार्ट छोडकर, भेष बदलकर चला जायगा ऐसे ही ये कर्म भी अपना भेष बदलकर, छोडकर निकल जायेंगे।

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥१०२॥

८४०—जीवके विकारका हेतु परोपाधिसम्पर्क—

जीवमे जितने भी विगाड होते हैं वे सब अपने आप स्वभावसे तो हुए नही, स्वभाव तो अनादि अनन्त है। जैसा यहाँ हम आपमे है वैसा ही सिद्ध प्रभुमे भी है। स्वभावसे विगाड होता तो सिद्ध प्रभुमे भी विगाड रहता और वह विगाड नित्य हो जाता, कभी मिटता नही। तो विगाड बना कैसे ? उसकी घटना हुई क्या ? तो घटना यह ही तो है कि पूर्वका बँधा जितना कर्मका उदय आया, विपाककाल हुआ उस विपाक समयमे, प्रतिफलनमे यह जीव लगाव कर बैठा और अपने स्वरूपको तो भूल गया और उस ही प्रतिफलन रूप अपनेको मानने लगा। जैसा उसकी प्रकृतिका विपाक था, हास्य हँस रहा कर्म। सुननेमे जरा गडबड लगता होगा कि वह कर्म अचेतन क्या हँसेगा, मगर अचेतन कार्माणवर्गणामे हास्य प्रकृति और अनुभाग है उस दृष्टिसे विचारे, जो कुछ भी हो सकता हो वह हास्यकर्मका विपाक ही तो है और यहाँ प्रतिफलित हो गया उसे आपारूप मानकर यह सोचता है कि मैं हँसता हूं, मैं रोता हू, मैं राग करता हू, मैं द्वेष करता हूं।

इस जीवको कर्मविपाकसे भिन्न, इस मलीमसतासे भिन्न विभावोंसे निराले अपने चैतन्य स्वभावकी सुध नही है। यह तो स्वय चैतन्यस्वरूप है और अपने ही स्वरूपके कारण इसमे चैतन्य रसकी उछाल निरन्तर चलती रहती है, मगर जब उस स्वच्छ उछालमे कर्मविपाकका कीचड लिपटा है, विभाव लिपटा है तो वह एक बोझल हो गया और उसकी शोभा समाप्त हो गई। अब यह दूसरे ढगसे चलने लगा, तब यह जीव विभाव करता है, किंतु मैं इन विभावो रूप नही। मैं तो स्वच्छ चैतन्यस्वरूप हू। मेरे मे मेरे ही स्वरसत इस चेतनाके कारण ज्ञानमयी स्वच्छ उछाल हुआ करती है। पदार्थ है, अपने स्वरूपसे प्रकट हो रहा है, कोई विसम्वाद ही नही है। तो जहाँ बध कथा हो याने पर भावो से सम्बध बने वहाँ ही बिगाड हो उठता है।

८४१—जिससे अपनेको विविक्त समझना है उसके सुपरिचयमे विविक्तताके परिचयकी स्पष्टता—

वह पर उपाधि क्या है ? जिसके सपर्कसे विसवाद बन बैठा उसके सम्बन्धमे यदि स्पष्ट जानकारी हो तो उससे भेद करना बडा स्पष्ट हो जायगा जिससे हमको अलग होना है, निराला समझना है, उसके बारेमे यदि काफी परिचय हो तो निरालापन समझनेमे बडी स्पष्टता है, सुगमता है, दृढता है, वह बातकी बात नही रहती। वह अन्तरमे उत्पन्न होती है और जिससे हमको निराला समझना है उसके बारेमे कुछ जानकारी ही न करें – एक सामान्य शब्द ले लिया और बस कर्मसे निराला, विभावसे निराला, इतना ही मात्र करने भरको शब्द ही रह गए, कर्मके बारेमे, विभावके बारेमे स्पष्ट परिचय नही है तो उससे निरालापन भी दृढताके साथ नहीहो पाता, इस कारण थोडा कर्मसिद्धान्तको भी समझना चाहिए, जहाँ अनेक समझ बना रखे हैं, लो जिससे हमारा प्रयोजन विशेष नही, केवल एक गुजारा मात्र है वहाँ तो हम आप जानकारी बनाते, बडा दिमाग लगाते और जिनसे हम आपको निराला समझना चाहिए उनको केवल कर्मरस, धूल, बस इतनी ही बात कह कर छुट्टी पा ली तो उनके दृढता आना मुश्किल है। तो कर्मसिद्धान्तको जब कोई अच्छी प्रकार जानता है तो उससे भिन्नता भी बडी स्पष्ट समझमे आती है, अब उसी पर उपाधिका कुछ परिचय कराते है। वह पर उपाधि है कर्म।

८४२—जीवविकारके निमित्तभूत पर उपाधिका संक्षिप्त परिचय—

वे क्या हैं कर्म जो कर्म पुण्य और पाप इन दो रूपोमे बंधे हुए है ? क्या हैं वे कर्म ? उन कर्मोंके बारेमे लौकिक जनोमे दुविधा मच गई और उनको कुछ ऐसा मान लिया कि पुण्य तो हमारे श्रेयके लिए है और पाप मेरे बिगाडके लिए है, तथा इस बातपर उनकी कई दलीलें भी होती है, और कोई भी शकाकार कुछ भी शका रखता है या अपनी कोई जिज्ञासा रखता है तो उसके समझ तो कुछ होती है, पर समाधान ही उसका अन्तिम निर्णय होता है। कर्म क्या चीज ? कार्माणवर्गणाये इस ही आत्माके इसही क्षेत्रमे रहने वाला कार्माणस्कध है कोई, जैसे घटकी उत्पत्तिमे निमित्त कुम्हार है, तो वह कुम्हार कोई घडेके आकार मात्रका नही है वह दो हाथ दो पैर वाला हस्तादिकका व्यापार करनेवाला, समझ बनाने वाला कोई पुरुष है, इसी तरह ये विभावोके निमित्तभूत जो कर्म हैं सो ये कोई हौवा ही नही हैं, केवल एक सिनेमा जैसी छाया मात्र हो ऐसा नही है, रूप, रस, गध, स्पर्शके पिण्ड और अपने एक विशिष्ट ही जातिके, कार्माणवर्गणायें है। पुदगलकी २३ जातिकी वर्गणायें हैं, उनमे एक कार्माणवर्गणा भी है। सो जीवके जब रागभाव हुआ विकारभाव हुआ तो उसका निमित्त पाकर उदयमे आये हुए कर्मोमे ऐसा बल हुआ उसका अपने आपका कि वह नवीन कर्मोंके आस्रवका कारण बन गया। आगया कर्म, मायने कर्ममे कर्मत्व रूप हो गया। जैसे मानो किसीके अपने पडोसके ही घरमे किसी लडका लडकीकी शादी हो,

एककी कन्या, एकका लडका, मानलो आज पति पत्नी हो गये। तो क्या वे लडका लडकी आज उत्पन्न हुए ? वह क्या कोई नई बात है ? अरे वे ही तो है जो रोज-रोज एक दूसरेको देखते थे, मगर आज कुछ नाताप्रन उत्पन्न हो गया। तो वे कार्माणवर्गणाये पहलेसे तो है, एक क्षेत्रावगाहमे है और आज वे कार्माणवर्गणाये विकृत हो गई हैं, बँध गई।

८४३–हेतुभेदसे पुण्य व पाप कर्ममे भेद विदित होनेकी आशंका और उसका समाधान–

वे कार्माणवर्गणाये कोई भली है कोई बुरी है, ऐसा कोई मोही जीव निरखता है,-पर जिसको अपने आत्महितकी भावना है, आत्महितके मार्गमे जो लगता है उसके लिए सारे कर्म एक स्वरूप विदित हुआ करते है। कहाँ लगना है ? अपने आनन्दधाम ज्ञानपुञ्जमे, अविकार निज स्वरूपमे। जहा अपने ही स्वरूपके कारण ज्ञानानन्द स्वरूप शुद्ध उमग उछला करती है, जिस स्वरूपमे सहज चिद्विलास होता है उस स्वरूपका जो रुचिया है उसका एक ही निर्णय है कि सभी कर्म 'ये मेरे स्वरूप नही, मेरे हितके लिए नही।' इसके सहारे, इसके आश्रयसे मेरा श्रेय नही। तो कोई ऐसी चर्चा छेड सकता कि इनमे सबको एकसमान क्यो कहते ? पुण्य भला है, पाप बुरा है, क्योंकि पुण्य तो बना है जीवके शुभ परिणामके निमित्तसे और पाप बना है जीवके अशुभ परिणामके निमित्तसे, इसलिए उनमे भेद तो होना ही चाहिए। हाँ भेद तो है, वहाँ भी शुभ अशुभ सज्ञा है, मगर हे आत्मन् ! तेरा लक्ष्य क्या है ? तुझे क्या चाहिए ? तू अनन्त काल तक किस पदमे रहना चाहता है ! तूने अपना सदाके लिए कौनसा काम सोचा है ! यही स्वरूपमे रमू स्वभावमे मग्न होऊँ, यह ही तो सोचा है ना ! तो इसके अतिरिक्त जो कुछ भी भाव हो, जो कुछ भी विराधना हो उनमे से तू किसीको इष्ट मानकर रमना चाहता है और किसीको अनिष्ट मानकर उससे वचना चाहता है। खैर वचनेकी बात तो ठीक है मगर किसीको इष्ट मानकर रमनेकी बात यदि तेरे चित्तमे आती है तो तूने अभी मोक्षमार्ग नही देखा। किस रास्तेसे जाना, किस मजिलमे पहुचना यह तेरे सही निर्णयसे अभी वाहर है। तू अपने स्वभावकी ओर ही तो चलना चाहता तो उसके अतिरिक्त जो भी भाव है, विभाव हैं वे सब विगाड है, और जो कर्मबन्ध हुआ, जो आगामी इस द्वैतके कारण बनेंगे वे भी सब एक रूप हैं।

८४४–आपतित कर्मभारके समय भी अन्तस्तत्त्वके रुचियाकी दृष्टिका विषय सहज चैतन्यभाव–

देखो अतस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानी पुरुषकी कैसी अन्त आराधना है। केवल एक स्वभावभाव ही, यह एक पारिणामिकभाव ही अनादि अनन्त अचल चैतन्य तत्त्व स्वरूप ही यह मैं हू, बस ऐसा ही तो रहना है, जैसा इसका सहज स्वरूप है उसी रूप ही तो सत्तासिद्ध अनुभाव है, इसकी ओर ही अन्तस्तत्त्वके रुचिया सतका दृढ परिणाम है। भाव यह है कि वह इसके अतिरिक्त और कुछ नही चाहता। मगर जब इस ही ज्ञानीको पूर्वबद्ध रागप्रकृतिया आक्रान्त करती है और यह जम नही पाता है अपने स्वरूपमे तो वाह्यकी ओर तो चलता ही है। बाह्यकी ओर चले तो कैसे चले ? जब कभी आपके सामने जो आप चाहते तो हो बहुत बढिया बात, कोई बढिया चीज वह तो सामने न दिखाये और अन्य दो चीजे आपके सामने दिखाये और कहे कि इनमे तुझे क्या ठीक लगता ? तो ठीक तो दोनो ही नही, मगर जब परिस्थिति ऐसी है कि परम अभीष्ट तो मिला नही, कुछ अन्य ही दुर्निवार दो बातें आ पडी जो चाहे उनमे ले लो तो उनमे ही आप ऐसी छाट बनायेंगे कि चलो इनमे तो यह चीज अच्छी है, तो रागादिककी चेष्टा होती ही है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होती ही है, तो पापमे प्रवृत्ति न हो, भक्ति, दया, दान, चिन्तन, मनन, चर्चा इनमे प्रवृत्ति हो तो यह तो परिस्थितिमे एक छाट है, पर इस स्वभावके

रुचियाको उनमे रुचि नही है। वह तो जानता है कि मेरे मूलमे क्या पडा है ? केवल एक अतस्तत्त्व-स्वरूप, बस इसका अनुभव ही एक परमोत्कृष्ट कार्य है।

८४५—पुण्य पाप कर्मके हेतुभूत शुभ अशुभ भावोमे अज्ञानरूपत्वकी समानतासे हेतुकी अभेदरूपताके कारण पुण्यकर्म व पापकर्मकी अनादेयताकी समानता—

हेतुकी दृष्टिसे भले ही शुभ अशुभ भावोसे उत्पन्न हुए है ये कर्म, फिर भी शुभभाव और अशुभभाव ये अज्ञानरूपभाव ही तो है। यहाँ अज्ञानसे मतलव क्या समझना ? देखो जीवमे ज्ञानभाव, केवल ज्ञान ही रहता और ज्ञान गुणका ऐसा परिणमन जिसमे सहजज्ञान ही विषयभूत हो, इस परिस्थितिको ज्ञानभाव कहते हैं। इसके अतिरिक्त चाहे कितना ही ज्ञानी पुरुष हो, सम्यग्दृष्टि हो, वडा सयमी हो, उसका भी जो राग है, विकार है, तो स्वरूप दृष्टिसे देखो तो वह चूकि स्वय चेतने वाला नही है इसलिए अज्ञान है। यहाँ अज्ञानकी परिभाषा जरा भली प्रकार समझना और इस दृष्टिसे कदाचित् कह सकते—अच्छा वतलावो—ज्ञान गुण चेतन है या अचेतन ? ज्ञानगुण ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप ? ज्ञानरूप। और चरित्र आनन्द और और ? ये अज्ञानरूप। जो जो गुण, जो जो पर्याय, जो जो परिणतियाँ स्वय स्वय को चेत न सकें, ज्ञान द्वारा ही जिनका ज्ञान वने, ऐसी जो अन्य-अन्य स्थितियाँ हैं वे ज्ञानरूप नही कहलाती। केवल एक ज्ञान ही ज्ञानरूप है, क्योकि एक वह ही जानने वाला और वही जानने मे आ गया। जिसको जानने वाला और वना, वह अज्ञान। जिसको जानने वाला स्वय ही हो, वह ज्ञान। फिर तो रागादिककी वात तो और ही स्पष्ट है। वह तो अज्ञानरूप चरित्रगुणका विकार भाव है, विकृत कर्मविपाकके प्रतिफलनमे हुआ है तो उसमे तो और स्पष्टता है कि अज्ञान भाव है। तो शुभ भाव हो, अशुभ भाव हो, वे सव स्वय स्वय को चेतने वाले नही है। उनको जानने वाला ज्ञान है, तो जहाँ ऐसी अटक पड जाती कि वेचारा खुद अपनेको जान नही पा रहा, जानना वन रहा किसी दूसरेके द्वारा तो वह तो अज्ञानरूप है। फिर से ध्यानपूर्वक इस वातको समझिये—ज्ञान अपने आपके द्वारा जाननेमे आता, वह है ज्ञान भाव। जो अपने आपके द्वारा जाननेमे नही आता वह है अज्ञान भाव। तो शुभ भावोमे भी वह अपने आपके द्वारा अपनेको चेत नही सकता इसलिए भी अज्ञानरूप है, और फिर विकाररूप है इसलिए भी अज्ञान है। तव वह हेतु भी एक ही चीज है ज्ञानदृष्टिसे। इस कारण उससे उत्पन्न पुण्य और पापकर्म है वे भी एक रूप कहलायेंगे।

८४६—अन्तस्तत्त्वकी अन्तर्दृष्टिसे अन्तरात्माके अन्त: आनन्दलाभका प्रसाद—

देखिये लक्ष्यकी वात चैतन्यचमत्कारमात्र स्वभावके रुचियाका लक्ष्य केवल निज सहज चैतन्यस्वरूपपर है। कोई भी पदार्थ है वह अपने आपही तो है कि दूसरेकी दयासे है, क्या दूसरेके सम्वधसे है ? अरे अस्तित्व कभी भी किसी दूसरे पदार्थके सम्वधसे नही हुआ करता। है तो, खुद है और जब इस आत्माका अस्तित्व स्वय है तो वह स्वयका अस्तित्व जिसका है वह क्या है ? यह ही तो एक दृष्टिमे लेनेकी वात है, उसको मान लेवें कि यह मैं हू, बस ससारसे पार होनेका रास्ता मिल गया। यहा देखो कितनी विपत्तिया छायी हुई हैं कि इस जीवका उपयोग किन-किन वाहरी पदार्थोमे अटक रहा है ! नाम लेकर सुनायेंगे तो आप लोग और अधिक भटक जायेंगे, इसलिए इतना ही रहने दो। केवल इतना ही समझना है कि कहा कहा अटक रहा इसका उपयोग। यह स्थिति विपत्ति है या समृद्धि। और, विपत्ति पाकर भी जीव मानता है समृद्धि तो दोषपर दोष वढते। एक तो भूल करना और फिर उस भूलको ही सही मानना यह महान भूल कहलाती है। कोई पुरुष कही मार्गसे जा रहा था, वह रास्ता भूल गया, एक मील आगे चला गया

और मुनिको ऐसे बाह्य प्रसग हैं कि उनके लिए कुछ मोहका, विकल्पका साधन नही, वे स्थिरता पा सकते हैं, मगर जितनी अपनी सामर्थ्य है ज्ञानी गृहस्थोमे, उसका उपयोग तो करे, आत्मचिन्तन करे। मै क्या हूँ इसका चिन्तन तो करे। बहुत भीतर उतरकर निरखकर आयगी समझमे बात। केवल बात-बातसे समझमे न आयगी। अपने भीतरकी ज्ञान परिणतिसे समझमे आती है बात। जैसे किसी पदार्थ का स्वाद केवल बात करने मात्रसे नही आता उसके खानेसे आता उसी प्रकार आत्मतत्त्वकी बात केवल बात बातसे समझमे नहीं आती, उसके लिए समय लगाना होगा—प्रभुभक्ति मे, सत्सगमे, तत्त्व चर्चामे।

८५५—सर्वतोमुखी कुछ धार्मिक ज्ञान होनेपर भेदविज्ञान व स्वरूपज्ञानमें स्पष्टताकी संभवता—

स्वाध्यायके लिए यह बात ध्यानमे रखे कि केवल एक सीमित शब्दो वाला कोई एक ग्रन्थका ही आग्रह करके रहे, सिर्फ वही-वही पढे तो कुछ इस जीवकी प्रकृति है ऐसी कि उसका प्रभाव उसपर कम रहता है, फिर तो वह एक जैसे रिकार्ड है रोज बुलवा लो, रोज बोलते है, रोज वही-वही बात है तो इससे उसमे एक उमग नही बढ पाती है। और, आवश्यक भी है ऐसा कि हम विविध विषयोका परिज्ञान करे ताकि भेदविज्ञान स्पष्ट हो और अनेक प्रसगोसे हममे उमग जगे और सन्मार्गकी ओर चलनेकी प्रेरणा जगे, इसके लिए कभी पुराणोमे चरित्र पढना, चरणानुयोगके ग्रन्थ पढना, करणानुयोग मे भी प्रवेश करना, उसका भी अध्ययन करना, जैसे भक्तामर पाठ है—सस्कृतमे हैं, हिन्दीमे भी बना है, मगर आचार्योंकी रचना जिन शब्दोमे है उसका थोडा अर्थ समझकर हम आचार्योके शब्दोमे ही अपनी भक्ति बनाये, उस सस्कृतपाठके द्वारा ही बनाये तो श्रद्धामे, उमगमे, बलमे बडा उत्साह जगता है। आचार्यप्रणीत ग्रन्थका जब अध्ययन करते हैं मानो कर्मसिद्धान्त, जीवसिद्धान्तका जब अध्ययन करते है, जीवके विषयमे नाना प्रकारकी स्थितियोका अध्ययन, कौन जीव, कहाँ कैसी रचना, कहाँ क्या बात? तो आचार्योके उन शब्दोके सहारे जब हम अध्ययन करते जाते है तो देखो बाहरी विकल्प हटे, श्रद्धा बडी और होते होते यह ज्ञान तो ऐसा है कि न जाने किस क्षण कब किस जगह एक बिजलीसी उत्पन्न कर दे, एक प्रकाश उत्पन्न कर दे, ज्ञानानुभवकी दशा बना दे। तो यह जब चार वेदोरूप आगम है, तो उन चारो वेदोमे से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन सबमे हम अपना प्रयोग बनाये, हाँ अध्यात्म ग्रन्थोका अभ्यास अधिक बनायें, तो उससे क्या होगा? एक तो होती है कृत्यकी बात, उसमे तो रोज जैसे समय बिताते हैं वैसा व्यतीत हो, पर जरा सोचो तो सही कि उससे कुछ उपलब्धि हुई कि नही, कुछ आत्मविश्वास, आत्मरमण, आत्मस्पर्श बना कि नही, कुछ प्रयोगकी हिदायतसे बात कह रहे है कि अपनेको चारो अनुयोगोमे प्रवेश करना चाहिए।

८५६—अपने ज्ञानबलसे ही दुःखोसे छुटकारा—

अपने लिए केवल अपना ही सहारा है, इस जीवको दूसरा कुछ नही कर सकता। मान लो हम किसी कारण दु खी हो रहे हैं तो हो रहे अपने विकल्पसे और हमारे प्रेमी चार आदमी बहुत समझायें कि तुम दु खी मत होवो, हमारे रहते हुए तुम फिक्र किस बातकी करते हो ... पर उनकी किसी भी चेष्टासे हमारा दु ख दूर नही होता। हमारा दु ख दूर होता है हमारे ही ज्ञानबलसे। यह वस्तुरूप है, किसी का दु ख कोई दूर करने न आयगा, किसी की विपत्तिको कोई दूसरा मेटने न आयगा। यहाँ जो कुछ मान बैठते हैं कि हमारी इस विपत्तिमे फलानेने मदद कर दी, तो वहाँ तथ्य तो यह है कि न वहाँ विपत्ति ही थी और न वह मदद ही थी। विपत्ति भी मायारूप, मदद भी मायारूप। वह एक

कल्पनाकी बात, यह भी एक कल्पनाकी बात । इस जीवपर विपत्ति बाहरी पदार्थसे कभी नही आती । बाहर पदार्थ है, यो परिणमता, परिणमे और तरह परिणमता, परिणमे, उससे विपत्तिकी क्या गुजाइस, विपत्ति तो अपने आपके विभावकी है, दूसरी कोई विपत्ति नही । और विभावका, विपत्तिका निमित्त यह जीव खुद नही है तब ही तो यह गुजाइस है कि हम विकारको हटा सकते हैं, अगर विकारका, विपत्तिका मै ही निमित्त बन गया, मैं ही अकेला, परसग बिना स्वय ही विकारको उड़ेलता रहता तो फिर ये विकार मिटने किसी भी तरह सम्भव न थे । ये नैमित्तिक हैं । वह कौनसा निमित्त है ? ये कर्म । वे स्वयं क्या हैं ? पुद्गलवर्गणाये । सब, चाहे पुण्य अनुभाग लिया हो किन्ही ने, चाहे पाप अनुभाग लिया हो किन्ही ने, पर वे सब वर्गणा जातिकी अपेक्षा एक ही प्रकारके है । उन सबसे पूर्णरूपसे हमको अलग होना है, पृथक होना है ।

८५७–कर्म और कर्मफलकी चेतनासे विविक्त स्वसंचेतनमें सर्वस्व हित मार्गका लाभ–

देखिये, दृष्टि कर्मविविक्तताकी ही हो, लक्ष्य ऐसा ही हो, फिर बनेगा क्या, होगा क्या ? अरे पुण्य प्रकृतियाँ बँधेंगी, होगा यह । उनका अनुभाग आयगा, उनके फलको भोगना होगा, और चूकि तत्त्वका ज्ञान पाया है तो भीतरमे यह ज्ञानामृतकी वर्षा भी चलती रहेगी। अततो गत्वा यह समस्त पुण्य पाप कर्मोंकी निर्जरा और इनसे इसका छुटकारा होगा और यह केवल अपनेमे अपने चैतन्यस्वरूप मात्र रहेगा । अपनी दृष्टि केवल एक स्वभावको ही अपनानेकी होनी चाहिए । फिर होगा जो कुछ, ढग से वह होता रहेगा, चलता रहेगा, पर अपना लक्ष्य कहाँ हो ? जहाँ शका रचमात्र भी न हो। कर्म अपने स्वभावसे चलें, मै अपने स्वभावसे चलूगा । आखिर यह साझेदारी कि कर्मका निमित्त पाकर जीव विकृत होता, जीवका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें विकृत होती, यह साझेदारी कभी तो मिटेगी, कभी तो इसमे बिगाड होगा ? अहा, बिगाड होने दो देखो–बिगाड होनेपर फिर ऐसा बिगाड बनता कि बस कुछ प्रयोजन ही नही, कर्म अपने स्वरूपमे रहे, मैं अपने स्वरूपमे रहता हू । यह भीतरका दृश्य, ज्ञानपरिणमन, कर्मपरिणमन और निमित्तनैमित्तिक योग, प्रतिफलन, ये सारीकी सारी बातें इस ज्ञानीको स्पष्ट जच रही हैं । जान रहा है ज्ञानी कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, यह मैं तत्त्व हूँ । आज ही इसी समय यदि मैं अपने इस सहज चैतन्यस्वरूपका आग्रह करके यही रम जाऊँ तो यही सारा झगडा खतम हो जाय । रम क्यो नही पाते ? बस वही बात । कोई औदयिक नैमित्तिक भाव बाधक है, कमजोरी खुदकी है और निमित्तमे कर्मपर चल रही है यह सब बात, मगर अपनेको भीतर ही भीतर अन्त अभिमुख रहना चाहिए कि मैं केवल चैतन्य प्रकाशमात्र हू । कर्मसम्प्रदापर आशक्त होगे तो, जब यह परमेश्वर, यह भगवान आत्मा उस कर्म सम्पत्तिपर आशक्त हुआ, रीझ गया तब देखो कर्मपरम्परा और ससार जाल बढनेमे फिर कौनसी कसर रह जाती है । मोही जीव कर्मफलपर रीझता, बस यह ही इसका अपराध है, उसकी रीझ छोडें ।

८५८–अपनी अन्त सूझ बूझ रीझसे स्वसिद्धिकी सम्पन्नता–

सूझ बूझ और रीझ ये तीन चीजें साथ-साथ चलती है हरएक काममे । आत्माकी सूझ, आत्माकी बूझ और आत्माकी रीझ याने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । सूझ हो गई बस यही आत्माके स्वरूपका स्पर्श हुआ, दृष्टिमे आया, जान गए और फिर उसीको बूझ रहे, बराबर उसमे बुद्धि लग रही, मनन कर रहे और उसी पर रीझ गए । लौकिक बातें भी जब सूझ, बूझ, रीझसे बना करती है तो आत्माका यह काम भी सूझ, बूझ, रीझसे ही बनेगा । अपनेको अपने आप ही जिम्मेदार मानकर एक

बार भी तो इस आनन्दविधान ज्ञानस्वरूप परमसमृद्ध भगवान अंतस्तत्त्वकी ओर स्वरूपत आ जाय तो इसको आत्मानुभव जग जायगा। इस आत्मानुभवके जगनेपर सारा ससार उसे नीरस जचेगा और स्वयका जो एक आनन्द है वह फिर कभी न भुलाया जा सकेगा। सदा वह अपने आपमे तृप्त रहेगा– "होता स्वय जगत परिणाम मैं जगका करता क्या काम ?" मैं अपना ही परिणमन कर पाता, सो मैं अपने आपकी ओर ही रहूंगा।

८५९–सहज अन्तस्तत्त्वमें अहंप्रत्ययकी आस्थासे परमसिद्धिका लाभ–

अपने कल्याणके लिए कर्तव्य बस एक ही है कि अपना जो सहज स्वभाव है अपने ही सत्त्वके कारण जो चैतन्यस्वरूप है बस उसे ज्ञानमे ले और उसमे यह मैं हूँ ऐसा अनुभव बनाये। अनुभवनकी तो सबको प्रकृति पडी है, कोई नाममे यह मैं हूँ, शरीरमे यह मैं हूँ, और और बाहरी बातोमे यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, ऐसी इसकी बान तो पडी हुई है पर सहज वास्तविक जो अपना स्वरूप है उसमे अनुभव बने कि यह मैं हू तो उसका ऐसा अलौकिक प्रताप जगता हैं कि इस ज्ञानसमुद्रमे ऐसी ज्ञानकी उछालें उठती हैं कि उसमें सारे सताप, सकट सब शान्त हो जाते हैं। उस मैं का ज्ञान करनेके लिए कठिनाई क्यो पड रही ? यो कि स्वरूपकी सुध नही रख रहा और परभावोमे, विभावोमे यह अपने आपका अनुभव कर रहा कि यह मैं हूं, यह इसकी बडी भारी कठिन समस्या है, विपत्ति है, इससे अलग होना है, मुक्त होना है, तो इससे अलग हटनेके लिए हमे इन विभावोका, विभावोकी घटनाओका, विभावोके हेतुओका भली प्रकार परिचय करना चाहिए, इससे यह स्पष्टता जगेगी कि ये विभाव और विभावोके हेतुभूत, निमितभूत ये पौद्गलिक कर्म है। इन सबसे मैं निराला हूं, मैं अपनी सत्तासे ही समृद्ध हू।

८६०–अन्तस्तत्त्वके रुचियाको अन्तस्तत्त्वातिरिक्त अन्य सब भावोमे रुचिका अभाव–

देखो उस ही कर्मकी बात चल रही है जिससे अपनेको विविक्त रखना है। वे कर्म दो प्रकारके है– पुण्यकर्म और पापकर्म। तो इसके बारेमे कुछ लोग द्वैतबद्धि करते है कि पुण्यकर्म तो शुभफल वाला है और पापकर्म अशुभफल वाला है। पुण्यकर्ममे अनुभव शुभ है, पापकर्ममे अनुभव अशुभ है। देखो किन्ही की दृष्टिमे ऐसी बात भी आती। यह अपनी अपनी पदवीकी, योग्यताकी बात है। पर जिस ज्ञानी सतको एक निज अतस्तत्त्वकी ही रुचि जगी है, जो और कुछ चाहता ही नही है उसकी निगाहमे उसके लिए तो बस एक अन्त स्वभाव ही सर्वस्व है, उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब एक नाममे है। हाँ प्रकृति तो जरूर पडी है, पुण्यकर्ममे शुभ अनुभाग है, जिसकी कक्षायें गुड, खाँड, मिश्री, और अमृत इनके गुणकी तरह तारतम्यको लिए हुए हैं जैसे कि पापकर्म कटुकरसको लिए हुए है जैसे नीमकी तरह, गुरबेलकी तरह, विषकी तरह, हालाहलकी तरह। उनमे प्रकृतिभेद तो पडा है अनुभागभेद भी है, जुदा-जुदा रस है इन दोनो मे, पर रहो जुदा रस, इस तत्त्वज्ञानीके लिए तो वे सबके सब एकरूप हैं, क्योकि जो उन कर्मोंमे पुण्य हो अथवा पाप हो, जो अनुभाग पडा है, शक्ति पडी है वह पुद्गलमय है या चैतन्यरूप ? पुद्गलका जो कुछ है वह पुद्गलमे है। तो पुद्गलरूप होनेके कारण वह सब अनुभव एक ही प्रकारका है। यह ज्ञानी कर्मजालके बीच पडा हुआ भी अपनी बहादुरीके साथ उन कर्मोंकी उछालो सहित उनसे विरक्ति रखता हुआ उससे विमुख हो रहा और स्वभावके अभिमुख हो रहा। ज्ञानका ऐसा ही प्रसाद है। यह तत्त्वज्ञानी इन समस्त पुण्यविभावोको, उसके हेतुभूत पुण्यकर्मको, उसके हेतुभूत शुभभावको इन सबको एक तिलाञ्जलि दे रहा। स्वभावदृष्टिके प्रसगमे उसके लिए स्वभावके अतिरिक्त सारा विभाव, सारा लोक उसके लिए कुछ नही है।

८६१—प्राप्त संग प्रसंगकी रुचिसे आत्मीय अनन्त वैभव समृद्धिका तिरस्कार—

जैसे कोई सेठ था, वह अचानक ही अपनी ४–५ लाखकी सम्पत्तिको छोडकर गुजर गया। उसके था एक छोटासा बालक। सरकारने उस सेठकी सारी सम्पत्ति कोर्ट आफ वार्ड कर ली और उसके बदलेमे उस बालकके गुजारेके लिए ५००) मासिक बाँध दिया। खैर ५००) मासिक पाकर वह बालक बडा खुश रहा करता था, वह सरकारके बडे गुण गाता रहता था–अहा कितनी अच्छी सरकार है, देखो घर बैठे मझे ५००) मासिक भेजती रहती है। उसे अपनी सारी सम्पत्तिका क्या पता ? धीरे-धीरे जब बालक १८–१६ वर्षका सयाना हुआ, समझमे आया कि सरकारने मेरी ४–५ लाखकी सम्पत्ति कोर्ट आफ वार्ड कर रखी है तो झट उसका राग उन ५००) से हट गया। सरकारने ५००) रु भेजा तो झट वापिस कर दिया और अपनी अपील पेश कर दी सरकारके सामने कि मुझे अब नही चाहिए आपके ५००) मासिक। मै अब बालिग हो चुका हूँ, मुझे मेरी ४–५ लाखकी सम्पत्ति वापिस की जाय। तो ऐसे ही यह लावारिस जीव, अनादिकालसे अज्ञानके कारण लावारिस बना फिर ही रहा है, दर्शनशास्त्रमे कहते है कि यो यत्र वञ्चक स तत्र बाल अर्थात् जो जिस बातमे कुशल नही, वचक है, चतुराई नही है वह उस विषयमे बालक है, लावारिस प्राणी है। इसकी जायदाद मायने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति ये सब कोर्ट आफ वार्ड हो चुके। इस प्रसगको लो नाटक रूपसे। तो सारा वर्णन समयसारमे नाटक रूपमे ही तो किया है। इस कर्म सरकारने इसकी निधिको कोर्ट आफ वार्ड कर लिया और किसी समय इसको किसी भवमे कुछ वैभव मिला, पुण्यके साधन मिले तो यह पुण्यसरकारके बडे गुण गाता है अहा मेरे पास बडा ठाठ है, मेरा कितना पुण्यका उदय है, मुझे कुछ फिकर नही, सब कुछ अपने आप पुण्य दे रहा है, मेरा ऐसा मकान बन गया, ऐसी दूकान बन गई, ऐसा अमुक काम चल रहा–यो इस पुण्य सरकारके बडे गुण गाये जा रहे हैं। अरे भैया, किसी समय समझ तो लों तथ्य शास्त्रोसे, सत्सगसे, ज्ञानियोसे, अपने आपके खुद विचारसे कि ओह मेरेमे तो अनन्त आनन्द है, मेरा स्वरूप ही आनन्द है, मैं रचा ही गया हूँ, ज्ञान और आनन्द भावसे। किसी दिन रचा गया, यह बात नही कह रहे, जबसे सत्व है तबसे ही यह ज्ञानानन्दस्वभावसे रचा हुआ है। वह सब इस कर्मजालके चक्रमे लुट गया और अब उसके एवजमे मानो थोडा कुछ वैभव मिल रहा है तो इससे अगर प्रीति रखेगा तो अपनी अनन्त समृद्धिसे हाथ धोवेगा। जैसे वह सेठका लडका यदि ५००) मासिकमे प्रीति रखता रहता तो वह अपनी उस बडी सम्पत्तिसे हाथ धोये रहता। तो यह सब कुछ जो बाहरी सामग्री मिली है, इनमे यदि आशक्ति है, तृष्णा है, लोभ है, ममता है तो अपने आत्मामे जो एक अनन्त समृद्धि पडी है उससे हाथ धोये रहोगे।

८६२—आत्मवैभवके परिचयका एक उपाय–

अपनेमे क्या वैभव समृद्धि है इस तथ्यको अरहत और सिद्ध भगवानके स्वरूपसे पूछ लो, मेरेमे क्या सामर्थ्य, क्या समृद्धि, क्या चमत्कार, क्या मेरी रचना है–पूछ लो प्रभुसे याने प्रभुके स्वरूपसे समझ लो, अपने आपकी समृद्धिका परिचय हो जायगा। देखो–अगर प्रभुका स्वरूप नही समझा और फिर रोज-रोज प्रभुके दर्शन करने आते तो फिर क्यो आते ? किसलिए आते, क्या भाव रहता, यह सब अपनी अपनी जान लो। मगर प्रभुदर्शन तो तब ही सम्भव है जब प्रभुस्वरूपका परिचय हो। प्रभुस्वरूपका परिचय तब ही सम्भव है जब आत्मस्वरूपका परिचय हो। थोडा परस्पर सहयोग है प्रभुस्वरूप व आत्मस्वरूपके परिचयमे, प्रभुका स्वरूप जाने तो आत्मस्वरूप जाननेमे आयेगा, आत्मस्वरूप जाने तो

और बडी अकडके साथ तेजीसे चलता जा रहा और उसे सही समझता जा रहा, बड़ी उमगसे आगेको पैर उठाता जा रहा है,तो एक तो भूल गया और फिर उसी भूलको सही मान रहा सो यह तो महाभूल बन गई। ऐसे ही एक तो राग होना और उस रागकी स्थितिको भला मानना, स्वरूप मानना बस इसीका नाम है मिथ्यात्व। रागमें राग होनेका नाम है मिथ्यात्व। विकारमें राग होनेका नाम हुआ मोह। ये विकार परभाव हैं इनसे विविक्त अन्तस्तत्त्वकी प्रतीतिसे ज्ञानी अन्त सदा प्रसन्न रहता है।

८४७–अन्तस्तत्त्वसंबंधित चर्याका आह्वान–

भैया, अपनी चर्यापर थोडा दृष्टिपात तो करो और ऐसा कुछ ध्यानमे लाओ कि आखिर मुझे अकेला ही तो रहना है सदा, अकेला ही तो जन्मा, अकेला ही तो मरना है, अकेला ही तो जो कुछ होवेगा वह अकेले ही होवेगा, यहा कोई दूसरा मददगार है क्या ? आज जो बडे अच्छे प्यारे लगते हैं, बहुत भले लगते हैं और उनमे अनुराग बनाते हैं, क्या ये कुछ भी इस जीवके मददगार हो सकेंगे ? नही हो सकते। इस भवमे भी नही हो सकते। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई किसीका शरण नही, कोई किसी की प्रवृत्ति नही कर सकता। तो फिर जब ऐसा है कि सर्वत्र प्रत्येक पदार्थ नगे नगे नच रहे है, अकेले-अकेले ही अपने-अपनेमे परिणम रहे है। तो ऐसे इस नगे नाच वाले ससारमे किसी परसे लगाव रखना, अन्दरसे उसको अपना सर्वस्व मानना उससे अपना महत्त्व प्रभाव समझना, यह कितनी बडी भारी भूल है। और, इसका फल भोगने आयगा कौन ? अपनी बात अपनेको ही सम्हालनी होगी। इस कारण एकही नाता रखे अपना कि मैं आत्मा हू, चैतन्यस्वरूप हू, जो मैं खुद हू, स्वय हू, केवल हू, शुद्ध (Pure) हू, सबसे निराला, विविक्त, अपने एकत्वमे हू बस वही मात्र मैं रहू तो सारे झझट खतम।

८४८–सहजपरमात्मतत्त्वके रुचिया संतकी बाह्य प्रवृत्ति–

जब मैं अपने इस सहज स्वरूपमे नही रह पाता तो मेरी सारी दशाये होती है। वे दशाये क्या है ? ये ही तो विभाव हैं और ये विभाव है पूर्वबद्ध कर्मके विपाकमे, किन्तु ये मिट जायेगी, नैमित्तिक है, परभाव हैं, यह तो एक झलक मात्र है यहा, जितने भी विभाव बन रहे है, वे सबके सब एक कोटिमे है, जब स्वभावदृष्टि कर रहे है, लक्ष्यमे ले रहे तो उसका यह ही अपने स्वभावमात्रपनेका निर्णय है, अब प्रवृत्ति बिना तो वह भी नही रह पा रहा, जो इतना समझ रहा तो बस प्रवृत्तिमें उसकी क्या परिणति होती है, परखिये जहा यह स्वरूपविकास दिखा ऐसे प्रभुके प्रति उमगके साथ प्रभुका स्मरण करता है। स्मरण क्या करता ? अपने भावोको, अपने उपयोगको उस प्रभुके अविकार स्वरूपमे बडी उमगके साथ ले जाता है और उसे ऐसे स्वरूपविकासकी साधना वाला कोई दिखे तो वहा बडी उमगके साथ उनकी परिचर्यामे, सेवा सत्सगमे प्रवृत्त होता है। यह रुचिकी ही तो बात है। जैसे किसी बालकको सनीमा देखनेकी रुचि है और उसका कोई पडोसी समवयस्क बालक है, उसके भी भाव हुए कि मैं भी सनीमा देखूगा, तो जब एक ही लक्ष्य मिल गया दोनोका तो वे कैसा एक दूसरेके कधेमे हाथ डाल कर बडी अच्छी गप्पें लगाते हुए, जेबमे अगर मूगफली हो तो खाते खिलाते हुए कैसा बड़े वात्सल्यसे चलते हैं, क्योकि उनका लक्ष्य एक है। तो ऐसे ही अतस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानीका जो लक्ष्य है उसकी ही साधना करने वाला कोई व्यक्ति मिलता है तो उनको देखकर वह कितना वात्सल्यसे रहेगा उसके लिए मानो सर्वस्व ही यह है, कल्पित घरके भी कुछ उसके नही रहे, यह है अन्तस्तत्त्वकी रुचिके विकासका एक मनोज्ञ लक्षण।

८४६–ज्ञानीका आत्मसंतोष–

यह ज्ञानी पुरुष सदा एक अपने आपमें ही सतोष रखता, तृप्ति रखता, अपने प्रभुसे ही आशीष चाहता, बाहरसे कुछ नहीं, कोई वस्तु ही नही चाहता। परवाह क्या, जो परिस्थिति होगी उसी मे निपट लिया जायगा। क्या चाहिए ? बडे-बडे महापुरुष जिनके पुण्यका अतुल प्रताप वर्त रहा था, सारा लोक जिनका सेवक था उनको भी कठिन अनिष्ट समागम प्राप्त हुए, उपसर्ग आये, उपद्रव आये। जैसे महावीर भगवान मुनि अवस्थामे थे, रुद्रने उपसर्ग किया, पार्श्वनाथ प्रभुपर मुनिपदमे कमठने उपसर्ग किया, सुकुमाल, सुकोशल आदिक बड़े-बडे पुण्यवान पुरुष ही तो थे, उनपर भी ऐसी स्थितिया आयी। तो हम बाहरमे किस-किस पदार्थका विचार करें ? उनके विचार करनेसे इस जीवको लाभ क्या ? लोग तो सोचते कि हमे ऐसा बनना है, ऐसा घर बनाना है, ऐसे ठाठके सावन बनाना है, अरे ठीक है, घरमे रह रहे हैं तो गुजारेके लिए सब कुछ कर्तव्य है, सो तो करना, मगर अपने अन्दरमें ऐसा आकुलित न होना कि ऐसा ऐसा हुआ क्यो नही ? अरे जिस जिसके उपभोगमे वे सब चीजें आनी हैं, उनका ही भाग्य अगर साथ नही दे रहा तो आप उसमे क्या करेंगे ?

८५०–अपने अन्तः एकत्वस्वरूपके आश्रयका संकल्प–

भैया बाहरमे जो हो, सो हो, मगर अपने आत्माकी 'अन्त' साधना बना ले, क्योंकि खुदको ही अकेला रहना होगा। अब भी अकेले हैं और आगे भी अकेले रहेगे, तो फिर उस अकेलेपनसे क्यों घबडाते ? जब हमने प्रोग्राम ही बनाया कि मुझे अनन्तकाल तक बिल्कुल अकेला ही रहना है। सिद्ध होनेका और अर्थ ही क्या है ? अनन्तकाल तक पूर्ण रूपसे सर्वथा अकेला ही रहना, न देह, न कर्म, न वैभव, न मित्र, न परिजन, केवल एक ज्ञानमूर्ति। जब हम इस स्थितिमे रहना पसद कर रहे हैं और अनन्तकाल तकके लिए हम अपनेको ऐसा ही चाह रहे हैं तो यहा अगर केवल दो मिनट अपने आपके अकेले इस सहज स्वरूपका चिन्तन करने बैठते हैं तो उसमे घबडाहट क्यो मचाते ? चिच्चमत्कारमात्र परम पदार्थमे उपयोगके प्रतपनकी एक गर्मीसी लग रही है मानो, कि वहा से भागकर अपने कल्पित शीतल पदार्थोंमे पहुचते हैं। अनन्तकाल तो अकेला रहना है ना ? तो दो एक क्षण कौनसी बडी बात है ? किसी भी क्षण, सामायिकमे किसी भी समय सर्व कुछ भारको त्यागकर अपने आपको केवल एक अकेला चैतन्यस्वरूपमात्र निरखें, थोडा विश्राम लेवें। इन विकल्पोमे अनादिकालसे अबतक थकते ही तो चले आये, उन विकल्पोंको त्याग कर सुनसान विश्रामसे ऐसा बैठ जायें कि किसी भी पदार्थका उपयोग न बनायें, ध्यान न बनायें, जरा ऐसा प्रयोग तो करे, यह ज्ञानस्वरूप अपने आप उमड-उमड कर उसके ज्ञानमे आयगा और यहा यह अनुभव अपना करेगा। जब अनुभव बन जाता है फिर उससे उसे कोई विचलित नही कर सकता। मैं यह ही हू, ऐसा ही चैतन्यस्वरूप हू इस भावनासे फिर विचलित करनेकी किसीमे भी बाह्यसाधन रूपसे भी बात नही आती, ऐसे अतस्तत्त्वकी जिन्होंने भावना की, रुचि की, उसका अनुभव चखा, आनन्द लूटा ऐसे पुरुषके लिए यह ससारका सारा जाल और इसका हेतुभूत समस्त कर्मजाल ये सब एक हिसाबमे आते हैं। सब पर हैं, सब मेरी आकुलताके हेतुभूत हैं। मेरा उसमें कुछ नही है। मुझे वहा कुछ न चाहिए, मेरी वहा कोई छाट नही। मैंने तो छाट लिया एक अपने इस अनादि अनन्त चैतन्य महाप्रभुको। इसके अतिरिक्त और कुछ भी मेरे उपास्य नही है। ऐसे रुचियाको सारे कर्म, सारे विभाव ये सब परभाव हैं।

८५१–स्वभाव विभावका भेद ज्ञात कर स्वभावके आश्रयके बलसे कष्ट दूर करनेकी भावना—

जगतमे जीवोका जो-जो कुछ भी नाना प्रकारका परिणमन चल रहा है–द्रव्य और परभावरूप जैसे नारकी बनना, तिर्यञ्च होना, मनुष्य बनना, देव बनना, कषायें जगना, विकल्प होना आदि जो कुछ भी ये परिणमन चल रहे है, यह निश्चय जानो कि ये मेरे स्वरूपकी वस्तु नही, स्वभावके तत्व नही। मैं तो अपने आप सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हूं। और फिर जो कुछ भी विपदाये, गडबडिया विकार विकल्प जो कुछ जग रहे हैं वे उस उस प्रकारकी प्रकृतिका निमित्त पाकर यहा उठ रहे है। ये पौद्गलिक है, इनसे मैं निराला हूँ, ऐसा अपने आपके स्वरूपको कोई निरखे, माने तो उस ही पुरुषका, जीवका कल्याण है। मैं क्या हूँ एक इसके निर्णयपर ही अपना सारा भविष्य निर्भर है, तो इन विकारोको तो ले जावो निमित्तकी ओर, वही जावे, मेरे मे मत रहो और अपने स्वभावको अपनेमे ले आवो, मैं चैतन्य-प्रकाशमात्र हूँ। जितना भी कष्ट है वह सब ज्ञानविकल्पका कष्ट है और यह विकल्प मेरे स्वरूपसे उठता नही है, होते मेरेमे ही परिणमन, पर ये अनैमित्तिक नही। ये पुद्गल कर्मका निमित्त पाकर हुए।

८५२–कर्मफलेच्छापरिहारके लिये कर्मपरिचयका सहायकत्व—

विभावके निमित्तभूत कर्म क्या-क्या है ? किस ढगके है ? उसके ही विवरणमे यह प्रकरण चल रहा है कि कर्मको जाने, समझे तो सही, याने जिनके उदयमे इतनी बडी भारी विपत्ति चलती है उन्हे भी तो थोडा समझे कि वे हैं क्या ? तो वे है पुद्गलकर्मवर्गणायें, सभी चाहे पुण्यकर्म हो चाहे पापकर्म हो, पुद्गलकर्मवर्गणाये हैं, उनका जो ढांचा है, उपादान है, स्वरूप है वह सब जड स्वरूप है इसलिए अपने अन्त स्वभावके लिए उनका कोई प्रयोजन नही है। वे रहे अपने आपमे, मैं रहूगा अपने स्वरूपमे। जिसको ऐसे कर्मका, आत्माका भेदज्ञान नही, विभावका स्वभावका भेदज्ञान नही, वह अपने स्वरूपकी सुधसे हटकर बाहरी बातोमे लगकर व्यर्थ ही हैरान हुआ करता है। थोडा स्पर्श तो करें अपने स्वरूपका कितना भार हटता है, कितना विलक्षण आनन्द आता है। मेरा कुछ नही फिरसे तो परखो यह बात। यह शरीर भी मेरा नही, प्रकट अचेतन है और देखते भी है कि भव छूटनेके बाद याने मरणके बाद यह शरीर साथ नही जाता, जीव अकेला चला जाता। लोग इस शरीरको जला देते। इसे कोई मना तो नही करता कि मेरे मुन्नेको या मेरे बाबाको मत ले जावो जलाने, यही पडा रहने दो"' । सब जानते हैं कि यह शरीर पार्थिव है, इस शरीरका क्या करना। सो भैया, वही तो शरीर है यह जो मरे के बाद निश्चेष्ट, रहेगा वही तो यह शरीर है जो साथ नही जाता, तो जब देह भी मेरे साथ नही जाता तो जगतके और पदार्थोमे लालचका जो रग बनाया है, मोहका जो रग बनाया है यह ही मेरा सब कुछ है, इस वैभवसे ही तो मेरा पूरा पडेगा, ऐसा जो रग बनाया है तो अपने आपके अन्दर यह बडा कलक है और यह ही इस जीवनको बरबाद करने वाली बात है।

८५३–ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञानके लिये ज्ञानमात्र बनानेके प्रयोगकी आवश्यकता—

भैया अपनी करुणा कीजिये, कुछ क्षण निर्लेप तो रहे। हो रहा सबका खुदका खुदमें परिणमन। कर्मोदयके अनुसार चलती है ससारकी बात। और शान्तिकी बात, मोक्षकी बात, आत्मकल्याणकी बात, ये अपने स्वरूपके ज्ञानके अनुसार चलते हैं, तो पहले अपनी परिस्थितिसे तो निपट ले जो रोज रोजकी परिस्थितियाँ घरमे आती है उनपर प्रयोग नही करते, उनमे लाभालाभका हिसाब घटित नही करते, धर्मकी बाते तो बडी ऊँची ऊँची कर डालते, आत्माकी चर्चा भी करते और-और भी सूक्ष्म बाते करते, मगर अपना जीवन कैसा चल रहा है और उस जीवनमे कितना कलुषताका रग चढा है,

कितनी अधीरता है और घबड़ाहट भी किया करते हैं, कहाँ क्या स्थिति बन रही है उसपर थोड़ा ध्यान तो करना चाहिए। कहनेसे आनन्द न आयगा, अनुभव न बनेगा, उसके लिए तो भीतरमें ज्ञान द्वारा ज्ञानमें ज्ञानका ही प्रयोग करना है, स्वानुभवके लिए कोई अन्य साधना न चाहिए, उसे तो एक अकेलापन चाहिए। तो उसके लिए थोड़ा इस ज्ञानमें रमना, ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपको सम्बोधना, मैं क्या हू, किसी भी क्षण अगर चित्तसे यह सारा सगका ख्याल, परिग्रहका ख्याल वासनासे भी निकल जाय कुछ क्षण, और यह हो सकता है ज्ञानके उदय होनेपर, तो सम्यग्ज्ञान पाना हमारे ही ज्ञानकी तो बात है। कोई दूसरा हमारा ज्ञान परिणमन करने न आयगा। किसी क्षण यदि कोई विकल्प न रहे, तो निज ज्ञान समुद्रकी सहज उछालोंमें सकल सकट सताप दूर हो जावेंगे। हम ऐसा जानें कि समग्र पदार्थ मेरे लिए कुछ नहीं है, इन समग्र बाह्य पदार्थोंसे मेरे को कुछ सहारा नहीं। मैं तो ज्ञानरूप, ज्ञानके परिणमनके अनुसार फल भोगता रहता हूँ। मेरा किसी अन्य वस्तुसे कुछ प्रयोजन नहीं। फिर मैं किसी परका ध्यान क्यों रखू ? परका ख्याल क्यो बनाऊँ ? मैं तो शान्त बैठा हूँ, मुझे अब कुछ नहीं सोचना है, ऐसा एक क्षण भी अगर जीवनमे आ सके तो यह आनन्दसागर, आनन्दनिधान, यह ज्ञान-भगवान, यह अपने आप दर्शन देता है। यही तो जीवनमे करनेकी आवश्यकता है।

८५४–प्रयोग बिना मात्र गप्पसे लाभकी असभवता–

जैसे—सभाओमे ऐसा होता ना कि प्रस्ताव तो बहुत-बहुत कर लिया, मगर उनका अमल नहीं होता। तो कोई कहता कि भाई प्रस्ताव तो बहुत कर लिए, अब प्रस्ताव तो रहने दो, अब उसपर अमल करो। तो ऐसे ही जो हमने ज्ञानाभ्यास किया है, थोड़ी बहुत जानकारी की है उसपर थोड़ा बहुत अमल करना है। जैसी करनी वैसी भरनी, गप्पसे कुछ काम न बनेगा। कुछ समय आत्म-चिन्तन प्रयोगसे बाहरी विकल्प, लगाव रागद्वेष, विरोध इन सबका परिहार कर अपनेमें अपने ज्ञानमय भगवानको निरखनेका सत्य आग्रह करना यह अगर सच्चे मनसे हो सके तो वह कुछ इस जीवनमें पा लेगा, और यह बात अगर न हो सकी तो कहते ना कि उसमे क्या उठता ? मानो कोई बाबूजी बम्बई जा रहे थे तो पास पडोसकी कई सेठानियाँ बाबूजी के पास आ गईं। कोई सेठानी बोली-बाबूजी मेरे मुन्नेको बम्बईसे खेलनेका हवाई जहाज ले आना, कोई बोली हमारे मुन्नेको खेलनेका राकेट ले आना, कोई बोली हमारे मुन्नेको खेलनेका रेलका इञ्जन ले आना। और एक गरीब बुढिया अपने हाथमे दो पैसा ले आई बोली-बाबूजी ये लो दो पैसे, हमारे मुन्नेको खेलनेके लिए मिट्टीका खिलौना ले आना, तो वहाँ बाबू जी बोले बुढिया माँ! मुन्ना तो तेरा ही खिलौना खेलेगा, बाकी सेठानियाँ तो सब यो ही गप्प मारकर चली गईं, उनका न खेल सकेगा। तो ऐसे ही समझो कि हम बोलते अधिक हैं, करते नही है, करनेका तो ध्यान तक भी नही है, केवल बोलने बोलनेकी ही बात है और करनेका, भीतरमे सोचनेका, एक अनुभव करनेके लिए प्रयास करनेका, , पुरुषार्थ करनेका इस ओर तो ख्याल भी नही किया कि यह भी कोई करनेकी चीज है, ऐसा अभ्यास, योगाभ्यास नही करते और केवल हम रुटीन से कुछ कुछ करते रहे, सो उससे भीतरमे कुछ प्राप्ति नही हो पाती। तो कोई २४ घंटेमे एक समय सामायिक का काम नियमित रूपसे होना चाहिए और प्रभुस्मरणका काम, नाम जाप, कुछ भावना, पाठ आदि ये सब हो, मगर कुछ क्षण योगाभ्यासमे लगाना चाहिए। यह परवाह न करें कि हम गृहस्थ है, अरे गृहस्थ हैं तो आत्मा नही है क्या ? सम्यग्दर्शन तो जैसा मुनियोको हो सकता है वैसे ही गृहस्थोको भी हो सकता है, उसमे तो कुछ अन्तर नही। हाँ बाह्य प्रसग ऐसे हैं कि गृहस्थको स्थिरता नही हो पाती

प्रभुका स्वरूप जाननेमे आयगा । तो यहाँ यह दुविधा न समझना - कि हम पहले क्या जानें। अरे जो बने सो जानो । जैसा जिसको जो भाव बैठ जाय सो करे, मगर ये दोनो परस्पर सहयोगी हैं। स्वरूपका निर्णय जिस ज्ञानीने किया वह इस पुण्य वैभवका निषेध करता, मुझे न चाहिए, और फिर इसके कारणभूत जो पुण्यकर्म हैं वह भी मुझे न चाहिए, फिर इसके कारणभूत जो शुभभाव है सो यह भी न चाहिए। किसकी बात कह रहे है। जो अशुभभाव तजकर शुभभावमे आया है उसके बात बनती है ऐसी।

८६३—शुभोपयोगीके लिये शुभोपयोगमें शुभोपयोगका निषेध—

जैसे यह मुनिलिङ्ग, यह द्रव्यलिङ्ग, यह मोक्षका हेतु नही, यह मोक्षका कारण नही, इसे तज करके, इससे हट करके अपने स्वरूपमे आवो यह उपदेश है। इसको मुख्यतया कौन सोचे ? जो निर्ग्रन्थ है, मुनि है वह सोचे। यह निर्ग्रन्थपद, यह चीज, यह भेष मोक्षका कारण नही, यह बाहरी लिङ्ग है, शुभभावसे चलकर अपने अन्त स्वरूपमे आवो, मोक्षमार्ग मिल जायगा। कोई साधारण पुरुष जिसने पाप और व्यसनोका भी त्याग नही कर पाया, ऐसा पुरुष यदि इस बातको घटित करे कि यह निर्ग्रन्थभेष, यह साधुधर्म, ये व्रत त्याग ये सब बेकार है, हाँ ठीक है किन्तु व्यवहारका निषेध व्यवहार करने वाले किया करते है और इसमे फिर कही भी धोखा नही होता। पूजा करते-करते १०–१२ वर्ष हो गए अथवा सारा जीवन भी बीत गया, तो वहाँ तो आत्मज्ञान जागृत होना चाहिए था, आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि होनी चाहिए थी मगर नही हो पाती और यदि नही हो पाती आत्मस्वरूपकी दृष्टि तो फिर उस पूजा करनेसे लाभ क्या पाया ? वह तो बेकार रहा। अब यह ही बात कोई शुरूसे बच्चोको समझाये कि पूजा करना बेकार' तो उसका असर क्या होगा ? यद्यपि बात ठीक है, पर कौनसी बात किस पदमे ठीक है, इसका भी तो ध्यान रखना चाहिए। कहाँ कौनसी बात ठीक है इस पात्रभेदसे ही थोडा भेद बन जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य स्वय निर्ग्रन्थ थे और उन्होने इस निर्ग्रन्थलिङ्गकी बहुत-बहुत टीका की। उन्होने कहा कि जो भी सिद्धि पा सके है वे द्रव्यलिङ्गका त्याग करके ही पा सके हैं। तो क्या इसका अर्थ यह था कि कपडे पहिनकर सिद्धि पायी है ? अरे वह उपदेश तो मुनियोके लिए था। जो द्रव्यलिङ्गी मुनि है वे उस द्रव्यलिङ्गका आश्रय त्याग दे तो उन्हे सिद्धि मिलेगी। याने मुनि होकर भी मैं मुनि हू ऐसा विकल्प भी न जगे। व्रत समिति गुप्ति आदि की सब क्रियाये करते हुए भी अपने सहज अन्त स्वरूपपर दृष्टि रहे।

८६४—बाह्यवृत्तियोके निर्विघ्न गुजारेसे बढकर लक्ष्यकी साधनामे ज्ञानीकी प्रगति—

बाह्यवृत्तियाँ तो एक गुजारा है, याने मोक्षमार्गमे चलने वाले गृहस्थ भी हैं, मुनि भी हैं, गृहस्थके लिए गुजारेका साधन परिजन, दूकान, व्यापार आदि और-और बातें है तो वहाँ ज्ञानी गृहस्थ यह समझता है कि यह तो एक गुजारेके लिए है, आश्रय तो स्वभावका ही करना है, तो इसी तरह और आगे बढो क्योकि गृहस्थीकी दशामे उस स्वभावकी उपासना अच्छे प्रकार नही बन पाती, क्योकि कितना ही कोई सोचे, विकल्प कितने ही आते हैं रोज-रोज। जरा-जरासी बातमे घमड उखड ही आता है, क्योकि संग प्रसग परिग्रह व्यवहार नाता रिस्ता आदि ये सब बातें अगल-बगलके इतने कीचड भरे रहते हैं गृहस्थीमे कि उसे अध्यात्मसाधनामे विघ्न बहुत आते है, और जिस ज्ञानी गृहस्थ को अध्यात्मकी तीव्र इच्छा है वह उन सब आश्रयभूत साधनोको छोड देता जिनमे रहकर अध्यात्मसाधनामे कठिनाई पड रही थी याने अब निर्ग्रन्थ अवस्था आयी तो वहाँ भी यह सोचना कि यह भी गुजारेके लिए है,

क्योंकि शरीर है, रहना पड़ता है, मन वचन कायकी चेष्टायें करनी होती हैं, वह सब हो रहा है, यहं भी एक गुजारेकी चीज है, वहाँ से ममकार त्याग देता है। तो शोभा, शृङ्गार और सच्चाई सब कुछ वहाँ मिलती है उस शुभ व्यवहारमे आकर उस व्यवहारका अत्यन्त निषेध कर अन्त स्वरूपमें प्रवेश करता है। वहाँ उसे निर्बाध आनन्द मिलता है, क्योंकि वह पदवी निर्बाध है, वहाँ स्वानुभव अधिक क्षण करते रहनेका मौका भी मिलता है।

८६५–मार्गदर्शनपूर्वक मार्गगमन–

आचार्यजनोने जो गृहस्थोको षट्कर्मका उपदेश किया-देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, तप, दान और सयम या और भी जो जो कुछ बताया है यह कृपा करके ही तो जताया है। कृपा करके ही तो तत्त्वमनन श्रद्धानका उपदेश किया है। सो गृहस्थ ज्ञानी इन सब कर्तव्योको करता तो है, किन्तु उसकी श्रद्धामे अविकार स्वभाव ही सारभूत परम पदार्थ है। अन्तस्तत्त्वके सिवाय अन्य सब भाव परिवर्तित भाव एक ही जातिके है एक ही प्रकारके हैं। मुनिके और गृहस्थके श्रद्धानमे अन्तर नही है। कर्मोसे, विभावो से, सर्वविकल्पोसे निराला जो एक अतस्तत्त्व है वही मैं हू, ऐसी श्रद्धा अटल ज्ञानी गृहस्थकी भी है, मुनिकी भी है। श्रद्धा तो हो गई, जैसे मार्ग तो दिख गया, पर अब चलना चाहिए ना उसपर, सम्यग्दर्शन तो केवल मार्ग दिखाता है, चलाया नहीं उसने, चलानेवाला है चरण चारित्र। मार्ग दिख गया, इसका तो आनद आयगा, पर अब चलना रह गया। तो जिसको मार्ग दिख गया वह चलनातो चाहता है ना। यह गृहस्थ जितना चल पाता है उतनेमे इसे सन्तोष नही होता, बेकार हैं सब झझट, सारे समागम। मैं अपने इस मार्गमें चल ही नही पा रहा हू, इस मार्गमें उतर ही नही पाता हू तो चरणानुयोगके अनुसार बतायी हुई प्रक्रियासे वह परिग्रहसे विरक्त होता जाता, उस भारसे अलग होता जाता और इस अध्यात्मकी साधनामें वह एक अवसर पाता जाता।

८६६–सम्यक्त्व और मिथ्यात्वमे आन्तरिक अन्तर–

एक पुरुष किसी दूसरे गाँवसे अपने गाँवको जा रहा था, रास्तेमे साम हो गई, अँधेरी रात थी। गाँवसे कोई तीन चार मील जगह ही पार कर चुका था कि वह जगलमें रास्ता भूल गया। पगडडियाँ उसमें अनेक थी। वह भूलसे काफी दूर गलत रास्तेमें चला गया, ज्यो-ज्यो चलता जाय त्यो-त्यो फसता जाय। थोडी ही देरमें घना अधकार छागया, बादल कडकने लगे। वह घबडा गया। उसने कुछ विवेकसे काम लिया कि अब मुझे चलना बद कर देना चाहिए क्योकि अधेरी रात है, जगल ही जगल मिल रहा है, ज्यो-ज्यो चलते जा रहे है त्यो-त्यो फसते जा रहे हैं, अब आगे चलना उचित नही है, उसने चलना बद कर दिया और एक पहाडीपर एक टीलेपर बैठ गया। अब आकुलता, चिन्ता, शल्य उसको क्या होगी सो तो विचारो-अरे अब मैं इस भयानक जगलमे बुरा फस गया, ये देखो भयकर जगली जानवरोकी आवाजें भी सुनाई पड रही हैं, पता नही मैं इस जगलसे अपने प्राण बचाकर निकल पाऊँगा भी या नहीं इस प्रकारकी चिन्तामे पडा हुआ वह मुसाफिर जगलमें बैठा हुआ था। इसी बीच थोडे ही समय बाद क्षणिक बिजली चमकी, उस बिजली की चमकमें ही उसे कुछ ही दूरीपर सडक दिख गई जिससे उसे जाना था। बिजलीकी चमक तो तत्क्षण खतम हो गई, फिर वही भयानक अधकार छा गया। वह मुसाफिर पडा था वही का वही, मगर उसने बडा सतोष मार्ग पा लिया, सोचने लगा अरे काफी रात बीत चुकी, कुछ ही घटे बाद प्रात काल होगा बस उस सडकसे निकल जायेंगे अब भला बतलावो कि उस बिजलीकी चमकमें जो मार्गदर्शन हुआ उसमें कैसा भाव है ? निराकुलता, सतोष कष्टमुक्तिकी प्रतीक्षा,

और उससे पहले का क्या भाव था ? घबडाहट, शल्य, चिन्ता । देखिये वहाँ अन्तर पड गया ना ! बस यही तो मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका अन्तर है । मिथ्या गहन क्लेश विकल्पजालमे फसा हुआ यह प्राणी परभावोकी ओर, परपदार्थोंकी ओर नाना प्रकारके विकल्प बना-बनाकर घबडा रहा, परेशान हो रहा, हाय अब क्या करें, क्या होगा कदाचित् इसको यह ज्ञान विजली चमक जाय भीतर और भीतर ही भीतर उस सहज आत्मस्वरूपका दर्शन हो जाय, हो गया क्षणभरके लिए स्वानुभव, आत्मदर्शन हो गया, अब उसके बाद इसको बडा सतोष हुआ । यह है आनन्दधाम । यहाँ है मेरी समृद्धि, बाहरमे मेरा कही कुछ नही । सतोष हो गया, सम्यक्त्व जगनेके बाद अपने ज्ञानमे, स्वरूपमें रति, सतोष हो जाता है ।

८४६–सन्मार्गगमनमें आन्तरिक प्रभाव—

हो तो गया सतोष स्वरूपदर्शन कर लेनेपर, मगर उस स्वरूपमे समाय, लीन हो, यह काम तो पडा है अभी करनेको । जैसे उस क्षणिक बिजलीकी चमकमे मार्ग तो दिख गया उस मार्गसे जाना है, निर्णय होनेसे सतोष हुआ, मगर मार्गपर चलना अभी नही बना । ऐसे ही सम्यग्दर्शनके होनेपर मार्ग का दर्शन तो हुआ, पर अभी चलना नही बना, तो चलेगा, थोडा चलेगा । जैसे बडे गहन बनसे सबेरे चलेगा तो पहले पगडडियोसे चलेगा, सकरी गलियोसे चलेगा, जिसमे कभी काँटोसे धोती भी छिदेगी, कही थोडा काँटा भी निकालना पडेगा, थोडा मुड कर भी जाना पडेगा सब तरहकी बाते आयेगी, याने नि शक एक खूब हाथ पसार कर, शानके साथ उसका चलना नही बन रहा, वह अभी जगलमे से ही तो निकल रहा है, होते होते जब वह जगल पार करके सडक पर आयगा तो यहाँ से खूब हाथ फैलाते हुए बेधडक बडी शानके साथ प्रसन्न मुद्रामे चलता है अपने घरको । सम्यक्त्वमे मार्गका दर्शन तो हो गया, अब उसपर चलनेकी बात है, सो जैसे-जैसे कषाय मद होती जाती, जैसे जैसे विरक्ति बढती जाती और बाह्य सग परिग्रहका परिहार होता जा रहा है वैसे ही वैसे यह ज्ञानी गृहस्थ श्रावक उस स्वभावके अनुभवमे चल रहा है । थोडा ही चल पाता, बस कि झझट बहुत हैं। वैसे ही बैठे कभी कुछ ख्याल आया, कभी कही चित्त गया क्योकि यह श्रावक छोटी छोटी पगडडियोसे चल पा रहा है । उसे वह बेधडककी सडक नही मिली, क्योकि उसके सामने परिस्थिति ऐसी है, वह गृहस्थीके बोझसे दबा हुआ है, परिजन है ही । तो खैर धीरे-धीरे चलते जब कभी वह एक निर्ग्रन्थका मार्ग पा ले, फिर यह तत्त्वज्ञानका रुचिया सत बडी प्रसन्नतासे क्षण क्षणमे वह अपनी दृष्टि करता, आत्माकी ओर दृष्टि करता, उसका एक शानसे चलना हो रहा है ।

८६८–अध्यात्म शान—

यहाँ अध्यात्म शानकी बात कर रहे, शरीरके शानकी बात नही कह रहे, शरीरका लगाव तो छूट गया । कैसी उसकी भीतरी शान है, क्षण–क्षणमे आत्मदृष्टि, स्वभावदृष्टि चल रही है । देखिये परिस्थितिके अनुसार उसपर भार कितना है फिर भी उसके स्वभावदृष्टिमे, समितिमे अन्तर नही आ रहा । स्वभावदृष्टि अनेक बार हो रही, उसकी एक भीतरी शानको निरखियेगा । आहार करते हुए में लग गए कोई २०–मिनिट, इतने समय तक वह स्वभावदृष्टिसे स्वभावसाधनासे वचित नही रहता । बीच–बीच क्षण–क्षणमे झट स्वभावदृष्टि बन रही । यद्यपि क्रिया चल रही, फिर भी अन्तर नही आ रहा, लोग नही समझ पा रहे और चल रही है अप्रमत्तदशा । सो जैसे-जैसे यह एक ऐसी स्थिति आती है कि कोई चिन्ताका स्थान नही, शल्यका स्थान नही, वैसे ही वैसे इसको अध्यात्मकी उपासनाका अवसर मिलता जाता है । हो रहा यह सब काम, मगर आस्था अविकार स्वभावकी रही ।

ये बाह्य क्रियायें चल तो रही हैं, गुप्ति, समिति, सामायिक आदिक ये सब चल तो रहे हैं, मगर परिस्थिति यह कह रही है कि जो जो ये चेष्टायें हो रही हैं ये सब अज्ञानचेष्टायें है, क्योंकि उनका मूल है राग जो कि स्वय अज्ञानस्वरूप है। ज्ञान जगनेके बाद भी, सम्यक्त्व होनेके बाद भी उन सारी चेष्टाओंको अज्ञानचेष्टामे डालते हुए यह ज्ञानी सत कैसा अध्यात्ममे बढता चला जा रहा है। ऐसा इस पुरुषके लिए पुण्यकर्म हो तो पापकर्म हो तो शुभ अनुभाग अशुभ अनुभाग ये सब उसको कुशील जच रहे। इस तरह यह भेदविज्ञानी पुरुष इन कर्मोंसे विराम पाता है और अपने आपके स्वभावमे प्रवेश करता हुआ विश्राम पाता है।

८६६–बन्धनविमुक्ति और स्वाधीनताका आदर—

सभी जीवोंको छुटकारा प्यारा लगता है। बच्चे स्कूलमे रहते हैं, पढते हैं, पर उनके भीतर यह ही इच्छा रहती है कि कब घटी बजे और छुट्टी हो। अक्सर करके ऐसा देखा जाता है इसलिए ऐसी बात कही जा रही है। एक केवल दृष्टान्त भरके लिए ही तो बात लेना है। छुट्टीकी घटी बजते ही स्कूलके बच्चे कैसा अपना अपना पाटी बस्ता लेकर उछलते कूदते हुए, अपने हाथ पैर आगे पीछे फेंकते हुए हँसते खेलते प्रसन्न मुद्रामे भागते है। बताओ–उनको खुशी किस बातकी हुई ? उनको खुशी हुई एक बधनसे छुटकारा पानेकी। उन्होने वह ही बन्धन समझा, दृष्टान्तकी बात कह रहे कि जो जिस बन्धनमे है वह उस बन्धनसे छुटकारा पाने को अधिक इच्छा रखता है। जो कारागारके बन्धनमे है वह उससे छुटकारा पानेकी अभिलाषा रखता। ज्ञानी पुरुष जिसने स्वाधीन आनन्दका अनुभव किया, आत्माका जो सहज स्वरूप आनन्दमय चित्प्रतिभास मात्र जहाँ झझट नही, जहाँ दूसरे का दखल नही, जहाँ आनन्द ही आनन्द बरसता रहता है, ऐसे स्वभावका परिचय पाया, आनन्दका अनुभव किया उसे ये बाह्य सामग्री ये सब बन्धन मालूम होते हैं। यह घर बन्धन है, यह परिवार समूह बंधन है। जैसे कहते है ना–तनकारागृह माँहि, याने यह शरीर जेलखाना है ना ? तो जब आत्मीय आनन्द का अनुभव हो जाता है तो उसे ये सब बाहरी सग प्रसग बधन मालूम होते हैं। उनसे छुटकारा चाहिए। है तो ये बाहरी बातें, किन्तु इससे जीव बुरा प्रभावित हो रहा है।

८७०–ज्ञानीकी परमार्थ स्वाधीनताकी आकाक्षा—

इस ज्ञानीको अपने आपके अन्त बधन यह मालूम पडा कि कर्म साथ है, उनका उदय है, उनका प्रतिफलन होता है, उसमे हम ढँक जाते है, बहक जाते हैं, वहाँ स्वरूपकी सुध छोड देते हैं। यह हमारे लिए बडा विकट बधन है। इस बधनसे छुटकारा चाहता है ज्ञानी और चाहता है कि मैं पूर्ण स्वाधीन रहूँ, आजाद, स्वतत्र, स्वाधीन, स्वावलम्बी रहूँ। लोग तो स्वावलम्बी इसे कहते हैं कि घरमें अच्छी कमाई है, घर है, खुश है अपने घर में रहते हैं, खाते हैं, कहते हैं कि बस हम स्वतत्र हैं, स्वाधीन हैं, पर यह स्वाधीनता नही, आखिर द्रव्यकी अपेक्षा तो की, घरके अन्य साधनोंकी अपेक्षा तो की। और उस सुख भोगनेके समय इस इन्द्रियकी अपेक्षा तो रही, यह स्वावलम्बी जीवन तो नही है, स्वावलम्बी जीवन है–ज्ञानमें मात्र ज्ञानस्वरूप दृष्टिमें हो, उसका ही ज्ञान हो, उस ही ज्ञानमें निरन्तर रहे और वहाँ जो एक सहज आनन्द झरता है उस आनन्दसे तृप्त रहे, यह है स्वाधीन जीवन। क्योंकि इस उपायमें सर्व प्रकारके बधनोंसे छुटकारा मिलता है।

८७१–मोक्षोपायकी गवेषणासे लोगोंकी अन्तः व बाह्य निरख—

विभाव, विकार, बधनसे छुटकारा चाहने वाले ज्ञानी सत मार्ग जान गए कि इस निरावलम्बनके

मार्गमे चले, स्वाभावाश्रयके मार्गसे चलें तो हमको वह स्वावलम्वी जीवन प्राप्त होगा अर्थात् वह परिणमन प्राप्त होगा। तो यह मुक्तिके लिए उद्यम करता है। इसने तो मुक्तिके लिए उद्यम किया और देखने वाले लोग समझते नही, क्या, कि यह ज्ञानी है यह मोक्षका उद्यम कर रहा है। ओह ! जब तीर्थंकर, जब यह इतने बडे पुरुष इन सब विभावोको त्यागकर एक इस निर्ग्रन्थतामे रह रहे थे और मोक्षकी साधना कर रहे थे। मोक्ष प्राप्त किया, तो कोई अद्भुत सुख है, ऐसा लोगोको विदित हुआ था ? हुआ विदित, अब उसे भिन्न-भिन्न तरहके लोगोने अपनी-अपनी बुद्धिसे वहाँ अंदाज लगाया कि यह मोक्ष कैसे मिलता ? किसीने यह ठीक समझा कि आत्माका जो सहजस्वरूप है उसमे मग्न होना, उसके ही ज्ञानकी धारामे निरन्तर रहना, यह अन्त. पौरुप चलता, उसका फल है मुक्ति। किसीने अदाज लगाया कि घरके सारे बाह्य परिग्रहोको त्यागकर ऐसे निर्ग्रन्थ वेषमे रहे कि किसीसे कुछ मतलब नही, चिन्ता नही, परिग्रह नही, ऐसा एक निर्ग्रन्थ पदमे आये इससे मुक्ति होती है। किसीने यह अदाज लगाया कि इस तरह भिक्षाचर्यासे भोजन करे, इस इस तरहसे जमीनको देखकर निरखकर चले, ऐसा तपश्चरण करे, ऐसा अनशन हो, ये सब क्रियायें है, इनसे मुक्ति मिलती है··· । सबने अपनी-अपनी योग्यतासे अदाज लगाया, अब उन सब अदाजोमे सम्पर्क तो सब बातका है, मगर लक्ष्यमे मूल और प्रवृत्तिमे विचार दोनो ही चल रहे। जो मुक्तिकी साधनामे लगा है उसके लक्ष्य और प्रवृत्ति दोनो ही चल रहे और उसे देखकर लौकिक लोगोने जो अदाज बनाया सो यह नही कि उसका जरा भी सबध नही, मगर लक्ष्यको छोडकर केवल बाहरी प्रवृत्तिमे जिन्होने मोक्षमार्ग समझा, उन्होने तो तथ्य नही पाया और जिन्होने ऐसे बाह्य प्रवर्तनमे रहने वाले निर्ग्रन्थ साधुके उस भीतरी प्रक्रियाको देखा, समझा, उनका एक लक्ष्य देखा, समझा उन्होने मोक्षमार्गका तत्त्व पाया। अब ऐसा होनेमे हम अगर प्रवृत्तिका निषेध करें तो तीर्थ प्रवृत्ति समाप्त होती है और लक्ष्यका निषेध करे तो तत्त्व नष्ट हो जाता है। मार्ग चल रहा है, महावीर भगवानका एक तीर्थ है, इस तीर्थमे अपनी-अपनी योग्यतासे सब लोग चेष्टायें कर रहे है, कोई सफल होता कोई नही सफल होता। जिन्होने अन्त लक्ष्य पाया उनको सफलता मिली। उनके ज्ञानमे स्पष्ट है कि यह सदामुक्त परमेश्वर अन्त प्रकाशमान है।

८७२—अन्तः प्रकाशमान अन्तस्तत्त्वकी सदामुक्तता व परमेश्वरता—

देखिये सहज परमात्मतत्त्वकी भक्तिकी कोशिश सब दार्शनिकोने की। एक दार्शनिक मानता है कि सदामुक्त सदाशिव एक ईश्वर है। बाकी तो जितने मुक्त होते हैं, जितने मोक्षमे जाते है वे सब उसके नीचे है। उन मुक्त जीवोकी अवधि है कि इतने दिनतक मोक्षमे रहना, अवधि समाप्त होनेपर उनको पुन वहाँ से गिरना होता है, फिर ससारमे अवतार लेना होता है, फिर उनकी वही गति होती है। फिर जब कभी अच्छी क्रिया करेंगे तो फिर मोक्ष होगा, फिर वह ससारमे गिरेगा, इस प्रकारकी प्रक्रिया चलती रहेगी, मगर जो सदामुक्त परमेश्वर है, वह जगतका कर्ता है, वह एक अद्वैत परमेश्वर है, ऐसा एक दार्शनिकका कथन है। अब देखिये बात कुछ होती है तो बात उडती है, कुछ भी न हो तो बात कहाँसे चले ? जितने भी जगतमे दार्शनिक है उन सबके मतोका जितना बढिया वर्णन जैन सिद्धान्तके दृष्टिवाद नामके १२ वें अगमे है कि उतना वर्णन और विवेचन तो वे लोग भी न कर सके। अब सबका एक समन्वय देखिये एक तत्त्व मिलेगा और श्रद्धा बनेगी मूल बातमे कि बात वास्तवमे तथ्य वह ही है। सदाशिवके मायने क्या ? जो सदा कल्याणमय है सदामुक्तके मायने क्या ? जो सदा छूटा हुआ है मुक्त है, ऐसा कौन है ? यह अपना अत. स्वरूप है, अपना सहज चैतन्य स्वरूप

है उसमे किसी परका प्रवेश नही। एकके स्वरूपमे किसी दूसरेका प्रवेश नही होता। अन्य पदार्थका मेरे प्रदेशोमे प्रवेश हो जाय यह तो वात वन सकती है व्यवहारसे, मगर किसीके स्वरूपमे किसी दूसरे का प्रवेश हो यह वात नही वनती। स्वरूप और प्रदेश ये कोई न्यारे-न्यारे तो नही हैं, जो आत्माके प्रदेश हैं वही आत्माका स्वरूप है। प्रदेश न्यारे हो, स्वरूप अलग वसता हो ऐसा तो नही है, मगर समझनेकी वात है। स्वरूप कहकर जो ज्ञानमे आता उस तत्त्वमे परका प्रवेश नही है। प्रदेश समझकर जो एक ज्ञानमे आता, स्पेश, जगह, चीज वहाँ परका प्रवेश है व्यवहार से। जैसे कि आत्मामे कर्मका प्रवेश है प्रदेशमे, स्वरूपमे नही। अनुभवकी इच्छा करने वाले आत्माके प्रदेशरूपमे निरखनेकी मुख्यता नही रहती, अथवा गुण है पर्याय है ऐसे विस्तारसे निरखनेकी मुख्यता नही रहती। वह तो केवल एक अखण्ड स्वरूपको ही निरखनेका अभिलाषी होता है।

८७३—सदामुक्तता व पारमैश्वर्यकी पर्यायमे व्यक्ति होनेपर ही आनन्दानुभवन एव उसकी प्राप्तिका उद्यम—

सहज स्वरूपकी वात कह रहे हैं कि उस स्वरूपमे परका प्रवेश नही है, वह सदा मुक्त है, मगर भोग तो स्वरूपका नही हो रहा, भोग तो परिणमनका हो रहा, आफत तो यह लद रही है; तो आवश्यक हो गया कि जैसा स्वरूप मुक्त है, सदामुक्त है, ऐसा स्वभावमात्र निरखनेमे इसी तरहकी मुक्ति पर्यायमे मिले, व्यक्त मिले तो इस जीवको आनन्दका अनुभव हो, घरमे निधि गडी है, घरमे माया गडी है, उस घरमे रहने वालेको पता ही नही है, कुछ जानकारी ही नही है, कुछ सुन भी नही रखा, तो वह गरीवीका अनुभव करेगा या अमरीकी ठसक लायगा? वात तो वताओ। वह तो अपनी गरीबीका अनुभव करेगा, अमीरीकी ठसक नही ला सकता। ऐसे ही अनन्त आनन्दकी निधि सव मेरेमे है, पर रागद्वेष विभाव पटलके नीचे ऐसी दवी पडी है कि उसका पता ही नही, सुध नही तो ऐसी अनन्त समृद्धि निधिका जिसको पता नही, वह क्लेशका अनुभव करेगा या आत्मोत्थ निधिका अनुभव करेगा? तो आवश्यकता है इस वातकी कि जैसा यह मेरा स्वरूप स्वभावत सर्वसे विविक्त न्यारा सदा मुक्त है, ऐसी स्थिति मेरे व्यक्त रूपमे हो, परिणतिमे हो, वस इसका इच्छुक ज्ञानी पुरुष लक्ष्य सहित प्रयोगमे लगता है। देखिये व्रत, क्रिया, इनका पालन करते हुए साधुके प्रति जो ज्ञानीका आदर होता है सो क्रियाको देखकर भीतरका जो एक उसके लक्ष्यका अनुमान हुआ और उसकी उस भीतरी साधनाका ज्ञान हुआ उस साधनापर मुग्ध होकर यह ज्ञानी उसका आदर करता है, जिसके ऐसा अखण्ड अन्त स्वभावका लक्ष्य बना, उसकी साधनामे वढ रहा और जव तक उसके राग है, मन, वचन, कायकी चेष्टा है तो उसकी चेष्टा नियमसे व्रत, तप आदिकी साधनारूप मिलेगी। इसी कारण से तो हम उसके द्वारा उस भीतरी साधनाका अनुमान करके उसके प्रति हम भक्ति किया करते हैं। मोक्षके उपायकी वात जानकर ही तो ज्ञानीका निर्णय है कि शुभ अशुभ भाव सव स्वभावसे विपरीत भाव हैं।

८७४—आश्रयभेदसे पुण्य पापमे भेद डालनेकी एक आशंका—

मोक्षकी वात सुनकर वाह्य दृष्टि वाले यह कह बैठे कि कर्म जो दो प्रकारके हैं पुण्य और पाप, सो पुण्य तो मोक्षका आश्रयभूत है और पाप वधका आश्रयभूत है, याने पुण्य और पापमे अन्तर है, पुण्यसे होता मोक्ष और पापसे होता दु ख, कष्ट। अव क्यो कहा ऐसा किसी ने? कुछ तो निरखा होगा। विल्कुल मूर्ख जगतमे कोई नही है त्रुटि तो होती है, मगर मूलत' एकदम विपरीत वात समझने

के लिए किसी की वृद्धि नही चलती, उसने देखा क्या ? उन ज्ञानी साधु संतोकी क्रिया, जिससे वहाँ सातिशय पुण्यबंध हुआ करता है। तो देख करके बात कही थोडा सा ऐसा भी सोचा कि धन्य है ये ज्ञानी साधु संत और यह पुण्यका ही उदय है जो ऐसा वातावरण मिला, स्थिति मिली और देखो यह राजा थे या बडे सेठ थे इतना बडा पुण्य था, उसको भी लात मारकर इस अवस्थामे आये, मोक्षकी साधनामे आये, तो ऐसे पुण्यवाले ही मोक्षकी साधनामे लग पाते हैं, ऐसी अनेक बातें चित्तमे रही जिससे उन्होने यह सोचा कि पुण्यसे तो मोक्ष और पापसे बंध होता। और भी क्या बात उनके चित्त मे आयी होगी कि देखो पुण्य हो गया, इन्द्र हो गए तो ये इन्द्र एक भवावतारी होते हैं। इन्द्र एक भव पाकर मोक्ष जायगा तो देखो यह पुण्यका ही तो सिलसिला रहा जिससे मोक्ष पहुचने आदिक की बातें उनके चित्तमे आयी। उनकी कुछ बात उनके दिमागसे ठीक भी है कि भाई पुण्यकी परम्परामे उन्हें मुक्ति मिली, याने किसी को भी मुक्ति मिली है तो शुद्धोपयोगसे मिली और जिसे भी शुद्धोपयोग मिला है तो वह शुभोपयोगके बाद मिला। अशुभोपयोगके बाद किसी को भी शुद्धोपयोग नही मिला एक भी दृष्टान्त न मिलेगा कि किसी को अशुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग मिला हो। हो ही नही सकता, वस्तुस्वरूप ही नही कि अशुभोपयोगके बाद तुरन्त किसी को शुद्धोपयोग हो सके। जिसको भी शुद्धोपयोग होता है उसको शुभोपयोगके बाद ही होता है और शुभोपयोग, पुण्य ऐसी सब बात सोचकर एक चित्तमे आया कि पुण्य और पापमे यह फर्क है कि पुण्य तो है मोक्षका आश्रय और पाप है बंधका आश्रय। अब इसका समाधान सुनिये।

८७५—आश्रयभेदसे पुण्य पापमे भेद डालनेकी उक्त आशंकाका समाधान—

सहज अंत स्वभावका रुचिया ज्ञानी पुरुष समझ रहा है कि मुझे चाहिए क्या ? बस जान गए और टन्ना कर रह गए। टन्ना कर रह जाना यह एक बुन्देलखण्डी शब्द है। टन्ना कर रह जानेका अर्थ है कि न अब भला कहना न बुरा कहना, न प्रवृत्ति करना न कुछ करना। है तो वह एक रूसने जैसी दशा, पर यह रूसनेकी ऐसी विचित्र दशा है कि वह किसी को बुरा भी नही कह रहा, किसी की प्रवृत्तिको देखकर कुछ भी नही कह रहा, न चाहनेकी बात कहता, गुम्म सुम्म ऐसा टन्ना कर रह गया। यह ज्ञानी क्या करता है कि जब इसने अपने अन्त अविनाशी, अविकार चित्स्वभावका अनुभव किया, जाना, बस जानकर रह गया। मुझे यह चाहिए इतनी भी बात नही। कुछ तरंग उठी, मुझे यह स्वरूप चाहिए, यह मेरा स्वरूप है, इसी मे मुझे लगना है, ऐसा जो कभी विकल्प हुआ है तो शुभ विकल्प करेगा। जो इस केवल स्वरूपको देखकर जान गया, बस जानता है, जानता ही चला जाता है, न मोक्षकी इच्छा, न स्वरूपमे रम जाऊँ ऐसा विकल्प, यह तो एक ज्ञाता हो गया, जान गया। करना क्या है अब, समझ गया बात यों है। एक ऐसी अद्भुत कोई क्षण स्थिति होती है। ऐसे इस निर्विकल्प अखण्ड विविक्त इस एकत्वस्वरूपकी उपलब्धि किसी भी बाहरी विकल्पसे, क्रियासे, प्रवृत्ति से, किसी से प्राप्त नही होती है। तो मोक्ष तो है स्वभावके आश्रय और बंध है पुद्गलके आश्रय। वहाँ पुण्य और पापमे यह भेद नही पडा। भेद यह है कि जीवके स्वभावके आश्रय है मुक्ति और पुद्गल, प्रवृत्ति करना आदिक के आश्रय है बंध।

८७६—व्यवहार चारित्र निरखकर अतिथियोकी सेवा करनेवाले श्रावककी परमार्थतः अन्तस्तत्त्व व परमार्थसंयमसे भक्ति—

स्वभावका आश्रय करके मोक्षमार्गमे चलने वाला पुरुष कैसी कैसी गैलसे चल रहा है, किस

किस प्रवृत्तिमे चल रहा है, उसके कैसे हाथ चलते, कैसे पैर चलते, कैसे मुख चलता, कैसे उठते कैसे बैठते, कैसा उनका प्रवर्तन होता, उसको देखकर उमग उठती, उसके प्रति प्रमोद होता है, यह एक उनके स्वभावकी ही उपासना है, कही उस क्रियाकी उपासना नही। यह ज्ञानी पुरुष सर्वत्र स्वभावकी आराधनामे रहता है, वहाँ भी स्वभावका ही आश्रय किया। पिताकी फोटो आपके घरमे टगी है और कोई पुरुष अविनयसे फोटोको उठाये और फेंक दे तो आप उससे कुछ झगड भी जाते और फिर उस फोटोको उठाकर उसे कपडेसे पोछकर उसे जहाँ का तहाँ टाँग देते हैं। तो बताओ आपने वहाँ प्यार किससे किया ? क्या उस फोटोमे लगी स्याहीसे, क्या उस कागजसे ? अरे इनसे प्यार नही किया, किन्तु प्यार किया अपने पितासे तभी तो आप उसे आदरपूर्वक उठाकर कपडेसे पोछकर उसे आप अपने हृदयसे लगाते हैं, कभी उसे अपने सिरपर भी रखते हैं, तो यह सब आदर किसका है ? उस कागज, स्याही, रग, तख्ती आदिका नही। वह आदर है, वह प्यार है आपका अपने पिताका। इसी तरह साधु सन्त जन जिनकी क्रियायें, चेष्टायें चरणानुयोगके अनुसार चल रही हैं, वहाँ आप उनकी सेवा करें, उनकी सुविधामे मदद दे तो यह सब जो कर रहा है ज्ञानी पुरुष वह किसके प्यारसे कर रहा है। ये ज्ञानी श्रावक रूप, रस, गध, स्पर्श वाले इस देहके प्यारसे सेवा नही कर रहे। फिर कैसी कर रहे हैं प्रवृत्ति ? उनसे मिल भी रहे हैं, मालिस भी कर रहे है, कुछ भी कर रहे है, कर रहे हैं वैयावृत्ति, मगर वह वैयावृत्ति किसके प्यारसे होती है ? बस उनका जो एक लक्ष्य है, वही है यह अन्तस्तत्त्व, स्वभाव, तो मोक्ष हुआ तो इस स्वभावके आश्रयसे हुआ, वे प्रवृत्ति कार्य कर रहे हैं इसलिए उनके बाह्य प्रवर्तनको देख रहे और चूंकि उनका जीवन है, सो उनको साधनामे सहयोग दे रहे हैं।

८७७–तीर्थप्रवृत्तिका विलोप करनेमे प्राणियोका अहित–

मानो किसी नगरमे आज कल के जैसे आधुनिक सम्यग्दृष्टि याने शुष्क गप्पवाली चर्चा वाले बन जाँय, मायने मतलब तो स्वरूपका समझें नही और अनुकूल प्रवृत्ति व्यावहारिक तीर्थमे होती है उसका भी कुछ ध्यान नही, मगर एक धर्मका नाम लेकर इतनी अपनी महत्ता बढायें कि बस मैंने ही सब जाना, मैं ही सब कुछ हूँ, बाकी सब मूर्ख है, कोई कुछ नही समझता, ऐसा मानलो जहाँ किसी नगरमे सभी हो जायें इसी एक ढगके तो फिर इस तीर्थप्रवृत्तिका क्या होगा ? कोई त्यागी, व्रती साधु भी वहाँसे निकले तो उसको तो यो ही भूखा जाना होगा। कोई प्रवृत्ति ही नही रह सकती। इसलिए श्रावकोको बताया है कि "गृहकर्मणापि निचित कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्ताना। अतिथीना प्रतिपूजा रुधिरमल धावते वारि" गृह कार्योसे जो पाप सचित होते हैं वे पाप धोये जाते हैं अतिथियोकी पूजासे। जैसे जल खूनको साफ कर देता है ऐसे ही अतिथिजनोकी पूजा यह गृहकार्योमे होने वाले पापोको साफ कर देती है। जिनका स्वावलम्बी जीवन है उनके लिए ही है कि स्वभावाश्रयका एक सत्य ही आग्रह बनाकर तुरन्त ही निर्विकल्प समाधिमे आवो। यह बात गृहस्थजनोसे नही बन सकती, उनको गृहस्थोचित प्रवृत्ति करनी होगी। देखो शुभ व्यवहारका श्रद्धा मे निषेध है, प्रवृत्ति तो पदवी अनुसार रहती है। इस ज्ञानी गृहस्थके जो कि सम्यग्दृष्टि है उसकी श्रद्धामे समस्त कर्मोका निषेध है, समस्त चेष्टाओका निषेध है, मगर ऐसा जानकर मुनि तो निभा लेंगे कि समस्त चेष्टाओका हमारा निषेध है, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, इनको गृहस्थ निभा नही सकता, उसे प्रवृत्तिमे आना होता है। तो प्रवृत्तिमें व्यावहारिक कार्योका निषेध बन नही पाता मगर ज्ञानोकी श्रद्धामे व्यावहारिक कार्योका निषेध है, क्योकि वस्तु स्वरूप ही ऐसा है कि वह जान रहा है कि समस्त कर्मोसे विविक्त यह केवल रहे इसीका नाम है सिद्ध होना।

८७८—अनेक प्रोग्रामोमे भी ज्ञानीका मूल लक्ष्य एक परमार्थ अन्तस्तत्त्वका आश्रय—

अपने आप जो स्वरूप है बस यह मै हूँ और ऐसा हो मुझे व्यक्तरूपमे होना है, इसके अतिरिक्त हमारा कोई भीतर दूसरा प्रोग्राम नही। एक महल बनानेवाले पुरुषको रोज-रोज दसो प्रोग्राम उसके सामने आते हैं। कभी ईंटे मगानेका काम, कभी सीमेन्ट मगानेका काम, कभी लोहा मगानेका काम कभी बदरपुर रेत मगानेका काम, कभी कारीगरोके पास आने जानेका काम, यो अनेक काम उसके सामने रोज रोज रहते है, पर लक्ष्य उसका एक रहता—महल बनानेका। इसी तरह ज्ञानी गृहस्थका मूल लक्ष्य तो एक है, जो सदा मुक्त नित्य अन्त' प्रकाशमान सहज स्वरूप है वही मेरे ज्ञानमे रहे। गृहस्थ की परिस्थिति ऐसी है कि उसके सामने तो प्रतिदिन दसो लक्ष्य आते है, पूजाको जाता है, जाप करता है, स्वाध्याय करता है, गुरुसेवा करता है, सब काम करता है, पर क्या उसकी भावना होना चाहिए कि इन सब लक्ष्योमे हमारा जीवन गुजरे ? नही। करने होते है ये सब काम, मगर लक्ष्य यह रहता है कि मेरे तो क्षण उस स्वरूपदृष्टिमे ही गुजरे। जैसे एक भजनमे कहा आत्मस्वभावके प्रति कि "तेरी भक्तिमे क्षण जाये सारे।" याने मेरा सारा समय तेरी भक्तिमे जाय। तो स्वभाव की परख, स्वभावकी आराधना, स्वभावकी धुन और व्यवहारमे तीर्थप्रवृत्ति तो चली आयी, जो परम्परा, जो सस्कृति चली उसके बिरुद्ध प्रवृत्ति न करना वह एक सुरक्षाके लिए है। बस सुरक्षित रह गए यथार्थ प्रवृत्ति करके और भीतरमे फिर इस सहज चैतन्य प्रभुकी उपासना करे, जितना भी बन सके, यह है गृहस्थका एक निर्विघ्न मार्ग, जिसमे स्वभावके अनुभवके अनेक प्रसग भी प्राप्त होते हैं।

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत् प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

८७९—शान्तिके अभिलाषीको स्वयंके यथार्थ निर्णयकी आवश्यकता—

इस जीवका मुख्य भाव है, ध्येय है कि सही सत्य आनन्द मिले। कुछ भी उपाय करे, कुछ भी पौरुष करे, किसी भी परिस्थितिमे हो अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार सबकी यह भावना बनती है कि मुझको सही आनन्द मिले। इसके लिए यह जानना जरूरी है कि वह मै क्या हूँ जो यह चाह रहा है कि मुझको सत्य आनन्द मिले और वह आनन्द क्या है जो कि वास्तविक हो ? तो जब मनन करते-करते ध्यानमे जम जाते हैं कि मैं तो वह हूँ जो सहज हूँ, क्योकि कोई भी सत् किसी दूसरे की कृपासे नही बनता। जो है वह स्वय सत् है, तो मैं भी सत् हू। कितने ही लोग तो इसी बातकी शका रखते रहते कि मैं हूँ या नही हू, या एकदम विपरीत धारणा रखते कि मैं नही हू, जीव नही है, पर यह बात निभेगी नही। जिसमे तर्कणा हो रही, जिसमे मैं मैं का भाव बन रहा अहप्रत्ययवेद्य, उसको मना कैसे किया जा सकता ? मैं हू, जब मैं हू तो अपने आप हू, जो अपने आप हू सो मैं ही एक अकेला हू। प्रत्येक पदार्थ अपने एकत्वमे ही रहता है, दूसरेका कुछ लेकर नही रहा करता। तो मैं हूं, अपने आप हू, हू, अपने एकत्वस्वरूपमे हू। वह क्या स्वरूप है ? तो इस दृष्टिमे जब अपने आपमे निरखेंगे कि मुझे तो अपनेको यो देखना है कि जो स्वय हो, अपने आप हो, परसम्पर्कसे नही, इस निगाहसे चलेंगे तो मिल जायगा अपनेको अपने आप। प्रयोगसाध्य बात है। ज्ञान द्वारा ज्ञानमे ज्ञानका ही प्रयोग करना है। किसको निरखना ? अपनेको। तो फिर बाहरी निरखना सब छोड दीजिए। इस गदी हालतमे इस ससारी हालतमे दो बाते एक साथ न बनेंगी, क्योकि रागवृत्ति है ना साथ कि हम बाहरी पदार्थोको भी जानते रहे, इनमे उमग बनाये रहे और हम अपने आपकी समझ भी बनाये।

यों तो बातसे समझ नही बनती। असली समझ बनती है अनुभवसे और यह अनुभव, ज्ञानानुभव तब बनेगा जब ज्ञानमे सहज ज्ञानस्वरूप ही बसता हो। तो जब किसी प्रकार इस सहज ज्ञानस्वरूप तक पहुँचे तो वह खुद यह समझ जाता है कि बस सारभूत बात इतनी ही है। यह मैं हू, इसमे कोई कष्ट नही, इसमे आपत्ति नही। स्वरूपसे परका प्रवेश नही। भले ही आत्मप्रदेशमे, आत्मक्षेत्रमे परका निवास है, कर्मका निवास है, सभी द्रव्य है, पर निमित्तनैमित्तिकबंधन रूपसे कर्मका योग है, तो रहो प्रदेशमे जैसे चाहे, पर मेरे स्वरूपमे परका कुछ नही। स्वरूप प्रदेशसे न्यारा तो नही, मगर स्वरूपमे स्वरूप ही है, वह प्रदेशकी दृष्टि नही कराता, वह तो एक सहज ज्ञान प्रतिभासकी दृष्टि कराता है, इस सहज ज्ञानस्वरूपमे इस मुझका यह मैं हू, इस मेरे स्वरूप मे दूसरा कुछ नही है, यह निर्णय किया अपने आपके घरका।

८८०–घटनाके निरखमे भी स्वभावदृष्टिका मार्गदर्शन–

अब थोडी जब घटना देखने चलते है तो घटना क्या घट रही ? जब थोडे समयको चित्त लगा स्वरूपमे, वहाँ विलास जगा, मगर घटना घट रही, प्रवृत्ति बन रही, घर जायेंगे, चर्चामे निरन्तर न रहेगे, और भी बातें होगी, चल रही हैं, कल भी चलेंगी, यह घटना क्या घट रही है ? यह घटना है अपने ही पूर्व विभावोसे बाँधे हुए जो कर्म हैं, जिनमे चार बध पडे थे—प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग वे सब अच्छी तरह उसी दिन बँध गए थे। पडे हैं, उदयमे आये हैं। कर्मोमे कर्मका विपाक फूटा है, उसका प्रतिफलन हुआ है और वहाँ यह जीव स्वरूपकी सुध छोडकर बाह्यमे लग गया। तो ये जो बाह्य घटनायें बन रही विचित्र, ये सब नैमित्तिक घटनायें हैं। देखिये—एक बात बहुत सुन्दर उपदेशमे यह निर्णय करके रखे कि जो सुनना है, जो कुछ बाँचना है, जो कुछ आगममे उपदेश है उस सबका प्रयोजन है स्वभावदृष्टि कराना, दूसरा कोई प्रयोजन नही, क्योंकि इस जीवका शरण मात्र स्वाभावाश्रय है। अब तक इस जीवने बहुत-बहुत पदार्थोंका आश्रय किया, शुभविकल्प वाले, अशुभविकल्प वाले अनेक आश्रय बनाये और ऐसा करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया, और आज बडे सुयोगसे यह दुर्लभ श्रेष्ठ मानवजन्म पाया, श्रेष्ठ मन पाया, आगममे कुछ प्रवेश भी है, बुद्धि विशुद्ध है, अतस्तत्त्वका, कल्याणका सब भाव भी बना है, ऐसा सुन्दर अवसर इन विषयकषायोमे खो देना क्या बुद्धिमानी है ? मनुष्यके इस भवका कितना समय तो गुजर गया, जो रहा सहा थोडासा समय किसीका १० वर्ष किसीका ५ वर्षका है इसका क्या सदुपयोग करना है। वह है यही कि जिस प्रकार बने स्वभावाश्रय बनाइये। बाहरमे सब धोखा है। किसका ? 'विषय साधनोका, यहाँ ये सब विषयसाधन ही तो हैं। कोई मनका विषयसाधन है, कोई इन्द्रियका विषयसाधन है, इन साधनोका आश्रय करके कोई लाभ नही मिलनेका। सब माया है। यहाँ कोई भगवान नही बैठे, सब मायारूप हैं, और भगवान भी हो तो भी हम अपने ही तो पौरुषसे ज्ञानद्वारा ज्ञानमे ज्ञानका प्रकाश पाकर उस ही मे रमकर तो काम बना पायेंगे। यह उपदेश प्रभुने दिया और यही काम प्रभुने किया, इसलिए वे हमारे लिए भक्ति किए जाने योग्य हैं। हम सेवा, भजन, भक्तिमे, उनके गुणगानमे उमग रखते हैं, वह सब भी किसलिए ? एक ही बात रखें। सब बात स्वभावका आश्रय बनानेके लिए है।

८८१–पुराणचरित्र व चारित्रग्रन्थोंके उपदेशमे स्वभावदृष्टिकी प्रेरणा–

आगममे जितना भी उपदेश है उस सबका प्रयोजन है स्वभावाश्रय करना। प्रथमानुयोगके कथनमे जहाँ गडबड चर्चा दिखे वहाँ ध्यान आये कि स्वभावाश्रयके बिना इस जीवकी दुर्गतियाँ

होती हैं। जहाँ साधुचरित्र सुना तो वहाँ यह दृष्टि बनती है—ओह देखो इस स्वभावाश्रयके काममें सर्व कुछ न्योछावर करके, सब त्याग करके, केवल एक स्वभावाश्रयके लिए ही इसने अपनी धुन बनाया, जीवन बनाया। चरणानुयोगके ग्रन्थ पढ़े तो वहाँ भी यह दृष्टि मिलेगी कि देखो स्वभावाश्रयसे विपरीत अवस्था क्या है ? विभाव-विभावका आश्रय, और विभाव होते है दो प्रकार के। (१) अबुद्धिपूर्वक और (२) बुद्धिपूर्वक। अबुद्धिपूर्वक विभाव तो ये कहलाते हैं कि जब इस उपयोगको आश्रयभूत कारण न मिले, याने कर्मविपाकको छोडकर जितने भी जगतमे पदार्थ हैं वे सब आश्रयभूत कारण कहलाते है और उस समय चूँकि कर्मविपाक तो निरन्तर है, प्रतिफलन चलता है, अबुद्धिपूर्वक विभाव बन रहा, जैसे कि कोई चौथे, पाँचवे, छठवे गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि स्वानुभवमें भी लग रहा हो, केवल एक ज्ञान स्वभाव, वही उपयोगमे है उस समय भी उसके अबुद्धिपूर्वक विभाव चल ही रहे हैं, बुद्धिपूर्वक नही हैं, क्योकि उपयोग लगा है सहज ज्ञानस्वरूपमे। एक होता है बुद्धिपूर्वक। इन बाहरी पदार्थोंमे उपयोग देकर, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव, इज्जत आदिकमे उपयोग देकर जो रागद्वेष बनते है वे बुद्धिपूर्वक विभाव कहलाते है। तो बुद्धिपूर्वक विभाव बनते ही है किसी बाह्य वस्तुका आश्रय करके। जैसे कि समयसारमे बताया "नहि बाह्यवस्त्वनाश्रित्याध्यवसानमात्मान लभते" बाह्यवस्तुके आश्रय बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नही बना पाते। यहा अध्यवसानका मतलब बुद्धिपूर्वक विभावसे है। तो फिर बधका कारण क्या है ? क्या यह बाह्य वस्तु है ? कहते कि नही, बाह्य वस्तु बधका कारण नही है। अध्यवसान ही बधका कारण है। तो फिर बाह्य वस्तुका त्याग क्यो करवाते, यह प्रश्न भी किया उसी गाथामे। तो कहते हैं कि बाह्यवस्तुप्रतिषेध अध्यवसानप्रतिषेधार्थ अध्यवसानके प्रतिषेधके प्रयोजनसे बाह्यवस्तुका प्रतिषेध कराया जाता है बस यह ही आधार चरणानुयोगका है। तो वहाँ यह बात मिलेगी कि हमारे वहाँ मदकषाय और स्वभावाश्रयके लिए एक पात्रता समर्थता जगी है, उन बाह्य त्यागोको निरखकर तो वहाँ भी प्रयोजन लेना स्वाभावाश्रयकी उपासनाका। करणानुयोगके जो जो भी वर्णन है मोटे वर्णन, सूक्ष्म वर्णन, कर्मसिद्धान्तके वर्णन, उनसे भी स्वभावदृष्टिका ही प्रयोजन निकालना, जैसे जब जीवकी पर्यायका वर्णन होता है कैसे-कैसे देह, कैसी-कैसी अवगाहना वाले जीव, ऐसे-ऐसे कीट, ऐसे-ऐसे निगोद वहाँ यह ख्याल आयगा कि इन जीवोको स्वभावाश्रय नही मिला, बाहरी-बाहरी बातोमे भटके उसका फल यह है कि इस-इस प्रकारसे उनको पर्यायें ग्रहण करनी पड रही है।

८८२–द्रव्यानुयोगमे निश्चय नयोंके वर्णनमे स्वभावदृष्टिकी शिक्षा—

द्रव्यानुयोगमे जो नयोद्वारा वर्णन होता है उन सब नयोके वर्णनमे स्वभावाश्रयका ही प्रयोजन लेना। जैसे शुद्धनय स्वानुभवका, स्वाभावाश्रयका बहुत निकट वाला नय है, उससे अधिक निकटका और को नय नही। शुद्धनयका विषय क्या है ? सब तरहसे समझ चुकनेके बाद वे सारे विकल्प जब छूट चुकते हैं और जब अखण्ड, वचनका अगोचर, सहज स्वभावमय वह पूर्ण वस्तु दृष्टिमे होता है, वह है शुद्धनय, तो यही क्यो नही स्वानुभव कहलाया ? इस शुद्धनयमे भी विकल्प है उस नेतिसूचक ढगका। तो शुद्धनयका प्रयोजन क्या है ? स्वभावाश्रय, स्वानुभव यह ही उसका प्रयोजन है। परमशुद्ध निश्चयरूपसे देखते हैं कि जीव चैतन्यस्वरूप है, ऐसा निरखनेका प्रयोजन क्या है कि उस सहज चैतन्यस्वरूपमे हमारा उपयोग जमे, उसका मुझे आश्रय बने। जब शुद्ध निश्चयनयसे निरखते हैं तो जान ऊ हैं—प्रभु केवल ज्ञानी, अनन्त आनन्दमय हैं। शुद्धनिश्चयनयसे शुद्ध पर्यायको देखते हैं और

निश्चयनय होनेके कारण अभेद विधिसे देखते हैं। ये सिद्धप्रभु केवली हैं, अनन्त ज्ञानी हैं, अपनी शुद्ध अभिन्न षटकारकतासे यह ही तो निरखा जा रहा है, उसका प्रयोजन क्या ? चूंकि वह प्रयोजन स्वभावके अनुरूप है सो वहाँ कुछ अधिक सुगमता मिली कि उस अनुरूपताकी वजहसे उस पर्यायसे हटकर स्वभावमे पहुचें, वहाँ दृष्टि जमे, क्योकि वहाँ भी निरखा तो, यो ही जा रहा कि इस द्रव्यका यह परिणमन, इस स्वभावकी यह परिणति। जैसे किसी भी बच्चेसे पूछो कि तू किसका बालक है ? तो उत्तरमे जो मिलता है उस चर्चामे वह प्रधान बन गया। यह अमुकका बालक है। पूछने वालेको आवश्यकता इसके बापके परिचयकी पडी, कुछ काम उससे ज्यादह इसके चित्तमे आया होगा। तो जहाँ इस निगाहसे ही निरखा जा रहा है कि यह स्वभावके आश्रय-पर्याय बनी, स्वभावकी परिणति है तो वहाँ पर्याय गौण होकर स्वभाव मुख्य बनता, वहा भी प्रयोजन स्वभावका आश्रय करना है। अशुद्ध निश्चयनयसे भी देखा गया कि यह जीव रागी है, यह परिणमन रागी है, इसका ही-इस तरह का ज्ञानविकल्प चल रहा है, वह ज्ञानविकल्प इसी द्रव्यकी ही तो परिणति है। यहाँ साथ-साथ लगी हुई है स्रोतकी सुध। सो एक यह विधि है कि पर्याय गौण होकर स्वभावके लिए दृष्टि पहुँचती है। दूसरी बात यह है कि अशुद्ध निश्चयनयसे देखा तो अशुद्ध पर्यायमय, लेकिन केवल एक ही को निरखा, आश्रयभूत पदार्थपर दृष्टि नही है, निमित्तभूत पदार्थपर दृष्टि नही है। तो जहाँ यह परसम्बन्धकी दृष्टि नही रही तो यह विभावोका तांता कैसे उनका लम्बा हो सकेगा ? उसको मौका मिलता है फिर अपने स्वभावके प्रकाशका।

८८३—व्यवहारनय व उपचारका विश्लेषण—

व्यवहारनयसे देखो, व्यवहारनय घटना दिखाता है। एक बात यहाँ यह जानना कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो ही प्रमाणके अश है और प्रमाणके अश होनेसे जिस तरह निश्चयनयका विषय सत्य है, व्यवहारनयकी बात भी सत्य है, पर बात क्या बन गई। जो कहीं-कही व्यवहारको असत्य कहा है ? तो उत्तर यह है—एक होता है उपचार। वह उपचार नयोमे नही है, किन्तु कुछ प्रयोजनके लिए है। उपचार कहते हैं व्यवहारनयकी बातको इस भाषामे पेश करना जो उपादान उपादेयकी भाषा बने, इसको कहते हैं उपचार। तो उपचारमे जो कथन होता है उसे भी व्यवहार शब्दसे कहा गया है। जब जब व्यवहार शब्द आये तब तब वहाँ यह दृष्टि लाना चाहिए कि यह उपचार वाला व्यवहार है या व्यवहारनय वाला व्यवहार है ? प्रमाणके अशरूप वाला व्यवहार है या उपचार वाला ? उपचार वाला व्यवहार है तो जिस भाषामे बोल रहे हैं उपचार, उसमे उस भाषामे उपादन उपादेयका अर्थ लगाये तो मिथ्या है। उसमे तो केवल प्रयोजनकी दृष्टि रखें और अपने काममे लगें। जैसे कोई कहता है कि घीका घडा, यही एक प्रसिद्ध दृष्टान्त है, अब इस बातको सुनकर कोई ऐसी मूर्खता तो नही करता कि जैसे तांवा, पीतल लोहा आदि धातुओका घडा होता वैसा ही घीसे निर्मित घडा होता। सभीको मालूम है कि प्रयोजनमे कही गई यह बात है, जिसमे घी रखा वह। यदि ऐसा उपादान उपादेयसे कोई कहे, यह तांबेका, यह मिट्टीका और यह घीका घडा है, तो वह भाषा मिथ्या है, उसका ज्ञान मिथ्या है। प्रयोजन देखना है और काम करना है, घीको खाया पिया और जहाँ का तहाँ रख दिया, तो उपचार भाषा कहलाती है एक संक्षिप्त (Short) भाषा और संक्षेपमे बनेगी वह उपादन उपादेय वाली भाषा, सो अगर इसी तरह अर्थ समझें तो मिथ्या है और केवल प्रयोजन निकाले तो ऐसा चलता ही रहता है।

८८४—द्रव्यानुयोगमे व्यवहारनयके वर्णनमें स्वभावदृष्टिकी शिक्षा—

व्यवहारनय जो प्रमाणका अंशभूत है वह एक घटना बतायगा याने जैसे यह राग हुआ तो राग प्रकृतिका उदय, आत्मामे नही बना लेकिन जैसे अन्यत्र निमित्तनैमित्तिक भाव परखा गया यहाँ भी निरखे कि उस उदयकालमे उसका प्रतिफलन होना, ज्ञेय होना, यह एक तो अनिवारित बात है। अब उस प्रतिफलनमे चूँकि ऐसा ही अशुद्ध उपादान है तो उसमे यह अपना ज्ञानविकल्प बनायगा। तो वहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव जानकर और उस निमित्तनैमित्तिकभावके ज्ञानसे स्वभाव दृष्टिसे ज्ञानकी शिक्षायें ले जैसे कि समयसारमे भी अनेको जगह बताया है कि "ये कर्मोदयविपाकप्रभवा भावा न ते मम स्वभावा" ये रागादिकभाव कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए है, ये मेरे स्वरूप नही है। नैमित्तिक भाव जानकर स्वाभावदृष्टिके लिए उमग यो लगती है कि मेरे स्वरूपके भाव नही है, सहज भाव नही है, आगतुक है, औपाधिक है, नैमित्तिक हैं परभाव हैं ये। नैमित्तिक हैं, इसका अर्थ यह नही कि निमित्तने अपनी परिणतिसे किया हो। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी परिणतिको नही करता और साथ ही यह बात है कि कोई भी विकार निमित्तके सन्निधान बिना होता नही। जब ये दो बाते एक साथ है कि निमित्तसन्निधान बिना विकार होता नही, निमित्त उपादानकी परिणति को करता नही, तो वहा ऐसे ही तो स्वभावदृष्टिका अवसर मिला कि भाई ये नैमित्तिक हैं। निमित्तके सन्निधान बिना होते नही, इसलिए ये तो निमित्तकी ओर जावो, उस खातेमे ही पटको इन रागादिकभावोको और अपनेको शुद्धस्वभावमे अनुभव करो, स्वभावाश्रय करो। जितना भी उपदेश है वह स्वभावाश्रय करनेके लिए है, परन्तु विषयोका आश्रय करनेके लिए नही है।

८८५—साधु सतोकी भक्ति सेवामे भी स्वभावदृष्टिकी शिक्षा—

अब एक बात और परखिये कि ज्ञानियोको स्वभावाश्रका मार्ग तो मिला, किन्तु कुछ पदोमे वे स्वभावाश्रयमे, या इसके अनुभवमे, या इसकी चर्चामे, या इसकी दृष्टिमे कितने क्षण रहेगे ? तो प्रतीति तो रहती है सदा, मगर उपयोग कितने क्षण रहेगा ? तो फिर वह ज्ञानी पुरुष करता क्या ? उसकी चर्या तो देखो—स्वाध्याय किया, सत्सग किया, पूजन किया, ध्यान किया और चूँकि विभावोसे उसकी उपेक्षा है ही, जहाँ देखा कि इसको गरीबीका कष्ट मिला, इसकी यह तकलीफ मिटाता है, दान किया, धर्ममे दान किया, ये सब कार्य ज्ञानी कर रहा है। तो कर रहा है ज्ञानी क्या करे ? जब स्वभावका उपयोग नही है तो दो बातें सामने आयी। या तो अशुभ भाव करे या शुभ करे। उनमेसे छाँटकी अपेक्षा उसने यह ठीक समझा कि अशुभभावसे शुभभाव अच्छे हैं। और देखो अशुभोपयोगको प्रवचनसारमे अत्यन्त हेय बताया और शुभोपयोगको हेय कहा व शुद्धोपयोगको अत्यन्त उपादेय बताया। ये शब्द डाले प्रवचनसारमे, चाहे इस शब्दोसे कहे और चाहे शुभोपयोग को कथञ्चित् हेय या कथचित् उपादेय कहे क्योकि अत्यन्त हेय अशुभोपयोगको कहा उससे यही धुन निकलती है। परिस्थितिमे ज्ञानीको ऐसा करना ही होता है। तो ज्ञानीने शुभोपयोग यो किया। अब धर्मबुद्धि वाले बहुतसे लोग हैं। उन्होने ज्ञानीको देखा कि यह क्या करता है—"महाजनो येन गत स पन्था।" अज्ञानीकी बात देखो—जो बडे ध्यानमे रहता, पूजा भी करता, व्रत भी करता, उपवास भी करता ये सब ज्ञानीकी क्रियाये देखी, दूसरोने भी देखी, उनको भी धर्मकी चाह थी, पर लक्ष्य उनका नही बन पाया सहज स्वभावके आश्रयका।

८८६—ज्ञान व सम्यग्ज्ञानका प्रकृत विश्लेषण—

भैया, एक तो होता है ज्ञान, एक होता है सम्यग्ज्ञान। देखिये—ज्ञान विना सम्यग्दर्शन नही होता और सम्यग्दर्शन विना सम्यग्ज्ञान नही होता। इस ज्ञान और सम्यग्ज्ञानका अन्तर क्या ? जैसे वहोरीवद मे भगवान शान्तिनाथकी वहुत वडी प्रतिमा है उसे तो मैंने भी आँखो नही देखा, पर सुना है, पुस्तकोमे पढा है, उसकी नाप तौल भी पढनेको मिल गई, तो वह भी ज्ञान हमे सही हो गया, जैसी प्रतिमा है वैसा ही हम जान रहे हैं, मगर जव वहाँ जाकर साक्षात्‌रूपमे उस प्रतिमाके दर्शन करें तो वताओ इन दोनो प्रकारके ज्ञानोमे अन्तर है कि नही ? एक तो कहलाता अनुभवसहित ज्ञान और एक कहलाता अनुभवरहित ज्ञान, मगर यह उल्टे मार्गका ज्ञान तो नही था। तो ऐसे ही जो और धर्मात्मा पुरुष हैं, जिन्हे स्वभावका अनुभव नही हुआ न वे लक्ष्य प्रतीतिमे एकदम जमे, फिर भी वे ज्ञान तो करते हैं। सुनी है आत्माकी वात और ज्ञानियोकी वात देखी, उस क्रियामे भी लगता है तो, उससे भला एक तीर्थप्रवृत्ति तो वनी। तो प्रवृत्तिमे क्रियाका निषेध नही वना, किन्तु श्रद्धामे क्रियाका निषेध है। तो जिसने अपने स्वभावका परिचय पाया, उस पुरुषका यह निर्णय है कि कर्म जितने हैं पुण्य, पाप, शुभ, अशुभ याने स्वभावसे हटकर जो कुछ भी परिणतियाँ हैं वे वन्धनके साधन हैं, और यह ही कारण है कि इस ज्ञानीकी दृष्टिमे यह निर्णय वना है कि मोक्षका हेतु तो ज्ञान ही है। इस सहज स्वभावका आश्रय ही मोक्षका मार्ग है। और जो उस सहज स्वभावका रुचिया है, इस स्वभावका जहाँ विकास मिला है, प्रभु अरहत, इसके प्रति उमग जगती है, इस सहजस्वभावकी जिसे दृष्टि मिली है ऐसे यहांके साधुसत त्यागीजन, ज्ञानीजन उनके सगके लिए उमग मिलती है और अपनी शक्ति माफिक हर प्रकारकी सेवाके लिए उमग रहती है, वह सव भी किसलिए ? स्वाभावाश्रयके लिए। कहाँ—कहाँ क्या होता, यह अपने—अपने उपादानकी वात है, और जिस जिसने विकास कर पाया, उन सवका उद्देश्य स्वभावका आश्रय करना है। तीर्थप्रवृत्ति रहे और भीतरमे स्वभावके आश्रयकी वात रहे।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनय सन्त्यशरणा।
तदा ज्ञाने ज्ञान प्रतिचरितमेषां हि शरण स्वय विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरता ॥१०४॥

८८७—समस्त कर्मसे रहित अन्तस्तत्त्वकी साधनाके प्रयोगकी शिक्षा—

समयप्राभृत ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित है, एक मुनि द्वारा रचित है और मुख्यतया मुनियोके सम्वोधनके और साधनाके लिए रचित है फिर भी जैसे जो वडे लोगोके लिए काम होता है उसमे छोटे लोगोका भी प्रयोजन वनता है। तो सर्वसाधारणको भी इससे लाभ मिलता है। जव इस दृष्टिसे देखेंगे तो ऐसा समझमे आयगा कि जैसे इसे केवल प्रयोगात्मक विधिसे चलनेके लिए कहा गया हो। जैसे समयसारकी अन्तिम गाथाओमे एक मुनिलिङ्गके लिए लतार सी दी है, अनेक प्रकारसे समझाया है कि यह मुनिलिङ्ग त्याग दो। तो यह किसके लिए कहा ? गृहस्थोको नही कहा, जो मुनिजन हैं उनकी वात चल रही है, उनको सम्वोधित किया है, इस तरहसे काम न चलेगा। तुम वहाँ से उपेक्षा करो और अपने स्वरूपमे आवो, आत्मसयम प्राप्त करो। यह तो उनका साधन है, नि शल्य निश्चिन्त विधिसे परमार्थसयममे लग सकें एतदर्थ गुजारा करनेका वाह्य साधन है निर्ग्रन्थ भेष। जीवन का गुजारा चलाना है ना, इसीसे तो सम्वध है कि किस तरहसे गुजारेकी विधि रखें कि चिन्ता न हो, शल्य न हो। अधिकाधिक अध्यात्मभावना वने, यह ही तो है मुनिलिङ्गका प्रयोजन और ऐसा

होता ही नही कि जो द्रव्यसयममे न गुजरकर मात्र भावसयममे बढकर मुक्त हो सके, जो भी मुक्त हुए वे निर्ग्रन्थ लिङ्गसे मुक्त हुये । पर कोई ऐसी दृष्टि रखे कि मैं मुनि हू, मुझे ऐसे चलना चाहिए 'और की तो बात क्या, अगर कोई शत्रु कोल्हूमे पेले तो भी उसपर रच विरोध न रखना, मैं साधु हू, मुझे विरोध न रखना चाहिए, ऐसी समता भी बनी हैं तो भी वहा मिथ्यात्वका अश सम्भव है । मैं मुनि हू । अरे मैं तो दर्शनज्ञान स्वरूप एक चिदानन्द पदार्थ हू, यह प्रतीतिमे न रहे जिस भावमे और प्रतीतिमे बसा यह है कि मैं मुनि हू, मुझे ये सब काम इस-इस तरहसे करने चाहिए तो दृष्टिकी परीक्षा करो, कहाँ दृष्टि लगी है ? पर्यायमे दृष्टि है सो अनर्थ बनेगा इस तरह मुनिजनोको समझाया तो उसी प्रसगकी बात यहाँ इस गाथामे भी है । सबने सुना, हाँ सभी प्रकारके पुण्यकर्म और पापकर्म ये निषेध्य है । सामने आत्माका स्वरूप जो सहज आनन्दमय है अनादिसिद्ध है, अन्त. प्रकाशमान है उस स्वरूपमे कष्टका विकारका नाम नही, जो है सो जानना । ऐसी तो एक इच्छा भी होती है सबकी कि जो सही है उसको समझना । तो यहा सहीके मायने है जो अपने आप है, स्वय है, स्वत सिद्ध है, बस वह वही है और उसकी ही प्रतीति बने कि मैं यह हू ।

८८८–आत्मसाधनाके प्रयोगमे समस्त कर्मोका निषेध–

देखिये बातमे तो बात चलती है और प्रयोगमे उस ही प्रकारकी बात बनती है । गप्पसे काम नही चलता, किन्तु भीतर से एक ऐसी लगन हो और ऐसी एक करुणा हो कि मुझे अन्य बातसे कुछ प्रयोजन नही, मुझे तो ससारचक्रसे निवृत्त होना है, अथवा यह बात क्या ? जो स्वरूप है जान गए बस उस ही रूप रहना, ऐसी जिसके मनमे एक भावना बनी ऐसा पुरुष जानता है कि अपने स्वरूपकी ओर रहना यह तो है सारभूत बात और इससे अतिरिक्त क्या है ! विकार, कोई प्रकारके रागद्वेष के सम्बध रखने वाले परिणाम । वे सबके सब मेरे नही, मेरे हितके नही । मेरे को उनसे प्रयोजन नही, मैंने तो एक सहज आनन्दधाम निरखा अपने आपके अन्दर, बस जान गए, हो गया, वहाँ ही हमारा निवास हो, अन्यसे प्रयोजन नही । ऐसा जिसने निर्णय किया, मायने पुण्य पाप, शुभ अशुभ सभी प्रकार के जो ये सभी भाव स्वरूपरमणसे भिन्न हैं उन सबका इसने प्रतिषेध तो किया अपने भीतरकी तैयारीमे, पौरुषमे । भले ही ऐसे पौरुषसे पुण्यरस बढता है, हा यह तो एक प्रसगकी बात है, मगर लक्ष्य जिसका एक स्वरूपरमणकी ओर ही है, उसने तो समस्त सुकृत और दुरित सबका निषेध कर दिया । निषिद्ध हो गया । वे मोक्षके हेतु नही मोक्षका हेतु तो ज्ञानाश्रय है, ज्ञान है ।

८८९–समस्त चेष्टावोका निषेध कर नैष्कर्म्य अवस्थामे आनेवाले मुनिजनोके प्रति अशरणताकी एक आशका—

पुण्यपाप कर्मका जहाँ निषेध हो चुका अब कोई चेष्टा जहाँ नही है ऐसी स्थिति जब समझमे आयी तो एक अशका हुई तो फिर ये मुनिजन करे क्या ? इनको कोई सहारा नही रहा, आलम्बन नही रहा, दिन काहेमे कटें ? क्योकि अब तो नैष्कर्म्यकी वृत्ति हो गई । कुछ नही करना, बस स्वरूप को देखना, स्वरूपको देखते रहना, बस जानना देखना, ज्ञाता द्रष्टा रहना, बस यह जानना देखना, ज्ञाता द्रष्टा रहना, बस यह एक स्थिति बताई जा रही है । अभी जगलमे, बैठे हैं तो वहाँ कोई उनका साथी है क्या ? उनका कोई वहाँ आश्रय नही, आलम्बन नही । अच्छा मुनिके बारेमे अनेक लोग शका करे तो ठीक है, वे तो पुरुष हैं, पर यहाँ तो बहुतसे लोग सिद्ध भगवानके बारे मे भी ऐसी बात छेड देते कि सिद्ध हो गए, अब उनका सारा दिन रात कैसे कटता होगा ? उनके साथ परिवार नही,

दूकान नही, वहाँ उनको दूध, चाय वगैरह कुछ धरा नही, न बच्चे हैं,न परिवार है, न लोग हैं, कैसे उनका जी (मन) लगता होगा ? अपने जी (मन) से तुलना करनेकी प्रकृति होती है प्राय सभी की। तो जिस जिसमे अपने स्वभावका दर्शन किया उसकी प्रकृति होती है किसी भी जीवको देखकर पहले उनके ही स्वरूपकी दृष्टि बनती। यहाँ यह स्वरूप है। तथा घटनामे दृश्य ये बातें जब एकदम ही दिख रही तो उन्हे कहाँ फेंका जायगा ? उनका भी निर्णय करना, अमुक जीव, अमुक जीव, ऐसा भोग, ऐसी स्थिति, यह भी निर्णय रखना, मगर जिसको जो लगन है, आँखें खोलकर देखनेपर बहुत जल्दी वह नजर आयगा। जिसको स्वभावदर्शन हुआ, स्वरूपदर्शन हुआ, अपना अनुभव हुआ और जानन बना स्पष्ट ज्ञानमात्र स्वरूप, तो अन्य जीवोको निरखकर याने जिस तरह सगप्रसग है, पहले दृष्टि यह ही बनेगी कि यह भी ऐसा ही है। जैसा मेरा स्वरूप है वैसे हो यहाँ ये सब हैं। अच्छा, और जिस को स्वभावदृष्टि नही हुई; स्वभावदर्शन नही हुआ, भले ही कहनेके लिए तो ऐसा है कि खूब उछलकर, नाचकर बडे हावभावसे उस आत्मतत्त्वकी बात की जा सकती, क्योकि वह तो एक पार्ट है, वह किया जा सकता। ऐसा भी कर रहे दुनियाको भी बता रहे, खुद भी एक मुद्रा बना रहे, पर स्वरूपदर्शन अगर खुदको नही हुआ तो चूँकि वह पगा तो मिथ्यात्वमे है ना, उसको तो अपनी करतूत पर, क्रिया पर अहभाव है ना, तो ठीक किया, मैं ठीक कर रहा हूँ, बहुत अच्छा हो गया, इस प्रकारका जब भीतरमे मिथ्यारूप पडा होता तो जगतके जीवोको देखकर पहली दृष्टि तो यह हो जायगी कि ये मोही, अज्ञानी, मूढ हैं। हाला कि मिथ्यादृष्टियोका समूह है ससारमे, मगर पहलेका क्या नजर आये ! केवल दो बातो पर बात कह रहे। जो स्वरूपरपण करता है उसके जीवोके प्रति सबसे पहले यह प्रकाश आयगा कि बस यही स्वरूप है जो मैं हूँ, पीछे उनके बहुत विरुद्ध घटनायें घटती है उनको निरखकर फिर टिकेगा कैसे उनका भी निर्णय रखना है।

८९०–सहजपरमात्मतत्त्वके मिलनेके अपूर्व आनन्दके अनुभवमे साधुवोंको परमशरणका लाभ–

यहाँ बात यह कही जा रही है कि निष्कर्म साधुका शरण क्या है ऐसी आशका होगी किसको ? जिसको स्वरूपदर्शन और रमणका आनद नही मिला। सिद्धमे जैसे शका कर ली, उन मोहियोको क्या पता कि आत्मा एक अकेला अपने स्वरूपमात्र है और उसकी तो यह ही स्वच्छ तरग उछलती हुई निरन्तर रहा करती है ज्ञाता मात्र, जो आनन्दसे परिपूर्ण है बस वही निरन्तर चलता रहे, उनको फिर किसी प्रकारसे कुछ बदलकी आवश्यकता भी नही होती। निरन्तर ज्ञानानन्द अमृत यही झरता रहता है उनमे, तो ऐसे ही जिन्हे पता नही है उन मुनिराजका कि वे क्या आखिर जगलमे करते रहते ? दिख रहा ऐसा कि जब ऐसी तत्त्वकी बात कही गई तो बस नैष्कर्म्य। कुछ नही करना। कर नही सकते बाहर। बाह्य पदार्थका कुछ कर नही सकते। करनेका विचार करें तो वह अध्यवसान है और वह मिथ्या है, कर्मबन्धका हेतुभूत है। सारी बातें एक ढगसे चलें तो क्या रहा नैष्कर्म्य ? कुछ काम नही रहा। तो अशरण हो गए वे, उनको कोई सहारा न रहा ऐसी आशका विषय सावनमे मौज माननेवाले लौकिक जनोको होती है।

८९१–नैष्कर्म्यप्रवृत्त होने पर ज्ञानीजनोंको ज्ञानमे ज्ञानकी प्रतिचरितताका शरण बताते हुए उक्त आशकावा समाधान–

अब उक्त आशकाका निराकरण करते हैं। जिन्होने सुकृत दुरित समस्त कर्म तज दिये ऐसे मुनिजन अशरण नही हैं। देखिये बात बहुत की जा रही है, उसे अपनेपर भी घटित करना चाहिए,

क्योकि जो एक कोई लक्ष्य होता है तत्त्व प्रतिपादनका, वर्णनका तो एक ऊँची विधिसे चलता है, यहाँ पर भी साथ-साथ चलना है। इस शिक्षणसे शिक्षा लेते रहे कि हमको भी तो ऐसी ही दृष्टि चाहिए ना और इस स्वरूपदर्शनसे हमारा भी तो यह ही भाव चाहिये। तो स्थिरता नही है मगर हम भी अशरण नही। हमारे प्रतीति तो है, उस ओर अभिमुखता तो है। कोई व्यग्रता नही हो सकती ज्ञानीको, कि अरे आज कल दिन बहुत बडे होते, कैसे काटें दिन ? बहुत समय है, चौबीस घटे कैसे व्यतीत हो ? अरे जब उसका यह निर्णय है कि बाहरमे करनेको कुछ है ही नही, भीतरमे जो होना सो चल ही रहा है। वहाँ ज्ञान ज्ञानस्वरूपमे रम रहा, यह तो सर्वोत्तम शरण है। अब और बात क्या रही ? कौनसी आपत्ति है ? कौनसी वेदना है, कौनसी बात है जिसमे मैं अशरणताका अनुभव करूँ ? कैसी भी आपत्ति आये गृहस्थको—इष्टसे भी इष्ट गुजर गया, अव्वल तो न गुजरे तो भी आफत और गुजर जाय तो भी आफत, जब तक इष्टका प्रसग है तब तक चित्तमें वेदना नही रहती क्या ? जिसे इष्ट माना उसका विकल्प करके वह कष्ट मानता, और वह गुजर जाय तो उसमे भी कष्ट मानता। कभी देखा होगा कि घरमे कोई पुरुष बीमार है और जिसके प्रति यह सन्देह हो रहा कि पता नही यह बचेगा कि नही। कोई बडा कठिन रोग है, जब-जब डाक्टर आता तो अकेलेमे धीरेसे पूछता—बताओ सचमुच यह बचेगा भी कि नही ? यो वह बडी शल्य रखता। मरेके बाद उतनी शल्य नही रहती जितनी कि जिन्दामे। जिन्दामे तो बहुत ही व्यग्रता रहती है। मरेके बाद दुःख तो है मगर जिन्दा रहते हुएमे उसके प्रति नाना प्रकारकी कल्पनायें चलती थी—पता नही यह जिन्दा रहेगा भी या नही, पता नही इसका क्या होगा" अनेक बातोका शल्य बना रहा करता था। यह तो सब एक कल्पनाओका जाल है। कल्पनाओसे दुःख हो रहा। कल्पनायें तज दे, ज्ञानास्वरूपमे रमे यही सच्चा शरण है।

८६२–सहजानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्वकी भक्तिके प्रयोगमे कुछ स्थितियोंका दिग्दर्शन—

वस्तुतः दुःखी यहाँ एक भी नही। अपनेको देखे, अपने स्वरूपमे आवें, अपने स्वरूपको सम्हालें, अकेलापन दिखे—मोह विषका परिहार करदें कि मेरा वह घर, मेरी वह फैक्टरी, मेरा वह परिवार, मेरा वह बडप्पन 'अरे भीतरमे तो एक ऐसी वासना लिए बैठे है और थोडा बहुत धर्म भी करते हैं, सुन रखा, कर रहे है, पर यह धर्मामृत कहाँ आये, वहाँ तो जगह नही है। हृदय तो एक ठोस बर्तन बन गया, हृदयको उन वासनाओसे ऐसा ठसाठस भर लिया है कि उसमे अमृतकी बूँद भरनेकी गुजाइस नही रही। अरे उस बर्तनको रीता करदो, उस हृदयको उन वासनाओसे रीता करदो तो वहाँ यह ज्ञानामृत उपयोग, स्वभावदृष्टि, ये सब बातें आयेगी। जितने भी सिद्ध हुए, जिन्होने भी निर्वाण पाया है, जिनका भी कल्याण हुआ है, एक अपने इस सहज स्वरूपके आश्रयसे हुआ है, दूसरी दृष्टि नही उ नकी हुई जिससे कि वे निर्वाण प्राप्त करे। परिस्थितियोकी बात और होती है तथा एक उत्सर्गकी बात और होती। अपवादकी परिस्थितिमे जो होता सो अपवादके मायने बुरी बात नही, भली बातका भी नाम अपवाद है, जैसे व्रत, तप, सयम, समिति ये सब अपवाद कहलाते हैं, यह भला है, अपवादका अर्थ यहाँ पाप, व्यसन, खोटी बात, मिथ्या बात यह नही, स्वभावदृष्टिके मुकाबलेमे बाह्य चेष्टावोको देखें तो अपवादका अर्थ समझमे आयगा। जो चरणानुयोगकी विधि बताई गई—ऐसे उठो, ऐसे बैठो, ऐसे निर्दोष समितियोका पालन करो" यह तो स्वभाव दृष्टिके सामने अपवाद है। कौन सी दृष्टिमे ? जहाँ एक यह भावना बनी है कि स्वरूपरमण ही एकमात्र कर्तव्य है, अन्य कुछ नही, तो इस दृष्टिके

मुकाबले शुद्ध क्रियायें भी अपवाद हैं जब चरणानुयोगकी विधिसे देखते तो ये व्रत, तप सम्यक् हैं, फिर चरणानुयोगके सामने अपवाद क्या है ? किसी समय मन डिग गया, वचन हिल गया, कोई दोष हो गया, वह अपवाद है। अब यहाँ चरणानुयोगकी विधिसे जो एक कर्त्तव्य करना हो रहा है तप आदिक का वह तो बन गई सही बात, और कोई दोष बन गया तो वह हो गया उसका अपवाद।

८६३–शुभोपयोगकी हेयता व उपादेयताकी स्थिति—

मतलब यह है कि परमोत्सर्ग तो यही है कि अपने इस सहज स्वरूपकी दृष्टि हो, वहाँ ही रमण हो किंतु परिस्थितिवश सब करना होता है, जैसे अभी आत्मस्वरूपमे रमण हुआ नही और बाहरमे राग परिणतियाँ उठ रही तो वहाँ छाट करनी पडेगी कि इस पापभावसे भला पुण्यभाव है। तब वे दो चीजें आ पायी सामने, हम नही रम सके अपने स्वरूपमे तो वहाँ बात कही जाती है। इसी कारण शुभोपयोगको दर्शाया है उपादेय, या हेय और शुद्धोपयोगको कहा है अत्यन्त उपादेय और अशुभोपयोगको कहा है अत्यन्त हेय। ये तीन शब्द जो प्रवचनसारमे अमृतचन्द्रसूरिने दिये, सो आप देखिये— श्रद्धा, आदर, दृष्टि, प्रयोग, आचार, दशा, इन सबका कैसा अनुमान हो रहा है। बताया है कि अशुभोपयोग तो अत्यन्त हेय है और शुभोपयोग जिसके फलमे देव, मनुष्य राज्य वैभव आदिक प्राप्त होते हैं इसको उत्थानिका मे बताया हेय और अत्यन्त उपादेय शुद्धोपयोग, इन शब्दोंमे कहो, अथवा इन शब्दोमे कहो कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय, शुभोपयोग कथञ्चित् उपादेय और शुद्धोपयोग अत्यन्त उपादेय, इन शब्दोमे कहो, शब्दोपर लडाई नही होती, होना ही न चाहिए, भाव उसका समझना है, उस परिस्थितिमे उपादेयका इस तरह निर्णय है और उत्सर्ग विधिमे बस एक स्वरूपदृष्टि ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त समस्त विभाव उसके हेय हैं, तो ऐसा जिसके निर्णय बना और इस तरहकी दशामे जो चलने लगें तो वे मुनिजन अशरण नही हैं।

८६४–पुण्यपापनिषेधक मुनिराजोंके वास्तविक शरणका दिग्दर्शन—

अच्छा तो परखो, सर्वचेष्टाविमुक्त मुनिराजोको किसका सहारा है ? वहाँ तो न कोई मालिक बैठा, न नौकर हैं, न कोई साधन है, जगलमे जगली जानवर बसे हुए हैं, कहते हैं कि वे मुनिजन अशरण नही हैं। अरे उस समय, उस स्वरूप उमगके समय ज्ञान ज्ञानमे प्रतिचरित हो गया ना। देखिये भेददृष्टिसे बात कही गई। चीज तो है वहाँ अद्वैत एक, जो है सो, बस देखो। पर प्रतिषेध भेद बिना नही होता। प्रतिचरित होता है याने वह ज्ञानस्वरूप जो अनादि अनन्त स्वरूप है, निरपेक्ष सहज स्वभाव है, शक्ति है उसके प्रति यह ज्ञानोपयोग जो जान रहा, समझ रहा, यही उसका प्रतिचरित होना कहलाता है, यही एक उनको बडा शरण मिला है, देखो ऐसी बात होती ना कि जहाँ कोई दूसरा तीसरा प्रेमी नही रहा बात करनेको तो अकेला रहे तो घबडाहट हो जाती। तभी तो लोग कहते हैं कि देखो यह महाराज बेचारे अकेले ही बैठे रहते, इनके पास कोई आता जाता नही, इन बेचारेको कहाँ से अच्छा लगे।…वहाँ लोगोको इस तरहका विकल्प होता, है, तो ऐसी एक आदत होगी लोगोकी कि न मिले कोई दूसरा बात करनेको तो उनका समय काटा नही कटता। तो यही बात उन मुनियो की भी है। उन्हे कोई दूसरा न मिले बोलनेको तो उनका दिन नही कटता। अच्छा, मगर थोडा यह अन्तर देखना, यहाँ तो बोलनेको मिलेगा कोई, मगर स्थिर न मिलेगा। आये, १०–५ मिनट बोल दिया, चल दिया, फिर कोई दूसरा आया २–४ मिनटको बोल दिया, चल दिया, वहाँ कोई स्थायी बोलने वाला नही मिल पाता। मगर उन मुनिमहाराजको तो स्थायी सहज परमात्मतत्त्व मिल गया

निरन्तर बोलनेको जो कि उनसे एक सेकेण्ड को भी चलित नही होता, भागता ही नही, खूब बात रें, खूब एकरस होकर मिल जुलकर करें, क्योकि यह करने वालेमे भी उमग है कि मैं खूब बात करूँ अपने सहज भगवानसे और यह भगवान भी यहाँसे हटकर जाता नही, तब फिर कौनसी बातमें व्यग्रता रह गई ? यहाँ तो ज्ञानी जन अपने आपके स्वरूपमे प्रतिचरित होते हुए स्वयं अनुभव करते हैं किसका ? परमामृतका। इस ज्ञानस्वरूपमे निरत होते हुए मुनिजन अमृतका अनुभव करते है।

८६५—परमार्थ अमृतपान—

अमृतका अर्थ क्या है ? अमृत लावो, जहाँ से मिले वहाँ से लावो, सदाको अमर हो जाये। और अधिक मिल जाये तो थोडा सा स्टेनो भाईको भी दे देना, ताकि ये भी उसे पीकर अमर हो जावें (हँसी) तो भाई यहाँ बाहरमे खूब खोज कर लो, कही न मिलेगा वह अमृत। तो क्या कही न मिलेगा ? हाँ मिलेगा, कहाँ मिलेगा, कौन है ? अरे अमृत शब्दका ही अर्थ जान लो तो मिल जायगा। पहले शब्दका ही अर्थ ले लो, फिर मिलनेमे देर न लगेगी। अच्छा तो क्या है अमृतका अर्थ ? दृष्टि नही गई लोगोकी कि अमृतका अर्थ क्या है। लौकिक जन खोजते हैं बढ़िया द्रव्यमयी कोई चीज, यहाँ अमृतका अर्थ है न मृत इति अमृतम् जो मरे नही उसका नाम है अमृत। अब इस मरेमे सब आ गया। जो हटे नही, जिसका वियोग न हो, जो अपरिपूर्ण नही, अधूरा न रहे उसी को ही तो सत् कहते है। घरमे कोई बच्चा बात नही मानता तो भट कह बैठते-मर जा तो क्या मरे का इतना ही अर्थ है ? तो ऐसा कौनसा तत्त्व है जो मरता नही, जिसका कभी वियोग नही होता, तथा जो कभी अधूरा न रहे और कही गुमता नही, वह कौनसा तत्त्व है ? वह है मेरा सहज ज्ञानस्वरूप, सहजसिद्ध परमात्म-तत्त्व। अब ज्ञानपात्र द्वारा उस अमृतका पान तो कर लीजिए, अमृतका अनुभव होगा, कैसा आनन्द आयगा। अनुभव-वाला बता तो पायगा नही। आया तो किसीमे। कैसे आया वह आनन्द ? तो वह बताया नही जा सकता। ऐसा कार्यरहित अविकार स्वरूप देखिये—केवल स्वरूपदृष्टिसे सामर्थ्य, शक्ति स्वभाव अविकारी है। अविकार स्वभाव याने केवल प्रतिभास, केवल प्रकाश, केवल जानन, वहाँ कुछ तरग भी नही, इसे जाना, उसे जाना, इसमे कुछ तरग भी नही और मात्र जानन होता ना कुछ ? अभी यह बल्व है सफेद या मानो बल्वमे ही रग लगा हो या उस बल्वके आगे हरा, लाल कागज लगा दिया तो रोशनी हरी, लाल दिख रही, पर उस रोशनीमे, रोशनी स्वरूप अलग और हरा पीला रग अलग। यह ध्यानमे नही आता क्या ? और जानते नही क्या ? अरे जानते नही हो तो फिर उसे भट हटाकर क्यो सफेद प्रकाश कर देते ? तो है उसमे प्रकाश स्वरूप, वह अवक्तव्य ज्योतिमात्र, उसे सफेद भी नही कह सकते। बहुत सूक्ष्मतासे पता चलेगा, ज्योति है, पर सफेदसे समानता होती है सो कह देते हैं सफेद, किन्तु ज्योति तो प्रकाशमात्र है तो ऐसे ही जो हमारा यह ज्ञान चल रहा तरगवाला, इसमे नही समझ सकते कि ज्ञान इसका नाम और यह कीचड है रागका नाम। और सोचना होगा, भीतरमे निरखो ज्ञानमात्र। जो उस अमृत तत्त्वमे निरत हो गए, अनुभव कर रहे वे अशरण नही हैं। अशरण तो ये सब हैं जिनका कुटुम्ब, वैभव, बडा आरभ, यह क्रिया, वह क्रिया, यह उपयोग जुट रहा है, यो ममता मिथ्याभावमे जो फस रहे हैं, ये है अशरण, परतु ये अपने आत्मस्वरूपकी ही धुन रखने वाले ज्ञानी जीव ये अशरण नही हैं।

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं, शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद् बंधस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्, ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

८९६–ज्ञानात्माका ज्ञानस्वरूपसे होनेकी मोक्षहेतुता–

मोक्षका कारण क्या है यह बात कही जा रही है, अच्छा मोक्ष दिलाना किसको है ? आत्माको। तो आत्माका मोक्ष हो इसका अर्थ क्या है कि आत्माके सिवाय बाकी जो कुछ भी इसके सम्पर्कमे रहा आया था वह सब हट जाय और खालिस आत्मा ही आत्मा रह जाय यह है आत्माका मोक्ष। यह उसका अर्थ है, मायने आत्माका छुटकारा, समस्त अनात्म -तत्त्वोसे अलग हो जाय यह आत्मा और केवल अपने सही स्वरूपमे ही रहे, उसको कहते हैं मोक्ष। तो ऐसी मोक्ष दशा कैसे प्राप्त होती है ? उसका सीधा तो उत्तर है कि जब स्वभाव ही मात्र रह जाय इसका नाम मोक्ष है तो स्वभाव ही ज्ञानमे रहे तो इस ज्ञानके अभ्यासकी रगडसे ही तो इसकी प्रगति बनेगी। देखिये बाहरी चीजोमे जो कोई दृष्टान्त है, यहाँ तो सफाईके भिन्न साधन हैं, चौकी है, इसे साफ करना है। किसीको हुकुम दिया कि इस चौकीको साफ कर दो, तो जो साफ करनेवाला है उसे यह पता है कि चौकी अपने आपमे निर्मल है तब ही तो वह साफ करनेका उद्यम करता है। अगर उसे यह विभ्रम हो कि ऐसी गदगी तो इस चौकीका स्वरूप ही है, तो वह साफ नही कर सकता। उस साफ करनेवाले को यह विदित है कि चौकीका असली स्वरूप इन सब गदगियोसे विविक्त अपने आपमे अपने सही रगको लिए हुए है जैसा कि उसने चौकी बनते समय देख लिया होगा। हाँ अब यहाँ उसको साफ करनेके लिए क्या करता है, पानी डालता है, अलग करना है, साफ करता है। तो इस आत्माको शुद्ध स्वच्छ करनेके लिए क्या करना होगा ? बस ज्ञानमे उस स्वभावको लो जो स्वभावमात्र रहे, उसका नाम मोक्षमार्ग कहलाता है। तो ऐसे इस सहज ज्ञानस्वभावको अपनी दृष्टिमे लेना है। तो देखिये–वह ध्रुव है, अचल है और उसके अनुरूप जो कुछ भीतरमे ज्ञानतरगमे अनिवारित है, सो भी अचल। जब वस्तु हैं तो निरन्तर उत्पाद व्यय तो होगा सो उस ज्ञानका जो एक अनवरत उसकी शुद्ध तरग है वह भी क्या होना कहलाता ? वह भी ध्रुव अचल जचता है। तो जो ज्ञानात्मा ध्रुव अचल रूपसे होना प्रतिभात होवे मायने यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपको निहारे, ऐसी स्थितिमे ज्ञानका परिणमन चल रहा होवे तो यह परिणाम है शिवका हेतु।

८९७–ज्ञानात्मक ध्रुव अचल भवनकी वचनागोचरता व श्रेयोरूपता—

बताया क्या जाता है ? अटपट विषय विकार। जिसकी प्रकटता एकदम जाहिर हो उसे तो बताया जायगा, उसके बारेमे तो कुछ बात कर सकना होगा, मगर जो स्वभावानुरूप उत्तम है, हो रहा है और खास करके तो आत्माके सम्बन्धमे जो स्वभावानुरूप दृष्टि रखकर जो बात बन रही उसको कहने के शब्द नही कोई, जान लिया। कई बातें होती हैं जान लिया, पर बता नही सकते, गिना नही सकते। तो यह जो ज्ञानात्मा, ज्ञानस्वरूप आत्मा, इसका जो यह ध्रुव अचल भवन होना परिणाम बन रहा, वह है मोक्षका हेतुभूत। देखो सहज बातकी, सहज क्रियाकी कोई दृष्टि नही की जा रही है।

८९८—शिवहेतुकी आराधनाके अभिप्रायसे शिवहेतुसाधकोंकी सेवा–

अब चरणानुयोगकी बात लीजिये–स्वभावदृष्टि रखनेके लिए अभ्यास करने वाले जो पुरुष हैं वे कहाँ तक सफल हो रहे या चलित हो रहे। राग आये, प्रवृत्ति आये, तेज भूख लग गई, साधारण भूखकी चर्चा नही करते, अनेक प्रतिक्रमण दीक्षा, शिक्षादि करते। तो अब जब प्रवृत्ति करनेको होता है ज्ञानी तो कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए, यह विवेक न रखे तो वह ज्ञानी कैसे ? जो यथा तथा प्रवृत्ति करे तो वह अविवेकी हैं। करना ही पड रहा है परिस्थितिमे रागप्रवृत्ति तो एक छाँट होती है कि इस रूप

परिणमना, इस तरहसे चलना, इस तरहसे खाना पीना, उठना बैठना समितिपूर्वक, उसकी ये बाह्य-क्रियायें होती है। तो अब देखो—चरणानुयोगमे जो वर्णन है वह क्या है कि विशुद्ध भावसयमका अभ्यास करनेवाले साधुकी जो बाह्य क्रियायें हैं वे कहलाती है चरणानुयोगके विधान। अब जहाँ तीर्थप्रवृत्ति याने सम्यग्दर्शन, सम्यक् चरित्र स्खलित न हो, चलता रहे तो उस मार्ग प्रवृत्तिके लिए बाहरी आधारको देखकर ही सम्यक् प्रवृत्तिका व्यवहार बन गया, मगर सम्वर निर्जरा वहाँ भी चलती रहती है। अब ज्ञानात्मा उस ज्ञानानुरूप भवनमे चल रहा है, कही मन, वचन काय इनकी क्रिया साधन नही है मोक्षका। साधन तो वह ज्ञानात्मक भवन है, मगर इस साधककी यह दशा है कि इस इस रूप रहता है। उसकी बाहरी क्रियायें देखकर ज्ञानीको भक्ति सेवाके लिए क्यो उमग लगती कि उसकी झट वहाँ दृष्टि गई—ओह यह बाह्य भेष, ये सब क्रियायें, ये व्रतरूप क्रियायें, ये स्वभावदृष्टि और साधना करने वालेके ऐसे आया करती हैं, उसको देखकर जो स्वभावदृष्टिका बना ज्ञान उसके करण ज्ञानी गृहस्थ, साधुसन्तोकी भक्ति व सेवा करता है। उस व्रतका भेष, उस व्रतमे रहनेवालेका भेष, उसे देखकर श्रावक विनयादि सब कुछ करता है। मार्गका यहाँसे मूल उठा, तो मोक्षका हेतु क्या है ? इस ज्ञानात्माका ध्रुव अचल रूपसे जो यह परिणाम है, उसका जो एक आश्रय है वह मोक्षका हेतु है। और इतना ही क्यो ? वह तो स्वयशिव है, शिवका हेतु है। जैसे कहते है ना कि आश्रव दुखका हेतु है, तो वहाँ कहते है कि इतना ही क्यो ? आश्रव स्वय दुख रूप है इसी तरह इस ज्ञानात्मक अतस्तत्त्वका यह अनुरूप परिणाम, यह शिवका हेतु है, और इतना ही क्यो कहते। यह स्वय शिवस्वरूप है।

८९९—अज्ञानपरिणमनोमे बन्धहेतुता—

इस ज्ञानात्माका जो अन्य-अन्य रूपसे परिणमन है, अध्रुव चलित जो परिणमन है, कर्मस्वभावसे ज्ञानका भवन है, वह बधका हेतु है। अध्रुव और चलित परिणमन इनका बनाना होता क्यो ? ये बने तो अपनी परिणतिसे, मगर जहाँ उपाधि कर्मका विपाक होता है उसका प्रतिफलन होता, वहाँ ज्ञानविकल्प ऐसे ही बनते। यदि इसके लिए यह ही सब कुछ जिम्मेदार हो कि यह ही आत्मा निमित्त हो, यह ही आत्मा उपादान हो, उपादान तो यह है ही, निमित्त भी यही आत्मा हो, विकार सब कुछ आत्माकी परिणतिसे ही बन गया हो, निमित्त न हो तो यह विकार सुगमतया स्वभाव हो जाते है, तो फिर उसके मिटनेका कोई तरीका नही बन सकता। इस तरह औदयिक भावका परिचय कराकर यह उमग कराई जाती है, यह सत्यता उपस्थित की जाती है कि ये रागादिक विकार, ये विभाव, ये कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए हैं। विना निमित्त के हो सो नही। जैसे सिद्ध प्रभुका परिणमन उसमे कर्मादिक कोई बाहरी निमित्त नही, काल तो एक सामान्य बात है। तो जहाँ व्यतिरेक नही होता उसकी चर्चा नही की जाती है। कर्ममे व्यतिरेक सबध सभव है सो कर्म जीवविकारमे निमित्त हुआ करता है। तो बात बन क्या गई। है अपनी ही कमायीकी वात। अपने विभावोसे अर्जित प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग बन्धवाला कर्म था, उसका जब विपाककाल आया तो यह जीव रागरूप परिणम गया।

९००—शब्दप्रयोगविधिसे निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयकी सुगमताका दिग्दर्शन—

भैया निमित्त और नैमित्तिक इन दोकी बात झट समझना हो तो देखो एक समयमे दोनो बातें होकर भी जिसमे जब लगाया गया हो वह निमित्त, जिसमे तब जगाया गया हो वह नैमित्तिक, बहुत सीधी कुञ्जी आपके लिए कह रहे हैं। जैसे आगपर पानी डाला तो वहाँ यह ही तो आप कहेगे कि

पानीका निमित्त पाकर आग बुझ्याई। अच्छा, दोनो बाते एक समयमे हुई, उसी समयमे पानीका सम्पर्क हुआ और उसी समयमे आग बुझी, और इसको अगर यो बोले कि जब आग बुझी तब पानी आ गया, इसे कोई मान नही सकता। अब देखना—बात एक ही समयमे है और एक द्रव्य दूसरे पदार्थका त्रिकाल कर्ता नही होता, मगर निमित्त नैमित्तिकपन वास्तविक क्या है? कौन निमित्त है, कौन नैमित्तिक है, इस बातके समझनेके लिए इन दोनोका सही प्रयोग बहुत मदद देता है। जब पानी गिरा तब आग बुझी, ऐसा प्रयोग तो सयुक्तिक बन गया और आगममे भी यह ही प्रयोग है कि कर्मोदय होने पर राग हुआ, कर्मविपाक हुआ उस समय राग हुआ। दोनो जगह भिन्न-भिन्न बाते हैं जीवका परिणाम कर्मको नही करता, कर्मका परिणाम जीवको नही करता, पर निमित्त क्या है, नैमित्तिक क्या है, इसको समझनेकी कुञ्जी यह ही है, इस प्रकार समस्त आगममे बताया गया है। हाँ अगर यो कह दिया जाय कि जब आग बुझी तो पानी आ गया, तो इसमे आगका बुझना तो कहलायगा निमित्त और पानीका आना कहलायगा नैमित्तिक, ऐसा तो नही है। निमित्त नैमित्तिकको सब लोग व्यवहार मे समझते है? निमित्त शब्द ही यह जाहिर करता है कि त्रिकालकर्तृत्व नही है एकमे दूसरेका। जब शब्द ही जाहिर करता, तब कभी यह शका न होनी चाहिए कि इसने दूसरेका कुछ कर दिया। फिर भी देखो—निमित्तकी अनुपस्थितिमे विकार नही होता तो वह निमित्त और विकार क्या? निमित्त वह जिसकी अनुपस्थितिमे विकार न हो। विकार कार्य है, निमित्त कारण है, ऐसा होनेपर भी किसी द्रव्यकी परिणतिको दूसरे द्रव्यने नही की, बल्कि उसमे हमको यह उमग मिली कि ये रागादिकभाव यह तो कर्मकी छाया, माया, प्रतिफलन है, यह मेरी चीज नही हैं, मै तो स्वभावत चैतन्यस्वरूप हूँ। निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे स्वभावदृष्टिमे और अधिक प्रेरणा मिलती है

९०१—अज्ञानमय भावकी बन्धरूपता व ज्ञानमय भावकी शिवरूपता—

ज्ञानका जो स्वभावानुरूप परिणमत है उस परिणमनमे जो भवन है, होना है वह तो है शिवका हेतु और इसके अतिरिक्त अध्रुव और विचलित जो विकार परिणमन है वह है बधका हेतु। अरे-अरे इतना भी न कहो, वह स्वय बध है याने अन्त स्वभावसे विचलित हो, ऐसा जो हमारा परिणाम है वही स्वय एक बन्धन रूप है, बधनका हेतु है, वही बन्धन है। तो बात क्या आयी, बस एक निगाह, एक ही दृष्टि। अपनी भलाई करना है तो एक ही दृष्टि करो कि मैं स्वय सहज किस स्वरूपमे हूँ, उसकी पहिचान करके, उसमे निर्णय बने कि मैं तो यह हूँ। यद्यपि जीवविकारमे भी मैं का सबध तो है, पर जीवविकार विकृत है, दशा आगन्तुक है और और बातें है, तो वास्तवमे मैं क्या हूँ, परमार्थसे मैं क्या हूँ?, मैं यह सहज चित्स्वभावरूप हूँ। बस यह स्वप्रतीति हो जाना चाहिये और बात कुछ मत सोचें,याने विवादकी बात अधिक न आये और एक यह ही अनुभव बन जाय जैसा कि किसी नारकीको भी बन जाता है, किसी बैलको भी बन जाता, किसी घोडेको भी बन जाता, वे तो बात करना भी नही जानते। वे तो आश्रव बधकी पढाई भी नही पढते, किन्तु उनको एक ज्योति जगी है और अपने आपके सहजस्वरूप अतस्तत्त्वमे प्रीति हुई है, सम्यग्दर्शन हो गया उन्हे, तो मुख्य बात यह है, यही अपनी कमाई है। अपने आपके सहज अतस्तत्त्वमे, परमार्थ निरपेक्ष रूपमे जो कुछ स्वरूप है उसमे अपना दृढ निर्णय बने कि मैं यह हूँ; अगर कोई धर्मचर्चा करते हुएमे गुस्सा आ गया तो धर्मचर्चा तो कर रहे थे अतस्तत्त्वकी, और और बातकी, और किसी बातमे मेल न बैठा, ताव आ गया और ताव भी ऐसा आ गया कि दूसरोके देखनेमे भी बुरा लग रहा, यह तो लडाई सी हो रही। तो बात क्या है?

वहाँ उसने अपनी विकल्प पर्यायमे आत्मत्वबुद्धि की। उस विकल्परूपसे कोई मान न रहा था तो उसने समझा अपना विनाश कि हाय मैं ही मर गया। अपने उस विकल्पके प्रति ऐसी आत्मत्वबुद्धि रही कि ताव आ जाता है, झगडा हो जाता है, तो जरूरत है निज सहज स्वभावको जाननेकी। इसके प्रतापसे कषायक्लेश मिटेंगे, जन्ममरणके सकटोसे छूट मिलेगी। हमे इस दुर्लभ मानव जीवनको सफल करना है, एतदर्थ जरूरत है कि हम इस तरहसे अध्ययन करे, मनन करे, चिन्तन करे, सोचे, अनभव करें, जिसमे कि हमे अपने सहज स्वभावमे यह मैं हू, ऐसी दृढ़ प्रतीति हो। आवश्यकता यह है आज इन दुर्लभ क्षणोको सफल करनेके लिए।

६०२–निरास्रवताका निर्धारण—

हाँ तो इस तरहका स्वभावाश्रयने जो ज्ञान परिणाम हो रहा, वह क्या ? केवल ज्ञानमात्र,ज्ञान ज्ञान परिणाम, प्रतिभास। रागद्वेष नही, परोपयोग नही, देखो ऐसा जो सोच रहा है ज्ञानी चौथे पाचवे छठे गुणस्थानमे तथा ८ वे, ९ वें, १० वे गुणस्थानमे भी जो उपयोग चल रहा है, ऐसे ज्ञानस्वभावके आश्रयमे लग, रहा है, उपयोग वही चल रहा है वहाँ बुद्धिपूर्वक विकार तो नही, किन्तु राग तो उसके भी चल रहा, ये रागद्वेष विकार एक क्षणको भी अलग न कर सके। अब देखो चल रहा है निरन्तर, मगर वह अबुद्धिपूर्वक राग है। उस अबुद्धिपूर्वक रागको भी मेटनेका उपाय क्या है। इसी स्वभाव मे उपयोग लगाना। बुद्धिपूर्वक राग तो तत्काल मिट गया। अबुद्धिपूर्वक राग भी मूलसे नष्ट हो, उसका उपाय भी इस ही स्वभावका आश्रय है। तब ही तो करणानुयोग कह रहा है कि आश्रव बध चल रहा है ९ वे, १० वें, गुणस्थान तक। और वह हमारा बुद्धिपूर्वक अनुराग नही, इसी आधारपर द्रव्यानुयोग कह रहा है कि सम्यग्दृष्टि निराश्रव तो बात क्या हुई ? क्या दोनोका विरोध है परस्परमे ? विरोध नही। यह बुद्धिपूर्वक प्रक्रियाका अनुयोग है, और करणानुयोग समय-समयका, ढगका, एक एक क्षणके सही निर्णयका अनुयोग है।

६०३–पृथक्करणीय पदार्थके विशेष परिचयसे उसके पार्थक्यकी स्पष्टता–

देखिये—जिस चीजसे हमको स्वयको निराला समझना है उस चीजको अगर बहुत अधिक परिचय बन जाय तो उससे निरालेपनकी बुद्धिमे कितनी स्पष्टता आती है और जिससे निराला समझनेकी चाह है यदि उसके सम्बधमे खास परिचय नही है, केवल एक शब्दका ही परिचय है, कर्मधूल रजकण इतना ही कहने मात्रकी बात है और उसकी बधदशा, उदयदशा सत्त्वकी स्थिति, अनुभाग, स्थितिखड, अनुभाग-खड, प्रमाण कितना होता, क्या होता जबतक यह सब परिचयमे नही आया तबतक भेदविज्ञान स्पष्ट ज्ञानमे आना कठिन है। जब समझा कि कर्म भी एक पदार्थ है, राक्षसो आदिकी तरह यह भी एक कोई चीज है और इस-इस ढगसे है, जब परतत्त्वका जरा अधिक परिचय बनताहै तो उससे निरालेपन की बुद्धि भी बडी स्पष्ट बनती है। इससे अध्ययनमे सब लाइये-कर्मसिद्धान्त, जीव सिद्धान्त, सब चीजे ज्ञानमे लावो, उससे स्पष्टता भी बनती है और एक उमग भी आती है, हम एक ही निबधका रोज-रोज अध्ययन करें तो वह हमारी एक तरहकी दिनचर्या जैसी चीज बन जाती है कि हम उसका अधिक असर नही पा सकते, अत ऋषियोकी जितनी कृतियाँ हैं चारो वेद (अनुयोग) सम्बन्धी जितनी भी कृतियाँ हैं उनका हम अध्ययन करें। कभी करणानुयोग, कभी चरणानुयोग किस-किस ढगसे कैसी उमग बनती है, किसको पढकर कैसा कहाँ-कहाँ एक साहस, उमग, मार्गदर्शन मिलता है इसके लिए हमको सब तरहका अध्ययन लाभदायक होता है। और उसमे फिर हमारी यह कथनी भी विशिष्ट

बन जाती है, देखो फिर कैसे स्पष्ट समझमे आयगा, मोक्षका हेतु क्या, शिवका हेतु क्या।

९०४—ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे भवनकी शिवहेतुताका दृढ़ निर्णय—

इस ज्ञानके इस विशुद्ध परिणमनके न होनेपर चाहे कितना ही शरीर, मन, वचनकी क्रियायें हो जायें और हृदयसे हो जायें फिर भी दृष्टि मिथ्या है। अज्ञानी जीव भी हृदयसे व्रत तप ग्रहण करता है, भीतरमे उसको अन्तस्तत्त्वका पता नही और धर्मकी बात कुछ सुन रखी सो भीतरसे हृदयसे करता याने दुनियाको दिखानेके लिए नही, किन्तु अपने मनसे करता है फिर भी सहज ज्ञानस्वभावकी, ज्ञानके सहज परिणमनकी प्राप्ति न होनेसे उसका इस मन, वचन, कायकी क्रियाके होनेपर भी मोक्ष नही होता, और जिसको इस ज्ञानस्वभावका परिचय है, इस ज्ञानपरिणमनकी बात चित्तमे आयी है, समझता है उसका अनुभव बना, ऐसा जो जीव है, वह बाहरमे लोगोको जो बहुत अच्छा दिखे ऐसा व्रत, तप आदिक न भी कर सके, बिल्कुल न करे यह तो नही सम्भव, कर रहा सहज, अन्दरसे कर रहा, लोगोको जाहिर हो ऐसा कोई व्रत नियम बढिया न बने तो भी इस ज्ञानस्वभावकी उपलब्धिके प्रतापसे मोक्षमार्ग बन जाता है। तो ज्ञानका ज्ञानरूपमे होना, ज्ञानमे इस ज्ञानस्वभावको ज्ञेय करना और यहाँ ही ज्ञानको बसाकर प्रसन्नता पाना, निर्मलता पाना, बस यह ही एक खास परमार्थ अमीरका व्यापार है जो हम आप सब आत्मार्थियोको मददगार है। इसके अतिरिक्त बाहरी ये समागम सग ये मददगार नही है।

९०५—परिजनमे मोह न करके धार्मिक वातावरणमे रहकर जीवन सफल करनेका सदेश—

परिवार मिला है तो परस्पर एक दूसरेको वैराग्य और ज्ञानकी दिशायें बताकर धर्मपालनको प्रयोगात्मक करें जिससे कि औरोका भी भला हो। मगर उनमे यह मेरा है, बडा अच्छा है, लडका है, इष्ट है, ...अरे उसका स्वाद ले तो लिया अब तक पाया क्या? स्वाद भी क्या? रोना ही रोना। यह ही मिला। चाहे इष्ट मिला हो चाहे अनिष्ट मिला हो, उसके फलमे रोना ही रोना मिला है। आनन्द नही मिला। किसीने अभी समझ लिया, कोई दो चार वर्ष बाद समझ लेगा, मगर उसका फल यह ही है। किसका फल? राग करनेका। चीजके मिलने जुलनेकी बातका असर नही, किन्तु उसमे जो राग है, इष्ट बुद्धि है उसकी बात कह रहे। किसको आप कहेगे कि यह हमारी सुखकी स्थिति है? किसीके पुत्र नही होता वह दुःख मानता कि मेरे कुछ नही है, आगे सतान न चलेगी, वह यो सोचकर दुःखी हो रहा। उसने यह ही जाना कि मेरी सतान ये पुत्र आदि कहलाती और अपने आत्मद्रव्यकी जो एक त्रिकाल सत्ता है, जो परमार्थ सतान है उसकी तो दृष्टि ही नही है। मेरे लौकिक सतान नही, यह बात उसके लिए दुःखका कारण है। ये लडके बच्चे होते रहे, हमारी सतान होती रहे, इसमे वह सुख समझता, पर विचारो तो सही कि अगर कोई पुत्र कुपूत निकल आया तो उसका भी कष्ट आप मानते कि नही? मानते। और सुपूत निकल आया तो? अरे उससे तो और भी अधिक कष्ट मानते। कोई पुत्र बडा आज्ञाकारी है, विनयशील है, सेवा करने वाला है, तो उसको देखकर आपके इतना तृष्णाका रग चढता है कि आप सोचते कि मैं इसके लिए सब कुछ कर जाऊँ इतना धन कमा कर धर जाऊँ कि यह जिन्दगी भर सुख पूर्वक रहे...। यो सारे जीवन भर आपको उसके पीछे बुरी तरहसे लदे फिरना पडेगा। और कुपूतके लिए तो बस अखबारोमे निकलवा दिया कि अब इससे मेरा कुछ वास्ता नही लो सारा झगडा खतम। तो फिर लोकमे कौनसा सग समागम है जो इस जीवको आनन्दका कारण बने? कुछ नही।

९०६—अन्तः सहजपरमात्मतत्त्वकका प्रसाद पानेका संदेश—

भीतरका यह आत्मा भगवान, सहज परमात्मतत्त्व, परमब्रह्म, यह मेरे लिए परम शरण है। एक भजनमे बोलते हैं ना—"तेरी भक्तीमे क्षण जायें सारे। मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारण, तरण ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्तीमे क्षण जायें सारे। ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, कल्पनाओका इकदम विलय हो, भ्रान्तिका नाश हो, शान्तिका वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्तीमे क्षण जायें सारे॥" अपना भगवान अपनेको मिला है, इससे अपनी सारी बाते करके अपने आत्मप्रभुको प्रसन्न कीजिए। बस यह प्रभुका प्रसाद यह आत्मप्रभुकी प्रसन्नता है, यह हम आपके सकटोको नष्ट कर देगा। तो यह ही ज्ञान, ऐसा अपने स्वरूपमे मनन यह ही शिवका हेतु है और इतना ही नही, शिवस्वरूप है। इतनी ही दृष्टि इस जीवनमे रहे, यह ही सबसे बडा भारी पौरुष है।

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

९०७—एकद्रव्यस्वभावपना होनेसे ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होनेकी ही मोक्षहेतुता—

अधिकार तो यह पुण्य पापका है और चूँकि ध्येय सभी उपदेशका मोक्ष पाना है, तो उस ही बातपर सभी बाते घटित होंगी। मोक्षका हेतु क्या है? पुण्य और पाप शिवके हेतु नहीं, वे तो पुद्गल कर्म हैं और उनके निमित्तभूत शुभ और अशुभभाव मोक्षके हेतु नही, क्यो नहीं है कि वे ज्ञानके ध्रुव अचल भवनसे बाह्य किन्ही भावोरूप है, तब क्या है मोक्षका हेतु? मोक्षका हेतु ज्ञान-स्वभावसे ज्ञानका होना बस यह ही मोक्षका हेतु है। अपन सबका ज्ञान जानं तो रहा है। अब किस स्वभावसे जान रहा है बस इसमे ही मोक्ष और ससारके हेतुपनेकी बात आती है। ज्ञानका स्थिर होना यह ही कहलाता है चारित्र। और, यह है मोक्षका हेतु, क्योकि ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना यह एक द्रव्यका स्वभाव है। और, जो अपनेमे अपने ही स्वभावसे होता है बस वही मोक्षका हेतु है, परद्रव्यके स्वभावसे मोक्ष न बनेगा। अपने ही द्रव्यके स्वभावसे मोक्षकी सिद्धि है। देखिये—परमार्थदृष्टिसे विचार करे, एक ही अतस्तत्त्वपर दृष्टि देकर निहारें, आखिरमे मोक्ष नाम है किसका?—मोक्ष कहलाता है आत्माका जो स्वतत्र स्वरूप है वह उसमे ही एकत्वको लिए हुए रह जाय। सभी पदार्थ अपने आपमे अपना ही एकत्व स्वरूप लिए हुए हुआ करते हैं। तो यह आत्मा जो है सहज बस वही प्रकट हो, यह है मोक्ष, और इसका हेतु है ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना। चूँकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है ज्ञानमात्र है, तो ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वका जो आश्रय है, उस आश्रयमे होने वाला जो परिणमन है उसे कहते है ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना। ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना यही शिवका हेतु है और उसके अतिरिक्त जो अन्य भाव है उसकी बात अब कलशमे कहते है।

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

९०८—कर्मस्वभावसे ज्ञानके भवनमे मोक्षहेतुताका अभाव—

ज्ञानका कर्मस्वभावसे होनेको चारित्र नही कहते। कर्मस्वभावसे होनेका अर्थ क्या है? जैसे उदाहरणमे दर्पणके समक्ष लाल पीला कपडा आया और दर्पणमे लाल पीला फोटो रूप परिणमा तो लाल पीले रग रूप जो परिणमा उसे हम यो कह सकते है कि यह दर्पण उस कपडेके स्वभावरूपसे परिणमा। यद्यपि उपादान उपादेय भाषामे यह बात नही है, कपडा अपने स्वभावसे परिणम रहा,

दर्पण अपनी परिणतिसे परिणम रहा, लेकिन जो वह औपाधिक भाव है उस रूपसे, जो भी चल रहा तो वह दर्पणके निज निरपेक्ष स्वभावसे होना नही कहलाता। उसे यो ही कहा जायगा कि यह उस उपाधिके स्वभावसे परिणम रहा। जैसा अन्त देखिये पूर्वबद्ध कर्म जब कर्मविपाक कालमे आया, उनका उदय हुआ तो विपाक फूटा। सो अनुभाग उदित हुआ तो कर्मका कर्ममे, मगर जैसा समयसारमें परिशिष्ट अधिकारमें बताया कि अनादिसे परके ज्ञेयके कालमे, उस कर्मविपाकके ज्ञेयके कालमें चूंकि अन्तर नही समझा अतएव ज्ञानका उस तरहसे परिणमनेसे संसार बना तो जो विपाक हुआ, प्रतिफलन हुआ, जो झलक हुई, उस रूपसे यह उपयोग अपनेको मानने लगा, यह कहलाया कर्मस्वभावसे कर्मका परिणमना। इसका नाम चारित्र नही। ज्ञानस्वभावसे परिणमते रहनेका नाम निश्चय चारित्र है। होता क्या है, कि जीवके जो रागादिक विकार हुए उनमे निमित्त स्वयं आत्मा नही, किन्तु इसका निमित्त स्वय रागादि भावापन्न परद्रव्यसग ही है और इस प्रक्रियाको वस्तुका स्वभाव वतलाया कि जो रागदिकरूप परिणमन है उसमे निमित्त केवल परसंग ही है और ऐसी स्थितिमें आत्मा विकाररूप परिणमता है। न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः। तस्मिन्निमित्त परसग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्। जरा फिर ध्यान दीजिए। यह वस्तुका स्वरूप है कि एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप नही परिणमता इसमे किसीको रंच भी विवाद नही। तब यहाँ दो वस्तु हैं—जीव और कर्म। कर्मका उदय हुआ यह है निमित्त और जीवमे जो विकार हुए वे नैमित्तिक हैं।

६०६—निमित्तका सन्निधान होनेपर अशुद्ध उपादानमे स्वयं विभाव परिणमनकी कला—

अब यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही करता यह कुञ्जी यहाँ लगाओ। याने एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही करता याने निमित्तभूत कर्म जीवकी रागादिक परिणतिको नहीं करता और इसीका नाम अकिञ्चित्कर है और इस दृष्टिसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें अकिञ्चित्कर होता है, इस न्यायको तो छिन्न-भिन्न किया ही नही जा सकता। तो यह बात आयी कि निमित्तभूत पुद्गलकर्मका उदय इस जीवके रागविकाररूप कार्यमें अकिञ्चित्कर है, अर्थ यह हुआ कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही करता। तो यहाँ एक शंकाका होना स्वाभाविक है कि फिर निमित्त शब्द ही क्यों कोसमे रखा, और अनेक लोग फिर नियत नियत ही निमित्त क्यो कहे जाते? रोटीके सिकनेमें आग निमित्त। ऐसा क्यो नही हो जाता कि किसी दिन आग निमित्त हो तो किसी दिन पानी निमित्त बन जाय। क्योंकि जब उसमें व्यवस्था ही नही कुछ, तो अटपट क्यों नहीं हो जाता? ऐसी एक आशंका हो सकती है। तो निमित्त ही क्या कहलाया? समाधान यह है कि बात यो होती है कि उस कर्मविपाकके उदयकालमें उस वातावरणमे याने कर्मका उदय तो कर्ममे ही है, उस समयमें एक वातावरण कहो जिसे कहा है सम्पर्कजभाव, वह ऐसा सम्पर्कजभाव है कि उस वातावरणमे यह उपादान स्वय अपनी कलासे, अपनी परिणतिसे विकाररूप परिणम जाता है। तो चूंकि निमित्तकी अनुपस्थितिमें यह जीव रागादिक विकाररूप नही परिणमा, और, नही परिणम पाता, इस कारणसे यह वहाँ निमित्त हुआ। अर्थ ठीक सीधा यह है कि निमित्तको पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला बनता है। विकार आया वह जीवका ही प्रभाव है उस समयके उपादानके अनुकूल है, पर यह उस समय कर्मोदय निमित्तके अभावमें न बन सका, ऐसा हर जगह घटित करो। प्रत्येक निमित्तमे आप यह बात पायेंगे कि निमित्तभूत पर द्रव्यने उपादानकी परिणति नही की, मगर इस इस प्रकारकी स्थितिमें निमित्तके सद्भावमे उपादानने अपनी ही कलासे अपनी ही

परिणतिसे उस प्रकारको विकार पैदा किया, तब फिर उस विकारको हटानेका उपाय क्या है ! जान लिया ना कि यह विकार आत्माके स्वभावसे नही चला, किन्तु उस निमित्त सन्निधानमे यह कला बनी अतएव यह नैमित्तिक है । तो विकार नैमित्तिक है औदयिक है, पौद्गलिक है, किसी भी शब्दमे कहो । जो उसमें लगे वह अज्ञानी है । ज्ञानी विभावमें आकर्षित नही होता । ज्ञानीकी धुन तो अपने स्वभावकी ओर है ।

६१०—उत्पत्तिक्रिया व ज्ञप्तिक्रियामे निमित्तनैमित्तिकभाव अथवा साध्यसाधनभावका दिग्दर्शन—

एक बात और इस प्रसंगमे जानियेगा कि क्रिया दो प्रकारकी दर्शनशास्त्रमे कही गयी और युक्तिसे भी जानलें, एक उत्पत्तिरूप कार्य और एक ज्ञप्तिरूप कार्य याने जानकारी बनना एक यह काम, और एक उद्भव होना, प्रकट होना, व्यक्त होना, उत्पन्न होना, एक यह कार्य । तो उत्पन्न होनेके प्रसगमे तो यह ही कहा जायगा, जैसी कि स्थिति है कि कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव रागरूप परिणमा, और ज्ञप्तिरूप क्रियाकी दृष्टिसे यो वार्ता हैं कि जीवका रागविकार यह तो समझमे आता है, कर्मोदय हमारी समझमे नही आता । यद्यपि कर्मसे सूक्ष्म रागविकार है, क्योकि कर्म पौद्गलिक है पर द्रव्य है, रूपरसगंधस्पर्श सहित है उससे सूक्ष्म है जीवरागविकार, वह तो आत्मपरिणति है अमूर्त है, किन्तु वह अपने परिणमनमे है, अतएव वह तो झट समझमे आयगा, मगर कर्मदशा, कर्मोदय कर्मकी बात, यह समझमे न आयगी । परमावधि, सर्वावधि ज्ञानी, ये ही इसको जान पाते हैं, और केवलज्ञानके तो सभी प्रत्यक्ष है । तो जैसे धुवाँ देखकर अग्निका ज्ञान बना तो धूमका दर्शन निमित्त है और अग्निकी ज्ञप्ति कार्य है, यह तो कहा ही जायगा । वहाँ वह ज्ञप्तिरूप कार्य बना । क्यो ? धूमका दर्शन करके अग्निका ज्ञान बना । जब उत्पत्तिकी हैसियतसे बोलेंगे तो कारण अग्नि है, कार्य धूम है । सो ज्ञप्तिकी दृष्टिसे देखेंगे तो अनुमान प्रमाणमे यह ही बात आयगी कि धूम साधन है, अग्नि साध्य है, मायने धूम देखकर अग्निका ज्ञान हुआ । इस तरह रागविकार देखकर कर्मोदयका ज्ञान हुआ । रागविकार हुआ, उस कालमे कर्मोदय है, कर्मोदय था, इस प्रकारका जो ज्ञान हुआ तो इस ज्ञानरूप कार्यके लिए रागविकारका ज्ञान निमित्त है, मगर कर्मोदयकी उत्पत्ति रूप कार्यके लिए रागविकार निमित्त नही है । वहाँ रागविकारका निमित्त कर्मोदय है और ज्ञप्तिमे यह बात आती है कि राग-विकार जब जाना, समझा तो कर्मोदयका ज्ञान हुआ ? उस कालमे कर्मोदय है । तो ये दो बाते भी एक खास समझने की है—कार्य दो प्रकारके है—उत्पत्तिरूप कार्य और ज्ञप्तिरूप कार्य । जब राग-विकार हुआ तव कर्मोदय है ऐसा ज्ञान हुआ, यह बात तो ज्ञप्तिके मामलेमे चलेगी, मगर निमित्त-नैमित्तिकविधिमे जिस ढगसे जो है सो ही होता है । बस उसमे भी परका, निमित्तका कोई भी द्रव्य, गुण पर्याय, परिस्थिति, परिणति, प्रभाव कुछ भी चीज निमित्तभूत कर्मके प्रदेशसे बाहर नही होती, किसी पदार्थका कुछ भी हो वह उसके प्रदेशमे ही है, प्रदेशसे बाहर नही है मगर सपर्कजभावकी स्थितिमे, उपादान निमित्त के सद्भावमे अपनी परिणतिसे विकाररूप परिणम गया ।

६११—निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयमे स्वातन्त्र्य, सान्निध्य और हितशिक्षणका दिग्दर्शन—

निमित्तनैमित्तिकभावमे स्वातन्त्र्य और सान्निध्य जाननेको एक मोटासा उदाहरण ले लो । जैसे इस तखतपर आप बैठे हैं तो आपके बैठनेमे तखत निमित्त है, कारण कहदो, निमित्त कह दो, मगर तखतका गुणप्रभाव आदि आपमें कुछ नही आया । तखतने आपकी कुछ परिणति नही की । तो वहाँ हुआ क्या, कि तखतका आश्रय करके आप अपनी परिणतिसे, अपनी सामर्थ्यसे इस प्रकार बैठ गए । तखत निमित्त

हुआ बैठनेमे। यह एक मोटा दृष्टान्त है। वहाँ निमित्त नैमित्तिक भावको बतानेके प्रसगमे यह ही बात दिखी कि तखतका आश्रय पाकर यह बैठ गया। और किसीको तखत न दिख रहा हो और आपका इस समय उस प्रकारका उठना, बैठना दिख रहा है तो ऐसा उठना बैठना देखकर यह ज्ञान होगा कि यह तखतपर बैठा है, यह ज्ञप्तिरूप बात है। निमित्त नैमित्तिकका परिचय हमको स्वभावदृष्टिके लिए यह उमग दिलाता है कि यह विकार तेरा स्वरूप नही, तेरा निरपेक्ष भाव नही, तेरे ही स्वरूपसे उठा हो सो नही, स्वभावभाव नही, किन्तु यह तो कर्मस्वभावसे ज्ञानका होना बन रहा है। ज्ञानका कर्मस्वभावसे होनेका नाम व्रत नही, चारित्र नही, मोक्षका हेतु नही, क्यो नही कि वह द्रव्यान्तरस्वभावरूपसे हो रहा है। ये जो विभाव जग रहे हैं उनको बता रहे है कि ये द्रव्यान्तर-स्वभावसे हो रहे है, अपने आपके स्वभावरूपसे नहो हो रहे हैं। और यही कारण है कि वे सब बंधके हेतु है, मोक्षके हेतु नही।

६१२–जीवका कर्म–

जीवका वास्तविक कर्म क्या ? तो देखो साधारण शैलीमे तो यह उत्तर आयगा कि जीवका जो परिणमन है वह जीवका कर्म है लेकिन एक विशेष शैलीमे यह बतायेंगे कि जीवका जो भी परिणमन है, जो विषम है, जिसकी जानकारीमे जचा कि हुआ काम। काम तो वह कहलाता कि जिसमे जचे यह न था–यह हुआ। इस दृष्टिसे शुभ अशुभभाव ये हैं जीवके कर्म और जीवके शुभ अशुभ भावका निमित्त पाकर जो कर्मबन्धन हुआ वह कर्म, वह पौद्गलिक कर्म पुद्गलका कार्य है। ये जो दो बातें कही गई है कि मिथ्यात्व दो प्रकारका–अजीव मिथ्यात्व जीव मिथ्यात्व। अविरति, कषाय आदिक सब दो दो प्रकार के हैं, पुद्गल कषाय याने कर्म प्रकृति और जीवकषाय मायने ज्ञानविकल्प, यह दो पना यह जाहिर करता है कि यहाँ मात्र निमित्तनैमित्तिक सबध है और जहाँ निमित्तकी बात कही वहाँ स्वय ही यह अर्थ आ जाता है कि यह परका कर्ता नही। जैसे यहाँ भी लोग जब किसीकी प्रशसा करते हैं कि देखो इन्होने इतना ठाठ बना लिया, मढिया बना लिया, यह गुल्जार कर दिया तो वह चाहे मनमे कुछ हो पर कहता तो इसी तरह है कि भाई साहब हमने कुछ नही किया, यह तो हो गया, आप लोगो की कृपा थी। मैं तो निमित्त मात्र था।' तो उसके कहनेमे बात क्या जाहिर हो रही है कि मैंने नही किया, मैं निमित्तमात्र हूँ। तो निमित्त मात्रका अर्थ यह है कि जो उपादानमे कुछ करता नही, किन्तु जिसके असद्भावमे कुछ होता नही उसे कहते हैं निमित्त। तो यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञानका परिणमन तो चलता ही है, चलता ही रहेगा। परिणमन बद न होगा, हाँ अशुद्ध उपादानमे विकार जो होगा वह निमित्तसानिध्यमे है।

६१३–द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुका प्रमाणसे पूर्ण ज्ञान–

वस्तुमे तो द्रव्यत्व और पर्याय ये दो ऐसी खास बात हैं कि एकका निषेध करें तो दूसरेका लोप हो जाता है। पर्याय नही है, ऐसा कोई कहे तो द्रव्यका अभाव हो गया। द्रव्य नही है ऐसा कोई कहे तो पर्यायकी सिद्धि नही। वस्तु तो द्रव्यपर्यायात्मक है। और द्रव्यपर्यायात्मक है तो वस्तुकी पूरी जानकारी द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनोसे होती है, फिर यह एक अपनी बात है कि किसी एक दृष्टिको हम प्रयोजनसे मुख्य करलें जिसमे कि स्वभावाश्रयका काम बनता हो ऐसा किया जाता है, किया जा सकता है। मगर प्रतिपक्षनयको बात स्वीकार करके फिर प्रयोजनवश विवक्षितनयको प्रधान बनाना यह है मार्ग और प्रतिपक्षनयकी बातका विनाश करके बोला तो फिर विवक्षित रहा ही

क्या ? जो नय सोचा उसको एकान्तत मान लेते कि इससे सिद्धि है, पर मार्ग नही मिलता, क्योकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है उसके विरुद्ध सोचा गया।

६१४—एकद्रव्यस्वभाव व द्रव्यान्तरस्वभावसे परिणमनकी प्रक्रिया होनेसे ज्ञानपरिणमनपद्धतिमें बंध-मोक्षहेतुत्वकी व्यवस्था—

यह ज्ञानस्वरूप आत्मा, यह परिणमता ही तो रहेगा। अब ज्ञानका किस तरहसे परिणमना बने कि ससारपरिपाटीका कारण हो जाय और ज्ञानका किस तरहसे परिणमना बने कि ससार सकटोसे छुटकाराका कारण हो जाय। इन दो बातोको यहाँ इन दो कलशोमे बताया गया है। ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना तो है मोक्षका हेतु और ज्ञानका कर्मस्वभावसे होना यह है बधका हेतु, मोक्षका हेतु नही। ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना यह तो बना एक द्रव्यके स्वभावसे, स्वयके खुदके स्वभावसे, और ज्ञानका कर्मस्वभावसे होना यह बना द्रव्यान्तरस्वभावसे, यह शब्द स्वय अमृतचन्द्रसूरिने इस कलशमे प्रयुक्त किया है। जिससे अपनेको अनेक शिक्षाकी दिशायें मिलती हैं। तुम ज्ञानस्वरूप हो, परिणमते रहोगे। परिणमन बिना एक क्षण भी न होगा। अब बस सब यही निर्णय पडा हुआ है कि हमारा ज्ञान किस पद्धतिसे परिणमे कि हमारा आनन्दविलास बना रहे और यह ज्ञान किस पद्धतिसे परिणमे कि कष्ट, दु ख, व्यग्रता ये सारी बाते आ जायें। बस ज्ञान ज्ञानस्वभावसे हुआ, परिणमा, यह तो है आनन्दरूप और ज्ञानका कर्मस्वभावसे होना, यह है सकटरूप। अब अपने आपमे यह परीक्षा करो कि हमारे ये दिन रात किस पद्धतिसे ज्ञानके परिणमनमे गुजरते है। कर्मस्वभावसे परिणमते हुए गुजरते है या ज्ञानस्वभावसे परिणमते हुए गुजरते है ? याने कषायसे लगाव करके, अपनायत करके ये गुजरते हैं क्षण या अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखकर गुजरते हैं ? यह परीक्षा खुदकी खुद कर सकते हैं। यदि क्रोध, अहकार, माया, तृष्णाका रग, ममताकी वासना, ये ही बने रहते है और इनमे हमारा ज्ञान चलता रहता है तो यह है कर्मस्वभावसे होने की बात। कर्मस्वभावसे परिणमननेमे आत्माका हित नही है।

६१५—अपने भविष्यके लिए अपना उत्तरदायित्व जान कर ज्ञानपरिणमनपद्धतिका सुधार करनेका सन्देश—

देख लो जरा कितनी चलती है बाह्यपदार्थोमे ममता, तृष्णाका रग कितना गहरा है, कैसा क्या है, यह बात आप परख लीजिए। है अपनी गल्ती। इस गल्तीको स्वीकार करके यह गल्ती मिटाना है हमको, नही तो परेशान होनेको कोई दूसरा न आयगा। जगतमे कोई मित्र नही है जो मेरा सुधार बना दे—अच्छा परिणमन कर दे। जगतके मित्रोका तो यह स्वरूप है कि जिसकी कषायसे कषाय मिल जाय बस वह मित्र कहलाता है। आपके चित्तमे जिस तरहकी कषाय जग रही है उस तरहकी कषाय दूसरोमे दिख जायें बस आपके दोस्त हो गये। कषायका कषाय दोस्त है। आप खूब अच्छी तरहसे निरखते जाइये, परिवारमे देखलो—जैसी पतिकी कषाय है उस तरहकी पत्नीकी कषाय चल रही, एक समान कषाय मिल रही, घर हमे चलाना, घर इन्हे चलाना, द्रव्य हमे जोडना, द्रव्य इन्हे जोडना, लो इस कषायमे कषायके मिलनेसे एक दूसरेके मित्र बन गए। जगतके मित्रोकी क्या कहानी कहना और विरोध भी यही कहलाता कि कषायसे जिसकी कषाय न मिले। वह और तरहकी कषाय कर रहा, यह और तरहकी कषाय कर रहा, तो वह विरोधी मान लेता, यह मेरा विरोधी है। जगतमे न कोई विरोधी, न कोई मित्र। इसकी तो यह कोरी कहानी है। यहाँ से हटना

है। बहुत दूर चला गया यह उपयोग। आऊँ अपने समीप उतरूँ। अब तो इस ज्ञानस्वभावकी ज्ञानकारीमे आऊँ और रमलूँ, यह ही एकमात्र शरण है। आऊँ, उतरूँ रमलूँ निजमे, यह ही ज्ञान स्वभावमे आनेकी बात है और यह ही मोक्षका हेतु है।

मोक्षहेतुतिरोधानाद् बंधत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

६१६–ज्ञानका कर्मस्वभावसे होनेकी मोक्षहेतुतिरोधायिता–

इससे ऊपरके कलशमे यह बताया गया था कि ज्ञानका कर्मस्वभावसे होना, यह स्थिति मोक्षका हेतु नही है, क्यो नही है ? यह बात इस कलशमे बतला रहे हैं। मोक्षका जो हेतु है उसका तिरोधान होनेसे यह कर्म स्वय बध स्वरूप है अर्थात् शुभ अशुभ विभाव ये ही कर्म ये स्वय बधनरूप हैं, क्योकि ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे भवन यहाँ नही है, किन्तु जो कर्मोदय है, उसका प्रतिफलन है, उसके अनुरूप इसमे विकल्प जगे हैं तो ये कर्मस्वभाव रूपसे ज्ञानका होना बन रहा है। तो इस प्रकारकी जो परिस्थिति है याने अपने सहज ज्ञानस्वरूपके आश्रयसे जो कुछ अलगाव है, उसमे जो विभाव है वह तो मोक्षके कारणका तिरोधान करता है अर्थात् उस ज्ञानविकासका वहाँ तिरोभाव है, वह तो विभावमे लग गया सो वह बधनरूप है और मोक्षके हेतुका तिरोधायी है याने तिरस्कार करनेवाला है, इस कारण वे कर्म निषेध्य हैं, मायने शुभ अशुभ सभी कर्म हेय हैं, भले नही है। मेरेको भला मेरे सहजस्वभावकी दृष्टि है। जगतके जीव जब जब जो जो दुःख पाते हैं वे दुख क्या हैं, कष्ट क्या हैं ? अपने सहज स्वभावके आश्रयसे चूँकि नही हुए हैं ना ? तो कष्ट पा रहे, व्यग्र हो रहे। जैसे कोई मछली अपने रहने के घरसे याने जलसे किसी कारण अलग फिक जाय और रेतमे, धूलमे कही पहुच जाय तो अपना धाम तज दिया तो जैसे वह व्यग्र होती है, ऐसे ही उपयोग जब अपने स्रोतको तज देता है, मायने सहजस्वभावकी सुधसे अलग होता है, दूर पड गया। वह दूर परतत्त्व क्या है ? परभाव स्वभावसे हटकर परभावमे चला गया तो वह तो व्यग्र हो गया, तकलीफ हो गई और प्रकृत्या यह सब कुछ बात होगी। और, ऐसी स्थिति जो है वह मोक्षके हेतुका तिरस्कार करने वाली है। मोक्षका हेतु तो ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना, बस यह परिणति है। तो इसका तिरोधायी होनेके कारण ये समस्त विभाव पुण्य हो, पाप हो, पुण्यकर्म हो, पापकर्म हो ये सबके सब निषेध्य किए जाने योग्य है।

६१७–ज्ञानपरिणमनके प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदि–

देखिये कुछ अपनी अपनी पदवीकी भी बात है। श्रद्धामे शुभभावका पूर्ण निषेध करना, प्रवृत्ति मे निषेध नही बनता। वह तो प्राथमिक दशामे है, उसके शुभोपयोगका प्रवृत्तिमे निषेध नही बन पा रहा, मगर श्रद्धामे निषेध है, यह स्वभावभाव ही मोक्षका हेतु है, इसका सही भवन होना। यह किसी भी प्रकारका जो कर्मस्वभाव है, मायने कर्मके प्रतिफलनमे जो लगाव है, भाव है, इस रूपसे ज्ञानका होना यह मोक्षका हेतु नही है। हा तो क्या रहा मोक्षका हेतु ? ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना, इस तथ्यको भेददृष्टिसे तीन रूपोमे रखते हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ज्ञानका समीचीनपना याने विपरीत अभिप्राय जहाँसे निकल गया, ऐसी ज्ञानकी जहाँ स्वच्छता आयी, उस स्वच्छतारूपसे होना यह है सम्यग्दर्शन। इसका तिरस्कार करने वाला कौन ? मिथ्याभाव, मिथ्यात्व और मिथ्याभावका निमित्तभूत मिथ्यात्वप्रकृति। हुआ क्या ? वहाँ ही एक अतत्त्वश्रद्धानरूपसे परिणमन। जैसे—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये क्या चीज है ? ज्ञानका जीवादिक अतत्त्वके

श्रद्धान रूपसे होना सम्यग्दर्शन है। ज्ञानका जीवादिक ज्ञानस्वभावसे होना सम्यग्ज्ञान है, ज्ञानका रागादिक परिहारके स्वभावसे होना मायने ज्ञानमे स्वयं रागपरिहरणका स्वभाव पडा है, ज्ञान तो ज्ञानरूप है, ज्ञातारूप है, उसमें रागभावका स्वरूप नही है, तो रागादिकके परिहारके स्वभावसे होना इसे कहते हैं सम्यक्चरित्र। तब फिर मिथ्यादर्शन क्या ? इस ही ज्ञानका मिथ्यात्व कर्मस्वभावसे होना सो हुआ मिथ्यादर्शन। इस ही ज्ञानका अज्ञानभावसे होना सो हो गया मिथ्याज्ञान, इस ही ज्ञानका रागादिक विकल्पसे लगाव रूपसे होना सो हो गया मिथ्याचारित्र। कर्मस्वभावसे होना इसमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचरित्र, ये तीनो आ जाते हैं और ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना, इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र तीनो आ गए। भेदविवक्षासे निरखा जा रहा है।

६१८–जीवमें श्रद्धान ज्ञान आचरणको शाश्वत प्रवर्तमानता—

जीव श्रद्धान, ज्ञान, आचरण बिना कहीं भी नही रहता, किसी भी परिस्थितिमे हो, ससारी स्थितिमे हो, मुक्त स्थितिमे हो, कहा जायगा सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र गुणका परिणमन होता ही रहता है, और देखो—सब इस समय भी नजर आयगा। आप जो कार्य करते हैं उनमें विश्वास साथ है, जानकारी है, उस प्रकारकी प्रवृत्ति है, इसीके मायने है कि आप जो भी कार्य कर रहे हैं उसमे तीनो साथ लगे हैं—श्रद्धान, ज्ञान, आचरण। रोगी वैद्यसे दवा लेता है तो उसके प्रति एक श्रद्धान है कि इससे मेरी तबियत ठीक हो जायगी, इसने अच्छी दवा दी है। उस दवाका ठीक-ठीक ज्ञान है, उसकी विधि का ज्ञान है, और फिर खाता है, उसकी प्रवृत्ति करता है, लो ये तीनो कार्य वहाँ किये ना ? कहाँ नही होता श्रद्धान, ज्ञान, आचरण ? व्यापार करते हैं लोग। श्रद्धान साथ है ना कि ऐसा ऐसा ढग बनाना यह लाभदायक है, उसका ज्ञान भी है और उस रूप चेष्टा भी करते है, तो आत्महितमें मोक्षमार्गमे भी तदनुकूल श्रद्धान, ज्ञान, आचरण काम करता है। ज्ञानका एक बडे सहज स्वभावरूपमें श्रद्धान रूपसे परिणमन होना सम्यग्दर्शन, इस ज्ञानका जानकारीरूपसे मात्र जाननरूपसे जो ज्ञानकी वृत्ति है वह है ज्ञान। ज्ञान तो ज्ञान ही है, राग राग है। रागमे ज्ञान नहीं, ज्ञानमें राग नही, स्वरूप उनका जुदा है, सो उस रागादिकके परिहार स्वभावसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यक्चारित्र, ये ही मोक्षके हेतु हैं, इसका तिरोधान कर दिया मिथ्याभावने, मिथ्याज्ञानने, मिथ्या आचरणने इसीसिए इनका निषेध किया जाता है। ये परभाव हैं।

६१९–परभावका परिचय—

परभावका अर्थ है, पर पदार्थका निमित्त पाकर होने वाला भाव, निमित्त नही करता हैं इस भावको, क्योकि वह जो नीति है, स्वरूप है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही करता वह अलंघ्य है, तो दो ही द्रव्य हैं सामने निमित्त और उपादान, तो निमित्त उपादानकी परिणति नहीं करता फिर निमित्त कैसे कहते हैं ? बस निमित्तके सन्निधानका ऐसा ही कोई सम्पर्कजभाव उदित हुआ है या एक वातावरण बना है कि वहाँ यह अशुद्ध-उपादान अपनी परिणतिसे राग विकाररूप परिणम जाता ऐसा वह कर्मोदयके अभावमे नही परिणमा। कर्मोदयका सन्निधान पाकर परिणमा। जैसे दर्पणमे फोटो आया तो उस फोटोको सामने जो हाथ या मुख है उसने नही कर दिया, वह फोटो या मुख तो मुखकी जगह है, अगर मुख दर्पणमे पहुंच जाय और दर्पणकी परिणति करने लगे तो यह मुख नदारत हो जायगा, यह मर जायगा, फिर काहेका दर्पण और काहेका देखना ? यह मुख दर्पणमे नही गया, दर्पणकी परिणति मुखने नही की, मगर उस समय यह स्थिति हैं कि मुखका सन्निधान

पाकर दर्पणने अपनेमे प्रतिबिम्ब रूप परिणमन बनाया, ऐसा ही परिणमन मुखके सामने आये बिना नही हुआ करता है, क्योकि वह उसी के अनुरूप तो परिणाम है । सो यद्यपि निमित्तनैमित्तिक भावमे कर्तृकर्मत्व रच भी नही हैं, मगर ऐसा ही योग है कि उस निमित्तका सन्निधान पाकर उपादान अपनी परिणति बनाता है, यह ही कहलाता है निमित्तनैमित्तिक योग । पूर्वबद्ध कर्म आ रहे हैं । कर्मसिद्धान्तका बहुत अधिक अध्ययन भी आवश्यक है । उससे बहुत स्पष्ट जानकारी होती है कि देखो यह बात कर्ममे कर्मकी चलती है ।

६२०—शुद्धभावके सान्निध्यमे कर्मप्रकृतियोमे प्रभाव—

जब जीवके शुद्धभाव होता है तो उसका निमित्त पाकर कर्ममे भी कितनी गडबडी चलती है । कैसे वे कर्म निर्जीर्ण होते हैं, उनकी बात कर्ममे पायी जाती, पर जीवके शुद्ध परिणामका निमित्त पाकर हो रहा यह सब कर्ममे निर्जरण । कैसे होता ? यो झट नही फूट जाते कर्म । झट नहीं निकल जाते कर्म । कर्ममे जो लम्बी स्थिति पडी है तो प्रथम जो अन्तर्मुहूर्त है इससे ऊपरके अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिमे से कुछ कर्मनिषेककी स्थिति बदलती है और करीब एक त्रिभाग छोडकर कुछ अधिक दो त्रिभागमे वे निषेक मिल जाते याने उन जैसी स्थिति हो जाती इस तरह बढते-बढते जब आवली प्रमाण निक्षेप हो जाता है तब और ऊपरके नवीन निषेक निक्षेपोमे बढते जाते है, निषेक निक्षेप बढते जाते, अतिस्थापनायें सरकती जाती, अन्तमे एक फाली रहती वह भी किसी प्रकारसे सर्वसक्रमणसे बदल जाती । इस प्रकार आत्माका एक प्लेटफार्म क्लियर हो जाता हैं । उसका निमित्त है जीवका शुद्ध-भाव । तो निमित्त नैमित्तिक भाव जहाँ हैं वहाँ अर्थ यह ही है कि एक दूसरेका कर्ता नही, पर उसके सन्निधानमे उपादान परिणम गया । यह ही बात हो रही इस मोक्षके हेतुका तिरोधान करने वाले भाव मे ।

सन्यस्तव्यमिद समस्तमपि तत् कर्मैव मोक्षार्थिना, सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्, नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरस ज्ञान स्वय धावति ।।१०६।।

६२१—समस्त कर्मकी सन्यस्तव्यता—

सभी कर्म याने ज्ञानस्वभावके आश्रयके सिवाय होने वाली जितनी परिणतियाँ है वे सभी कर्म त्यागने योग्य हैं । जब एक यह बात आयी, परिस्थिति हुई कि मोक्ष चाहने वाले पुरुषको सभी प्रकारके कर्मोका सन्यास करना चाहिए तो उस समय फिर पुण्य और पापकी जुदी-जुदी कथा ही क्या है, एक अपने सहजभावका अनुभव, प्रतीति, ज्ञान, स्मरण, वही उसका सर्वस्व है । लोग कहते हैं परमपिता परमेश्वर । वह परमपिता परमेश्वर कहाँ हैं बाहर ? दूर कहाँ है । पिता कहते हैं रक्षकको । परमरक्षक मेरा कौन ? मेरा परमरक्षक मेरा स्वरूप । इस ज्ञानको इस स्वरूपको कोई कैद कर सकता क्या ? कोई बाधा डाल सकता क्या ? भले ही किसीके कुबुद्धि जगो—और किसी ज्ञानीको कैद कर दे, तो भला शरीर पडा है कारागृहमे—पर ज्ञानविकासको, ज्ञानविलासको कोई कैद कर सकता क्या ? वह अपने आपमे सहज बिलसित है । यह ज्ञान जो सम्यक्त्व आदिक निज स्वभावसे हो रहा । ज्ञानमात्र आत्मा कहो तो जितना विलास, जितनी भी चीज परिणति होगी वह सब इस ज्ञानमे ही तो घटित होगा । भेदविवक्षासे अनन्त गुण व उनकी प्रत्येककी पर्याय हैं सो अनन्त पर्याय हैं, फिर भी ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वको जब ज्ञानमात्र अभेदरूपमे देखा तो कुछ भी पर्याय हो, वह इस ज्ञानमात्र आत्माकी अखड पर्याय है । सम्यग्दर्शन होना वह भी ज्ञानका सम्यक्त्व स्वभावसे हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ तो वह भी ज्ञानका

ज्ञानस्वभावसे होना हुआ, सम्यकचारित्र हुआ तो वह भी ज्ञानका विकार परिहार स्वभावसे होना हुआ। तो इस प्रकार सम्यक्त्वादिक अपने स्वभावरूपसे होनेके कारण यह ज्ञान मोक्षका हेतु है।

६२२—ज्ञानमयभावकी नैष्कर्म्यप्रतिबद्धता—

यह ज्ञान नैष्कर्म्यमे प्रतिबद्ध है। जहाँ जाननमात्रकी ही बात चल रही है वहाँ कोई कर्म तो नहीं है। कर्मरहित परिस्थितिसे वह प्रतिबद्ध है। कर्म मायने ये शुभ अशुभ भाव, ये चेष्टायें। अथवा कर्म मायने निमित्तदृष्टिसे पौद्गलिक कर्म। इन कर्मोंसे, इन परिणतियोसे रहित जो एक अवस्था है उसमे यह नियत जो नियत्रित है, प्रतिबद्ध है, ऐसा यह ज्ञान अपनी उज्ज्वल तरगोसे अपने एक उद्धत रसके रूपमे शीघ्र दौड आता है, एकदम स्पष्ट सामने आता है। अपना यह ज्ञान अपनी नैष्कर्म्य अवस्थामें ही रहता है। देखिये सारी करामात उपयोगमे है। उपयोग जहाँ लगा है वहाँ उपयोग तन्मय है और उसीमे ही बात कही जाती है। मुमक्षु ज्ञानीके करणानुयोगकी दृष्टिसे अभी अनेक कमियाँ चल रही हैं। चल रही अबुद्धिपूर्वक। कर्मविपाकका प्रतिफलन होना अनिवारित है। तो वहाँ बुद्धिपूर्वक रागद्वेष नही है इसकी ही चर्चा द्रव्यानुयोगमे चलती है। और कर ही क्या सकते हैं, बुद्धिपूर्वक पौरुष अपना अन्य बन ही क्या सकता है? यह ही तो ना? परद्रव्यमे क्या पौरुष और उस कर्म विपाकका प्रतिफलन होना यह तो आत्माकी एक कलाकी बात है, एक उसके गुणकी बात, गुणविकासकी ही बात है। जो हो सो आया ज्ञेय प्रतिफलनमे। अब वहाँ जो प्रतिफलनके साथ ही जितना मालिन्य हुआ वह अबुद्धिपूर्वक हैं। और जब यह उपयोग बाहर विषय साधनोमे पड़ा है तो वह विकार बुद्धिपूर्वक विकार है।

६२३—निमित्तकारण व आश्रयभूत कारणमें विवेक करनेका अनुरोध—

यहाँ तीन प्रकारसे कारण जानना—उपादान, निमित्त और आश्रयभूत। आश्रयभूत समस्त पदार्थ हैं, जिन-जिनमे हमारा उपयोग लगे और निमित्त है केवल कर्मप्रकृतिका उदय। निमित्तके साथ नैमित्तिकका अन्वय व्यतिरेक सम्बध नही और तब ही यह बात सामने आती है कि भला यह जीव समवशरणमे गया और इसे सम्यग्दर्शन नही हुआ। अरे समवशरणमे जाना यह सम्यग्दर्शनका निमित्त नही है, किन्तु है क्या? दर्शन, जिनबिम्ब दर्शन यह सम्यग्दर्शनसे निकट पूर्व होनेवाले शुभोपयोगके लिए आश्रयभूत कारण हैं। जिनबिम्बदर्शन आदिक ये सम्यक्त्वके आश्रयभूत कारण कभी नही हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यकचारित्र शुद्धोपयोग आदिक जो हैं ये सब निर्मल बाते है। ये अशुभोपयोगके बाद कभी नही होते ये सब शुभोपयोगके अनन्तर होते है। और इसीके अनन्तर होनेके कारण शुभोपयोग परम्परया कारण है, उसका अर्थ यह ही है, तो वहाँ यह बात समझना कि जिनबिम्बदर्शन वेदनानुभव या अन्य अन्य चीज सो सम्यक्त्वके निमित्त कारण हैं यह शब्द दिया गया है धवलकी छठी पुस्तकमे जहाँ यह चूलिका दी गई है वहाँ यह सब बताया गया है कि उस गतिके जीवमे सम्यक्त्वके इतने निमित्त हैं, इनमे ये निमित्त हैं, ऐसा कहा जाता है, पर विवेक यह करना कि सम्यग्दर्शनसे पहले होनेवाले शुभोपयोगके लिए ये आश्रयभूत कारण है, उस शुभोपयोगके भी निमित्त कारण नही, जिनबिम्ब-दर्शनादि। सम्यक्त्वका निमित्त कारण तो मोहनीयकी ७ प्रकृतियोका क्षयोपशम आदि है, दर्शन मोहनीय की ३ व अनतानुबधी नामक चारित्र मोहकी ४ प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम है। जो सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक है वहाँ उनमे से एक सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय है। कैसी स्थिति बनती है देखो अब शुभोपयोगमे कि ज्ञानावरणका क्षयोपशम है साथ ही कुछ राग शुभ है उसका आश्रयभूत

कारण होता है। सम्यक्त्वका आश्रयभूत कारण बाहर नहीं। सम्यक्त्व तो स्वके आश्रयमे ही होता है। तो शुभोपयोगके आश्रयभूत कारण भी क्या हैं ? उपचरित कारण हैं। जहां निमित्त शब्द आये वहां इतना विवेक करना चाहिए कि यह आश्रयभूतकारणके लिए कहा गया या वास्तविक निमित्तके लिए कहा गया। आश्रयभूत कारण उपचरित कारण है, आरोपित कारण है, उपयोग जुटे तो कारण कहलाये, न उपयोग जुटे तो कारण नही कहलाता, पर वास्तविक निमित्तकी यह बात नहीं। उसका कोई उपयोग ही नही कर पाता, एकेन्द्रियके भी कर्मप्रकृतिका उदय है। वहां तो कुछ सुना, समझा ही नहीं है। मनुष्योंमे कुछ जैन लोग बात करते हैं, उस कर्मको चर्चासे, आगमसे, युक्तिसे जान करके बाहर प्रकट करते हैं। वहां तो ऐसा ही योग है। जब विपाक हो तो प्रतिफलन हो। तो कर्मोदय वास्तविक निमित्त है। इसके साथ अन्वयव्यतिरेक संबध है, वह आरोपित कारण नही है, आश्रयभूत कारण आरोपित कारण क्यों है, यों कि उसके साथ विकारका अन्वय व्यतिरेक नही।

१२४–ज्ञप्तिके साध्य साधन भावको उत्पत्तिके साध्य साधन मान लेनेका अविवेक तज देनेका अनुरोध—

अब ज्ञप्तिकी बात देखिये–रागविकार होता, उसे देखकर कर्मोदयका ज्ञान किया कि इसके कर्मोदय है, इस जातिका कर्मोदय था तब ही तो ऐसा वह रोया, तब ही तो वह बडा विह्वल हुआ। तो उसका रागविकार देखकर जो कर्मोदयकी जानकारी होती है सो ऐसी जानकारी होना इसे कह लीजिए एक ज्ञप्ति। सो एक ज्ञप्तिका तो परिचायक बना यह रागविकार, किन्तु उसका उद्भावक निमित्त कारण कर्मप्रकृतिका उदय है। दो प्रकारके कार्य होते–ज्ञप्ति और उत्पत्ति। उत्पत्तिकी बातें कहेगे तो यह कहना पड़ेगा कि अग्निसे धुवा उत्पन्न हुआ, वहां यह नही कह सकते कि धुवांसे अग्नि उत्पन्न हुई, पर ज्ञप्तिकी बात कहेगे तो यह कहेंगे कि धूम देखनेसे अग्निका ज्ञान हुआ। वहां यह बात नही बनती कि अग्निके देखनेसे धूमका ज्ञान हुआ। तो यहां भी बात हो ज्ञप्तिकी और चर्चा बना दें उत्पत्तिके ढंगकी तो विवाद सम्भव होता है, बात तो करें आश्रयभूत कारणकी और वास्तविक निमित्तकी बात लपेट दें तो विवाद होता है।

१२५–व्यवहारनय व उपचारभाषामे विवेक करनेका अनुरोध—

व्यवहार और उपचरितकी भी जुदी जुदी बात है, ग्रन्थोमे उपचारको भी व्यवहार शब्दसे कहा और व्यवहार शब्दको भी व्यवहार शब्दसे कहा तो जहां जहां यह व्यवहार मिथ्या है ऐसा कथन मिलेगा वहां उपचार वाला व्यवहार ही होगा, व्यवहारनय वाला व्यवहार न मिलेगा। यह उसमे परखनेकी बात है, अब होता क्या है कि व्यवहार नाम उपचारका भी है व्यवहारनयका भी है। तो सारे व्यवहारको जब कह बैठते हैं कि मिथ्या है तो वहां विवाद खडा होता है। खूब सूक्ष्म निगाहसे देखो–मोक्षमार्ग प्रकाशमे या अन्य सब ग्रन्थोंमें जहां जहां व्यवहारको मिथ्यारूप बताया आत्मख्याति टीकामे आदि आदिमे, वहां मिलेगा आपको उपचरित वाला व्यवहार। उपचार वाला व्यवहार किसे कहते हैं ? जहां परस्वामित्व और परकर्तृत्वकी भाषा लादी जाय उसे कहते है उपचार वाला व्यवहार। दो का सम्बध बताने मात्रसे उपचार नही, किन्तु दो का परस्वामित्व और परकर्तृत्व की विधिसे संबध बताये उसे उपचार कहते हैं। और, निमित्तनैमित्तिक व्यवहार बताना यह उपचार नहीं बताया गया और इसको कही भी मिथ्याशब्दसे प्रयोग न मिलेगा। मिथ्या शब्दसे प्रयोग मिलेगा तो बोलेंगे उपचार वाले व्यवहारको। ऐसी, ऐसी सूक्ष्म बातें हैं जिसकी कुञ्जी विदित न होनेसे

साधारणरूपसे कुछ भी कह दिया जाता तो वहाँ ऐसी ही एक बात बन जाया करती है। देखो—एक होता है आकका दूध, कोई एक आध छटाक आकका दूध पी ले तो वह मर जायगा, बच नही सकता। वह तो एक विष है और नाम उसका दूध रख दिया। जैसे गाय, भैंस, बकरी आदिका दूध, वैसे ही आकका दूध। जब काँटा लग जाता है भीतर गहरा तो लोग कहते हैं कि इसमे आकका दूध डाल दो, पककर काँटा निकल जायगा। तो आकका दूध तो विष है मगर उसका नाम धर दिया दूध। अब कोई जगह देखा कि आकका दूध पीनेसे लोग मर जाया करते हैं तो उसे देखकर कोई यह नियम बना ले कि दूध सारे प्राणघातक होते है तो यह नियम लोकमे बाधारूप है, ऐसे ही कितने ही ऐसे तथ्य हैं जिनको आप बारीकीसे निरखें तो, तथ्यका पता पडेगा। स्याद्वादमे विवादका कही स्थान नही है। उसका प्रयोग विधिसे करे।

९२६—ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप निहारकर त्वरित सहज आनंदरस पान करनेका अनुरोध—

भैया और करना ही क्या है ? स्वभावदृष्टि करे, अपने स्वभावमे मगन हो, अपना काम बना लें और बाहर क्या है ? लेवा मरे या देवा, बल्देवा करे कलेवा, क्या पडी है ? इतना ही तो प्रयोजन है, स्वभावाश्रय करें। यह उपयोग बाहरमे भटक-भटककर परेशान बन गया। इसकी परेशानी मिटावो। वहाँ से हटकर अपने सहजस्वरूपमे इसको लायें, यह ही तो कार्यकारी है। यह सब करें, विवादसे क्या लाभ मिलेगा ? यदि विवाद हो जहाँ कषाय बनती हो, कोई बात आती हो तो आज निश्चय समझें कि उसको स्वानुभव न जगेगा, क्योकि कषायका आग्रह बन बैठता है, तो ऐसे आग्रहको छोडें—हमे तो अपना काम करना, अपने स्वभावदृष्टिमे रहना, ऐसा एक भीतरमे भाव बनानेसे अपना लाभ है। तो इसीकी बात कही जा रही कि यह स्वभावभाव, इसका आश्रय, इसका विकास, इसका विलास, याने ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होना यह है एक व्रत, सम्यक्चरित्र, परमार्थसयम यह है मोक्षका हेतु, और अन्य विभावोमे उपयोगको फसाना, जुटाना, यह तो साक्षात् बन्धन है और क्लेश भी है, वह मोक्षका हेतु कैसे हो सकता ? इस तरह-इस ज्ञानस्वरूपको निहारनेपर एक नैष्कर्म्य दशा बनती है और उस नैष्कर्म्य दशामे जब ज्ञान प्रतिबद्ध हुआ तो इसका रस ऐसा अनुभवमे आता कि बस यह ही स्थिति है वह जो भव-भवके बाँधे हुए कर्मोकी निर्जराका निमित्त बनता है यह ही लाभकी बात है। बाहरमे क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय तृष्णा, इनका लगाव, इनकी प्रीति, इनमे अपना समय गँवाना है। कितने क्षणोका समय रह गया इस दुर्लभ मानवजीवनमे ? उस समयको व्यर्थ क्यो खोया जा रहा है ? अपने उपयोगको अपने स्वभावमे लगावो। एक यह ही काम पडा है जीवनमे करनेको। इसको ही करने की हमारी वृत्ति होनी चाहिए।

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यक् न सा, कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः। किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

९२७—वास्तविक विपत्तिकी समझ न बननेकी महती विपत्ति—

अपने आपमे विचार करना है। अपने लिए सोचिये मुझे सदाके लिए कष्टहीन होना है या नही ? अपने आत्मापर दया करके कुछ चिन्तन करें। यह ससारका ठाठ सदा नही रहनेका। कुछ ही समयमें या तो स्वय ही इसका विलय हो जायगा या उसे छोडकर चले जाना होगा। इस ससारमे पुण्यके उदयसे कुछ धन वैभव आदिक मिले हैं तो ये सब तो पुद्गल है। मेरे स्वरूपका वहाँ रच भी काम नहीं। उनसे मेरा कुछ काम नही बनता। सब विकट कल्पनाजाल, मायाजाल है। इसके दिल मे

ख्याल न हो और बिना प्रयोजन सुखी दुःखी होनेका अहकार न हो । ये सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, और, जो समागममे आये हैं परिजन, मित्रजन, बधुजन जो कुछ भी है ये सब स्वतत्र जीव हैं । आपके आधीन नही, उनके आधीन आप नही । जिसने जैसा कर्म उपार्जित किया उसके अनुसार यह जीव फल भोगता है । कभी मनुष्य बनें, कभी पशु पक्षी बने, ऐसी नाना स्थितियाँ जो नजर आ रही हैं यह पूर्वबद्ध कर्मका विपाक है । सबसे बडी विपत्ति है कर्मका लदान और उसका निमित्त पाकर जो जीवमे नाना तरहकी कल्पनायें दौडती हैं पर वस्तुके बारेमे यह भला, यह बुरा इस तरहकी कल्पनाएँ दौडती हैं, यह महान विपत्ति है । भले ही मोही जीव ससारके कुछ सुख मौज पाकर यह महसूस न करे कि मुझपर विपत्ति है, मगर यह तो बताओ कि फिर प्रभुमूर्तिके समक्ष क्यो आते ? ये मोही जीव भले ही धर्मके नामपर, कुल परम्पराके नामपर भगवानकी मूर्तिके दर्शन करने आते, मगर भीतरमें यह ही विष भरा कि भगवान तो बेचारे हैं, बडे तो हम है, ऐसी एक भीतरमे वासना पडी है । कैसा हम भगवानकी पूजा करके अपना काम निकाल लेते हैं, होशियार तो हम हैं, हम भगवानकी भक्ति करते हैं और वैभव पाते हैं, मुकदमेमे विजय पाते है, अच्छी सतान पाते है, मैं बडा हूँ, मेरे सब कुछ पुण्य है । भगवान तो एक हमारे कामके लिए निमित्त हैं, ऐसा जानकर सम्भव है कि मोहीजन भगवानसे भी अधिक अपने आपको स्वीकार कर लेते हैं । ससारके जो सग प्रसग मिले हैं, उनमे बेहोश मत बनो, नही तो दुर्दशा होगी । आज पुण्यके उदयमे भले ही यह अनुभव न करें कि मेरा इसमे बिगाड है मगर कर्मबन्ध बराबर चल रहा । जैसा मोह है, जैसा राग है, जैसी वासना बनी है, वैसा कर्मबन्ध चल रहा और वे उदयमे आयेंगे, फल प्राप्त होगा । दुःखी होना पडेगा, सो अपने आत्माको जरा सावधान बनाना और जिसमे आत्महित है सो करना । कोई कष्टकी बात नही कही जा रही, जिसमे कष्ट हो वह काम जरा भी न करना जिसमे आनन्द मिलता है, सही आनन्द मिलता है वह काम तो अवश्य करना चाहिए ।

६२८—अपने लिये अपनी महत्ता व उत्तरदायिता—

सोचिये अपने लिए, मेरे लिए बडा कौन ? अपना खुदका आत्मा । खूब सम्हलकर जावो, सबकी शरण लो, सबको बडा मानो, कदाचित् लोकमे कोई बडा कार्य भी बन रहा हो किसी बडेके द्वारा तो वह भी आपके लिए बडा नही है । आपका जो पुण्योदय आया है उस कार्यके लिए वह पुण्योदय बडा है । किन्तु फिर अपनेको सदाके लिए शान्ति मिले, ससार सकट टलें, ऐसे कामके लिए बडा कौन ? अपना आत्मा । अपना आत्मा अपने लिए बडा है, अपना आत्मा अपने लिए शरण है, श्रेय है, सारभूत है, इसके सिवाय और कोई भी वस्तुका सहारा इसके लिए कार्यकारी नही है, अपने लिए आप ही बडा । क्यो बडा है कि शान्ति मिलेगी तो अपने आधारसे मिलेगी, दूसरेके आधारसे शान्ति न मिलेगी । कोई कष्ट आये, इष्टवियोग हो जाय, कोई बडी हानि हो जाय, जिसमे बडे विह्वल हो रहे हो, दूसरा आदमी कितना ही समझाये, पर वह दुःख दूर नही होता और अगर आपकी समझमे आ गया कि क्या है ? बाह्य पदार्थ है, रहा तो क्या, न रहा तो क्या, मेरा जो सर्वस्व है वह तो सदा मेरे साथ है, ऐसा जब समझ गए तो आपकी आकुलता मिटेगी, दूसरेके पुरुषार्थ से, प्रयोगसे, उपदेशसे आपको शान्ति नही मिलती, इसलिए आपके लिए आप ही बडे हैं, मगर कब बडे हैं, यह भी ध्यानमे दें । जब अपने आपके स्वरूपकी सुधलें कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है और यह ज्ञान अपने ज्ञान-स्वरूपको जानता रहे, ज्ञान ज्ञानस्वभावरूपसे परिणमता रहे, इसमे कोई विभावकी डली न पडे, बाह्य

पदार्थका यहाँ पत्थर-ढेला न आये, तरग न बने, केवल ज्ञानस्वरूप आत्मामे मात्र ज्ञाता रहे, यहाँ अन्य कोई तरग न उठे, ऐसी स्थिति बने वहाँ आप सचमुच महान् हो गए ।

९२९—बाह्य असार पदार्थोका लगाव तजकर अन्तस्तत्त्वकी उपासना करनेका संदेश—

भैया, बाहरी पदार्थोको तजना ही होगा । पुण्यपापके अनुसार जो बनना है, वह ससारसे होता है । आप तो अपने भावके स्वामी है, बाहरी घटनाके स्वामी नही । जैसा आपका भाव है, जैसा कर्मबन्ध हुआ, जेसा उदय वैसा योग मिलता है, इसमे आपका कुछ अधिकार नही, आप अपने भाव सम्हाले, शुद्ध बनें, किसीके प्रति विरोधकी भावना न रखे । सबके प्रति इस प्रकारका भाव रखें, आपको बडा लाभ होगा । जो जीव कदाचित आपका कोई बिगाड कर रहा हो, करता नही है बिगाड, पर मानते तो हैं । किसीने कोई तकलीफ़ दी हो और उससे हिम्मत करके आप बोल तो दो, वह आपका शत्रु न रहेगा, वह आपका परम मित्र बन जायगा । मगर खुदमे कषाय भरी है कि मैं क्यो इससे अच्छा बोलू ?…अरे भगवान आत्मा तो वह भी है, जरा हिम्मत तो बना लो, इसी को कहते हैं क्षमाभाव । आप अगर छोटेके पास जायें, उससे सद्वचन बोले और नम्रताका व्यवहार करें तो यह कहलायगा गुण और विवश होकर जाना पडा तो वह कोई गुण नही है, वह तो परिस्थितिकी बात है । महत्ता तो आपकी इसमे है कि जो आपसे छोटा है उसके प्रति नम्रताका व्यवहार करे, उसके भगवत् स्वरूप को जानकर उसका आदर करे, नम्रता करें वह तो आपका सेवक बन जायगा जिसपर कि आप विरोध करते । जगतमे कोई आपका विरोधी नही, आपही अपने आप अपना विरोध कर रहे, मायने अपनेमे जो कषाय उठती है, उसकी आज्ञामे चल रहे हैं, उस कषायसे लगाव रख रहे हैं । कषायको छोडना नही चाहते इसी कारण बाहरमे मन, वचन, कायकी चेष्टा विपरीत बनती है, दु ख होता है । स्वरूपदृष्टि करें, आपके लिए आप ही महान हैं । अंतं स्वरूपकी परख बनावें, ज्ञानमात्र, ज्ञान ज्ञान ही मेरा सर्वस्व वैभव है, केवल बात कहकर नही रहना है । एक क्षण भी यह स्वरूपकी बात उपयोगमे क्यों उतरती नही ? चित्तमे तो यह बसा कि मेरे लिए मेरा पुत्र सब कुछ है, मेरे लिए मेरा घर सब कुछ है, चित्तमे तो यह बात बसी हो और चाहे कि हम ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका स्वाद लेवें, मोक्ष-मार्ग बना ले, सदाके लिए जन्ममरणके सकटोसे छूटनेका उपाय बना लें, तो यह बात यो बन नही सकती । एक बडी हिम्मत बनानी होगी । सर्व पौरुषपूर्वक अपने आपके अन्त बसे हुए भगवान सहज परमात्म तत्त्वके लिए अपना सब उपयोग समर्पित कर दें, ऐसा साहस हो तो वह ससारसागरसे पार हो पायगा । केवल गप्प करने मात्रसे ससारसे पार नही हुआ जा सकता सो जानना, अपनेको किस तरहसे बनायें, हुवाये, याने खुद किस तरहसे हो तो मोक्षका कारण बने और यह खुद किस तरह बने तो यह ससार बधनका कारण बने ?

९३०—अपने ज्ञान विलासपर ही समस्त भविष्यकी निर्भरता—

आपके भविष्यकी सारी बात आपके ही आधीन है, दूसरेके अधीन नही । देखो निर्णय बनाओ मैं जो कुछ अपने आप हू सो ही मैं हू । क्या ? केवल ज्ञान-ज्ञान मात्र, ज्ञानज्योति, ज्ञानप्रकाश, इसके अतिरिक्त मेरा कुछ भी वैभव नही । सो यह ज्ञान केवल एक जगमगाता हुआ, ज्ञानविलास करता हुआ बस जानने भरकी वृत्तिमे रहे और कोई रागद्वेषके ख्यालके विकल्पके तरग न उठें, ऐसा ज्ञान बने तो मोक्षका मार्ग मिले । और जो कर्म उदयमे आये, जिसके विपाक प्रतिफलन होते और इसमे रम गया और उसके स्वभावसे चली इच्छा, तो ऐसे कर्मरूप स्वभावसे अपने ज्ञानका परिणमन किया तो

वह संसारमें रुलेगा। तब क्या होना चाहिए। इन कर्मोंसे विरक्ति होनी चाहिए, और अपनेमें केवल कल्पनायें जगती, कषायभाव विभाव होते, वे उसकी परिपाटीके हेतु हैं, परभाव हैं, ये मुझे नहीं चाहिए, इनसे निराला रहना है और अपने अन्तः परमात्मस्वरूपमे लगना है। लेकिन उस कर्ममे लिपटकर जो जिन्दगी गुजारता है वह अपने जीवनको व्यर्थ खोता है। बाहरी परभावोंमे लगाव लगाना बिल्कुल व्यर्थ है क्योकि वह आपका कुछ है ही नही। बताओ आप यहाँ मंदिरमे आये तो आपका घर आपके साथ चिपककर तो नही आया, आपका वैभव आपके साथ तो नही आया, आपके लडके बच्चे स्त्री वगैरह, सब अपनी-अपनी जगह बैठे है। वे कोई चुम्बककी तरह खिचकर आपके पास तो नही आते, आपके पीछे लगे तो नही फिरते। आपका कुछ है क्या, मगर आपने झूठा ख्याल बना रखा है कि ये मेरे हैं। जैसे आपने किसीके प्रति कुछ अनुचित काम कर डाला और आपसे एक विछोह हो जाय तो आपमे एक पछतावा आता कि नही कि बिना विचारे ऐसी प्रवृत्ति कर दिया। जैसे आपके घरका कोई दादा बाबा बडा है और आप उसे सताते हैं, मारते पीटते, गाली देते, निरादर करते, मानो वह गुजर गया, कुछ समय बाद आपको अकल आयी, ओह मैंने व्यर्थ ही कष्ट दिया। ऐसे ही इस संसारमे जो भी चेष्टायें हो रही है वे सब अज्ञानभरी चेष्टायें हैं, व्यर्थकी चेष्टाये हैं, आपको पछतावा आयगा कि व्यर्थ ये चेष्टायें की। आपका कोई बडा इष्ट हो, बडा प्रेम किया हो, खूब आनन्द से (मौजसे) रहते हो, पर जब उसका वियोग हो जाता तो पीछे ध्यान होता कि अरे मैंने व्यर्थ ही राग किया। जिन्दगीके इतने दिन व्यर्थ गए तो ऐसे ही इन सारी चेष्टाओंके प्रति ज्ञानके जगनेपर बडा पछतावा होगा, अरे मैंने अनन्तकाल यो ही व्यर्थ गमा दिया। तो वास्तविक जीवनकी बातें समझ लो—व्यर्थ मे जीवन न गुजारें।

६३१—कर्मधारा व ज्ञानधाराके बहनेपर भी उनमे भेद करनेकी कलाका प्रभाव—

सोचिये अब, क्या करना चाहिए? जो कर्म आये हैं, कर्मका जो एक रस चढ गया है, जो शुभ-अशुभ कल्पनायें जग रही हैं, जो कषायें हो रही है उनसे अत्यन्त विरक्त होना है। वह तो बडी ऊँची दशा है, जैसे कोई ११ वाँ १२ वाँ गुणस्थान या अरहत सिद्ध भगवान, वे उनसे पूर्णरूपेण विरक्त हुए, किसी भी अशमे अब राग नही है। ऐसी स्थिति जब तक ज्ञानीको प्राप्त नही होती तब तक ज्ञानमे दो धारायें चल रही हैं और उनमे समय-समयपर कभी कर्मकी विजय होती, कभी ज्ञानकी। अन्तरमे निरन्तर ज्ञानकी ही विजय है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवके यह ज्ञान बना रहता है कि मैं इस सब देहफदसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूँ फिर भी पूर्वबद्ध कर्म उदयमे आते हैं, विभाव बनते हैं, ये दो धारायें बनती हैं, मिश्रपरिणाम चलते हैं फिर भी कोई हानि नही। ज्ञानधारा तो साथ है। वह तो बिल्कुल मिटी नही। तो आपकी सुध, अपने आपके आत्माका ज्ञान जब हो गया है तो विजय इसकी होगी, कर्मकी विजय नही होती। सो दोनो स्थितियोमे यह निर्णय करें कि जो भीतर ज्ञान उछल रहा है वह तो है मोक्षका कारण और जो यह रागका भार चल रहा है यह है बधका कारण। अपने आपमे यह निर्णय बनावें और देखो एक बार पूरे तौरसे मनमे आ जाय कि विभाव मेरा रचमात्र भी नही, मेरी कोई चीज नही, इस कषायको मैं क्यों करूँ। अच्छा, ऐसी बात अगर मनमे आयी हो और कषाय पडी थीं पहले बहुत, तो इसको क्या दण्ड मिले? जिस दण्डको स्वीकारनेसे बडासे बडा लाभ मिलेगा। जो कसूर करता है वह अगर दण्ड स्वीकार करले तो उसकी माफी हो जाती है। तो अहकार न बसे चित्तमे, दूसरे जीवोको तुच्छ न समझें, उनपर अन्याय न करें, उनके प्रति नम्रताका व्यवहार करें, उनसे मित्रताका व्यवहार बने इससे फिर तुच्छता न आयगी। अपने आपकी

महिमा प्रकट होगी। अपना ज्ञान जो कषायोंसे दबा है उन कषायोंको दूर करे तो भगवान अन्तस्तत्त्व यह ज्ञानमात्र आत्मा अपने उज्ज्वलरूपमे प्रकट होगा, आप सदाके लिए सही हो जायेंगे सो कषायोके अपराधका दण्ड है विनयादिप्रवर्तन।

६३२–कर्मधारासे विमुख होकर ज्ञानधारामे अवगाहनेके पौरुषका अनुरोध—

चल रहे है कर्म और ज्ञान दोनोकी धारा, राग भी आते, विकार भी आते, समझ भी बनती, ज्ञान भी बनता, मगर लगाव रखें स्वरूपमे, कर्मसे विरक्ति बनावें, बन रही चेष्टाये, परिस्थिति है, उन्मत्तचेष्टा है, कर्मके उदय हैं, लेकिन ये मेरे स्वरूप नही। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, अपने ही स्वरूपमे बसूँगा। ऐसा एक दृढ निश्चय बना लीजिए इस जीवनमे, भैया, ऐसी हठ बना लीजिये कि मै इसका अध्ययन करके ही रहूँगा, मैं इन मकान वैभव आदिको छोडकर ही रहूँगा। होने दो जो होना है पुण्योदयमे अपने आप। घरमे रहता है, कर्त्तव्यमे बसा हुआ है। ६ घटे दूकान कर लीजिए, ६ घटे अन्य काम कर लीजिए, मगर उसके पीछे न लगें, क्योंकि यह सब धोखा है, यह सब माया है, इनमे अपना समय व्यर्थ जायगा, उस कार्यभारसे हटे, विरक्ति पायें। जब इनसे पूर्ण विरक्त हो जायेंगे इन सब विभाव-भावोका लेश भी न रहेगा तो भगवान बन जायेंगे, सदाके लिए सकटोसे मुक्त हो जायेंगे। अपना यह प्रोग्राम बने कि मुझे तो सिद्ध होना है, मुझे तो अरहंत होना है, यह प्रोग्राम बनावे, यहाँके पापी जीवोके समूहके बीच अपनेको क्या दिखलाना है, ससार ही पाप है जो ससारमे जन्ममरण लेते है वह सब पाप ही तो है। पापमय इस दुनियामे हमे किसीको कुछ दिखाना नहीं, कोई मुझे जाने भी मत, मेरे आत्माका कोई नाम भी नही है, मैं निर्नाम हूँ, ऐसा मैं अपने चैतन्यस्वरूपमे ही बसूँगा, अन्य मेरा कोई निर्णय नही, अन्य बातके लिए मेरा जीवन नही। अनन्त भव पाये यह भी भव पाया, विषय कषायोमे समय गमाया तो नई बात कौन सी की ? क्रान्तिकी बात कौनसी की ? अपने आपमे क्रान्ति लावें। अपना मुख मोडें, मुझे अपने आत्माका ज्ञान करना है और उसही मे रमकर ससारके सकट पार करना है। दूसरा ध्येय मेरे जीवनका अन्य कुछ नही है, अपने आपको सावधान बनानेके लिए जरूरत है स्वाध्यायकी और सत्सगकी। लोग उमग रखते हैं कि मेरे बच्चे हैं, मेरा बड़ा सग है और उनके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर हो रहा है, मगर इतनी भी दृष्टि नही होती कि कोई भी सत्पुरुष, कोई भी व्रती त्यागीजन, कोई भी ज्ञानीजन हमारे बच्चोके १०० वाँ भाग बराबरके भी होगे। इनमे भी तो कुछ अपनेको लाभकी बात होगी—यह कुछ नही। बस जिन जिनमे मोह है उनके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर रहे, पर यह परिजनका सग आपके आत्माको पतित बनायेगा और सत्पुरुषोका सग आपके आत्माका उत्थान करेगा, इससे उमग लावो सत्सगकी।

मग्ना. कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये, मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं, ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥

६३३–कर्मनयावलम्बी व ज्ञाननयैकान्तीकी दशाका चित्रण—

धर्मके प्रसगमे दो बातें चला करती हैं। एक तो आन्तरिक और एक बाह्य। आन्तरिक तो कहलाता है ज्ञाननय और बाह्य कहलाता है क्रियानय, कर्मनय। और, है दोनोमे ही तथ्य क्योंकि ज्ञानशून्य क्रिया झूठ और क्रियाशून्य थोथा ज्ञान भी कामका नही। इस कारण बात तो होनी चाहिए अपनी पदवीमे दोनो, किन्तु कोई पुरुष ज्ञानका ही एक हठ करता है याने ज्ञानका हठ करना तो

भला है, ज्ञानका ही आग्रह करना चाहिए, पर ज्ञानको समझ तो पाते नही और वातें बातमे ज्ञानको हठ करते हैं वे भी मार्ग नही पाते और जो क्रियासे ही सब कुछ समझते, यों हाथ जोडना, यो बिनती करना, यो पूजा पाठ करना, केवल यह ही यह धर्म है, आत्माका बोध नही करते, ज्ञानस्वरूपमे आने की भावना नही तो उनके क्रिया कर्मसे भी कुछ होनेका नही है । यही वात दृष्टिमे रखते हुए इस कलशमे कह रहे हैं कि जो केवल कर्मनयका आलम्बन करते हैं वे डूबे, क्योकि वे ज्ञानको जानते नही, केवल बाह्य क्रियाकाण्डमे ही धर्म मानते हैं। इसी प्रकार जो केवल ज्ञाननयकी ही चाह करते है, आत्माकी चर्चा कर ली उछल उछलकर और भीतरमे उछाल है नही, लोगोको देखकर खूब उछल उछलकर बडी ऊँची ऊँची बातें करतें, लोग समझ जाये कि यह बडे अच्छे ज्ञानी हैं । भीतरमे कुछ उछाल नही, आत्मस्वरूपकी कोई दृष्टि नही, आत्महितकी भावना भी नही किन्तु कोई एक जमाना होता है जब कि एक शौक बढता है। जैसे आजकल का शौक देख लो, कितना जबरदस्त है। एक कमीज का ही शौक ले लो कितने ही प्रकारके फैशन वाले कमीज चले है । यही बात हर चीजमे मिलेगी । ले मानो आजकल अध्यात्ममार्गमे भी एक शौकसा चल गया । शौक हुआ यह कि ज्ञानकी बडी-बडी चर्चा करें, मुखसे खूब बोल लें, खूब गहरी-गहरी ज्ञानकी बातें करले, जिनको अज्ञानवश यह पता नही कि यह स्याद्वादकी बात है या बौद्धोकी बात है या साख्यादिककी । केवल बाते ठोकने भरसे काम है। कुछ दूसरोपर प्रभाव पडे, सो जो तत्त्वको जानते नही, एक ज्ञान ज्ञानका ही शौक कहनेको हुआ है तो उनको बाहरमे भी अत्यन्त स्वच्छन्दता आ गई। क्रियाकलापमे पूजा ध्यान, स्वाध्याय, सत्सग, गुरुभक्ति आदिक सभी धार्मिक क्रियाकाण्डो मे एक प्रमाद आ गया, अरुचि हो गई, सो वे भी डूबे । तात्पर्य यह है कि ज्ञाननयैकांत व क्रियानयैकान्त दोनो ही पातक है ।

६३४—विश्वके ऊपर तरनेका पात्र—

ससारमे डूबे कौन नही ? प्रगति पर कौन चलता है ? जो ज्ञानस्वभावरूप अपनेको मानते हुए, ज्ञानरूप होते हुए कोई कर्म नही करते याने इतने ऊँचे उठे कि वे शुभ-अशुभ क्रियाकाण्ड वगैरहको नही करते और फिर भी किसी शुभ बातमे, क्रियामे प्रमाद भी नही करते, याने अतरगसे क्रिया करते नही और बाह्य प्रवृत्तिमे प्रमाद करते नही । जैसी पदवी है इसके अनुरूप निभाव करके भीतरमे ज्ञान-स्वभावका आश्रय कर जो बढते हैं वे विश्वके ऊपर तैरते हैं। बात कोई कठिन नही चल रही है। आत्माकी ही तो बात है, पर लोगोको कठिन यो लगती है कि आत्माकी भलाई करनेकी अन्दरमे चाह नही । आत्महितकी चाह हो तो अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय करनेका अवसर मिलेगा ।

६३५—आत्महितकी भावना होनेपर तत्त्वज्ञानकी सुगमता—

अज्ञानमे क्या-क्या विचार बनाया जा रहा है मेरे परिवार है, वैभव है । उसीकी ही बढोतरीमे क्षणमे चित्त निरन्तर बसा हुआ रहता है तो भला एक हितकारी बात उपयोगमे कैसे घर जमा सके ? याने बहुतोकी प्राय जो रुचि नही होती और ऐसा लगता कि बात तो बडी कठिन हुआ करती है, शास्त्रसभामे जाकर क्या करे ? वहां तो बडी कठिन चर्चा होती, बस वही आत्मा-आत्माकी ही चर्चा होती । हम तो चाहते हैं कि चक्की चूल्हा दाल रोटी जैसी चर्चा हो, जो कि तुरन्त समझमे आये । पर, ये यह नही ध्यानमे देते कि किस्सा कहानी, दुनियाकी बातें, यहां वहांकी बातें जो बडी सरल लगती है वही-वही बात जिन्दगी भर हो तो उसमे कौनसा अपना भला कर लेंगे । और अपनी बात, आत्माकी बात जो अपने स्वरूपमे है वह कठिन लगती है और यह उमग रखते कि अपने निज घरकी

बात कठिन भी लगे-मगर रुचिपूर्वक रोज-रोज सुनेंगे तो सरल हो जायगी। सो इस ओर उमग रखना चाहिए कि हम उपयोग लगाकर कठिनसे भी कठिन बात हो, उसको सुनेंगे, तुरन्त तो अर्थ उसका लग ही जाता है, उसका मनन करेंगे। कौनसा कठिन काम है ? जो केवलज्ञानी हुए, प्रभु हुए वे भी तो हम आप जैसे ही ससारमे रुलने वाले प्राणी थे। उनको भी सारी-बातें कठिन लगती थी, किन्तु मार्ग पाया और भगवान बन गए। तो ऐसे ही हम आपको भी आत्माकी बात कठिन लगती है किन्तु मार्ग पायेंगे और प्रभु बनेंगे।

६३६-कर्मधारागत शुभ अशुभ भावोंकी अज्ञानरूपता—

यहाँ यह बात कही जा रही है कि ये जो बाहरी क्रियायें हैं, पुण्य है, पाप है, कर्म है, पौद्गलिक कर्म, शुभ, अशुभ भाव, ये सबके सब आत्माके स्वभावसे हटे हुए परिणाम हैं। याने शुभभावका भी जो स्वरूप है उस स्वरूपको देखो तो अज्ञानभाव है। यद्यपि शुभभाव करनेवाले ज्ञानी पुरुषमे ज्ञानधारा भी चल रही है। कोरा अज्ञानी नही है वह। सम्यग्दृष्टि, शुभभाव करनेवाले, पूजा पाठ आदिकमे प्रवृत्ति करने वाले अज्ञानी नही हैं मगर दो धाराओमे वहाँ निरखें कि भीतरमे जो ज्ञानप्रकाश है वह तो है ज्ञानधारा और बाहरमे जो प्रवृत्ति है, शुभभाव है, अशुभभाव है, मन, वचन, कायकी चेष्टा है, स्वरूपत देखें तो वह अज्ञानभाव है, सो जब वस्तुस्वभावका विचार करते, आत्माके सही स्वरूपका चिन्तन करते तो विदित होता है कि पुण्यपाप, शुभअशुभ सब एक ही समान बधनकी बेड़ी हैं। चाहे बेडी चाँदी सोनेकी पहना दी जाय, चाहे लोहेकी बेडी हो, आखिर है तो वह बेडी ही।

६३७-पुण्यभाव, पापभाव, पुण्यकर्म, पापकर्म, पुण्यफल, पापफल सबकी बन्धनरूपता—

भैया, जरा स्वच्छ हृदय करके विचारेंगे तो पता पडेगा कि जो प्यारे लग रहे है पुत्र-पुत्री, स्त्री भैया, घर, वैभव, तिजोरी आदिक वे सब बधन है। और, जो प्रिय नही लगते, अनिष्ट लगते ऐसी परिस्थितिमे, पहुचे वह भी बधन है। तो बधनकी दृष्टिसे दोनो साधन समान हैं। बल्कि दु खभरी स्थिति उतना विकट बधन नही, जितना सासारिक सुख मौज वाली स्थिति इस जीवके लिए बधन है। दु खमे तो प्रभुकी याद आ सकती, आत्मस्वरूपकी याद आ सकती, पर सुख और मौजमे याद नही आती। अनेक लोग ऐसे मिलेंगे कि जो पहले धनी न थे, अत्यन्त साधारण स्थितिके थे तब दोनो बार मन्दिरमे आते, जाप देते, प्रवचनमे आते, गुरुओकी सेवामे रहते, स्वाध्याय करते, ये सब खूब चलते थे और वे ही जब धनिक बन गए तो फिर उनको जरा भी फुरसत नही मिलती। अगर कोई उनसे कहे भी कि भाई तुम शास्त्र-सभामे क्यो नही आते, पूजामे क्यो नही आते ? तो वहाँ कहता है कि क्या करे भाई, मरनेकी भी फुरसत नही है। अब देखो उनको इतना विश्वास है कि यह वैभव ही मेरे लिए सब कुछ है और मैं कभी मरूँगा नही। ये दोनो बातें भ्रमवश चित्तमें चढ़ गई तब ही तो बोलते हैं कि मरनेकी फुरसत नही है। जैसे कि मानो वह काल, यमराज आयुक्षय इस व्यस्तताको देखकर डरकर भाग जायगा कि यह सेठजी बहुत व्यस्त है, इनको मरनेकी भी फुरसत नही है तो हम क्या करेंगे आकर ? तो ध्यानमे लावो कि दु ख भरी स्थितिमे भीतरमें कितना आनन्द झरता था, ऊपर दु ख था, भीतर आनन्द था, कभी आप अनुभव कर सकते हैं ऐसा, कि है तो बडे कष्ट वाली स्थिति, विपत्ति है, परिस्थिति है, कष्ट हो रहा है, मगर भीतरमे जो प्रभुकी रुचि है, अपनी रुचिमे ध्यान जम रहा तो भीतरमे कोई एक दृढता सी भी है, आनन्द भी है, याने अधेरा नही और आज वाली स्थिति हो तो अच्छे बच्चे, स्त्री, परिवार, वैभव खूब, घरमें फ्रीज भी रखा, रेडियो रखा, टेलीविजन रखा, झट

खान ऐंठा और ठंडा पानी पिया, फिल्म देख रहे, रेडियो सुन रहे, मौज आ रहा, रहनेकी जगहमे भी जूता पहने हुए हैं, पलगपर भी जूता पहने हुए है, खाना खाते समय भी जूता पहने हुए हैं, खूब सब प्रकारके मौज मान रहे। वे ऊपरसे बड़े सुखी दिखते और भीतरमे बड़े आकुलित हैं। खूब अंदाज कर लो सासारिक सुखोमे यही बात मिलेगी—ऊपरसे मौज और भीतरमे आकुलता ऐसा कम कर भेरी हुई है कि उसकी चोट निरन्तर सह लेते हैं। तो ससारकी कौन सी हालत भली है ? वह सुख वाली स्थिति काहेकी अच्छी है, जिसमे अधेरा रहता, भीतर व्यग्रता रहती और धोखा महान। इतना बडा कष्ट आयगा कि जिसको सहन न कर पायेंगे। कोई पहले बहुत धनिक हो और वह एकदमसे गरीब बन जाये तो उसके दिन तो बडे कष्टमे गुजरते हैं, और कोई साधारण आदमी है तो उसकी बात पहले जैसी ही ठीक-ठीक चलती रहती है। तो यह पुण्यकर्म, पापकर्म, इनका फल, यह सब क्या है ? सब बेड़ियां हैं, बन्धन हैं, और फिर इस पुण्य पापकर्मके आश्रवके कारणभूत जो शुभभाव अशुभभाव हैं ये भी तो ज्ञानीको बन्धन जच रहे हैं। अगर इन विभावोमे आशक्त है तो वह मोक्षमार्गमे कैसे बढ़ेगा ? कैसे चलेगा ?

६३८—श्रद्धासहित ज्ञानाचरणकी फलप्रदता—

भैया, मुख्य बात तो यह है कि अपने ज्ञानस्वरूपको निहारो और उसही को निहारते रहो ऐसा कि उसमे मग्न हो जावो, कुछ ख्यालात ही न जगे, किन्तु जब तक ऐसा नही हो रहा है तब तक केवल यह ही चर्चा मात्र रहे तो उससे अपनी प्रगति नही बन सकती। तो श्रद्धा चाहिए और तदनुकूल प्रवृत्ति चाहिए। एक कोई लकडहारा था। वह जगलमे लकडियां बीनने गया। उसे वहां कोई साधु महाराज मिल गए। उनके प्रति श्रद्धा जगी और पासमे बैठ गया। साधुसे कुछ उपदेश सुना और कहा महाराज मेरे कल्याणके लिए कोई बात तो बोलो। तो साधुने कहा देखो मैं तुम्हे एक मत्र देता हू, उसका ध्यान निरन्तर रखे रहा करना, वह मत्र है णमो अरहताणं उसका स्वरूप व उसका फल भी बता दिया। उस लकडहारेको वह मत्र बडा अच्छा लगा। उसपर पूरी श्रद्धा जम गई। वह उस मत्रका ध्यान करता हुआ घर आया। उस मत्रपर श्रद्धा इतनी अधिक बढ़ गई कि उसका लकडियां लानेका काम भी छूट गया। घरमे बैठा हुआ णमो अरिहताण का जाप करे। दो तीन दिन तक खाना भी न खाया। जब स्त्रीसे न रहा गया तो बोली लकडियां बीनने नही जावोगे क्या ? तो उत्तर मिला णमो अरहताण" बच्चे लोग क्या खायेंगे ?" णमो अरहताण। इस तरह से काम कैसे चलेगा ?" णमो अरहताताण, स्त्रीने तीसरे दिन जब खाना बनाया तो उस दिन खीर बनाया था सो ऊपरसे आवाज दिया कि आवो खीर खा जावो, तो नीचे से उसने वही आवाज दिया—णमो अरहताण। लडकोने उससे खानेके लिए कहा तो वही उत्तर मिला। खैर किसी तरह जबरदस्ती पकडकर खानेके लिए ले गए। बैठाया स्त्रीने खाना परोसा, कहा—खावो तो बस वही णमो अरहताणं। वहां उस स्त्रीको ऐसा गुस्सा आया कि लूगर (अधजली लकडी) उठाकर उसके सिरपर मारा। वहां वह लकडी फटी और उसमे से मोती बिखरे, अब क्या था, मालोमाल हो गया वह लकडहारा। थोडे ही दिनोंमे वह बडा धार्मिक व धनिक बन गया।

६३९—श्रद्धारहित आचरणसे सिद्धिकी असमवता—

एक दिन उक्त लकडहारेकी पडोसकी कोई सेठानी पूछ बैठी उस लकडहारेकी स्त्रीसे कि तुम इतना जल्दी धनिक कैसे हो गई। तो उसने कहा अरी जिजी सुनो—देखो हर जगह कहनेकी बात

नही है, तुम बार बार पूछती सो बताये देती हूं; और किसीसे तुम कहना नही। देखो—ऐसा हुआ कि हमारे पतिदेवने दो तीन दिन खाना न खाया, उनसे हम कुछ भी बात कहे तो वह यही उत्तर दे—णमो अरहताण। इसके अलावा कोई दूसरे बात ही न बोलें। दो तीन दिन बाद हमने बनायी खीर। जबरदस्ती बैठकर खानेको कहा तो वही बात णमो अरहताण कहा—हमने गुस्सामे आकर एक लूगर (अधजली लकडी) उठाकर उनके सिरपर मारा तो लकडी फटी और उसमेंसे मोती बिखरे। तबसे मैं मालोमाल हो गई। तो उस सेठानीने कहा—अरे—यह तो धनिक बननेका बडा ही सुन्दर उपाय मिल गया। हम भी अपने घरमे ऐसा करेंगी और मालोमाल हो लेंगी। सेठानी खुश होती हुई घर गई और अपने पतिसे (सेठसे) कहा कि हम आज धनिक बननेका उपाय जानकर आयी हैं, वह उपाय करके मालोमाल हो लेंगी अब आपको व्यापार रोजिगार करनेकी कुछ जरूरत न रहेगी। सेठने पूछा—क्या है वह उपाय ? तो सेठानी बोली—बस आप दो तीन दिन कुछ खाना पीना नही, और हम जो कुछ आपसे कहे तो आप णमो अरहताण, बस यही बात कहना, बाकी काम हम सब बना लेंगी।... ठीक है, उसी दिनसे सेठने कुछ खाना-पीना नही लिया। उससे कोई कुछ कहे तो बस वह यही कहे—णमो अरहताण। तीसरे दिन स्त्रीने खीर बनाया, जबरदस्ती खानेके लिए बैठाया, खीर परोसा और खानेके लिए कहा तो बस वही बात—णमो अरहताण। तब सेठानीने सेठके सिरपर लूगर मसका तो लकडी फट गई और सारा कोयला ही कोयला बिखर गया। अब वहाँ मोती ढूढे जा रहे, तो कहाँ धरे ? सेठानी सोच रही थी कि देखो मैंने काम तो सारे ज्योके त्यो ही कर डाले, पर न जाने कहाँ क्या कमी रह गई कि मोतीके बजाय कोयला बिखरा। अब बताओ क्या अन्तर रहा उन दोनोकी क्रियाओमे, जिसके परिणाममे इतना बडा फर्क आ गया ? अरे वह अन्तर रहा श्रद्धाका। लकडहारेको उस मत्रके प्रति पूर्ण श्रद्धा थी और सेठको अतरगसे श्रद्धा न थी ? वह तो एक ऊपरी बनावटी बात थी। तो इस कथानकसे यो समझो कि हम आपको इस मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिए अपने ज्ञानस्वरूप-अतस्तत्त्वकी श्रद्धा होनी चाहिए और फिर उसके अनुरूप अपना व्यवहार होना चाहिए, कोई व्यवहार व्यवहार ही तो करता रहे और भीतर अपने ज्ञानस्वरूपकी श्रद्धा न बनावे तो उसको रत्नत्रयकी प्राप्ति नही हो पाती।

९४०—संसारमें मझधार और पार रहने वालोकी चर्चा—

देखो भैया, दो तरहके जीव—कोई खाली ज्ञान-ज्ञानकी चर्चामे ही मौज मानता रहे, कोई क्रियाकाण्डोमे ही उलझा रहे, तो इन दोनोको समझाया गया है इस कलशमे कि जो लोग कर्मनयका एकान्त किए हुए है, शुभकर्म करें, दया दान, परोपकार, भक्ति-चेष्टा ये ही करते रहे मोक्ष मिल जायगा सो उनको ज्ञानस्वरूपकी श्रद्धा न होनेसे मुक्ति नही, वे ससारमे डूबे ही हैं। भले ही क्रियाकाण्डी हैं; और कोई पुरुष ऐसा है कि क्रियाकाण्डोको छोड बैठा, पूजामे क्या, गुरूपासनामें क्या, और जब छोडा तो कोई आधार भी चाहिए। अजी, आज कल कोई गुरू हो ही नही सकता, कोई अब साधु बन ही नही सकता, है ही कोई नही, ऐसा कह कहकर उनसे दूर रहते। ऐसे लोग हो गए बहुत जो कि ज्ञान-ज्ञानकी चर्चा खूब करते और चर्चा ही चर्चामे रहकर कुछ सिद्धि नही पाते। तो जब साधुताकी उमग ही नही तो फिर करे क्या ? सो वे भी डूब रहे। आचार्यदेव कहते हैं कि वे ही पुरुष ससारसे तिर सकते हैं जो अपने ज्ञानस्वरूपकी यथार्थ अनुभूति पा चुके हैं। यह हूँ मैं ज्ञानस्वरूप।

६४१—नाम व पर्यायकी प्रीति तजकर अन्तस्तत्त्वकी रुचिमें कल्याण—

देखो लोगोंको अपने-अपने नाममे कितनी वडी श्रद्धा वसी है। सब अनर्थोंकी जड है, महा पाप है जो अपने नामके प्रति इतनी तीव्र रुचि लगी है कि यह सोचे हुए है कि मैं तो फलाने लाल हूँ, फलाने चद हूँ, फलाने कुमार हूँ। ऐसा जो भीतरमें नामके प्रति एक उमग और श्रद्धा बनी है यह तो धर्म मार्गमे लगनेमे बहुत वडा विघ्न है। क्योकि नाम किसका धरा जाय ? चैतन्यस्वरूप आत्माका कही नाम होता है क्या ? वह तो एक सर्वसाधारण है। जैसे सब जीव, वैसा ही इसका स्वरूप। उसमे नाम नही होता। नाम धरा जाता है शरीरका, जो दिख रहा है। भले ही सजीव शरीरका नाम धरा, मगर दिखनेमे क्या आया ? जिसको देखकर हम पुकारते हैं कि फलानेचद, फलाने लाल, फलाने प्रसाद, और इन नामोमें हुई इसको वडी प्रीति तो इसके मायने यह ही तो हुआ कि पर्यायमे आत्मबुद्धि है। किसी भी काममे लगे हो, पर कोई धीरेसे भी वह नाम बोलदे तो झट कानमे वे शब्द पहुच जाते हैं। नामके शब्द हों तो वे वडी जल्दी चित्तमे आते। शरीरसे प्रीति रखना, पर्यायमे आत्मबुद्धि रखना, नाममे आत्मबुद्धि रखना यह बहुत वडा भारी मिथ्यात्व है, अधकार है, समझना होगा कि अभी हम मोक्षमार्गमे कितना पिछडे हुए है। ज्ञानप्रकाश प्राप्त हुआ कि जिसके कारण शीघ्र यह नाम सस्कार, ये सब कामनायें समाप्त हो जाती हैं। बौद्ध ग्रन्थोमे आश्रवके जो कारण बताये हैं उन सबमे मूल कारण उन्होंने नाम रखा है। नामका लगाव, नामकी बात—इनमे कर्मोंका आश्रव होता। सो जैन सिद्धान्तमे सबका नाम मिथ्यादर्शन रखा। तो पर्यायमे आत्मबुद्धि न होना और भीतरमे केवल ज्ञानज्योतिमात्र अन्तःस्वरूपकी प्रतीति रहना और ऐसे ही ज्ञानस्वरूपमात्र रहनेकी कोशिश होना, जब यहाँ ज्ञानपौरुष नही चल रहा तो शुभभावोकी चेष्टा होवे, इस तरह जीवन व्यतीत हो तो इस जीवका भविष्य प्रकाशमय हैं। आगे भी अच्छी चीज पायगा। नही तो मनुष्य हुए, पुण्य मिला, सुख मौजमे मस्त रहे, और मरकर हो गए गधा, सूकर नारकी कीडा मकोडा आदिक तो अब वहाँ क्या करेंगे ? कुछ तो ख्याल करना है अपना कि यह सग मौजके लिए नहीं, किन्तु धर्ममे जिस प्रकार प्रगति बन सके इन साधनोका उस तरह उपयोग करना है, तो ज्ञानी यह चिन्तन कर रहा कि पुण्य पाप सब एक समान हैं। मेरा ज्ञानस्वरूप ही मेरे लिए शरण है। ऐसा सोचते हुए जो पुण्य बँध रहा वह बँध रहा, मगर पुण्यमे इसकी श्रद्धा नही है और अपने ही ज्ञानस्वरूपमे यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करता है।

> **भेदोन्माद भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं, मूलोन्मील सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।**
> **हेलोन्मीलितपरमकलया सार्धमारब्धकेलि ज्ञानज्योति कवलिततम प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥**

६४२—कर्ममें भेदोन्मादके नाटयका कारण मोहमदपान—

कर्म दो प्रकारके समझना—(१) द्रव्यकर्म (२) भावकर्म। द्रव्यकर्म तो उन कर्मोंका नाम है जो पौद्गलिक हैं, जहाँ जिसकी कर्मत्व अवस्था बनती है, जिसकी सत्ता बध उदय, उदीरणा सारी हालत होती है वह तो द्रव्यकर्म है और उन द्रव्यकर्मोंके विपाकका निमित्त पाकर जो जीवमे रागद्वेष मोह कषाय अभिलाषा आदिक भाव होते हैं, शुभभाव और अशुभभाव, वे कहलाते हैं भावकर्म। सो द्रव्यकर्म व भावकर्ममे, जो बात किसी एक कर्मके बारेमे कही जाय वैसा ही प्राय दूसरे कर्ममे घटित होता है। जरा अन्तरमे आत्माके भावकर्मपर घटित कीजिए। भावकर्म एक भेदके उन्मादको नचा रहा है—याने विभावोमे कोई शुभ कोई अशुभ, कोई पुण्य कोई पाप, ऐसे दो भेद बन रहे हैं, क्योकि ऐसी ही

मोहमदिरा पी लिया है कि यह अज्ञानी जीव उन कर्मोंमें दो प्रकारके भेद इस उमगसे डालता है कि मानो पुण्य तो रक्षक है और पाप दुःखदायी है, पर ज्ञानी जीव जानता है कि जैसे पुण्य बधन है, वैसे पाप भी बधन है, सारे ही भाव हमारे लिए बधन हैं, तो जिसने मोहमदिरा पी ली है वह भ्रमरसके भारसे भेदके पागलपनको उत्पन्न करता है याने यह रुचिसे भेद डालता कि यह पुण्य और यह पाप। यद्यपि पापके भावकी अपेक्षा पुण्य भला तो है मगर इनमे से स्वरूपका विषय निहारते हैं तो पुण्य और पाप दोनो एक समान है। जैसे कही कही मान ली लेते हैं कि लोहासे सोना अच्छा होता, घर घर मान ही रहे सब लोग, और किसीको कैद कर दी जाय और खूब लोहा जितने ही वजनकी सोनेकी बेड़ी पहना दी जाये तो वह तो उसे बन्धन ही मानता है, तो ज्ञानी जीव जिसको कि अपना स्वभाव रुच गया वह तो अपने स्वभावको ही सर्वसार मानता है, वहाँ पर यह भेद नही करता कि मेरे पुण्य रहा आये, पाप जाये। "पाप पुण्य मिल दोय पायन बेडी डाली।" ऐसा कहते तो रोज रोज है विनतीमे, पर यह भाव समा जाय कि देखो सभी कर्म मेरे लिए बन्धन हैं, जब इन आठो प्रकारके कर्मोंसे छुटकारा हो तो हमारा बन्धन मिटे। पर यह बुद्धि बनती नही और कर्मभेदकी भ्रम लग गया है मोहमे रहनेके कारण। सो इस जीवकी ज्ञानज्योति प्रकट होती है तो क्या स्थिति बनती है, वह ही बात इस कलशमे कही जा रही है।

६४३—ज्ञानज्योतिकी कवलिततमस्कता—

ज्ञान ज्योति क्या ? अपने आत्माकी जो ज्ञानशक्ति है, जाननेकी शक्ति है वही ज्ञानज्योति है सबमे ज्ञानज्योति है, पर आवरण पडा है विभावका, रागद्वेषमे उपयोग चलता है तो ज्योति कहाँ से प्रकट हो ? किन्तु जिसने सहजभाव जान लिया ऐसे ज्ञानी जीवके ज्ञानज्योति प्रकट होती है, जिसके प्रकट होती है ज्ञानज्योति उसका सारा अंधकार दूर हो जाता है, क्या, अज्ञान अधेरा याने इस ज्ञानज्योतिने उस अज्ञान अधेरेको खा डाला। देखो एक बहुत गहरी तथ्यकी बात मिलती है। किसी जीवमे अज्ञान है और उसके ज्ञान प्रकट हुआ तो यह अज्ञान कहाँ चला जाता ? कोई बतला सकता। निकलकर कही बाहर जाता है क्या ? जैसे यहाँ टीनकी गोल टकी बनाकर कूडादानी बना दिया, लो टकीमे फेंको, ऐसे ही यह अज्ञान कहाँ फेंका जायगा ? कहाँ जाता है ? एक ही द्रव्यमे अज्ञान भाव था, अब उस ही एक द्रव्यमे अज्ञानभावका तिरोभाव हुआ, व्यय हुआ और ज्ञानज्योतिका प्रकाश हुआ, तो मानो इस ज्ञानज्योतिने उस अज्ञानको चबा डाला। मायने अपने ही द्रव्यमे उसका विलय कर दिया गया, पर्यायरूपसे अन्दर रहता हो सो बात नही, वह तो विलयको प्राप्त हुआ, प्रकाशको प्राप्त हो गया तो जिस समय ज्ञानज्योति प्रकट होती है उस समय अज्ञानका अधेरा नही रहने पाता। जैसे समुद्रमे वायु प्रसगसे लहर उठ रही थी, अब जब वहाँ लहर रच भी नही रहती, समुद्र गभीर शान्त होता है तो बताओ लहरका क्या हुआ, लहर बाहर नही गई लहर भीतर भी नही, प्रलय हो गया। अज्ञान एक बडा अधकार है। यह दीपकका उजेला कितना ही बना रहे, इससे अज्ञान का अधेरा दूर नही होता। और जब तक अज्ञान अधेरा दूर नही होता तब तक इस जीवको शान्ति, आस्था, विश्वास, ये कुछ भी नही बनते। यह अज्ञान अधेरा दूर होगा तो सत्य वस्तु स्वरूपका परिचय होनेसे ही दूर होगा।

६४४—ज्ञानज्योतिकी केवलज्ञानकलाके साथ आरब्धकेलिता—

जब यह ज्ञानज्योति प्रकट होती है तो इसकी लौ एकदम पूर्ण ज्ञानविकासके साथ लगती है,

केवल ज्ञानके साथ लगती है। जब किसीकी बुद्धि खुलती है तो उससे पूछो कि तुम क्या बनना चाहते ? तो जो ऊँचासे ऊँचा आदर्श हो उसमे उसकी धुन लग जाती है, जैसे किसीको सगीत गाना-बजाना अच्छा आता है प्राकृतिक देन है तो उसकी दृष्टि एकदम देशमे जो सर्व प्रसिद्ध गायक सगीतकार हो उसकी ओर जाता है—मैं तो ऐसा बनूँगा। तो जब एक सच्ची ज्ञानज्योति प्रकट होती है तो यह ज्ञानज्योति केवल ज्ञानके साथ अपनी लीला बनाती है। उसमे ही सम्बन्ध जुडता है। अहा केवलज्ञानके साथ ज्ञानज्योति कैसी जुडती है कि जरा लीलामात्र ही अपने आपमे दृष्टि दे और स्वभावका आश्रय करे, सहज ही समस्त कर्मोंका विनाश होकर केवलज्ञान प्रकट हो जायगा। उस केवलज्ञानके साथ इस ज्ञानज्योतिका अपना सम्बन्ध बनेगा। यह जीव पुण्य पापके दो विकल्प बनाकर ससारमे मौजपूर्वक रहनेकी सोच रहा था। जहाँ ये दो बातें चित्तमे आती कि पुण्य भला, इससे मेरा उद्धार होगा वहाँ उसकी ज्ञानज्योतिका तिरोभाव है। ज्ञानी पुरुष भी पुण्यकर्म करता, किन्तु पुण्यकी उमग नही होती। अगत्या क्या करे ? जब चरित्रमोहका उदय है ज्ञानी जीवके तो उसकी प्रवृत्ति होगी पूजा, स्वाध्याय, व्रतीसेवा, त्याग, दया, दान आदि की, मगर उसकी श्रद्धामे यह ही बसा है कि मेरा जो सहज स्वरूप है वह मुझमे प्रकट हो।

६४५—ज्ञानीके प्रवृत्ति होनेपर सकल परभावोसे उपेक्षा—

होता है ना ऐसा कि भावमे जो बात बसी हो कहो प्रवृत्तिमे न बने, प्रवृत्ति और प्रकारसे हो। मनसे उमग हो और दुःख देखना पडे। ऐसी बात तो बहुत-बहुत करके होती है, और कहो मनमे उपेक्षा है और ऊपरसे उमग दिखाई पडे। तो ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव उसको सर्व—ओरसे उपेक्षा है, मगर चारित्रमोहका उदय है सो कही हर्ष, कही विषाद, ऐसी परिणति बनती है। जैसे मानो किसी लडकेकी बारात सज धजकर जाने वाली है तो उस समय राछ फिरती है, लडका घोड़ेपर बैठकर चलता है और पडोसकी स्त्रियाँ गाना, गानेके लिए बुलाई जाती है। वे क्या गाती हैं—मेरा बन्ना बना सरदार, रामलखन सी जोडी" आदि खूब हाथ पसार-पसार कर गाती हैं, काहेके लिए ? मात्र पावभर बतासे पानेके लिए (हँसी) और उस लडकेकी माँ को तो उस समय किसीसे बात करने तककी फुरसत नहीं रहती। उसके तो कामके मारे शरीरसे पसीना बहता, कभी किसीको कुछ सामान देती, कभी किसीको कुछ मनाती कभी किसी को। वह तो बडी परेशान सी रहती। उस लडकेके प्रति बाहरमे उसमे कोई उमग नही दिखती और पडोसकी नाइन, धोबिन वगैरह सभी खूब हाथ पसार-पसारकर गाती हैं और अपनी उमग दिखाती हैं, पर जरा उनका अतरग तो देखो, उमग उस लडकेकी माँके हैं न कि उन पडोसकी स्त्रियोके। कैसे, सो सुनो। अभी वह लडका कही घोडेसे गिर पडे और उसकी टाँग टूट जाय तो दुःखी कौन कौन होगा ? उस लडकेकी माँ ही दुःखी होगी। वे पडोसकी स्त्रियाँ न दुःखी होगी। तो देखो उमग अधिक दिख रही थी पडोसकी स्त्रियोमे और उसकी माँमे कोई उमग नही दिख रही थी, पर वास्तवमे उमग थी उसकी माँमे ही, पडोसकी स्त्रियोमे नही। गुजरातमे तो किरायेकी रोने वाली स्त्रियाँ बुलाई जाती हैं। वे सब गोल-गोल लाइनसे इस ढगसे खडे होकर रुदन मचाती हैं कि मानो गीत जैसा गा रही हो। एक बार हमने अपनी आँखो यह दृश्य देखा। वहाँ हमने जब लोगोसे पूछा उसके बारे मे तो उन्होने बताया कि ये रोनेके लिए किराये पर स्त्रियाँ आती हैं। यह तो यहाँका रिवाज है वे सब स्त्रियाँ एक लाइनसे गोल-गोल खडी होकर ऐसा छाती पीट-पीटकर रोती हैं कि देखने वालोको लगता कि कहो ये खुद मर जायें, पर वहाँ

वास्तविकता देखो तो उनको जरा भी चोट नही लगती। वह तो उनमे एक ऐसा प्रदर्शन करनेकी कला है। तो भाव कुछ हो प्रवृत्ति कुछ हो, यह बात बनती कि नही ? इस विषयमे तो मानो मिथ्यादृष्टि अपना एक दिलचस्प आदर्श उपस्थित करता कि जो भाव है वैसी ही प्रवृत्ति दिखती है सम्यग्दृष्टिसे नही बन पा रहा ऐसा, जब तक कि चारित्रमोहका उदय है याने मिथ्यादृष्टिके मनमे मोह है, पाप है, खोटा भाव है तो वैसी प्रवृत्ति कर बैठता (हँसी)। और ज्ञानी पुरुष, सम्यग्दृष्टि पुरुष, उसका भाव निर्लेपमें है, उपेक्षामें है, ददफंदोसे हटे हुए हैं, मगर चारित्रमोहका ऐसा उदय है कि उसको प्रवृत्ति करनी होती है।

६४६—ज्ञानज्योतिकी केवलज्ञानकलाके साथ केलि—

यह ज्ञानज्योति जिसके प्रकट हुई है, सो उसका अज्ञान अधेरा सब दूर हो गया और परम कलाके साथ याने केवलज्ञानके साथ यह ज्ञानज्योति अपनी क्रीडा करना प्रारम्भ कर देती है। जैसे छोटे-छोटे बच्चे उसी घरानेके वडे-वडे राजा महाराजाओके पास निशक होकर खेलते है क्योंकि उनके कुटुम्बके ही तो बच्चे हैं तो ऐसे जो केवलीज्ञानी अरहत सिद्ध भगवान हैं उन्हीका तो लघुनन्दन है ज्ञानी सम्यग्दृष्टि, तो फिर क्यो न केवलज्ञानके साथ अपनी क्रीडा करेगा ? सारी महिमा ज्ञानज्योतिकी है लोग तो धनको परिग्रहको वैभवको वडा महत्त्व देते और अपनी इस काल्पनिक इज्जतको वडा मान बैठते इन लोगोमे बडा प्रतिष्ठित हूँ, समझदार हूँ, नेता हूँ और अपना वैभव देखकर जिसके पास जितना है वही उसे बडा मानता है। कोई वैभवसे यह हिसाब नही है कि जिसके लाखोका वैभव भरा हो सो ही धनी है। वहाँ धनी तो अपने-अपने मनके हिसाबकी बात है, मगर यह सब अधेरा है, इससे पार न पायेंगे, कल्याण न होगा। इन सब कलुषताओसे, कषायोसे हटना है और अपना जो सहज आनन्द स्वरूप है उसमे लगना है। तो शुभ अशुभभावोका प्रलय करती हुई यह ज्ञानज्योति प्रकट होती है।

६४७—अपने उपयोगकी परीक्षा करने व सम्हाल करनेका अनुरोध—

यहाँ अपनी-अपनी परीक्षा करलो कि हमारा उपयोग कहाँ लगा रहता है रात दिन। यह अपनी-अपनी बात अपनेको खूब मालूम पडेगी। किसीका उपयोग परिग्रहके सचयमे लगा, किसीका पुत्रोंमे, किसीका स्त्रीमे, किसीका अपनी इज्जत प्रतिष्ठामे, किसीका किसीमे…। जो-जो जिसको इष्ट वन रहा, वहाँ लग रहा चित्त। और आत्मामे न लग रहा हो चित्त, उस स्वरूपकी एक उमंग न उठती हो कि मैं अपनेमे वसे हुए सहज परमात्मतत्त्वको जानूँ तो सारा जीवन व्यर्थ समझियेगा उससे कोई लाभ नही, क्योकि जीनेके बाद मरना और जैसी करनी, जैसा उपयोग, जैसी यहाँ वासना वसी उसके अनुकूल कर्मवन्ध होता, उसका उदय होता, वैसा जन्म लेना पडता है। आज कोई मनुष्य यह सतोष नही किए हुए है कि भाई जितना उदयसे मिला वह तो गुजारेके लिए मिला, और गुजाराके लिये काफी मिला, गुजारा कर लो, हल्का गुजारा सही, सन्तोष रखो और धर्मके लिए ज्ञान वढानेके लिए जीवन समझो तो वह तो पवित्र जीवन है, जड वैभव सचित करनेके लिए मनुष्य-जीवन नही, किन्तु आत्माके स्वभावका परिचय पाकर यहाँ ही दृष्टि देकर वस निर्मल और प्रसन्न रहनेसे जीवनकी सफलता है। अपने उपयोगकी खोज तो करो, कहाँ उपयोग लगाना ? और देखिये—धोखा सब पायेंगे। जिसने विश्वास बनाया है इन पर वस्तुओमे तो उसको एक न एक दिन धोखा अवश्य मिलेगा। जब धोखा मिलेगा तो दुःख पायगा। वे परवस्तु मेरी कुछ नही है, वाहरी चीजें है,

पौद्गलिक वाते हैं, जो अजीव हैं दूसरे जीव हैं, उनसे मेरा क्या मतलब ? ऐसी बुद्धि नही कर पाते और इन जड वैभवोसे ही एक अपनी उमगका प्रभाव बनाते, अहकार बनाते। जो मैं हूँ सो मेरे बराबर और कौन रखा है ? मेरेमे बडी कला है, ज्ञान है, बुद्धि है। मानो सारा ज्ञान दो आँखोमे हो तो हर एक कोई यह सोचता है कि डेढ आँखें तो हमने पायी है और आधी आँख जगतके सब जीवोमे बँट गई, याने जगतके सारे जीवोका मिलकर जो ज्ञान हो उससे तिगुना अधिक ज्ञान हमने पाया, ऐसा सोचते है, ऐसी पर्यायमे आत्मबुद्धि बनाया है तो उसमे भला नही होनेका, कष्ट ही होगा। ज्ञान को बढावें, और अपने सकट मिटावें। भैया सकट बाह्य सग प्रसगसे न मिटेंगे। सकट मिटेंगे तो अपने ज्ञानबलसे ही मिटेंगे। सकट मिटेंगे तो अपने ज्ञानबलके द्वारा सो पहला काम तो यह करना कि स्वरूपको छोडकर, स्वभावको छोडकर बाकी जितने भाव है उनमे यह श्रद्धा यह बुद्धि लावें कि ये सबके सब मेरेसे वाह्य हैं, मेरे शरण नहीं हैं, मेरा शरण तो मेरा सहज परमात्म तत्त्व है।

६४८—नाटक और नाटककारकी मूल पहिचानमे नाटकके रंगका भग—

यह पुण्य पाप अधिकार चल रहा है और आज यहाँ समाप्त हो रहा है। क्या हुआ था कि कर्ममे घटाओ एक ही कर्म दो भेषोको रखकर अपना नाटक दिखाता आया था। ज्ञानीने उसे पहचान लिया कि यह वह एक ही तो है और यह कभी पुण्यका भेष रखता, कभी पापका। विभावोमे भी यह ही बात समझे। परभाव ही तो है सब, कभी शुभभावमे है, कभी अशुभभावमे हैं। तो जब पहिचान लिया कि है तो वह कर्म मूलमे एक और भेष रख रहा है दो, तो फिर वह मानो शर्मिन्दा होकर अपने भेषोको छोडकर इस मचमे निकल भागेगा। कोई बहुरूपिया आपकी दूकानपर आकर खूब डटकर खडा हो गया, कभी इन्स्पेक्टर बन कर कभी पोस्टमैन बनकर या कभी कोई दलाल बनकर, सो उसकी ऐंठ तब तक रहती है जब तक वह दूकानदार उसको पहिचान नही पाता कि यह तो फलाना है। जब वह पहिचान लेता कि अरे यह तो फलाना लडका है ऐसा भेष बनाकर आया है तो फिर वह बहुरूपिया झट वहाँसे आगे बढ जाता है, अभी कोई नाटक हो रहा हो तो उसमे लडके लोग अपना भेष धर धरकर आते हैं ना उस मच पर, सो देखने वाले लोग जब तक पहिचान नही पाते कि यह फलानेका लडका है, यह राजा बनकर आया है यह देखो कैसा इस प्रसगमे रो रहा है तो वे दर्शक लोग भी रोने लगते है, और कोई विजयकी बात हो तो दर्शक लोग हर्षसे ताली बजाने लगते और क्योजी जिसे पहचान हो जाय कि यह तो फलानेका लडका है और ऐसा भेष धर रहा है, देखो कैसी कला खेल रहा है तो उसपर उस घटनाका अधिक असर न होगा, क्योंकि वह जानता कि ऐसा हो नही रहा, यह तो फलाने का लडका है, उस तरहसे खेल दिखा रहा है। और, जिसकी बुद्धि जम गई कि सचमुच देखो धवल सेठने श्रीपालको पटक ही तो दिया आदि, जो यो देखेगा वह खेद मानेगा या प्रसन्न होवेगा, जैसी घटना हो। किन्तु जिसे मालूम है कि वह तो खेल ही तो हो रहा यह तो अमुकका लडका है यह अमुक का है, और ये तो आपसमे एक दूसरेके वडे दोस्त हैं, कोई इनमे विरोध थोडे ही है। यह तो दिखा रहे हैं लोगोको इस तरहसे पटक दिया, तो ऐसी बुद्धि वाला क्या रो सकता है ? न रोवेगा। तो ऐसे ही जिस ज्ञानी जीवने इस सारे ससारको खेलके रूपमे परखा कि यह सब नाटक हो रहा, वह इसमे हर्ष विषाद नही मानता। जैसे सनीमामे आप गो, और कोई थियेटरमे भी देखते, तो बताओ वह नाटक है कि नाटककी नकल ? वह तो नाटककी नकल है। तो नाटक फिर कहाँ है ? यहाँ हम आप सभी तो नाटक कर रहे और इसीका अगर फोटो ले लिया

जाय फिल्ममें ले लिया जाय और उसे दिखाया जाय तो वह नाटककी नकल है। सो नाटककी नकल देखनेको तो लोग पैसा भी खर्च करते और उसकी भारी चर्चा करते। चाहिये तो यह है कि असली नाटक देखे। क्यो पैसा खर्च करें, क्यो भारी हर्जा करें, क्यो व्यर्थमे रातभर आँखें फोड़ें ?

६४५—कर्मभेष तजकर स्वरूपमें रुचि करनेका अनुरोध—

जगतमे जितने भी ये कष्ट हो रहे, जितनी भी विषादकी बातें हो रहीं, ये सब कर्मके नाटक हैं। जो यह पहिचान जायगा कि कर्म तो एक पौद्गलिक चीज है, कर्म भेष धर-धरकर आ रेहे हैं पुण्य पाप तथा जीव तो चैतन्य चमत्कार स्वभाववाला है और यह भेष धर-धरकर जन्ममरण करता रहता है यह सब उसका भेप है, स्वरूप तो उसका एक विशुद्ध चैतन्यभाव निरपेक्ष सदा मैं जैसा हूं सो है। ऐसी जिसको वस्तुके वास्तविक स्वरूपकी पहिचान होती है उसको हर्ष और विषाद न सतायगा। कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ ये उस पर सवार नही हो पाते। तो सुख शान्ति होना है तो उसका मूल उपाय है कि सच्चा ज्ञान पावें। यह ज्ञान रागद्वेषको दूर कर अलौकिक अपूर्व आत्मोत्थ आनन्दका लाभ करता व अज्ञान अधकारको दूर करता, ऐसी सुस्थितिका काम वड़ा कठिन काम दिखता इन मोहियोको। ये जो ज्ञानीजन है उन्हे कठिन दिख रही है मोहियो जैसी बात करना। मोह करना उन्हे बहुत कठिन दिखता। कैसे किया जाय मोह ? कर ही नही सकता ज्ञानी मोह, क्योकि जब भेद-जान लिया कि सब जीव स्वतत्र-स्वतत्र है, फिर कैसे यह मान सकेगा कि यह मेरा है ? तो जैसे अज्ञानी मोही जीवोको उदासीनता पाना कठिन है, ऐसे ही ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवोको मोहियोकी तरह रोना वहाँ बन ही नही सकता। उनसे खेद, आकुलता बन ही नही सकती, किन्तु ज्ञानके बलसे वह सारे सग प्रसग विपदाओसे अलग हो गया और अपने उस परमात्मतत्त्वके दर्शन करके आनन्द पा रहा। तो लो यो ज्ञानीकी उपयोग भूमिसे पुण्य पाप अपना भेप छोडकर बाहर निकल गए।

—: आश्रवाधिकार :—

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररंगपरागतमास्रवं।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धर.॥११३॥

६४६—आश्रवविधान—

समयसारमे पहले अधिकारोमे यह बताया गया था कि आत्मकल्याण चाहो तो अपने निरपेक्ष सहज स्वरूपको जानो। वह सहज स्वरूप क्या है ? दर्शन ज्ञान स्वरूपी आनन्दमय, समस्त परद्रव्योसे निराला, अपने आपमें सहज है, उसमे जो विभाव जग रहे हैं वे विभाव मेरे स्वरूप नही हैं, वे पुण्य पाप कर्मके विपाक हैं। उनकी छाया माया प्रतिफलन है, और इस तरह जो नही जानता है उसको कर्मबन्धकी परम्परा चलती है, आश्रव होता है और जिसके फलमे ससारमे जन्म, मरण करना पडता है। तो अब तक अनादिसे यह ही नाटक चला आया है कि ये कर्म, ये विभाव ये मनमाना अपना ऊधम मचा रहे हैं सबपर, फिरभी अपनी वृत्तिपर जरा भी अफसोस नही कर रहा यह प्राणी और उमग मचा रहा है परवस्तुके लाभके लिए, आश्रव चल रहे हैं—कर्म बंध रहे हैं तो ये आश्रवभाव मानो आत्मामे कोई ऐसी त्रुटि, ऐसा छिद्र है कि जहां जिस कारणसे कर्मोका आश्रव होता रहता है। आश्रवका अर्थ मोटे रूपमे तो है आना और सही अर्थ किया है चारो तरफसे चूना। जैसे कोई ऐसा साधन हो कि वहाँसे पानीका धार तो नही गिरता किन्तु वह प्रदेश, पत्थर बूंद-बूंदसे चारों ओरसे

गीला हो जाता है, थोड़ा ही भरता है। तो जैसे उस पर्वतके एक भागमे सब ओरसे पानी चुवा है ऐसे ही आत्मामें चारों तरफसे कर्मत्व चुवा है, याने वे कार्मण वर्गणाये बाहरसे नही आती किन्तु अपने आपमे बसी हुई जो विस्रसोपचय हैं बस वे ही कर्मरूप बन जाती हैं, ऐसा इनका चूना है। भले ही कुछ थोडी दूरकी कार्मांण वर्गणाओका भी आश्रव हो, किन्तु उसकी मुख्यता नही, वे भी तो विस्रसोपचय बनकर तुरन्त कर्मरूप हो जाते हैं। तो आत्माने कोई गल्ती की, खोटा परिणाम किया तो तुरन्त ही यही बसी हुई कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। इस विपत्तिको यह प्राणी नही तक पा रहा, जिसको विषयोके साधनोमे मोह लगा है, इस तरह यहाँ आश्रव आता है।

६४७–महामदनिर्भरमन्थर आश्रवपर ज्ञानज्योतिका विजय—

अनादिसे आश्रवका इस जगतपर राज्यसा चल रहा है, और इसको महान मद आया, विकल्प आया, जिससे भरा हुआ यह आश्रव मथर बनेगा। जैसे यहाँ किसीने शराब पी हो, अहकार बसा हो तो जैसे उसकी एक मदायली धीमी प्रवृत्ति होती है ऐसो ही उसकी गति मथर हो गई मायनें कर्म आते कहाँसे ? यहींसे, कोई लम्बी जगह से नही। आत्माके प्रदेशमे ही कर्म बसे हैं जिसमे कर्मपना आया है तो ऐसी महान निधिसे भरे होनेके कारण यह मथरगतिवाला होता है अर्थात् अहकारके वश होकर उसकी मदायली जैसी प्रवृत्ति हो जाती है, ऐसे ही यह आश्रव अनादिसे इस जीवपर हुकुम करता लदा हुआ चला आ रहा है, लेकिन अनादिकाल बीत गया इसी पदमे, अब कुछ ज्ञानज्योति प्रकट हुई तो अब इनका युद्ध चलने लगा। जैसे कभी कोई कहता है कि ऐसा मालूम होता है कि हममे कोई दो चीजें बसी हैं याने कहो मन और प्रभु मन तो खोटे कामके लिए उमग जाता है, पाप करनेके लिए, व्यसन प्रकृतिके लिए यह मन एक उत्साह दिलाता है, उमग दिलाता है, प्रवृत्ति कराता है और प्रभु उसे रोकता है। कभी दो मन जैसे हुआ करते तो वे दो मन नही हैं। मन तो वहाँ एक ही है पर वह कुछ ध्यानमें वासित है, कुछ कषायसे वासित है, तो ऐसे प्रदेशमे उसकी ये दो धारायें चलने लगती हैं। अब आ गया ज्ञान समररगमें, युद्धस्थलमे तो यहाँ अब दो का युद्ध है—आश्रव और भेदविज्ञान ज्योति, यह ज्ञान धनुर्धारी, जिसका जीतना बडा कठिन है। असली और नकली जब इन दो की मुठभेड होती है तो नकलीका क्या वश चलेगा ? देखिये परभाव और स्वभावज्योति जब इन दो का मुकाबला होगा तो परभावका विलय होगा। तो यहाँ सम्यग्ज्ञान रूप धनुर्धारी अब वहाँ विजय पाता है आश्रव पर। कैसी है यह ज्ञानज्योति जो आश्रवपर विजय पा रहा ? सो सुनिये।

६४८–बोधधनुर्धर वीर ज्ञानतत्त्वकी उदारता व गंभीरता—

यह उदार है क्योकि इष्ट विषयसे प्रीति नही, अनिष्ट विषयमे द्वेष नही; किसी पर पक्षपात नहीं, समताकी गलीसे चलने वाला है, जो सही ज्ञान है वह उदार हुआ करता है, साथ ही गम्भीर बन गया याने अब उसमे तरग नही उठ रही, लहरें नही उठती। जैसे कभी हवा न हो तो समुद्र अपनी शान्त मुद्रामे रहता है, तरग उठी तो उसमे खलबल हलचल हुई। ज्ञानके ऊपर रागद्वेषकी तरग चली तो खलबल हलचल होती, पर सम्यग्ज्ञानने अपने ज्ञानस्वभावको उपयोगमें लिया है तो वहाँ तरग नही, इसलिए वह गम्भीर है। ऐसे महान अभ्युदयके लिए जिसका अभी तक विकास न था, ऐसा ज्ञान होता है और आश्रवपर विजय प्राप्त करता है, आश्रव चीज क्या हैं ? अकर्मरूप पुद्गलमे कार्माणवर्गणा एक जाति होती है पुद्गलकी जिसका नाम कार्माणवर्गणा है वह कर्मरूप बन जाता है। कैसें बन जाता कर्मरूप, जो पहले बाँधे हुए कर्म हैं उनका उदय आया, उसका निमित्त

पाकर नवीन कर्म आ जाते हैं, और उन उदय वाले कर्मोंमें निमित्तपनेकी बात आ रही हैं जीवके रागद्वेष मोहभावका निमित्त पाकर। यह अज्ञानभाव है, जिसको करते हुए यह जीव अपने आप चतुराई समझता है। किसीको अगर ठग लिया तो उसमें बडी चतुराई समझता है, देखो मैंने उसे कैसा उल्लू बनाया, ठग लिया। अरे यह नही जानता कि खुदको ही ठगा है, दूसरेको नही, मेरा तो सब कुछ मेरे पुण्य पापके अनुसार होगा, मगर खोटे परिणाम हुए तो खुदको ही ठग लिया। तो देखो खुदको कितना ठग रहे लोग। रात दिन राग करके द्वेष करके अज्ञान बताकर खुदको कितना ठग रहे, लूट रहे, यह लुटावा इस जीवका तब तक चलता ही रहेगा जब तक अज्ञानभाव है।

६४६—ज्ञानज्योतिके प्रकट होनेपर अज्ञानभावका प्रलय—

ज्ञानज्योति जहाँ प्रकट हो रही वहाँ अब अज्ञानका आविर्भाव नही होता। आत्मा तो एक है, उपयोग भी एक है। जब उपयोगमे ज्ञानज्योति आयी तो अज्ञानके भाव सब दूर हो जाते हैं और आश्रव भी दूर हो गया, क्योंकि आश्रव तो इस जीवके रागद्वेष मोहके बलपर हुआ करते थे। याने चीज तो वह एक ज्ञान है मगर वहाँ रागद्वेष मोहका सबध है तो वहाँ अज्ञानका वातावरण बन गया। और, वहाँ कर्मका ग्रहण हो गया। यदि रागद्वेष मोहका सम्पर्क छोड दें तो कर्मका आश्रव भी दूर हो जायगा। जैसे लोहेके पास चुम्बक रख दो तो लोहा खिंच आयगा और चुम्बकको दूर धर दो तो क्यो खिचेगा? ऐसे ही रागद्वेष मोहभाव बसेंगे तो कर्मका परिणमन होगा, रागद्वेष मोहभाव न रहे तो कर्मका आश्रव कैसे रहेगा? देखो एक तो होती है घटनाकी बात और एक होती है उपयोगमे श्रद्धामे रहनेकी बात। जैसे सम्यग्दृष्टि अपने उपयोगमे ज्ञानमे अविकार चैतन्यस्वरूपको ही समाये है, उसके बुद्धिपूर्वक आश्रव होते ही नही, और घटना देखो तो जब तक कमजोरी है, भीतर वासना है, रागद्वेषके साधनभूत कर्मका विपाक है तो अबुद्धिपूर्वक चल रहा है आश्रव, पर जो ज्ञानी निमित्तनैमित्तिक भावका तथ्य जान गया वह जानता है कि वे जीवभाव नही हैं। ये रागद्वेषके जो परिणाम हैं वे मेरे भाव नही हैं। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। सो जहाँ यह तोड कर दी तो जैसे कोई फल टूट जाय डठलसे तो वह डठलमे कैसे जुडेगा फल? ऐसे ही मेरे ज्ञानमे सही बात समा गई और रागद्वेष मोहको अलग कर लिया तो ये रागद्वेष मोह अब जीवके साथ एकत्वको कैसे प्राप्त हो सकते? यही तो एक अपनी विजय है। भीतरमें हीं ज्ञान सम्हालना है, फिर अपनी पूरी विजय है। रागद्वेषमोह ये ही कर्मोंके आश्रवके जनक हैं, इन्हे दूर करें फिर अपनी विजय ही विजय है।

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभाव सर्वभावास्रवाणां ॥११४॥

६५०—ज्ञानी जीवके भावकी ज्ञाननिर्वृत्तता—

रागद्वेष मोहके विना जो जीवका भाव, जीवका ज्ञान परिणाम चलता है वह तो ज्ञानसे रचा हुआ ही है। रागद्वेष तो अज्ञानभाव हैं, और ज्ञान जब ज्ञानस्वरूपको देखे जाने तो वह ज्ञानभाव है। भैया, अपने-अपने उपयोगको तो देखें, आपका ज्ञान कहाँ लग रहा है। आपका ज्ञान जहाँ लग रहा आपके लिए तो बस वही सर्वस्व है, दूसरा कुछ नही है। यहाँ फिट बैठती भी नही यह बात कि आपके ज्ञानमे जो बात बस रही, मकान धन, परिवार आदिक, सो यही आपके लिए सर्वस्व है, यह बात फिट बैठती नही। फिर भी ज्ञानमे उन्ही परतत्त्वोंको बसाये हुए हैं और अपने ज्ञानसे आत्माका ऐसा ज्ञानका प्रकाश ही रहे तो यहाँ बात फिट बैठती है। कितनी सुगम बात है। खुद है, खुदको ही

तो जानना है पर इतनी सुगमता होनेपर भी कषायका ऐसा उदय है, प्रभाव है कि इसे यह बात बडी कठिन लग रही है। घर की बात कठिन लगे, दूसरेकी बात आस न लगे। घरके बच्चोकी ऐसी आदत होती कि घरका भोजन रुचता नहीं और दूसरेके घरका भोजन सूखा-रूखा भी हो तो भी रुचता है, तब ही तो बच्चोमें ऐसी आदत देखी जाती कि वे अपने घरमें न खाकर, कहीं मौसीके पाससे कुछ खा आये, कहीं बुवाके पाससे तो कहीं किसीके पाससे। तो ऐसे ही ये ससारी अज्ञानी मोही प्राणी अपने आपके स्वरूपमें बसे हुए निज ज्ञातानन्द स्वरूपको न चखेंगे, किन्तु परवस्तुके भोग चाहेंगे। तो जहाँ रागद्वेष मोहभाव है वहाँ अज्ञानभाव है, जहाँ रागद्वेष मोह नही है वह तो ज्ञानसे ही रचा हुआ भाव है याने ज्ञानसे ही पैदा हुआ, ज्ञानसे ही बना, ज्ञानको ही बनाया।

६५१—ज्ञानमय भावकी स्वाधीन वृत्ति—

ज्ञानमय भावकी रचना एक ऐसी स्वाधीन है जिसमे किसी अन्य-अन्य तत्त्वकी अपेक्षा नहीं। कोई भोजन बनाता है तो बनाने वाला और, आधार और तवा आदिक साधन आटा वगैरह अन्य, आग जल रही, कितना झझट है और आत्माके अनुभवके काममे कोई झझट नही। यह ही ज्ञान अनुभव करता, इसी ज्ञानका अनुभव होता, इसी ज्ञानमे अनुभव होता। इसमे किसी परतत्त्वकी कोई अपेक्षा ही नहीं होती। तो कितना स्वाधीन काम और अपनेको लग रहा है कठिन और परपदार्थोंमें रमनेके विकल्पके काम इनको लग रहे हैं सरल। सो जिसकी जैसी रुचि है उसे उस प्रकारकी बात सरल लगती है और उसके खिलाफ कोई बात आये तो वह उसे बडी कठिन जचती है। किसी बालकको ऐसा कोई देख ले घर पडोसके कि यह तो केवल धर्म-धर्ममे ही चित्त देता, मदिरमे, त्यागियोके सग सेवामे यहाँ ही चित्त देता है, न इसे खाना रुचता है, न घर रुचता, न काम रुचता, न लोग रुचते, सो एकदम ऐसा सदेह करने लगते कि कहीं इसका दिमाग खराब तो नहीं हो गया। डाक्टरको भी दिखाते। उन्हे आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसा कर्तव्य होता कि अपने घरको न देखें, किसीसे राग नही, मोह नही। बस त्यागियोके सग ही बना रहे। जब हम कथानक सुनते हैं कि सुकौशल, सुकुमाल, गजकुमार आदि महापुरुष ऐसे उपद्रवके समय भी अपने ध्यानसे विचलित नही हुए। सुन लेते हैं, मगर हृदय अनुभव नहीं कर पाता कि ऐसा भी हो सकता, क्योकि जिसकी जैसी रुचि है उसकी वैसी प्रवृत्ति होती। तो जीवके जब ऐसी केवल ज्ञानज्योतिका विलास चलता है, जिसमे रागद्वेष मोहभाव नही है तो वह सारे द्रव्यकर्म आश्रवको रोकता है, अब उसमे शुभ अशुभ विभाव नही चलते बुद्धिपूर्वक और कर्मोंका आश्रव नही होगा, बस यह ही कहलाता है समस्त आश्रवोका अभाव। जब ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाये, स्वानुभव हो रहा तो वहाँ अबुद्धिपूर्वक कुछ भी हो पर बुद्धिपूर्वक विगाड वहाँ रच भी नहीं है।

६५२—बहिस्तत्त्वका आग्रह तजनेमें ही कल्याण लाभ—

हितके लिए अपना कर्तव्य क्या है? बस अपनेमे बसे हुए सहज परमात्मतत्त्व को इस ज्ञानस्वरूप को निहारो और जरा भी ऐसी भीतरमे श्रद्धामे न लावो न बनाओ कि बाहर मेरा कुछ है। जो कुछ कुछ चाहेगा उस पर विपत्ति ही आयगी, लाभ कुछ न मिलेगा। कुछकी हठ छोडो परिवारसे हमे कुछ मिलेगा, दूकानसे कुछ मिलेगा, अमुकसे कुछ मिलेगा। अरे जो हो सहज सो हो, पर अपने आत्मस्वरूपके सिवाय बाहरमे पर द्रव्यमें किसीकी भी, कुछ भी इच्छा न रखना। श्रद्धामे ऐसा निर्मल बनना है। कुछ चाहने वालेको क्या मिलता? कोयला। एक नाई सेठकी हजामत बना रहा था। वह

सेठ था कुछ डरपोक, कुछ वहमी। जब वह नाई सेठकी हजामत बना रहा था तो अस्तुरा कभी कभी गर्दनके पास तक भी जाता था। सेठ खूब डर रहा था कि कही ऐसा न हो कि यह नाई हमारी गर्दन ही साफ कर दे। सो उस डरके मारे सेठने कहा नाईसे—भैया खूब अच्छी तरह दाढ़ी बनाना, हम तुम्हे कुछ देंगे। तो वहाँ नाईने समझा कि सेठजी हमे न जाने क्या वैभव हमे देंगे पुरस्कार रूपमे। खैर जब हजामत बन चुकी तो सेठने १) निकालकर नाईको दिया। पहले तो दिया करता था कोई दो आने, पर उस दिन १) दिया। तो वहाँ नाई अड गया, बोला—सेठजी हम १) नही लेते आपने तो कहा था कि हम कुछ देंगे, सो जो देना हो सो दे दो। सेठने १०, २०, ५० दिए, पर नहीं लिया, मोहर दी, पर नही लिया, वह कुछकी अड करके बैठ गया। सेठ बहुत परेशान हो गया, बहुत सोचा कि अब मैं इसे क्या दे दूँ। कुछ समझमें नही आता। खैर इसी प्रसगमे सेठको लग गई प्यास सो नाईसे कहा—जरा वह आलेमे रखा हुआ दूधका ग्लास दे देना। कुछ दूध पी लें, फिर तुम्हे देंगे कुछ। नाईने झटसें गिलास उठाया, नजर गई तो उसमे कुछ पडा था, समझमे न आया, तो झट कह उठा अरे सेठजी इसमे कुछ पडा है। "क्या कुछ पडा है ?"—"हाँ कुछ पडा है।"—"अच्छा तो तू उसे उठा ले क्योकि तू कुछकी अड किए पडा था। लो नाईने उसे उठाया तो क्या पाया ?"—कोयला। तो भैया जो कुछकी हठ करता है उसे कोयला ही हाथ लगता है अर्थात् उसे कुछ नही प्राप्त होता। आज जो लोग इन बाह्य पदार्थोंकी आशा तृष्णा लिए बैठे हैं, बस कुछ मिले, यही हठ किए बैठें है तो उसके फलमे लाभ मिलेगा कुछ नही, उल्टी बरबादी ही होगी। अरे एक अपने आपके ज्ञानस्वरूपको ग्रहण करो। वही अपने लिए सर्वस्व है, सारभूत बात है।

९५३—अपनेको सर्वविविक्त कृतार्थ निरखनेका संदेश—

भैया, अपनेको सर्वसे निराला, कृतकृत्य देखो। बाहरमे कही कुछ करनेको नही पडा। कुछ किया ही नही जा सकता बाहरमे। केवल यह भाव ही तो बनाना है जीवको। भावसे अतिरिक्त यह जीव कुछ नही करता। बाहरमे मेरेको करनेको कुछ नही पडा। वहाँसे वह विश्राम लेता है, अपने आपमे रमता है और अपना आनन्द बढाता रहता है। किन्तु जो बाहरी पदार्थमे इष्ट अनिष्टकी बुद्धि रखता है उसके उदारता खतम हो जाती है, गम्भीरता रच भी नही रहती है। झगडा कलह ये उसके एक खेलसे बन गए हैं। यह तो अनादिसे चला आया है, उसमे ही रम रहा है। उसके आश्रव होता, ससारमे रुलना होता। कुछ थोडा भी यदि सोच लिया जाय कि हम मनुष्य हुए हैं तो यह भव तो सदा नही रहनेका। यह तो कुछ ही दिनोका है और तिसपर भी यह निश्चय नही कि हम कल भी जीवित रहे, अगले क्षण भी जीवित रहेंगे। भले ही आशा बना रखी है, मगर निश्चित तो कुछ नही ना। जब मृत्यु हमारे सिरपर ही मडरा रही है तो फिर यहाँ भोगोकी प्रीतिसे कौनसा काम साध लिया जायगा ? एक अपने आत्मस्वरूपको देखो, उस ही मे तृप्त हो, उसी की बात करो, अपने स्वरूपकी प्राप्तिके लिए तन, मन, धन, वचन, प्राण सब कुछ भी समर्पित करने पड़ें, तो करें। उसने एक बहुत बडी निधि पायी जिसने अपने आत्माके सहज आनन्दमय स्वरूपकी उपलब्धि की। यह ही है ज्ञानज्योति, जो धनुर्धारी बड़ा वीर, सारे कष्टोको नष्ट कर देने वाला है। यह आत्मज्ञान प्रकाश जहाँ उदित होता है वहाँ फिर कर्मोंका आश्रव नही रहता।

९५४—हेय तत्त्व आस्रवपर संवरका विजय—

आश्रव बध ये दो ही तो ससारके तत्त्व हैं। ७ तत्त्व जो बताये गए—जीव, अजीव, आश्रव, बध,

सम्वर, निर्जरा और मोक्ष, इनमें हेय तत्त्व क्या हैं ? जो बुरे हैं, जो हमें छोड़ना ही चाहिए, इन ७ में हेय तो दो तत्त्व है आश्रव और वन्ध । ये भलेके लिए नही हैं । इनको छोड़ना ही चाहिए । और, उपादेय तत्त्व क्या है जिसको कि ग्रहण करे ? तो अत्यन्त उपादेय तो है मोक्ष और मोक्ष न मिले जब तक, उसकी प्राप्तिके उपायमें उपादेय है सम्वर और निर्जरा । तो आश्रव वन्ध हैं हेय, सम्वर निर्जरा हैं उपादेय और मोक्षतत्त्व है सर्वथा उपादेय, अत्यन्त उपादेय । और जीव और अजीव ये पदार्थ हैं, ज्ञेय है इन्हे जान ले । केवल जीव अजीवमें हेय, उपादेय पानेकी क्या बात ? पदार्थ हैं, अपना-अपना सत्त्व लिए हुए हैं । तो हेयतत्त्व कौन कहलाये ? आश्रव और वन्ध, और इनमे भी मूल कौन है । आश्रव । आश्रव हो तो बधका मौका मिलता तो ऐसा जो हेयतत्त्व आश्रव है उस पर विजय पानेसे प्रकट हुआ है यह सम्यग्ज्ञान । इस सम्यग्ज्ञानके वलसे ये सारे आश्रव रुकते हैं और अपने भीतर वसे हुए सहज परमात्मतत्त्वसे इसका मिलाप होता है । प्रभु मिल गए । अपना प्रभु अपनेमे जो वसा वह मिल जाय, इससे बढकर जगतमे और कोई सारकी वात नही है ।

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

६५५—विभावविषको तजकर स्वभावामृतका पान करनेकी प्रेरणा—

जितने भी संसारमे कष्ट हैं वे अब अपने स्वरूपकी सुध छोडकर कर्मविपाकसे उत्पन्न हुए, कर्मरसमें, कर्मलीलामे अपने उपयोगको जुटानेमे हुये हैं । साफ स्पष्ट मामला है । दो बातें हैं—आपको अगर सवसे निराले निज अन्त स्वरूपकी रुचि है और मात्र उसमे ही रहकर आप प्रसन्नता पा सकते हैं तो आपका भविष्य उज्जवल है और इस आत्मस्वरूपकी सुध छोडकर इस कर्मरसमें, इस ज्ञान-विकल्पमें, इन रागद्वेष भावोमें, इनके बाह्यसाधनभूत पुत्र, मित्र, स्त्री कुटुम्ब वैभव आदिकमे यदि आपकी उमग है, रुचि है तो नियमसे भविष्य खराब है, दुर्गति ही प्राप्त होगी । दो ही निर्णय हैं और ये दोनो ही बातें अपने आपके उपयोगपर निर्भर हैं । भला वतलाओ—जहाँ इतनी छूट दी जाय कि तुम चाहो तो अमृत पी लो यह भी रखा सामने और तुम चाहो तो विष पी लो, यह भी सामने रखा है । अब उसमे कोई विष पीनेकी ही हठ करे तो उसका और इलाज क्या है ? ऐसे ही अपने आत्मक्षेत्रमे स्वयं अनादिनिधन ज्ञायकस्वभाव परमात्मतत्त्व निरन्तर बसा हुआ है, और पर्यायमे बाहर रागद्वेष विकल्प ये चीजें चल रही हैं, अब तुम्हारी रुचिकी ही बात है । अगर पर्यायमे रुचि करते हो तो दुर्गतियाँ ही प्राप्त होगी और स्वभावमे रुचि होती है तो आपका भविष्य उज्ज्वल होगा, सकटोसे मुक्ति मिलेगी । तो देखो यदि कोई स्वभावामृतको तजकर विभावविषका पान करता है तो उसे क्या कहोगे खुद एक अपनेको अपना प्यारा; अपना श्रेय जानकर अपने पर दया कर लीजिए । भीतरी ही बात है । समाधान और प्रयोग कीजिये कि कहाँ उपयोग जमायें कि इस जीवका कल्याण हो ।

६५६—ज्ञानतत्त्वकी लगनमे ही उद्धारकी संभवता—

भैया, एक बात कहे देते हैं और आप उसको चाहे कहीं शिलापर अकित कर रखलें—ज्ञानके प्रति, ज्ञानकी साधनाके प्रति यदि उमंग नही जमी है और उसके विरुद्ध तृष्णाका रग जमा है तो उद्धारका रास्ता नही मिलता । यह बात एक प्रयोगकी है । जो मनं आये सो करो मगर यह सदा ध्यान रखना कि सर्वोत्कृष्ट वैभव ज्ञान है, ज्ञानस्वभावका परिचय है । अगर इस ज्ञानके प्रति उमग

नही है तो समझिये कि केवल ज्ञानकी सम्भावना नही है। केवलज्ञान होनेके लिए उसे इस ज्ञानबीजमे पतपना है, यह ही एक बीज है, ज्ञानस्वभावकी प्रीति, जिसके लिए तन भी हाजिर, मन, धन, वचन प्राण भी हाजिर, ये सब भी अगर न्योछावर हो जायें तो भी वहाँ आपने सर्वस्व पाया, ऐसे ज्ञानस्वभावके प्रति उमग नही है और धर्मके नामपर चाहे आप मन्दिर निर्माण करें, चाहे आप धर्मशाला बनवायें, चाहे और-और भोज खोल दें, कुछ भी काम करें, एक ऐसे ज्ञानकी उमग नही, रुचि नही तो आपको मोक्षमार्ग न मिलेगा। ससारके सकटोसे छुटकाराका रास्ता न मिलेगा। ज्ञानकी बात चल रही, ज्ञानमे कितना वैभव पडा है, ज्ञानमे कितना आनन्द बसा हुआ है, उपयोग ही तो है, बाहर तो हमारा कुछ नही। ये ये हैं, बाहरमे बाहरी बाते है, कोई सबध तो नही बाहरकी चीजोसे, बाह्य सगप्रसगसे दु ख ही दु ख है। यही ज्ञानतत्त्व इसके लिये सर्वस्व है, बाकी तो सब धोखा है, और ऊधम है।

९५७—अनात्मतत्त्वकी रुचि तज देनेका अनुरोध—

अहो, अपने आत्माको नियत्रणमे रख नही पाते और इन असार पदार्थोंमे रुचि और तृष्णा घर कर रही है, तो बतावो, क्या पावोगे। रहेगा कुछ नही, छोडकर सब जाना होगा। दूसरे लोग ही इस बातको समझ पायेंगे कि सारे जीवन इसने कुछ नही किया। धर्मकी, ज्ञानकी कोई बात नही की, छोडकर चले जायेंगे। खुद कैसे समझेंगे ? खुद तो अगले जन्म मे पछतायेंगे। पछता भी न पायेंगे, क्योकि पछताना तो तब बनेगा जब यह ज्ञान हो कि मैंने पूर्वभव व्यर्थ गमाया था, इस कारण मैं पशु हुआ हूँ, पर यह ख्याल कहाँ आयगा ? बस कष्ट ही भोगना हाथ रहेगा, इसलिए चेतो, अपनी मोड मोडो, ज्ञानस्वभावकी रुचि करो और इस ही आत्मज्ञानके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करदो, अन्य कुछ नही। कहते तो रोज-रोज पूजामे भगवानके सामने—पुण्य समग्रमहमेकमना जुहोमि। वहाँ, चूँकि वह ज्ञान-ज्ञान ही दीखा वही भगवान, उसकी भक्तिमें कहते हैं कि इस केवलज्ञान रूपी अग्निमें उस सारे पुण्यको मैं एकमन होकर स्वाहा करता हूँ। पुण्य वैभवकी रुचि थी इसलिए पुण्य वैभवके स्वाहाकी बात किया। पापमे रुचि नही है तब तो इतनी पात्रता है। प्रभुभक्ति कर रहे हैं और पापमे रुचि हो, धन सतान वैभव चाहना, दूसरोको हराना मुकदमेमे हराना, अन्याय करना, अन्याय करते हुए भी दूसरोपर विजय पावे, ऐसी इच्छा आकाक्षाये बनाता है तो उसे पापमे रुचि कहेंगे या पुण्यमे ? पापमे कहेंगे। तो एक अपनी सम्हाल करें, इसीमे सार है, बाकी बाहरी पदार्थोंकी सम्हाल करनेमे एक विकल्प जाल है, और उस विकल्पजालमे अपने आपका उद्धार नही।

९५७—प्रवृत्ति होनेपर भी ज्ञानीका आतरिक लक्ष्य—

ज्ञानी जीवने क्या पाया ? अविकार अपने आत्माके स्वभावकी दृष्टि। समझ बनी कि मैं अपने स्वरूपमे केवल एक प्रकाशमात्र हूँ, बीत रही घटनाके निषेधके विषयमे समय गमाना वह तो एक अन्याय है। परिणतिका विरोध करके स्वभावकी एकान्तत. चर्चा करना अच्छी बात नही, क्योकि सत्यका अपलाप क्यो किया जा रहा ? घटना तो हो ही रही लेकिन उस घटना ही घटनामे चित्त बसाये तो आत्माका उद्धार नही। है घटना, मान ली, मगर किसको हम दृष्टिमे लें कि हमारा उद्धार हो। वह क्या है ? अपना सहज स्वरूप। उसे ज्ञानमे लिया तो अब जितने भी भाव बनेंगे वे ज्ञानमय भाव बनेंगे। कषायके काममे भी प्रवृत्ति हो रही मगर भीतर तो देखो रुचि कहाँ है ? और लगन कहाँ है, धुन कहाँ है, यह बात जिनके हो उनकी ही वह चर्चा है। ज्ञानकी बाहरी क्रियाको देखकर उन

क्रियायो का तो आग्रह कर लिया, पर ज्ञानीकी अंत साधनाका कोई रहस्य ही नहीं समझ पाया, तो उससे काम नही बनता। एक किताब है गधेकी कहानी नामकी। एक धोबीके पास उसका एक गधा था और उसकी एक कुतिया भी थी, जिसके छोटे-छोटे पिल्ले भी थे। कुछ बडे हो गए वे पिल्ले तो वह धोबी उन पिल्लोको खूब खिलाये, हाथसे उठाये, कधेपर बिठाये, छातीसे लगाये—अब वह सोचता है कि मैं तो मर रहा भारसे और मैं ही इसके कुटुम्बका पालन पोषण करता हूँ, मैं इसके परिवार को खिलाता हूँ, मैं तो इतना कमाता हूँ, मगर यह धोबी हमको नही खिलाता हमसे नही प्यार करता। तो उसने सोचा क्या कारण है। कि मै इतना तो काम करता हूँ और फिर भी यह मुझको तो खिलाता नही और इस कुत्तेको खिलाता है, उसको समझमे आया—ओहो इन पिल्लोपर इसलिए धोबी की इतनी प्रीति है कि ये इसको अपने पैरोसे मारते हैं, ऊपर चढते हैं, काटते हैं—बस ऐसा ही काम मैं भी करूँगा जिससे हमारा यह धोबी मालिक हमसे प्रीति करेगा, हमको खिलायगा। इस आशासे उसने धोबीके पास जाकर फटाफट लातें मारना व काटना शुरू कर दिया, पर वहाँ काहे का प्यार? वहाँ तो फटाफट डडे बरषने लगे। वहाँ गधा सोचने लगा अरे हमसे ऐसी क्या भूल हो गई जो हमपर डडे बरसे। तो सबकी बात जुदी होती है। किसीकी बाहरी क्रियायें देखकर उनकी नकल करने मात्रसे कार्यकी सिद्धि नही होती। ज्ञानीकी बाहरी क्रियायें भी ऐसी ही होती हैं जैसाकि प्राय रिवाज है धर्मके प्रसगमे पूजा, दया, दान, त्याग, व्रत उपवास आदिक का, मगर यह ज्ञानी कैसा परिणम रहा, कैसा ज्ञान बना रहा, किस ओर दृष्टि दिए हुए है, यह तो ध्यानमे आया नहीं और ऊपरी क्रियावोकी नकल करे कोई तो नकल मात्रसे अन्त शान्ति तो नही आ सकती, वह तो बाह्य प्रवृत्ति मात्र आयगी। होता ही है ऐसा पदमें, ऐसा कर्तव्य ही है मगर किसके लक्ष्यसे, किसके आश्रयसे कर्म कटते हैं इस बातका भी तो ध्यान करें। आत्मस्वभावके आश्रयसे कर्म कटते हैं। तो ज्ञानीने अपने सही ज्ञानस्वरूपको निरखा तो उसके अज्ञानमय भाव सब रुक गया, अब ज्ञान-ज्ञान जैसा ही भाव चल रहा। अब उसके ज्ञानस्वरूपमे धुन होनेसे ऐसी निर्मलता जगी है कि पूर्वबद्ध कर्म उदयमे आवे तो वे भी अबुद्धिपूर्वक या कम अनुभागमे प्रकट होकर निकल जाते हैं।

६५६—ज्ञानीके भावास्रवका अभाव और द्रव्यास्रवसे स्वत एव भिन्नपना—

देखो जो कर्म आज बाँधे हैं उन कर्मोका फल आज ही नही मिलता। वह सत्तामे पडा रहता है। जब उनकी सत्ता पडी होनेको होती है याने प्रकट होने आती है तब उसका फल प्राप्त होता। तो देखो अज्ञान अवस्थामे तो कर्म बाँधे थे, पर जब कर्म उदयमे आनेका समय हुआ उस समयमे इसकी ज्ञान अवस्था बन गई, तो पहले तो पृथ्वीके डेलेके समान पडे थे, याने उनका कोई कुफल न था। अब ये विपाककालमे आये सो ज्ञानीका मन विरक्त हो गया तो अब वे भी निष्फल हो रहे हैं। जैसे किसी बडे उम्र वाले पुरुषने एक छोटी कन्यासे विवाह किया। पहले था रिवाज—तो वह कन्या मानो ८-९ वर्षकी थी, तो वह उपभोगके योग्य नही है, जब वह जवान हुई और उपभोगके योग्य हुई तो पुरुषके ज्ञान व वैराग्यका अभ्युदय हुआ। देखो विवाहके बाद वह कई वर्ष तक बेकार रही, और जब वह उपभोग के योग्य हुई, जवान हुई और इस पुरुषको भीतरमे ज्ञान जग गया, अन्त वैराग्य बना, ज्ञानस्वरूपकी धुन बनी तो उसको उपभोग तो कुछ नही हुआ। जैसे एक मोटी कहावत है कि जब दाँत थे तब चने न मिलते थे गरीबीके कारण और जब चने हुए याने गरीबी दूर हुई तो दाँत नही रहे। तो जब कर्म बाँधे, अज्ञान अवस्था थी सो पहले बाँधेका तो फल पा रहा, मगर इस

समय बाँधेका फल नही मिल रहा । और, जब उनका फल मिलनेका समय आया तो यहाँ कषायकी उमग न रही । ज्ञानस्वभावमे प्रीति जग गई, तो यही तो हाल हुआ ज्ञानीका । उसके अब भावाश्रव नहीं रहा । देखो जो कर्म थे उनसे तो न्यारा था ही यह जीव स्वरूपदृष्टिसे । यद्यपि यहा बन्धन तो है मगर स्वरूपको देखो तो जो द्रव्यकर्म है, द्रव्याश्रव है उससे तो यह भिन्न है, स्वय यह ही क्या ? अज्ञानी भी भिन्न है, ज्ञानी आत्मा भी भिन्न है, क्योंकि वे पदार्थ दो प्रकारके हैं और दो पदार्थ विभिन्न होते ही है मगर जैसे ही इसको अपने ज्ञानस्वरूपकी सुध हुई वह भावाश्रवसे भी दूर हो गया। सो भावाश्रव तो इसके रहा नही, मायने भावोका आश्रव नहीं रहा, रागद्वेषके प्रति इसकी उमग नही रही, लगाव नही रहा, उसे सर्वस्व समझे यह बात अज्ञानमे थी । अब तो विरक्त हो रहा । तो भावाश्रवका अभाव हो गया ज्ञानीके, और द्रव्यकर्म सो जुदा है ही । अब यह ज्ञानी सदा ज्ञानमय ही एकभावमे बस रहा । अब यह तो ज्ञायक है, ज्ञाता है ।

६६०—अन्तस्तत्त्वके आश्रयका प्रताप—

आत्मस्वभाव व विभावोमे भेद विज्ञानकी बातें जिन्होने पायी वे हैं अमीर और भेदविज्ञानकी छटा जिन्होने नही पायी, वे विषयोमे रमते, कषायोमे रमते, इष्ट अनिष्ट सोचते, धन वैभव ही अपना सर्वस्व समझते । उनके उपयोगमे ज्ञानभावको, परमात्मस्वरूपको रच भी स्थान नही, और कदाचित् भक्ति भी करें, कुछ धर्म भी करें जिसे समझ रखा तो केवल वैभवकी तृष्णाके कारण करते है, उन्हे वह दृष्टि मिली नही कि जिससे यह प्रकाश जगे कि ये धन वैभव ये अत्यन्त तुच्छ बातें हैं । तो यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने भावोमे इतना स्पष्ट निर्मल हो गया, ऐसे ज्ञानीकी सेवा मिलना ही बडा कठिन और दुर्लभ है । ज्ञानी सतकी सेवा भी जिसे प्राप्त हुई वह भी एक बहुत बडा भाग्यवान है, उसका निर्मल भवितव्य है और फिर जिसने उस ज्ञानीके अन्त स्वरूपका परिचय पाया कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानको कहाँ छुवे रहता है, वह कौनसा तत्त्व है कि जिसमे रमण करके यह अपने आपमे अपना प्रसाद पाये हुए है, उस ज्ञानीकी कलाका परिचय हो जाय यह उससे भी अधिक सौभाग्य और सुभवितव्यकी बात है । और, फिर उस परम ज्ञानकलाके प्रति ऐसी उमग उठी कि मुझे यह ही चाहिए, बाकी तीनो लोकका वैभव भी तुच्छ है । त्रिलोकके वैभवसे मेरे आत्माका उद्धार नही, बल्कि बरबादी है, यह भाव जहाँ जम गया और अपने अन्त उस सहज परमात्मस्वरूपमे भक्ति जग गई तो समझिये कि हमारा ससार सकट छूट गया । जैसे एक पेड कट गया जडसे गिर गया, हरा तो अब भी है मगर वह हरियाली क्षण-क्षण मुरझानेकी ओर है तत्काल तो मुरझाना विदित नही होता । दो चार दिनमे मुरझानेकी बात कुछ अदाजमे आती, मगर जिस कालमे पेड़ कटा उस ही कालसे वे पत्तियाँ मुरझानेकी ओर मुख कर गई, अब हरियानेकी ओर मुख नही है, ऐसे ही स्वभाव और विभावका जहाँ भेदविज्ञान हुआ, अपने स्वभावकी दृष्टि हुई, यह मैं हूँ, विभाव पर है, ऐसा भेद जगा, ऐसा ज्ञानमे परिचय आते ही ये विभाव मुरझानेकी ओर है, अब बढनेकी ओर नही हैं । तुरन्त तो मुरझाना विदित नही हो रहा मगर जड ऐसी ही बन रही । लोग कहते है कि भरत चक्रवर्तीको दीक्षा लेते ही तुरन्त अन्तर्मुहूर्तमे केवल ज्ञान हो गया ऐसी तुरन्तकी साधना कैसी ? लोगोको तो विदित हो रहा कि तुरन्तकी साधना थी ? उन्होने गृहस्थावस्थामे भी निरन्तर अध्यात्मसाधना की थी, घरमें रहते हुए भी वैरागी, भरतके बारेमे प्रसिद्ध ही है। इतना वैभववान होकर भी वैभवसे अलिप्त रहे, उसमे मोह नही, उसमे उपयोग नही, राग नही बसा । तो ज्ञानी पुरुषकी अन्त. साधना

यहीं तो एक काम करती है, काम करनेको दूसरा कुछ नही रखा।

९६१—परकर्तृत्वका व्यर्थ भ्रम—

यह तो व्यर्थका भ्रम है कि घन वैभव मेरे जोडनेसे जुड़ता। अरे जिन-जिनके काममे यह वैभव आयगा उनका पुण्योदय है तो आपको उनका नौकर बनना पडा। आप घन कमा नहीं रहे, आप तो उनकी नौकरी कर रहे। किनकी? जिन-जिनके उपभोगमे यह सम्पदा आयगी। अच्छा तो उनकी नौकरी करनेसे कुछ फल मिलेगा क्या? हाँ मिलेगा फल। वह पाप, पापका फल, यही तो मिलेगा। और अधिक अच्छी नौकरी नही मिलनेकी, क्योंकि सब कुछ ऐसे ही तो (मुफ्त ही तो) आया है। तो यह जायगा भी मुफ्त, मुफ्त कैसे आया? पैदा होते ही आपने कुछ कमाया क्या? कमाया तो नही, पर कहलाने लगे लखपती। तो यह सब पुण्ययोग है, पूर्वकालमें किए हुए धर्मका प्रसाद है। हो गया, मगर यदि धर्ममे बुद्धि नही, ज्ञानमे प्रीति नहीं तो बस ऐसे ही यह विषय वैभवोकी प्रीतिमे समय जायगा, जो बिल्कुल बेकार सा समय है और अन्तमे खोटा फल प्राप्त होगा। तो क्यो न चेतें और अपने अध्यात्ममे अपना प्रकाश पाये।

९६२—आत्मज्ञानसे आत्मजीवनका प्रारम्भ—

एक बार एक छोटी ही उम्रके मुनिराज किसी सेठके घर आहार करने आये। आहार करनेके पश्चात् जब थोडा बैठे तो सेठकी बहूने पूछा मुनिराजसे—महाराज आप इतने जल्दी कैसे आ गए। तो मुनिराज बोले—बेटी समयकी खबर न थी। मुनिराजने पूछा बहूसे—बताओ तुम्हारी उमर कितनी है? महाराज मेरी उम्र ५ वर्षकी है। और पतिकी आयु?...सिर्फ ५ महीनाकी। और तुम्हारे स्वसुर साहबकी?...महाराज स्वसुर साहब तो अभी पैदा ही नही हुए? अच्छा ताजा खाती हो कि बासी? महाराज सुबह दोपहर, शाम तीनो ही बार बासा ही बासा खाते हैं, ताजेका काम नहीं। खैर, मुनि महाराज तो चले गए। इधर सेठजी बहुत बिगडे अपनी बहूपर। बोले कि आज तो तूने इतने लोगोके सामने मेरी इज्जत गवाँ दी। कैसे अटपट उत्तर दिए। तो वह बोली—पिता जी आप नाराज न हो, चलो उन्ही मुनिराजके पास, उन्हींसे सब बातोका समाधान करें। पहुचे तो क्या समाधान मिला कि मुनि थे १८-१९ वर्षकी उम्रके सो जब बहूने पूछा था कि इतने जल्दी कैसे आ गए, तो उसका अर्थ था कि इतने जल्दी मुनिपदमे आप कैसे आ गए। तो वहाँ मुनिराजने कहा था कि बेटी समयकी खबर न थी याने इस जीवनका क्या ठिकाना कि कब तक रहे यही सोचकर जल्दी ही इस मुनि पदमे आ गए। बहूकी उम्रके विषयमे जो बात चली तो बहूने बताया कि ५ वर्षसे मुझे धर्ममे श्रद्धा हुई तभी से मैं अपना जीवन समझती, उसके पहलेका जीवन कोई जीवन नही समझती। जबसे धर्ममे श्रद्धा हो तबसे जीवन सही समझना। पतिकी उम्र ५ माहकी बतायी तो उसका अर्थ था कि पतिको सिर्फ ५ माहसे धर्ममें श्रद्धा हुई। और ससुर बोला—महाराज, यह तो ठीक समझ गए, पर मैं जो इतना बडा बूढा हो गया सो उसे बताती कि अभी पैदा ही नही हुए सो कैसे? तो वह बोली—महाराज देखलो यह अब भी झगडते हैं। इनको अभी तक धर्ममे श्रद्धा नही हुई तो हम इनका जीवन कैसे समझें। धर्ममे श्रद्धाविहीन जीवन कोई जीवन नही। अब रोज-रोज बासा खानेकी बात क्या थी, उसके सबधमे बहूने बताया कि सेठजी ने पूर्वभवमें जो पुण्यकी कमाई की थी उस कमायीको आज खाया जा रहा है। सो वह सब बासा ही तो कहलाया क्योकि सेठजी कोई नई कमाई धर्मकी पुण्यकी नही कर रहे। सेठकी समझमे सब आ गया कि इस

वह और मुनिराजकी वास्तविक वार्ता क्या थी, सहर्ष वापिस आया। तो भाई जिन्दगी अपनी तबसे समझो जबसे अपनेको अपने आत्माकी प्रीति जगे। ज्ञानस्वरूपका आदर बने, तो ये कर्म झडेंगे, ससारके सर्व सकट छूटेंगे।

सन्न्यस्यन् निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं, वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्। उच्छिंदन् परिवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भवन्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

९६३–ज्ञानीकी निरास्रवताका तथ्य—

यहाँ आश्रवाधिकारमे यह बताया जा रहा है कि जिस आत्माने अपने सहज स्वरूपको पहिचाना, सहज स्वरूपमे अपने अस्तित्वको स्वीकार किया, ऐसा ज्ञानी पुरुष तो निराश्रव है अर्थात् अब वहाँ कर्मोंका जोर नही, आश्रव नही। इस प्रकरणमे यह सदा ध्यानमे रखना कि द्रव्यानुयोगमे जो वर्णन होता है वह बुद्धिपूर्वकका वर्णन होता है। अबुद्धिपूर्वक तत्त्वका वर्णन द्रव्यानुयोगमे नही, करणानुयोगमे है, इस कारण करणानुयोग मोटासे मोटा वर्णन करता है, और छोटासे छोटा वर्णन करता है, सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकारका वर्णन करणानुयोगमे है। द्रव्यानुयोगमे तो बुद्धिपूर्वक बातोका वर्णन है, ज्ञानीके ज्ञानका उपयोग सहजस्वरूपकी ओर लगा है, आनन्दसागर है, जिस स्वरूपमे स्वय आनन्द भरा हुआ है। पदार्थ सभी निरापद हुआ करते हैं स्वय अपने आप। तो ऐसा जो अतस्तत्त्व है उसकी ओर जिसकी दृष्टि लगी है विषयके साधनोकी ओर जिसका उपयोग नही है ऐसा ज्ञानी पुरुष चूँकि उसके बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोहका आश्रव नही है, सो उस ओरसे ये निराश्रव कहलाते हैं, और चाहिए क्या? जो प्रयोगमे आये, जिससे सफलता मिले, प्रगति बने वही तो एक कामकी चीज है। जहाँ बुद्धिपूर्वक आश्रव न रहेगा तो अबुद्धिपूर्वक आश्रव कब तक चलेगा? तो ज्ञानी पुरुषके आश्रवकी भावनाका अभिप्राय नही है, इस कारण निराश्रव ही है। अबुद्धिपूर्वक आश्रवको आश्रवमे गिना नही क्योकि वह एक आनुषगिक चीज है उसका मिटना। जब बुद्धिपूर्वक आश्रव न रहेगा तो अबुद्धिपूर्वक आश्रव अपना समय पाकर सब दूर हो जायगा। जैसे कोई वृक्षकी जड कट गयी तो वृक्ष हरा होता है खाद डालनेसे, पानी डालनेसे। जहाँ जड ही कट गई खाद पानी डालकर प्रयत्नपूर्वक जहाँ हरे करने की गुजाइस ही न रही, तो वह हरा कैसे रहेगा, यद्यपि हरा रहता है कुछ समय, मगर वह मुरझाने की ओर ही उन्मुख रहता है, इसी तरह ज्ञानी पुरुषके रहते है आश्रव, राग, मगर वे सब मुर्झाये हुए की ओर ही रहते हैं।

९६४–अन्तस्तत्त्वकी अपनी वार्ता—

यहाँ अपने-आपके अतस्तत्त्वकी बात कही जा रही है। अपने आपकी खुदकी बात खुद दृष्टिमे लें, खुद ध्यानमे लें, खुदका खुदमे प्रकाश मिल जाय तो आप यह समझें कि तीन लोकका वैभव भी न कुछ है, और आपको अपने आपके भीतरका, स्वरूपका जो प्रकाश मिला वह आपके लिए सर्वस्व है, कारण यह है कि शरण होगा आपको तो आपके स्वरूपका आश्रय शरण होगा, जगतमे जो बाह्य पदार्थ हैं उनका आश्रय तो धोखेसे ही भरा हुआ है, शरणकी बात तो दूर ही रही, खुद ही खुदके लिए शरण है। मोटे रूपमे तो प्राय. सभी कहते हैं, देहातोमे भी कहते हैं कि किसीका कोई शरण नही, खुदके लिए खुद शरण है, पर प्राय. वहाँ इतनी ही दृष्टि रहती है कि भाई खुद अच्छा चले, अच्छा बोले, दूसरेका उपकार करे, हम अगर अच्छा काम करेंगे तो हम खुदके लिए खुद शरण हुए, वहाँ

दृष्टि केवल इतनी है। यहाँ अध्यात्ममे वह दृष्टि लेना है कि समस्त क्रियायो और चेष्टाओसे रहित जो आत्माका सहज स्वरूप अतस्तत्त्व है, उसमें ज्ञान जाय कि यह मैं हूँ, निष्क्रिय, रागचेष्टारहित ऐसी भीतरमे ज्ञानकी अपूर्व रहे चेष्टा, ऐसी स्थिति ही इस जीवका शरण है। तो जहाँ ऐसा अन्त. स्वरूप प्राप्त कर लिया ज्ञानीने तो बुद्धिपूर्वक रागका तो त्याग हो ही जायगा। देखिये बुद्धिपूर्वक रागका त्याग हुआ, इसके दो अर्थ हैं–एक तो राग होते हुए भी याने जानकर राग कर भी रहा है ज्ञानी, जानकर मायने उपयोगमे तो है, चेष्टा तो हो रही है मगर श्रद्धाने काट दी है जड, निरन्तर यह प्रतीति रहती है कि ये सारी चेष्टायें ये सब मेरी नही है। मेरा तो सहज स्वरूप एक चैतन्य प्रकाश है। तो यो यह बुद्धिपूर्वक राग नही रहा। इससे बढकर और बुद्धिपूर्वक आस्रवका अभाव क्या है कि जब जीव ज्ञानस्वभावके अनुभवमे होता तो वहाँ चेष्टा नहीं रहती है। वहाँ है बुद्धिपूर्वक आस्रवका अभाव। दोनो ही पदोमे बुद्धिपूर्वक आस्रवका राग द्वेष मोहका अभाव है, अतएव ज्ञानी निरास्रव है।

६६५–ज्ञानीकी बुद्धिपूर्वक रागपरिहरणओका शृङ्गार–

ज्ञानी बुद्धिपूर्वक रागका निरन्तर त्याग किए हुए हैं जैसे किसी का कोई इष्ट गुजर गया, जो कि घरका एक लौकिक सहारा था, और बहुत प्रिय था अचानक वह गुजर गया, तो उसकी याद वह रात दिन रखता है। कौन? जिसका कि इष्ट गुजर गया तो क्या वह खाना पीना भी बद कर देगा? क्या वह अपना काम काज भी बन्द कर देगा, क्या वह किसी के साथ अपना बोल चाल भी बन्द कर देगा? नही। करता है सब कुछ मगर प्रतीतिमे, धुनमे, वासनामे याद उसकी बनी हुई है। थोडी देर को जितनी देर दूकानमे समय लगा, दूकानमे उपयोग लगा, और जरा सा भी अवकाश मिला तो झट याद करके अपने अश्रु बहाता है। तो देखो सारे काम काज करते हुए भी उसकी प्रतीतिमें निरन्तर वही इष्ट बसा करता है और जिस समय उसको याद विशेष आये याने बाहरी व्यग्रता न रहे तो झट उसकी याद करके दु खी हो जाता है और अपने अश्रु बहा देता है। इसी तरह ज्ञानी जीवको इस अन्त स्वभावकी प्रतीति तो निरन्तर रहती है मगर काम काजमें जब लगा है, पूजा, बदना, रसोई भोग उपभोग आदि जब इन कर्मोमे लगा है तब उसे याद नही रहता, प्रतीति तो है मगर प्रत्यक्षपना नही, सामने नही आयी बात, लेकिन जैसे ही थोडा अवकाश मिला और यहाँ से बल तो यह उठा ही रहता है कि मैं अपनेको स्वानुभवका अनुभव करू, बस जैसे अवकाश मिला, बल यहाँ से उठा ही है, यह अपनी ओर आ जाता है, अनुभूतिमे, चर्चामे, ज्ञानमे यह अपने आपमे आ जाता है। जैसे कोई बच्चोंके खेलनेका ऐसा मेढक आता है टीनका कि जिसके नीचे रार लगी हो और वहाँ पत्ती चिपका दी, जब तक वह चिपकी है तब तक वह खेलका मेढक जमीन पर रखा है, जैसे ही वह पत्तीका लगाव मिटा कि वह मेढक उछलकर बडी दूर जा गिरता है। कोई किवाड भी ऐसे स्प्रिगदार आते हैं कि जिनको जब तक पकडे रहो तब तक तो खुले रहेंगे और जब हम उसके खोलनेकी चेष्टा छोड दें तो वे स्वत ही बन्द हो जाते हैं। तो अपनी ओर आना, खिचना यह ज्ञानीका नैसर्गिक काम है, लेकिन चारित्रमोहकी प्रेरणा कहो, उसका विपाककाल कहो, जब तक इसका उपयोग विषय साधनोंमे रहता तब तक यह खिचा-खिचा फिरता है लेकिन निसर्गत उसकी धुन, उसका आगमन, उसकी मोड अपने आपके स्वभावकी ओर होती है।

६६६–ज्ञानी की मुख्य धुन सहजपरमात्मतत्त्वानुभूतिके लिये पौरुष–

भैया एक नीति बनाओ मुझको वही चाहिए मुख्य प्रधान काम मूलमे कि मेरेको अपने इस सहज

ज्ञानप्रकाशमे यह अनुभव बने कि मैं यह हूँ, व्यर्थ की मायाको क्यो मान रहे कि यह मैं हूँ, इस सकल सूरत शरीरको क्यो मानते कि यह मैं हूँ, कर्मविपाकमे उठा हुआ विकल्प विचारको क्यो माना जा रहा कि मैं हूँ, जो मिट जाने वाला है, जो मायारूप है, विचार विकल्प वितर्क इनको मान रहा कि मैं हूँ, मैं तो यह निर्विकल्प अखण्ड सहज ज्ञानस्वभावमात्र हूँ। सोचिये, चिन्तन करिये और ऐसे ही प्रयोगमे अपने आपके ज्ञानको ढालें, धन्य क्षण आयेंगे कोई कि सारे विकल्प टूट कर एक इस ज्ञान स्वभावका अनुभव होगा जिस अनुभवमे कहीका विकल्प नही और मैं खुदको जान रहा हूँ, खुदमे लग रहा हूँ, यह भी विकल्प नहीं, विकल्पका नाम नहीं और वहाँ बस यह ज्ञानस्वभावका अनुभव, उसमे एक परिणमन, यह एक चीज होगी। जहाँ सहज अद्भुत अलौकिक आनन्दका अनुभव होना ही होता है, उसे फिर कुछ समझानेकी जरूरत नही कि तुझे अनुभव हुआ कि नही। वह स्वय जान जायगा क्योकि उसके चिन्ह हैं। वह खुद समझेगा, अब उसे जगतका वह लौकिक वैभव उसके लिए कुछ न रहेगा।

९६७—बुद्धिपूर्वक आस्रवका सन्न्यास करने वाले ज्ञानीका अबुद्धिपूर्वक आस्रवको जीतनेका सहज प्रयास—

ज्ञानी पुरुष बुद्धिपूर्वक तो निरन्तर रागका त्याग किए हुए है, अब रह गया अबुद्धिपूर्वक राग विकार, मायने कर्मके उदय होते हैं, उनकी झलक होती है जैसे कि सनीमाके पर्देपर दूर चल रहे फिल्मका निमित्त पाकर वहाँ फोटो आ जाती है ऐसा यहाँ प्रतिफलन होता है, उस प्रतिफलनको कोई रोक नही सकता। अबुद्धिपूर्वक विकार है, रोकनेका प्रयत्न बुद्धिपूर्वकको होता है, लेकिन उसी उपायसे, स्वभावाश्रयसे अबुद्धिपूर्वक विकारको भी जीतनेका प्रयत्न सहज चल रहा है, वह प्रयत्न यही है कि अपने स्वभावमे रहे। स्वभावदृष्टि की जावे, यह ही अनुभव किया जावे कि मैं तो ज्ञान स्वभावमात्र हूँ, फिर समयपर सहज ही अबुद्धिपूर्वक राग दूर होगा। तो अबुद्धिपूर्वक रागको जीतने के लिए यह ज्ञानी जीव अपनी शक्तिका वारबार स्पर्श करता है। किसी कुमित्रका (खोटे दोस्तका) साथ लग जाय तो उससे छुटकारा पानेका उपाय क्या है? उससे लडना, यह उपाय नही, उससे प्रेम करना यह भी उपाय नही है। कुछ न करें, उपेक्षा कर जायें, समय आयगा जल्दी कि उसका सग छूट जायगा। यह कर्म उपाधिका प्रसग और तन्निमित्त विभावका प्रसंग जो उसके साथ लगा हुआ है इसको दूर करनेका उपाय उन पर दृष्टि देना नहीं, कर्म और विभावको गाली देना उपाय नही, किन्तु उनकी उपेक्षा कर जावे और अपने सहज स्वभावकी ओर उपयोग लगादे तो ये कर्म और विभाव ये जैसे जैसे जिस विधिसे दूर होगे, जिसकी विधि करणानुयोगमे बतायी है, दूर हो जायेंगे। तो अबुद्धिपूर्वक विकारको जीतनेके लिए जीव अपनी शक्तिका स्पर्श करता है।

९६८—ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे होनेका मोड देनेकी प्रेरणा—

भैया, अब इसी समय जितने शीघ्र हो उतने शीघ्र ज्ञानकी जो समस्त परिवृत्ति है परिवर्तन है, कर्मस्वभावका होना है उसका उच्छेद करदें, ढग बदल दें, उस सही परमार्थताको स्वीकार तो कर लें। आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसका काम निरन्तर जानते रहना है। यह ज्ञानद्वारा जाना ही करेगा। अब वह जानना किस विधिसे हो रहा है बस इसी मे ही ससार और मोक्षका उपाय बना हुआ है। आत्मा ज्ञानमात्र है, अन्य कुछ करता नही है। तब यह ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व किस प्रकारसे इसका परिणाम बने यह ही बात खास देखनेकी है। दर्पण तो अचेतन है, मगर कुछ स्थितियो तक इसके

लिए वह दृष्टान्त है पूरा दृष्टान्त नही बनता, क्योकि वह अचेतन है। यहाँ तक तो दृष्टि निभायेगा यह कि सामने किसी वस्तुका सन्निधान हुआ, तत्काल स्वच्छस्वरूप दर्पणने अपनी स्वच्छता ढककर अपने मे फोटाका परिणमन कर लिया, इसी तरह कर्मविपाक रागद्वेष प्रकृति, इनका उदय हो, अपनेमें जब विपाक फूटा हो तो जैसा कि कपडेका रग कपडेमे ही है, मगर रगीन कपडेका सन्निधान पाकर दर्पणमे भी उसी रगका फोटो होता है, ऐसे ही कर्मकी प्रकृति कर्ममे ही है, उसमे ही उसका विपाक निकला है, मगर उसका सन्निधान पाकर उस ही प्रकारका यह प्रतिफलन होता है, छाया माया -यह कर्मलीला, कर्मरस ये सब उसके उपयोगमे प्रतिफलन रूपमे आये। यहाँ तक दर्पणका दृष्टान्त निभा। अब चूँकि यह दर्पण अचेतन है तो वह यह नही कर सकता कि उस फोटोको वह अपना ले कि मैं तो यह ही हूँ। लेकिन यह आत्मा चूँकि चेतन है सो वह यहाँ कर डालता है, यह अपनेमे आया हुआ जो कर्मविपाक प्रतिफलन है उसको अपना लेता कि मैं यह हूँ, अपने सही कुलकी बात तो भूल गया यह, चैतन्यकुलमे मैं हूँ, यह तो वह बिल्कुल भूल गया और जो जड कर्मरस है उसको अपना लिया। तो जिनकी ज्ञानदृष्टि बन गई कि यो हो रहा है यह काम, यह भ्रमसे बन रहा है यह सब कुछ जगजाल, मैं तो अपनेमें ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, जहाँ यह दृष्टि जगी और स्वभावविभावका यह भेद बना, बस उस समयसे फूट पड गई, सधिमे भेद आ गया, अब स्पष्ट जान रहा है कि यह मैं नही हूँ, यह मेरे पर बोझ है, भार है, परतत्त्व है, परभाव है, ऐसा जानता है, इस कारण उसका परभावसे अब राग नही, लगाव नही। ज्ञानी कष्टमे खेद नही मानता। कुछ तो होता ही है, पर खेद नही मानता, पर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव तो उस ही रूप अपनेको अनुभव करता है इसलिए वह सदा खेदखिन्न रहता है। तो ऐसे ज्ञानकी सकलमे यह मोड आया। अज्ञानवश अनादिसे उस प्रतिफलनरूपमे अपने को ढाल ढालकर उस रूप अनुभव करता आया था यह प्रकृति चली आयी, किन्तु आज उसमे भग हुआ तो यह अपने स्वभावकी ओर मुडकर अपनेको ज्ञानस्वभाव रूप अनुभवने लगा। ऐसी स्थितिमे ज्ञानका ज्ञान स्वभावसे होनेकी बात पूर्ण करता हुआ अपनेमे यह जीव नित्य निराश्रव है।

६६९—परविविक्त निज अन्तस्तत्त्वको निर्भार परखकर प्रसन्न रहनेका सदेश—

उस प्रसगमे हम आपको क्या उत्साह लेना चाहिए, क्या उत्साह जगना चाहिए सो भाई देखो यह भ्रम छोड दो कि तेरे पालने पोषनेसे बच्चे पलते पुसते हैं। काम तो यही बनेगा गृहस्थावस्थामे जो कर रहे है, दूकान जायेंगे, सब कुछ करेंगे मगर मौलिक बात समझें। अगर ऐसा नियम हो कि आपके पालनेसे आपके रक्षा करनेसे यह रक्षित होता है इसलिए हमपर उनका भार है, अगर ऐसी ही बात है श्रद्धामे, प्रवृत्तिमे तो यह करना ही पडेगा जब तक गृहस्थ हैं। गृहस्थका और तरहसे गुजारा नही, मगर सत्य बात तो जानो। यदि ऐसा है कि आपके परिजनका बच्चोका पुण्यका उदय उतना नही है, पापका उदय आ गया है तो आप कभी सफल हो भी सकेंगे क्या? सिद्धान्तकी बात देखो। यहाँ जितने भी जीव हैं वे सब अपने-अपने कर्मोदयसे ही सुखी दुःखी होते हैं और किसी भी जीवका कर्म कोई दूसरा दे नही सकता। जिसने जो कर्म उपार्जित किया बस वही कर्म उसके उदयमे है और उस समय उसके अनुरूप उसकी स्थिति बनती है तो मैं दूसरेको कर क्या सकता हूँ? पर जब तक राग है तब तक आप ऐसा किए बिना रह ही नही सकते। बाह्य निमित्त है परिजनका पुण्योदय, अत प्रेरणा मिलती है, आपको परके रागसे क्या लाभ मिल रहा। काम तो सारा चल रहा है, मगर सत्य बात समझनेका इतना बडा महत्त्व है कि हर परिस्थितिमे रहकर यह जीव अन्त प्रसन्न रहा करता

है। तभी तो बतलाया कि नारकी जीव कटते छिदते भिदते हैं ? फिर भी वे अन्तः प्रसन्न रहते है। इतनी विपत्तिमे भी रहकर भीतर प्रसन्न रह सके, यह किसका बल है ? ज्ञानदृष्टिका। देव जो ज्ञानी है वे भले भले सुरूप देवागनाओंके बीच रहकर भी तरह तरहके सासारिक सुखोके बीच रहकर भी अन्त प्रसन्न रहते हैं। इसका कारण क्या है ? ज्ञानदृष्टि। दुखमे भी सकट है, सुखमे भी सकट है आकुलता है। तो जहाँ भोगसाधन बहुत मिले हो और यह उपयोग बाहर-बाहरकी ओर चला करे तो इसमे आकुलता नही है क्या ? वह मोहमे मानता नही, पर भीतरमे तो आकुलता उसके बराबर चल रही है। तब ही तो वह उचक-उचककर विषयोके समूहमे दौडता है। विषयसम्बन्धी तृष्णामे इतनी आकुलता है कि वह उसके लिए चेष्टायें करता, विकल्प मचाता, जहाँ विकल्प उठते हैं वहाँ क्लेश ही क्लेश है।

६७०—स्वनिधिकी भान व आदानकी शान—

ज्ञानी, देवजन भी सासारिक सुखोके विषयके बीच पडे हुए अन्तः प्रसन्न रहा करते हैं। तो किसका बल है ? यह अन्त स्वभावमे अपने आपको स्वीकार करनेका बल है, यह बात यहाँ मनुष्योमे आप निरखते जाइये, जिसको ज्ञान जगा है भीतर स्वभावदृष्टि बनी है, कुछ परिस्थिति ऐसी होती है कि उन परिस्थितियोमे वह गुजर रहा है, व्यवहार करता है फिर भी अपने इस आनन्दमय स्वरूपको भूलता नही है। प्रतीतिमे है उसके। कोई बडी निधि मिल जाय किसी याचकको तो उसकी वह इतनी खुशी मनाता है कि निरन्तर उसकी याद रहती है। और, उस यादमें उस अनुभूतिमें यह जीव अन्तः प्रसन्न रहता है। घरमें निधि गडी है, पता नही है तो वह गरीबीका अनुभव करता है और कष्ट भोगता है। अगर घरमे गडी हुई निधिका भान भी हो जाय कि मेरे घरमे निधि गडी है और उसे वह निकाल भी नही पाया और उस दारिद्रयकी परिस्थितिमे सूखा रूखा खाकर ही गुजारा कर रहा है, पर उसके अन्दर एक ठसक जरूर आ जाती है कि मेरे घरमे यह निधि गड़ी है। तो एक तो उस निधिके मालकी शान और दूसरे वह उपाय करे और उस निधिको ग्रहण करले, देख ले, पा ले तो उसकी शान उससे भी और अधिक हो जाती है। तो सम्यग्दृष्टिने तो अभी अपनी निधिका भान किया है। जाना है तो इस ज्ञानका भी बडा प्रभाव है कि वह अपने आपमे एक ठसक रखता है मायने एक बल रखता है, प्रसन्न रहता है, साहस रहता है, जिससे उपद्रवोको, कष्टोको बडे हर्षसे सह लेता है। और जब वह उपाय करे, अनुभव बनाये और उस निधिको हस्तगत करले, प्रत्यक्ष करले, अपने ज्ञानमे समाये रहे। ऐसी स्थिति अगर पा ले तो इस ज्ञानीकी स्थिति एक बडे शानकी होती है। बस यही तो बात आयी। यह आध्यात्मिक कथन यह सब ठीक चल रहा। अगर स्वानुभवके लिए चले तो बस वहाँ विघ्न होता है। क्या ? कि घरकी खबर, बच्चोकी खबर। चूँकि वस्त्रादिकके परिग्रह रखे हैं ना, तो वे बाधक होते हैं आत्माके स्वानुभवमे लगे रहनेके पौरुषमे। इस कारण इनका त्याग है बस, यह है चरणानुयोगका तथ्य। अत एव इस ज्ञानी पुरुषके अपने स्वभावमे अभिमुख होनेके कारण, उसका परिचय, अनुभव होनेके कारण बुद्धिपूर्वक आश्रव तो दूर हो गया और अबुद्धिपूर्वक आश्रवको दूर करनेका निरन्तर प्रयत्न चल रहा है। ऐसी स्थितिमे इसका शान ऐसा प्रसिद्ध हो गया कि वह तो निराश्रव है, वदनीय है, आदरणीय है, क्योकि उसकी दृष्टि इस ओर लगी है और इस ओर जुटनेका प्रयत्न चल रहा है। हमको यह भली प्रकार निर्णय रखना चाहिए कि मेरा जीवन परिजन, धन वैभव इनके लगावके लिए नही है, इसमे तो हम धोखा

खा जायेंगे, दुर्गतिमे रहना होगा । मेरा जीवन तो अपने आपमे इस सहज अतस्तत्त्वमे यह मैं हूँ—ऐसा अनुभव बनाये रहनेके लिए है ।

सर्वस्यामेव जीवत्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥११७॥

६७१—ज्ञानीके निरास्रवत्वका प्रकरण—

यहाँ यह बतलाया जा रहा था कि यह जीव जब अपने ज्ञानको अपने ज्ञानस्वरूपमे जोडता है अर्थात् मैं सहज ज्ञानमात्र हू ऐसा अपनेमे विश्वास लाता हुआ जानता है और इसके कारण अब उसके इच्छा नही रही ससारके प्रपचोकी, ऐसी स्थितिमे इस जीवके आश्रव नही होता । यहाँ बुद्धि-पूर्वक आश्रव नही होता, यह अर्थ जानना और जहाँ ऊँची समाधि हो जाती है साधुजनोकी वहाँ अबुद्धिपूर्वक भी न होगा, साम्परायिक आश्रव भी अकषायमे नही होता । द्रव्यानुयोगमे समयसारमे जहाँ-जहाँ भी यह लिखा है कि ज्ञानी निराश्रव है, सम्यग्दृष्टिके कर्मका बध नही है वहाँ यह अर्थ लेना कि इस जीवकी इच्छा अब विषयोमे रमणकी नही है, वहाँ से यह हटाव लिए रहता है इस कारण इसके बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह नही है, मोह तो है ही नही और बुद्धिपूर्वक रागद्वेष नही है इस कारण यह जीव निराश्रव है, अर्थात् बुद्धिपूर्वक रागद्वेष होनेके कारण जो आश्रव हुआ करता है वह यहाँ नही होता । फल मिलता है अपने भावोका । कोई परिस्थितिमे क्रिया कुछ करनी होती फिर भी फल होगा तो भावका होगा । जैसे लडकीका विवाह हुआ और बहुत उम्र हुई, कुछ वृद्धापना आनेको है और जब-जब भी वह अपने मायके आती है तो मायकेसे जाते समय वह रोकर जाती है, एक रिवाज है, और, मनमे चाहे यह हो कि घरका काम बिगड़ रहा, हमे जल्दी जाना है, मनमे खुशी है, क्योकि काम तो चलेगा घरसे, तो मनमे खुशी है, सो जायगी, पर रोये बिना न जायेगी । रिवाज है, परिस्थिति है और ऐसा रुदन भी करती कि दूसरे लोग सुनकर चाहे आँसू ला दें कि यह तो बहुत कठिन रो रही, इसे बहुत अधिक खेद हो रहा है और भीतरमे फल क्या है ? उसे तो सुख है, बल्कि कोई लिवाने न आये तो अपने लडका बच्चोको खबर भेजती कि तुम लिवाने आ जाना । फल किसका मिला ? जैसा भीतरमे भाव है उसका फल मिला ।

६७२—आशयानुसार भविष्यनिर्माण—

कोई दो बालक थे, छोटे बडे भाई थे । उस नगरमे कुछ ही घर भक्तोंके थे । वहाँ एक-एक दिन एक-एक घरके लोग बारीसे मदिरमे पूजन करते थे । एक दिन इन लडकोकी पूजाकी बारी थी । उसी दिन रसोई घरमे लकडियोकी जरूरत पड गई तो उस बडे लडकेने छोटेसे कहा कि हम तो जाते है लकडियाँ बीनने और तुम जाकर पूजा कर आना ।' ठीक है । बडा लडका तो चला गया लकडियाँ बीनने और छोटा लडका चला गया पूजन करने । अब जगलमे लकडियाँ तोडने वाला लडका क्या सोचता है कि कहाँ मैं झझटमे पड गया ? हमारा छोटा भाई तो प्रभुकी भक्तिमे, पूजामें प्रभुके गुणगान करके आनन्दविभोर हो रहा होगा ''और इधर छोटा भाई मदिरमे क्या सोचता है कि मैं कहाँ झझटमे पड गया । मेरा बडा भाई तो आमके पेडोपर चढकर मीठे-मीठे फल खा रहा होगा, सनीमाके गीत गा रहा होगा ' अब देखो भावोकी बात । इससे कहीं यह न समझ लेना कि लकडी बीनना अच्छा है (हसी) अरे अगर लकडी बीनते हुए भी भाव खराब रखा तो वह अच्छा काहेका ? अच्छापन तो पूजामे आयगा । थोडा भाव सुधार ले, भगवानके स्वरूपकी दृष्टि करले,

यह तो एक साधन है, मगर फल मिलता है भावका। तो ज्ञानी जीवके भाव आत्माके स्वभावकी ओर हैं। इस ही मे वह तृप्त रहना चाहता । बाकी चारित्रमोहके उदयवश बाहरी कामोमे लगना पड रहा है फिर भी उसका मूल उद्देश्य, मूलभाव यह स्वभावरमण है। इसी कारण ज्ञानीको निराश्रव कहा है।

६७३—द्रव्यप्रत्ययसंतति होनेपर निरास्रवत्व प्रतिपादनमे एक आशंका—

ज्ञानीके निरास्रवत्वकी बात सुननेपर एक यह आशका हुई कि अभी यह ज्ञानी अविरत भी है श्रावक है और मुनि भी हो, पर श्रेणीमे तो नही है, और हो तो भी ९ वें, १० वें गुणस्थान तक इन सबके कर्म लगे हैं, निरन्तर कर्म उदयमे आ रहे हैं, लगातार उदयमे आ रहे हैं, द्रव्यप्रत्ययकी सतति बराबर चल रही है। द्रव्यप्रत्यय मायने पहले बाँधे हुए कर्म जो उदयमे आये हैं तो उदयमे आये हुए कर्मोंका नाम है द्रव्यप्रत्यय। उसके तो सतान लगी है, लगातार चल रही है फिर इस ज्ञानीको निराश्रव कहा सो कैसे कहा ? और, कहा कि यह ज्ञानी सदा निराश्रव है याने सो रहा है, वहाँ पर भी सम्बर जग रहा, खा रहा, पी रहा और इन्द्रियविषयोमे भी है तो भी निराश्रवत्व, सम्बर उसके हो रहा, ऐसा क्यो कहा गया है। कर्मोदय बराबर चल रहा है, तो द्रव्यप्रत्यय जो कि विकार-भावके निमित्तभूत हैं वे चल रहे और फिर निराश्रव कह रहे सो इसका कारण क्या है ? उसके उत्तरमे अब आगेका कलश सुनो।

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः, समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥११८॥

६७४—बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोहका अभाव होनेसे ज्ञानीके निरास्रवत्वका प्रतिपादन—

यद्यपि पहलेके बाँधे हुए कर्म अपनी सत्ताको नही छोड रहे हैं, उनकी सत्ता बनी हुई है और जब-जब उनका समय आता है तो वे कर्म अपने समयमे अपना विपाक भी उगलते हैं तो भी समस्त रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे ज्ञानी जीवके कभी कर्मबध नही होता। देखना, थोड़े पढे लिखे लोगोको यह ही सदेह होता और एकान्त हो जाता है, किन्तु इस ग्रन्थमे लिखा यह है कि इच्छापूर्वक रागद्वेष नही है, सो इच्छापूर्वक जो आश्रव होता वह नही है। कर्मोदयकी चेष्टा चल रही है । रागद्वेषको यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी कर रहा है सो उसके क्या आश्रव न होगा ? क्या बध न होगा ? आश्रव है, बध है, पर चूँकि उससे विरक्त है, उस ओर इच्छा नही है इस कारणसे उसके अधिक आश्रव या अधिकबध (तीव्र) नही है याने बुद्धिपूर्वक आश्रवसे जैसा बध होता सो नही है। यह बात सर्वत्र लगाना। तो अन्य ग्रन्थोसे विरोध न आयगा, अन्यथा यह शका रहेगी कि धवलमे, कर्मकाण्डमे, महा-धवलमे तो १० वें गुणस्थान तक साम्परायिक आश्रव कहा, बध कहा और अरहन्त भगवान तकके भी आश्रव कहा, बध तो नही है, वहाँ ईर्यापथाश्रव है और यहाँ कह रहे कि जहाँ सम्यग्दर्शन हो, ज्ञानी हो मायने चौथे गुणस्थानसे लगालो—वहाँसे वह निराश्रव है, निर्बन्ध है, तो उसका अर्थ है कि अबुद्धि-पूर्वक तो आश्रव हो रहा है मगर इच्छा करके, लगन करके उसके आश्रव बध नही है।

६७५—कर्म परतत्त्वका परिचय—

अच्छा अब थोडा यहाँ यह ध्यानमे लायें कि ये कर्म क्या चीज है ? कैसे उदयमे आते हैं और क्यो फल इनका मिलता है ? तो देखो कर्मकी बात तो सभी लोग कहते, तकदीर, दैव, भाग्य, रेखा, कर्म, और-और भी बाते करते हैं कि कर्मरेखा नही मिटती, भाग्य बडा प्रबल है⋯सारी बातें करते हैं,

पर ऐसी बात करने वालेको अनेक पुरुष कहने लगते हैं, इसका स्पष्ट बोध नही होता कि कर्म भी कोई वस्तु हुआ करती है। उसके बारेमे अदाज है—ईश्वरने भाग्य बना दिया, अब कई लोग मुर्दाकी खोपडीको भी निरखते कि इसमे कैसी रेखाये पडी हैं तो उससे जीवनका अदाज लगाते। अरे, इन हड्डीकी रेखाओका नाम कर्म नही है, कोई सोचना मात्र ही कर्म नही, हौवा मात्र नहीं। जैसे अन्य पदार्थ हैं वैसे ही वास्तवमे कर्म भी पदार्थ है। यह जो परमाणुओका समूह है ईंट भीट पत्थर आदिक ये जो हैं सो है, तो जैसे ये पौद्गलिक है ऐसे ही कर्म भी पौद्गलिक होते। फर्क इतना है कि इनमे रूप, रस, गध, स्पर्श व्यक्त हैं, इन्हें हम लोग इन्द्रियके माध्यमसे जान जाते हैं और कर्मका रूप, रस, गध, स्पर्श अव्यक्त है। हम इसे नही जान पाते, केवल ज्ञानी जाने, सर्वावधि परमावधि ज्ञानी जाने, औरके वचकी साक्षात् जानकारी नही, पर हैं वे कर्म, और जहाँ इस जीवने कषायभाव किया, यही पडी हुई कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन गईं। कर्मरूप हो गई याने उनमे फलदान शक्ति आ गई। अब वे सत्तासे पडे हैं, उससे जीवका कोई नुकशान नही, मगर नुकशान करने वाले कर्म पडे तो हैं सत्तामे और उससे पहलेके उदयमे आ रहे तो उदयमे जब आते हैं तो यों समझिये कि जैसे दर्पणके सामने कपकपाता हुआ हाथ आया तो दर्पणकी फोटो भी कपकपाती हुई बनती है, तो ऐसे ही वे कर्म अपना अनुभाग विपाक लिए हुए उदयमे आये मायने निकलते समय उनमें एक अपनी तडफन हुई। इतना काम कर्ममे हुआ मगर चूँकि वे एक क्षेत्रावगाहमे हैं, इनके बंधनमें हैं याने परस्पर निमित्त नैमित्तिक बन्धन है, सो वे दर्पणमे अधकारकी तरह भीतर ज्ञेय बन गए, प्रतिफलन हुआ, छाया हुई, फोटो आयी, किन्हीं शब्दोमे कहो, वहाँ वे कर्मविपाक ऐसा जाननेमे आये कि यह जान नही पाता और जान गया। कैसा विचित्र जानना है कि इसकी बुद्धिमें नही आ पाता, ज्ञानमे नहीं समा पाता कि ये कर्म हैं और कर्मरस है, मगर उस कर्मरसरूप अपनेको मानने लगा तो यह जाननेमें ही तो उसका एकरस बना। यह ऐसा विचित्र ज्ञेय होता कि जिसकी कोई उपमा नहीं। यह कर्म यह प्रतिफलन बाहर नही। पदार्थ ज्ञेय होता है तो बाहरी पदार्थका तो परिचय हो जाता है यह है पत्थर, यह है ईंट, आदि लेकिन कर्मविपाकप्रतिफलन उपयोगमें तो आया, मगर अधकाररूपसे उपयोगमे आया। जैसे दर्पणमे किसी चीजकी फोटो आयी और रातके समयमे खूब अधेरी रातमें उस दर्पणमें कोई फोटो है या नही सो बताओ। अब उस अधेरेकी फोटोमें उस दर्पणमे कुछ मालूम पडता है क्या ? नहीं। उसकी सत्ता ही नही ज्ञात होती कि जैसे दिन होने पर दर्पणमे इन चीजोकी फोटो सुविदित होती है। तो अधकारका प्रतिफलन होना, फोटो आना ऐसा विचित्र है कि उसमें दर्पण तकका भी पता नही रहता, और का तो पता क्या पडे, क्या है। तो ऐसे ही कर्मविपाक एक अधकाररूपसे ज्ञात होता है कि उसमे यह लिप्त हो जाय, उस अनुरूप प्रवृत्ति बन जाय फिर भी यह ज्ञान नही हो पाता कि ये कर्म आये हैं, ये आये हैं, जैसे कि ये बाहरकी चीजें जाननेमें आतीं।

६७६–परभावोसे स्वभावका पार्थक्यपरिचय—

ये कर्म व कर्मविपाक अन्य हैं और अपनेमे इसका कर्मरूप प्रतिफलन बनता है यह परभाव है। बस यही दो टूक करना है, ज्ञानसे यही भेद करना है। ज्ञानसे भेद करो कि जो यह प्रतिफलन, यह फोटो, यह कर्मरस, यह कर्मलीला, यह कर्मछाया है यह मैं नहीं हूँ। मेरेमे हुए तो हैं सो यह मेरी स्वच्छताकी एक प्रशसा है। जो कर्मविपाकका प्रतिफलन मेरेमे हुआ है सो यह तो स्वच्छताकी प्रशसा है। यह मैं नही हूँ। जैसे कभी किसी कमरेमे बल्ब जल रहा और बाहर बैठे हुए को उस कमरेकी

खिड़कीमे से कुर्सी टेबिल सब नजर आ रहे, वल्ब नजर नही आ रहा, दीपक नजर नही आ रहा, पर उस खिड़कीमेसे अनेक चीजे प्रकाशित नजरमे आ रही। तो उन प्रकाशित चीजोको परखकर आप तुरन्त यह ज्ञान नही करते, क्या, कि वल्ब जल रहा है ? होता ना ज्ञान। दीपक जल रहा, तो ऐसे ही इसमे रागादिक आये, विकार बने, उनको निरखकर हम यह ज्ञान करे कि यह स्वच्छताका अभ्युदय है याने आत्मामे ज्ञानकी स्वच्छताका विलास है, प्रशसा है कि यह राग यहाँ उदित होता है, ऐसी स्वच्छताकी ओर जोर दिया जाय। ज्ञानकी ओर मोड़ कीजिये, विकारकी ओर मोड़ न कीजिए, यहाँ ऐसा भेद करना है, ऐसा छेदन हो जावे तो समझ लीजिए कि हमारा जीवन सार्थक है, आगे हमारा भविष्य उज्ज्वल है और अन्त तक विभावोमे ही रम गया, उस तृष्णामे, कषायमे, मायामे, इनमे ही रम गया और इसी रूप हो रहे तो यह ही तो अनादिसे किया है। किसी भी भवमे पहुच गए, दूसरा कोई उस भवमे साथ नही गया। किसी भी भवका प्रसग आपको मददगार उस समय भी नही होता, आगे भी न होगा तो यहाँ विरमना क्या, यहाँ लगना क्या ? यह अपने आपके स्वभावमे लगता है। बहुत गम्भीरतामे विचार करे। बड़ा होना हो तो अपने सहज बड़प्पनकी बात करें। पौद्गलिक वैभवकी तृष्णामे, ममतामे बड़प्पन न बनेगा। आपका बड़प्पन आपमे है आप स्वय बड़े हैं, स्वरूपसे बड़े है। तो अपने स्वरूपकी सुध लें, ज्ञानकी सुध ले तो वह है आपका सच्चा बड़प्पन। उसमे एक सहज आनन्द है, परमतृप्ति है, और, उसके अतिरिक्त अन्य विभावोमें तो सारी उलझन, फसाव, वध, आश्रव, ये सभी की सभी बातें आ जाती है।

६७७—भेदविज्ञानीके ज्ञान व वैराग्यके कारण कर्मबन्धनका अभाव—

इस कलशमे यह कह रहे है कि अज्ञान अवस्थामें जो पहिले कर्म बाँध रखा था वे कर्म अपनी सत्ता नही छोड़ रहे और जब उनका उदयकाल आता है तो वे अपना विपाक दिखाते है। बात यद्यपि ऐसी है तो भी ज्ञानीने अपने सहज स्वरूपको पहिचाना, अनुभवा जिस कारणसे इसको अब वाहरी प्रसगोमे इच्छा नही रही। और, देखो—इच्छा विना कोई रोटी खायगा क्या ? मुनि आहारको निकले आहार ग्रहण करे और कहो कि उनके इच्छा नही है तो यह बात कोई मान लेगा क्या ? मानेगा तो नही, मगर इच्छा-इच्छाका भेद है। एक तो वाह्य चीजको अपना सर्वस्व जानकर चाहना और एक परिस्थिति, प्रसग ऐसा वन गया कि गुजाराके लिये चाहना। इन दो चाहोमें अन्तर होता है। जैसे कैदीको चक्की पीसनी पडती तो यह इच्छा विना पीस सकता क्या ? अरे, वह इस इच्छाको मनमे रखकर चक्की पीसता कि कही सिपाही लोग हटरसे पीट न बैठे। तो विना इच्छाके पीस तो नही सकता और ये घरके अन्दर चक्की पीसने वाली वुढ़ियाँ जो बहुत गा-गाकर पीसती है, वडी उमगके साथ, तो वताओ उनके चक्की पीसनेमे और कैदीके चक्की पीसनेमें अन्तर है ना ? है अन्तर। यहाँ आसक्तिसहित इच्छा है और वहाँ विरक्तिसहित इच्छा है, मामूली इच्छा है। उस इच्छाको यहाँ इच्छा नही कहा है। यहाँ इच्छा कह रहे हैं उसीको जो मोह वाली इच्छा है। सो ऐसी इच्छापूर्वक बुद्धिपूर्वक विगार नही है। रागद्वेष नही है ज्ञानीके इसलिए कर्मबध नही होता। शास्त्रका स्वाध्याय तो है मगर तत्त्वरहस्यमयी विद्या गुरुगम विना नही आती मौलिक ढगसे याने केवल पढ़ लेनेमे या थोड़ा सुन लेनेसे उसका मर्म पूरा आ जाय सो वात वन नही पाती। कोई विषय होते है ऐसे कि वाचनेमे भी सही-सही समझमे नही आते। उनमे नासमझीसे एकान्त या अनर्थकी वात भी कर सकते। इस कलशमें सीधा लिखा है, बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वककी कोई वात नही लिखी है, मगर जिसने चारो

वेदोका अध्ययन किया—प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, ऐसा जो चतुर्वेदी विद्वान है वह उससे सही तथ्य निकालेगा और निकालकर चूँकि एक अध्यात्मप्रगति करना है अतएव वह विवादोको हटायगा, बस जान लेगा और जान करके, उपेक्षा करके एक स्वभाव भावमें ही लगेगा। ऐसे ज्ञानी पुरुषके कर्मबन्ध नही होता। इसी बातके समर्थनमे अब एक श्लोक कह रहे हैं।

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

६७८–ज्ञानीके रागद्वेषमोहकी असंभवताके कारण बन्धनका अभाव—

ज्ञानी जीवके रागद्वेषमोह होना असम्भव है, कितना तेज शब्द डाला है, क्या सर्वथा यह बात बनेगी ? जिसके सम्यग्दर्शन हो गया उसके रागद्वेष होते नही, क्या यह बात सत्य है ? हाँ नही होते। वह महान साधक है, मगर सभी सम्यग्दृष्टियोंके रागद्वेष नहीं होते, यह तो सही बात नही और श्लोकोमे कह रहे कि ज्ञानी पुरुषके रागद्वेष मोह होना बिल्कुल असम्भव है ? तो सर्वत्र यह अर्थ लेना है कि अध्यात्म शास्त्रमे प्राय सर्वत्र बुद्धिपूर्वक बन्धके निषेधका जिक्र चला करता है, और फिर एक दृष्टि और दीजिए कि जैसे आदमी तो एक है वह पूजा करता सो पुजारी है, पढाता है सो पडित है, दूकान करता सो व्यापारी है और पचायतमे निर्णय देता तो सरपच भी है। अब पुजारी शब्दसे पुकारा जाय तो केवल यह तब नाता उसमे लगेगा जब कि वह पूजा करता हो और कुछ न देखेंगे कि यह दूकान करता या पच भी है। केवल जो शब्द बोला उस शब्दका ही अर्थ लगाना है। दूकानपर बैठे हुए को कौन कहता है कि पुजारी जी क्या कर रहे है ? और, यहाँ मन्दिरमे पुजारी शब्द बोला जायगा। तो ऐसे ही जब ज्ञानी कहा तो वहाँ ज्ञानमे ज्ञानस्वभाव आये ऐसी स्थितिको ही ग्रहण करना, इस स्थितिके कारण आश्रव नही होता, किन्तु जो राग चल रहा है उसके कारण तो आश्रव होता ही है। तो व्यक्ति एक है और आत्मा एक है, और काम वहाँ दो हैं। राग भी चल रहा और ज्ञानधारा भी चल रही है, पर जब ज्ञानी कहा तो कहना निर्बंध। और, सम्यग्दृष्टि भी किसी हद तक रागी रहता है, सो जब रागी कहा तब सोचना बंध। इस तरहसे ज्ञानमात्रके नातेसे उसको परखा जा रहा है तो वहाँ रागद्वेष मोह नही है, और जब रागद्वेष मोह नही है तो इस ही कारण वह बधमे कारण नही बनता, याने रागद्वेष मोह नही है, सो बध वहाँ नही होता।

६७९–विभावोंके उपेक्षक ज्ञानीका अन्त:स्वरूपगमनमे पौरुष—

जितने कर्मबन्ध हैं सब रागद्वेष मोहके कारण हैं। अपनेको भविष्यमे विपत्तियोंसे बचाना है तो कर्मबन्धसे हटें। कर्मबन्धसे हटना है तो रागद्वेष मोहसे हटें, और इन तीनोमे प्रथम व पूर्णतया हटना है मोहसे। अज्ञान मोह हटा कि रागद्वेष होते हुए भी हटेसे हैं और हट जावेंगे। घरमे आप रह रहे और प्रधान हैं आप और ५–७ जनें जो घरमे हैं उनसे आपकी नही बनती, स्त्रीसे भी आपकी नही बनती, तो आप उस ओर देखना तक भी नही चाहते, उपेक्षा करते। तो क्या कहा जायगा कि आप विविक्त हैं, न्यारे हैं। देखो आप रह रहे हैं घरमे और लोग कहते कि यह तो घरसे अलग है। जब घरमे रहते हुए मे किसीसे मन नही मिलता तो यही बात तो वहाँ गुजरती है तब ही तो एक कहावत है—भली मार करतारकी, दिलसे दिया उतार। किसीको दिलसे उतार दिया वह चाहे एक ही तख्तपर क्यो न बैठा हो, पर वह तो निराला है, अलग है, किसीसे मिला नही है। तो रागादिक विकार चल भी रहे हैं ज्ञानी पुरुषके चरित्रमोहके उदयसे, मगर जब उनसे दिल नही मिलता, उनमे आस्था नही

जमती तब तो उनसे नंराला ही समझिये, न हुए बराबर जैसा समझिये । तो विजय अपनी इसमें है कि इन विभावोंसे तो उपेक्षा करें और अपने परमार्थ सहजस्वरूपमे अपने आपको अनुभवें कि मैं यह मैं सहज परमात्मतत्त्व हूँ ।

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः पश्यंति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

९८०—ज्ञानघन शुद्धात्माका अवलम्बन—

हम आप सब ज्ञानस्वरूप पदार्थ हैं । ऐसा कोई पदार्थ है अन्दर, जिसमे रूप, रस, गध, स्पर्श नही, जो पकडेसे पकडा नही जा सकता, छेदा नही जा सकता, बहाया नही जा सकता, आकाशकी तरह अमूर्त, किन्तु ज्ञानघन । जैसे कि घडेमे पानी भरा हुआ है तो वह पानी घन है याने उस पानीका जितना विस्तार है उसके भीतर कही भी एक सूत भी पानी नही रहे ऐसा नही है और इसी दृष्टान्तके कारण पानीसे भरा हुआ कलश कोई ला रहा हुआ दिख जाय तो उसे आप सगुन मान जाते हैं । जलसे परिपूर्ण कलशका दिखना सगुन जो माना जा रहा हैं उसकी मूल बात यहाँसे उठी । ज्ञानघन आत्माको निहारना वास्तवमे यह ही सगुन है, कही मिट्टी पानी सगुन नही या कोई आदमी, स्त्री सगुन नही है । अरे इस सगुन आत्माका, ज्ञानघनका वह दृष्टान्तरूप है । ताकि उसे देखकर झट ख्याल आये कि जैसे वह घडा अपने आपमे जलसे ऐसा भरा है कि घनरूप है । घन उसे कहते हैं कि जिसके बीचमे कही भी उस सारतत्त्वसे रहित स्थान न हो । घनका अर्थ वजनदार नही, किन्तु जितनी उसकी बोडी है, अवगाहना है, पदार्थ जितनेको ओकोपाई किए हुए हैं उस स्वक्षेत्रके अन्दर रचमात्र भी एक प्रदेश भी ऐसी जगह नही है जो उस स्वरसको घेरे हुए नही हो, सो ऐसा जो होता है वह प्राय वजनदार हो ही जाता है । ठोस लकडी जैसे कि कुछ सागौनकी लकडी दिखती है । तो ठोस लकडी कौन ? जिसके अन्दर साररहित स्थान न हो, जो पोली न हो और कुछ साधारण एक फसफस जैसी स्थिति न हो तो वह वजनदार तो बन ही जायगी, मगर घनका अर्थ यह है कि उसके बीचमे द्रव्यान्तर न होना, अन्य-स्वभाव न होना, असार बात न आना । तो यह आत्मा ज्ञानघन है, इस आत्माके इन प्रदेशोंमे इस स्वपदार्थमे कही भी ज्ञानसे रिक्त स्थान या प्रदेश नहीं होता । तो यह आत्मा अमूर्त है, ज्ञानघन है, और जो सहज है, स्वरूप है दर्शनज्ञानमय चैतन्यमात्र उसका ध्यान बने, दर्शन हो, लक्ष्य हो तो समझिये वह एक मोक्षमार्ग है, मोक्षके अत्यन्त निकट है वह जीव, जिसका ज्ञान अपने सहज स्वरूपमे बसा हुआ हो वहाँ वैसी स्थिति बन जाती है । विशेष स्थिति तो भयकर हुआ करती है । जैसे कही भी बलवा मच गया, झगड़ा हो गया तो इसको खबरोमे कहते हैं कि अभी साधारण स्थिति नही हो सकी । साधारण स्थिति मायने शान्त, सतोष आनन्दमयी स्थिति, तो जब यह ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वभावमे उपयुक्त होता है तो वहाँ साधारण स्थिति बन जाती है । अर्थात् निर्विकल्प केवल ज्ञानस्वरसका ही अनुभव ऐसी आनन्दमयी स्थिति होती है । बस उस स्वरूपको कहते हैं शुद्धनय । शुद्धनयका अर्थ तो है शुद्धतत्त्वको जानने वाला विकल्प । मगर शुद्धनयका जो विषयभूत है उसे भी शुद्धनय बोलते हैं । यह एक बोलनेकी भाषा है । तो इस शुद्ध अखण्ड तत्त्वका आश्रय करके जो स्वरूपमे ही एकाग्रता लाते हैं वे ही समयसारका अनुभव करते हैं ।

९८१—समयसारप्रयोगयोगपौरुषोंके प्रायोगिक तीन पुरुषार्थ—

समयसारका प्रयोग बने, अन्तः प्रकाशमान ज्ञानस्वभावका उपयोग बने, इसके लिए और कितना

पुरुषार्थ करना होगा ? उन सब पुरुषार्थोंमें सबसे पहला पुरुषार्थ है कि सर्व जीवोंमें समताकी दृष्टि आना। अगर आत्माके उस विशुद्ध स्वरूपका उपयोग करना चाहते है तो जब तक यह स्थिति न बने— सर्वजीवोंमे समता आना, तब तक आत्माके उस विशुद्धस्वरूपका उपयोग नही बन सकता। और, क्यों जी, जितने हम आप मनुष्य बैठे हैं, या जितने भी हैं उन सब मनुष्योंके अन्दर यह मेरा यह गैर, यह अमुक यह तमुक, यो अगर भावना हो और ऐसी बात चित्तमें समायी हो तो इस उद्यमसे अपने आत्माके विशुद्धस्वरूपमे स्थित होनेकी सम्भावना भी हो सकती है क्या ? कितनी तैयारी करना, कितना पुरुषार्थ करना कि हम अपने आपमे अन्त प्रकाशमान इस सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव कर सकते। इसका उद्यम करना है। अब धर्मके नामपर किसी तत्त्वपर कितने ही पक्ष बनें और वहाँ मैं मैं, तेरा मेरा, ऐसी बात आये तो वह आत्मकल्याणका पाथ नही। पहला पौरुष तो यह है। दूसरा पौरुष यह करना कि अपने अपने प्रसगमे, अपने उपयोगमे जो जीवनकी उपयोगी बाह्य बातें हुआ करती हैं, जिनके कारण विकल्प मचा करते हैं उन समस्त पदार्थोंको चेतन हो, अचेतन हो, अणुअणुमात्र समस्त पदार्थोंको पर पदार्थ जानकर और इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही, यह मेरा कोई रक्षक नही, ऐसी उन सब बातोको अपने लिए असार जानकर एकचित्त होकर अपने आपके स्वभावके अभिमुख होना, यह एक उसका बहुत बड़ा पौरुष है। और बन सके ऐसा तो वह अनुभव करेगा, मगर बाधा क्या आती है कि अपने अन्दर वासनायें पड़ी हुई हैं नाना तरह विषयोंके उपभोगकी अन्य-अन्य बातोंकी तो उन वासनाओंका परिहार करनेके लिए अपना जीवन कैसा विशुद्ध होना चाहिये ? वह त्यागमय, त्यागप्रधान, जितनेसे अपना काम चले वह तो ठीक है, मगर बाहरी ऊलमयूल, साधन विकल्प न हो याने फसाव न बनें ऐसी अपनी बाहरी स्थिति होनी चाहिए। बस इसको बताता है चरणानुयोग। अभक्ष्यका त्याग, कम खाना, रात्रिभोजनका त्याग, और-और, जीवदया करना, इस तरहसे जिनका चित्त सुवासित है वहाँ ये वासनायें परेशान न करेंगी और हम अपने स्वभावकी अनुभूतिमे सफल हो जायेंगे। तो ये तीन तरहकी बातें अगर हम कर सके, प्रयोगमे ला सके तो किसी क्षण हम अपने उस स्वरूपका अनुभव पा लेंगे कि जिसके बाद यह निश्चय है कि नियमसे मोक्ष होगा। ससारके जन्म मरणके सकटोंमे हम सदाके लिए निश्चयसे छूट जायेंगे। कभी भी हम ससारसे छूटें, निकटकालमे तीन बातें आयेंगी।

६८२—सर्वजीवोमे साम्यभाव पुरुषार्थकी ज्ञानवृत्ति—

सर्व जीवोमे आत्मस्वरूपको निरखना और उस स्वरूपकी दृष्टि करके सर्व जीवोंमे समताका भाव आना यह बहुत बड़ा कठिन तात्त्विक रण है। जरासी कोई प्रतिकूल बात निहारतें हैं तो हम उसमे उद्विग्न हो जाते हैं, मगर यह जानें कि उसके प्रतिकूल जो यह चेष्टा है तो इससे आगे इसका क्या अपराध ? इस आत्माको क्या जरूरत पड़ी है ? यह आत्मा तो सहज निरपराध चैतन्यस्वरूप है, पर कर्मविपाककी ऐसी छाया है कि उसमे ऐसी अटक बन रही है, पर यह मूलत स्वभावत निरपराध है। सर्व जीवोमे समताकी बुद्धि चाहिए। यह है मूलमार्ग, पर इसकी उपेक्षा करके कोई धर्ममे बढ़ना चाहे कि हम प्रयोगात्मक कुछ लाभ पा ले तो वह कठिन है। तो स्वरूपदृष्टिका ऐसा दृढ अभ्यास बने कि सर्वजीवोको किसीको भी देखे तो पहले स्वरूप दीखे, पीछे गड़बड़ी दीखे। एक धुन ही तो होती है। जिसको जिसकी धुन होती है उसको वही सब दिखता है। एक खवास (नाई) बादशाहकी हजामत बना रहा था। तो देखा होगा आपने कि खवास लोग बाल बनाते समय बातें बहुत किया करते, तो

बादशाहसे भी बहुत–बहुत बातें कर रहा था। बादशाहने पूछा—खवास जी, सच बताओ, हमारी नगरीकी जनता सुखी है या दुःखी ? तो खवास बोला—महाराज, आपकी नगरीमें सारी जनता बहुत सुखी है। घी दूधकी तो खूब नदियाँ बहती हैं। बादशाहने समझ लिया कि सचमुच यह सुखी है, इसके पास घी दूधका अच्छा साधन है, तभी तो इसको सारी जनता सुखी दिखाई देती है। पूछ बैठा बादशाह—बताओ तुम्हारे पास कितनी गाय भैंसें हैं ? तो खवास बोला—महाराज, हमारे पास तो सैकड़ोंकी संख्यामें काफी–काफी दूध देने वाली गायें भैंसें हैं। ठीक है। अब बादशाहने क्या किया कि कुछ थोड़ासा आरोप लगाकर उस खवासकी सारी गाय भैंसें जब्त करवा लीं। कुछ दिन बाद फिर वही खवास बादशाहकी हजामत बनाने आया। वहाँ बादशाहने पूछा—कहो खवास जी, हमारी नगरीकी सारी जनता सुखी है या दुःखी ? तो वहाँ खवासने जवाब दिया महाराज—आपकी नगरीकी सारी जनता बड़ी दुःखी है। घी दूधके तो किसीको दर्शन भी नहीं होते। तो जिसके मनमें जैसा है उसको वैसी बातें बाहरमें दिखतीं। अभी कोई बड़ा दुःखी हो, वह कहीं जा रहा हो, रास्तेमें उसे हँसते, बोलते कोई लोग दिख जायें तो वह तो यही सोचता कि ये सब बनावटी हँस रहे, अन्दरसे दुःखी हैं। और ऐसी ही अगर कोई बड़ा खुश हो, उसे कोई दुःखी लोग दिखें तो वह सोचता कि ये लोग बनावटी दुःखी हो रहे, अन्दरसे ये सब खुश हैं। तो ऐसी ही बात सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषकी है। ज्ञानी पुरुषको अपने सहज ज्ञानस्वरूपका ऐसा दृढ़ अभ्यास है कि उसको सब जीवोंमें उस सहज स्वरूपके सर्वप्रथम दर्शन होते हैं। बादमें जब चेष्टायें दिख रहीं, घटनायें दिख रहीं तो यह जचेगा कि यह सब कर्मविपाकका फल है। तो सबसे पहली बात है सर्वजीवोंमें समता आना।

९८३—समयसारदर्शीका अनात्मत्वसन्न्यास—

समयसारदर्शीका दूसरा पौरुष है अपने जीवनको एक त्यागमय बनाना। अगर त्याग करना बेकार और फोकट है तो बेकार और फोकट बात करनेमें क्यों कठिनाई महसूस की जा रही है ? सबका एक निर्णय है कि जो बेकार है सो उसको धारण करनेमें भीतर कठिनाई महसूस नहीं होती है। वह क्यों होती है कि इन्द्रियके विषय भीतरसे सता रहे हैं, वे छोड़े नहीं जा सक रहे तो फिर बाहरी थोड़ा त्याग कैसे बन सकता है ? यह स्वभावकी अनुभूतिकी सही बात कर रहे हैं। कैसे अनुभव की पात्रता आती है। तीसरा पौरुष यह है कि जिन–जिन साधनोंमें हमें रहना पड़ता है, घर है, दूकान है, मील है, परिजन है, जो–जो भी साधन हैं उन सब साधनोंमें सबको एक बराबर, एक समान, एक साथ परतत्त्व जानकर यह मेरे आत्मामें क्या कर सकता है। मेरे इस ज्ञानस्वरूप आत्माकी ये कोई परिणति बना देंगे क्या ? कुछ भी नहीं कर सकते हैं, तब उनके विकल्प करके मैं अपनेमें विकल्प क्यों करूँ और स्वानुभवका अवसर क्यों खोऊँ। एक ही साथ मेरे तो सबका त्याग है। मैं अपने इस सहज अंतस्तत्त्वको ही निरखूँ, ऐसा एक दृढ़ संकल्प बनाकर स्वभावके अभिमुख हो तो वह वहाँ एक ऐसी साधारण स्थिति पा लेगा कि जिसमें क्लेशका काम नहीं, आनन्दका सहज अनुभव है। ऐसा पुरुष समयसारका अनुभव कर सकता है। समयसार मायने आत्माका विशुद्ध सहज निरपेक्षस्वरूप।

९८४—अन्तस्तत्त्वके रुचियाकी रागादिमुक्तसतस्कता—

समयसार दर्शनकी पात्रता तब आ पाती है जब सर्वजीवसाम्यभाव व सकलसन्न्यास प्रयोगमें आ सके। कभी समयसार ग्रन्थ हाथमें ले लिया, दो लकीर बाँच लिया, इतनेसे बात नहीं बनती या समयसारपर विवेचन करने वाले कुछ हर्ष दिखाकर, उछल कूँद कर वहां बाँचने लगे तो उनको उससे

कहीं अनुभव नहीं होता । अपनेमे अगर सर्वजीवसमता अनात्मत्वसन्यास व सयम प्रयोगमे आ पाते हैं तो अनुभव हो, जिसको ज्ञानज्योति जग गई वह तो अकेला ही रहना चाहता है, अकेला ही निवास चाहता है । उसको वाहरी वातें सव कीचड, विपत्ति, आफत जचती है, क्योकि सार कुछ है नहीं और फसाव वडा हो जाता है । यह उसके ध्यानमे है । ज्ञानदृष्टि श्रावकके ध्यानमे है कि परिजन, वैभव, अन्य-अन्य वातें, इनके सगप्रसगमे मेरे इस परमार्थ आत्माका कोई भला नही है । जिसे वास्तविक भलाई कहते हैं और उसमे विघ्न बन रहा है । केवल एक ही तत्त्व इस ज्ञानीको रुचा है, दूसरी कोई बात नहीं रुची । उसको स्पष्ट वोध है कि घरमें रहने वाले दो चार जीव स्वतत्र सत्ता वाले हैं इसके ही भावके अनुसार इसका कर्मवन्ध है, इसके ही उदयके अनुसार इसकी सासारिक स्थिति है । इसके ही वीतराग परिणाम आये तो यह मोक्ष पायगा । सव कुछ इसका इसके भावपर ही निर्भर है, उसमें मेरा रच भी दखल नही, ऐसे ही सव कुछ भवितव्य मेरा मेरे पर ही निर्भर है, मेरे भावपर ही निर्भर है । यहाँ भी किसीका दखल नही । तव ऐसे ये सव पदार्थ स्वय अपने आपमें नगे-नगे रहा करते हैं । जब ऐसे ये सब पदार्थ स्वय अपने आपमे नगे रहा करते हैं, तो मतलव नही किसी का किसी दूसरेसे तो फिर वह जीव अपने ज्ञानको कर्मस्वभावरूपसे वनाकर क्यो दु खी होता है ? यह ज्ञान अपने ज्ञानको ज्ञान स्वभावरूपसे वनाकर क्यो नही सर्वसकटोसे मुक्त होता ? उसकी दृष्टिमे यह अपना शुद्ध सार तत्त्व आया है तो अव उसे वाहरमे कुछ भी रुचिकर नही है । हाँ परिस्थितियाँ होती हैं ऐसी कि उन्हे करना पडता है, परमार्थ रुचि केवल अपने अतस्तत्त्वमे है । तो जो जीव इस शुद्धनयका, इस अतस्तत्त्व का, किसका, ? जिसका कि उन्नत ज्ञान ही चिह्न है याने जिसको कोई रोक नही सकता ऐसा उद्धत ज्ञान वही जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्धनयका सहारा लेकर जो एकाग्र मनसे उस ही का सग्रह करता है, ज्ञानमे लेता है वह पुरुष रागादिकसे मुक्त मन वाला हो जाता है ।

९८५-करणानुयोग व द्रव्यानुयोगमे निरास्रवता बतानेका विभिन्न वर्णन होनेपर भी अविरोध—

देखो करणानुयोगकी दृष्टिसे याने वास्तविकतासे ज्ञानीके भी और प्रमत्त अवस्था तक अधिक रूपसे उसके सग चल रहे हैं अपने अपने भावके अनुसार, तो भी मन रागदिकसे मुक्त है । श्रद्धामे तो रागादिकरूप निराला ज्ञानस्वरूप ही मेरे लिए सर्वस्व है, इस कारण द्रव्यानुयोगमे सम्यग्ज्ञान जगने पर भेदविज्ञान प्रकट होनेपर यह ही वर्णन आता है कि ज्ञानीके रागादिक छूट गए । रागद्वेष अब असम्भव है, इसलिए वे निराश्रव हैं । देखो करणानुयोगसे द्रव्यानुयोगका विरोध नही । करणानुयोग तो सूक्ष्म और स्थूल, वुद्धि और अवुद्धिपूर्वक सव घटनाओका वर्णन करता है । और द्रव्यानुयोग कुछ वुद्धिपूर्वक जो घटनाये हैं उनका वर्णन करता है और इतना काम ही वुद्धिपूर्वक बनता द्रव्यानुयोगसे, शेष है अवुद्धिपूर्वक, पर इसकी वात क्या चलाना, वह तो अपने आप नष्ट होगा । हम ज्ञानको अपने स्वभावकी ओर ले जायें तो वुद्धिपूर्वक हमने यह पुरुषार्थ किया और वुद्धिपूर्वक वहाँ आश्रव नही । तो रागादिक भावोसे जिनका मन मुक्त है वे सतत ऐसे ही विविक्त होते हुए इस बधविधुर समयके सारको देखते हैं । वह अखण्ड तत्त्व, वह सहज ज्ञानस्वरूप, वह शक्तिरूप वह बधसे निराला है, वहाँ बन्धका क्या काम ? पदार्थमे जब सत्ता है तो सत्ता तो अपने आप है ना, निरपेक्ष है ना ? उस सत्त्वमे क्या बध पडा है, भले ही स्थिति है बधकी, स्थिति है रागकी, मगर स्वरूपको देखें तो स्वरूपमे वन्ध नही है । अगर स्वरूप ही बध वाला हो तो मोक्षकी चर्चा करनी भी व्यर्थ है, क्योकि स्वरूप कभी मिटता नही । सो बध स्वरूप नही है । ऐसे बधसे विविक्त अतस्तत्त्वके सारको वे पाते हैं । जिसकी

जो श्रद्धा, जिनकी जहाँ लगन, जिसको जो समाया हुआ है सो कारणवश दूसरी बातमे भी लगना पड रहा हो तो भी प्रतीति निरन्तर है उसकी, जिसकी ओर लगन है और अवसर पाकर तुरन्त ही उसकी ओर शीघ्र पहुचता है। जैसे जिसको किसी इष्टवियोगकी चोट लग गई हो, खाना उसे भी पडता है, व्यवहार भी उसे करना पडता, मगर धुन तो उस ही की लगी रहती है।

९८६–स्वभावानन्द व भवभयके परिणामका फल—

बताया है कि जो साधुजन होते है प्रमत्त विरत गुणस्थान वाले उनको नीद, अधिक नही आती, अल्प निद्रा बतायी है। आप सोचते होगे कि कारण क्या है जो उनको कम नीद आती। अच्छा तो साधुवोकी बात छोडो, औरकी बात बताओ, जिसको नीद नही आती और कभी कभी तो रातभर भी नीद नही आती उनको क्या कारण है ? तो उनको नीद दो कारणोसे नही आती। एक तो किसी बातका भय हो या किसी बातको उमग हो, देखो अगर उमग हो, हर्ष हो तो भी रातभर नीद नही आती। कोई ऐसा ममता परिणाम हो जाय, कोई जैसे मान लो एम० पी० निर्वाचनमे खडा है, आ गया रिजल्ट, हो गया निर्वाचनमे सफल तो उसे उमगके मारे रातभर नीद भी नही आती। और, चिन्ता, भय लग जाय तो उसमे भी नीद नही आती। यह ही बात मुनि महाराजकी है। उनको भय इतना लगा कि उसके मारे उन्हे नीद नही आती। काहेका भय लगा है ? ससारमे रुलनेका, इस जन्म मरणकी परम्पराका, इस भवधारण करनेकी विपत्तिका उनको भय लगा है, यह कैसे मिटे, यह बडा खतरनाक है, और उमग किसकी है ? अपने आपमे सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन हुए हैं और उसका एक अलौकिक आनन्द पाया है तो उस आनन्दके कारण इतना विभोर रहता है, इतनी उमग रहती है कि उनका यह ही चाव रहता है कि मैं उस शुद्धनयके आश्रित होने वाला अद्भुत आनन्द वही–वही मेरे वर्तो, प्रक्रिया वही, प्रयत्न वही, तो स्वभावदर्शनमे तो उमग और भव भ्रमणका भय, ये दो स्थितियाँ मुनिराजकी हैं सो उनके भी नीद नही आती। चूँकि शरीर है तो झपक तो आ ही जाती है, तो ये दो बातें अपनेमे भी पैदा करे। सायद आप सोचते होगे कि यह तो अच्छी बात बतायी कि जिससे हमको नीद भी न आये, आरामसे सो भी नही सकते। अरे, थोडा उमग बनावे तो सही अपने आपके स्वभावदर्शनकी, फिर अनुपम सहज आनद पावेंगे, नीदकी क्या फिकर ?

९८७–अन्तस्तत्त्वकी शरण गह कर दुर्लभ नरभवको सफल करनेका संदेश—

मेरा शरण केवल मेरा स्वरूप है, उसकी ओर मेरी बुद्धि हो, वही मेरा ज्ञान बना रहे, बाहरी विकल्पोमे उलझे नही तो इसको आनन्द यहाँ ही है। अन्यथा, यह बात अगर नही बन सकती तो यह न सोचो कि हम मनुष्य हो गए हैं सो जैसे कि और लोग सोचते है कि मैं तो अब मरकर मनुष्य ही बनूँगा। यदि मरकर बन गए और कुछ, घटनेका काम बने, तो। अज्ञानी जीवकी ऐसी स्थिति है कि यह घटे तो तुरन्त निगोद हो सकता, एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक हो सकता, अन्य जीवकी बात तो ऐसी है कि उनमे कुछ नियत्रण है कि ये ये ही बन सकेंगे और कुछ नही। जो देवगतिके जीव है वे मनुष्य या तिर्यञ्च गति ही पा सकते है, नारकी और देव नही बन सकते। नरकगतिके जीव मरकर मनुष्य या तिर्यञ्च ही बन सकते, नारकी या देव नही हो सकते। छोटे-मोटे सभी जीवोमे ऐसा नियत्रण है, मगर मनुष्योके लिए कोई नियत्रण नही है। एक मनुष्य सामान्यके लिए बात लीजिए। एकेन्द्रियसे लेकर समस्त पञ्चेन्द्रिय तक ये जन्म ले सकते हैं, नरकमे, देवोमे, चारो गतियोमे। और, इनका बल बने तो ये मोक्ष भी प्राप्त कर सकते है। यह सब मनुष्योकी बात कही जा सकती। पचमकालके

मनुष्योपर ही दृष्टि नही है। आज यह दुर्लभ मानव जीवन पाया तो इस भवसे मोक्ष नही बनता तो न सही मगर इसका पौरुष हम इस भवमें भी बना सकते है, वह बना ले, फिर अपने आनन्दका आनन्द होगा। इन बाहरी बातोंमें, हठोंमें, इनमे पड करके अपने जीवनको व्यर्थ गमा देनेमे चतुराई नही है, चतुराई अपने आत्मकल्याणका काम बनानेमे है।

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

९८८—शुद्धनयसे च्युत पुरुषोकी विडम्बना—

अपने आपको परसे निराला और अपने स्वरूपमात्र ज्ञानज्योति रूपमे निरखना यह कहलाता है शुद्धनय। इस शुद्धनयकी बात कोई छोड दे, उस शुद्धतासे गिर जाय तो क्या बात बनेगी ? चूंकि अपने ज्ञानसे तो हट गया तो रागादिकके साथ उसका सम्बन्ध बनेगा। यदि अपने आपके स्वरूपमे लगा है तब तो वह सही है और स्वरूपसे च्युत हुआ तो रागादिकके साथ सम्बन्ध बना। जब रागादिकके साथ सम्बन्ध बना, तो वह कर्मबधको करता है। कर्मका कहाँ बध होता ? कर्म किससे बधते ? जो पहले बाँधे हुए कर्म है उन कर्मोंसे बधते है। पर उनके इस निमित्तयोगमे निमित्त है साक्षात् द्रव्यप्रत्यय और द्रव्यप्रत्ययमे नव्यकर्मास्रवका निमित्तत्व आवे इसका निमित्त है विकारभाव। विकारभाव ही सब अनर्थोकी जड है। तो यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि हम सबका कर्तव्य है कि अपने आपको इस तरह निरखे कि मैं तो केवल ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ शरीरसे भी निराला समस्त अन्य द्रव्य क्षेत्र काल भावसे जुदा ज्ञानज्योति मात्र हूँ, ऐसा अपने आपको निरखें तो यह जीव शिवमार्गमे है, और जहाँ अपने आपके स्वरूपसे च्युत हुआ कि यह रागादिक बन्धनमे पड जाता है। अब दो स्थितियाँ है—एक तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपमे निरन्तर नही लग पाता, तो अपने स्वरूपसे वह हट गया। एक तो ज्ञानीकी स्थिति और एक मिथ्यदृष्टिकी स्थिति कि अपने स्वरूपकी श्रद्धा भी खो दी और एक अज्ञानभावमे आ गया। अपने स्वभावसे हटनेमे दो परिस्थितियाँ हुआ करती है। एक तो अज्ञानी बन करके अपने स्वरूपसे हट गया, दूसरे ज्ञानी रहता हुआ भी अपने स्वरूपमे उपयोग न रख सका। तो इन दोनोके बध तो है, ज्ञानी भी अपने स्वरूपसे हटा हुआ है, तो उसके भी बध है, मगर मिथ्यात्ववाला बध नही है, अल्पबध है। और, जो अज्ञानी ही बन गया, मिथ्यादृष्टि ही बन गया उसका बध मिथ्यात्ववाला बध है। मगर बध है दोनोमे। इसीलिए यह प्रेरणा दिलाई जाती है कि तुम अपने स्वरूपकी प्रतीति किये रहो और भरसक पौरुष करो कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा एक अपने अन्दर स्पष्ट करें। जैसे पतग दूर उड गया, उसकी डोर हाथमे है तो पतग दूर नही गया, ऐसे ही उपयोग अगर किसी कारणसे घरमे, दूकानमे, सेवामे, अन्य बातोमे जाय और प्रतीति रहे अपने आत्माकी कि मैं यह आत्मा उपयोग नामका केवल पतग मात्र हूँ तो आपका उपयोग पतगकी तरह अपने आश्रित है। एकदम जैसे डोर टूट जाय तो पतग हाथ नही आती, कही की कही पडती। ऐसी स्थिति ज्ञानीकी नही है, यह अज्ञानीकी स्थिति है कि डोर उसकी टूट गई, पतग कही पहुच गई। तो ज्ञान ही एक अपनेको शरण है। ज्ञानमय अपना एक भाव रहेगा तो अपने आपका उद्धार होगा। जगतमे कोई दूसरा उद्धारका साधन नही है।

९८९—कर्मबन्धका कारण शुद्धस्वरूपसे प्रच्यवन—

क्या स्थिति यहाँ वर्णनमे चल रही है कि ऐसा जीव जिसने अपने ज्ञानोपयोगसे हटकर बाहरी

पदार्थोंमे लगाया है, ऐसे जीव तो अनन्तान्त है जगतमे। उनके खराब परिणामका निमित्त पाकर ये कर्म नाना प्रकारसे बँध जाते हैं, जैसे भोजन किया तो पेटके अन्दर भोजन पहुँच गया। अब उसके बाद उसकी सारी क्रियाये अपने आप होती है। उस भोजनका कौनसा हिस्सा क्या बनता है, कोई अश खूनरूप बनता है, कोई हड्डी रूप बनता है, कोई वीर्य रूप बनता है कोई किसी रूप। ऐसे ही जहाँ यह कषायभाव जगा और वहाँ कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमी तो कुछ वर्गणाये ज्ञानावरणरूप बनी, कुछ दर्शनावरणरूप बनी और उनमे अनुभाग भी वैसा ही बना, तो ऐसे ८ प्रकारके वे कर्म बँधते और ८ ही नही, उस ८ मे और भी भेद हैं, उतने प्रकारके कर्म बँधते। जैसे सकल सबकी एकसी नही होती। मनुष्य होते सभी एक ही ढगके अगोपाग वाले फिर भी ये जो जो कुछ भेद नजर आते समझो उतने कर्मके उदय हैं। कर्म ८ नही हैं। कुछ विसम्वाद है, तो समझो कि उसका निमित्तभूत कर्म उस ढग का है, तो कर्म केवल ८ नही, केवल १४८ नही, अनगिनते प्रकारके कर्म है। उन्हे बताया कैसे जाये? तो उनको उनकी जातिमे अन्तर्भूत करके बताया गया है। क्योकि जितने भी विषम कार्य होते है वे किसी पर निमित्तके सन्निधान बिना नही हो सकते। ऐसे ही हर एक लौकिक बातमे लगा लो। तो जो कर्मजाल नाना प्रकारके बँधते हैं उसका निमित्त यह है कि यह जीव अपने स्वभावका आश्रय न करे, अपने आश्रयमे इसका उपयोग न रहे और बाहर बाहर उपयोग चले तो नाना प्रकारके कर्मबध इसके हो जाते हैं।

९९०–शुद्धनयके त्यागसे बन्ध और शुद्धनयके आश्रयसे अबन्ध—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद् बन्ध एव हि ॥१२२॥

यहाँ तात्पर्य यह है कि शुद्धनय कभी छोडना न चाहिए, यह हेय नही है, अपने आत्मामे निरपेक्ष विशुद्ध स्वरूपकी दृष्टि त्यागने योग्य नही है। अपने स्वरूपकी दृष्टि न त्यागें। मैं ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, ऐसा अपना अनुभव बनेगा तो बध न होगा और यदि उस शुद्धनयका त्याग कर देंगे तो नियमसे बन्ध होता है, बस इस ससारमे रुले बँधे फसे उसका कारण है अपनेको अपने स्वभावरूप न मान पाना। अन्य रूपसे माना जाना बस यही आपकी बडी दुर्गतियोका कारण है। कुछ लोग तो सुनकर अचरज कर सकते है कि इस जीवने ऐसा क्या अपराध किया। अगर मान लिया किसी पदार्थमे कि यह मेरा है तो इतनी ही बात तो उसके अन्दर आयी, मगर इतना कठोर दण्ड क्यो मिल रहा कि यह जीव मरकर पशु बन जाय, कीडा बन जाय, वृक्ष बन जाय। इतना कठोर दड इतनेसे परिणामका मिल गया कि पर पदार्थको मान लिया कि यह मेरा है! हाँ मिल गया। यह परमात्मप्रभु भगवान आत्मा बहुत पवित्र अतस्तत्त्व है। इसमे किसी भी प्रकारका विकार तरग नही, यह इसपर बहुत बडा भारी अन्याय है जो अपने स्वरूपसे चिगकर किसी बाहरी पदार्थमे कोई बुद्धि ममता रखे, सो उसमे इतना विचित्र कर्मबन्ध होता कि उसके उदयमे यह जीव एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक अनेक तरहकी दुर्गतियोको प्राप्त करता है। अब अपने अपने उपयोगको सम्हालें कि हम अपने आपके स्वरूपसे कितना बिछुडे हुए रहते है और चिग करके हम अपना कितना विनाश कर रहे हैं। साथ कोई दूसरा तो नही होनेका, जो बाह्य पदार्थोंमे तृष्णा करे, ममता करे, उसे ही सब कुछ माने, दूसरेको कुछ न समझे, ऐसी जो वृत्ति है वह बहुत बडी खोटी वृत्ति है। उससे कभी भी अपना उद्धार नही है। इसलिए एक बार तो सबसे निराला अपनेको निर्भार अनुभव करलें—मैं समस्त भारसे रहित केवल अपने स्वरूपमात्र

हूँ। तो स्वरूपदृष्टि रहेगी, शुद्धनयका त्याग न रहेगा तो उसका बन्धन नही, यदि स्वदृष्टि त्याग दी, केवल बाहरी-बाहरी साधन ये भोग ये उपभोग जहाँ बाहर चित्त गया तो जैसे मछली पानीसे निकल कर बाहर रेतीली जमीनपर पड जाय तो जैसे उसका भला जीवन नही, तडफ-तडफ करके मरेगी। ऐसे ही हम आप सभी जीव अपने स्वरूपसे चिगकर, अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय तजकर बाहरी पदार्थमे उपयोग लगाये रहे तो उस मछलीकी तरह बुरी तरह तडफेंगे और अपना जीवन यो ही बेकार करेंगे एव ससार परम्परा बढायेंगे।

६६१—दुर्लभ मानवजन्मके अवसरका सदुपयोग न करनेका विषम फल—

आज हम मनुष्य हैं तो कुछ बोध है, कुछ समझते हैं, हम आपको कुछ समझा सकते, आप हमे कुछ समझा सकते हैं, ये सब बाते चल रही हैं और मनुष्यभवके बाद मानो कीट पतिगा हो गए तो वहाँ सब बातें एकदम खतम हो गई। क्या दिखती नही हैं इन जीवोकी दशायें ? इन जीवोकी दशा देखकर भी हम नही चेतते। एक बार एक पुरुष किसी शराब वाले की दूकानपर गया—दूकानदारसे पूछा भाई बिलायती शराब होगी क्या आपके पास ?' हाँ है।' खूब अच्छी है ना ?' हाँ—हाँ खूब अच्छी है। अजी हमको तो बहुत ही अच्छी चाहिए ? ' हाँ-हाँ बहुत ही अच्छी होगी। और यदि आपको विश्वास न हो तो चलो इसका साक्षात् प्रमाण भी तुम्हे दिखादें कि हमारे यहाँ की शराब अच्छी है कि नही। चलो, देखो वे जो नालीमे गदगीमे पडे हुए लोग हैं, जिनके मुखमे कुत्ते भी मूत रहे, जो बेहोश पडे है उनको देखकर अनुमान करलो कि हमारे यहाँकी शराब अच्छी है कि नही। तो ऐसे ही इस जगतके इन दुर्गतियोंमे पडे हुए जीवोको देखकर कुछ विश्वास करलें, इन पशु पक्षी एकेन्द्रिय आदिक, गधा सूकर आदिक दु खी जीवोको निरखकर ही ऐसा अदाज बनालो कि मोह-रूपी मदिराका पान करके ऐसी-ऐसी दुर्गतियाँ जीवोकी हो जाया करती हैं। वह क्यो है ? यो ही तो है कि अपने शुद्धस्वरूपसे च्युत हो गए और बाहरी पदार्थोंमे रागादिक बना डाला। उसका यह फल है कि ये नाना प्रकारके कर्मबन्ध होते हैं।

६६२—शुद्धनयके त्यागकी दो स्थितिया—

शुद्धनयके त्यागमे दो अन्तर है, एक तो ज्ञानी अपने स्वभावसे हट गया और कही बाहर लग गया तो वह तो थोडी-थोडी देरकी स्थिति है। और, तब भी अपनी प्रतीति सही है, उसमे भी बध तो होगा मगर थोडा बध होगा। मिथ्यात्व और अनन्तानुबधी सम्बन्धी न होगा। और कदाचित् कोई ज्ञानसे बिल्कुल च्युत हो जाय याने सम्यग्दृष्टिसे मिथ्यादृष्टि बन जाय तो अज्ञान हो गया। है उसके रागादिक, ऐसा अधिक योग बनता है, वहाँ फिर यह जीव अपने स्वभावसे ऐसा चिग जाता है कि मिथ्यात्व अनन्तानुबधीकृत उसके बधन चलता है। तो हर प्रकार, हर एक पुरुषार्थसे अपनेको चाहिए कि चिग भी जाय तो भी उसीकी ओर लगे। जैसे चीटी भीटपर चढती है, गिरती है फिर भी चढना नही छोडती, ऐसे ही हम अपने स्वभावकी ओर अभिमुख होनेका प्रयत्न करें, गिर भी जायें, फिर भी प्रयत्न करते रहे, उसके लिए बाहरी बातोके प्रसग त्यागें। कुछ करना पडे अपने लिए तो करे, इसमे रखा क्या ? जैसे कोई-कोई आदमी ऐसे होते कि उनको बतावो कि इसमे बडा दोष है जैसे गोभीका फूल, उसे अगर किसीसे छोडनेको कहा जाय तो कहते कि भाई हम तो इसे नही छोड सकते। तो वह सब बेकार बात है गोभीके फूलका तो त्याग करना ही चाहिए। ऐसे ही आत्महितकी दृष्टिसे इन बाहरी पदार्थोंका त्याग, सयम प्रसग ये करने ही चाहिये, चरणानुयोगकी आज्ञा

है तो वे साधारणरूपसे भी कठिन क्यो लगते ? यह भी कर सकते हैं क्योंकि धुन है कि मैं अपने शुद्धनयको न छोड़ू तो अपने आपके शुद्धनयसे मायने आत्माके सहजस्वरूपकी दृष्टिसे हम कही च्युत न हो पाये, प्रतीतिसे च्युत न हो पायें, ऐसी अपनी निरन्तर भावना होना चाहिए।

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं, त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्व कषः कर्मणाम्। तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात् संहृत्य निर्यद्बहिः पूर्णं ज्ञानघनौघमेवमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥१२३॥

६६३—संसारी प्राणियोंकी दुःखमयता—

अपने आपका कल्याण आनन्द किस स्थितिमे है, ध्यानपूर्वक सुनो—एक बार भी अगर अपना यह ज्ञान इस निज ज्ञानस्वरूपमे रम गया तो समझ लीजिए सदाके लिए ससारका सकट टल गया—अन्यथा यह बतलाओ, जन्मे मरे, फिर दूसरी जगह जन्मे फिर मरे तो ऐसा जन्म मरणका ताँता लेकर कौनसा कल्याण पा लिया जायगा ? दु ख ही दु ख है, जन्मका दु ख, मरणका दु ख, और जन्म मरणके बीचकी जो जिन्दगी है उसमे भी दु ख। जैसे बाँसका पोर होता है उस कोरके भीतर कीडा फसा हो और बाँसके दोनो तरफ लग जाय आग तो कीडेकी क्या होती है ? ऐसे ही समझलो कि हमारा जीवन है मध्य तथा उसके दोनो तरफ लगी है जन्म मरणकी आग, तो एक तरफ जन्मकी आग, एक तरफ मरणकी आग, और उसके बीचकी जो जिन्दगी है वह महाकष्टसे भरी हुई है। तो ऐसे इस जीवनसे कौन सा हित पा लिया जायगा ? इसलिए उचित तो यह है कि एक ही बारमे पूर्ण श्रद्धाके साथ यह स्वीकार करलो कि मेरा तो ज्ञानस्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नही है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, अन्य मेरा कुछ नही।

६६४—आत्मज्ञानसे ही शान्तिकी संभवता—

अपने आपमे आनेके लिए क्या करना ? देखो निरखो अपने ज्ञानस्वरूपको। यह ज्ञानस्वरूप धीर है, उदार है, महिमा वाला है। मेरे लिए महान मेरा यह सम्यग्ज्ञान है। हाँ जब यह सम्यग्ज्ञान अपने आपके स्वरूपमे नही रहता है और इस रागद्वेषकी तृष्णामे कोई तरग चलती है तो यह जीवन दु खमय हो जाता है। सो थोडा भेदविज्ञानकी बात रहेगी चित्तमे तो शान्ति रहेगी और भेदविज्ञानकी बात चित्तमे न रहेगी तो कुछ भी कमा लें, राज्य पा ले। करोडोका वैभव पा लें, शान्ति उसको नही मिल सकती। शान्ति देने वाला वैभव नही है। शान्ति देने वाला तो आत्मज्ञान है। चाहे आज शान्ति पानेका उपाय बना लें चाहे कुछ भव बाद, मगर शान्ति पानेका उपाय तो केवल आत्मज्ञान है, केवल आत्मवैभव है। सो धीर, उदार, महिमा वाला यह अनादि अनन्त मेरा ज्ञानस्वरूप है। उसमे मैं अपनेको लगाऊँ। उसमे मैं धीरता बाँधू याने मेरी दृष्टि अपने आपके उस ज्ञान प्रकाशपर रहे और फिर यह बोध, यह शुद्धनय यह कभी त्याज्य न रहे, हेय न रहे, दृष्टिमे रहे, प्रतीतिमे रहे। यह ससार बडा दु खमय है, और रच दु ख भी नही है। जहाँ बाहर देखा वहाँ दु ख हो गया, जहाँ भीतर निरखा, बस सारे दु ख शान्त हो गए। जिन भगवानकी हम पूजा करते हैं वे पूर्ण आनन्दमय हैं। और, इन्होने क्या किया ? बाहरकी दृष्टि त्यागी, अपने आत्मामे दृष्टि लगायी, उसके प्रतापसे केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, अब सारे लोकालोकको वे युगपत् जान रहे हैं और अपने आनन्दमे निरन्तर लीन रहते है। यह है प्रभुका स्वरूप, और ऐसा ही मेरा स्वरूप स्वभाव है। जैसा उपाय प्रभुने किया वही उपाय हम आप कर सकते। तो मेरे को भी यह आनन्द प्राप्त हो सकता है। सदाके लिए सकट मिट जायेंगे। इस ओर उमग क्यो नही लायी जाती ? मुझे तो अपने आत्मामे बसे हुए सहज

परमात्मतत्त्वकी उपलब्धि करना है।

९९५—शुद्धनयकी सर्वंकषता—

यह शुद्धनय, आत्मदर्शन, बाहरके विकल्प त्यागकर अपनेको केवल ज्ञानस्वरूप निरखना यह समस्त कर्मोंका सर्वं कष है। मायने परविकल्पोंका, विभावोंका यह सर्वप्रकारसे कसने वाला है, विनाश करने वाला है, प्रलय कर देगा, जो विभाव है, जो कर्म हैं उनका प्रलय कर देगा। अपनेको ऐसा निरखना कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ही मेरा वैभव है, ज्ञानके सिवाय परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नही हैं, ऐसा दृढ निर्णय बनाये बिना शान्तिका मार्ग तो पा नही सकते, बाकी जैसी जिन्दगी चलती है चलती रहेगी। जिन्दगी पार हो जायगी, फायदा क्या पा लिया जायगा ? इसके बाद फिर जीवन, फिर वही पार्टी, फिर वही मरण। और, कहाँ कहाँ जीवन, कहाँ कहाँ मरण, कहाँ बुद्धि लग रही है। सर्व ओरसे अपनी बुद्धिको सहृत करके अपने आपमे निरखें कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी दृष्टि दृढ तो बनायें, उससे नुकसान कुछ नही होनेका। क्योकि धन वैभवकी कमाई यह कोई आपके हाथसे नही हुई, आपके दिमागसे नही हुई। जिन जिनके उपभोगमे वह वैभव आता है उनके पुण्यका उदय है जिससे आपको उनकी सेवा करनी पडती है, और काम बन जाता है। अपने आपके स्वरूपकी ओर अभिमुख होनेका काम रहेगा तो पुण्यकर्म बढेगा, घटनेकी बात नही है, और जितने भवशेष हैं इस जगतमे उन भवोंमे आरामसे रहेंगे। और फिर देखना होगा कि जो जीव मुक्त हुए हैं उनमें प्रायः सभी जीव उत्सव सहित मुक्त हुए हैं। कुछ मुनिजन ऐसे जरूर है जिनपर उपसर्ग आये, उपद्रव आये और फिर उनको मुक्ति मिली। मगर ऐसे बिरले है। बाकी तो किसीका निर्वाण कल्याणक मनाया गया, किसीका कुछ उत्सव मनाया गया। इस तरह मुक्त होने वाले बहुत हैं, क्योकि है ही ऐसा। आपके घरका बच्चा विलायत जा रहा हो तो आप उसे बड़ा उत्सव समारोह मनाकर भेजते हैं और फिर इस ससारमे रहने वाला कोई एक जीव अगर इस ससार घरसे सदाके लिए विदा हो रहा है तो यहाँ रहने वाले लोग मन भर उसका समारोह करते है। यही तो निर्वाणकल्याणक समारोह हुआ।

९९६—वीतरागताका सर्वोत्कृष्ट वैभव—

वीतरागता सबसे बडा वैभव है, सम्यग्दर्शन ही एक मात्र विभूति है, बाकी पौद्गलिक रग ढग ये सब बातें कौन क्या हैं उनमे बुद्धि लगे तो उससे अपना अनर्थ ही है, कुछ उससे अपनी निर्मलता नही बनती है। भाई ज्ञान अगर ठीक है तो जितना उसमे ज्ञान है, जितने अशमे वीतराग भाव है उतने अशमे उसको शान्ति प्राप्त होती है। करनेका काम यह है बलपूर्वक, सारे आग्रहपूर्वक एक जिसे कहते हैं दमदार, पहले पार। कोई नदी बह रही है एक साहस न बनाया, लो गिर गया, बल लगाया, किनारे पहुच गया, इसी तरहसे एक साहस ऐसा बनायें कि चेतन अचेतन सभी पदार्थोंसे ममत्व छूट जाय और एक बार तो अपने अन्त मे बसे हुए उस परमात्मतत्त्वका आनन्द आ जाय। यह अपने स्वरूपका दर्शन, स्वरूपका आश्रय, अपने स्वभावमे ही रहना, देखना यह एक इतना ऊँचा अलौकिक काम है कि समस्त पापोका सर्वं कष हो जाता है। तब क्या करना ? बस आत्मस्वरूपमे स्थित होकर ध्वस्त कर दे मरीचिका चक्रको याने मरीचि तृष्णाके रग को। जैसे उदाहरण है कि कोई हिरण नदीके किनारे रेतपर था। उसे प्यास लगी थी। वह नदीकी रेत दूरसे पानी जैसी चमक रही थी। उसने दौड लगाया, वहाँ पहुचा तो पानीका नाम नही, फिर आगे दृष्टि डाला तो दूरकी चमकती रेत पानी जैसी दिखी, दौड लगाया, वहाँ पहुचा तो क्या देखा कि पानीका नाम नही। दौड लगाते-लगाते

प्यासकी वेदना बढ़ गई । यों ही दौड़ लगा-लगाकर वह हिरण अपनी प्यासकी वेदनाको बढ़ाता जाता है, अन्तमे गिरकर अपने प्राणपखेरू उड़ा देता है । तो ऐसे ही कुछ सुखकी आशामे ये ससारी प्राणी दौड लगा रहे है, मैं इस धन वैभवसे सुखी होऊँगा, स्त्री-पुत्रादिकसे सुखी होऊँगा, इज्जत पोजीशन आदिसे सुखी होऊँगा । यों सोच-सोचकर सुखकी आशा कर करके ये अपनी आशा तृष्णाकी वेदनाको और अधिक बढते रहते है, अन्तमे निराश होकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर जाते हैं । बताओ इन बाह्य पदार्थोंकी आशा करके, इनके पीछे दौड लगाकर पाया क्या ? केवल कष्ट ही पाया । और अन्तमे दुर्गति हुई । ऐसे उदाहरण जीते जागते मिलेगे । तो ससारके इन वैभवोमे इनमे विश्वास न करना कि इनसे मेरा हित होगा ।

९९७—सम्यग्ज्ञानकी हितमूलता—

मेरा हित होगा तो सम्यग्ज्ञानसे होगा । हमारे भीतरके नेत्र भीतरमे खुल जाये, अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव हो जाय तो समझो कि सदाके लिए हमने समस्त दु खोसे छुटकारा पाया । यहाँकी थोडी-थोडी बातोको क्या सोचना कि इसमे यह सुविधा मिलेगी इसमे यह मिलेगी । वे सब दुविधायें है । जितने भी बाह्य अधकार है वे सब दुविधा हैं सुविधा नही । सुविधा उसमे है कि अपने आत्माके स्वरूपमे रमो, अपने इस मरीचि समूहको बहुत जल्दी मिटा कर देखो तो सही ज्ञानीजन क्या निरखते हैं, ज्ञानघनका पिण्ड, याने ज्ञान ही ज्ञान रससे पूरा भरा हुआ, इसे कहते हैं ज्ञानघन । मेरे स्वरूपमे और चीज है क्या ? ज्ञान ही ज्ञानमात्र तो उस अचलको, अविचलको जो शान्त पुरुष है, ज्ञानीपुरुष हैं वे शान्ति तेजके रूपमे निरखते हैं अपनेको कैसा निरखना ? बस इस ही मे बधन, मुक्ति, दु ख, सुख, आनन्द सब कुछ इसपर निर्भर है । और, दूसरी बातका उत्तर नही । केवल एक बात । मैं अपनेको कैसा परखूँ कि मैं क्या हूँ । बस इस पर ही सारे कष्ट और सारा आनन्द निर्भर है । जिसने अपनेको यों निरखा कि मैं मकानका मालिक हूँ, धनी हूँ, वैभव वाला हूँ, स्त्रीसहित हूँ, परिवार सहित हूँ, इज्जत वाला हूँ । समाजवाला हूँ—इस प्रकार कोई अपनेको निरखे तो उसका फल है कष्ट भोगना और जो अपनेको इस तरह निरखे कि उन समस्त विभावोसे निराला, शरीरसे भी निराला केवल ज्ञानमात्र, ज्ञानप्रकाश एक मैं ही मात्र हूँ, वहाँ ऐसा देखे तो उसके मोक्षका द्वार खुल जाता है । तो प्रोग्राम बनावे तो मोक्षका बनावें । बधनका प्रोग्राम मनमे मत सोचें । है बन्धन, घर है, परिवार है, मगर मुख्यता किसको देना चाहिए ? मोक्षकी ओर, बन्धनकी ओर नही । तो ऐसे जो ज्ञानी पुरुष हैं वे इस शान्त तेजको निरन्तर निरखते रहते है । यह दृष्टि देना है सबको । किसीकी भलाई किसी दूसरेसे न होगी । अपने कामसे अपने आत्माका भला होगा । अपनेमे ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिका काम करे उसका भला होगा । किसीका कोई दूसरा भला नही कर सकता । इनसे अपना मुख मोड लें । मेरेको और कुछ न चाहिए । मेरा जो एक सहज परमात्मतत्त्व भगवान आत्मा है वह मेरी नजरमे रहे, मेरी दृष्टिमे रहे । मात्र यही मैं चाहता हूँ ।

रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोप्यास्रवाणां, नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावानालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

९९८—रागादिविगमसे आस्रवविगम, अन्तर्दर्शन, सर्वविज्ञान होकर ज्ञानका अनुपम विकास—

जहाँ रागादिक दूर हुए, राग दूर हो ही जायेंगे ज्ञानमे । रागमे रहते हुए भी राग फिर न कहलायगा । जहाँ यह जाना कि मेरा तो मात्र ज्ञानस्वरूप है, यह राग जो है वह कर्मछाया है, मेरा

स्वरूप नही है, यह तो अँधेरेका प्रतिफलन है, इसमे मेरेको क्या है ? मैं अपने स्वरूपमे हूँ मग्न होऊँ, यहाँ ही चलूँ ऐसा जिसने भाव बनाया है उसके राग आये तो भी राग नही। तो रागादिक शीघ्रतासे जब दूर होते है, सब ओरसे, जब इस आश्रवका प्रलय होता है तो अपने आपमे अनादिकालसे अन्त प्रकाशमान जो परमार्थ वस्तु है वह अपने अनुभवमे आने लगती है। यह विकार ही तो बाधक है जो हम अपने अन्दर बसे हुए भगवानके दर्शन नही कर पाते। और विकार मिटानेके लिए यह ही ज्ञान चाहिए कि शरीर भी जब मेरा नही और यह विकार जो कर्मका उदय पाकर आया है वह भी मेरा नही तो मेरा फिर जगतमे क्या रहा ? केवल मेरा ज्ञानस्वरूप, वही रहा। थोडी यह बात भी तो चित्तमे बसालें कि किस किसको अभी तक मौतके अनेक प्रसग नही आये ? किसीके बीमारीमे मुश्किलसे प्राण बचे, किसीके दगामे, किसीके किसी प्रसगमे, अनेक मौके ऐसे आये होंगे जब कि इस जीवनका कुछ भरोसा न था। बडी मुश्किलमे प्राण बचे। मानलो उस मौकेमे आपके प्राण चले गए होते तो फिर क्या था आपका यहाँ कुछ ? यहाँसे मरकर न जाने कहाँ किस गतिमे जन्म लेते। यहाँका कुछ भी समागम साथ तो न जाता, मेरा यहाँ बाहरमे कुछ है भी तो नही। मेरा तो मात्र मेरा आत्म-वैभव है। वही मेरे साथ जायगा, दूसरा और कुछ मेरे साथ नही जायगा तो जब रागादिक आश्रव वेगपूर्वक हो रहे हैं तो अपने आपमे निर्बाध नित्य अन्त प्रकाशमान कोई परमवस्तु नजर आती है। फिर अपने स्वरसके फैलावसे सर्व पदार्थोपर तैरता हुआ लोक और अलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानता हुआ यह अनुपम ज्ञान प्रकट होता है। विकारोसे लगावको छोडें। केवलज्ञान क्यो नही प्रकट होता और विकारोमे और छोटी-छोटी धन वैभव आदिककी जो छाया है उसमे मोह रखेंगे तो कौनसा कल्याण पा लिया जायगा, सो अपना विचार कर लो। कोई मेरा सार नही है। मेरा सार मेरेमे मेरा अतस्तत्व ही है।

अथ संवराधिकारः

आससारविरोधिसवरजयैकान्तावलिप्तास्रवन्यक्कारात् प्रतिलब्धनित्यविजय सम्पादयत् सवरं।
व्यावृत्त पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुरज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वल निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

९९९–उपयोगमचपर आये हुए जीव अजीव पुण्यपाप आस्रवका भेद ज्ञात होने पर निष्क्रमण–

उपयोगभूमिपर याने एक जानकारीके प्रसगमे पहले जीव और अजीव ये दोनो भेप बनाकर आये थे। उनकी जानकारी हुई। पुण्य पापरूपमे कर्म भेष बनाकर आये थे, उनकी सही जानकारी हुई। उस सही जानकारीके होते ही भेष बनाने वालेमे कान्ति नही रहती। जैसे कोई बहुरूपिया आपके घर पर आये तो उसके आते ही तो एकदम प्रभावसा बैठता है, कि इन्स्पेक्टर या कोई आफीसर सा बनकर आ गया तो उसे देखकर एक बार तो दिल दहल जाता कि क्या मामला हो गया, और थोडी ही देरमे जब आप खुद पहिचान गए कि यह तो फलाना व्यक्ति है, भेष धरकर आया है, या उससे ही कुछ मुस्कराने जैसी बात बन जाय जिससे पहिचानमे आ जाय कि यह तो बहुरूपिया है। सही पहचान हो जानेपर फिर उसके भय नही रहता और साथ ही वह बहुरूपिया वहाँ से आगे बढ जाता, वहाँ ठहर नही सकता। उसके ठहरनेका सकल्प तो तब तक मजबूत था जब तक कि वह बहुरूपियापन जिसका भेष धरा वह सही उतरता और प्रभावित होता। जब उसका मूल स्वरूप जाना कि वह फिर ठहरता नही, इसी प्रकार पुण्य, पापकर्मका मूलस्वरूप जाने तो वे ठहरेंगे नही। आश्रव भी आया था अपना नाटक दिखाने। वहाँ पर भी इस दर्शकने, मननशील इस अन्तरात्माने समझा, आश्रवका

भी भेद और जाना तो आश्रव भी निष्क्रान्त हो गया। यह सब नाटक भेषके रूपमे इन ७ तत्त्वोका परिचय कराया जा रहा है।

१०००—आस्रवनिष्क्रान्तिका उपायभूत आस्रवतथ्यका परिचय—

आश्रवकी क्या पहिचान किया था मूलमे कि जिससे आश्रव टिक न सका। मायने हमारे ज्ञानमे जो आश्रवकी उमग रहती है बस वही तो एक भेष, नाटक, चल रहा है, और जहाँ यह जाना कि आश्रव नाम है किसका, कोई मौलिक पदार्थ तो नही, सत्तावान तो चीज है नही, मूलमे तो दो ही चीजें हैं यहाँ चेतन और जडकर्म, बना कैसे यह आश्रव ? वह आश्रव मायने आना, कार्माणवर्गणाओमे कर्मत्व परिणति हो गई, यह ही तो आश्रव है, कैसे आ गई ? विषम विकार, परिणाम किसी पर निमित्तके सन्निधान विना हो ही नही सकता। अन्यथा वह स्वभाव बन बैठेगा। तो पुद्गल कार्माणवर्गणाओमे जो कर्मत्व आया है उसका निमित्त कारण क्या है ? तो उदयमे आया हुआ पुद्गल कर्म, यह है उसका निमित्त कारण। अच्छा तो उदयागत द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्मके आश्रवका निमित्त बने, यह बल कैसे मिला ? कोरे द्रव्य प्रत्ययमे नवीन कर्मके आश्रवका निमित्तपना हो नही पाता। यहाँ निमित्तपना आया कैसे ? तो उस द्रव्यप्रत्ययके उदयके निमित्तसे जो जीवमे रागद्वेष भाव हुए है उस विकारका सन्निधान पाकर इन उदयागत द्रव्य प्रत्ययोमे नवीन कर्मोंके आश्रवपनेका निमित्तपन आया। जैसे कमरेमे रोशनी आयी, जहाँ अँधेरा था, जहाँ सूर्यकी रोशनी कभी न पहुँची थी, मगर किसी बच्चेने कही धूपमे बाहर खडे होकर ऐसा दर्पण किया घरके सम्मुख और सूर्यके सामने कि वह सूर्यका प्रकाश घरमे पहुच गया। घरमे जो प्रकाश हुआ, पदार्थप्रकाश पहुँचा, उसका निमित्त क्या है ? वह दर्पण, उस परिस्थितिमे रहने वाला दर्पण और दर्पणमे ऐसा निमित्तपन आया उसका निमित्त क्या है ? सूर्य। तो मूल तो सूर्य ही रहा। सूर्य न हो तो वह दर्पण उस घरमे पहुचे हुए प्रकाशका निमित्त नही बन सकता। तो इसी तरह उदयमे आये हुए द्रव्यप्रत्ययमे जब निमित्तपना नही आता तब कर्मास्रव नही होता। उसके निमित्तत्वको स्फुरित करनेमे निमित्त हुए रागद्वेष विकार। तो उदयमे आये हुए द्रव्यकर्मकी दो क्रियायें हुई एक प्रकारसे। है वह नैमित्तिक कार्य कि एक तो रागविकार उत्पन्न करना और एक नवीन कर्मोंका आश्रव करना। जैसे कबड्डी खेलने वाले लडके दोनो तरफसे सावधान रहते है ऐसे ही मैदानमे आये हुए विपाक द्रव्यकर्म, इनका दोनो तरफ प्रभाव चलता है। जहाँ राग विकार हुआ वहाँ कर्माश्रव है। है दोनो नैमित्तिक। यद्यपि प्रत्येक पदार्थका परिणमन अपनेमे है, दूसरेमे नही। फिर भी अगर विकाररूप कोई उपादान परिणमे तो उसमे ऐसी ही कला है कि उस अनुकूल निमित्त सन्निधानसे वह विकाररूप परिणमता है। आश्रवकी पोल जानें, भेष जानें, मूल चीज जाने। आश्रव भी निकलकर भागेगे।

१००१—चिन्मय उज्ज्वल ज्ञानज्योतिर्मय सवरतत्त्वका प्रवेश—

देखो, उपयोग तो चल ही रहा है। उपयोगमे सम्वरका प्रवेश हुआ। सम्वरतत्त्व आया, वह सम्वर क्या चीज है ? यह कोई स्वतत्र पदार्थ तो नही है। बताओ सवर उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप है क्या ? गुणपर्यायवान् है क्या ? सम्वर तो एक परिणमन है। वह क्या चीज है ? वह चैतन्यस्वरूप। यही स्वय सम्वर स्वरूप है, तो जो चिन्मय स्फुरायमान ज्योति है, यही है सम्वर, सो यह ज्योति, यह सवर तत्त्व अब यहाँ बडे वेगसे प्रकट होता है। तो यह चिन्मात्र चिन्मय, स्फुरायमान उज्ज्वल ज्योति जो प्रकट हुई है तो वह अपने ही रसभारसे भरा हुआ है—उसका श्रृङ्गार, उसका तेज, उसका बल, उसकी कला। जैसे कोई मचपर अपना पार्ट खेलने आया हो तो उसमे सभी चीजें होती ना ?

वह अपने आपमे वलिष्ट, तेजस्वी कहनेका ढग, बोलनेकी बात, पूरी शक्ति प्रयुक्त होना याने एक वडा मनस्वी एक ढगसे ही तो पार्टमे आता है, अन्यथा उससे कुछ बनेगा ही नही, काँप करके गिर जायगा या सर्मिन्दा होकर भाग जायगा। तो ऐसे ही यह सम्वर जो आज अपने उपयोग मचपर आया है, जिस प्रसगमे हम सब केवल जानकारी और निरीक्षण कर रहे हैं वह अपने आपमे वडा वलिष्ट है, वैभवशील है और अपने निजरससे भरा पूरा है। यह सम्वर अब यहाँ उदित होता है। क्या करता हुआ उदित हो रहा ? इस आस्रवपर विजय प्राप्त करता हुआ उदित हो रहा। आश्रव कैसा है ? आश्रवने तो इन समस्त ससारी जीवोपर अनादिसे ही एक ऐसी छाप दी है कि प्राणी इस आश्रवमे अपना स्वरूप मान मानकर ऐसे विह्वल हुए हैं जिससे कि आश्रवको एक वडा घमड आ गया कि मैं ही तो इस जगतका बादशाह हूँ। लेकिन, उसका भी तिरस्कार कर दिया इस सम्वरने।

१००२—ज्ञानरुचिका प्रभाव—

लोग तो सोचते हैं कि यह मोह वडी प्रबल चीज है, मोहके आगे किसीकी बात नही चलती है। मगर स्वरूप देखो, सच्चाई देखो तो मोह और ज्ञान इन दोनोमे तुलना करे तो मोह वलिष्ट है कि ज्ञान ? अनादिकालसे इस मोहने इस जगतके प्राणियोपर अपना एक साम्राज्य बना रखा है। जो ऐसे वलिष्ट मोहको भी पछाड दे वह ज्ञान वडा पूजनीय है। अच्छा इसके विपरीत भी तो बोल सकते हैं। जो ज्ञान एक स्वभावत वलिष्ट है वह सब कुछ है, लेकिन इस ज्ञानको अनादिकालसे अब तक इस मोहने पछाड रखा। बल सबका मालूम पडेगा मगर जिस पहलवानकी ओर रुचि होती है उस पहलवानकी विजयपर दर्शकोको खुशी होती है और उसके लिए एक दाद दी जाती है, ऐसे ही मोह भी वलिष्ट, ज्ञान भी वलिष्ट, अगर मोहवल कुछ न कहलाये तो फिर अब तक क्यो रुलते आये हैं, क्यो नही इससे पहले कभी मुक्ति प्राप्त करली ? मोहका भी अतुल वल समझो। ज्ञानका भी एक अलौकिक वल है, मगर जिसको ज्ञान पहलवानसे रुचि लगी है उसकी मुद्रा जानकर, उसकी कोई वात परखकर ही तो उसकी ओर रुचि बनती है। प्रभावित पहलवानके प्रति दार्शनिकोके मनमे जरूर छाँट हो जाती है कि यह तो हमारा पहलवान है। क्यो छाँट हो जाती है ? कोई बात तो नजर आयी ना। कोई मुस्कराता पहलवान है कोई वडा अच्छा ढग है, कोई बात है तब ही तो दो पहलवानोमे तुलना करके कोई न कोई रुच जाता है। यद्यपि वहाँ बेकार बात है, क्यो रुचे पहलवान ? वह तो एक बेकार सी बात है। ऐसे ही मोह और ज्ञानमे ज्ञान रुचना चाहिए, मोह नही। अब, जब ज्ञानकी रुचि है तो हमे ज्ञानकी वलिष्टता दिखेगी। ज्ञान विजय प्राप्त कर रहा है और यद्यपि अनादिसे सम्वर तत्त्वपर ही विजय प्राप्त कर रहा यह आस्रव, इस ज्ञानज्योतिपर विजय प्राप्त कर रहे ये आश्रव और कर्म, लेकिन तब तो बेसुधी थी। अब कुछ थोडी स्वकी परख आयी, थोडी ज्ञानकी मुद्रा, ज्ञानका रूप, ज्ञानके गुण रुचने लगे। हाँ बस रुचने लगे, इतना ही भर तो चाहिए। इस ज्ञानीको इतना ही तो दाद चाहिए था, दर्शकके और मालिकके थोडा इस ज्ञानकी ओर दृष्टि तो आये, फिर अपने ज्ञानमे इतना वल है कि वह प्रकट हो जायगा। ज्ञानकी उपेक्षा करेंगे तो ज्ञान क्या करे ? थोडा ज्ञान रुचें, ज्ञानकी दृष्टि जाय फिर ज्ञानका प्रताप और ज्ञानका उमग जो स्फुटित होता है वह एक अपने वेगके साथ होता है। यह आत्मा, यह उपयोग यह ज्ञानमात्र है। है एक ही चीज। थोडा ज्ञानसे तो रुचि करलें फिर यह वडे वेगपूर्वक होता है तो ऐसा यह अपने निज रससे प्रागभावरूप बोझल एक अपने आपमे कुछ महत्त्व मानता हुआ यह ज्ञान प्रकट होता है। यह सम्वर, सम्वर कहो,

ज्ञान कहो, निधि कहो, निजकी सब एक बात है, वह कैसे प्रकट होता ? यह आश्रवका तिरस्कार करनेसे प्रकट होता, जो अनादिसे सम्वरपर विजय प्राप्त करके एक मदैला बन रहा था।

१००३—ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानकी नियमितता—

जो यह सम्वर बना, क्या स्थिति हुई इसकी ? यह कहाँ है ज्ञानज्योति। अपने आपके स्वरूपमे तो नियत हैं और समस्त पर पदार्थोसे निराला है। ज्ञान कहाँ रखा है ? ज्ञानमे ज्ञान रखा है। ज्ञानस्वरूपमे ज्ञान मिल रहा, बाहर कही नही मिल रहा, किन्तु ज्ञानस्वरूपमे ही यह ज्ञानतत्त्व, यह सम्वर यह नियत है नियमित है ऐसा है यह तत्त्व। आकाश कहाँ है ? आकाश आकाशमे है, अन्य जगह नही रह रहा, और चीजोकी पूछो कि घडा कहाँ है, चौकी कहाँ है ? तो कदाचित् कहा जा सकता कि घरमे रखी, इस जगह पडी। यद्यपि वहाँ भी स्वरूप दृष्टिसे अपने आपमे वे सब हैं ? जीव कहाँ ? जीवमे। ससारी जीव कहाँ रहते ? अपने प्रदेशोमे, अरे आकाशमे ही तो दिख रहे अवगाहीसे, मगर क्या कह सकते ? आकाश कहाँ है ? आकाश आकाशमे है। आकाश तो सर्वत्र व्यापक है, अनन्त है। केवल आकाशको ही देखो, इसी तरह ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको देखो, इसका यह सहज स्वरूप, यह ज्ञानस्वरूप यह कहाँ है ? यह ज्ञानमे है अपने स्वरूपमे है, अपने स्वरूपसे बाहर नही है। यद्यपि ज्ञान आत्मप्रदेशमे है तो भी इस प्रकरणमे ऐसा देखना नही। है, ऐसा रहो क्यो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारो से पहिचान तो होती है वस्तुकी। तो भी बाह्यवस्तुकी पहिचानमे ये चारो ही मुख्य हैं, वहाँ अपना कुछ प्रयोजन नही। मगर आत्मतत्त्वकी पहिचानमे भावदृष्टि मुख्य है। पिण्ड, क्षेत्र, परिणाम ये मुख्य नही बनते। है तो प्रयोजक सब दृष्टियाँ मगर स्वानुभूतिका प्रयोजक पिण्डदृष्टिका निर्णय नही है, यद्यपि यह भी निर्णय अवश्य प्रयोजक है मगर साक्षात् प्रयोजक नही। क्षेत्रदृष्टिसे भी सब कुछ पहिचानें, आत्मा इतने विस्तार वाला, असख्यात प्रदेश वाला ...वर्तमानमें तो कोई ५ फिट वाला मनुष्य है उतने प्रमाण आत्मा है। तो ५ फिट वाला भले ही निर्णय तो हुआ, और यह निर्णय कामका तो है मगर स्वानुभवके लिए साक्षात् प्रयोजक नही। याने जिस मननके बाद स्वानुभव हो सकता है वह क्या क्षेत्र वाला पिण्ड प्रदेश है ? यह भी साक्षात् प्रयोजक नही। है यह सब, किन्तु भावस्वरूपमे जाननेके लिए प्रयोजक है। किसी भी तरह पहिचाने, मगर भावदृष्टिसे और उसमें भी अभेदभावदृष्टिसे पहिचानें, तो आनन्दधामका अनुभव होता है। हमे जो बात चाहिए उसको ही तो निरखना है, तो यह ज्ञान कहाँ मौजूद है ? यह अपने स्वरूपमे ही सम्यक् प्रकारसे निहित है, ऐसा वह सवर स्वरूपज्ञान तत्त्व अब यहाँ प्रकट होता है।

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयोरंतर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

१००४—सवरतत्त्वके अभ्युदयकी भेदविज्ञानमूलता—

सम्वर कैसे प्रकट होता ? सम्वर तत्त्व इस उपयोग भूमि पर आया, यह आ कैसे गया ? तो यह आ पाया है भेद विज्ञानके बलसे। स्व और परमे भेदविज्ञान होना, स्व क्या ? चैतन्यस्वरूप। पर क्या ? जडरूप। कहाँ देखा, कहाँ भेद किया ? तो सम्वर होवे। भेदज्ञानी तो प्राय सभी लोग है। देहातमें भी जावो तो वहाँ बिना पढे लिखे लोग भी भेदविज्ञानकी बात करते मिलेंगे। किसी पुरुषके गुजर जानेपर लोग कहते कि देखो हसा उड गया, यह शरीर यही पडा रह गया। ऐसा सभी कहते है, मगर इसमें वह चोट नही आ पायी जिससे प्रकट यह जीव अपने आपमें रहता हुआ प्रसन्न रह सके।

वहाँ आकुलता है व्यग्रता है, भय भी बन रहा। क्या वह भेदविज्ञान है जो भयको पैदा करे, शका करे, स्पष्टता न लाये ? वह तो नामका भेदविज्ञान है। यहाँ भेदविज्ञान करना है। कहाँ ? स्वभावमे और विभावमे। एक ही मे भेदविज्ञान करना। यहाँ आशका हो सकती। भेद तो दोमे ही होता है। स्वभाव भी तो जीवकी ही बात है और विभाव भी तो जीवकी बात है कि जीवविकार, क्रोधादिक विकार ये परिणमन किसी दूसरेके तो नही हैं। एकमे क्या भेद डाल रहे, क्यो फूट पाडी जा रही और किसी परिवारमे फूट डालनेकी कोशिश क्यो करते ? बने रहने दो विभाव, वे विभाव भी बने रहे, स्वभाव भी बना रहे। घरमे भी दसो तरहके आदमी होते है, उनमे कोई कमाऊ होता, कोई बैठा रहता, कुछ नही करता, लेकिन घरसे भगाते तो नही किसीको। सभीको घरमे रहने देते। तो ऐसे ही रहने दो सबको अपने अन्दर, क्रोधादिक कषाये भी रहे, रागद्वेष मोहादिक भी रहे, आखिर अपनी ही तो परिणतियाँ हैं। विभाव भी रहने दो, स्वभाव भी रहने दो। परन्तु यह मजूर नही हो पा रहा इस ज्ञानी आत्माको। वस परवल बलधारी इसे उपचार भाषामे बोलते और प्रयोजन करके याने कर्मके बलपर बल रखने वाला है विभाव तभी तो इसे नैमित्तिक कहते। उस उपयोगके विकल्पसे ये विभाव बने हैं।

१००५–कर्मविपाकप्रभव होनेसे विभावोकी परभावता—

विभावका यह अर्थ न लेना कि किसी परतत्त्वका आश्रय, उपयोग करके होता है इसलिए यह परभाव है। यद्यपि परभावका यह भी अर्थ है किन्तु समस्त परभावो का यह अर्थ न बनेगा कि पर पदार्थका आश्रय करके होने वाले भावको परभाव कहते है। हाँ बुद्धिपूर्वक जो परभाव है याने जगतमे ये विषयसाधन इतने पडे हुए हैं, इन विषय साधनोका आश्रय करके, इनमे उपयोग जोडकर जो रागद्वेष, क्रोध, माना, माया, लोभादिकभाव उत्पन्न होते हैं वे परभाव ऐसे हैं कि परका आश्रय करके उत्पन्न हुए हैं। किन्तु एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय असज्ञीजीव, सज्ञीमे भी थोडेसे जैनियोको छोडकर जो कि कर्मकी चर्चा करते है, बाकी सब मनुष्य जो कर्मको नही जानता वह कर्मका कैसे विषय, आश्रय करके अपना उपयोग बनाये, वहाँ तो ऐसा सहज निमित्त नैमित्तिक योग है कि जैसे अग्नि पडी है उसपर लात आ गई तो तुम भले ही न जानो पर वहाँ जलनकार्य तो बनता ही है, उसी प्रकार आत्मामे जो प्रतिफलन है, विकार है, उसके निमित्तभूत कर्मको जानो तो, न जानो तो उनके विपाककालमे यह प्रतिफलन होता ही है। वहाँ उपयोगमे मालिन्य है और उपयोग उस अनुरूप विकल्प करता है यही जुटना समझें तो यह सहज है। हाँ उस कालमे यदि इन बाहरी विषय साधनोपर दृष्टि देंगे, उनका आश्रय करेगे तो यह बुद्धिपूर्वक विकार होगा।

१००६–अध्यात्मशास्त्रोमे बुद्धिपूर्वक विभावोके सद्भाव अभाव आदिका वर्णन—

बात यहाँ एक यह सदा समझना कि समयसार या अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थोमे जितना वर्णन हुआ है वह बुद्धिपूर्वक तत्त्वोका वर्णन हुआ। अबुद्धिपूर्वक बातका वर्णन इनमे नही हुआ। अबुद्धिपूर्वक तत्त्वका वर्णन द्रव्यानुयोग नही करता, लेकिन आचार्यजन सभी विषयोमे निपुण होते है। तो कही सकेत दे दिया करते। समयसारमे कहा है कि ज्ञान गुणके जघन्य परिणमनसे आश्रव है। अर्थ यह है कि यथाख्यातचरित्र अवस्थासे पहले नियमसे होने वाले रागका सद्भाव होनेसे वहाँ आश्रव है, और इसी कारण ज्ञानस्वभावका तब तक आश्रय बनावें, दृढतासे बनावें कि जब तक यह पूर्णतया इस अबुद्धिपूर्वक आश्रवसे भी रहित हो जाय। करणानुयोगकी बातका बीच बीचमे सकेत दिया, मगर अध्यात्मशास्त्र

मे बुद्धिपूर्वक तत्त्वका ही वर्णन होता, और जब एक यह न्याय अपने लिए अध्यात्मशास्त्रका है तो इसको कुछ भी कहनेमे अब हिचक नही रही । क्योकि हिचक तब होती जब पहलेसे कुछ अनिर्णीत हो जाता है कि किस दृष्टिसे अध्यात्मशास्त्रमे वर्णन है । नि शक बोलिये ज्ञानी सर्वथा निराश्रव है, ऐसी बडी बडी दृढता वाले शब्द अध्यात्म ग्रन्थोमे दिये जाते है, मगर कही फिसल न जाये इसलिए बीच बीचमे एक सकेत भी दिया जाता है कि अबुद्धिपूर्वक विभाव भी होता है । मगर जहाँ स्वभाव लक्ष्य बना है वहाँ अबुद्धिपूर्वक विभावके परिचयकी मुख्यता नही होती, क्योकि विविध भावोके स्पर्श करनेकी मुख्यता यदि हो तो उसकी चालमे फर्क आ जाता है ।

१००७—अन्य भावोमे न अटककर स्वभावाभिमुख होनेके लिये ज्ञानीकी नि शंक वृत्ति—

नि शक होकर अपने सहज ज्ञानस्वभावकी पहिचान चाहता है यह ज्ञानी, तो बस वही वही बात सामने रखे जाये । दूसरी बात जो और हुआ करती है उन्हे नही सामने रखना, नही तो यह छिड जायगा । जैसे कोई आदमी मदिर आना चाहता है घरसे, तो रास्तेमे बहुतसे लोग मिलते किंतु उन मिलने वालोसे छिडता नही, क्योकि लक्ष्य तो मदिरमे आनेका है, तो मिलते तो हैं इतने मित्र भी, इतने परिचित लोग भी मिलते, मगर तुम उपेक्षा करो । मदिर आना हो तो सीधे मन्दिरमे ही आ जावो, रास्तेमे इससे बात की उससे बात की इसमे समय गमाना ठीक नही । अरे उन सबकी उपेक्षा करो । मन्दिरमे आनेका लक्ष्य है तो इस मन्दिरकी ओर ही तेजीसे आ जावो और आरामसे बैठकर अपना ध्यान बनाओ । उसी प्रकार जब ज्ञानस्वभावका आश्रय करनेका ही लक्ष्य है तो बीचमे आ पडता हुआ, युक्तिविज्ञात अबुद्धिपूर्वक राग है, और शरीर भी हैं, कर्म निमित्त भी है । बात यहाँ झूँठ तो नही है, शरीर है नही क्या अभी ? और, बन्धनमे नही है क्या ? अबुद्धिपूर्वक राग विकार उठता नही है क्या ? सब बात है मगर तुम इनसे बात न करो । इनसे छिडो मत, भिडो मत, क्योकि इसने लक्ष्य बनाया है कि ज्ञानस्वभाव आनन्दधाम निजके मदिरमे आना है । बीचमे रहने वाले इन अनेक पदार्थों का पिण्डोला इन्हे क्या देखना । ऐसा अध्यात्मशास्त्रका एक नियम हैं, सकल्प है । एक नीति है ऐसी, इसी कारण तो एक ही कुञ्जी है कि प्रतिपक्षनयका विरोध न करके विवक्षितनयकी मुख्यता करके प्रयोजनको सिद्ध करो । यह हर जगह बात आती है । हमे स्वभाव निरखना है तो द्रव्यार्थिकनयसे निरखते जायेंगे । और पर्यायार्थिकनयका विरोध न करके अपने प्रयोजनसे द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यता करें तो उसे धोखा न होगा, मगर प्रतिपक्षनयका विरोध करके विवक्षित तो कुछ रहा ही नही, फिर भी जो माना उसपर एकान्तसे लगे तो उसे धोखा है, क्योकि मोहमे अज्ञानमे यह पडा हुआ है । तो यह ही एक नीति है सर्वत्र कि प्रतिपक्षनयका विरोध न कर विवक्षितनयकी मुख्यता करके उस प्रयोजनमे रहे, उसे सफलता प्राप्त होती । तो यहाँ बतला रहे हैं कि यह सम्बर कैसे प्रकट हुआ ? अपने स्वभावमे, आत्मस्वभावमे विभावोमे भेद डालकर हुआ । कैसे डाला, क्या डाला, इसे आगे कहेगे ।

१००८—स्वभावाश्रयमे सवर तत्त्व—

ज्ञानीजीवके सम्वर होता है, जो जिस पदमे है, गुणस्थानमे है उसके उस अनुरूप कुछ प्रकृतियोका सम्वर चलता है, उस सम्वरका मूल क्या है ? स्वभावका आश्रय । स्वभावके आश्रयका उपाय क्या है ? स्वभावका सुपरिचय । स्वभावके सुपरिचयका उपाय क्या है ? ज्ञान और रागमे दो टूक कर देना, भेद कर देना ऐसा यह भेदविज्ञान स्वभावाश्रयका उपाय बनायगा और स्वभावाश्रयसे सम्वर होगा । जितना भी जो कुछ उपदेश है, ज्ञान है उस सबका प्रयोजन है अपने सहज स्वभावका आश्रय बनाना ।

जैसे कोई भोजन तो सब कुछ बना डाले और उसे यहाँ वहाँ फेंक दे, खाये नही, तो भोजन बनाने का प्रयोजन क्या रहा ? इसी प्रकार समस्त नयोसे सर्वप्रकारका ज्ञान किया और उसका फल विकल्प ही बनाया, विवाद ही बनाया तो उसका फल क्या मिला ? वह तो भोजनको यत्र तत्र फेंक देनेके बराबर है। ज्ञानका प्रयोजन है स्वभावदृष्टि करके स्वभावमे अपने उपयोगको लगाना, अन्तस्तत्त्वमे मनन करनेका पौरुष करना। यह बात बने उसके लिये प्रारम्भमे क्या करना होगा ? भेदविज्ञान, ज्ञान और रागमे भेद डालना। ज्ञान चैतन्यस्वरूपको धारण किए हुए है और राग जडपनेको धारण किए हुए है, ये दो बाते यहाँ प्रकट भेदमे आ रही हैं। देखिये इन दोनो बातोंके समझनेके लिए और स्वभावका सुपरिचय पानेके लिये निमित्त नैमित्तिकभावका परिचय बहुत सहयोगी बनता है। कुछ निमित्तनैमित्तिकभावका निषेध या निमित्तनैमित्तिकको न बोलनेकी उमग यो बडी है कि लोग कर्ताकर्मबुद्धि करके यो मानने लगे थे कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता है, जो बात कही सम्भव नही। अब कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति कर दे, इस प्रकारके भ्रमको दूर करनेके लिए निमित्त नैमित्तिक भावको झूठ कहने लगें तो उसने अपना प्रयोजन बिगाडा और निमित्त नैमित्तिक भावको भी विकृत बनाया, सो ज्ञानबल वह कहलाता है कि निमित्त नैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातन्त्र्य दोनोको एक जगह एक साथ निरख सके। निमित्त नैमित्तिक भाव बराबर चल रहे हैं, इतने पर भी वस्तुकी स्वतन्त्रताका विघात नही है। वस्तुकी स्वतन्त्रता यहाँ चल रही है, फिर भी जो विकार परिणमन हो रहा उसमे निमित्त नैमित्तिक भावकी अप्रतिष्ठा नही है, दोनो बाते एक साथ परखमे आती हैं। यहाँ बहुत सुगमतासे स्वभावदृष्टि जैसे परिचयके लिये मूलमे बात कह रहे हैं निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयकी।

१००६–ज्ञानस्वरूप आत्मामे विकारके उपद्रवकी विधिके ज्ञानसे स्वभावदृष्टिको प्रश्रय—

मैं हूँ ज्ञानस्वरूप। मेरा स्वभाव है मात्र प्रतिभास, जानना। यह जानना इसका स्वरूप है, सो चलता ही रहता है। और, फिर यह जो राग बन रहा, जिसमे हम बडी विपत्तिमे पड जाते यह राग क्या है ? तो श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यने श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरिने यह स्पष्ट बताया कि पुग्गलकम्म रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो। ण हु ते मज्झ सहावा जाणगभावो हु अहमिक्को। अस्तिकिल रागो नाम पौद्गलिक कर्म। तदुदयविपाकप्रभवोय भावो न मम स्वभाव एष टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमात्रोऽहं। नियमसे है राग प्रकृति नामका पौद्गलिक कर्म, इसके उदयविपाकसे उत्पन्न हुआ यह रागभाव यह मेरा स्वभाव नही। मैं तो टङ्कोत्कीर्ण वत् निश्चल ज्ञायकस्वभावमात्र हूँ, देखो अलग होना है ना, तो ये परभाव है, ऐसा सही समझे बिना विभावोसे अलगाव न बन पायगा। ये विभाव परभाव हैं, क्योकि ये कर्मके विपाकसे उत्पन्न हुए। कर्मने नही किया, किन्तु वहाँ ऐसा ही सम्पर्कज भाव है कि कर्म अपनी स्थितिपर अपनेमे विपाकको करता हुआ उदित होता है और चूँकि यह आत्मा उपयोग स्वरूप है उसमे वह प्रतिफलन होता है और यह उपयोगमे ही तो प्रतिफलन है सो यह जुटान अबुद्धिपूर्वक है, इसके फलमे यह जीव अपनेको राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ इस तरह अपने आपको बोलने लगता है। जैसे जिस पुरुषको साँपने डस लिया तो वह पुरुष ऐसी भाषा बोलने लगता है कि अरे मुझे क्यो पीटा, इसने मेरे ऊपर पैर क्यो रखा ? ऐसी विष चढे हुए पुरुषकी आवाज होती है, ऐसे ही मोहसे ग्रस्त प्राणियोके उस कर्मस्वभावरूपसे ज्ञानके भवनकी बात चला करती है। हाँ तो यह सम्पर्कजभाव है। जड क्यो है कि यह विभाव जडके विपाकका एक प्रतिफलन है जिसपर उस

रूपसे अब उपयोग यहाँ बिगडकर चला है, इस कारण राग जड है। दूसरी बात यह है कि रागका जो स्वयं स्वरूप है वह चेतनासे शून्य है, उसका परिज्ञान चेतना द्वारा होता है, याने राग स्वयं चेतक नही है। वह चेत्य तो है पर वह ज्ञान द्वारा चेत्य है, स्वय के द्वारा चेत्य नही है। जो बात, जो जो भाव, जो जो पदार्थ स्वयके द्वारा चेत्य नही है वे सब जड कहलाते हैं। अब यहाँ केवल स्वरूपपर दृष्टि दी है यह राग जड है, क्योंकि यह स्वय अपने आपको चेतता नही है, यह ज्ञान द्वारा अनुभवमे आता है, सो यह राग जड है। जब इन दो बातोसे समझ लिया कि राग जड है, क्योंकि यह जड कर्मका निमित पाकर हुआ है, उसका प्रतिफलन है, उसका उपयोग विकल्प बनाता है उस रूप ? इसलिए जड है। तो देखिये दोनोका स्वरूप जानकर भेदविज्ञान करना है।

१०१०—आत्मसयमनसे दुर्लभ नरजीवनकी सफलता—

यह मनुष्य पर्याय बडी कठिनाईसे मिली है, मन भी श्रेष्ठ मिला है, तो मनको इतना निर्मल रखना, इतना आत्महितका पिपासु रखना कि इसके आगे केवल एक ही प्रोग्राम रहे कि मेरे आत्मा का हित कैसे हो। ये बाहरी कर्मबन्धकी बातें, मैं ऐसा बोल रहा हू, यह ऐसा क्यो नही मान रहा, या जैसा मैं सोच रहा हू वैसा होना ही चाहिए, ये सब बाते व्यर्थकी है। यह अध्यवसान दूर हो और केवल एक आत्महितकी ही बात हो, जिसमे मेरा हित है, सो मुझे चाहिए। अन्यकी बात क्या ! कोई मित्र, कोई जगतके लोग ये मेरे क्या मददगार है ! मेरा बाहरमे कही कुछ नही, मैं अपनेमे अकेला रहा करता हू। मैं अपने शुद्ध अतस्तत्त्वको प्राप्त कर लूँ, तो उसका मेरे को शरण मिल गया और इसको प्राप्त न कर सकूँ तो मेरेको कुछ भी शरण नही।

१०११—रागादिपरिणमनघटनाका वास्तविक तथ्य—

हाँ तो देखो—जहाँ यह समझा कि यह कर्मोदयविपाकप्रभव भाव है, इससे मेरा क्या मतलब ? मैं तो ज्ञायकस्वभाव मात्र हूँ। तो उसको स्वभावदृष्टि करनेका बडी सुगमतया शुद्ध मार्ग मिल जाता है, इसी बातको कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है, जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमइ रागमादीहिं। रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ एव णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमादीहिं। रायज्जदि अण्णेहिं दु सो रायादीहिं दोसेहिं। इसकी आत्मख्यातिमे जो कहा है उसे ध्यानपूर्वक सुनिये उसका हिन्दी अनुवाद। हिन्दीमे कह रहे वहाँ बड़ी दृढतासे किल शब्द दिया, एव शब्द दिया। वडे निर्णयके साथ कहा जा रहा है कि जैसे स्फटिकमणि अपना परिणमन स्वभाव रख रहा है, क्योकि वह तो स्वरूप है किन्तु स्वय शुद्धस्वभाव वाला है वह स्फटिक, इस कारण अपने आपकी लालिमामे वह निमित्त नही है। वह तो सफेद है, स्वभावसे सफ़ेद है। तो फिर होता किस तरह से है, याने जब लालिमामे स्वय स्फटिक निमित्त नही है तो स्वय नही परिणमता वह लालिमारूप। यह एक ध्यान देनेकी बात है। भाव लाना, परिणमता तो वह स्वय है। मगर निरपेक्षतया परकी उपाधि बिना खुद अपने आप परिणम सके ऐसी बात नही होती। उसको ही इन शब्दोमे कहा है अमृतचन्द्र सूरिने, कुन्दकुन्दाचार्यने कि यह स्फटिक स्वयं रागादिक रूपसे नही परिणमता। तो फिर होता क्या है कि पर द्रव्यके ही द्वारा, कैसे एव और किल देकर बात की गई है कि परद्रव्यके ही द्वारा जो स्वय रागभाव को आपन्न है, मायने जैसे कपडा रखा है स्फटिकमणिके सामने तो वह परद्रव्य हुआ कपडा और स्वय वह लाल है और वह इस स्फटिककी लालिमा होनेका निमित्तभूत है, ऐसा परद्रव्यके द्वारा ही वह स्फटिक अपने शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ रागरूपसे परिणम रहा है, टीकाके इन सब शब्दोका अनुवाद हिन्दीमे चल रहा है। उसी

प्रकार केवल किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्त्वाभावात् रागादिभि स्वय न परिणमते, किन्तु परद्रव्येणैव स्वय रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभि परिणमय्यते । न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त । तस्मिन्निमित्त परसग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् । उसी प्रकार यह आत्मा स्वय परिणमन स्वभाव वाला है। वस्तु है ना ? सत् है ना ? कैसा ? उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् । स्वय परिणमनेका स्वभाव वाला होकर भी खुद शुद्धस्वभाव वाला है, मायने अपने आप अपनी सत्ताकी ओरसे केवल एक चैतन्य मात्रके स्वभाव वाला है, इसलिए अपने रागादि विकारमे स्वय निमित्तभूत नही है। अत आत्मा रागादिरूपसे स्वय नही परिणमता। स्वय न परिणमनेका अर्थ समझना, याने पर उपाधिके सम्पर्क बिना खुद ही खुद रागरूप परिणम जाय, ऐसा नही होता। तो फिर परिणमता किस प्रकार है किसके द्वारा परिणमता है ? उस परद्रव्यके ही द्वारा जो स्वय रागभावसम्पन्न है।

१०१२—पौद्गलिक कर्म परद्रव्यका परिचय—

वह कौन है जिसके द्वारा याने जिसके सनिधानमे आत्मा विकाररूप परिणम जाता है ? वह है कर्मप्रकृति। क्या वह रागभावसहित है ? हाँ रागभावसहित है। जिस कालमे वध हुआ था चाहे वह सागरो वर्ष पहले हुआ हो, जव वह वध हुआ था उसी समयमे प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, और अनुभाग वँध गए थे। प्रकृति मायने क्या ? यह रागप्रकृति, द्वेषप्रकृति। ये जो वँध गए थे, वे स्वय रागभाव करके सहित है, मगर उनमे अचेतन जैसा ही रागभाव होता, विकार और प्रकार होता। तो वह रागभावसे आपन्न होनेके कारण इस आत्माके रागविकारके निमित्तभूत उस परद्रव्यके ही द्वारा यह आत्मा अपने शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ रागरूपसे परिणमता है और इसी तथ्यको टीकाके कलशमे इतनी दृढतासे कहा गया है—न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त । तस्मिन्निमित्त परसग एव वस्तुस्वभावोयमुदेति तावत् । देखो स्वभावदृष्टिकी उमग रखने वाले ज्ञानी किस-किस प्रकार स्वभावकी ओर उन्मुख हो रहे हैं। कभी भी यह आत्मा अपने आपके रागभावका निमित्त नही होता। जैसे कि स्फटिक पाषाण स्वय ही अपने आपकी ललाईका निमित्तभूत नहीं होता। तब फिर होता क्या है ? तस्मिन्निमित्त परसग एव, उस रागभावके होनेमे निमित्त परका सग ही है। टीकामे एव लगाया, किल लगाया, वस्तुस्वभाव कहा, तावत् कहा—कितनी दृढतासे बात कही जा रही है। यह वस्तुका स्वभाव ही है, मायने रागादिभाव होनेका यह ही ढग है और प्रकार नही है। क्या कि पूर्वबद्ध कर्मका विपाक हुआ, उस कालमे चूकि प्रतिफलन तत्काल हुआ और वह अशुद्ध उपादान अपने आपके शुद्धस्वभावसे च्युत होकर उस ही कर्मस्वभावरूपसे अपने ज्ञानको डुबाता रहता है बस यह स्थिति है अज्ञानीकी। इस तथ्यको जाननेसे इसमे भेदविज्ञान कैसा स्पष्ट हुआ कि इस रागविकारसे मेरा मतलब नही, रागविकार तो नैमित्तिक है, औपाधिक है, मेरा स्वरूप नही है। मैं तो एक विशुद्धज्ञानस्वभावमात्र हूँ। देखिये यथार्थ परिचय करना, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे परस्पर कर्ता कर्मबुद्धिका कोई अवकाश नही। यह वस्तुके सत्त्वका नैसर्गिक नियम है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यकी परिणतिको नही कर सकता। मगर विकार जब होता है तो वह विकार इस पर उपाधिके सन्निधान बिना होता नही, तो इस तरहसे इसके विभावको परभाव निरखें, तब समझिये कि उससे विविक्त जो आत्माका चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्व है उसका हमने परिचय पाया। उस ओर हमारी उमग हुई।

१०१३—ज्ञायकभावकी टंकोत्कीर्णवत्ताके उदाहरणका अन्तस्तथ्य—

मैं तो टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वरूप हूँ, टाँकीसे उकेरी गई प्रतिमाकी तरह। उसमे क्या क्या होता है ? प्रधान बात तो यह आती है कि प्रतिमा निश्चल होती है। टाँकीसे उकेरी गई प्रतिमाके हाथ पैर आदिक अग हिलते नही। कोई मिट्टीकी, रवड वगैरहकी मूर्ति बना दे तो थोडा मोड लिया, कुछ सीधा कर लिया, मगर टाँकीसे उकेरी गई प्रतिमा कैसे चलित की जा सकती ? ऐसे ही मेरा जो चैतन्य स्वरूप है वह कहाँ चलित हो सकता ? अब तक यद्यपि रहा भ्रममे, बिगाड हो गया तो भी मेरा स्वभाव तो वही वही है, एक बात। दूसरी बात जैसे टाँकीसे उकेरी गई प्रतिमा किसकी व्यक्ति है ? उसी पाषाणकी। जब कारीगर पत्थरको देखता है, लोगोने चाहा कि उसमे ऐसी बहुबली स्वामीकी प्रतिमा बना दो। कोई बडा पत्थर पडा था, कारीगरने उसे चारो ओरसे अगल बगलसे देखा और कह दिया कि हाँ साहब बिल्कुल बन जायगी, ऐसा कहना इस बातकी सूचना देता है कि कारीगरको तो उस पत्थरमे प्रतिमा दिख चुकी। तभी तो वह झट कह देता कि बिल्कुल बन जायगी। मगर आँखोसे नही दिखी, ज्ञानसे दिखी। अच्छा अब आँखोसे देखनेके लिए क्या पौरुष करता है ? वह जो प्रतिमा ज्ञानसे दिखी, उसपर ठोकर नही लगे और उस प्रतिमाका आवरण करने वाले अगल बगलके पत्थर हट जायें, ऐसी वह अपनी चेष्टा करता है। पहले बडे हथौडेसे, फिर छोटी हथौडीसे छेनीसे वह पत्थरोको हटाता है, फिर अत्यन्त छोटी छेनी व हथौडीसे उसपर ढकने वाले, आवरण करने वाले पत्थरोको हटाता है, इस तरह पत्थरोको हटानेपर वह मूर्ति प्रकट हुई। मूर्ति तो जो थी बस सो ही है। उसका जो आवरण था वह दूर हो गया है। तो देखो इसी तरहसे प्रथम जो यह जीव है साम्प्रत पर्याय वाला, यह ही पत्थरका उदाहरण ले लीजिए। इस उपयोगने सोचा, इसे उपदेश मिला, खुदने चाहा कि हमको सिद्ध भगवान बनना चाहिए। यहाँसे वह परमात्मस्वरूप प्रकट होना चाहिए। कैसा ? जो कर्मोसे मुक्त है, विषय कषाय विभावोसे जो अलग है, ऐसा यह सहज परमात्मतत्त्व प्रकट होना चाहिए। तो इसको परखे, अपनेको भीतर देखे, खूब निरखे। अपनी ओर आया, उतरा कुछ परखके बाद यह बोल उठा कि हाँ बनेगा यह सिद्ध प्रभु। किसके अन्दरमे यह दृढताकी आवाज है ? उसके आवाज होगी जिसने अविकार परविविक्त अपने स्वभावको निरखा है। अच्छा, वह ज्ञानसे तो देखा, श्रद्धासे तो जाना। अब व्यक्त रूपमे यह आ जाय उसके लिए अब क्या करना ? बस आवरणको हटावो। आवरणमे ही तो पडा हुआ यह सहज भगवान आत्मा इस स्थिति मे है, आवरण हटाओ। आवरण कैसे हटेगा ? वहाँ तो बाहरकी हथौडी, बाहरकी छेनी, उसका साधन बनाया था। यहाँ कौन सी चीज लाये ? तो यहाँ क्या है ? बस प्रज्ञा यही है छेनी, यह ही है हथौडी और यही है कारीगर। दूसरा कोई कारीगर नही, अपने आपमे सहज परमात्मतत्त्वका विकास करने वाला न कोई दूसरा साधन है न कोई दूसरी चोट है। तो यह अपने आपमे ज्ञानबलसे वह निरख रहा। क्या निरख रहा ? अरे वही जो स्वभाव समझा उसे ही प्रखरतासे निरख रहा।

१०१४—द्रव्यानुयोगके साधकको चरणानुयोगकी आवश्यकताका एक चित्रण—

हाँ अब देखो चरणानुयोग कहाँ आ धमकता है। इस स्वभावका आलम्बन करनेकी धुन इस ज्ञानी मे है मगर पूर्वबद्धकर्मके विपाक ऐसे हो रहे है कि उस प्रसगमे बाह्यपदार्थोका आश्रय कर अपने स्वभाव के उपयोगसे दूर हो जाता है, हट जाता है। इसमे भी क्या सदेह कर रहे ? सोच लो आप इस समय हट रहे कि नही, हम हट रहे कि नही। चाह रहे है कि हम स्वभावमे मग्न हो जाये, चाहके अनुरूप

दृष्टि बनी रहे तो ऐसी स्थिति होगी कि नही ? बस, उन विघ्नोसे दूर होनेके लिए हम जान-जानकर अध्यवसानके आश्रयभूत पर पदार्थोंका त्याग किया करते हैं। यद्यपि यह कोई नियम नही है कि हम बाह्यपदार्थोंका त्याग कर दे तो अध्यवसान हट ही जाय, मगर यह नियम है कि अध्यवसान नही होते, ऐसी स्थिति तब ही बनती जब बाह्यपदार्थोंका सग प्रसग नही है। तो चरणानुयोगमे यह ही तो विधि है कि अध्यवसानके आश्रयभूत परपदार्थका परिहार करे, हो गया। जैसे किसी एक बडे लाभके लिए छोटे काम भी करते, बडे काम भी करते, सम्भावनापर भी काम करते। वहाँ तो गम नही खाते, और यहाँ स्वभावका आश्रय करने रूप धर्मके लिए हम कोरी एक बात ही बात करते रहे, और हम अपना सयमी जीवन न बिताये तो समझिये स्वभावकी रुचि विशेष न कही जायगी, क्योकि स्वभावकी रुचि यदि विशेष बलिष्ट है तो उसके लिए यह सब कुछ समर्पण व परिहार करनेमे सकोच नही कर सकता।

१०१५—जीवविकारमे परसगके निमित्तत्वके कथनमे वस्तुस्वभावकी प्रयुक्तता—

यहाँ प्रकरण चल रहा है, घटनाके वस्तुस्वभावका। वह परसग ही विकारमे निमित्त है। स्वय स्वयके विकारमे निमित्त नही है उस स्थितिमे यह आत्मा शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ राग विकार रूप परिणमता है। तो ऐसी स्थिति जानकर हम यह शिक्षा लें कि यह राग औपाधिक है, नैमित्तिक है, यह परभाव है, यह मेरा स्वभाव नही है, ऐसा सोचनेके साथ साथ ही यह ज्ञानमे आ रहा है कि मेरा स्वभाव यह है। जैसे जब थालीमे चावल बीनते हैं घरमे भात बनानेको, सो जैसे वह कहता कि यह चावल नही है, यह चावल नही है, तो देखो उसे चावलका बोध है तब ही तो वह दूसरी चीजोका निषेध कर रहा है। यह विकार भाव मेरा स्वरूप नही है, ऐसा वही तो जान सकता कि जिसको स्वभावका परिचय हुआ है। तो ऐसे इस अतस्तत्त्व ज्ञानमात्र ज्ञानस्वरूपको पहिचान रहा है ज्ञानी और रागको जडके रूपमे निरख रहा है ज्ञानी। स्वभाव परिचयके लिये किस तरह क्या किया भीतर मे ? बडा कठिन छेदन किया, उसका अलगाव किया तो वहाँ निर्मल भेदज्ञान उदित होता है, अहा, इसका आश्रय करने वाला जीव प्रसन्न हो, जयवत हो।

१०१६—अन्तरात्माको अन्तरमे ज्ञानघनौघताका दर्शन—

यहा सम्वर तत्त्वमे इस अतरात्माको क्या दृष्टि हो रही, यह तो एक शुद्ध ज्ञानघन का ही ओघ है, पिण्ड है, ज्ञानघनमे घन वजनदारका नाम नही है। घन वजनदार हो यह बात अलग है मगर घन नाम वजनदारका नहो, किन्तु किसका नाम है ? जहाँ द्रव्यान्तरभावका प्रवेश नही उसे कहते हैं घन, घनका सही अर्थ। कभी स्वय स्वयमे भी द्रव्यान्तरपना हो जाता है ऐसा हो तो वह घन नही। जैसे एक सागौनकी लकडी है। कोई ठोस है, कोई गैर ठोस है, ठोस मायने क्या कि जिसमे कमजोर या हल्का काठ, फोका काठ, फोका अश हो यह सब कहलाता है कि वह ठोस नही है। ठोस लकडी कौन है ? जहा फोकापन भी नही, खाली जगह भी नही ऐसी लकडीको कहते है कि यह ठोस लकडी है। आत्मा ज्ञानघन है अर्थात् आत्मामे यह ज्ञान, ज्ञानमय यह आत्मस्वरूप, इसका कोई भी एक प्रदेश ज्ञानसे रिक्त नही है, एकरूप ज्ञानमय है, जैसे कलशमे भरा हुआ पानी, वह पानी जितने मे हैं उसके बीच जरा सी भी जगह पानीसे खाली नही है, अछूती नही हैं, वह पानीसे खाली नही है, अछूती नही है। वह पानीसे घन है, मायने भीतरमे किसी भी जगह जरासे एक सूत भी जगहमे, बहुत हल्की जगहमे भी पानी न हो ऐसा नही है। घडेमे चने भर दिये, भले ही चने भरे हुए हैं मगर बीच-बीचमे खाली

जगह रहती है, मगर पानी भरे हुएमे तो बीचमे कही भी खाली जगह नही। वह है घन। और यही है उदाहरण आत्माको ज्ञानघन निरखनेका। उस जलपूर्ण घडेको देखकर आत्माके ज्ञानघनकी सुध होती है इसी कारणसे पानीसे भरा हुआ घडा दिख जाना सगुन माना है। आत्माकी सुध आयी ना। जिस-जिसको देखकर अपने आपकी ओर अभिमुखता हो वह-वह सब सगुन है। तो ऐसे ज्ञानघनका ओघ यह एक है सो दूसरी चीजसे च्युत होकर और एक ज्ञानघनका आश्रय करके हे अन्तरात्माओ अपने आपमे अपना प्रसाद प्राप्त करो।

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमान शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयमात्मारामात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

१०१७—सहजज्ञानानुभूतिमे प्राप्त सहज आनन्दके अनुभवके क्षणको धन्यवाद—

उसे ही नया वर्ष कहो, उसे ही नया दिन कहो, उसे ही नई घडी कहो जिस कालमे यह जीव अपने सहज चैतन्य स्वरूपमे यह मैं हू ऐसा अनुभव करके निर्विकल्प होवे, आत्मीय आनन्दका अनुभव करे। ऐसा ज्ञानी पुरुष प्रशसनीय है, धन्यवादमय है—आदर्श है और अपने लिए तो वह स्वय कल्याणमय है। कैसे प्राप्त हो यह स्वभावकी अनुभूति ? सीधे-सीधे उपाय है। मोक्षका मार्ग स्वभावके आलम्बनसे ही मिलेगा। स्वभावका आलम्बन स्वभावके परिचय बिना कैसे किया जायगा, स्वभावका परिचय विभावसे हटे बिना कैसे बन पायगा ? जो जीव अपने ज्ञानको कर्मस्वभावरूपसे हुआते रहते है उनको स्वभावदृष्टिका अमृत कैसे प्राप्त हो सकता ? तो विभावोसे उपेक्षा करना यह सबसे पहला काम है। और, विभावोसे उपेक्षा करनेमे बस यह निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयकी बात बहुत साधक है, पर इसके ठीक सदुपयोगसे इसका काम लेना, यदि परस्पर कर्ताकर्मबुद्धि हो गई तो बात न बनेगी। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता कभी होता ही नही अर्थात् एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप परिणम जाय तो बताओ वह रहा कि यह रहा ? कुछ भी न रहेगा, सो ऐसा हो ही नही सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है, पर जिसे विकार कहा गया वह हुआ कैसे ? सो सुनिये

१०१८—विकारघटनाका विवरण—

भैया। घटनासे देखो तो समझ बनेगो कि विकार यो हो गया कि पूर्वबद्ध कर्मका उदय आया, उस कालमे तत्काल प्रतिफलन हुआ और वहाँ यह उपयोग अबुद्धिपूर्वक कर्मविपाकाकार हुआ, मानो वह प्रतिफलन एक आक्रमण है जैसा कि समयसार आत्मख्यातिमे कहा गया, कर्मविपाकाक्रमण, उस कालमे यह जीव अपने शुद्धस्वभावसे च्युत होकर उसके अनुरूप विकल्परूप परिणमने लगा, विकारके समय हुआ क्या ? एक आत्माकी दृष्टिसे देखें, तो हुआ क्या ? एकपर दृष्टि देकर निर्णय करें, निश्चयसे क्या हुआ ? तो हुआ यह कि यह आत्मा कर्मस्वभावरूपसे परिणम गया, कर्मके स्वभावसे नही। जो बाह्यमे पुद्गल द्रव्य है, उसके स्वभावसे नही, पर भीतरमे ही जो एक प्रतिफलन है, जो एक परतत्त्व है उसकी ओर अबुद्धिपूर्वक इसका जुटाव बना। देखिये वह जुटाव कैसे बनता ? जैसे दर्पणमे चीजोका फोटो आया, हाथका आया, मुखका आया, और भी अन्य चीजका आया। अच्छा बताओ दर्पणमे अधेरेका फोटो आता कि नही ? अच्छा रातके समय दर्पण रखा है तो बताओ उसमे कोई फोटो आ रहा कि नही ? आ रहा। किसका ?... अधेरेका। वहाँ कुछ पता भी पड रहा क्या ? पता कुछ नही पड रहा। तो यहाँ जो बाहरी ये विषय प्रसग है इनका जानना तो पतावाला जानना है। हम जानते है, इसको जाना, उसको जाना। अगर यहाँ कर्मविपाकका प्रतिफलन हो गया, हुआ तो वह ज्ञानमे विकल्प, मगर

जानकारीमे नही आ पाता कि यह ज्ञेय बनता। और, नटखट सब हो जाते हैं। जैसे दर्पणमे फोटोका प्रतिबिम्ब हुआ ऐसे ही इस उपयोगमे, स्वच्छभूमिमें कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ, अब आत्मा यह अपने स्वभावसे च्युत हुआ अपनी स्वच्छताके तिरोभावमे कर्मरूपसे परिणमने लगा।

१०१९—विभावोकी असारता जाननेपर विभावोसे हटनेका उद्यम—

तो ये मूलमे विकारकी बाते जिनको विदित हो वे विभावमे हट जाते हैं। क्या सार है इन विभावोमे ? ये जब स्वभावसे उदित नही हुए, ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, तो जीवके लिए तो ये आपत्तिरूप हैं, दु खरूप है, क्योकि ये सब आगन्तुक हैं। ऐसा बोध करके यह अपने स्वभावके उन्मुख होता है। हाँ अब चलो अन्दर जब स्वभावकी ओर अभिमुख हुए तो एक आत्मतत्त्वका पूरा ध्यान बनावें। क्या है वह स्वभाव ? अनादि अनन्त अहेतुक परमात्मतत्त्व है जिसका कि जाननस्वरूप है, प्रतिसमय जानता रहता है। जानना ऐसा स्वतन्त्र है कि यह किसीके आधीन नही है, जाननेमे विषय होते हैं इसलिए कहा जाता कि ज्ञेयका आलम्बन कर इसने ज्ञान परिणति की, पर ऐसा नहीं है। यह ज्ञेयका आलम्बन करके परिणति नहीं करता, ज्ञेयसे ज्ञानकी उत्पत्ति नही होती, ज्ञेयसे ज्ञानका तादात्म्य नही होता, यह तो क्षणिकवादियोका कथन है कि ज्ञानकी उत्पत्ति बाहरी पदार्थसे होती है। ज्ञान बाहरी पदार्थरूप हुआ करता है यह भी क्षणिकवादियोका सिद्धान्त है। ज्ञान तो अपने आत्मद्रव्यत्व स्वभावके कारण पदार्थको विषय करता हुआ सदा परिणमता रहता है। अब ये स्थितियाँ एक बन्धन-दशाकी है कि यहाँ हम इन इन्द्रियोका आलम्बन लेकर कुछ जान पाते है कि इतने-इतने परिग्रह हैं, अन्य साधन हैं, इन सबके प्रसगमे हम इसे निरख पाते हैं। यह स्थिति आ गई लेकिन यहाँ भी ज्ञान जो जान रहा है वह अपने ही सामर्थ्यसे जान रहा है अन्य पदार्थकी सामर्थ्यसे नही जानता, तो यह तो ज्ञानरूप हुआ। मैं ज्ञानस्वभावी हूँ और ज्ञान-ज्ञानरूप परिणमता रहता हूँ, ऐसा अपने आपको यहाँ स्वभावमे देखो, और जहाँ यह परिचय पाया स्वभावमे कि मैं यह हूँ तो वह अब अज्ञानरूप कहाँ बनेगा ?

१०२०—ज्ञानस्वभावका अनुभव होनेपर उसकी प्रतीतिकी निरन्तरता—

आपने किसी चीजको जान लिया कि यह फला चीज है, अब कितने ही लोग बहकायें तो भी आप बहकते तो नही। वह ज्ञान बदलता नही, ऐसे ही यह अन्तरात्मा अपने आपके सहज ज्ञानस्वभाव को पहचान ले, अब उसकी यह पहिचान बदलती नही। फिर भी स्थितियाँ बडी विचित्र हैं। कही उपशम हुआ, फिर मिथ्यात्व उदयमे आया और यहाँ उसरूप भाव बने तो वह ज्ञान मिट भी जायगा। अज्ञानरूप परिणम जायगा। वहाँ पर भी यह ज्ञान अपने आपमे किसी कल्मषताको लेकर अज्ञानरूप परिणमा, परिणमे, पर ऐसा हम ध्यान क्यो रखे कि यह अज्ञानरूप परिणमेगा। जब उसने अतस्तत्त्वको निरखा, उसका सारपना जाना कि यह ही एक सारभूत पदार्थ है तो जो दिलमे बसे, जो सारभूत हो, हितरूप हो, शरण हो, सर्वस्व हो वह दिलमे से निकल सकता क्या ज्ञानकालमें ? तो ऐसे इस ज्ञानमे जब यह अतस्तत्त्व आया, यह स्वभाव मेरा स्वरूप जब यह परिचयमे आया, भली प्रकार, तो यह निकल सकता क्या ? अब काम क्या करना ? काम यह करना कि अनवरत धारासे उसी ही मे इसका उपयोग किए रहे, बस यही हमे करना, आपको करना, कर नही पाते, सबकी आवाज ऐसी ही आयगी, करते हैं, कर नही पाते, अरे नही कर पाते तो भी करनेका ही लक्ष्य रखना है, यह भी तो ध्यान है ना या नही करना है ऐसा ध्यान है। क्या ऐसा परिणाम जगता है ? स्वभावको निरखना, उसमे मग्न होना चाहते

है, उसीका निरन्तर ध्यान रखना चाहते है। नहीं रख पाते हैं तो भी वह लक्ष्य तो नही छूटना चाहिये। करना तो यह ही है। तो ध्यानसे, प्रतीतिसे, प्रयोगसे, पौरुषसे, सर्व प्रकारसे अपना बल प्रयोग करके (कौनसा बल, ज्ञानबल) यदि किसी प्रकारसे इस ही निरन्तर धारामे होकर कुछ स्वभावका ही उपयोग बना रहे और वह इस शुद्ध परिणामको प्राप्त करे, शुद्ध आत्मारूप अपना उपयोग बनाये तो यह पर परिणतिका निरोध करके सिद्धिको प्राप्त कर सकता है।

१०२१–शुद्धात्माका अर्थ—

यहाँ एक बात खास जानना कि शुद्धात्मा शुद्धात्माके बराबर प्रयोग होते और उसके बाबत लोग विवाद करने लगते तो उस शुद्ध आत्माका अर्थ क्या है, देखिये शुद्धात्माका प्रयोग दो जगह मिलता है, एक तो जिसकी परिणति, अवस्था निर्मल होती है उसे कहते हैं शुद्ध तो ऐसा शुद्धात्मा कौन हैं ? अरहत और सिद्ध, जिसकी परिणति शुद्ध हुई है, निर्मल हुई है सो शुद्ध आत्मा हुए। मगर शुद्धात्माका एक अर्थ और है, जो शुद्धात्माका मुख्य अर्थ शुद्धपरिणतिवाला ज्ञात होनेसे, उसे शुद्धात्मा बोलनेमे कुछ खटक सी लगती, मगर जब शुद्धत्वका अर्थ ज्ञात हो जायगा तो खटक न रहेगी। शुद्धके मायनें हैं केवल प्योर। जैसे नाम शुद्ध रख दिया, पवित्र, पर शुद्धका शुद्ध अर्थ है जो हो सो है, पर प्योरका, केवलका खालिसका अर्थ उस पर्यायनिर्मलतापर दृष्टि रख कर नही है, किन्तु वह वह ही है, उसके साथ दूसरा कुछ नही होता, न कोई द्रव्यका सम्बध होता, न कोई द्रव्यान्तरका प्रभाव, वहाँ परका कुछ मतलब वही, प्रभाव नही, कुछ बात ही नही, केवल वह ही वह हो उसे शुद्ध कहते हैं। यहाँ द्रव्य शुद्धिके भावको समझनेमे पर्यायनिर्मलताकी बात बिल्कुल ध्यानमे न देना, अनिर्मलताकी बात भी ध्यानमे न देना, केवल एक सत्त्वको दृष्टिमे ले। वह एक पदार्थ है, सत्त्व है, उस ही को ध्यानमे लें, वही एक शुद्धत्व है, उसको ध्यानमे लेकर यह जाने कि यहाँ शुद्धात्मा मायने है ज्ञानके द्वारा अपने आत्माके अन्दर परखा गया केवल, खालिस एकमात्र जानन प्रतिभास स्वरूप यह परमात्मतत्त्व। केवल आत्माके सहज सत्त्व कलापर दृष्टि देकर जहाँ ध्यानमे लिया, बस परसे विवक्त अपने आपके स्वरूपमे एकत्व ऐसा जो तत्त्व है उसे कहते है शुद्ध। देखिये जान रहे हैं ऐसा शुद्ध, फिर भी जो राग परिणमन चल रहा है निरन्तर अबुद्धिपूर्वक सो चल ही रहा क्योंकि उपयोग तो लिए हुए है हम इस शुद्धात्माकी ओर, तो उपयोगमे कैसे आयेगे ? उपयोग रहेगा हमारी ऐसी जानकारीमे कि जैसा है यह सब कुछ जान रहे हो। सो बुद्धिमे विकार आयगा तो नही, मगर उदय है, प्रतिफलन है और उस प्रकारका वहाँ उपयोग है, चल रहा है, पर्यायमे देखे तो अभी वह अशुद्ध है, कौन ? जो शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानमे लगा हुआ है, मग्न है, अथवा यों कहो कि स्वानुभवमे वह है और एक अलौकिक आत्मीय आनन्द ले रहा है, मगर हम उस अशुद्धताको देखते भी नही, हमारा वहाँ कुछ प्रयोजन ही नही। अशुद्धताको देखनेमे विकल्प है, अशुद्ध होकर भी अशुद्धपनेको देखनेमे हमारी प्रगति नही है, हमारी प्रगति है इस केवल शुद्ध तत्त्वको निरखने मे।

१०२२—दृष्टान्तपूर्वक शुद्धात्माके अर्थका विवरण—

एक दृष्टान्त ले लो दृष्टान्त कई बार लेते हैं दूधका, शुद्ध दूधका। देखो—शुद्ध दूधका अर्थ क्या है ! एक तो यह अर्थ है कि ऐसा दूध जो व्रती लोग खा सकें हाथ पैर धोकर लाये और अन्तर्मुहूर्त मे उसे छान ले, फिर चाहे उसमे अठपहरा पानी कितना ही मिला देवे, पर वह शुद्ध माना जाता है पर एक शुद्ध दूधकी बात दूसरी ओरसे देखो। चाहे कैसे ही दुहे, कोई भी दुहे, जूता पहनकर दुहे या

बिना हाथ पैर धोये दुहे, पर उस दूधमें न तो जरा भी पानी डाले, न उसमें से जरा भी क्रीम निकाले, केवल दूध ही दूध रहे तो वहाँ पदार्थकी ओरसे देखो तो वह शुद्ध दूध है, वह खालिस दूध है। खालिसके मायने क्या ? जिसमें कोई दूसरी चीज न लगायी जाय और भीतरका कुछ निकाला न जाय उसे कहते है पदार्थकी ओरसे शुद्ध । तो ऐसे ही शुद्धात्माके मायने क्या है ? जिसका कि ध्यान करनेसे हमको मोक्षमार्ग मिलता । कहते है ना शुद्धात्माका ध्यान करो तो मोक्षमार्ग मिल जायगा । तो अब यहाँ ध्येय शुद्ध आत्मा कौन ? कह सकते है अरहन्त सिद्ध, मगर वे परपदार्थ हैं। उनका ध्यान हमारे शुभोपयोगको तो बना लेगा, मगर परपदार्थका लक्ष्य होनेपर वह हमारे शुद्धोपयोगकी रचना न करेगा, जरूरत उसकी भी है इसलिए यह बात चलती है और एक तुरन्त तुरन्त बात होनेमें पता नही पडता कि यह शुद्धोपयोग स्वावलम्बसे हुआ है या भक्तिसे हुआ है। १०० पान हैं और सुई यदि तेजीसे चुभो दी जाय तो वहाँ ऐसा लगता है कि वे सभी पान एक साथ छिद गए, पर ऐसी बात नही है, एकके बाद एक पान क्रम क्रमसे छिदा मगर त्वरित काम होनेमें पता नही पडता ।

१०२३—स्वावलम्बनसे सम्यक्त्वका उद्भव—

सम्यग्दर्शनका उद्भव स्वावलम्बनसे है, मगर स्वावलम्बनसे होने वाला सम्यग्दर्शन अशुभोपयोगके बाद होगा या शुभोपयोगके बाद ? शुभोपयोगके बाद ही होगा, अशुभोपयोगके बाद रत्नत्रय नही होता, शुद्धोपयोग नही होता । शुभोपयोगके बाद ही सम्यक्त्व होता हैं। तो उस सम्यग्दर्शनकी उद्भूतिसे पहले जो शुभोपयोग हुआ, अनन्तर पहले उस शुभोपयोगमे जिनबिम्बदर्शन, वेदना, ऋद्धि-दर्शन, उपदेश सुनना, चर्चा आदिक सब बातें आयी ना ? और, उस आशयमे इसका वह शुभोपयोग हुआ । जिस शुभोपयोगके बाद उसका स्वावलम्ब बनता और सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती । तो तीर्थ-प्रवृत्तिमे तो कहा ही जायगा यह कि सम्यग्दर्शनके ये निमित्त है । क्या-क्या ? जिनबिम्बदर्शन, ऋद्धिदर्शन या और-और, ये सब सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके निमित्त हैं, और, इसी कारण धवलामे, चूलिकामे छटी पुस्तकमे अन्तमें एक अधिकार ही दिया है कि किस गतिके जीव कौन–कौन सा निमित्त पाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करते है । कही चार निमित्त है, कही तीन, कही, कही दो । वह उसमे वर्णन है, पर सबका तथ्य तो जानना ।

१०२४—शुद्धात्मोपलम्भका पौरुष—

मूलमे क्या करना कि धारावाही ज्ञानसे एक अपने आपके इस शुद्ध आत्माको निरखना । क्या ? वही वही केवल, एकत्व विभक्त, विभक्तके मायने परसे निराला एकत्व मायने अपने स्वरूपमात्र में तन्मय, ऐसा यह अपने आपमे निरखो तो जब निरखने आप चलेंगे, प्रयोग करने चलेंगे, कोई बात सोचेंगे तो आप उसमे पुरुषार्थ लगायेंगे कि नही ! तो क्या पुरुषार्थ लगता है कि जिससे हमको इस अतस्तत्त्वका अनुभव बनता है। पुरुषार्थ सीधा है अपनेको ज्ञानमात्र निरखना जाननमात्र, इसके अतिरिक्त और कुछ नही बन पायगा और उसके जाननेमें इष्ट अनिष्ट रागद्वेष विकार रूप नही है। किसी अग्निमे लोभान गधक डाल दिया और उसकी ज्वाला कुछ रगीली, कुछ और तरह, कुछ ढगसे उठे, उठ गई, उसमे ज्ञानबलसे भेदकर सकते ना कि अग्निका शुद्धस्वरूप यह, और यह है परप्रसग की बात । बल्बपर नीचे हरा कागज लगा दिया वही रोशनी हो गई। आप उस रोशनीमे यह भेद डाल सकते ना कि जो हरापन है वह रोशनी नही, जो रोशनी है वह अपनेसे एक प्रकाशमात्र है। अब वह प्रकाश कही सफेद मिलता, कही हरा मिलता, कही लाल मिलता, कही और तरहका

मिलता, जिस पर भी प्रकाशका स्वरूप तो प्रकाश ही है, हरा, पीला, नीला आदिक नही है, ऐसे ही अपने आपके आत्मामे, अपने आपके केवल उस ज्ञान प्रतिभासको निरखिये जाननमात्र, यही यही बार बार निरखिये, करनेका काम यही है, बाकी तो जब एक यह काम नही करते है तो उस समय की बाते है। क्या पदार्थ है, क्यो है, कहाँ है, क्या घटना, क्या प्रसग, जब बाहर-बाहर डोल रहे है तो बाहर बाहरकी बाते इससे सम्बधित चल रही है। मगर जहाँ केवल अपने आपके इस अतस्तत्त्वका ही सम्बध रखा वहाँ बाहरकी बातोका काम क्या? केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निरखना। यह बात कुछ देर तक चलती तो रहे। यह आत्मा अपने इस विशुद्ध स्वरूपको ज्ञानमे प्राप्त कर लेता है, वहाँ हो ही गया पर परिणतिका निरोध।

१०२५—ज्ञानपरिणामकी दो विधियोके दो प्रभाव—

देखो ज्ञान है ना? उस ज्ञानके परिणमनकी दो विधियाँ है। यह ज्ञान ज्ञानस्वभावसे परिणम ले या यह ज्ञान कर्मस्वभावसे परिणम ले। दो ही तो उसकी बाते हैं। कर्मस्वभावसे परिणमे उसका फल है ससार, जन्ममरण, चारो गतियोके दु ख और ज्ञानस्वभावसे परिणमे, उसका फल है मोक्षमार्ग, मोक्षकी प्राप्ति। अपने आपको कैसा अनुभव करना, बस ज्ञानमय भाव। और, अज्ञानमय भावका अर्थ क्या है? कर्मस्वभावरूपसे परिणमते हुए अपनेको अपना स्वरूप समझना। इसे कहते हैं अज्ञानमयभाव, और ज्ञानस्वभावसे परिणमते हुए की उस स्थितिमे अपने स्वरूपका परिचय करना कि मै यह हूँ, ऐसी बात जहाँ पडी है वह ज्ञानमय भाव है। ज्ञानमयभाव होने पर ज्ञानमय बात ही चलती है, अज्ञानमय भाव होने पर अज्ञानमय बात चलेगी।

निजमहिमरताना भेदविज्ञानशक्त्या, भवति नियतमेषा शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थिताना भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

१०२६—परकी महिमाका भान छोड़कर अपनी महिमा समझनेका अनुरोध—

यह जीव खुद स्वय अपने लिए महान है, शरण है, पर अपनी महिमाको भूल गया और कैसा पापका उदय है कि बाह्य वस्तुकी महिमाको यह समझ रहा, इसे पापका ही उदय कहना चाहिये, क्योकि मिथ्यात्वका उदय महापापका उदय कहलाता है। हम अपने आपकी निधिको पहिचाने नही, अपनी निधिको समझे नही, और बाहरी पदार्थोंकी महिमा गाया करे तो ऐसा करते-करते जीवका अनन्तकाल गुजर गया, मगर यह जीव उस ही ददफदमे, जन्म मरणमे पडा हुआ है। यह भव पाया है दुर्लभ, तो यहाँ गृहस्थ होनेके कारण आपको करना तो पड रहा है सब कुछ, मगर धुन, ध्यान, दृष्टि, लक्ष्य यह ही बनाना होगा कि मैं अपने स्वरूपको समझूँ और उस हीमे तृप्त रहूँ जिससे कि ससारके जन्म मरण सकट सदाके लिए छूट जायें। बाकी परकी महिमा गानेसे लाभ क्या पा लेगे इस जीवनमे? मानो कभी सम्पदा भी बढ गई तो वह सम्पदा क्या है? पौद्गलिक चीज है। आपसे भिन्न है, उसके कारण कही शान्ति नही आया करती। शान्ति तो अपने महिमा वाले ज्ञानमे समझिये, स्वावलम्बसे ही शान्ति होगी। शान्ति बाहरी पदार्थसे नही होती, इसमे तो और तृष्णा ही बढती है। तो बाहरी पदार्थोंकी महिमाका गान करना छोड़दें और अपने आपके स्वरूपकी महिमाका गान करें, जैसे जो कोई किसी वस्तुमे बहुत कुछ तकलीफ पा चुका हो किसी ससर्गमे, तो जैसे वह उपेक्षा कर देता, अब उसे उस बातका प्रयोजन नही, न ही हठ है कि मैं तो यही रहूँगा, तो जब ससारमे अनन्त काल जन्ममरणकी विडम्बनामे सह-सहकर अपनेको दु खी किया तो अब तो यह बनावें अपना दृढ

सकल्प कि मैं अब परकी महिमा न गाऊँगा, पर पदार्थमे महिमाकी कोई वात ही नही मेरे लिए, मैं तो अपनी महिमाको निरखूँगा और उसी महिमामे रत होऊँगा।

१०२७—अपने अन्तस्तत्त्वकी महिमा—

वह क्या है अपनी महिमा ? जो मेरा अमल परमार्थ निरपेक्ष सत्ताके कारण जो मेरा स्वय सहज स्वरूप है वह स्वरूप ऐसी महिमा वाला है कि यदि उस स्वरूपमे ही मैं रहूँ, उस स्वरूपमात्र ही अपनेको मानकर रहूँ तो उस स्वरूपका इतना अतुल विकास होगा कि तीन लोक अलोकके समस्त पदार्थ एक साथ इसमे प्रतिविम्वित हो जायेंगे। तीन लोकका ज्ञाता हो उससे वढकर किसकी महिमा कहे ? मुझे केवलज्ञान हो जाय, मैं तीन लोकका ज्ञाता हो जाऊँ यह इच्छा भी आवरणहो गया, यह भी वाधा हैं, और इससे क्या मतलव ? तीन लोकका ज्ञाता होवे तो क्या, न होवे तो क्या ? यदि अपने स्वरूपमे अपना ज्ञान वना है, वसा है तो निराकुलता है, अव इसके फलमे जो होना होगा सो स्वयमेव होगा, इससे आगे और कोई फल न चाहिए। केवल एक ही निर्णय, एक ही अपनी धुन कि मैं अपने स्वरूपको जानूँ, अपनी महिमाको पहचानूँ और उसमे ही खुश रहूँ।

१०२८—वाह्यपदार्थप्रसगमे लगाव तजनेमे ही हित—

वाहरी पदार्थोंके सग प्रसगके क्लेशके अनेक उदाहरण तो सामने पडे है। यदि कोई एक घरके लोग वडी अच्छी तरहसे रह रहे, वडे अच्छे लडके हैं, आज्ञाकारी है, सव मौज वन रहा है, वडे अनुकूल वन रहे है उसे एक अपना घर कोई समझ ले और उसमे रहकर वडा मौज माने तो इतने मात्रसे काम क्या वनता ? तो वताओ आप एक ऐसे ही मनुष्य भर ही है क्या, और कुछ नही वन सकते क्या ? जैसे और परिवारके आदमी है किसीकी किसीसे कलह रहती, किसीकी स्त्री और पतिकी कलह रहती, उनमे आपसमे सुविधा सव कुछ होनेपर भी एक फूट होनेके कारण तकलीफ चल रही है यदि ऐसी वातें जव सर्वत्र दिख रही है तो आप उनमे से नही हो सकते थे क्या ? आज अगर अच्छे परिवारमे हुए, मौजमे हुए तो इसका क्या भरोसा ? ये सव रहेंगे क्या ? ये छूटेंगे नही क्या ? और आज ऐसे हैं कलका कुछ पता नही। जो आज अनुकूल है कल प्रतिकूल हो सकते। तो यह सारा ससार दु खमय है, किसी भी परतत्त्वसे मेरे को कोई सुधार नही होता। मैं सुधरा हुआ हूँ तो पर पदार्थ वे हमारे आनन्दमे मौजमे एक सहायक हो गए, वाह्यकारण वन गए और खुदमे सुधार न हो फिर और कोई दूसरा मददगार वने लौकिक दृष्टिसे, ऐसा तो नही होता। आज दिमाग ठीक है, प्रतिष्ठा है, मान लो किसीका दिमाग विगड गया, पागल हो गया, गलियोमे फिरने लगा और ऐसे ही पागलपने मे वर्षो गुजर गये तो उसके कोई घरका मददगार बनता है क्या कि यह मेरा अमुक है, इसकी मदद करें। इसको आरामसे रखें। अरे जव जान लिया कि यह दिमागसे पूरा विगड चुका, अव इसका सम्वध रखने से हमको कोई लाभ नही, तो उसके लोग उसे छोड देते। ससारमे कौनसी परिस्थिति ऐसी है जो मौज मानने लायक है। ये सव परिस्थितियाँ एक वाह्य है। उनसे मेरेको कुछ लगाव नही। लाभ है तो अपने आपकी महिमा होनेमे लाभ है। धर्म करें। जब तक ससार है तब तक अच्छे अच्छे भव मिलेंगे, मुक्ति हो जायगी। लाभ ही लाभ है अपने आपको। पर पदार्थसे नाता जोडनेमे नुकशान ही नुकशान है।

१०२९—श्रद्धामे परिहारकी नितान्त आवश्यकता—

भैया, वर्तमान परिस्थिति है, गृहस्थावस्था है, सारे काम करने होते हैं, इतने पर भी दृष्टि

अगर विशुद्ध रहेगी तो आप अपने लिए शरण बन जायेंगे। अगर दृष्टि निर्मल न रही तो कभी भी अपना भला नही हो सकता। तो अपनी महिमामे रत होनेका प्रयत्न रखिये। क्या महिमा है अपने सहज स्वरूपकी। देखिये ऐसी बुद्धि व्यवस्थित करनेके लिए बडा त्याग करना पडेगा। कितना त्याग करना पडेगा? सबका त्याग करना पडेगा, अरे तब तो यह बडी कठि बात है। कठिन बात नही है, ध्यानसे समझो अपने आपको, सबका त्याग किए बिना स्वरूपकी समझ नही बन सकती। सबका मायने घरका? 'हाँ।' 'परिवारका?' 'हाँ।'''तो आप कहेगे कि अच्छे उपदेशक आये। भैया, अभी यो त्याग करनेकी बात नही कह रहे, पर ज्ञानमे यह तो लावो कि मेरे स्वरूपमे कोई पर पदार्थ मिला ही नही है। ज्ञानमे त्यागकी बात तो पूरी लेनी ही पडेगी। बाहरी त्यागकी बात जुदी है, उसकी कुछ चर्चा नही कर रहे, पर ज्ञानमे सबका त्याग हुये विना अपने आत्माके स्वरूपका दर्शन कर पाये यह कभी सम्भव नही। कैसे त्यागे? जान लो, इतना तो जानते हो, जैसे मान लो यह घडी है तो इस घड़ीमे और कोई बाकी चीजे घुसी है क्या, या यह ही है, घडीमे तो घडी है, और चीजे तो नही घुसी है, जैसे यहाँ यह बात समझमे आती कि घडीमे घडी है, उसमे कोई दूसरी चीज नही घुसी, यह ही समझ अपनेमे बनाले, मेरेमे मैं ही हूँ, इसमे दूसरी चीज कुछ नही घुसी, यह सत्य बात है तो ऐसा मान लो कि अन्त नही घुसा कुछ, मुझमे किसी परका प्रवेश नही। सभी पदार्थ अलग ही तो रह रहे, वे अपनी सत्तामे है। यह मैं अपने आपमे हूँ उन सबका त्याग करता हूँ, अज्ञानी ही यह माने कि मेरेमे तो यह है, कौन कहता कि यह मेरा लडका नही? मेरे घरमे पैदा हुआ, मेरी बात मानता है मेरा कैसे नही है। अरे ये लौकिक बाते छोड दो। यह बात बतलावो कि आपका जो स्वरूप है, जो भीतर ज्ञानमय तत्त्व है, जितने प्रदेशमे है उसमे भी इन लडकोका दखल है क्या? यह उसमे प्रवेश कर गया क्या? कोई इससे भी जुटा हुआ है, क्या? है ना अलग, तो अपने ज्ञानस्वरूप को निरखो सही-सही रूपमें तो एक रास्ता मिल जायगा इसी समय शान्त होनेका, और ऐसा अपने आपका स्वरूप पाये बिना कभी भी शान्ति हो ही नही सकती। और, फिर कितने दिनको बात? जीवन कितने दिन का है? अनन्तकालके सामने यह १००—५० वर्षका जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या? ध्यानमे तो लावो कुछ बात। अपनी महिमाको पहिचानो। "लाख बातकी बात यही निश्चय उर लावो। तोडि सकल जग दद फद निज आतम ध्यावो।" इसकी महिमा है केवल ज्ञान प्रतिभास। जिन बातोको आप इष्ट समझते, जिसके पीछे आप तन, मन, धन, वचन, प्राण सब कुछ न्योछावर करनेको तत्पर रहते उन उनका लगाव आपका पूरा दुश्मन है। लगाव परिजनसे नही कर रहे। बच्चे दुश्मन नही, स्त्री दुश्मन नही, पति दुश्मन नही, घर दुश्मन नही, पर इन पर पदार्थोके प्रति ऐसा लगाव कि यह मेरा हो तो है, कौन कहता कि मेरा नही? ऐसे मेरेपनका जो भीतरमे लगाव वाला ज्ञानविकल्प बसा, ऐसा जो लगाव, बस यह ही हम आपका पूरा दुश्मन है जो परमात्मस्वरूपका दर्शन नही होने देता।

१०३०—निर्मोह होकर जीवन बितानेका संदेश—

निर्मोह होकर घरमे रहना नही बनता क्या? निर्मोह रहकर भी गृहस्थ घरमे रह सकता। मोहका अर्थ राग नही, मोहका अर्थ है अज्ञान। अज्ञान हटाकर भी घरमे रहा जा सकता। निर्मोह मायने अज्ञानरहित। मोहका अर्थ प्रीति नही, प्रीति तो चलेगी, प्रीति बिना गृहस्थीमे कोई रह नही सकता, पर अज्ञानरहित होकर घरमे रहा जा सकता है। वह अज्ञान दूर करना, अपनी महिमाको

पहिचानना। तो अपनी महिमामे जो रत हैं, लीन हैं ऐसे ज्ञानी जनोको भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आपमे बसे हुए शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है। मेरेमे मैं हूँ, मेरेमे और कोई नही, मैं मैं हूँ, मैं अन्यरूप नही। मैं ज्ञान ज्ञान मात्र हूँ, इस मेरेका जगतके अणुमात्रसे भी ताल्लुक नही, सम्बध नही। बात यह सही है कि नही ? सही है। नही तो पहले इस बातपर ही निर्णय बनालें कि यह गलत है क्या ? मेरे आत्माका एक अणु मात्रसे भी सम्बध नही, बात सही है, तो ऐसी ही बात जानलो, विश्वासमे लावो, अब अपने आपकी महिमा समझनेके लिए एक अपने उपयोगका उद्यम करें, यह महिमा समझी गई भेदविज्ञानके बलसे। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरेमे दूसरी चीज नही आती। कर्मोंके उदय होते हैं, उनका प्रतिफलन होता है, तो यह मुझ ज्ञानस्वरूपकी ही कला है कि जो हो सो ज्ञेय बने। मगर ज्ञेय तक ही तो रहे यह जीव, उसके आगे बढा कि राग करने लगा। ज्ञानकी तो छुट्टी है। जितना चाहे आप ज्ञान करते रहे, परका करें, स्वका करें, किसीका करे, मगर उस ज्ञानके साथ राग, इष्ट अनिष्ट बुद्धि तरग, यह न आनी चाहिए। मगर इस पदमे, इस स्थितिमे जो जानने के साथ ही कोई तरग उठी जहां किसी चीजको भी जान लेनेपर वह प्रतिषेध्य है, जिससे अधिक प्रयोजन भी नही, कही दो हवाई जहाज उड रहे हो, एकका तो बडा चमकदार सफेद रग है और एकका मटमैला है तो उस चमकदारको देखकर मन कर जाता कि देखते रहे, यह बडा अच्छा है। अरे अच्छा तो है पर तुम्हे मिल क्या जायगा ? तो प्रयोजन भी कुछ नही, मिलना जुलना भी कुछ नही, मगर ऐसी आदत पडी है कि इष्ट अनिष्टकी बुद्धि उनमे कर डालते। जब कि तत्त्वज्ञानके मार्ग पथिकको अपने घरमे रहने वालोमे भी उस नातेसे इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न जगना चाहिए, फिर जिससे कुछ प्रयोजन नही उनको देखकर तरग उठ जाती है, ये सब चीजें परमात्मस्वरूपके दर्शनमे बाधक हैं।

१०३१—वर्तमान जीवनका अमूल्य लाभ सहज स्वरूपका अवलम्बन—

इस जीवनका ऐसा अमूल्य लाभ लीजिए अनुपम लाभ कि कहते तो यो हैं कि फिरसे मुझे मां का दूध न पीना पडे याने ऐसा हो तो नही सकता अभी, मोक्ष होगा तो मनुष्यभवसे होगा और बच्चे होंगे तो मां का दूध पीना पडेगा। तो मांका दूध न पीना पडे, मायने जन्म न लेना पडे। ऐसा एक अपने आपमे भाव हो कि मुझे फिर जन्म न लेना पडे। इस कालके भवके बाद जन्म तो लेना पडेगा मगर देखो तो अपना स्वरूप। जन्मरहित स्वरूप है इसका। अपने आपके सहज स्वरूपको देखो, यह किसने सिखाया ? भेदविज्ञान ने। तो भेदविज्ञानके बलसे ही जब हम अपनी महिमामे लीन बन जायेंगे तो हमको उस शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होगी। अकेलापन देखो, अपने आपको आत्मा, अकेला स्वय, प्योर, अकेला मात्र यह आत्मा क्या है, सो यह ही निगाहमे रखना है। इसीसे धर्मका पालन होगा। अगर यह बात निगाहमे नही आ पाती तो मोक्षमार्ग जरा भी नही बना हुआ है, और यह बात आती है तो बाकी तो फिर चलेगा, जो जिस पदमे है उसके अनुकूल वातावरण चलेगा, करना होगा, होता ही है वह सब, मगर अपनी महिमा जिनको ज्ञात नही है उनसे कुछ भी नही होता।

१०३२—ज्ञानी पुरुषोको सन्मार्गका स्पष्ट दर्शन—

ज्ञानी पुरुष याने जो भी निर्मोह दिखे तो उनकी मोहरहित स्थितिको देखकर अज्ञानी जन तो आश्चर्य मानते कि ऐसा हो कैसे जाता ? मगर जिन्होने अपने स्वरूपको पहिचाना उनको कुछ आश्चर्य नही होता, उनकी धुन केवल अपने स्वरूपमे लीन होनेकी रहती है। उनसे बाकी सब चीजें छूट

जाती है, तृष्णाके तरग आदि। यह मोहकी स्त्री है तृष्णा, ये दोनो एक दूसरेके बढ़नेमें परस्पर सहयोगी है, साधक है, परपदार्थके प्रति जिसको तृष्णाका, ममताका गहरा रग हैं, भला इस सहज सहज परमात्मतत्त्वके दर्शनकी पात्रता हो भी सकती क्या ? काम तो सब उसी विधिसे बनेगा। जिस विधिसे जो काम बनता है वह उसी विधिसे। जो काम बना है वह उसी विधिसे बनेगा। तृष्णा भी रखी जाय और धर्म भी करते जायें, ममता भी करें और धर्म भी करते रहे, ये दो बातें नही बनती। सोचना होगा अपने आपको सबसे निराला। केवल अनुभव करना होगा स्वयको। धन्य हैं वे जीव जो अपनी महिमाको पहिचान गए और जिनका अपनी महिमामें लीन होनेका उद्यम रहता है, ऐसे पुरुषोको शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है, और जिसको इस शुद्ध ज्ञानतत्त्वकी प्राप्ति हुई वह सब अन्य द्रव्योसे दूर ही स्थित है। अब उसे निरन्तर यही शुद्ध तत्त्व नजर आ रहा। दृष्टिमे आ रहा तो उसके तो नियमसे कर्मक्षय होगा, विशुद्ध स्वय जो जो है सो ही प्रकट हो जायगा।

१०३३—विदेशी हुकूमतकी असह्यता—

जैसे किसी देशमे किसी विदेशी शक्तिकी हुकूमत चल रही है, जैसे हिन्दुस्तानमे यह ही तो था पहले विदेशी लोगोका शासन था उस समयमे बडा मौज चाहे मिल रहा हो तो भी मैं दूसरोके आधीन हू, मुझपर दूसरे देशके लोग भी राज्य करते है, यह बात नही सही जा रही थी, चाहे आज उससे कठिन स्थितिमे हो महगाई या और कुछ, ब्लेक-लडाई झगडे रिस्वत वगैरह बहुत-बहुत कष्ट बढ गए हो जो पहले न थे जबकि देश परतत्र था मगर यह बात सहन नही हो रही थी कि मैं दूसरे देश वालोके शासनमे रहू। परतत्रता किसीको पसन्द नही। अब यहाँ देखो अपने आत्मापर सघर्ष चल रहा है विभावोका स्वभावके साथ, इन कर्मोका जीव पदार्थोंके साथ। अब तक इसने विदेशी हुकूमतकी शासनको ही पसद किया, याने पौद्गलिक कर्मका जो प्रतिफलन है बस उस कर्मस्वभावके साथ अपने ज्ञानको बनाना यह ही पसद किया है और उसका फल यह है कि हम चारो गतियोमे भटक रहे हैं, विदेशी हुकूमत हमपर चली आ रही थी और उसके फलमे चारो गतियोमे डुलते फिर रहे थे, लेकिन यह विदेशी हुकूमत कब तक चलेगी, जब तक कि आप अपनी महिमाको न पहिचानेंगे तो यह विदेशी हुकूमत यह सब प्रतिफलन कर्मस्वभाव कुछ ही बने, उसी रूपसे अपनी परिणति बनेगी, ये सब बातें चलती रहेंगी। बोलो विदेशी हुकूमतमे कुछ थोडा बहुत सुख भी है क्या ? भले ही लौकिक परतत्र देशमे लौकिक सुख मिल जाये मगर कर्मोकी इस विदेशी हुकूमतमे यहा लौकिक सुख भी कुछ नही मिलता। केवल एक कल्पना ही की जाती है। ऐसी मोहनीय धूल पडी है कि दु ख पा रहे है और सुख मान रहे है। पञ्चेन्द्रियके विषयोकी प्रवृत्तिमें खूब भले प्रकार परख करलो—भीतरमे धक्का आकुलतायें निरन्तर चलती हैं। शान्ति रच मात्र भी नही, मगर मोहकी धूल ऐसी पडी है उन विषयों में ही सुख मान रहे, हो रहा दु ख खूब पहिचान लो भली प्रकार, कितनी व्यग्रता है, स्पर्शन इन्द्रियका भोग, विषय प्रसग, मैथुनसेवन या प्रीतिका आदान प्रदान, वडा आकर्षक परस्पर वचन बोलना, इन सब स्थितियोंमे व्यग्रता है। व्यग्रता विना यह प्रवृत्ति बन ही नही सकती। जो व्यग्र न होगा वह तो शान्त स्थित रहेगा, वह कोई प्रवृत्ति क्यो करेगा ? वह किसी तरहकी चेष्टा क्यो करेगा ? जो इन्द्रिय विषयों के भोगोमे चेष्टा करता है यह चेष्टा ही इसका अनुमापक है कि इसके भीतरमे व्यग्रता है, कठिन दु ख हुआ है और उसे मेटनेके लिए यह विषय भोगोमें प्रवृत्त हो रहा, पर मिटता तो नही। जैसे खूनका दाग खूनसे नही धुलता, ऐसे ही इन्द्रिय विषयोकी इच्छासे होने वाले दु ख इन्द्रिय विषयोके

भोगसे कभी नही मिट सकते ।

१०३४—अपनी महिमामे रत होनेवाले अन्तरात्माके ही कर्मक्षयकी सभवता—

अपनी महिमा पहिचाने, यह स्वय अपने स्वभावमे कैसी महिमा वाला है । जहाँ शान्ति-शान्ति बसी सहज आनन्दका जो धाम है, केवल ज्ञाता दृष्टा रहनेमे, मात्र जाननहार रहनेमे किसी भी प्रकारका कष्ट नही । तो यह ही तो चाहते हैं कि मेरा कष्ट दूर हो, उसीकी ही तो यह चिकित्सा चल रही है कि हमारे कष्ट इस तरह दूर होगे, बाह्य पदार्थोके प्रसगमे ममतासे, तृष्णासे कष्ट दूर नही हो सकता । तो यो जिसने अपनी महिमा पहिचानी है, अपने अन्तः प्रकाशमान शुद्धआत्मतत्त्वकी प्राप्ति कर लिया है वह अब विचलित नही होता, सो एक अचल ढगसे जिस शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति की है उसमे ही उपयोग लगाकर बाहरी सब पदार्थोमे उपयोग हटा लीजिए । कर्मोका क्षय तो होना ही पडेगा । ये कर्म तब लगे हैं जब हम इनमे लगाव रखते है । दूसरे महिमान आपके घर आते हैं रोज-रोज जब आप उनको प्रेम दिखाते हैं तो वे आपके घर कई दिन ठहर जाते और प्रेम न दिखायें तो फिर वह महिमान कैसे टिकेगा ? ये पौद्गलिककर्म जब आते हैं तब हम इन पौद्गलिक कर्मोके प्रतिफलनमे, कलावोमे, अपना लगाव रखते हैं । महिमानमे आप अपना लगाव न रखे, प्रीति तो करना चाहिए । और यहाँ सब चतुर हैं । महिमानमे कोई लगाव नही रखता । प्रीति तो होती है । आप ही जानते आपके दामाद भी है, लडका भी है, तो लगाव आपका दामादमे होता कि लडकेमे ? प्रीति तो दामादमे लडकेसे भी अधिक बन जायगी, किन्तु प्राय लगाव नही, जान लिया कि यह परघरका है । कुछ हो यह बात अलग है, पर प्राय बात आप देखो—महिमान मायने क्या ? महिमा न । जिसकी कोई महिमा नही उसका नाम है महिमान । महिमानकी महिमा नही होती आपके दिलमे । वही बात यहाँ रखे कि वे कर्म महिमान हैं, और कहावत भी ऐसी कहते कि कितने दिनका महिमान ? तो ये पौद्गलिक कर्म हैं । इनके लगावमे, इनके फलके लगावमे इस जीवने इनकी सतति बढा रखी है । सो लगाव जब न हो और अपने आपमे स्थित हो तो कर्मोका क्षय तो होना ही पडेगा । कर्मक्षय हुआ कि सदाके लिए सकटोसे दूर हो गए ।

सपद्यते सवर एव साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलभात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२६॥

१०३५—शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिसे मोक्षमूलोपायभूत सवरका सपादन—

इस समय यहाँ हम आप सब ससारी जीवोके विभावोकी अपवित्रता पडी हुई है । ये विभाव बने हैं अपनी परिणतिसे, किन्तु यहाँ निमित्त है कर्मविपाक और ये कर्मविपाक बने कैसे ? कर्मका बन्ध हुआ था सो उदयमे आकर इनका विपाक बना, बध क्यो हुआ था ? कर्म आये, कर्मत्व बना, आश्रव बना, आया, उसके साथ ही बन्ध हुआ, तो हम आपके अनर्थकी जड है आश्रव और बन्ध । ७ तत्त्वोमे आश्रव और बन्ध ये सब अनर्थकी जड हैं । इनका अभाव होना ही कल्याणका उपाय है । आश्रवका अभाव होना उसके मायने है सम्वर, याने अब नवीन कर्म न आये, यह उपाय पहले बनाना होगा । जैसे जिस नावमे छेद है, पानी आ रहा है और उससे पानीमे डूबनेका खतरा है तो उस नावसे बचनेका उपाय क्या है ? नावमे आये हुए पानीको उलीचना, दूर कर देना । मगर यहाँ तो पानीको उलीचा जाय और छेदसे पानी बराबर आता जाय तो इससे तो सफलता न मिलेगी । तो पहला काम है कि पानीके छिद्रोको रोक देना बद कर देना ताकि नया और पानी न आये और पहलेका आया हुआ

पानी यहाँसे हटा दिया जाय तो नाव भली प्रकार पार हो जायगी। इसी प्रकार ससारसमुद्रमे हम-आपकी यह नैया मझदारमे पडी और यह वजनदार बन गई जिससे यह ससारमे ही चारो गतियोमे रुल रहा है। इसके उद्धारका उपाय क्या है ? पहला उपाय तो यह करना कि जो कर्मोके आनेका द्वार है, आश्रव है उस आश्रवको रोकना, मायने सम्वर करना, मन, वचन, कायकी चेष्टाके निमित्तसे जो आत्मामे खलबलाहट चलती है वह न रहे तो सम्वर हो जायगा। जहाँ नये कर्मोका आना बन्द हुआ और पहलेके बाँधे हुए कर्मोकी निर्जरा हुई तो ऐसा होते होते कोई निकट समय आयगा कि कर्मोके भारसे बिल्कुल रहित हो जायगा।

१०३६—भेदविज्ञानसे शुद्धात्माकी उपलब्धि—

यहाँ यह बात जानना कि सभी कर्मोका सम्वर एक साथ नही हो पाता। जैसे पानीके छेदको बन्द भी करे तो भी कुछ न कुछ आता रहता है, मगर कुछ समय बाद वह बिल्कुल बन्द हो जाता, ऐसे ही जब हम मोक्षमार्गकी ओर अपना मुख ढालते हैं याने हमारा ज्ञान अविकार स्वभावकी ओर अपना चलता है तो उस समय कुछ सम्वर होता है मगर जो अधिक खतरनाक प्रकृतियाँ है उनका सम्वर पहले होता, रहा सहा थोडा काम यह होता रहेगा। तो सम्वर कैसे होता है? वह होता है शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे, याने अपने आत्माका जो सहज स्वरूप है, अविकार स्वरूप है ज्ञानमात्र, वही ध्यानमे रहे, वही उपयोगमे रहे तो सम्वर बनता है और वह भेदविज्ञानसे ही हो सकेगा। याने आत्मतत्त्वकी उपलब्धि भेदविज्ञानसे होती है और आत्मस्वरूपकी प्राप्ति याने जानकारी और आस्था होनेसे सम्वर होता है, तो शिक्षा यह निकली कि भेदविज्ञानकी बहुत-बहुत भावना करना चाहिए।

१०३७—भेदविज्ञानसे प्राप्त शुद्धात्मतत्त्वके उपयोगसे रागादिका शमन—

यह राग आग दहे सदा ये जगतके जीव मानो ईंधनसा बन रहे और इनको राग आग जला रही है। उस रागकी आगका शमन करनेका उपाय समतारूपी जल है, याने रागद्वेष न जगें, इष्ट विषयोमें प्रीति, अनिष्ट विषयोमे द्वेष, ऐसी राग विरोधकी बात न बने एक समता परिणाम रहे तो उस समता जलसे वह सब राग आग शान्त की जा सकती। वर्तमानमे दुःख क्या है ? सब लोग अपने आपमे दृष्टिपात तो करें, दुःख नाम किसका है ? कोई कहेगा कि हमको इतना धनलाभ नही है, हमारा यह यह काम रुका है, अभी हमारा मकान नही बना है इस कारणसे दुःख है, पुत्र, आज्ञा नही मानते हैं इस कारणसे दुःख है, अच्छा तो जिसके मकान अच्छा बना है, परिवार भी आज्ञाकारी है उनसे जाकर पूछो कि तुमको दुःख है कि सुख है ? यद्यपि वे सामने आकर कहेंगे कि हम खूब सुखी है, मगर उसके ये वचन एक व्यग्रतापूर्वक निकले। कोई शान्त मुद्रामे तो नही निकले, वहाँ तो बोलनेकी बात ही नही आती। वह तो शुद्ध आनन्दामृतका पान करता। ससारके सुख जो भोग रहे हैं उनमे भी व्यग्रता है और जिसे लोग दुःख कहते हैं उसमे भी व्यग्रता है, क्योकि व्यग्रताका मूल कारण है बाहरी पर पदार्थोका आश्रय करके विकल्प बनाना। यह है आकुलताका मूल कारण। चाहे इष्ट पुत्र मित्रका उपयोग करके विकल्प बनाये, वहाँ भी व्यग्रता आयी, चाहे अनिष्ट तत्त्वका विकल्प करे वहाँ भी व्यग्रता। जहाँ कोई अनात्मतत्त्व हमारे उपयोगमे न बसे और केवल एक सहज ज्ञानानन्द स्वरूप यह आत्मतत्त्व ही उपयोगमे रहे तो इसे कहते है अनाकुलता। आकुलतामे कर्मोका आश्रव है, कर्मोका बध है और निराकुलतामे सहज आनन्दकी स्थिति, कर्मोका निर्जरण, कर्मोका सम्वर, श्रेयोमार्गमें गमन है। आकुलता मिटाना है तो तत्काल इसी समय लो, मिटा सकते हो। अगर अपनेको अनाकुल रखना है तो

उसका उपाय बताया कि अपने विशुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि करें याने इन विषय कषायोका ऊधम छोड दे और अपनेमे अन्त प्रकाशमान जो सहज चैतन्य स्वरूप है उस उस रूप अपनेको अनुभव करें कि मैं यह हूँ, आकुलता समाप्त हो जायगी, इसीको कहते हैं सम्वर तत्त्व।

१०३८–निज सहज अन्तस्तत्त्वके परिचय बिना सासारिक दुर्दशायें—

भेदविज्ञानसे निज शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हुई और शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे सम्वर तत्त्व बना। यह जीव अपने आत्मस्वरूपमे है, और जो आत्मप्रदेशमे कर्मोकी झलक हुई है, विपाकका प्रतिफलन हुआ है उसमे भेद नही मान पाता कि यह तो पर तत्त्व है और मैं चैतन्य स्वरूप हूँ। जैसे दर्पणके सामने कोई रगीन चित्र रखा है तो उसका प्रतिबिम्ब हुआ है दर्पणमें और, यहाँ हम समझते हैं ना, कि दर्पणमे जो यह रगीन फोटो आयी है यह दर्पणकी निजकी चीज नही है, यह उसकी फोटो है, मायने उसके सदृश यहाँ यह आकार बना है उसका निमित्त पाकर यहाँ, दर्पणकी यह निजकी चीज नही, तो जैसे यहाँ यह भेद कर सकते हैं, ऐसे ही अपने आपके आत्माके अन्दर भी तो भेद डालें। ये परभाव, रागादिक भाव ये सब अनात्मतत्त्व हैं। कर्मविपाकका सान्निध्य पाकर यह प्रतिफलन है। यह मैं नही हूँ मैं तो वह हूँ जो अपने ही स्वरससे जो कुछ हूँ चैतन्यमात्र, ऐसा यहाँ अगर भेदविज्ञान बने तो बाहरमें और आगेका सब काम सुगम है। अब देखिये—जो केवल जिन्दगी भरकी बात है वही कठिन लग रही है, बाहरमे कुछ करें, कुछ छोडे, यह तो चर्चा ही नही की जा रही है, सिर्फ यही कहा जा रहा है कि जैसे आप दर्पणको निरख रहे हैं कि यह फोटो दर्पणका निजका फोटो नही है, सामने आये हुए पदार्थका प्रतिबिम्ब है, ऐसे ही क्या यहाँ न जानना चाहिए, जाननेमे कृपणता क्यो ? जाननेमे आलस्य क्यो ? जो सच्ची बात है उसकी समझमे तो उमग रहा करती है। कोई लौकिक घटना आये तो वहाँ यह उमग रहा करती है कि वास्तविक बात है क्या ? कही कोई झगडा मच गया तो यह उमग रहती है कि आखिर यह झगडा हुआ क्यो ? कैसे हुआ ? जडमे बात क्या थी ? तो बाहरकी बातोमे तो हम सही जानकारी पानेकी उमग रखा करते हैं और अपने आपपर जो बीत रही हैं उसकी सही जानकारीके लिए उमग नही। मेरा स्वरूप सिद्ध समान है, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति अनन्त आनन्द, ऐसा मेरा स्वभाव है तो फिर यह हो क्या रहा ? यह कीडा भी बन गया, मनुष्य भी बन गया, यह क्या मच रहा है कैसे बन गया ?

१०३९–भगवान सहज अन्तस्तत्त्वका तिरस्कार करनेवाले विभावोकी प्रीतिके महान् अन्यायका फल—

अब समाधान सुनिये, भाई झगडेकी मूल जड यह है कि हमने अपने स्वभावकी सुध तो ली नही, और जो अनादिसततिसे चले आये ये कर्मविपाक हैं, कर्मप्रतिफल हैं उनको हमने आत्मरूप समझ रखा, बस लो यहाँ तो एक समझ भरकी बात थी, और झगडा इतना बडा बन गया कि पशु बने, पक्षी बने, नारकी बने, और और बने, झगडा इतना ऊँचा। अभी किसीसे जरासी मामूलीसी गल्ती हो जाय याने कुछ मानो शब्द कह दिया और उसपर इतना उत्पात मचे कि उसपर लाठी बरषाये तो लोग समझाते हैं कि भाई बात क्या थो। जरासी बात इससे निकल गई, थोडीसी गल्ती भई, पर इतना उत्पात न मचावो कि उसके प्राण चले जायें। एक कहावतमे कहते हैं ना—ककरीके चोरको कटार मारिये नही, ऐसे ही यहाँ लग रहा कि इस जीवने क्या किया ? अरे यहाँ कर्म प्रतिफलन हुए, ज्ञेय बने और उसमे यह मान लिया कि यह मैं हूँ, इतनी भर गल्तीका इतना बडा दड क्यो मिल रहा है ? नारकी बने, तिर्यञ्च बने, पशु पक्षी बने, तो मालूम होता है कि इसका गैर सम्बन्ध, खोटा

सम्बन्ध मामूली अपराध नही है। भगवान ज्ञानघन आनन्दमय सहज परमात्मतत्त्वके प्रति यह कितना बडा अन्याय है कि हम उसकी सुध ही नही लेते। उपेक्षा करते, और यहाँ उस स्वभावका तिरस्कार करने वाले इन विभावोको अपनाते। तो भला वतलावो कि भगवान परमात्मतत्त्वके तिरस्कार करने वाले विभावोसे यदि प्रीति की जाय तो इस निज भगवान आत्मापर कितना बडा अन्याय है। इतने महान अन्यायका यह दण्ड हुआ। बल्कि न्यायसचित वात यह है कि ये नारकी बने, पशु पक्षी बने, क्योकि इन्होने अपने भगवान आत्माका तिरस्कार करने वालोका साथ निभाया तो कल्याणका प्रारम्भ तव तक नही हो सकता जब तक कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धि न हो सके। शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो उसका उपाय है भेदविज्ञान। तो इस भेदविज्ञानकी अधिकाधिक भावना करना चाहिए।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ॥१३०॥

१०४०—ज्ञानमें ज्ञानकी मग्नता न होने तक भेदविज्ञानकी उत्कृष्ट भावनाकी आवश्यकता—

कहते हैं कि अनवच्छिन्न धारासे इस भेदविज्ञानकी निरन्तर भावना करना चाहिए। कब तक भावना करें जब तक कि परतत्त्वोसे एकदम हटकर यह ज्ञान ज्ञानमे मग्न न हो जाय। हमारा सहारा, हमारा शान्तिका आधार सिर्फ ज्ञान है। दूसरा कोई हमारी शान्तिका आधार नही, हमारा सहारा नही, इन वैभवोको तो ऐसा समझो कि अभी कुछ ही दिनो वाद छोडना पड़ेगा। अभी कितने दिन जीवनके शेष हैं इसका कुछ पता क्या ? न जाने किस क्षण यह जीवनलीला समाप्त हो जाय। अब थोडे दिनो वाद चूँकि यह जीवन समाप्त ही हो जाने वाला है। आजका पाया हुआ यह सारा समागम छूट जाने वाला है, तव फिर अभीसे मान लो कि आज जो कुछ हमारे पास धन वैभव, परिवार आदिकका समागम है वह हमसे छूटा ही हुआ है। कोई समय आयगा ना ऐसा कि जिस समय यह साराका सारा समागम छूट जायगा और इस आत्माको यहांसे अकेला ही जाना होगा। जिस शरीरको निरख-निरखकर हम अन्दरमे वडी प्रीति करते है, अभिमान करते हैं, अहकार रखते हैं यह शरीर इन मित्रो द्वारा, इन बन्धुओ द्वारा, जिनके बीच रहकर प्रीति करते हैं ये इसमें आग लगाकर जला देंगे, घरमे रखना पसद न करेंगे। एक चैतन्यज्योति भगवान जब तक इस शरीरमे वसा हुआ है तब तक ही लोग आदर किया करते हैं इस आत्माके निकल जानेपर फिर इस शरीरका कोई आदर नही करता। अभी थोडे ही दिनो वाद वह दिन आयगा जब कि यहांसे मरण करके जाना होगा। यहाँ कोई दावेके साथ कह सकता है क्या कि हम तो कोई १०० वर्ष तक जिन्दा ही रहेगे ?··· अरे एक पलका भी भरोसा नही। इससे अपना एक निर्णय बना लीजिये कि यहाँ मेरा कही कुछ नहीं है। देह भी मेरा नही है, मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। ऐसे इस भेदविज्ञानकी निरन्तर भावना कीजिए अनवच्छिन्न धारासे, रुके नही बीचमे, और तब तक करें जब तक कि यह ज्ञान परतत्त्वोसे च्युत होकर अपने ही ज्ञानमे प्रतिष्ठित हो जाय।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥ १३१॥

१०४१—भेदविज्ञानसे ही सिद्धिकी संभवता—

जितने भी जीव, भव्य अन्तरात्मा सिद्ध बने हैं वे इस भेदविज्ञानके बलसे ही शुद्ध बने हैं, याने आत्मा और कर्मविपाक अर्थात् यह ज्ञान और कर्मप्रतिफलन इनमे भेद किया कि यह मैं नही हूँ, याने

आत्मा और कर्मके एकत्वके आशयका छेदन कर दिया, मैं एक नहीं हूँ, मायने आत्मा और कर्म जो एकरूप बने वह मैं नहीं हूँ। कर्म कर्म हैं, आत्मा आत्मा है। तो जब यह आत्मा, यह अध्यवसान यह मिथ्याभाव दूर हुआ तो अब रागद्वेष भी उसके दूर होने लगे। किसमें राग करूँ? ये सदा मेरेसे चिपके रह सकने वाले नहीं। मेरे राग और द्वेषका अभाव बन गा है तो बस नहीं रहे कर्मोंके आश्रव थे रागद्वेष, तो रागद्वेष जब दूर हुये तो आश्रव न रहा। आश्रव न रहा तो कर्म भी न रहे। कर्म न रहेगे तो शरीर कहाँ से मिलेगा, शरीर न मिलेगा तो ससार क्या फिर? फिर तो यहाँ से मुक्ति होगी, जिसमे सदैव अनाकुलता रहेगी।

१०४२–विपत्तियोंका मूल शरीरात्मबुद्धि—

मोटे रूपमे पहिचान हो तो यो कह लीजिए कि सारी विपत्तियोंकी जड है शरीरमे आत्माका अनुभव करना, यह मैं हूँ। जब शरीरको माना कि यह मै हूँ तो दूसरोके शरीरको माना कि ये अपने हैं देखो है तो यह अन्तर? बाकी जितने मनुष्य दिख रहे ये सब मुझसे अन्य है, ये सब दूसरे हैं, ये सब गैर हैं। मगर इस अज्ञानी आत्माने इस नातेसे गैर माना कि यह जो शरीर है सो मैं हूँ और यह जो शरीर है सो यह गैर है, आत्मस्वरूपका बोध करके इसको गैर नहीं माना, और उनमे भी जो नातेदार हैं, जिनसे नातेदारी है, जिनसे कुटुम्ब परिजनका सम्बध है उन्हे कहते हैं कि यह मेरा है बाकी ये सब गैर हैं। उपयोग तो रहा इसमे कि हमारी नातेदारी है। नातेदारीका अर्थ क्या है? ना मायने नहीं, ते मायने तुम्हारे, दारी मायने सबध, याने तुम्हारे सबधी नही, ऐसा तो कह रहा है यह नातेदारी शब्द, और यह मानता है अपना सबधी, उनसे अपना लगाव बना रहा कि इनसे हमारी नातेदारी है, उन्हे माना अपना, बाकीको माना गैर, फिर जब शरीरको माना कि यह मैं हूँ तो शरीरकी उत्पत्तिके जो निमित्त हैं पिता माता, उनको माना कि ये मेरे माता पिता हैं, इस शरीर के साथ उस उदरसे जो शरीर और हुए उन्हे कहते है भाई बहिन। देखो शरीरका नाता है जितना यह सबध माना जाता है सबमे, जहाँ भी नाता मिलेगा। इस शरीरको उत्पन्न करने वाले पिताके साथ जो उत्पन्न हुए है वे हैं चाचा बुवा इस शरीरको रमाने वाला जो शरीर है वह कहलाता है स्त्री अथवा पति। सारे सम्बन्ध शरीरके नातेसे है। यहाँ इस आत्माके नातेसे कोई सबध नहीं।

१०४३–भ्रमके आधारपर देह राग आदिका जीवन—

जब हमने शरीरका सम्बध माना कि यह मैं हूँ तो सारे भ्रम बढ गए। और यह शरीरका नाता छोड़ दिया जाय भीतरसे तो ये सारे विकल्प बिखर जायेंगे। एक जगलमे स्याल था और उसकी स्यालिनी। तो स्यालिनीके गर्भ था, बच्चे होने को थे तो उसने कहा कि कौनसी जगहमे बच्चे पैदा होने चाहिए? तो एक शेरकी गुफा थी तो उसीमे वह ले गया। उस समय वहाँ शेर था नहीं। स्यालिनी बोली इस शेरकी गुफामे बच्चे कैसे रक्षित रह सकेंगे? तो स्यालने कहा कि देखो तुम कुछ चिन्ता न करो। हम सब काम बना लेंगे। तुम एक काम यह करना कि जब शेर यहाँ आवे तो बच्चोको रुला देना हम ऊपरसे पूछेंगे कि ये बच्चे क्यो रोते हैं? तो तुम यही कहना कि ये बच्चे शेरका मास खानेको मांगते हैं, बस इतना भर बोल देना, बाकी काम हम सब बना लेंगे। ठीक है। स्यालिनीने उस गुफामे बच्चोका जन्म दिया। जब शेर आया तो नीचेसे स्यालिनीने बच्चोको रुला दिया। ऊपरसे स्यालने पूछा ये बच्चे क्यो रोते हैं? तो स्यालिनी बोली ये बच्चे शेरका मास खानेको माँगते हैं। तो यह बात सुनकर शेर कांप गया, सोचा—अरे मेरा मास खानेको बच्चे माँगते

तो मालूम होता कि यह जो गुफाके ऊपर बैठा है वह मेरेसे भी बलवान है, यह सोचकर डरकर वह भग गया। इसी प्रकार दूसरा शेर आया वह भी डरकर भग गया। इसी प्रकारसे अनेको शेर आये और डरकर भाग जावे। एक बार सभी शेरोने मिलकर सलाह किया कि देखो अपनी तो गुफा है और कैसा इस बादशाहका अधिकार हो गया है। इसे भगानेका कोई उपाय करना चाहिए। तो उपाय समझमे आ गया। सलाह हुई कि उसको किसी तरहसे पकडकर मार दिया जाय। अब मार भी कैसे सके ? शिखर काफी ऊँची थी। सलाह हुई कि अपन सब एकपर एक चढकर उसके पास तक पहुँच लेगे और उसे पकडकर मार देगे। पर एकपर एक चढे कैसे ? सलाह हुई कि अपनमे मे जो लगडा शेर है वह ऊपर तो चढ नही सकता, वह तो रहे नीचे और बाकी शेर एकको पीठपर एक चढ चढकर उसके पास पहुँचकर पकड लेगा, ठीक है। सो लगडा शेर तो नीचे खडा हुआ और उसके ऊपर एकपर एक चढते गये, जब स्यालके पास पहुँचने ही वाले थे कि स्यालिनीने अपने बच्चोको रुला दिया। ऊपरसे शेरने पूछा ये बच्चे क्यो रोते हैं ? तो स्यालिनी बोली—ये बच्चे लगडे शेरका मास खाना चाहते है। अब यह बात सुनकर लगडा शेर डरा और नीचेसे खिसका तो बाकी सभी शेर भदाभद नीचे गिरे और भगे। तो जैसे लगडे शेरके निकलनेसे शेष शेर दूर हो गए, गिर गए ऐसे ही इस लगडे भ्रमके दूर होनेसे रागद्वेष कर्मबन्धन जन्म मरणके ये सारे सकट दूर हो जाते है। यह हम आपका भ्रम भी तो लगडा है, इसके पाये नही जम रहे, क्योकि जैसे दर्पणमे आया हुआ जो फोटो है वह फोटो लगडा है। वह दर्पणकी चीज नही है। वहाँ जम नही सकता। वह जब तक सामने चीज है तब तक वहाँ प्रतिबिम्ब है। सामने चीज न रहे तो प्रतिबिम्ब भी न रहे, ऐसे ही ये विभाव ये सब लगडे भ्रम है। यह भ्रम समाप्त होवे तो सारे सकट भी समाप्त हो सकते है। तो यह भ्रम समाप्त कैसे हो ? बस भेदविज्ञानसे। भेदविज्ञान किया जाय तो सारी सिद्धि बनेगी।

१०४४—सिद्ध होनेका मूल उपाय भेदविज्ञान—

जो-जो भी सिद्ध हुए तीर्थकर, श्रीराम, हनूमान, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदिक, उन्होने यह ही उपाय किया था कि आत्मस्वभाव और यह कर्मविपाक इन दोनोमे अन्तर करना और स्वभावकी ओर अभिमुख होना, इन विपाकोसे उपेक्षा करना, ऐसा भेदविज्ञान जब किया तो प्रधानतासे उपेक्षा हुई और शुद्ध आत्मतत्त्वकी रुचि प्रगट हुई। यह ही हितरूप है, यह ही आनन्दमय है। उसमे हित-रूपताका विश्वास हो, यह ही कहलाया शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि। जहाँ अपने उपयोगमे ऐसा सहज शुद्ध अतस्तत्त्व आया कि इसमे से आश्रव दूर हो गए, सम्वर हो गया, निर्जरा हो रही, कर्मक्षय हो जायगा। तो सिद्ध होनेका मूल उपाय तो भेदविज्ञान है। तो जितने भी अब तक सिद्ध हुए वे भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए। और, जितने अभी तक बधे हुए पडे है ये चारो गतिके जीव जो भी बधे हैं वे सब इस भेदविज्ञानके अभावमे ही बँधे हुए है, क्योकि कर्ममे स्नेह करनेकी प्रीति रही तो कर्मका आना बराबर जारी रहा। उसका विपाक आता, सो उसका फल चारो गतियोमे भ्रमण होता है। तो यह भ्रमण दूर हो सकता है भेदविज्ञानसे, इसलिए भेदविज्ञानके लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।

भेदज्ञानोच्छलनकरणाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भात्, रागग्रामप्रलयकरणात् कर्मणा सवरेण।
बिभ्रत्तोषं परममलालोकमम्लानमेकम्, ज्ञान ज्ञाने नियतमुदित शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

१०४५—भेदज्ञानके उच्छलनसे शाश्वतोद्योत ज्ञानका अभ्युदय—

मैं सहज आत्मा क्या हूँ और वाह्य तत्त्व क्या है, इसका जब भेदविज्ञान होता है तब शुद्धात्माका

उपलम्भ होता है, कैसा ? मैं एक चैतन्य", प्रकाशमात्र, केवल ज्ञानस्वरूप और कर्म जड है, देह जड है, कर्मका प्रतिफलन अशुद्ध उपयोगमे अबुद्धिपूर्वक अन्धकारमय ज्ञेयाकार अवस्थित है, लेकिन वह औपाधिक है अतएव पर है, इन सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र मैं हूँ, ऐसी भेदविज्ञानकी जब तरग उठी, उमग हुई तो उससे शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति हुई, यह भेदविज्ञानका फल ही है कि परभावकी उपेक्षा होना और निजभावमे रति होना, और जब शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हुई, अपने आपमे अपनेमे कि मैं यह ज्ञानमात्र तत्त्व हूँ, मेरा किसी भी अणुसे रच भी सम्बध नही, तब मेरे रागसमूह सब दूर हो गए, अब किसी भी अन्य पदार्थमे इष्टपनेकी बुद्धि नही रही, तो रागसमूहके प्रलय होनेसे क्या हो गया ? कर्मोका सम्वर। अब नवीन कर्म नहीं आ रहे। जो जिस पदवीमे है उसके अनुसार नाना प्रकृतियाँ नही बँध रही हैं, और ऐसा कारण है कि निर्मल परम सतोष उत्पन्न होता है, उस समयमे ऐसा ज्ञान प्रकट होता है अर्थात् यह ज्ञानस्वरूप इस प्रकारके अनुभवनमे आता है कि इस जीव को पूर्ण सतोष हो जाता है। तो परम सतोषको उत्पन्न करता हुआ निर्मल एक ज्ञान ज्ञानमे उदित होता है और निरन्तर वही ज्ञान प्रकाशित रहता है। ज्ञानी भावना भाते हैं कि हे प्रभो मैं सिद्ध भगवान होऊँ तो सिद्ध भगवानके मायने क्या है ? सिद्ध कोई अलग चीज नही है। मेरा जो आत्मा है, जिसपर कर्मोका आवरण है, रागद्वेषका आवरण है, ऐसा जो यह मेरा अन्तस्तत्त्व है, भगवान आत्मा है, तो इसपर से यह आवरण हट जाय, शरीरका सम्बन्ध छूट जाय, रागद्वेष विभाव रच भी न आये ऐसी हमारी स्थिति हो, याने मैं खालिस अकेला रह जाऊँ। जो मैं स्वय सहज हूँ ऐसा रह जाऊँ बस ऐसी स्थिति होनेका नाम है सिद्ध भगवान होना। तो जब हूँ मैं, आत्मा हूँ ऐसा ही सहज स्वरूपमे व्यक्त हो गया तो उसके बाद फिर मुझमे विभावोकी तरग न होगी। फिर आनन्दमे भग न होगा। वह आनन्द सदा रहेगा, ससारके सकट सदाके लिए छूट जायेगे। ऐसा एक अपने आपमे अपने स्वभावमे अनन्त बल प्रकट कर लिया प्रभुने इसलिए सर्वोत्कृष्ट अवस्था है तो सिद्धप्रभुकी अवस्था है। सो पहले बताया ही गया था कि सिद्ध भगवन्त भेदविज्ञानके प्रतापसे हुए।

१०४६–आत्मार्थी पुरुषका आत्महितार्थ पौरुष—

हम आप इस जीवनमे क्या करते हैं ? बाहर तो कुछ करते काम है नही। किस चीजको बनाऊँ, किसको सुधारूँ, किसको बिगाडू, किससे राग, किससे विरोध। बाहरमे क्या करूँ जिससे मेरा उद्धार हो ? इसका उत्तर बाहरमे तो नही रखा है, क्योकि बाहरके सब पदार्थोका प्रसग तो जीवको आकुलताका ही साधन बनता है। गृहस्थ हैं, करना सब पडता है, सोचना भी पडता है, तृष्णा भी आती है, भावोमे कमी आती है, परिस्थिति है। अगर अतरगसे उन परभावोमे मेरेपनका भाव न रहे और यही दृष्टिमे रहे कि यह मैं आत्मा समस्त परद्रव्योसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, यह मैं ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपमे मग्न होऊँ याने ज्ञानमे मात्र ज्ञानस्वरूप ही रहे, बस यह ही मेरे उद्धारका उपाय है जैसे कि हमें ज्ञानमे सारे पदार्थ ज्ञात है, भीट ईंट पत्थर ये सब चीजे, पशु पक्षी ये सब ज्ञानमे आते हैं, तो ये सब ज्ञानमे आये, शरीर कर्म जैसे ये ज्ञानमे आ रहे ना, ऐसे ही मेरे ज्ञानमे, मेरे आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप आ जाय, बस इसीके मायने तो सम्यक्त्व है, इसीके मायने मोक्षमार्ग है, अब इस ज्ञानस्वरूपमे ही ज्ञान मग्न हो सके ऐसा उपाय साक्षात् तो ज्ञान ही है, ज्ञानकी ही क्रियासे हम अपने ज्ञानमे मग्न हो सकते हैं, अगर ऐसा बन नही पा रहे हैं, स्थिति ऐसी है तो ऐसी स्थितिमे हम देवपूजा, गुरूपास्ति, आदि षट्कर्म करते हैं, क्योकि इनमे पात्रता तो रहती, उस गुण-

विकासका गुणगान तो रहता, याने आत्मस्वरूपका जो शुद्ध विकास है वही कहलाता है अरहत और सिद्ध, उनका चित्तमे निवास रहता। मैं मेरा ज्ञान स्वरूपमे मग्न रहे, ऐसी स्थितिकी पात्रता हम षट् कर्तव्यो द्वारा बनाये रहते हैं, मगर सब स्थितियोमे प्रतीति यह रहना चाहिए कि शुभाशुभ भावोंसे निराला इस कर्मके प्रभावसे निराला, देहादिक सर्व जगसे निराला यह मैं ज्ञानएक ज्ञानमात्र, जाननमात्र हूँ। उस ज्ञानके उच्छलनमात्र मैं आत्मतत्त्व हूँ, उस आत्माका किसी भी अन्य आत्मासे रच भी सम्बध नही, ऐसी एक भीतर अपनी भावना जगे और उसीकी ही धुन रहे तो देखिये उस अपने आपके सही कर्तव्यसे बहुत ही जल्दी निकट ही कालमे कुछ ही भवमे वह स्थिति आयगी कि जिसका हम गुणगान करते है। "अरि मित्र महल मसान कचन काँच निन्दन थुति करन" सबमे मित्रताका परिणाम हो तो धर्मलाभके लिये सभी सुगमताये प्राप्त होगी।

१०४७—ज्ञानमात्र आत्मामे विकल्प तरगोके उदयपर आश्चर्य—

देखिये भीतर यह ज्ञानमात्र आत्मा कैसा तरग उठाये है। रागद्वेषकी कल्लोलमे कैसी लहर उठा करती है कि वह रचमात्र भी चैन नही पाता। आराम तो उस स्थितिका है जहाँ रागद्वेषकी कल्लोल जरा भी न रहे ऐसी स्थिति होती शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमे। बाकी बाहरी पदार्थोंका आश्रय करनेसे, उपयोग करनेमे जो काम हो रहे हैं वे ससारके ही तो काम होते है। अगर ससारका ही काम करते रहना है तो बाहरी पदार्थोंमे दृष्टि खपाना चाहिए, क्योकि पदार्थका लगाव रखनेसे ससार बढता है। जान लो क्या विधि है, ससार बढनेकी विधि है पर पदार्थका लगाव। और, मोक्ष पानेकी विधि है अपने निज अतस्तत्त्वमे अपने उपयोगको स्थिर करना। अब इसका मार्ग—जिस मार्गपर अच्छा चले तो भलाई करनेवाला हो, सो मात्र अपने आपका सम्पर्क है। बाहरी पदार्थोंका सम्पर्क यह हमारे आत्माकी भलाईका कारण नही है। तो मूलमे बात यह आयी कि भेदविज्ञान करना। भेदविज्ञानके उच्छलनसे शुद्धतत्त्वकी प्राप्ति होती है। और, शुद्धतत्त्वकी प्राप्तिसे विकार दूर होता है। विकार ही तो विपत्ति है। विपत्ति और क्या है? हम आप सब बैठे है, एक-एक सब आदमी हैं। सब जुदे-जुदे देह है। इनका अभी यह बाह्य आचार है। जहाँ देह है वही आप है। यहाँ भी तो आप अकेले ही तो हैं, अपने आपमे केवल आप केवल है, दूसरा कोई नही है, बस यह ही अकेला अपने देहमे विराजा हुआ कल्पनाये करके एक जाल रचता हैं। बाहरमे यह कुछ नही करता। जो हो रहा है जिस विधिसे बन रहा है, वह चल रहा है, मगर अपने आपको करतूत क्या है अन्दरमे, कि अपनी ही जगह बैठे-बैठे एक विकार करके, विकल्प करके उपयोगको यहाँ वहाँ चलित करके अपने आपमे क्लेश सह रहा है। वास्तविक बात जो घट रही है, यहाँ यह घट रही है, कोई दूसरा दुःखी करने वाला नही। कैसे कोई दुःखी कर सकता? वह अपनी चेष्टा करेगा। पर दुःखी होगे हम, तो अपने आपमे अपनी कल्पनाये बनाकर दुःखी होगे, दूसरा कोई दुःखी नही किया करता? आप कहेगे—वाह अगर दूसरेने लाठी मार दी जोरसे तो देखो दूसरेने दुःखी किया, तो यह बतलावो कि सुकौशल मुनि, सुकुमाल मुनि इनको शेरने भखा, स्यालिनीने खाया, पर इन्होने तो ऐसा अनुभव नही किया कि इसने मुझे दुःखी किया। यहाँ दुःखका कारण यह है कि हम अपने भीतर कल्पनायें पूरते रहते है यहाँ उसने इस शरीरको माना मैं और शरीर पर चली लाठी, सो यह भीतर कल्पनाये करता है, इसने मुझे मारा। यद्यपि वर्तमानमे ऐसी कमजोरी है कि यह आनेको भूल जायगा, देहको आपा मानेगा, दुःखी होगा मगर सिद्धान्त तो न बन जायगा ऐसा कि कोई इस शरीरपर लाठी प्रहार करे तो वह इसको दुःखी

करने वाला कहलायेगा । भले ही कोई मोही अज्ञानी शरीरमे मैं की कल्पना करने वाला अपनेको दु खी मानता है, वह उसकी एक वलिष्ट विशिष्ट अपराधकी वात है, पर यह सिद्धान्त न . वन जायगा कि कोई दूसरा जीव किसी दूसरेको दु खी कर सकता ।

१०४८—निमित्तनैमित्तिकताका सिद्धान्त—

यह कर्मका उदय तो जीवविकारमे निमित्त कहलाता है, मगर दूसरा जीव हमारे दु खके लिए निमित्त भी नही कहलाता है । यह कहलाता है आश्रयभूत कारण, आश्रयभूत कारण और निमित्तमे अन्तर है । निमित्तके बारेमे नो सिद्धान्त वना करता है, जैसे क्रोध प्रकृतिका उदय होनेपर क्रोध कषाय जगती है। उस क्रोध प्रकृतिका उदय न हो तो क्रोध कषाय नही जगती, इसका तो वनेगा सिद्धान्त, मगर आश्रयभूत कारणके बारेमे सिद्धान्त न वनेगा कि नौकर या अमुक पुरुष सामने आये तो मुझे दु ख होता, यह सामने नही आता तो दु ख नही होता, ऐसा जगतके जीवोके प्रति सिद्धान्त तो न वन जायगा । निमित्त कारणमे तो सिद्धान्त बनता है, पर आश्रयभूत कारणमे सिद्धान्त नही बनता । हमने मान लिया कि यह विरोधी है तो हम इसमे दु ख मानते हैं । तो वह हमारी कल्पनाकी वात रही । जगतमे प्रत्येक जीव किसी अन्य जीवमे किसी प्रकारका कष्ट पहुँचा ही नही सकता । निमित्त है कर्मोदय और अशुद्ध है उपादान । यहाँ ऐसी वैसी कल्पनायें बनाते हैं और दु खी होते हैं ।

१०४९—स्वरूपानुरूप दृष्टि करनेका अनुरोध—

जब ऐसा जगतका रूप है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है और अपने अपने स्वरूपमे है, किसी अन्य के प्रदेशमे नही है तो यह एक अपने आपमे ऐसा ही मानकर क्यो न रह जाय कि मैं मुझमे हूँ, मैं मेरेसे वाहर नही, मेरेसे वाहर मेरा कुछ नही, पूरा यह रचित यह आत्मतत्त्व मैं अपने आपमे स्वय भरा पूरा आनन्दमय यह स्वय हू, ऐसा अपने आपमे निर्णय करके यहाँ ही ध्यान रखना, यहाँ ही दृष्टि और आलम्बन हो वस यह हो एक अपने उद्धारकी वात है, ऐसा होनेके लिए हमे स्वाध्याय चाहिए, सत्सङ्ग चाहिए, दृढता चाहिए, ये सभी वाते उपयोगी है । और इसके लिए कुछ ही समय नियत न हो कि मुझे इतने दिन ही करना । यह काम तो जीवनभर करना है और एक भव नही, जितने भव ससारमे शेष है, सबमे यह ही काम करना । भला अनादि कालसे जो बासनायें बनती है उन सारी वासनाओ को, उस सारे दद फदको नष्ट करनेके लिए हमे कई भवोमे भी पुरुषार्थ करना पडे तो उसमे ऊब न आयगी । क्योकि चल तो रहा मिश्री ना ? अपने स्वभावका अनुभव हो और उसकी प्रतीति हो तो रहा ना अपनेमे सब कुछ, अब तकलीफ क्यो होगी ज्ञानी पुरुषको ? किसी भी स्थितिमे हो, नरकमे भी ज्ञानी नारकी हो सकता है । उसे ज्ञान हो गया, सम्यक्त्व हो गया, ७ वे नरक तकके वासियोको सम्यक्त्व हो जाता है । जहाँ सम्यक्त्व हुआ और अपने सहज ज्ञानस्वभावका निर्णय वना, तो मरने मारने जैसी गतिस्थितियोमे भी रहकर वे भीतर प्रसन्न रहा करते हैं, क्योकि उसे वह मूल मिल गया जो आनन्दमय है, मगर परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि ये सब वातें गुजर रही हैं । ऐसे ही हम अपने आपके अन्त मे, ज्ञानस्वरूपमे यह अनुभव करे कि यह मैं हूँ, तो प्रथम हुआ भेदविज्ञान । उस भेदविज्ञानके उच्छलनमे हुई अपने शुद्ध आत्माकी प्राप्ति याने खालिस आत्मा, देहसे निराला एक यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा, उस ज्ञानमात्र आत्माकी प्राप्ति हुई और रागसमूहका प्रलय हुआ, कर्मोका सम्वर हुआ, निर्मल और परम सतोषको धारण यह कर रहा, शुद्ध ज्ञानप्रकाश जगमगाने लगा । स्वानुभवमे जो आनन्द आता है वही परम सतोष है, याने ज्ञानमे और कुछ न आया हो, ज्ञानस्वरूप

ही समाया हो, जिससे कि एक साधारण स्थिति बन जाती है निर्विकल्प स्थिति ऐसे ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वमे अपने निवासोकी स्थिति वने तो वहाँ परमसंतोष और परम आनन्द प्रकट होता है। तो ऐसे आनन्दको धारण करते हुए ज्ञान बस अब निरन्तर उदित रहता है।

१०५०–सर्वोत्कृष्ट उपार्जन ज्ञानानुभव—

सबसे ऊँची कमाई अपने आपके स्वरूपमे, अपने आपका बोध होना है। और यह चीज बनती है तब जब कि भीतर शुद्धता हो, किसी प्रकारका पक्ष न हो, मुझे आत्महित करना है केवल यह ही एक शुद्धभावना हो और कभी पार्टी आदिका कोई प्रसग चितमे न आवे, ऐसी स्थिति बने तो स्वानुभवका पात्र बनता है और जिसके स्वानुभव है वह नियमसे मोक्ष जायगा। भले ही कोई ऐसा पूर्वकृत पापका उदय आये कि सब कुछ बाह्य चीजें छूट जाये। तो यह निश्चित है कि जिसके एक बार सम्यक्त्व हुआ है वह नियमसे मोक्ष जायगा। मुक्त हो सब झझटोसे अलग हो फिर उसे किसी भी प्रकारकी अशान्ति न रहेगी। तो ऐसे निर्मल आलोकमय परम सतोषको धारण करते हुए अब यहाँ ज्ञान प्रकट होता है सो वह शाश्वत उदित रहता हुआ ज्ञान प्रकट होता है। आऊँ उतरूँ रमलूँ निजमे। मैं बहुत दूर तक चला गया विकल्पो द्वारा, कहाँ कहाँ उपयोग भटकता रहा, अब वापिस आऊँ, मायने उनमे मैं न भटकूँ। वह भटकना छोडकर मैं अपने आपके स्वरूपके अन्दर आऊँ मायने अपने ज्ञानमे अपनेको वासित कर लूँ, रम जाऊँ और अपने आपमे रमण कर लूँ, वहीं रम जाऊँ, काम यह करना सो निजको निजमे दुविधा ही क्या ? ज्ञानी ज्ञान कर रहा है, ज्ञानमे ज्ञान कर रहा है, उसमे इसको कोनसा विघ्न है ? बस ऐसी बात जहाँ हुई कि निज "अनुभवरससे सहज तृप्त" अपने आपके स्वतत्त्वका अनुभव हुआ, मैं अनुभव रसमे सहज तृप्त हूँ, ऐसा यह मैं सहज आनन्द स्वरूप वाला परमात्म तत्त्व हूँ। अपनी ऐसी दृष्टि बने कि जो दर्शनज्ञानस्वरूपी है, जिसका स्वरूप जानन देखन प्रतिभास है, यह अन्य पदार्थमे नही मिल सकता। यह मैं स्वतत्र हूँ, ऐसी अपने आपके विषयमे प्रतीति रहे, यह है एक अतस्तत्त्वमे तत्त्वका मिलना, जहाँ कर्मोंका क्षय होता, कर्मोंका सम्वर होता। इस प्रकार यह सम्वर अधिकार पूर्ण हो रहा है। तो एक यह नाटकके रूपमे इसकी टीका की गई है। यह सब देखा जा रहा है कि इस उपयोग भूमिपर जीव अजीव अपना भेष बनाकर आये थे। जब उनका सही स्वरूप पहिचान लिया तो वह अपना भेष छोडकर निकल गया। ये कर्म पुण्य पापके रूपमे आये थे। जब इनका भेद जान लिया तब यह भी अपना भेष छोडकर निकल गया। आश्रवतत्त्व इस उपयोग भूमिपर आया था याने जानकारीमे आ रहा था तो उसकी असली लीलाकी जानकारी हुई तो निकलना ही चाहिये, लो, आश्रव भी निकल गया। तो क्या सम्वरको भी यो ही निकालना चाहिए ? यहाँ निकलनेकी बात नही कही जा रही है। याने ज्ञानमे वह कौनसा तत्त्व आया बस यह ही बात है यहाँ, याने यहाँ तक सम्वर तत्त्वका विचार था और अब सम्वर तत्त्व यहाँसे निकला मायने उसका विचार हो चुका अथवा सम्वर तत्त्व भी पर्याय है सो शुद्धात्मोपलम्भ होनेपर सवर हो ही रहा है, किन्तु उपयोगमे शुद्धात्मा है, सवर नही, यो सवर निष्कान्त हुआ। अब निर्जरा तत्त्वका विचार चलेगा इसलिए भी कहा है कि यह सम्वर तत्त्व निष्कान्त हुआ।

अथ निर्जराधिकार

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरा धृत्वा परं सवरं, कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा, ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१३३॥

१०५१—उपयोग मंचपर निर्जरातत्त्वका प्रवेश—

जैसे नाटक देखना है तो अपने ज्ञानमे आया, इसी तरह तो देखना जानना कहलाता है। तो जैसे बाहरका नाटक अपने उपयोगसे जाना इसी तरह अन्दरका नाटक अपने उपयोगसे जाना जा रहा है, और यह अन्दरका नाटक जो चल रहा है उसमे यह पूछा जाय कि नाटक होता है तो किसी आधारपर तो होता है। जमीन हो, चबूतरा हो, मच हो"। तो यहाँके नाटकका मच कौन है? जहाँ कि यह परखा जा रहा है? वह मच है यही उपयोग जहाँ नाटक हो रहा है, वही पहिचान करने वाला बन रहा है तो इस तरह जीव अजीव, पुण्य पाप कर्मभेष, आश्रव, सम्वर, इन सवकी जानकारी हुई और अब इस उपयोगभूमिपर, मचपर निर्जरातत्त्वका प्रवेश होता है। अर्थात् निर्जराके बारेमे तथ्यकी जानकारी की जानी है। जब सवका मूल ज्ञानमे होता है तो यह सब भेष छूट जाया करता है, निर्जराका प्रवेश कब हुआ? किस बलपर हुआ, वह है सम्वरका बल। वास्तविक निर्जरा तो जिस बलपर सम्वर होता है उसी बलपर चलती है, और वह है एक शुद्धस्वरूपका आश्रय। इस सम्वरकी बात अभी-अभी निकली है। कैसे सम्वर बना कि रागादिक आश्रवका निरोध करके इसने अपनी धुरा धारण की थी, एक अतुल सामर्थ्य है, जिसमे एक उत्कृष्ट सम्वर हुआ, जिसने कि आगामी समस्त कर्मोंको दूरसे ही रोक दिया।

१०५२—संवरपूर्वक निर्जराका महत्त्व—

सम्वर मायने आते हुएको रोकना नही है, किन्तु आना ही नही, इसका नाम है सम्वर। कर्मोंमे कर्मत्व आ रहा हो और उसे रोके, सम्वरकी यह बात नही है, किन्तु कर्मोंमे, कार्माण वर्गणामे कर्मत्व आया ही नही। जिन-जिन प्रकृतियो वाला कर्मत्व नही आया उन उनका सम्वर कहलाता है। जब कभी यह बात कही जाती कि आश्रवके निरोधको सम्वर कहते हैं तो इसका अर्थ यह नही कि आनेको रोकना। आना ही नही, सो सम्वर है, कोई ऐसी मुठभेड वहाँ नही चलती कि कर्म यहाँ आ रहे और रोके जा रहे, इस तरहकी मुठभेड नही है, किन्तु उन कार्माणवर्गणाओमे उस-उस प्रकृतिरूपसे कर्मत्व आता ही नही यह ही अर्थ है दूरसे रोक दिया इस शब्दका। कही मुठभेड करके रोकनेकी बात नही है। तो सम्वर तत्त्वने रागादिक आश्रव रोके और आगामी कर्म रोके। एक ऐसी प्रतिष्ठा की। तो वह किस बलपर? शुद्ध उपयोगके बलपर। उपयोग ज्ञानके किस स्वभावसे परिणमे कि वहाँ अनर्थ बने और किस स्वभावसे परिणमे कि वहाँ अनर्थ न बने। यह सब एक ज्ञानकी कलापर ही सब निर्भर है। मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, तो इस ज्ञानकी कलापर ही सर्व कुछ निर्भर है। यह ज्ञान जब कर्म-स्वभावरूपसे परिणमता है तब तो आश्रव होता। जब यह ज्ञान ज्ञानस्वभावसे परिणमता तो आश्रव का निरोध होता।

१०५३—परिणतिकी अन्यनिरपेक्षताका तथ्य—

यद्यपि आश्रवका निमित्त उदयमे आया हुआ प्रत्यय याने उदयागत कर्म है, लेकिन कर्मोंमे नवीन कर्मोंके आनेका निमित्तपना आये, उसका निमित्त यह रागभाव है याने उदयमे आये कर्म दो बातोंके कारणभूत बने, बने निमित्त कारणमात्र। कौनसी वे दो बातें हैं (१) रागादिक भाव आये और (२) नवीन कर्म आये, मगर नवीन कर्मोंके आनेमे द्रव्यप्रत्ययको निमित्त बननेका निमित्त कारण रागभाव है याने प्रकृतिके उदयका कार्य ही नवीन कर्म प्रकृतिके आश्रवके निमित्तभूत इसी उदयागत द्रव्यप्रत्ययके निमित्तत्वका निमित्त कारण बन जाता है। यह सब निमित्त कारणकी बात है। उपादान

कारण किसे कहते है ? जिसमे जो परिणाम है सो उसका वह उपादान है। और उपादान दृष्टिसे कोई भी पदार्थ किसी दूसरेका करने वाला नही है, मगर विकारकी स्थिति तब ही बनती है जब अनुकूल निमित्तका सान्निध्य हो और उस समय भी परिणमा तो यह अपनी ही परिणतिसे। इससे और बडा कौनसा उदाहरण होगा जहाँ स्वामी समतभद्राचार्यने यह बताया कि अनात्मार्थं विना रागै शास्ता शास्ति सतो हितम्। ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरज किमपेक्षते। उदाहरणमे कहते है कि शिल्पीके हाथसे स्पर्श होनेके बाद वे ध्वनि करते हुए मृदग क्या ध्वनिरूप परिणतिमे किसीकी अपेक्षा कर रहे हैं ? निमित्तसन्निधान मे उपादानने अपना प्रभाव उत्पन्न किया। निमित्त सन्निधान बिना उपादान अपना प्रभाव नही बना पाता, तिसपर भी उपादान अपने विकाररूप परिणम रहा, मिल रहा सान्निध्य, परिणम रहा उपादान, पर उस परिणतिमे, मात्र उस क्रियापरिणतिमे तो किसीकी भी अपेक्षा नही है। दूसरी बात, इसके साथ चिपककर दो मिलकर एक काम कर दें, ऐसा नही है। प्रत्येक पदार्थ अपना एक ही काम कर पाता है। तो जब जीवमे राग हुआ, वहाँ अशुद्ध निश्चियसे देखे तो केवल वही-वही दीखा, राग हुआ, रागी हुआ, रागपरिणत ही जीव है, पर होता जिस विधिसे वह बात बनी हुई है। तो कर्मस्वभावसे ज्ञानके परिणमनोका निमित्त पाकर कर्मका आश्रव हुआ। फिर कर्मका सम्वर कैसे होता ? ज्ञान स्वभावसे ज्ञान परिणमे तो सम्वर हो जाता है। तो इस प्रकार सम्वरने अपना धुराधारण किया और समस्त आगामी कर्मोंका निरोध किया। अब इस समय जो पहले बाँधे हुए कर्म हैं उनको जलानेके लिए निर्जराका उदय होता है, जिससे कि आवृत हुई ज्ञानज्योति याने जिसपर आवरण पडा था ऐसी ज्ञानज्योति रागादिक भावोसे मूर्छाको प्राप्त नही होती। ज्ञानज्योतिपर आवरण साक्षात् तो विभाव का है और उस विभावका निमित्त कारण कर्मविपाक है। तो कर्मविपाकका यह आवरण जब तक है तब तक यह ज्ञानज्योति आवृत है, हुआ वह अपने आपकी एक सामर्थ्यसे जैसा जो कुछ बना हुआ है, मगर जब ज्ञानज्योति कमजोर है, ज्ञानज्योति जब अपने आपमे अपने स्वरूपको निहारनेमे असमर्थ है तो यह जीव रागादिकसे मूर्छित हो जाता है, रागविभावमे लग जाता है, अपने स्वभावको भूल जाता है और इस तरह जन्ममरणकी परम्परा बढाता है।

१०५४—एक परिणाम होनेपर भी शक्तिभेदसे विभिन्न कार्योंका निमित्तत्व—

अब यहाँ निर्जराका प्रवेश हो रहा सम्वरका एक बल पाया, उसी शुद्धोपयोगका जहाँ जितना आंशिक बल है, निर्मलता है, वीतरागता है, जितने अशमे राग नही है उतने अशसे सम्वर है। परिणाम यद्यपि एक कालमे एक होता, मगर उस परिणामकी रचना कैसी है कि उसमे कुछ रागभाव है और कुछ रागका अभाव है, ऐसी स्थितिका वह राग है। तो जितने अशमे राग नही है उतने अशमें बधन है। यह राग आग इस जीवको जला रही है, इस आगके बुझानेका उपाय, इस रागको दूर करनेका उपाय एक ज्ञानका ज्ञानस्वभावसे परिणमन होनेकी स्थितिमें जो एक सम्वरभाव प्रकट होता है वह समतामृत उस राग आगका शमन कर देता है। ऐसी स्थिति कब प्राप्त हो, ऐसी अपनी अन्त भावना करना चाहिए, जिसके प्रतापसे किसी परिस्थितिमें कदाचित् भोगोपभोगका एक सयोग भी बना हुआ हो, तो भी भीतर जो स्वभावका आश्रय है, प्रतीति है उसके बलपर वह दो टूकपना चल ही रहा है, वहाँ निर्जरा चल ही रही है।

१०५५—सम्यक् ज्ञानप्रकाशमे भ्रमका अनवसर—

जैसे डठलसे फल टूटकर गिर जाय तो वह फल उस डंठलमे चाहे कितना ही जबरदस्ती करके

चिपकावे, पर वह उस डठलमें बँध नहीं सकता, इसी प्रकार ये विभाव एक जीव भावके टठलमें बधे थे पहिले हमारे भ्रमसे और जब अन्त भेदविज्ञान हुआ और ये अलग हुए, ज्ञानमें आया कि ये विभाव तो मेरे स्वरूप ही नहीं, मैं तो एक चैतन्य मात्र हू, तो ऐसा ज्ञान जग जानेपर क्या फिर वे विभाव इस जीवभावमें बँध जायेंगे ? याने यह ज्ञानी फिर क्या यह जान सकेगा कि यह मैं हू ? जब भ्रम खतम हो जाता है तब भ्रमका व्यवहार, भ्रमवाली बात कैसे मनमें बने ? जैसे दूरसे रस्सीको साँप जान लिया, भ्रम हुआ और उस भ्रममें घबडा गये, अधीर हो गए, तो हो गए, पर कोई उपाय बने, कोई साहस बने, कोई नजदीक पहुचे और वहाँ समझ बने कि यह तो कोरी रस्सी है, रस्सीको उठाकर देख लिया कि यह रस्सी है, अब वह भ्रमका व्यवहार कैसे बन सकेगा ? कैसे यह मान सकेगा कि यह साँप है ! क्या वह मान पाता है ? नहीं। तो इसी प्रकार जब आत्मस्वभावका अनुभव हुआ चूँकि विभावका भेदन कर दिया, ठीक सही समझ गए कि ये विभाव आकुलताके लिए हैं, ये विभाव मेरे स्वरूप नहीं, तो अब वे जीवके स्वरूपमें कैसे बन जायेंगे ? जान लिया सो जान लिया, बस जान लिया। इससे अधिक और कोई मतलब न रहे तो उसकी जो अपनी अतरग समृद्धि है वह उडिल उडिल कर प्रकट हो जाता है। बस जान लिया।

१०५६–ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें अलौकिक समृद्धिलाभ—

एक कथानक है कि कोई सेठ आया मुनिराजके पास। तो मुनिराजने पूछा कहो भाई तुम्हारा देवदर्शनका नियम है कि नहीं ? तो सेठ बोला—महाराज हमारे नियम नहीं है देवदर्शन का, हमारा घर मदिरमें वडी दूर पडता है, हमसे यह नियम न निभेगा। तो फिर मुनिराज बोले–अच्छा तुम्हारे घरके सामने क्या है ? कुम्हारका घर। तुमको सबसे पहले अपने घरसे कौनसी चीज दिखती ? "महाराजजी मुझे खाटसे उठते ही सबसे पहले कुम्हारके द्वारपर बँधे हुए झोटेका चाँद दिखता है। अच्छा तो उसीका नियम ले लो। उसे देखकर खाना पीना किया करना। "हाँ महाराज यह नियम तो चल जायगा, इसका मैं नियम लेता हूँ। अब वह सेठ अपना प्रतिदिन नियम निभाता रहा। एक दिन हुआ क्या कि वह कुम्हार अपने झोटेको और दिनोंसे एक घटा पहले ही लेकर खानमें चला गया। सेठने देखना चाहा झोटेका चाँद तो वह दिखा नहीं। पता लगाकर सेठ उस खानकी ओर चला। वहाँ उस झोटेके चाँदको देखा उमी समय घटना घटी कि कुम्हारको मिट्टी खोदते हुए मे एक अशर्फियोंसे भरा घडा मिल गया। उसने खडे होकर देखा कि कोई देख तो नहीं रहा। यदि कोई देख लेगा तो सरकारसे शिकायत करके छिनवा देगा, यह सोचकर जब खडा हुआ, देखनेको तो वह सेठ दिख गया। कुम्हारने समझ लिया कि सेठने अशर्फियोंसे भरा हडा देख लिया, यह सरकारसे शिकायत करके छिनवा देगा, सो सेठजी को आवाज दिया "अरे सेठजी जरा बात तो सुनो, तो सेठ बोला बस देख लिया। अरे सुनो तो सही, 'बस बस देख लिया।' यहाँ ध्यान देना कि सेठका तो कहनेका प्रयोजन था कि मैंने झोटेका चाँद देख लिया, पर कुम्हारने समझा कि अशर्फियोंका हडा देख लिया। खैर सेठ तो अपने घर पहुचा। थोडी ही देरमें वह कुम्हार आधी अशर्फिया लेकर सेठके घर पहुचा और बोला लीजिए सेठजी ये अशर्फियाँ। इनकी चर्चा किसीसे न करना। वहा सेठने सोचा देखो झोटेके चाँदके दर्शनका नियम लेनेका यह चमत्कार देखनेको मिला, यदि देवदर्शनका नियम लिया जाय तो उसका न जाने कितना वडा चमत्कार देखनेको मिल जाय सो यह भी नियम लिया यह तो लौकिक बात है। यह तो कोई वास्तविक फलकी बात नहीं। यदि अन्दर

मे अन्तस्तत्त्वको अगर जान लिया और वाह्य वस्तुओंके प्रति केवल इतनी ही वात चले कि वस जान लिया, जो कुछ है पुद्गल, जीव, जो कुछ भी स्वरूप है, वस जान लिया, देख लिया, इतनी ही वात तक रहे कोई और इससे आगे न वढ़े, राग और द्वेपकी तरगमे न वढे तो उस जीवको अपने आपके भीतरकी समृद्धि मायने निर्मलता, आनन्द, ज्ञानप्रकाश, प्रतिभास, ज्ञानका विकास, ज्ञानके ही सव नाम समझ लीजिए परम समृद्धिका लाभ होगा। आनन्द क्या ? वही ज्ञानविकासकी वात। और शक्ति क्या ? अनन्त शक्ति, सवकी वात उस ज्ञानके वैराग्यके विकासमे है, तो यह समृद्धि उसके उत्पन्न होती है। कही रागद्वेपकी भावना न वसाये और मात्र जाननहार रहे तो यह समृद्धि उसको उत्पन्न होती है।

तद् ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्य च वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभि. कर्म भुञ्जानोपि न वध्यते ॥१३४॥

१०५७—ज्ञान और वैराग्यके वलसे कर्मवन्धका दूरीकरण—

ज्ञानी जीव कर्मको भोगता हुआ भी कर्मसे वँधता नही है यह सव किसका सामर्थ्य है ? ज्ञान और वैराग्यका। ज्ञानी जीवने अन्दरमे स्वभाव और विभावका भेद परख डाला, निर्णीत कर लिया, उसके फलमे विभावोसे उपेक्षा कर स्वभावमे लगा, उसके निर्णयमे विभाव हेय, स्वभाव उपादेय वना क्योकि हेय, उपादेय और उपेक्षा ये तीन प्रकारकी वाते आनेको ज्ञानका फल कहते हैं। तो जव जाना, स्वभाव विभावका परिचय किया तो फल क्या रहा कि विभाव तो हेय वन गए और स्वभाव एक उपादेय वन गया। विभावोसे हटकर स्वभावमे लगे, ऐसी अलौकिक शक्ति ज्ञानीके प्रकट हुई। भेदविज्ञानका मूलमे वल पाया जिससे सम्यक् प्रकाश पाया सो ही कहते हैं कि यह सव ज्ञान और वैराग्यका सामर्थ्य है, ज्ञान मायने मामूली जानकारी नही, किन्तु मात्र ज्ञान, जहाँ केवल जाननमात्र हो उसके साथ अन्य कोई विभावोका स्पर्श न हो ऐसा जो ज्ञानमात्र है सो वह ज्ञानभाव है, इसका ही सामर्थ्य है कि कोई अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुप कर्मोको भोगता हुआ भी कर्मोसे नही वँधता। देखिये—स्थूलतया तो यो दिखेगा कि यह भोगोपभोगमे लगा हुआ भी कर्मोसे नही वँधता और सूक्ष्मतया भी यह दिखेगा कि कर्मविपाकका जो प्रतिफलन है उस ही को तो यह भोग रहा, अनुभव रहा, उसको अनुभवता हुआ यह कर्मोसे नही वँधता और उससे भी अन्त दृष्टिपर चलते है तो यह वात वनती है कि उस कालमे चारित्रमोहाक्रान्तका ज्ञानस्वभावसे च्युत होकर थोडा भी जो अन्य रूपसे परिणम रहा है ज्ञान (ज्ञान प्रतीति वाले जीवकी वात कही जा रही है) तो ऐसा ज्ञानविकल्प जगनेपर भी वह कर्मोसे नही वँध रहा। क्या सभी कर्मोसे नही वँध रहा ? ऐसी वात तो नही, मगर यहाँ वुद्धिपूर्वक कर्मवन्ध नही हो रहा है। अध्यात्मशास्त्रमे सर्वत्र यह ही अर्थ लेना होता है कि वुद्धिपूर्वक रागद्वेप नही है, यह तो कहलाता है रागद्वेपका अभाव। और, वुद्धिपूर्वक आश्रव नही है, यही कहलाता है आश्रवका अभाव। और, यह सव होता है ज्ञान और वैराग्यके वलपर। फिर तो अवुद्धिपूर्वक आश्रव ही रह जाता है और अवुद्धिपूर्वक जो रागद्वेप रह जाते है वे स्वभावाश्रयके वलसे दूर हो जाते हैं। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय अवुद्धिपूर्वक आश्रवको मेटनेका नही है।

१०५८—श्रावक मुनि सभी ज्ञानियोके वुद्धिपूर्वक व अवुद्धिपूर्वक सभी विकारोके निर्जरण का उपाय स्वभावाश्रय—

स्वभावाश्रयसे इसकने वुद्धिपूर्वक रागद्वेप दूर हुआ, वही उपाय अवुद्धिपूर्वक रागद्वेपको दूर

करनेका है, पर उसका अभ्यास, साधना, समाधि ये चाहिए, याने अपने शुद्ध स्वभावका आश्रय, यह ही बुद्धिपूर्वक आश्रवको दूर कर रहा और यही अबुद्धिपूर्वक आश्रवको दूर करेगा। उपाय वह एक ही है, और इतना ही क्यो ? चाहे वह गृहस्थ हो, मुनि हो, श्रेणीके मुनि हो, जिन-जिनके सम्वर निर्जरा चल रही, जितनी जहाँ-जहाँ चल रही, उस सम्वर निर्जराका उपाय, साधना अन्त वीतरागता है। जितने अशमे नही है राग, शुद्ध ज्ञान चल रहा है बस वही है गृहस्थको भी सम्वरका कारण और मुनियोको भी सम्वरका कारण। अब यो समझ लीजिए कि कोई अमीर है तो उसने मानो भरपेट पेडे खाये और किसी गरीबने छटाक आधी छटाक ही पेडा लेकर खाया, मगर पेडेके स्वादको यह भी जान गया, वह भी जान गया। शुद्धोपयोगके प्रसादसे, शुद्ध आत्मतत्त्वके प्रसादसे यह सम्वर और निर्जराकी बात चलती है, पर जितने-जितने अशमे निर्मलता है, शुद्धि है उसके अनुसार सम्वर और निर्जराकी बात होती है। उसका सामर्थ्य मिला कहाँसे ? ज्ञान और वैराग्यसे। तो ज्ञान और वैराग्यमे ही यह सामर्थ्य है कि कोई पुरुष कर्मोंको भोगता हुआ भी कर्मोसे बँधता नही है। मत्रवादी पुरुष, मत्रसाधक पुरुष उस विषको खाकर भी नही मरता जिस विषको खाकर दूसरा असाधक मर जाता है उसी प्रकार उपभोगको भोगकर भी, उपभोगका भोगना होता है परिस्थितिमे, मगर जहा ज्ञान और वैराग्य है मूलमे, तो वह वहाँ बँधता नही है। वह अपने आपमे स्वातत्र्य और स्वभावका बराबर अनुभव करता हुआ ही चल रहा है। जहाँ वैराग्य होता है वहाँ कोई चीज भी लद जाय तो भी वैराग्यके बलसे उसका लदान नही कहलाता। तो हम आपको शरण है, साधक है, मित्र है तो वह है ज्ञान और वैराग्य। जहाँ ज्ञान है वास्तवमे, गप्पो वाले ज्ञानकी बात नही कह रहे, जहाँ वस्तुत स्वभाव विभावका भेद करके एक स्वभावका उपयोग बने, ऐसा जहाँ ज्ञान है वहाँ वैराग्य भी है। वैराग्यके साथ ज्ञान भी है। हाँ अब इतनी बात अवश्य है कि किसीके कम विरक्ति है किसीके अधिक विरक्ति है, वह सब जैसे-जैसे साधना और अभ्यास बढता है उस वैराग्यका अभ्युदय बढता चला जाता है, पर कर्मोसे न बँधे उसका उपाय ज्ञान और वैराग्य ही है, और कोई दूसरा उपाय नही है।

नाश्नुते विषयसेवनेपि य स्व फल विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोपि तदसावसेवक. ॥१३५॥

१०५६—सम्यग्दृष्टिकी ज्ञान व वैराग्यकी शक्ति तथा उसका प्रभाव—

जिस आत्माने अपने ही ज्ञान द्वारा अपने ही सहज ज्ञानस्वरूपको पहिचाना और उसमे ही यही मैं हूँ, ऐसा अनुभव किया, दृढ ज्ञान किया और इस प्रकारकी दृष्टि बनाकर अलौकिक आनन्द प्राप्त किया उसकी दृष्टि, धुनि, प्रतीति लगन इस आत्मतत्त्वकी ओर ही होगी। भले ही परिस्थितिवश बाह्यविषयसेवन हो तो भी वह विषयसेवनकी ओर बुद्धि वाला नही है, किन्तु उसकी बुद्धि, प्रतीति केवल एक अन्तस्तत्त्वकी ओर है। बस यह काम जिसने किया उसे फिर कही बन्धन नही है। समझ तो लिया उसने कि यह है निर्बन्धका मार्ग, यह है अपने आनन्दविकासका मार्ग। तो जिस पुरुषने ऐसा अन्तस्तत्त्वका ज्ञान किया है वह पुरुष विषयसेवन होनेपर भी पञ्चेन्द्रियके विषयसेवनका फलरूप ससारबन्ध प्राप्त नही कर पाता। तो ज्ञान और वैराग्यका ही वह बल है कि बाह्य विषयोका सेवन करते हुए भी वह सेवता नही है, ऐसे अनेके उदाहरण मिलेंगे। एक सेठकी किसी फर्ममे कोई मुनीम है, तो करोडोका काम है उस सेठके और मुनीम केवल थोडासा वेतन पाता है, परंतु सब प्रकारके कामोमे व्यस्त वह मुनीम दिखाई देता है, सेठ तो अपने घरमे पडा रहता, मोटरमे बैठकर

इधर-उधर घूमता रहता। और, वह मुनीम इस प्रकारका बोलचाल भी करता कि हमारा तुमपर इतना गया, तुम्हारा हमपर इतना रहा, कहता सब कुछ उस सेठकी सम्पत्तिके बारेमे, उस सम्पत्तिकी रक्षा भी वह मुनीम करता, उसे मेरी मेरी भी कहता, पर उसके हृदयसे तो पूछो, उस सम्पत्तिमे उसे रच भी आसक्ति नही, वहाँ मोह नही। सब कुछ करते हुए भी उसका फल मुनीम नही पा रहा। वह तो अपनी जो एक कमायी है, जो सेवा है, उसका जो श्रम होता है वह उतना ही पा रहा है। ऐसे अनेक उदाहरण ले लो। जब किसी ओर चित्त नही रहता है और किसी कारण जबरदस्ती करना पडता है तो उसका फल कहाँ प्राप्त होगा ? जहाँ धुन है, जहाँ लगन है, उसका जो फल प्राप्त हो सकता सो ही मिलता है। अतस्तत्त्वकी ओर जो लगता है सो उसका फल है शान्ति, निर्भार अनुभव करना, सो वह उसको प्राप्त होता है। जहाँ धुन नही है, जहाँ चित्त नही है उसका फल कैसे प्राप्त होगा ? प्रवर्तन हो रहा है और कुछ उसका प्रभाव भी चलता है, मगर आसक्ति नही तो वह फल भी नही कहलाता। अच्छा और भी देखो—जैसे किसी लडकीका विवाह हुआ, मानो वह अब ४०-५० वर्ष की हो चुकी। कई बच्चे भी हो गए, पोते भी हो गए, मगर जब भी वह मायके आती है और मायकेसे जब वह जाती है तो रोकर जाती है। अब बताओ, उसका वह रोना क्या हृदयसे है ? क्या उसको जानेमे कष्ट है ? अरे कष्ट कहाँ। कदाचित् देर हो जाय लिवाने आनेमे तो झट वह अपने बेटोको खबर कर देती कि लिवा ले जावो, मगर बिदा होते समय वह रोकर जाती है। यो कितनी ही घटनाये ऐसी हैं कि जहाँ धुन है, जहाँ लगन हे उसका फल तो उसे मिल रहा, बाकी परिस्थितिवश जो कुछ और किया जाना पडता है उसका फल, आसक्ति, अनुराग, मोह, राग, विरोध ये बातें नही उत्पन्न हो पाती हैं।

१०६०—अन्तस्तत्त्वका ही सस्कार बनानेका अनुरोध—

यह ज्ञानी पुरुप अपने अतस्तत्त्वकी रुचि करके अपनेमे ऐसा आनन्द पा चुका कि उसकी निर्बाध स्थिति हुई कि मेरा सर्वस्व तो यह आत्मतत्त्व ही है, कारण ही एक है। ऐसे आत्माकी अनुभूति तब ही तो बनती है जब एक आत्महितका ही नाता हो, दूसरा कोई नाता नही। दूसरा कोई प्रकारका पक्ष विकल्प आदिक चित्तमे नही होता, तो उस स्वानुभूतिकी वहाँ पात्रता होती है। कोई प्रकारका शल्य मोह ये सब जहाँ नही होते वहाँ स्वानुभूतिकी पात्रता है। हम आप सबका कर्तव्य है कि वर्तमान जो परिस्थिति है, वर्तमानमे जो सग प्रसग है यह सदा न रहेगा, मगर भीतरमे जो सस्कार बसाया है वह आगे साथ जायगा, इस कारण वर्तमानके चेतन अचेतनके सग प्रसगको महत्त्व न देकर उसके कारण अपनेमे कोई ममता न उत्पन्न करके एक अपने आपके अत स्वरूपका ही हम सस्कार बनावें; एक ही नाता है कि मैं हूँ और मुझे अपने आपमे जो शान्ति, आनन्द बसा है, समृद्धि है बस उसको प्राप्त करना है, इसके अतिरिक्त और कुछ नही।

१०६१—लोकपरिचयामृतका पान—

देखिये—५ पदार्थोका परिचय एक अमृत पानका काम करता है। (१) लोकपरिचय, (२) कालपरिचय, (३) जीवदशापरिचय, (४) मुक्तिदशापरिचय और (५) आत्मस्वभावपरिचय। जहाँ यह ज्ञानमे आया कि यह सारा लोक इतना महान है, ३४३ घनराजू प्रमाण है, कुछ हद है क्या ? एक राजूमे असख्याते द्वीप समुद्र समा गए, जम्बूद्वीप एक लाख योजनाका है, उससे दूना एक तरफ लवण समुद्र, उससे दूना एक तरफ द्वीप, इस तरह एक तरफ दूने-दूने चले गए ऐसे असख्याते द्वीप

समुद्र है। वे कहने मात्रके नही। जब उनकी गणना बतायी गई तो उससे जान गये कि कितने असख्यात हैं, इतने द्वीप समुद्र कि ये सब एक राजूके अन्दर ही समा गये फिर भी कुछ हिस्सा बचा है, और यहाँ है एक फैलाव रूपमे, फिर तो घनरूप बहुत बडा, ऐसा ३४३ घनराजू प्रमाण यह लोक है। इस क्षेत्रके अन्दर जहाँ हम बस रहे हैं, एक छोटीसी जगह, यह हमारे लिये क्या महत्त्व रखती है ? इसमे ही क्या चिपके रहना। एक परिचित क्षेत्रसे ममता त्यागनेकी उमग आती है लोकके विस्तारको निरख करके। यहाँ थोडेसे क्षेत्रमें ममता करके अपना तो जीवन पूरा गमाया। तो यह लोकपरिचय एक अमृतपान है।

१०६२—कालपरिचयामृतका पान—

कालके समय कितने हैं अनादिसे अनन्त काल तक, अनादि मायने जिसकी कुछ आदि नही, अनन्त मायने जिसका कोई अन्त ही नही, तो कितना बडा काल कहलाया, जिसकी कोई सीमा नही, तो इतने विशाल कालके पीछ हम आपका यह १००-५० वर्षका जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या ? अरे लोकका तो अदाज लगाया जा सकता कि यह जम्बू द्वीप एक विन्दु बराबर है, मगर हजार सागरको भी इस कालके सामने यह नही कह सकते कि यह विन्दु बरावर है, इतना महान काल व्यतीत हो गया। इसके भीतर जो १००-५० वर्षका समय मिला उस कालमे जो कुछ अपनेपर घटना, सग प्रसग जो कुछ भी बात है उनको कुछ सोचना, उनमे ममता होना यह सब किसलिए है ? उसका तो कुछ अर्थ ही नही रहा, इस कालके अन्दर यह १००-५० वर्षका समय कुछ गिनतीका नही। तो इतने बडे कालके विस्तारका जो परिच्य प्राप्त करता है, उसको ममत्वके परिहारमे बडा सहयोग मिलता है।

१०६३—जीवदशापरिचयामृत तथा मुक्तदशामृतका पान—

तीसरा अमृत है जीवदशापरिचय, इसमे जीवको दशाओका परिचय होता है। नरकमे, निगोद मे, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदिक एकेन्द्रियमे दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियमे, नारकी देव मनुष्य और पशु पक्षी आदिकमे सबमे कैसी-कैसी दशाये चल रही हैं। चल रही हैं अज्ञानवश, भ्रमवश, कर्मके उदयकालमे उस उस प्रकारसे सब परिणमन चलता है, हुआहै, मगर यह तो ध्यानमे दें कि इतनी तरहकी जो जीवकी दशायें होती हैं वे सब अज्ञानके होनेपर होती है। और, एक अपने आपके सहज स्वरूपका ज्ञान हो जावे तो वे सारीकी सारी दशायें दूर हो जाया करती हैं। चौथा अमृत है मुक्तिदशापरिचय जहाँ केवल स्वभाव ही स्वभाव व्यक्त है, केवल चैतन्यमात्र तत्त्व व्यक्त है वह ज्ञानपुञ्ज, वह ज्ञानज्योति शरीरसे रहित, कर्मोसे रहित, विभावोसे दूर, अधीरताओसे दूर छुटपुट ज्ञानोसे विविक्त एक केवलज्ञान दशा वह मुक्त दशा है, जो कल्याणमय है। उससे पहले ये सारी दशायें जो ससारी जीवोके भटकनेकी हो रही हैं वे सब दशायें केवल एक दु खमय हैं, सब कष्टमय दशायें है। तो ऐसी दशायें क्यो होती हैं ? इसलिए कि हम अपनेको सम्हाल नही सके, अपनी ज्ञान ज्योतिका अनुभव नही कर सके कि मैं यह हूँ। ज्ञान न जगे, भ्रम जगे, शरीरमे आत्मबुद्धि रहे तो ऐसी ऐसी जीवदशाओमें यह जीव गया और जायगा। तो अनेक जीवदशाका परिचय होनेसे विषयो मे अनुरागका, शरीरमे अनुरागका त्याग होता है। अरे कितने शरीर पाये, किस किससे मोह किया ' तो शरीरमें अनुराग, शरीरमें आत्मबुद्धि इनका त्याग करनेमे सहयोग मिलता है जीवदशाका परिचय होनेसे। जिसके जो कला प्रकट हुई है वह हर जगहसे अपनी ही चीज प्राप्त कर लेता है, क्योकि इस

तत्त्वज्ञानीके वह एक दर्शनकी कला उत्पन्न हुई है, तो कुछ भी स्थिति हो, वहाँ भी स्वानुभव या आत्मस्वरूपकी बातका ही दर्शन करेगा।

१०६४—आत्मस्वभावपरिचयामृतका पान—

५वाँ अमृत है आत्मस्वभावका परिचय—मैं क्या हूँ, इसका सही परिचय हो, बस उसीके अनुरूप उसका फल उसे मिलने लगता। जैसे कोई मानता है कि अमुक आदमी हू अमुक परिवारका हूँ, अमुक जगहका हूँ आदिक रूपमें जो मानता है वह वैसी चेष्टाये करता है। जैसे किसीने मान लिया कि मैं अमुकका बाप हूँ तो वह अपनी उस अनुरूप चेष्टा करेगा, उसके पालन पोषणकी व्यवस्था करेगा, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसके अनुकूल ही तो उसकी वृत्ति होती है। जिसने माना कि मैं इन सबसे निराला हूँ, केवल ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व हू तो उसके भीतर क्या परिणमन चलेगा ? एक ज्ञान विकास, एक जाननमात्र। यह ही तो विकास चलेगा तो अपने आपको मैं क्या मानता हूँ, बस इस मान्यतापर उसकी चेष्टाये होती है। लेकिन लोग अदाज भी तो करते है कि यह क्या चेष्टा करेगा, क्या बोलेगा, किस तरह बोलेगा, यह सब अदाज होता है इस श्रद्धाको पाकर कि इसकी ऐसी श्रद्धा है तो बोलेगा तो यो बोलेगा ' श्रद्धाके अनुरूप प्रवृत्ति होती है ना ? तो अपनेको अगर परम आनन्द प्राप्त करना है तो उसके लिए अपने अतस्तत्त्वकी श्रद्धा जगानी होगी कि यह मैं. अतस्तत्त्व यह हू, अन्य कुछ मैं नही हूँ। ऐसा जिसने भान किया, परिचय किया, वह पुरुष विषयोका सेवन होनेपर भी विषयसेवनका फल याने ससार परम्परा यह नही बनाता। यह सब ज्ञान और वैराग्यके बलमें ही बात होती है।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः स्वं वस्तुत्व कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च, स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात् ।।१३६।।

१०६५—सम्यग्दृष्टिके सहज स्वरूपके प्रकाशका प्रभाव—

सम्यग्दृष्टि मायने सही सही दृष्टिवाला अपने आपके बारेमे अपना जैसा सहज स्वरूप है अपने सत्त्वके ही कारण स्वय निरपेक्ष जो कुछ इसका स्वरूप है उसमे उसका अनुभव हो, उसका उस ही मे प्रत्यय हो, ऐसी जिसकी दृष्टि बनी उसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीवमे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति स्वय हो जाती है। ज्ञानशक्ति क्या ? जब ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपको जाना, स्वरूपमे ज्ञान उपयुक्त हुआ वह एक इतना महान बल है कि जिससे धीरता, गम्भीरता स्वय ही प्रकट होती है। धीर कहते किसे है ? लोग तो यह बतलाते है कि कोई विपत्ति आये उसमे घबडाये नही उसे कहते हैं धीर, पर धीरका यह सही अर्थ हो नही है। जो भाव बुद्धिको देवे याने जिसमे बुद्धि व्यवस्थित रहे ऐसी स्थिति वालेको कहते हैं धीर। चूँकि घबडाहटमे बुद्धि व्यवस्थित नही रहती है इस कारणसे उसका अर्थ यह कर दिया गया कि घबडाये नही सो धीर, पर धीरका अर्थ है जहाँ बुद्धि व्यवस्थित रहे सो धीर। तो सम्यग्दृष्टि जीव जिसने अपने आपमे अपने सहज स्वरूपका प्रकाश पाया उसने सर्वस्व पाया। और उसे कोई कठिनाई नही, अप्रसन्नता नही, अधकार नही। क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए ऐसी कोई दुविधा नही, उसे तो मिल गया अपना शरण, परम शरणा। इसीको कहते हैं परमपिता। पिता नाम पैदा करने वालेका नही है। पैदा करने वालेके नातेसे तो उसका नाम जनक है, पिता नही है। पिता उसे कहते जो रक्षा करे। तो मेरा परम पिता कौन ? उत्कृष्ट रक्षक कौन ? मेरा यही अतस्तत्त्व, यह ही मेरा उत्कृष्ट रक्षक है। तो इसका शरण जिसने पाया यह दृष्टि यह

अनुभव जिसने पाया वह उस ही ओरका तो पौरुष करता और इस पौरुषमे, इस आत्ममग्नतामे स्वय ऐसी बात होती है बाहर कि कर्म निर्जराको प्राप्त हो जाये। जब कर्म खिरे तो देह भी कभी सदाके लिए गमाना होगा तो सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी।

१०६६–धर्मपालन व धर्मपालनकी पात्रताके लिये बाह्य साधन—

परम श्रेयका मूल है अपने आपके सहजस्वभावकी दृष्टि, अनुभूति, प्रतीति, उसका आलम्बन। एक ही काम करनेको पडा है धर्मके लिए। धर्म अनेक जगह नही है। धर्म केवल निज सहज भावमे है, इसका आश्रय करना इसीको कहते हैं धर्मपालन। धर्म मायने वस्तुका स्वरूप, पालन मायने उस स्वरूपका आश्रय, यह ही है धर्मपालन। मगर स्थिति हम आप सब लोगोकी विचित्र है, फिर अपने लक्ष्यसे गिर जाते है कभी बाहरी पाप व्यसन आदिक भावोमे लगना पडता है। ऐसी स्थितियाँ होती है तो उनको टालनेके लिए उन खोटी स्थितियोका तुरन्त निवारण करनेके लिए आपके पास क्या साधन है ? बस यही शुभोपयोग व्यवहार धर्म व्रत, तप, सयम आदिक। सो उन सब अशुद्ध भावो को टालनेके लिए यह आपका एक तुरन्त साधन है, फिर उस साधनमे रहते हुए स्थिति तो सुरक्षित तो हो गई कि पाप और व्यसन इसके नही रहे और ऐसी सुरक्षित दशामे रहकर फिर भीतर आइये और अपने उसी सहज स्वरूपमे दृष्टि कीजिए। जैसे युद्धस्थलमे लडने वाले योद्धावोको शस्त्र और ढाल इन दोसे सज्जित देखा होगा, क्योकि ढाल तो काम आती है शत्रुका वार रोकनेके लिए और तलवार काम आती है शत्रुका सहार करनेके लिए, इसी तरह शुभोपयोग तो ढालका काम करता है, अशुभोपयोगका आक्रमण हो तो वह हामी न हो सके, वहाँ इसका उपयोग विचलित न हो सके, इसने तो किया ढालका काम, अब ढालसे सुरक्षित दशामे प्रहार करे तो विभाव और कर्मोका प्रक्षय हो जायगा। सम्यग्दृष्टि जीवने जब अन्तर्दृष्टिसे ज्ञानलाभ लिया तो उस ज्ञानलाभके होनेपर भी जो परिस्थितियाँ आती है विरुद्ध विचित्र, उनमे वह इस प्रकार की प्रवृति करता है जिसे चरणानुयोगमे बताया गया है, वह प्रवृत्ति उससे बनती है। वह सुरक्षाके लिए है, और उस सुरक्षित स्थितिमे हम अपने आपके स्वभावके आलम्बनका अपना निजी काम करें। ज्ञानशक्ति सम्यग्दृष्टिमे उत्पन्न हुई, जान गए और वैराग्यशक्ति भी हुई। वैराग्यशक्ति किस परिचयसे हुई ? बाहरी वस्तुओके वैराग्यकी बात अभी नही कह रहे, वह भी एक वैराग्य है जो घर मकान, परिवार, परिजन, मित्रजन आदिक विषम सग प्रसग, इनसे विरक्त रहे वह भी वैराग्य है, किन्तु जब तक यह अन्त वैराग्य न बनेगा तब तक यह बाहरी उपयोग इसको प्रतिष्ठित न रख पायगा।

१०६७–अत. वैराग्यका विधान—

अत वैराग्य क्या ? जिसको यही बताया है कि ये कर्मोदयविपाकप्रभवा भावा न ते मम स्वभावा अर्थात् कर्मोके उदयसे होने वाले जो भाव हैं वे मेरे स्वभाव नही है। लो विभावसे ही तो वैराग्य करना था, विभावसे ही तो उपेक्षा करना था। तो जब तक विभावोके विषयमे यह निर्णय न बने कि ये मेरे स्वरूप नही, ये मेरे स्वभाव नही तब तक उनसे वास्तविक विरक्ति कैसे बन सकेगी ? देखना, जगतमे निमित्तनैमित्तिकभावोका उल्लघन नही है और वस्तुस्वातत्र्यमे कलक नही है। दोनो ही बातें सहज आपको सर्वत्र दिखेंगी। कर्मका उदय हुआ, विपाक हुआ, कर्मका विपाक हुआ, मगर वहाँ एक ऐसा ज्ञेयरूप जो विपाक हुआ, जो प्रतिफलन हुआ उतने तक तो अनिवारित है प्रतिफलन, अब जैसा-जैसा इसका सयोग है, उपादान है, जैसी-जैसी जब स्थिति होती है वह उस विपाकमे,

प्रतिफलनमे आता है, उसे अपना सर्वस्व मानता है और अनुरूप फिर इसकी चेष्टायें होने लगती है। जहाँ यह ज्ञान किया कि ये परभाव है, परप्रतिविम्व है, परका प्रतिफलन है, इससे मेरा क्या मतलव है। मैं तो अपनेमे टकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभावमात्र हूँ। ऐसा ज्ञान होते ही विभावोसे विरक्ति हो जाती है। देखिये—परभाव समझनेके लिए यह निमित्त नैमित्तिक भावोका सही परिचय वहुत सहयोग देता है। तो जव जाना कि ये परभाव है, मेरे स्वरूप नही है तो उससे विरक्ति हो गई, क्यो लगूँ, इसे क्यो अपनाऊँ, इसका द्रष्टा रहूँ, उदय है, इसका प्रतिफलन है, हो रहा है, मेरा स्वरूप नही है। तो ऐसे अन्त वैराग्यकी शक्ति इस सम्यग्दृष्टिके अपने आप आयी हुई है।

१०६८—बुद्धिपूर्वक आश्रवके अभावका तात्पर्य—

चारित्र मोहके उदयसे किसी पद तक ज्ञानीके भी क्षोभ होता है और यह वाह्य प्रसगोमे, वाह्य पदार्थोमे अपना उपयोग देना है, उनका आश्रय वनाता है, यह कहलाता है उपचरित कारण। कर्मोदय के सिवाय वाकी जितनी ये वाहरी वाते है ये सब कहलाती हैं उपचरित कारण याने क्रोधादिक भावोके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध नही है इन वाहरी पदार्थोंका, किन्तु एक आश्रयवाला सम्बध है याने यह जीव इन वाहरी साधनोमे उपयोग जुटाये तो वुद्धिपूर्वक रागादिक विकार हुए। यह घटना वनती है। न उसमे उपयोग जुटाये, एक स्वकी ओर दृष्टि ले, न इसका विकल्प हो तो कर्मोके उदय तो अपनी स्थितिपर वरावर चल रहे है, उनकी स्थिति हो रही और उस स्थितिमे अवुद्धिपूर्वक जो कुछ वात हो रही वह मलिनता होती है, पर वुद्धिपूर्वक विकार तव होता जव हम किसी वाहरी सग प्रसगमे अपना उपयोग फसाते है, तो ऐसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति सम्यग्दृष्टि जनोमे नियत है, सो अव यह क्या करता है? समस्त रागयोगोसे विराम लेता है और अपने आपके स्वरूपमे ठहरता है। कुछ प्रयोजन तो होना चाहिए भेदविज्ञानका। चावलोको वीननेका, साफ करनेका कुछ प्रयोजन तो होना चाहिए, कूडा करकट हटावे, अकेला चावल रहने दे, भात वनायेंगे, खायेंगे, यो कुछ प्रयोजन तो है चावल वीननेका। तो यहाँ क्या प्रयोजन है? विभावोको जाना कि ये परभाव हैं और अपने सहज स्वरूपको जाना कि यह स्वभाव है, ऐसे ज्ञानका प्रयोजन यह है कि उस रागयोगसे, उस विभावसे विरक्ति करे, विराम ले, मुख मोडें और अपने आपके स्वरूपमे ठहर जाये, यह वात कैसे वनेगी? जव स्व और परका भेद जान लिया तव ही तो वनेगी ना?

१०६९—स्वभाव विभावके भेदविज्ञानसे पहिले जीवका कर्तृत्व व भोक्तृत्व—

जव तक भेद न जानते थे तव तक यह जीव कर्ता था, उनको अपनाता था। अपनानेका नाम कर्ता, अभिप्रायमे जहाँ करना वसा हुआ है वह कर्ता। तो यह जव तक अज्ञान भाव है, विभावमें और स्वभावमे अन्तर न जान पाया था तब तक उछल उछलकर विभावरूप वन रहे थे, जैसे किसी किसान को हल जोतते हुएमे सॉपने काट लिया तो वह किसान विप चढ जानेसे कुछ सॉप सा वनकर वकने लगता, जो चाहे वात करता है। किसान अपने वैलको पीटता है और यह कहता कि तूने मेरे ऊपर पैर क्यों रख दिया। उस सॉपका विप किसानमें ऐसा व्याप गया कि उसका दिमाग, उसकी वुद्धि कुछ इस ढगसे चलने लगी कि वह अपनेको सॉप जैसा अनुभव करने लगा। वह किसान उस वैलको वुरी तरहसे पीट रहा था और यह वक रहा था कि तूने मेरे ऊपर पैर क्यो धर दिया। तो वहाँ किसीने आकर समझाया—"अरे भाई क्यो इतना पीट रहे वैलको? यदि यह मर गया तो फिर किससे जोतोगे? क्या कमाओगे? कैसे वच्चोका पालन पोषण करोगे? तव उनकी अकल कुछ ठिकाने हुई,

बात समझमे आ गई । तो दृष्टान्त यह कह रहे है कि जैसे विष चढ़ेमे वह अपनेको साँप जैसा अनुभव करता हुआ अटपट बोलता है ऐसे ही समझिये कि मिथ्यात्वका विष जब चढा है तो विभाव रूप बनकर विभावकी बोलीमें बोलता है बस यो यह है, भोक्ता है, उमग ला लाकर उचकता फिरता है, जब यह भेद डाला कि ये सब विभावभाव परभाव हैं, मेरे स्वरूपकी चीज नही हैं, परिणमन तो मेरेमे है, मेरी परिणति है, पर मेरे स्वरूपसे स्वभावसे विकारभाव परिणमते नही, ये नैमित्तिक है, औपाधिक है, इनसे मेरा क्या सम्बध ? देखिये—निमित्तनैमित्तिक भावोका सही परिचय आपको एक स्वानुभव की स्थिति बनानेके लिए, स्वभावका परिचय बनानेके लिए बहुत मददगार है, पर इसमे इतनी सावधानी निरन्तर रहे कि निमित्तनैमित्तिकभावमे परस्परकर्तृकर्मभाव अशमात्र भी नही है । होता क्या है कि सम्पर्कज भाव, एक वातावरण इस तरहका एक विपाकसन्निधान है कि उस कालमें यह जीव, यह अशुद्ध उपादान अपनी कलासे विभावरूप अपना प्रभाव बना लेता है। वह प्रभाव दूसरे पदार्थका नही, निमित्तका प्रभाव नही । यद्यपि वह प्रभाव निमित्तका नही, अशुद्धात्माका है, मगर उसकी रचनाकी विधि यह ही है कि ऐसे उदय कालमे जीव अपनेमें चूकि स्वय अशुद्ध उपादान है सो अपनेमे अपना प्रभाव प्रकट कर लेता है ।

१०७०—भेदविज्ञान व स्वरूपविज्ञानका प्रयोजन—

विकाररूप तो हुआ यह जीव ऐसा, मगर ये सब बाते बनी तो ये औदयिक हैं, परभाव है, मेरे स्वरूप नही हैं, ऐसा जाननेपर यह विभावसे हट गया और अपने स्वरूपमे ठहर गया । यह सब बना क्या, कैसे बना ? और उसमे बात प्रयोजनकी क्या है ? कैसा अपना अस्तित्व रख रहा वह ? कर क्या रहा ? कर कुछ नही रहा, जो अपनी वास्तविकता है उस वस्तुत्वको वह उत्पन्न कर रहा, रख रहा, करता आ रहा, यो कह लीजिए जान रहा । जब और गहरी स्थिति होती है तो किस लिए जान रहा ? भेदविज्ञान तो इसलिए किया गया कि ज्ञानी परभावसे हटे और स्वभावमे लगे । अच्छा अब स्वभावका ही मात्र जानन किसलिए चल रहा, इसका क्या प्रयोजन ? वह ज्ञान ज्ञानके लिए ही चल रहा, है । ज्ञानसे ज्ञानके लिए ज्ञानमे ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन चल रहा है वहाँ दूसरा कोई प्रयोजन नही, तो प्रथम उपायकी बात क्या रही कि बाहरके पदार्थोंमे थोडासा अध्ययन बने कि ये अनित्य हैं, मिट जाने वाले है, अशरण है, ये मेरे को सदा साथी नही है, यो थोडासा साधारण ज्ञान बाहरी पदार्थोंके बारेमे हो जाय तो इससे कुछ धर्म करनेकी या अपने उद्धारकी एक वाञ्छा उत्पन्न होती है। जिन जिनके अपने उद्धारकी एक वाञ्छा उत्पन्न हुई है, जिन जिनके ऐसी बात हुई है वह प्राय इस विधिसे हुई है कि पहले इन बाहरी सग प्रसगके बारेमे कुछ व्यावहारिक बोध रखा था जैसा कि सभी जानते है । देहाती जन भी बोलते है कि क्या रखा है यहाँ ? सब छूट जायगा, यह मेरा देह भी न रहेगा, तो ऐसी बाते जरा भावनापूर्वक हो तो मनमे यह बात आयगी कि फिर अपनेको करना क्या है ? जब ये सब छूट जायेगे तब अपनेको करना क्या है ? यह सब कुछ थोडी मनमे ज्ञात होगा, कुछ सत्सगकी भावना होगी, स्वाध्यायकी बात होगी, जो महान ज्ञानीजन हैं उनके पास बैठनेकी भावना होगी, चर्चा करेंगे जिज्ञासापूर्वक, कुछ ज्ञान होगा । अभ्यास चलते-चलते यहाँपर भेदविज्ञानकी बात अन्तमे आयगी । देखो जाननेकी बात तो जरा सी है, अपने सहज स्वरूपको जानें और उसमे मग्न हो, मगर जिसे करना है हित, उसे ही तो कठिन पडता । गुरुजी एक घटना सुनाते थे टीकमगढकी । वहाँ कोई मल्ल बडा पहलवान आया था दगलमें लडनेके वास्ते, तो उससे लडनेको किसीकी भी हिम्मत न पडी । सबसे

अन्तमे एक बडा दुबला-पतला कमजोर आदमी उससे लडनेके लिए तैयार हो गया, उसने कहा हम लडेंगे इससे। "अरे तुम कैसे लड सकते ? तुम तो इसके सामने कुछ भी नही हो, तो वह पुरुप बोला—हम तो लडेंगे इससे, पर एक सर्त है हमारी कि जब हम और ये दोनो लडने लगे तो हमारे छूते ही यह जमीनपर गिर जावे। 'अरे जो कठिन काम है, उसके ही करनेकी तो बात कही जा रही, जो कठिन काम है उसको करनेके लिए ही तो सारी शक्ति, पौरुषकी सम्हालकी बात कही जा रही। यो ही समझो कि बात कहनेको तो थोडी है कि अपने स्वभावमे लगे, पर यह ही तो कठिन काम दिख रहा है।

१०७१–आत्मपरिचयमे सर्वतोमुखी बोधका सहयोग—

अध्यात्म ज्ञानके कामको करनेके लिए इससे सम्बन्धित बाहरी ज्ञान करना आवश्यक है तभी तो स्पष्ट विकास होता है। कुछ करणानुयोगसे समझे, कुछ दर्शनशास्त्रसे समझे, कुछ युक्तियोसे समझें, कुछ अनुभवसे समझे तो उसका एक स्पष्ट बोध होता है। तो ये परभाव है, मेरे स्वरूप नही हैं, ऐसी जानकारीके लिए कुछ हमे युक्तियाँ भी चाहिए। कुछ हमे आर्प अनुसार जो करणानुयोगका वर्णन है उसका भी थोडा परिचय चाहिए। देखिये—स्पष्टताके बोधके लिए तो थोडा ख्यालमे आता है, सभी दर्शनोमे थोडा प्रभाव बन ही जाता। जैसे एक ब्रह्मका स्वरूप कहा, जिसे ब्रह्मवादी कहते अपरिणामी है, ब्रह्म है, सर्वगत है, ऐसा कोई अगर अपना विकल्प बनाये, जानकारी बनाये तो उस पर प्रभाव तो पडता ही है, लो, बाहरके विकल्प हट गए, मगर एक ऐसा स्पष्ट विशुद्ध मार्ग नही मिल पाता कि उस मार्गसे चलकर उसमे फिट हो जाय। तो इसी तरह सम्बधित विविध परिचय होनेसे बहुत स्पष्टता होती है और निःशंक अपने आपके स्वरूपमे वह प्रवेश कर पाता है। यह ही सब जब जाना इस ज्ञानी पुरुषने तो क्या किया कि स्वको तो प्राप्त किया और परसे छुटकारा किया अपने उपयोग द्वारा और बाकी तो वशको नही, वह तो स्वय होगा, पर उपयोगने जब जाना कि ये विभाव मेरे स्वरूप नही तो विभावोसे छुटकारा ही किया उपयोग द्वारा ज्ञारा ज्ञानमे। जब अपने स्वभावकी ओर चल रहा और अपने स्वरूपमे अपने ज्ञानको लगाया, इस उपायसे करना क्या चाहता ? यही कि जो अपना सही वस्तुत्व है उसका एक कलन करना चाहता। वही स्थिति रह जाय। वही बात रहे जो सही है उसका ज्ञानी एक उद्यम कर रहा केवल एक पौरुषके लिए, सो कुछ आगे बढनेपर परसे विराम पाता है और अपने आपमें लीन होता।

१०७२–सर्वतोमुखी परिज्ञानका प्रभाव—

ऐसी एक कथा है वेदान्तकी जागदीशी टीकामे कि एक पुरुप किसी सन्यासीके पास पहुचा, कहा महाराज हमे आत्मज्ञान दीजिए, हमारे कल्याणकी कुछ बात बतलाइये। तो संन्यासीने कहा—ब्रह्मास्मि" और अधिक कुछ न बोला, इसका अर्थ है कि मैं ब्रह्म हूँ,"'अब कुछ और बात बताइये।"' ब्रह्मास्मि, यो ही तीन चार बार कहा पर 'ब्रह्मास्मि' यही उत्तर मिला। फिर कहा तो सन्यासी बोला—देखो अधिक जानकारी करना हो तो अमुक गाँवमे अमुक पडित रहता है, उसके पास जाकर सीखो। पहुँचा वह पुरुष उस पडितके पास और बोला—गुरूजी हमे आप आत्मज्ञानकी बात बतलाओ। हम आपके पास रहकर आत्मज्ञानकी बात सीखना चाहते हैं तो वह पडित बोला अच्छा देखते हैं कोई तुम्हारे करने लायक काम। यदि कुछ काम करते रहोगे तो हमे पढानेमे कोई आपत्ति नही। काम समझमे आ गया और कहा देखो हमारे घरमें कोई ८–१० गायें हैं सो उनका गोवर

उठाया करो, उनके नीचेकी सफाई किया करो और हमारे पास आत्मविद्या भी सीखो। 'ठीक है गुरूजी। अब वह पुरुष काफी दिनो तक यही काम करता रहा और विद्या सीखता रहा। धीरे-धीरे १२ वर्ष व्यतीत हो गए। सब प्रकारकी विद्या सीख ली, और अन्तमे विदा होते समय कहा—गुरूजी अब आप निष्कर्ष रूपमे अतिम शिक्षा दे दीजिये। वह पडित बोला—ब्रह्मास्मि। तो वह पुरुष बोला-अरे महाराज, इतनीसी बात तो हमे १२ वर्ष पहले एक सन्यासीने भी बतायी थी, इतनीसी बातके लिए क्या हमने १२ वर्ष तक गोबर व्यर्थमे ही उठाया ? तो गुरू बोला—अब तुम स्वय इस बातको समझलो कि १२ वर्ष पहले तुमने क्या सीखा था और अब क्या सीख गए हो ? उस ब्रह्मास्मिका मर्म १२ वर्ष पहले तुमने न पाया था और अब पा गए हो। बात समझमें आ गई और नमस्कार करके चल दिया। तो हम जब तत्त्वज्ञानकी दिशामे बढे तो सर्वप्रकारके परिचयसे हमे अपने आपमें उमग उत्पन्न होती है स्वभावकी ओर बढनेकी, चारित्र बढता है और उनसे उमग होती है कि मैं भी ऐसा ही करूँ, स्वभावकी ओर हो रमूँ। जब करणानुयोगकी बात पढें तो वहाँ एक विशेष जानकारी बढती है, आचार्य महाराजके प्रति बहुत श्रद्धा होती है। उसका एक प्रभाव विशेष होता है। दूसरी बातका विकल्प न होनेमे जो स्थिति बनी उसका प्रभाव और साथ ही अपने आपको स्वभावदृष्टि करनेकी बीचमे उमग बनती, तो उसका एक वेग होता है, वहाँ भी एक अपनेको काम रहता है। द्रव्यानुयोगकी चर्चामे द्रव्य गुण पर्याय, कैसी पर्याय, गुणकी दशा, गुण, द्रव्यका स्वभाव, जानते चलते आखिर सबको उस द्रव्यमे अत प्रलीन करके निरखनेकी जो एक कला बनती है वह भावकी कला है। तो एक स्वभावदृष्टि करनेके लिए हमे कोई अपनी बात कसरकी न रखना चाहिए। आप कोई दूकानका काम करते है तो यहाँ वहाँकी अनेक बाते अपनेको सुरक्षित रखनेके लिए करते हैं। ग्राहकोसे, सरकारसे, घरके लोगोसे, नाते रिश्तेदारोसे सभी प्रकारसे बात करके अपना एक काम बनाते है, जब कोई एक स्थिति होती है, तो ऐसे ही स्वभावके उन्मुख होनेमे उसका अनुभव पानेमे तो एक ही स्थिति होती है, उसके निकट करनेमे, उसके बनानेमे, पौरुषमे, स्वाध्याय, सत्सग, पूजा, और और भी बातें ये जीवनमे जैसे श्रावकाचारमे बतायी गई हैं, श्रावकोंके आचारमे, मुनियोके आचारमे बतायी गई है, उस प्रकार ज्ञानी आचरण करता है।

१०७३—शुभोपयोगमे प्रवृत्त भव्योको शुभोपयोगसे हटकर शुद्धोपयोगमे आनेका उपदेश—

मुनिजन श्रावकजन व्रत तप आदिमे एक अपनी प्रवृत्ति रखते हैं तब उनको कोई डाट लगायी गई। वे शुभोपयोगमे ही मस्त रहते है, उसमे ही अपनी इतिश्री समझते हो तो उनको कहा जाता है—अरे यहाँ से हटो, और अपने आपके अत स्वरूपमे आवो। शुभोपयोगसे हटकर अन्त स्वरूपमे आवो। और, शुभोपयोगमे जो आया ही नही, पहले से ही हटा सा है उसके लिए कैसे कहा जाय कि तू शुभोपयोगसे हट और शुद्धोपयोगमे आ। जितना भी वर्णन है वह ऐसा ही विशुद्ध आचरण करने वालेके लिए एक तरहकी समझ बतायी कि इनमे आशक्त मत हो। इनमे कुछ धरा नही, ये तो बाहरी विषयकषाय दुर्भाव हैं, ये उत्पन्न न हो। जब मन, वचन, कायकी क्रियायें करनी ही पडती हैं तो खोटी क्रियायें न हो और ऐसी क्रियायें हो कि जिससे आपको स्वभावदृष्टिकी पात्रता रहे। वे क्रियायें की जा रही है, वे प्रवृत्तियाँ बन रही है, पर उन प्रवृत्तियोको ही जो अपना सर्वस्व मान लेते हैं बस उनको समझानेके लिए कहा कि तू इन्हे अपना सर्वस्व मत समझ। तू अपनेमे अपना काम कर ले। इस प्रकार यह जीव विभावोसे हटकर अपने आपके स्वरूपमे ठहरता है, काम दो हैं या

एक ? किसी अन्य तरहसे विचारो तो दो मालूम होते हैं पर वहाँ काम केवल एक है । जो अपने स्वरूपमे लगा वही तो विभावोसे हटा । विभावोसे बिल्कुल हट गया तो वही तो अपने स्वरूपमें लग गया । तो दो स्थितियाँ हैं—विभावोसे हटना और स्वरूपमे लगना । सूक्ष्मदृष्टिसे विचारो—देखो यह अँगुली है ना ? इसे टेढ़ी किया है तो सीधीसे तो हट गई और टेढीमे आ गई तो ये दो बातें हैं क्या ? सीधीसे हटना बन जाय और टेढी न हो पाय, ऐसा हो सकता क्या ? अरे यह तो एक ही बात है । सीधीका हटना और टेढीका होना यह तो एक ही काम है । तो ऐसे ही समझो कि इन विभावोका हटना और स्वभावमें आना यह एक ही काम है । किसी स्थितिका हटाव और किसी स्थितिकी उमग इनमे तो पूर्वापर बन जायगा मगर वास्तविक हटाव, वास्तविक लगनकी जो एक वृत्ति है उसमे यह न होगा कि पहले यह होगा पीछे यह । इस तरह विभाव स्वभावका भेद करके विभावोसे तो विरक्त होना है और अपने स्वभावमे लीन होना है ।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्यादित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा आत्मानात्मावगमविरहात् सति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

१०७४—सम्यक्त्व पानेके उपायमें प्रथम पौरुष—

सम्यग्दृष्टि किसे कहते हैं ? जो अपने सहज चैतन्य स्वरूपको जाने और ऐसी श्रद्धा रखे कि यह ही मेरे आत्माका स्वरूप है, यह ही मैं हूँ । निज सहज चैतन्य स्वभावमे मैं का जो अनुभव कर चुका, सहज एक मैं की जिसमे प्रतीति है वह होता है सम्यग्दृष्टि । तो ऐसे आत्मतत्त्वको जानता कौन है ? मैं चित्प्रकाशमात्र हूँ, ऐसा उपयोगमे आ जाय, ऐसी प्रतीतिमे रहे, ऐसी स्थिति बनती कब है ? तो एक दम स्पष्ट बात है कि यह जो नही हो रहा था वह किस वजहसे नही हो रहा था ? आत्माके सहज स्वरूपका बोध, श्रद्धान, अनुभव आदिक नही हो रहे थे, किस कारण नही हो रहे थे, आत्मामे जो विभाव हुए, रागादिक विकार हुए उन रागादिक विकारोमे इसने अहका बोध किया, यह मैं हूँ, मैं हँसता हूँ, मैं करता हूँ, मैं कराता हूँ, मैं रोता हूँ आदिक रूपमे विभावोंके रगमे रँगकर यह अपने भगवान अतस्तत्त्वका बड़ा तिरस्कार करता था सो यह सहज अतस्तत्त्व ढका हुआ था, याने अपने उपयोगमे न आ रहा था, तब क्या करना था, क्या करना चाहिए कि उस विभावसे उपेक्षा हो, कि यह मेरी वस्तु नही, मेरा स्वभाव नही । कैसे उपेक्षा हो ? तो इसके लिये ये दो तीन गाथाये जो ऊपर आयी हैं उनके अनुसार यह समझना कि ये विभाव परभाव हैं, मेरे स्वभाव नही । बस इतना निर्णय होते ही विभावोसे उपेक्षा हो जायगी ।

१०७५—उदाहरणपूर्वक भ्रममे व्याकुलता और निर्भ्रम होनेपर निराकुलताका वर्णन—

जैसे जब कभी किसी बालकमे यह भ्रम बन जाय कि यह मेरा बालक है तो उस अनुरूप उसका विकल्प बनता है, जब कोई बालक नालीमे गिर गया और इस देखने वाले मोहीको यह भ्रम हो गया कि ओह मेरा बच्चा गिर गया तो उसको व्यग्रता, व्याकुलता बहुत बनती है और थोड़े समय बाद परख करके जब जाना कि यह मेरा बच्चा नही, तो उसके हृदयको तो देखो कैसा वह अपने मौजकी ओर आ जाता है, यह एक मोहकी ही तो बात है । जैसे राजवार्तिकमे दृष्टान्त दिया है कि एक बालकको किसी हस्तीने सूडसे पकड लिया और उसे मरोडकर बडी दूर फेंक दिया, अब उसे देखते बालकके पिताको यह भ्रम हो गया कि यह मेरा बालक है जिसे हाथीने पटका, इसी उम्रका था, वैसे ही रगका था, वैसे ही डीलडौलका था । तो इस घटनाको देखकर वह मूर्छित होकर गिर पड़ा ।

लोग इकट्ठे हो गए, कुछ पानीके छींट वगैरह डालकर उसको सचेत करनेका उपचार करने लगे। किसी बुद्धिमान पुरुषने उसके मूर्छित होनेका कारण समझ लिया, इसी बीच उस मूर्छित हुए पुरुषके बालकको उसके घरसे बुलवा लिया। कुछ देर बाद उस पुरुषकी आँखे खुली, अपना बालक अपने नेत्रोके सामने दिखा तो समझ गया—अरे वह तो मेरा कोरा भ्रम था, वह मेरा पुत्र न था। तो ऐसे ही समझो कि यह जीव इन विभावोमे रचपच रहा है और उन्हे यह अपना मान रहा है, यह जीव भी इन विभावोरूप बनकर कुछसे कुछ चेष्टा करता, चिन्तन करता, बोलता। यही कारण है कि वह अपने इस चैतन्य महाप्रभुके दर्शन नही कर पाता। तो पहला काम है कि इन विभावोसे उपेक्षा होना। देखिये—यद्यपि परस्पर साध्यसाधकता है। कुछ स्वभावकी परख हो तो जाने कि ये विभाव परभाव है। इन विभावोकी ओरसे वैराग्य हो तो स्वभावकी ओर उन्मुखता बने। इसमे पहले क्या करना, पीछे क्या करना, यह कुछ छाँट न करना होगा। कल्याणार्थीको अपने आप जिस प्रकार जो पहिले पीछे होना होगा, हो जायगा।

१०७६—विभावोसे उपेक्षा पानेके लिये विभावोकी परभावताका परिचय—

इन विभावोको परभाव जाने, कैसे जानें कि ये कर्मोंके उदयविपाकसे उत्पन्न हुए है, ये मेरे स्वभाव नही है। मै तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वभाव हूँ। यह तथ्य एक गाथामे बताया, बादकी गाथामे भिन्न-भिन्न करके कहा कि रागप्रकृति नामका पुद्गल कर्म है। उसके उदयविपाकसे उत्पन्न हुये ये रागभाव है, ये मेरे स्वभाव नही। देखिये—निमित्तनैमित्तिकभावकी बात जहाँ कही भी आये यह समझना कि निमित्तभूत परद्रव्य उपादानकी परिणतिको नही करता। और वह तो मात्र अपने प्रदेशमे ही अपना कार्य कर पाता है। प्रत्येक पदार्थ जितनेमे व्यापक है, जितने प्रदेशमे है, सभी पदार्थ अपने प्रदेशमे ही अपनी कृति कर पाते है। अपने प्रदेशसे बाहर उनका न द्रव्य, न क्षेत्र, न काल, न भाव, कुछ भी नही होता है। भले ही ऐसा दिख रहा है कि यह सूर्यका प्रकाश तो है, मगर विचारो जरा, सूर्य कितना बडा है पहले यह निर्णय बनावें। तो कहेगे कि कुछ कम दो हजार कोशका है, तो बस वह जितना है सूर्यका सब कुछ उतनेमे ही है। उतनेसे बाहर नही है। फिर यह प्रकाश होता कैसे? बस यह ही निमित्तनैमित्तिकभावका रहस्य है। उसका सन्निधान पाकर ये पदार्थ अपने आपमें भी तो ऐसी योग्यता रखते है कि प्रकाशस्वरूप बन जाय, तो उसका सन्निधान पाकर ये ही पदार्थ अपनी अधकार अवस्थाको छोडकर प्रकाशरूपमे आये। यदि ऐसी बात न हो तो कोई इसका कारण तो बताये कि कांचपर क्यो अधिक चमक होती है? दरीपर, भीटपर चमक कम क्यो होती है? यदि सूर्यका ही प्रकाश यहाँ उतरता है तो वह तो एक समान होना चाहिये, पर बात हुई क्या कि कांचमे उस प्रकारकी योग्यता है, दर्पणमे उस प्रकारकी प्रकृति है कि सूर्यका सन्निधान पाकर वह इस प्रकार अपनेमे अपनी चमक बनाये और उस दरी आदिकमे भिन्न तरहकी प्रकृति है। तो रागनामक जो प्रकृति है वह जीवमे ज्ञानविकल्परूप रागविकारको नही करता, किन्तु वह तो एक वातावरण है केवल, और उस वातावरणमे वे अशुद्ध उपादान जीव अपनेमे स्वय अपना राग विकाररूप प्रभाव बना लेते हैं। तो अब जब इस तरहसे समझा इस ज्ञानीने कि ये तो परभाव है, जैसे दर्पणमे फोटो है तो कहते है कि यह परका फोटो है, परभाव है, वहाँ अर्थ यह लेना कि परका निमित्त पाकर खुदमे होने वाला परिणमन है। परभावका अर्थ परकी परिणति नही। परकी परिणति उस परमे ही है, मगर परका सन्निधान पाकर इस स्वने अपने आपमे उस प्रकारका विकल्प किया है तो वे

परभाव है, ये मेरे स्वभाव नही है ।

१०७७—विभावोपेक्षा, स्वभावोन्मुखता, निरास्रवता, स्ववस्तुत्वप्रसिद्धिका दिग्दर्शन—

जब सम्यग्दृष्टिने सामान्य रूपसे जाना कि विकार मेरा स्वरूप नही, विशेष रूपसे जाना कि ये राग, ये द्वेष, ये क्रोधादिक कषाये मेरे स्वरूप नही, तो समस्त परभावोसे अलग बन गया, उपयोगत अलग बन गया, ज्ञानमे उपयोगमे, श्रद्धामे, प्रतीतिमे जबसे सम्यक्त्व है तब ही से विभावसे वह अलग हुआ है और वह समझ रहा है कि यह टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायक स्वभावमात्र मैं यह अतस्तत्त्व हूँ। इस प्रकार तत्त्वको जान रहा यह ज्ञानी और वहाँ स्वभावका ग्रहण हो रहा, परभावका परित्याग हो रहा है। विकार पूर्णतया आत्मप्रदेशसे कुछ बाहर हो रहा यह नही कह रहे । अभी तो करणानुयोगसे बतला रहे है कि चारित्र मोहका उदय है और प्रतिफलन है और उसके अनुरूप वहाँ विकार भी है, वह अबुद्धिपूर्वक विकार है । बुद्धि तो लग रही है आत्मस्वरूपमे, सो जब ज्ञानोपयोग इस अतस्तत्त्वमे लग रहा है तो वहाँ उपयोगमे भी वह सबसे निराला है और श्रद्धामे भी वह सबसे निराला है और पुरुषार्थ बन गया है बुद्धिपूर्वक । और, बुद्धिपूर्वक जो अतस्तत्त्वमे लगे यह ही प्रयत्न बुद्धिपूर्वक आश्रव को तत्काल दूर करता है और अबुद्धिपूर्वक आश्रवको भी दूर करनेका उपाय यह ही अत का आश्रय है। पर वहाँ बुद्धिपूर्वक कुछ नही हो रहा, ऐसा ही सहज निमित्तनैमित्तिक योग है कि यह आत्मा अपने स्वभावका आश्रय करे तो वहाँ वे कर्म स्वय अपने कर्मत्व अवस्थाका परित्याग कर देते हैं तो इस प्रकार अपने वस्तुत्वको हमने अपने ज्ञानमे प्रसिद्ध किया और कर्मोदयविपाकप्रभव समस्त भावोका परित्याग किया । ऐसी स्थिति होनेसे यह सम्यग्दृष्टि ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है ।

१०७८—ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी चर्चा सुनकर श्रोतावोकी तथ्यबोधसे विचलितताका अवसर और उस विचलितताका परिहार—

ज्ञान ज्ञानप्रकाश ही ज्ञानमे हो रहा है ऐसी बात सुनकर देखिये किसीके विचलित होनेके अनेक अवसर हो जाया करते है । कोई पुरुष इस ज्ञानमात्र तत्त्वकी चर्चा सुनकर और यही एक सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नही यह बात आ रही है ना, अपनी ओर मात्र उपयोग चल रहा है सो, सुनने वाले लोग कोई कैसी ही उडकर बात कह सकता । उपदेशमे जो कहा जा रहा था वह तो उसकी दृष्टिमे न रहे और एक ही ध्यानमे रहे, बस सब कुछ ज्ञानमात्र है, ऐसा सुनकर भी तो एक विश्वास बनता कि जगतमे जो कुछ है वह सब विज्ञानमात्र है । अच्छा, और जो कुछ दिख रहा है तो आखिर वह समाधिस्थ तो था नही, बात तो सब सामने दिख रही थी और जो यह कुछ बाहर दिख रहा सो यह भी विज्ञानमात्र है । अन्य जुदा समझमे नही आ रहा । अरे दृश्यमान यह सब विज्ञानमात्र है प्रतिभासमान होनेसे । जो जो प्रतिभासमान होते है वे सब विज्ञानमात्र है । हेतु भी एक पकड लिया गया । अब दृष्टिमे आ गया कि वह सब विज्ञानमात्र है, अब देखिये फुसे मे फुसे कितने फूटा करते हैं । ज्ञानमात्रकी ऐकान्तिक निगाहमे यह समझा कोई कि यह सारा जगत विज्ञानमात्र है। जैन लोग जो कहते है कि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सो ये कुछ नही, ऐसा दृष्टिमे आया विज्ञानवादमे और थोडा और सोचे कि यह प्रतिभास तो हो रहा, जानना तो हो रहा मगर यहाँ एकता नही है, क्षण क्षण विध्वसी है । तो वहाँ एक जो प्रतिभास है वही एक पूरा पदार्थ है यो समझ डाला और इसका नाम रखा ज्ञानक्षण । बस ज्ञानक्षण यह ही पूर्ण पदार्थ है, इसके अतिरिक्त और कुछ नही । चलो विज्ञानाद्वैतसे आये उस ज्ञान क्षणपर। उस ज्ञान क्षणके लिए कुछ विचार चला कि यह कैसे पैदा हुआ ?

कहाँ से पैदा हुआ, कब तक रहेगा, जो काम बन रहा है वह कैसे बनेगा, इन सब बातोपर जब विचार चलता है तो सब ज्ञानक्षण निरन्वय जचे। निरशवादने यही समझा कि यह ज्ञानक्षण है, स्वय हुआ है, स्वय नष्ट हुआ है, इसके आगे कोई सम्बध नही है, इस तरहकी धारा चलती है और इस तरह होते हैं सौत्रान्तिक, माध्यमिक आदिक। ये क्षणिकवादके चार समुदाय बन गए। यह नही जाना कि सहज स्वरूपको ज्ञानमात्र कहा जा रहा है सो जब ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप समाया हुआ है तब तो यह बोलता ही नही है, वहाँ तो अनुभव ही है, यह अनुभव ले रहा है, अनुभवके बाद जब यह अपनेको समझाता दूसरेको कहना पड रहा अन्तर्जल्पसे, बहिर्जल्पसे तो वह कहता है कि बस तत्त्व ज्ञानमात्र है।

१०७९—सम्यग्दृष्टित्वके भ्रमसे आत्मसिद्धिकी असंभवता—

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको जो जानता है वह ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है बात तो आयी अन्तरमे प्रयोगकी। प्रयोगात्मक स्व वस्तुत्वका परिचय जिसे होता है सो सम्यग्दृष्टि है। मात्र वचनात्मक परिचयसे सम्यग्दृष्टि नही है, लेकिन बात तो सभी की सुनना है, और मैं सम्यग्दृष्टि हूँ ऐसा सुनने कहने कहलानेकी एक लालसा भी बनी हुई है, इसमे अपनी प्रशसा भी मानी जाती है, तो यह किञ्चित् किसी अनुरूप कह सुनकर जो ऐसा अपने मनमे सोच लेता है कि यह मैं स्वय सम्यग्दृष्टि हूँ, उसके कभी भी बध नही हो सकता। ऐसा एक अपने आपके बारेमे निर्णय बनाकर इस तरह चलने लगा कि ऊँचा मुख उठाये, पुलकित हो औरोको तुच्छ देख रहा, इस प्रकार एक अपनी मुद्रा निराली बनाकर वह कुछ भी आचरण करता है। उसको अपने विभावोमे राग हुआ है, सो उस रागवश कुछ भी यह अपनी चेष्टायें करता है तो ऐसी चेष्टायें करे कोई तो करे और इस प्रकारसे कोई समिति तप व्रत आदिक को जो बडी निष्ठासे पालता रहे, पाले, आलम्बन करे तो भी वह अब तक भी पापमय है। यह कुन्दकुन्दाचार्य कह रहे, अमृतचन्द्र सूरि टीकामे कह रहे तो मुनि अवस्थामे रहनेवाले अमृतचन्द्राचार्यको यह अधिकार था कि अपने समकक्षमे जो मुनिजन हैं वे केवल इन बाह्य क्रियावोमे ही आसक्त न रहे, तो उनको ऐसी डाट डपटके साथ कहा जा रहा है कि ये समितिमे तत्परताका आलम्बन करें तो करें मगर ये अब तक भी पापमय हैं। पाप कहते किसे हैं ? जो कल्याणसे बचावे (बरकावे) उसका नाम पाप है। जो अच्छी बातसे रक्षित रखे, बचावे, दूर रखे उसका नाम है पाप। याने कल्याणमे न लगे, श्रेयमे न लगे ऐसा जो कोई भाव है उसका नाम है पाप। पाप शब्द बहुत बढिया रखा है कि इस पापके शब्दार्थ को जान लेवे और समझे तो कमसे कम बुरा तो न माने। बुरा तो तब मानें जब कल्मष या कलुष आदिक शब्दोसे कहे। पाप शब्द तो बडा सुहावना है। क्या इसी कारण बच्चे बापको पापा कहने लगे। जो अच्छी बातोसे, धर्मसे, कल्याणसे बचाकर रखे उसे कहते हैं पाप। तो यहाँ वह धर्मसे बचा हुआ है, अलग पडा है, स्वभावका परिचय नही तो सन्तोष कहाँ से करे, वास्तविक तृप्ति कहाँ आयी। आत्मसिद्धिका मार्ग उसे मिला नही है तो उससे यह अलग है, इसलिए अब तक भी यह पापरूप ही है।

१०८०—आत्मा और अनात्माके बोधसे रहित होनेसे जीवकी पापमयता—

व्रतादिकको पालता हुआ भी कोई क्यो पापरूप है ? इसको आत्मा और अनात्माका बोध नहीं। आत्मा व अनात्माके परिचयसे यह अलग है, इसी कारण यह सम्यक्त्वसे शून्य है। एकै साधे सब सधे, एक अपने आत्माके उस सहज स्वरूपको पहिचान लें, वहाँ ही दृष्टिका अभ्यास बनावें, वहाँ ही अनुभव अपना बनावे, मैं यह हूँ, सब काम बनेगा स्वय जैसा बनना है वह सब निमित्त

नैमित्तिक योगसे स्वत होता है। कर्म भी दूर होगा, विभाव भी दूर होंगे, पर अपनेको कर्मपर दृष्टि देकर इसको मैं चूर दूँ, इसको मैं मसल दूँ इस तरह इन कर्मोंपर दृष्टि देकर तो यहाँ कर्म ही बढ़ेंगे, घटेंगे नही। विभावोपर दृष्टि देकर, ये राग बडे दु खदायी हैं, बडे कष्टकारी है, यह कहनेमे कुछ हर्ज नही, मगर स्वभाव दृष्टि न जगे, स्वभावाश्रय न जगे, सहज स्वभावकी श्रद्धा नही हुई तो कोई उपाय नही है कि हम उस आश्रवसे दूर हो सकें। जितने भी उपदेश हैं उन सब उपदेशोमे इस ही स्वभावदृष्टिका प्रयोजन पडा हुआ है। जितने भी नय है उन सब नयोमे इस ही स्वभावदृष्टिके पौरुषका प्रयोजन पडा हुआ है। जितना भी जो कुछ तत्त्वज्ञान है उन समस्त ज्ञानोमे इस ही स्वभावदृष्टि करनेके पौरुषका प्रयोजन पडा है। बस वह नही मिला जिसे वह सम्यक्त्वसे रिक्त है। वहाँ आत्मा और अनात्माका बोध नही है, इस कारणसे वह अब तक भी पापमय है।

१०८१—अपनी कमी देखकर उसे दूर करनेका अनुरोध—

देखो एक अपनी कमीकी बात, कभी ऐसी बात सुनकर कि वह समितिका भी आलम्बन करे, तपश्चरणका भी आलम्बन करे तो भी पापमय है, ऐसा कहते सुनते उमग आये और दोषमें ही दृष्टि जाय, अपने आपके पापमय अविरतभावका पछतावा न हो, कुछ दृष्टि न जगे तो वह उपासक नही है, क्यो ऐसी दृष्टि देना चाहिए ? प्रयोजन क्या पडा है ? क्यो अहकार कर लिया ? अपने आपके बारेमे तो सोचना चाहिए कि मैं कितना विभावोमे रमता हूँ, कितना इनको अपना रहा हूँ, कैसा खुदमें अव्रत विष बना हुआ है। कैसे मैं इससे हटकर अपनेमे रहूँ, अपनी बात अधिक सोचना चाहिए और, अपनेको छोडकर अपनी सुध छोडकर बाहरमे बहुत खोज करें—अमुक दृष्टि, अमुक त्यागी, अमुक यो यो और अपने आपकी कुछ भी बात न हो तो एक अपने लिए कोई प्रगतिका मार्ग नही है। अपनी बात सबसे पहले सोचना चाहिए कि मैं किस स्थितिमे पडा हूँ और दु खी हो रहा हूँ, मेरेमे सम्यक्त्व है या नही है, मैं कितना अपनी सुध छोडकर चल रहा हूँ, मैं दर्शन करने आता, पूजनमे आता, स्वाध्यायमे आता, इस प्रकारसे अपने आपको कुछ न कुछ मैं जुटाये रहता, पर इतना होनेपर भी स्वभावके सुधकी किसी क्षण विद्युतकी ही तरह थोडी बहुत कभी चमक आ पाती है कि नही। अपने आपको सोचना है, और देखिये ससारको निरखकर हम क्या पार पायेंगे ? हम अपने आपका शोधन करें, हम अपने आपको विभावोसे उपेक्षित करे, स्वभावसे प्रीति करे, स्वभावमें रत हो, इसका अपना अभ्यास बने, उद्यम बने।

०८२—सर्वतोमुखी ज्ञानसे स्वभावदृष्टिका लाभ लेन देनका संदेश—

देखिये जिन्दगी कुछ नही रही और बहुत है, जब दिनके २४ घटे नही गुजर पाते शान्तिसें तब तो समझिये बहुत है जिन्दगी, जब एक ही दिन पहाड सा लग रहा तो कैसे कहेगे कि जिन्दगी थोडी और, जिन्दगी बहुत है यह कैसे कहे ? जब कलका भी पता नही कि अचानक क्या हो जाय तो यह भी कैसे कहे कि जिन्दगी बहुत है ? कुछ भी हो, जब इतना जीवनका समय है और सारा समय एक स्वभावदृष्टिमे लय जाय सो होता नही, तब तो अपना आराम स्वाध्यायमे है, चारो अनुयोग हैं उनका कभी कोई अध्ययन, कभी कोई अध्ययन, उसके अनुरूप बात कही जा रही है तो एक प्रेरणा मिलती है। आप उल्टी बात भी मानो पढें तो भी स्वभावदृष्टिकी प्रेरणा मिलती है। आप पापकी बात पढें—उसने ऐसे ऐसे मद्य, मास वगैरहके सेवन किए, ऐसे ऐसें व्यसन किए, ऐसे ऐसे पाप किए, इस इस तरहसे न क गए, कदाचित् यह भी अध्ययन करे तो इसके बीच भी विरक्ति और स्वभावके अनुरूप

आश्रयके प्रसग आते हैं, यो तो जैसे गेदके खिलाडी बालकको लीलाकी बात है, जो बडा निष्णात चतुर बालक है, वह गेद खडे खडे खेल ले, जमीनमे लेटकर खेल ले, हाथसे खेल ले, पैरसे खेल ले, वह एक लीला मात्रमे ही गेदका खेल खेल लेता है, इसी तरह जिस ज्ञानीको तत्त्वज्ञान जागृत हुआ है उसमे तो ये सब कलाये स्वय आ गई हैं, किसी भी अनुयोगका वह अध्ययन करे, कोई भी शास्त्र पढ रहा, हो, उसका तो ऐसा तत्त्वमे वासित हृदय है कि वह स्वभावदृष्टिका अवसर उन सभी उपदेशोके अध्ययनसे पा लेता है। अन्यथा चाहे चर्चा कर रहे हो स्वभावमात्र ज्ञानमात्रकी, तो लग तो रहा काफी समय इसकी चर्चामे, पर सम्भव है कि वह एक केवल रूटीनसा बन जाय, और इस तरह बन जायगा कि कुछ वहाँ मिला ही नही, कोई नियमकी बात नही कह रहे, यह कह रहे आपको किस प्रकारसे अपना जीवन बिताना चाहिए जिस तरहसे हमको सफलतामे सुगमता हो, और यदि कुछ चरित्र देखा तो वहाँ से भी प्रेरणा मिली, कुछ कर्मसिद्धान्त देखा, दर्शनशास्त्रसे भी कुछ जानकारी किया, समय तो बहुत है, रातदिनके २४ घटे पडे है, कमसे कम प्रतिदिन ५-६ घटे पढना है, अध्ययन मनन करना है, तो सब तरहसे अध्ययन करके जो अध्यात्मशास्त्र है उनको पढा, तो एक ऐसा प्रयोग बनेगा जिससे फिर सहज सुगम एक बडा अवसर मिलता है कि हम अन्तस्तत्त्वके निकट पहुँचते है।

१०८३—सम्यग्दर्शनकी श्रेयस्करता व सम्यक्त्वभ्रमकी अश्रेयस्करता—

सम्यग्दर्शनका स्वरूप है बहुत ही श्रेयस्कर, वह जिन्हे मिलता है उनका कल्याण होता है। मगर कोई सम्यग्दर्शन तो पाये नही और मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे कर्मोका बध नही होता, इस तरहसे अपना मुख फुलाये, खूब पुलकित हो होकर खूब उछल उछलकर हा हा हा हा करे, सब तरहसे खूब बातें करे तो चूँकि उसके मनमे यह बसा है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ और अनुभव बनता नही, प्रतीति बनती नही, ऐसे जन बडे बडे तप व्रत आदिक भी कर लेवें तो भी आत्मा और अनात्माका बोध न होनेके कारण सम्यक्त्वशून्य है। अपने आपको बडा सोच विचारकर ऐसा जीवन बनाना चाहिए जो अपनेको लाभप्रद हो।

आससारात् प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः सुप्ता यस्मिन्नपदमपद तद्विबुध्यध्वमन्धा'।
एतैतेत. पदमिदमिद यत्र चैतन्यधातु शुद्ध. शुद्ध. स्वरसभरत स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

१०८४—जगत्के प्राणियोकी अनादिसे नित्यमत्तता—

जगतके ये प्राणी अनादिकालसे प्रत्येक परिस्थितियोमे रागी होते हुए नित्य उन्मत्त रहे और सोते रहे। जिसमे सोते रहे वह इनका पद न था। रागी मायने मिथ्यादृष्टि, यहाँ रागीका अर्थ है अज्ञानी। प्रतीतिमे अणुमात्र भी, लेशमात्र भी जिसके राग है अर्थात् जो अणुमात्र भी रागको आत्मस्वरूप मानता हैं ऐसा पुरुष चाहे समस्त आगमका भी पाठी हो तो भी वह अज्ञानी है क्योकि उसको आत्मा और अनात्माका बोध नही है। रागभाव तो अनात्मतत्त्व है और आत्मा ज्ञायकस्वभाव है और यह मान रहा है रागविभावको आत्मरूप। चाहे लेशमात्र भी जो व्यक्त राग हो उससे ही वह मान रहा है आत्मत्व क्योकि अज्ञानी है। तो ऐसा अज्ञानी जीव अनादिकालसे कैसा मस्त चला आया है। इसकी अनादि निगोद अवस्था थी। प्रत्येक जीव सर्वप्रथम निगोदमे था। जो आज सिद्ध हुए हैं वे भी पहले निगोदमे थे। वहाँसे विकास करके दो इन्द्रिय आदिक या अतिक्रमसे जब वह मनुष्य हुआ और वहाँ साधना की तब शक्ति प्राप्त हुई। तो अनादिकाल तो निगोदमे व्यतीत हुआ। देखिये— कितनी एक समस्या सी है कि कोई भी जीव जो सिद्ध हुआ है वह मनुष्य भव पाकर ८ वर्ष बाद

सिद्ध हुआ है। अब देखो सिद्ध हो रहे अनादिकालसे और सब सिद्धकी ही तारीफ है कि मनुष्यभव पाकर ८ वर्ष बाद उन्होने सिद्धि पायी। तो लगता है ऐसा कि भाई ससार तो पहले था और मुक्ति बादमे शुरू हुई। तब कोई भी सिद्ध ऐसा नही कि जो अनादिसे सिद्ध हो। निगोदमे था, मनुष्य पर्याय पायी। ८ वर्ष बाद सिद्ध दशा पायी। जब सिद्धोकी यह ही बात है तो जल्दी सोचनेमे यो लगता है कि ससार पहलेसे है, मुक्ति बादमे बनी है, किन्तु ऐसा माननेपर यह ससार भी अनादि नही ठहर सकता। खूब ध्यानसे देख लो, ससार तो अनादिसे है और उसके ८ वर्ष बाद मोक्ष शुरू हुआ, तो जो ८ वर्ष बाद कहा उससे ८ वर्ष पहले ही ससार था, यह सिद्ध होता है, अनादि नही रहा। कैसी एक विचित्र समस्या है जो यो नही सुलझाई जा सकती, पर अनादिका पेट ही ऐसा है कि अनादि ससारमे ८ वर्ष बाद मुक्त होते हुए भी सिद्ध भी अनादिसे है, याने सिद्ध होनेकी परम्परा अनादिसे है और ससार भी अनादिसे है और ८ वर्ष बाद मुक्ति हुआ करती है, तो अब कहाँ ले जायेंगे, कहाँ एक सीमा बाँधेंगे कि यह ससार यहाँसे चला और मुक्ति यहाँसे चली ? अनादिसे ससार, अनादिसे मुक्ति। सोपाय मुक्त होनेपर भी उस मोक्षमे भी यह नही बतला सकते कि इस दिनसे जीवका मोक्ष होना शुरू हुआ और ये सिद्ध सबसे पहले सिद्ध हुये थे। जगतकी ऐसी ही व्यवस्था सब स्वत चली आ रही है। तो अनादि कालसे याने जबसे ससार है तबसे प्रत्येक पदमे यह जीव रागी मत्त होता हुआ चला आ रहा है।

१०८५—अज्ञानी जीवकी एकेन्द्रियभवमें दुःस्थिति—

निगोदमे "एक श्वासमे अठदश बार, जन्म्यो मर्‌यो सह्यो दु ख भार।" एक श्वासमे १८ बार जन्म लिया, मरण किया, श्वास कौनसा ? नाडी एक बार उचकती है जितने समयमे, करीब १ मिनिटमे ७२-७३ बार, उस हिसाबसे एक सेकण्डमे करीब २३ बार जन्ममरण होता है निगोद जीवका, तो फिर यो ही समझिये कि एक ही व्यापार है—जन्मे मरे, और जन्ममरणके समान कोई सकट है क्या ? सब निरखते हैं, मरते समयका तो सकट लोग खूब जानते है, पर जन्मके समय मरणसे कम सकट नही होता। असलमे जन्म तो वह कहलाता है कि दूसरे भवसे आकर अगले भवकी जो पहले समयमे प्राप्ति है वह जन्म है, और पेटसे निकला ९ माह बाद, उसको जन्म नही कहते। वह तो जन्मा हुआ बच्चा पेटमे था वह बाहर निकल आया। तो देखिये कि जिसके बाहर निकलनेमे ही कितना कष्ट और जन्मके समय यह जीव तैजस कार्माण शरीरको लिए हुए अकेला पहुचता और वहाँ की आहार वर्गणायें जब शरीररूप बनती है तो जीव उनमे मिलेगा मायने शरीरके एक क्षेत्रावगाहमे होगा, एक ऐसा बन्धन चलेगा तो इतनी बातोमे कितनी कितनी गजबकी बाते हुई होगी। कष्टका अन्दाज करो और निगोद जीवोको एक सेकेण्डमे २३ बार जन्ममरणका कष्ट भोगना पडता है। वहाँसे निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति हुए तो उनका भी कष्ट भोगा। फूलोको जैसे चाहे तोडा, फलोको जैसा चाहे काटा। भले ही गृहस्थोको बताया है कि बिना प्रयोजन वनस्पतिका छेदन भेदन न करें। जितना प्रयोजन है सो करें। तो क्या प्रयोजन अनुसार छेदन भेदन करनेमे उस वनस्पतिको कष्ट नही हुआ ? पृथ्वीको खोदना, सुरग लगाना, पानीको गरम करना, आगपर पानी डालना, हवा कर देना" ये सब बातें चलती कि नही चलती। कष्ट है। हवाको रोकना, रबडमे भरना, पखेसे झेलना, तब ही तो आलोचना पाठमे कहते हैं—"पखेसे पवन विलोल्यो" ये ये कष्ट सहे जीवने, क्यो सहे कि विभावोमे आत्मरूपता अगीकार की इसने कि मैं (यह) हूँ, जो खुद है

उसे तो भूल गया, जो सही स्वरूप है उसकी तो सुध नही। जो गुजर रहे विभाव हैं, विकार हैं उनमे माना कि मैं यह हूँ।

१०८६—अज्ञानी जीवकी विकलत्रिक भवमे दुःस्थिति—

चलो वहाँ से निकले दो इन्द्रिय हुए तो उनकी दशा देख लो—अभी चावलोमे लट पड जायें तो कोई उनको आदरसे उठाकर सम्मानसे कहीं कोई रखता है क्या? या क्या करता है? प्राय उठाया फेंका, लोग मसल देते हैं, सो अनेक प्रकारके कष्ट होते। पडे है जीव नीचे, लोग अपने जूतोंमे नाल गडाकर और उसमे भी बहुतसी कीले गडाकर जानबूझकर रौदते हुए चले जाते हैं, तो कितना उस पदमे कष्ट है, तीन इन्द्रिय जीव हुए—खटमल, जूँ, लीख, बिच्छू, पटार, कानखजूरा, चीटी, चीटा आदि इनकी भी कौन रक्षा करता है। बुरे बुरे तरीकोसे इनकी मृत्यु होती है। देखिये इन इन्द्रियो की मोटी पहिचान। एक साँपको तो छोड दो, वह तो पञ्चेन्द्रिय जीव है, बाकी जिसके पैर नही हैं और पूरे लम्बे शरीसे सरकता रहता है वह दोइन्द्रिय जीव होगा। लट केंचुवा, जोक ये दोइन्द्रिय जीव ही होगे। जिनके चारसे अधिक पैर हैं और उडते नही, चलते हैं ऐसे जीव आपको प्राय तीन इन्द्रिय मिलेंगे—चीटा चीटी, कानखजूरा, बिच्छू आदिक। और, जिनके चार या अधिक पैर हैं और उडते हैं वे चार इन्द्रिय मिलेगे—मक्खी, मच्छर वगैरह। प्राय इस मोटी पहिचानसे अदाज जल्दी कर सकते है। और, पञ्चेन्द्रियमे तो अधिक बतानेकी जरूरत भी नही, आप सब जानते ही हैं पशु, पक्षी, मनुष्य आदिक तो तीन इन्द्रिय हुए तो वहाँ किसने रक्षा की? खटमलोको मारनेके लिए लोग खाटपर गरम पानी डालते हैं, लाठीसे पीटकर नीचे गिराते या जो जो कुछ भी करते ये क्रूर परिणाम वाले जीव। कोई लोग तो जलती आगमे पकडकर फेंक देते, या उसपर तेज गरम पानी डाल देते। उनके चित्तमे करुणा जरा भी नही। कैसे कैसे कठिन दुख भोगे इस जीवने। चार इन्द्रिय जीव हुए मक्खी, मच्छर, ततैया वगैरह बने, उनकी भी कौन रक्षा करता? लोग ततैयोके झुण्डके झुण्डको आगसे फूक देते हैं या मिट्टीका तेल डालकर मार डालते, कौन उनपर रहम करता। तो हर तरहसे कष्ट ही कष्ट भोगा इस जीवने। अज्ञानसे मोहसे विभावोमे आत्मत्व स्वीकार किया इस जीवने, ऐसा ही बध, ऐसा ही उदय, ऐसी ही स्थिति ये सारी बाते यो चली आयी। यह जीव बडा दुखी रहा।

१०८७—अज्ञानी जीवकी पञ्चेन्द्रिय पदमे भी दुःस्थिति—

पञ्चेन्द्रियके दुख देखो इनमे शारीरिक दुख तो जो है सो है ही, पर मानसिक दुख और भी विचित्र हैं। भीतर यह मान कषायका जो दुख लगा है वह भी बडा भयकर दुख है। कभी किसी बच्चे को आप जमीनमे लिटा दें या बैठा दें तो वह झट रोने लगता है। क्यो रोने लगता? अरे वह ऐसा अपमान अनुभव करता कि मैं इतना ऊँचे चढा था और मुझे नीचे पटक दिया। तो यह मानसिक दुख बडा कठिन दुख होता है। सहारनपुरका एक किस्सा है। एक कोई छोटा बालक था बजाजका और उसके घरके सामने एक जम्बूप्रसाद नामके रईसका मकान था। उनके घर एक हाथी भी था। तो वह छोटा बालक अपने पितासे यह हठ कर गया कि मुझे हाथी चाहिए। खैर महावतसे कहकर हाथी उस बजाजके द्वारपर खडा कर दिया गया और उस बालकसे कहा उसके पिताने लो बेटा यह है हाथी। तो वह बालक फिर रोने लगा। पिता बोला, अरे अब क्यो रोता है? तो बालक बोला इसे खरीद दो। अब उस हाथीको बजाजके बाडेमे खडा कर दिया गया, और पिताने कहा लो बेटा खरीद दिया। बालक फिर रोने लगा। पिताने पूछा अब क्यो रोता है, तो बालक बोला अब इस हाथीको

हमारी जेवमें घर दो। अब भला बतलाओ यह काम कौन कर सकता ? तो जो काम असभव है उसकी हठमे तो दु ख ही होता है तो प्रत्येक मोहीका यह ही हाल तो हो रहा है। हम किसी परपदार्थका सुधार बिगाड परिणति कर पाते हैं क्या ? नही कर पाते, मगर इसकी हठ है कि ऐसा कर दो, तो उस बालककी तरहकी ही तो यह हठ रही। अशक्य बातकी भी हठ, अनहोनी बातकी भी हठ होती है ना ? और हठ वनी है तो ऐसा इन विभावोमे आत्मरूपता अगीकार करके जीव रागी हुआ कष्ट पा रहा है।

१०८८—अपदसे हटकर स्वपदमें आनेका अनुरोध—

अनादिकालसे जिस पदमे, जिस स्थितिमे जिन भावोमे ये अज्ञानी रम रहे, सो उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि वह अपद है, तेरे रमनेका स्थान नही है, सो हे अधजनो ! उन रागी मोही जीवोंको सम्बोध रहे हैं, जब एक विशेष प्रीति उमड़ती है समस्त जगतके जीवोपर तो किन्ही भी शब्दोसे सम्बोधन कर लो, जब अपना स्वरूप ही नही दिख रहा तो उसे तो अन्ध ही कहेंगे, अरे चेतो, समझो, आवो अपने ज्ञानमे, देख तेरा वह पद नही है, वहाँ मत रमो, वहाँ आराम नही। पर पदार्थोंकी ओर योगदान देना इसमे आराम नही, वह अपद है। आवो, इधरसे आवो, इस रास्तेसे आवो, याने तत्वज्ञान, भेदविज्ञान, उस प्रकारकी बुद्धि बनाकर रास्ता निकाल लो अपने आपके घरमे आनेका। वहाँसे चलो, इस रास्ते आवो, तेरा पद यह है, यह है, कुछ लक्ष्य देकर सकेतसे कहा जा रहा है कि वह तेरा पद नही, पर पदार्थोमे रमना, ऐसे विभाव बनाना यह तेरा पद नही। तेरा पद तो यह है, जहाँ यह चैतन्यधातु विद्यमान है।

१०८९—चैतन्य धातुका रहस्य—

इस चैतन्यको धातु क्यो कह रहे ? यो कहते कि जैसे धातुके कितने ही बर्तन बनाते जावो, कितना ही कुछ उसमे से बनाते चले जावो तो बनते चले जायेंगे। ऐसे ही इस चेतनमे तरग परिणतियाँ कितनी ही निकलती चली जावे, यह चेतन है, धातुरूप ही है। एक श्लोक है अन्य दर्शन मे—"पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। देखिये—इद और अद, इन दोनोके अर्थ तो एक ही कहलाते यह, यह, मगर यह कहनेमे भी थोडा अन्तर है। यह, यह। जैसे पासमे दो व्यक्ति बैठे हो, एक जरा और पास है, एक उसके पासमे बैठा है तो उनको भी तो कहते हैं ये और ये, मगर इन दोनो "ये" मे कुछ अन्तर है कि नही ? एक कुछ निकट है, एक कुछ दूर है, ऐसा इद और अद इन दो शब्दोमे अद निकट है, इद उसके निकट है, पूर्णमिद पूर्णमिद- यह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पहिले एक पिण्डरूप दिखा मानलो, फिर एक अपने आपके एक सहज स्वभावरूप दीखा। समक्ष दोनो ही हैं। यह श्लोक तो है अन्य दर्शनका, पर इसमे क्या रहस्य है, वह जैन सिद्धान्तके अनुसार सब कह रहे हैं। पूर्णात्, पूर्ण उदच्यते इस पूर्णसे पूर्ण निकल रहा है, यह आत्मा परिपूर्ण है और इसमे जो पर्याय प्रकट होती है वह परिपूर्ण है। पहले ही समयमे जो भी पर्याय है वह पूर्ण है। कभी पर्याय यो नही बना करती कि अभी अधूरी बनी, अभी आधी मिटी। पर्याय एक परिपूर्ण पदार्थका परिणमन है और उसकी अविनाभावी एक समयकी जो पर्याय है वह परिपूर्ण है। पूर्णमे से पूर्ण निकलती है, और पूर्णसे पूर्ण कितनी ही निकलती चली जाये, उन पूर्णोंको ग्रहण करके, ज्ञानमे ग्रहण करके कही रख भी देवें तो भी वहाँ पूर्ण ही शेष रहता है। यह आत्मा पूर्ण है, इस पूर्ण आत्मासे पर्याय प्रतिसमय पूर्ण ही निकलती है, विकार पर्याय है वह भी पूरी है, स्वभावपर्याय है वह भी पूरी है, पूरीके मायने ऐसा नही कि

बननेमे आधी बन पायी आधी नही बन पायी। प्रति समयमे जो भी पर्याय है वह अपनेमे पूर्ण है। भले ही यह भेद है कि हम अपने उपयोगमे एक समयकी पर्यायको ज्ञेय कर नही सकते, क्योंकि छद्मस्थ है। जयधवलमे इस प्रकरणमे बताया है कि किस तत्त्वका कितना समय, किस तत्त्वका कितना समय है और उपयोग द्वारा कोई पदार्थ ज्ञानमे आता है तो वह असख्यात समयके उपयोगमें ज्ञेय हो पाता है। यह तो है एक छद्मस्थ जीवकी बात। और इसी का ही लक्ष्य करके फिर बौद्धोमे यह बात निकली है कि देखो जिस समयमे पर्याय हुई उस समयमे तो यह जीव उसे ज्ञात ही नही कर पाया, क्योंकि असख्यात समयके उपयोगमे निर्धारण कर पाता यह जीव, तो जो वास्तविक प्रत्यक्ष है वह निर्विकल्प है, दर्शन मात्र है, क्षणिकवाद प्रत्यक्षको दर्शन कहता है और उसके बाद जो समझा वह सब विकल्प है, और विकल्प कल्पना है और कल्पनामे जो जाना जाता है, वह जो कुछ भी जीवोको ज्ञानमे आता है वह सब कल्पनारोपित है, ऐसा क्षणिकवादमे एक सिद्धान्त बना है। नही फबता तो युक्तिसे तो जानते। अगर एक समयमे पूर्ण नही तो दो समयमे मिलकर भी पूर्ण नही हो सकता, तीन चार असख्यात समयोमे भी नही हो सकता। तो प्रति समयमे अपने आपमे अपने आप परिपूर्ण है, वहाँ अधूरापन नही तो ऐसे पूर्णसे पूर्ण निकलते चले जा रहे है, फिर भी यह पूर्ण ही शेष रहता है। यह ही तो है चैतन्य धातुका रहस्य।

१०६०—चैतन्यधातुधाममे आनेका आह्वान—

जहाँ यह चैतन्यधातु है मूल बीज चैतन्यस्वरूप सहजभाव, आचार्य कहते हैं कि यहाँ आवो, यह है तेरा पद। तू अपने स्वरूपको भूलकर त्यागकर बाहर-बाहर उपयोग भ्रमा रहा तो तू पर घरमे जा रहा। "पर घर फिरत बहुत दिन बीते" ये बाहरके जितने पदार्थ हैं उनपर दृष्टि देना और उस परका आश्रय करके अपनेमे नाना कल्पनाये बनाना यह फिरना ही तो है। अपने आपपर दयाभाव करके सोचना है। प्रथम तो परका आश्रय करके, परका लक्ष्य करके जो विकल्प किया जाता, जो कल्पन ये बनती, ये सब अकल्याणरूप हैं और पर पदार्थोमे तीव्र इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनाना, यह मेरा है, यह गैर है, इस प्रकारकी वहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनाये तो आप समझो कि ऐसी भावना वासनाके रहते हुए इस जीवको स्वानुभवकी पात्रता भी है क्या? मैं आत्मा हूँ। केवल आत्माका ही नाता रखना है, मुझे श्रेय, कल्याण, आनन्द चाहिए। मैं अब भटकना नही चाहता। देखिये—यह बात भी विकल्पके समयकी है। जब देख लिया तो बस देख लिया। अब कुछ करना है क्या? नही नही, देख लिया, देखनेके लिए देख लिया, बस यही प्रयोजन हो, यही कार्य हो, यह तो बहुत अन्त समाधि वाली बात है। आइये इस रास्तेसे, यह है तेरा धाम, जहाँ यह चैतन्यधातु विराजमान है। जो शुद्ध है याने निष्पीत हो गये हैं गुण पर्याय जहाँ ऐसा अखण्ड है, गुण और पर्यायका जहाँ भेद नही, बुद्धि मे भेद नही। यद्यपि पर्याय बिना द्रव्य होता नही और गुण भी हैं तो भेददृष्टिमे हैं, लेकिन जब उस स्वभावको, सहज चैतन्यस्वरूपको, अखण्ड तत्त्वको हम उपयोगमे लेते हैं तो वहाँ क्या है? न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है। अरे तो फिर चौथी क्या है? चौथी चीज है अर्थ। तीन बाते तो बडी प्रसिद्ध हैं—द्रव्य, गुण, पर्याय, पर द्रव्य भी भेदकी बात, गुण भी भेद, पर्याय भी भेद। तब ही बताया है—दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो। प्रवचनसारमे बताया है—द्रव्य गुण पर्यायमे जो स्थित है वह अर्थ स्व अस्तित्वसे रचा हुआ है।

१०६१—स्वरसभर चैतन्यधातुका स्थायित्व—

अन्तस्तत्त्व शुद्ध है याने इन सब भेद कल्पनाओंसे अतीत है और अपने ही रसभारसे ये स्थायी

भावपनेको प्राप्त होते हैं, यह भी तो स्थायी है। इसका जो स्वरस है, चैतन्यतत्त्वका जो अपने आपमे एक रस है, प्राण है, स्वरूप है वह तन्मय है। पूर्ण है, इस सहजकलाके कारण यह स्थायीभावपनेको प्राप्त होता है, सदा रहता है, एक स्थायीरसके अनुभवपूर्वक यह चैतन्यधातु विराजमान रहता है। तात्पर्य इतना है कि परसे हटे अपने आपमे लगे, अपने आपमे ही छाँट कीजिये, पर्यायमे नही लगना, देहमें नही लगना, किन्तु अभेद विधिसे अपने आप जैसा अखण्ड स्वरूपको निरखा उसमे यह अनुभव करना है कि मैं यह हूँ, इसके अतिरिक्त जितने भी विभाव भाव हैं वे मैं नही हूँ। तब ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि मैं सेठ हूँ, पडित हूँ, धनी हूँ, त्यागी हूँ, आदिक जो जो कुछ भी अपने आपमे बुद्धियाँ लगायी जा रही हैं, वह सब ऐसी श्रद्धा मे है तो अज्ञानभाव है। जैसे कोल्हूमे पिलकर भी मुनिराज उस शत्रुपर समभाव रखते, उसे शत्रु नही समझते फिर भी सभव है कि वे मुनि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रह सकते है। अरे इतना तपश्चरण किया फिर भी बात क्या हुई ? तो बात यह हुई कि अपनेको माना एक पर्यायरूपमे—मैं मुनि हूँ। मुनि अवस्था तो है मगर श्रद्धामे यह माना कि मैं मुनि हूँ, तो क्या मानना चाहिए था ? मैं सहज चैतन्यस्वरूप हूँ, इसपर तो टिक नही पाये और एक बाहरी भेषमे, पदमे मैं मुनि हूँ, मुझको वैर न करना चाहिए नही तो मुक्ति न मिलेगी, यो कितनी ही बाते विचारते जावो जब एक मूल भूमि गलत है, जब एक पर्यायमे आत्मबुद्धि की हुई है तो कितनी भी बात होती जाये, ऐसा ही कहा जाता है रागी, मोही तो ऐसे जीव अब तक जिस स्थितिमे रहे हैं, घूमे हैं, वह परपद है नही, स्वपद वहाँसे हटे और अपने पदमे आये।

एकमेव हि तत्स्वाद्य विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३६॥

१०६२–जीवके अपदभाव व पदका वर्णन—

इससे पहले यह बतलाया था कि इस जीवके लिए कुछ दशाये तो अपद हैं और कोई दशा पदरूप है, याने जीवकी स्वाभाविक बात नही हैं कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं। और, कुछ स्थितियाँ ऐसी है कि जो जीवकी स्वाभाविक बात है। जैसे थोडा उदाहरण ले लो—गति, इन्द्रिय, काय, योग आदिक ये जीवके अपद है, जीवके स्वरूपकी चीज नही, स्वाभाविक स्थितियाँ नही, और जैसे केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति ये जीवके पद हैं मायने सही बाते है स्वाभाविक निर्दोष जिसमे यह सदा रहेगा। परमार्थत. तो सहज ज्ञानस्वभाव ही पद है। कोई स्थान होता है पदरूप, और कुछ स्थान होते हैं अपदरूप। अपदरूपकी मुख्य पहिचान है कि जो आत्माके स्वभावरूपसे न हो सो अपद, न रहे सो अपद, और जो आत्माके स्वभावरूप हो सो पद, जो शाश्वत सदा रहे सो पद, ऐसे इस अपद और पद दो प्रकारकी दशाओमे से जीवके सही पदमे रमनेमे श्रेय हैं, अपदमे रमनेमे नही। रागद्वेष कषाय ये सब अपद कहलाते हैं याने इस जीवके पद लायक नही हैं ये विकार, इस जीवके कुलके लायक नही है ये ऊधम।

१०६३–उदाहरणपूर्वक चैतन्य कुलकी उन्नतिका चिन्तन—

जैसे यहाँ कोई बालक बिगडा हुआ दिख जाय तो उसे समझाते हैं कि अरे यह तेरे कुलके लायक बात नही है, तेरे कुलमे तो बडे-बडे पुरुष हुए और बडे-बड़े श्रेष्ठ आचरण वाले हुए। यह काम तेरे कुलके लायक नही है और कोई अच्छा चलता हो तो कहते—हाँ तुम बहुत अच्छे चल रहे, तुम तो अपने कुलकी शोभा बढा रहे। तो यहाँ जीवका कुल क्या है ? चेतन, जो इस चैतन्य कुलके

अनुरूप दशा हो वह तो है कुलकी बात, शोभा बढानेकी बात, कुलके अनुसार चलनेकी बात, और जो चैतन्य स्वरूपसे विपरीत हो, विपरीतके मायने पूर्ण विपरीत नही, पुद्गल आदिक जैसी बात नही, वह तो चैतन्यस्वरूपसे ही सम्भवित है, मगर विकृत अवस्था बने तो वह कहलाता है अपद याने यह तेरे कुलके लायक बात नही है। हे जीव तेरा जो एक पवित्र चैतन्य कुल है, वह सदा रहता है। कुल उसीको कहते हैं जो चले। जैसे कोई बच्चा हुआ, फिर और होगे, फिर और होगे तो कहते हैं लोग कि हमारा कुल चल रहा, और तो क्या, कुल चलानेके लिए बच्चा न हो तो किसी को गोद भी लेते हैं क्योकि कुल चलाना है उन्हे। अब देखो—बच्चे जिसके हो गए हैं तो उनका कुल चल रहा, ठीक है, करना पडेगी, व्यवस्था है। मगर है नही कोई और कुल चलानेकी इच्छा है सो गोद लेता है। अब इन दोनोंमे अन्तर देखो याने ममता वहाँ भी है, यहाँ भी हो रही, मगर गोदवाली ममता बहुत गहरी हो गई। अरे जब एक अवसर मिल रहा कि हमारा कोई नहो है तो यह भी तो बडी अच्छी बात है, हम स्वतन्त्र रहेगे, स्वाधीन रहेगे, चिन्तामे न आयेंगे और अपने परमार्थ कुलमे बढते रहेंगे, धर्मसाधना करेंगे ऐसा तो सुन्दर अवसर मिलता मगर वहाँ कुल कैसे चलेगा सो दूसरेको लाकर गोद रखा या और कुछ रखा तो उसने अपनी एक बाधा ही बढा ली मायने अवसरका लाभ न ले पाया।

१०६४–कल्पित कुलकी कल्मषतायें—

रही एक बात कि कुल चलेगा कैसे ? तो यह कुल कोई कुल नही है, यह ही तो मूढता है, जो इस घरमे हो रही, कुल चल रहा, यह कुल मिला, यह ही तो बडी अटक है, काहेका कुल ? यहाँके मरे न जाने कहाँके कहाँ पैदा होगे, फिर काहेका कुल ? यहाँके मरे किसी और जगह पैदा हुए तो निज चैतन्यकुल तो नही छूटा, वह स्वरूप तो रहता ही है, तो जो चैतन्यकुल है उसकी शोभा बढानेकी बात सोचें, यहाँके सासारिक कुलकी शोभा बढानेकी आसक्ति न करें। तो जो इस चैतन्य कुलके अनुरूप बात हो वह तो है पद और उसके खिलाफ जो बात है वह है अपद। अच्छा जीवकी एक प्रकृति है लगावकी। लगाव लगाना। अपदमे लगाव लगे तो उसका स्वाद क्या आयगा ? जैसे कई लोग दूसरेको गोद लेकर फिर यहाँ वहाँ रोने लगते—अरे बडा हैरान किया इसने, हमे मारा पीटा है" तो यह भी उसे स्वाद मिला और जिसके यहाँ कोई अच्छा निकल गया तो कहते कि गोद तो लिया मगर बडा अच्छा निकला, आज्ञाकारी निकला। तो यह भी एक स्वाद लिया। जो लोग विषयोमे प्रवृत्ति करते है तो बताओ उनको उन विषयोमे कुछ स्वाद आया कि नही ? आया, और कोई सर्व प्रकारके विकल्प त्यागकर केवल एक सहज चैतन्यस्वरूपमे अपनी मग्नता बनाये तो उसको भी स्वाद आता कि नही ? उसे भी आता है।

१०६५–स्वपदकी स्वाद्यता—

भैया, स्वाद अनेक प्रकारके हैं। उनमे यह निर्णय कर लें कि हमको कौनसा स्वाद लेना चाहिए। तो यही बात इस छदमे बतला रहे कि एक उसका ही स्वाद लीजिए कि जिसमे विपत्तिका स्थान नही और जिसमे विपत्ति आये वह स्वाद लिया जाय तो वह कैसे लिया जाय ? वह तो दुखके लिए ही है। जैसे देखा होगा कि कभी कभी घरमे कोई छोटा बच्चा बिगड जाता है कि मुझे तो अमुक चीज खाना है तो माँ के सामने वह बहुत रोता है। उसकी माँ उसे मार भी देती है और खानेकी चीज भी देती है। अब वह बालक रोता भी जाता है और उस चीजको खाता भी जाता है तो बताओ उसका वह स्वाद किस कामका है ? कोई विपत्ति भी भोगता जाय और उसका स्वाद

भी लेता जाय तो वह स्वाद किस कामका ? किसीको भोजन करा रहे और बीच, बीचमें उसे गाली भी देते जा रहे, उसे डाटते भी जा रहे, वह स्वाद भी लेता जा रहा-तो वह कहता है कि ऐसा स्वाद भी किस कामका ? तो स्वाद तो वही ठीक है जहाँ कोई विपत्ति नही, और जहाँ कोई विपत्ति हो वह कोई स्वाद नही कहलाता। तो एक उसका ही स्वाद लेना चाहिए, वही एक पद स्वाद लिए जाने योग्य है जो विपत्तिका स्थान नही है, जहाँ विपत्तियाँ नही आती और जिनके समक्ष अन्य जितने भी पद हैं वे सब अपदरूप प्रतिभास होते हैं। तो अब एक बहुत सक्षेपमे यह कहे कि जब स्वाद लेते हैं एक तरहका ऊँचा स्वाद तो ऊँचा स्वाद तो किसी एकका ही होगा। वह एक ज्ञान है। वह है ज्ञानमय भाव। एक ज्ञानका ही स्वाद ले, यह ही आत्माका पद है, इसमे किसी तरहकी आपत्ति नही है, और, उस पदसे बाहर और जितने पद है वे सब आपत्तिरूप है, रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ इनमे जीव बस रहा, उमग ले रहा तो ये सब विपत्तियोके घर हैं, और, एक विशुद्ध आत्माका ज्ञानस्वभावका जो स्वरूप है उसमे मग्न हो, वहाँ विपत्तिका कोई स्थान नही।

१०९६—स्वानुभव बिना स्वस्थिरताकी दशा मिलनेकी असंभवता—

देखो स्वको जानते हैं, समझते है और फिर भी उसमे स्थिर नही हो पाते, या कुछ वैसा स्वाद नही ले पाते, इसमे मुख्य कारण है प्रमाद। स्वाध्यायमे अधिक समय गुजरे, सत्सगमे समय जाय, तो एक प्रेरणा मिलेगी इस ही ज्ञानभावके स्वादके लिये। या सामर्थ्य है तो निर्जन स्थानोमे रहे, वहाँ और भी भला है, पर इतनी बात नही है चित्तमे, योग्यता नही है, नही कर पाते है और रहना ही पडता है घरमें, शहरमे, समाजमे तो दो बातें तो न भूलना चाहिये—(१) स्वाध्याय करना और (२) सत्सग करना। सत्सग वही कहलाता है जहाँ आत्महितेच्छु सत्पुरुष हो, सही पुरुष हो, जो ससार, शरीर और भोगोसे विरक्त हो। भैया, ससार, शरीर, भोगोसे विरक्ति वहाँ ही मिलेगी जहाँ सारभूत जो अपना ज्ञानपद है वह अनुभवमे आ गया हो। जैसे किसी भिखारीको जो कि अपने झोलेमे ७-८ दिनकी बासी सडी रोटियाँ रखें हो, उससे कोई कहे कि अरे तू बासी रोटियोको फेंक दे, मैं तुझे ७-८ दिनके लिये ताजी पूडियाँ देता हूँ,…तो वह उन्हे फेंकता नही है, क्योकि उसके मनमे यह शका है कि कही ऐसा न हो कि पूडियाँ न मिलें और रोटिया फेक दूँ तो दोनो ओरसे निपट गये। यदि ताजी पूडियाँ उसके झोलेमें लाकर रख दी जावें तो उसे उन बासी रोटियोके फेंकनेमे कोई हिचकिचाहट नही होती। ऐसे ही सब लोग कहते हैं कि देखो विषयोका त्याग करो, विषय कषायोका परिहार करो, इनमे बडी आपत्ति आती। तो यह विषय कषायोका भिखारी लोभी उन विषय कषायोको कैसे छोडेगा ? नही छोड सकता। और, उसे यह अन्दरका भगवान आत्मा, एक ज्ञानानुभवको ज्ञानदृष्टिको, ज्ञानस्वरूपके अतस्तत्त्वको सौप दें उपयोगके लिये कि यह है पद तेरा, यह है ज्ञानभाव, तू इस ज्ञानभाव मे मग्न रह, और उस ज्ञानभावका, सहज स्वरूपका अनुभव पा ले और उसके अलौकिक आनन्दका अनुभव भी पा ले तो विषय कषयोको छोडनेमे उसे हिचकिचाहट नही रहती। प्रत्येक काम जिस विधिसे होने चाहिये उसी विधिसे ही बनता है। तो एक उस ज्ञानभावका ही स्वाद लीजिये जिसमे विपत्तिको स्थान नही और जिसके आगे अन्य सब दशायें अपदरूप हैं याने ठहरने वाली नही, ठहर सकती नही, इसीके समर्थनमे कहते हैं।

एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्, स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसह स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्॥१४०॥

१०६७—समस्त ज्ञानरश्मियोंको एकतामें लानेका ज्ञानोद्योग—

यह आत्मा ज्ञानको एकतामे लाता है, एक रूप करता है। अभी देखो ज्ञान कैसा स्वच्छद फिर रहा है, यह ज्ञान कैसा उठ-उठकर यहाँ वहाँ कही जा रहा है। जैसे कोई नलकी धार अगुली लगा देनेसे किसी तरह आवरण होनेसे छितर वितर हो जाय तो वह जलकी धार इधर उधर दूर भागती है, वह एकरूपमे नही रहती है, ऐसे ही इस ज्ञानमे अज्ञानमय रागद्वेपके हाथकी अगुलियोका आवरण होनेसे यह तितर वितर हो रहा। इस ज्ञानकी विशुद्ध सही मोटी धार नही वन रही, यहाँ भागता, वहाँ भागता, इसे सोचता उसे सोचता, लेकिन जो विवेकी आत्मा है वह अपनेमे एक ऐसा उपाय बनाता है कि उसका ज्ञान एक दूसरेमे एकताको प्राप्त होता है। वह विधि क्या है, किस तरह कर रहा है ? उसने तत्त्वज्ञान किया, वस्तुस्वरूपका निर्णय किया, सो एकज्ञानभावसे भरपूर एक महान स्वादको प्राप्त हुआ। वह स्वाद है ज्ञायकभाव निर्भरसाम्यरसका।

१०६८—सर्व शब्दोकी विशेषणरूपता—

देखिये कहना तो पडेगा कुछ न कुछ, मगर कोई शब्द ऐसा नही है जो शब्द विशेष्य वन जाय याने गुणकी तारीफ तो न करे और केवल पदार्थका नाम ही रहे। देखो विशेष्यके शुद्ध नामको कहते हैं नामवाचक सज्ञा, मगर जितने भी शब्द है वे सब विशेषण ही विशेषण हैं। विशुद्ध नामका शब्द एक भी नही मिल रहा। लेकिन उन विशेषणोसे ही अपना काम चलाते हैं ? कौनसा आप शब्द कहेगे ? कहा कि चौकी ले आवो तो चौकीके मायने क्या ? जिसमे चार कौने हो सो चौकी, चटाई ले आवो चट आई लो चटाई, दरी—देर आई सो दरी, याने जिसके लाने, धरी करने आदिमे देर लगे, कमडल—क मायने पानी, मड मायने शोभा, याने पानी जिसमे शोभित होवे सो कमण्डल, क मण्डते यत्र स कमण्डलु यो आप कितनी ही चीजोके नाम लेते जावो हर नाम उस चीजकी विशेषता बताने वाला ही होगा, भले ही उस शब्दका अर्थ भी हम आप आसानीसे न निकाल सकें फिर भी वह नाम उस चीजकी कुछ न कुछ विशेषता बताने वाला ही होगा। जैसे कहा पतेली, तो आप लोग जानते ही होगे—जिसमे साग भाजी वगैरह चीजें पतित की जायें सो पतेली। उस पतेलीके अन्दर कोई धीरेसे थोडे ही कोई चीज डालता, वह तो उसमे उस चीजको पटक सा देता। तो जिसमे साग भाजी आदिक चीज पतित की जावें सो पतेली। जैसे कहा लोटा—तो जिसके नीचे पेंदी न हो, जो नीचे जमीनमे लोटता फिरे सो लोटा, गडई—जिसमे नीचे पेंदी हो, जो जमीनमे गडकर रह जाय, इधर उधर लोटती न फिरे सो गडई। अब बताओ कौनसा ऐसा शब्द है जो शुद्ध नाम वाला हो ? आत्माके बारेमे भी कोई नाम नही मिलता, वस बोलो मत, अगर आत्माकी बात समझना है, जानना है तो बोलो मत। तुम बोलोगे तो कोई खण्डकी बात ही कर बोलोगे, क्योकि दुनियामे कोई शब्द ही नही ऐसा जो उस अखण्डका सीधा ज्ञान करा सके।

१०६६—आत्मा शब्दकी विशेषणरूपता—

जैसे बोला आत्मा। तो यह आत्मा नाम ही नही हैं, वह तो एक विशेषण है—अतति सतत गच्छति इति आत्मा याने जो निरन्तर जानता रहे। अत् धातुके दोनो अर्थ हैं—चलना और जानना। प्राय करके जानेके जितने शब्द है उन शब्दोके करीब जाननके अर्थ भी होते हैं। जो निरन्तर चले सो आत्मा। केवल एक प्रत्ययका भेद है, इसी अत्से आदित्य बना, जिसका अर्थ है सूर्य। वह निरन्तर चलता ही रहता है और यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। सो रहा है वहा भी जान रहा।

कुछ भी जान रहा, कैसा ही जान रहा, अच्छा भी जान रहा, बेहोश हो वहाँ भी जान रहा। उसकी जानकारी हम क्या बतावे ? होशमे है वह भी जान रहा, निगोदमे है वह भी जान रहा। तो जो निरन्तर जाने सो आत्मा। नाम क्या मिलेगा ? एक नाम धरा ज्ञायक, सोचा तो है बहुत कि इसका भाव एक अखण्ड ज्ञानस्वरूपमे लग जाय और लगता ही है, बोलते ही हैं, मगर ज्ञायकका अर्थ तो है जानने वाला, यह ही अर्थ है। तो वह एक ज्ञानगुणकी ही बात तो उसने ली पर काम कैसे बनाये ? कोई शुद्ध नाम तो मिलता नही। जितने नाम मिलते है वे सब विशेषणके नाम मिलते है। तो भाई उनमे भी छाँट करो। कौनसा विशेषण वाला नाम ऐसा है कि जिसमे हम अखण्डत्वकी समझ बनाये तो आसानी रहे ? वह शब्द तो है ज्ञायक।

११००—विविध भावोके आश्रयमे विड्रूपता—

एक ज्ञायक भाव करके भरा पूरा महास्वाद है उसको प्राप्त करता है यह जीव। हाँ क्या करनेके लिये बात समझा रहे हैं कि उस समग्र ज्ञानकी एकताको प्राप्त करना है, मायने ज्ञान तितर बितर बिछुडा फिरा, जैसे कही किसी पदार्थका ज्ञान है, इसका ज्ञान है, उसका ज्ञान है, कुछको छोड दिया, ऐसा छोड छोडकर कही-कही जो ज्ञान चलता है, चलता है ना मोही जीवोके, रागियोके। तो कहते हैं कि ऐसे उस ज्ञानकी एक बिछुडती अहित स्थितिको समाप्त करते हुए एकताको प्राप्त कराये, उस ज्ञानमे सारा लोकालोक प्रतिभास हो जाय, कुछ बात नही, मगर सारे लोकालोकको जाननेपर कही गैप तो नही होता। इमे जाने, इसे न जाने, छितर बितर होवे। परिपूर्ण लोक अलोकको भी जाना, वहाँ भी एकताकी बात नही टूटी। यह कह रहे है परिणतिकी बात। वह स्वभावके अनुरूप है इसलिये वहाँ बात घटित होती है। अब स्वभावमे चले, उसमे एकताको प्राप्त कराते है, यह मुनिजन भी कर लेते हैं, और प्रभु कर चुके हैं, और सभी तो करते है, मगर जिनके ज्ञान है, प्रकाश है उनकी बात कही जा रही है। स्वभाव कही अनेक नही हो जाते। सहज स्वभावज्ञान विविध नही हो जाते, मगर जिसे पता ही नही है उसके लिए तो विविध है। जैसे कि एक जीव दूसरे पदार्थका कर्ता नही है। कहते हैं कि अज्ञानी जीव पुद्गल कर्मको करने वाला है। कैसे कर लेगा अज्ञानी पुद्गलकर्मको उत्पन्न ? जब दो वस्तुवे न्यारी-न्यारी है तो चाहे अज्ञानी हो, मगर वह किसी दूसरे द्रव्यको कर तो नहीं सकता। लेकिन उसमे करनेका विकल्प है। मै इसे करूँगा, मैंने इसे किया, ऐसा करनेके विकल्पका वह अपना परिणमन बना रहा। तो ऐसा परिणमने वालेको कर्ता बताया है। अज्ञानी जीव कर्ता है। वस्तु सिद्धान्तसे तो प्रत्येक पदार्थ अपनेमे अपना परिणमन करते हैं, मगर निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहा है। जैसे हाथसे झट चीज उठाया, यहाँ रख दी, वहाँ हाथमे हाथका काम हुआ, चीजमे चीजका काम हुआ, मगर यहाँ सम्बन्धमे है ना, इसका निमित्त पाया और ऐसी स्थितिमे चूँकि हाथ भी चला और उसी बन्धनमे पुस्तक है तो पुस्तक भी चली, तो हाथ चलनेका निमित्त पाकर पुस्तक चली। निमित्त नैमित्तिक भावसे यह बात सही है मगर वस्तुत्वसे देखे तो पुस्तकमे पुस्तककी बात है, हाथमे हाथकी बात है।

११०१—प्रतिपक्षनयका विरोध न करके विवक्षितनयकी मुख्यतासे जाननेमें अनापत्ति—

सर्वत्र यह बात जानना कि एक ही कुञ्जी है, प्रतिपक्षनयको मना करके कि यह झूठ है, फिर अपने विवक्षितनयकी बात रखना, यह जैन शासनके विरुद्ध है। इसको कहते हैं एकान्त। और, जिन्होंने दर्शनशास्त्रका अध्ययन किया है वे जान लेंगे कि यह एकान्त किस सम्प्रदायसे मिलता है यह

किस दर्शनसे मिलता है। यह परख भी हो जायगी। तो जैन शासन यह कहता कि प्रतिपक्षनयका विरोध न करें और विवक्षितनयकी बात रखे, प्रयोजन वश यह तो चलता है, किन्तु प्रतिपक्षनयको मना करके कि यह असत्य है, झूठ है, एक नयको ही कहा जाय तो वह जैन शासनसे विरुद्ध हो जाता है। उदाहरणके लिए–जैसे जीव कहा तो जीव नित्य है। भाई इसमे कोई संदेह तो नही। जीव नित्य है, सदा रहता है, मिटता नही है। वस्तु है, सत् है, लेकिन उसमे एक यह भी तो विशेषता है कि वह जीव वस्तु या कोई भी सत् निरन्तर परिणमता रहता है, उसमे अवस्थाये बनती रहती है। जरा देख लो मना करके कि भाई क्या जीवमे, क्या सत्मे परिणमन होना ही नही ? क्या उसमे कोई अवस्था होती ही नही, दशा होती हो नही। अच्छा ऐसा पर्यायनिषेध स्वीकार करके फिर बोला कि जीव नित्य है, यह किस दर्शनकी बात बन गई ? इसे वेदान्त कहो, ब्रह्माद्वैतवाद कहो, बात वही कही जा रही थी पहले, मगर प्रतिपक्षनयकी बात स्वीकार करके कहा जा रहा था वह जैनशासनका कथन था। अब इस समय प्रतिपक्षनयको झूठा करके कहा जा रहा है तो ब्रह्माद्वैतवाद आ गया। ऐसे ही आप सर्वत्र यह बात जान जायेंगे कि प्रतिपक्षनयको झूठा करके विवक्षितनयका एकान्त रखे तो इसमे किस सम्प्रदायकी बात आ जाती है। अब सब जगह यह बात घटित हो जायगी। ऐसे ही जीवके बारेमे देखिये, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, और द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, अब वहाँ कोई यह निर्णय रखे कि द्रव्य कहाँ रखा है, कहाँ दिखता है ? द्रव्यकी बात झूठ, सिर्फ यह बात सत्य कि क्षण-क्षणमे नया-नया बनता है, लो यह क्षणिकवादका मत आ गया। कोई यो कहे कि कहाँ तुमने पर्यायकी बात रखी, पर्याय कोई चीज भी होती हैं, अवस्था दशा कही हुआ भी करती है। वह जीव नित्य है। तो अर्थ क्या बन गया ? अपरिणामी। परिणाम नही माना। अपरिणामी नित्य माना। जिसे कहते हैं कूटस्थ नित्य। तो कौनसा सिद्धान्त बन गया ? ब्रह्माद्वैत। अब एक ज्ञानसे स्वभावदृष्टिसे उस एकतापर जा रहे हैं, जा तो रहे हैं प्रयोजनसे और उस उपयोगके समय कृपा करके दूसरा उपयोग न बनावें, पर्यायका उपयोग न बनावें, भेदका उपयोग न बनावें, एक अखण्ड ज्ञायक स्वभावको लखना है। ऐसा ही तो मूड बनाना होगा। बनाओ, चलो, काम तो बन गया। किसका बन गया ? जिसके निर्णयमे अज्ञान नही है, प्रकाश है, सही निर्णय है कि यह पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, इसमे प्रतिसमय परिणमन होता है। ऐसा सही ज्ञान करने वाला जीव ऐसा स्वस्थ है कि वह एक अखण्ड ज्ञानस्वभावकी मुख्यतासे अपना उपयोग बढाये तो वह ज्ञायकभाव अपने शाश्वत सुखको प्राप्त कर सकता है। इस ज्ञायकस्वभावके इस अखण्ड तत्त्वकी मुख्यतासे एकान्तपना ब्रह्माद्वैतवादने भी तो किया। तो क्या गलती है जो उसके अनुकूल प्रयोग नही बना पाते ? उन्होने पर्यायका विरोध किया। पर्याय होती ही नही है। वहाँ तो केवल एक अपरिणामी कूटस्थ नित्य माना गया है। ऐसे ज्ञायक स्वभावको न निरखता हुआ यह जीव उसी मोहस्वादको ले रहा, पर इस मोहके दूर होनेपर यह जीव उस ज्ञानकी एकताको प्राप्त करेगा।

११०२–ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादके बलपर निर्जरा—

निर्जराधिकारमे जिस बलपर निर्जरा होती है उस बलकी बात कह रहे हैं। यह जो इतना सारा ज्ञान तितर बितर अपूर्ण नाना रूपोमे जो चल रहा है, यह सामान्यरूप होकर अपनी एकताको प्राप्त करे, यह है वह पुरुषार्थ कि जिसके बलसे कर्मोकी निर्जरा होती है। सीधी बात क्या है ? अपने ज्ञानस्वभावको सम्हालना, उसमे उपयोग देना, मग्न होना और केवल एक दर्शनज्ञानसामान्यात्मक अतस्तत्त्व मेरी दृष्टिमे रहे, ऐसा अन्त सयम बने तो उसके बलसे यह समझिये कि विभावोकी तो

उपयोगसे जुदाई हो ही गई, पर शेष कर्म भी निर्जराको प्राप्त होगे। क्या किया इस भव्य आत्माने कि एक ज्ञायक भावसे निर्भर महान स्वाद लिया। स्वादका भी फर्क देखो, जब बाहर दृष्टि जाती है और वहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि जगती है तब भीतरमे क्या स्वाद लेता है? यह आकुलता, व्यग्रताका स्वाद लेता है और जब अपने अन्त स्वरूपमे आता है और केवल ज्ञानप्रकाश इसकी दृष्टिमे रहता है तो वहाँ विकल्प नही, निराकुलता चलती है। तो जैसे व्यापारी लोग अपना नफा टोटा देखते है उसमे लाभ है, इसमे हानि है तो ऐसे ही अपने उपयोगकी गतिमे नफा टोटा जैसी बात क्यो नही निरखी जाती? मैं अपने उपयोगको किस तरफ लगाऊँ कि मुझे व्यग्रता रहे और किस जगह लगाऊँ कि व्यग्रता न रहे? उपयोग कही बाहर नही लगता, यह तो यही विराजमान है, बाह्य पदार्थ उपयोगके विषय होते हैं और बाह्य विषयकी ओर उपयोग करके कुछ तरग उठती है उसे कहते है उपयोग बाहर गया। और अपना ही शुद्ध अतस्तत्त्व इसकी बुद्धिमे आये तो ऐसी स्थितिको कहते है कि उपयोग अपने अन्दर रहा। उपयोग कही बाहर दौडकर नही जाता। किसी भी पदार्थका गुणपर्याय कुछ भी उसके प्रदेशोसे बाहर नही जाता। बाहर उसका कुछ आधार ही नही है, तो ऐसे ही यह उपयोग जब अपने ज्ञायकस्वभावके चिन्तनमे है, दृष्टिमे है तो वहाँ एक महास्वादको प्राप्त होता।

११०३–ज्ञानीकी द्वन्द्वमय स्वाद लेनेमें असहता—

जब जान लिया सबसे निराला एक ज्ञानप्रकाशमात्र यह मैं हूँ और उसका स्वाद जान लिया तो अब द्वन्द्वमय स्वादको पानेके लिए यह अक्षम अथवा असह बन गया। तो जो पहले हो रहा था कि रागादिक विकारसे जुटकर, उनमे आत्मारूप बनकर जो एक खोटा स्वाद लिया जा रहा था, अब उस स्वादको यह नही ले सकता। सीधी बात यो कह लीजिए कि जैसे मोही पुरुष ज्ञानियो जैसा काम करनेमे असमर्थ है तो ज्ञानी पुरुष भी मोहियो जैसा काम करनेमे असमर्थ हो गए। वे कर ही नही पा सकते। जैसे सामने कोई चीज पडी थी, रस्सी पडी थी, जान लिया कि यह साँप है तो भ्रममे जो घबडाहट चिन्ता आदिक हो रहे थे, कदाचित् उसे कोई समझाये या वह कुछ थोडा निगरानीसे देखे और धीरे-धीरे समझकर सही निर्णय बना ले व हाथमे रस्सी उठाकर एकदम समझ बनाले कि यह तो कोरी रस्सी है, कहा साँप है, मैं व्यर्थ ही भूला था, ऐसा प्रकाश जगनेपर उससे अगर कहा जाय कि भाई तुम अभी १० मिनट पहले जैसी घबडाहट कर रहे थे, छाती धडका रहे थे, ओठ फडफडा रहे थे, अग कपकपा रहे थे जरा वैसी ही बात करके अब फिर दिखा दो, तो वह दिखा सकेगा क्या? नही दिखा सकता, तो जैसे अज्ञान अवस्थामे ज्ञानी पुरुष ज्ञानियो जैसी उदारता नही बर्त सकता तो ज्ञान जग जानेपर ज्ञानी अज्ञानी जैसा स्वाद भी नही ले सकता। तो यह अन्तरात्मा इस द्वन्द्व वाले स्वादको अब नही पाता याने उपयोग और क्रोधादिक आश्रव अथवा कहिये स्वभाव और रागादिक विकार इन दोनोके एक मेलमे कहो, एक उपयोगमे जो एकता की थी, उससे जो स्वाद बना था, अब वह स्वाद यह नही ले सकता। उसे दो टूक कर दिया। यह मैं ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा हूँ, ये रागादिक विकार औपाधिक है, परभाव है, ये मेरे स्वरूप नही हैं, ऐसा दो टूक कर दिया तो अब घटनामे रचकर दोनोके मेलमे, अपने उपयोगमे जो बात बन रही थी अब वह बात ही न बन सकेगी। तो ऐसे द्वन्द्वमय स्वादको यह नही ले सकता।

११०४–ज्ञानीकी स्व वस्तुवृत्तिकी प्रसिद्धि—

जब ज्ञानी द्वन्द्वमय स्वादको नही ले पाता तब अपने आपकी निगाह होनेमे जो ज्ञानीकी चेष्टा होती,

जो वस्तुव्यापार बनता उसका ही तो यह अनुभव कर रहा, मायने मैं मैं हूँ, मैं अन्य कुछ नही हूँ, मेरा सब कुछ मुझमे है, मेरा कुछ बाहर नही है, मैं स्वय सहज आनन्दमय हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, इसमे परकी क्या बात है ? यह यह है, ऐसी दृष्टि रखता हुआ अपने वस्तुत्वकी प्रसिद्ध कर रहा है यह ज्ञानी। जिसने अपने आत्माका अपने आत्माके द्वारा अपनेमे अनुभव परिणाम किया उसकी ऐसी वृत्ति बनी कि अब यह पहली जैसी चेष्टाओमे कुछ नही कर पाता, ऐसा विवश हो गया अर्थात् स्ववश हो गया कि अब यह अज्ञानमयी चेष्टाओको करनेमे असमर्थ हुआ। उस समय विशेषका उदय दूर हुआ अर्थात् जो एक विशेष ज्ञान तरगकी लहर उठी हुई थी वह सब यहाँ शान्त हुई, क्योकि अपने आत्मस्वभावको निरखनेमे लगा ना ? उस समय इन सारे ज्ञानोको एक सामान्यरूप बनाता हुआ अपने ज्ञानमे एकता का अनुभव करता है।

११०५—ज्ञानकी पर्यायोके परिचयसे अखण्ड ज्ञानसामान्यकी प्रसिद्धि—

दूसरी बात समझनेकी बताते हैं, जैसे—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, ऐसे ५ प्रकार है और उन ५ प्रकारके ज्ञानोके जुदे–जुदे भाव हैं, हैं वे, लेकिन जब ज्ञान सामान्यपर दृष्टि दी तो वहाँ फिर यह विशेष नही ठहरता। उपयोग है ना स्वभावकी ओर। जैसे सूर्यके नीचे बादल आये है तो यहाँ विकास कम है, जरा सा बादल हटे तो और प्रकाश बना, पूरे बादल हटे तो सारा प्रकाश बना। तो जैसे यहाँ प्रकाशमे भेद पाये जाते हैं क्या ये भेद कोई उस वस्तुके स्वरूप हैं, क्या ये भेद उस सूर्यके प्रकाशके स्वरूप है ? सूर्यप्रकाश तो एक प्रकाशमय है, यह भेद जो घटनामे विराजमान है इस भेदको देखकर टुकडे न बनावें प्रकाशके, किन्तु सूर्य ऐसा अखण्ड प्रकाशमय है यहाँ दृष्टि डालना, ऐसे ही ये मति श्रुत आदिक ज्ञानके भेद पडे हैं, इस भेदमे ज्ञान स्वरूपके टुकडे न बनाना कि वह ज्ञानस्वरूप यहाँ ऐसा ऐसा है। इन भेदोको निरखकर दृष्टि जानी चाहिये मूलमे कि यह आत्मा मूलमे तो एक ज्ञानस्वभावमात्र है, यो अपने इस निज ज्ञानस्वभावपर उपयोग पहुँचते ही यह सारा ज्ञान एकत्वको प्राप्त होता है। सब प्रयोगकी बात है। अनुभवमे जहाँ केवल एक ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व है वहाँ इस जीवको स्वय शरण मिल गया। यह ही एक रक्षक है, यह ही एक सर्वस्व है, बाहरमे मेरा कही कुछ नही है। ऐसा दृष्टिका अभ्यास बने तो यह ही अभ्यास एक धीरता उत्पन्न करेगा। अपने आपमे अपने विकासको लायेगा। और, एक बाहर ही दृष्टि बनाये रहे यह ही तो है मेरा पुत्र, यह ही तो है मेरा घर, इसके लिए ही तो है मेरा तन, मन, धन, वचन, यह ही तो है मेरा सर्वस्व, ऐसा बाहर बाहरमे चित्त रहे तो उसका फल है आकुलता, कर्मबन्धन, ससारकी परम्परा। तो सीधी बात यह आ गई कि एक अपने आपमे अगर देखें केवल एक आत्माकी बात, तो इस आत्मामे ज्ञानकी विविध पर्यायें समय-समय पर बनती हैं। हाँ तो ज्ञानकी जो अनेक समयोमे पर्यायें बनती है उन पर्यायोमे भेदकी मुख्यता लाकर एक ऊर्ध्वतासामान्यकी दृष्टिसे निरखा जाय तो वह सब एक ज्ञानमात्र मालूम होता है, और ऐसे ऊर्ध्वतासामान्यकी दृष्टिमे इस जीवको अपने आपसे उस परमार्थ ब्रह्मत्वकी उपलब्धि होती है।

११०६—ऊर्ध्वतासामान्यके अनुभवका प्रभाव—

देखो एक चीजमे दो बातें समझना—(१) ऊर्ध्वता विशेष और (२) ऊर्ध्वता सामान्य। जैसे एक मनुष्य है, वह शिशु-बालक, जवान, बूढा, उसकी ऐसी स्थितियाँ हुई, मगर उन सब स्थितियोमे वह मनुष्य तो एक ही है। मनुष्य जुदे-जुदे न होगे। जो ही एक मनुष्यकी स्थिति बनी है सो उस समय उसके

भेदकी स्थितिको कहा है ऊर्ध्वताविशेष और उन सब भेद पर्यायोमे रहने वाला जो एक पद है उसको कहते है ऊर्ध्वतासामान्य । तो जैसे मनुष्यमे ये दो बाते समझमे आयी है ऐसे ही आत्मामे ज्ञानमुखेन भेद डालकर ज्ञान बनाना, अब यो ज्ञान बनाना, इस प्रकार बनाना, ज्ञानके जो ये भावनामे भेद डाले गये मति श्रुत अवधि आदिक, तो इन भेदोके होनेसे आत्मा कही जुदा तो नही हो गया । इन सब भेदोमे व्यापक जो एक ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपको निरखना, लो, यह कहलाता है ऊर्ध्वतासामान्य । लोकमे विशेषकी बडी महिमा गायी जाती है । जैसे ये साहब बडे विशिष्ट पुरुष है, इन्होने बडा विशेष कार्य किया है, उसकी बडी विशेषता बतायी जाती है और उससे एक प्रभाव माना जाता है । तो लोकमे तो विशेषका प्रभाव है, मगर कल्याणमार्गमे विशेषका महत्त्व नही दिया गया, किन्तु सामान्यका महत्त्व दिया । सो उस विशेषसे हटकर वहासे उपयोग निकालकर एक इस सामान्य स्वभावमे उपयोग जमाया जाय। ध्यान करनेके लिए योगीजन क्या काम करते है, निर्जन स्थानमें ध्यान बनाते हैं, बहुत समय तक चिन्तन करते हैं तो चिन्तनमे नाना बाते आ जायें मगर पौरुष उनका यह रहता कि इस विशेषसे हटकर एक सामान्य स्वरूपमे उपयोग दू बस इसीमे जिसको जितनी सफलता मिली है उसकी वही एक समाधि बतायी गई है। परमसमाधि क्या ? विशेषसे हटकर सामान्य स्वरूपमे मग्न हो, यह ही एक परम समाधि है । यह एक समाधिका बल है जिस बलसे हम समस्त सकटोसे छूटकर पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकते है ।

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन् वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

११०७—ज्ञानकी निर्मल परिणतियोका उछाल—

इससे पहले कलशमे बताया गया था कि यह भव्य अन्तरात्मा ज्ञानी अपनी वस्तु वृत्तिका अनुभव कर रहा है, याने अपने सही स्वरूपको परखकर उसमे मग्न होता हुआ अपने चारित्रको पुष्ट कर रहा हैं, तो अपनी विशेष वृत्तिका अनुभव करने वाला पुरुष प्रगतिमे क्या पाता है ? देखिये उस समय जो ज्ञान है उस ज्ञानकी व्यक्तिया याने परिणतिया निर्मल हो हो कर स्वय उछलती चलती रहती है ? पर्याय बिना द्रव्य तो रहता नही और उस समय स्थिति आत्माके आश्रयकी है, सो स्वभाव-अनुरूपता और स्वभावमग्नताके उस कालमे जहा एक परमसमाधिका रूप बना वहाँ इस ज्ञानकी व्यक्तिया, पर्यायें, परिणतिया निर्मल-निर्मल होकर स्वय ही उठ रही है, ज्ञानमात्र, ज्ञानप्रकाश, केवल जाननहार यह एक स्थिति उठ रही । वे ज्ञानकी परिणतिया, ज्ञाता मात्र रहनेकी परिणतियाँ यो उठ रही हैं कि उस समय चूकि समस्त भावोसे उसने पदार्थको जाना या उनको अपनेमे निष्पीत किया तो ऐसा जब सबको जाना, एक ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभवमे रहा तो उसका एक ऐसा रस है कि उस आनन्दसे मानो एकरस होता हुआ, सवेग प्रवर्तता हुआ, अपने बलके साथ प्रकट होता हुआ यह उदित होता है । और वहा केवल ज्ञान ज्ञानकी परिणतियाँ चलती है, मायने रागद्वेषके विकल्पसे रहित ज्ञानकी व्यक्तियाँ उत्पन्न होती है, जिसका यह अभिन्न रस है ।

११०८—एक ज्ञायकस्वरूप आत्माके अनेकीभवनका विधान—

यह भगवान यद्यपि एक है, तथापि हुआ क्या ? पहले क्या हो रहा था ? यह एक भगवान अभिन्नरस होकर भी अनेक रूप हो रहा था । वेदान्त दर्शनमे कहते है कि इस ब्रह्मने जब यह सकल्प किया—एकोऽहं बहु स्याम् मैं एक हू बहुत बन जाऊँ, ऐसा सकल्प करके यह सारा जगत नानारूप बन

गया । यह है उन वेदान्तियोंका एक दर्शन । एकोऽहं बहु स्याम् । अब देखना ऐसा कि यह आत्मा एक होकर भी यह बहुतरूप अपनेको अनुभव कर रहा था इसीलिए नाना दुर्गतियोंमें जन्म मिल रहा, संसार में नाना अवस्थाओंमें रह रहा । वहाँ तो यह दृष्टि है कि वह ब्रह्म एक है । जगतकी रचना कैसे बनी कि उस ब्रह्मने अपनेमें ऐसा संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊं । पता नहीं क्यों संकल्प किया, कोई उस ब्रह्मको कष्ट था क्या ? वह आनन्दमें नहीं था क्या ? कोई कष्टमें था क्या, जिससे ब्रह्मने कुछ बात बदली हो । मैं बहुत हो जाऊँ, अब यहाँ देखें तो द्रव्यार्थिकनयसे यह एक स्वरूप है और पर्यायार्थिकनयसे देखो तो यह समय समयमें भिन्न-भिन्न पर्यायोंरूप है । चलो होने दो इसको ऐसा कि इसमें कुछ हानि नहीं । सभी पदार्थोंमें यह हो रहा, युक्ति भी पायी जा रही कि वह मूलतः एक रूप है द्रव्यस्वरूपसे, मगर पर्यायें उसमें नाना हो रही हैं । मुझमें भी ऐसा हो जाय, कोई हर्जकी बात नहीं । यह द्रव्यकी एक बात है स्वरूप है कि वह मूलतः एक है मगर प्रतिसमयमें परिणमता रहना, इतने में कोई हानि न थी, लेकिन इस जीवको एक अनादि विभ्रम ऐसा सताये हुए है कि वह इन पर्यायोंमें ही अपनेको नानारूप मान लेता याने अपने मूल स्वरूपको ही इन नानारूपोंमें समझ लेता, बस किया तो इतना सा अपराध और दंड इतना बड़ा मिल रहा कि निगोदमें, पेड़ पौधोंमें जन्म लेता, यही तो दुःख है, पेड़ोंमें जन्म लिया, पेड़का भव प्राप्त किया, शरीर मिला तो ये आत्मप्रदेश कितना फैल गए । बड़े मोटे पेड़ोंमें फैल गए, पत्तियोंके रूपमें फैल गए, छोटे-छोटे नमाजानके रूपमें फैल गए, फूल हुए तो कैसी कैसी उनकी पखुड़ियाँ हैं, क्या क्या उनका ढंग बना, जो जो भव कर्मविपाकवश मिला, उस रूप फैल गए, तो यह दण्ड मिला इस आत्माको । किस बातका दण्ड मिला कि इसने पर्यायमें आत्मीयपन स्वीकार किया । इसीलिए इसको दुर्गतियोंमें घूमना पड़ा । यह आत्मा एकस्वरूप है, केवल ज्ञानमात्र है और निरन्तर पर्यायोंरूप परिणमता रहता, इसके आगे कोई बात न थी, लेकिन अनादि विभ्रम ऐसा चला कि जो पर्यायें मिलती हैं, मिलती हैं वे अनादि विभ्रमसे, इसने उन परिणतियोंको माना कि मैं यह हूँ, इसने अपनेको नानारूप मान डाला । तो अपनेको नानारूप जब कर दिया तब यह अपनी तरंगोंसे बौखलाता रहा, फैलता रहा और जब इसको सन्मार्ग मिला, सद्बुद्धि जगी तो इसने फिर अपने स्वरूपकी सम्हाल की स्वरूपको भूलनेका इतना खोटा परिणाम होता है ।

११०९—धुनके विषयकी परीक्षा—

अब सोचिये आप कि जो निरन्तर यह दृष्टि बनी रहती है कि यह मेरा घर, यह मेरी दूकान, यह मेरा बच्चा, यह मेरी स्त्री, ये ही तो मेरे सब कुछ । और प्रयोग क्या चल रहा ? घर घरमें देखो, घर घरके मायने अपने उपयोगमें इस बातकी परीक्षा करो कि क्या बस रहा ? कहाँ आसक्ति है ? कहाँ चित्त लग रहा है ? भैया, कहाँ चित्त लग रहा, इसकी परीक्षा यह है कि जिनके लिए यह अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकता है, बस वहाँ चित्त लग रहा है । जैसे ज्ञानी पुरुष इस अंतस्तत्त्वके प्रति सर्वस्व न्योछावर करता है ऐसे ही मोही पुरुष अपने इस परिवारके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करता है । दोनोंकी भिन्न-भिन्न परिणतियां हैं जिसके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर हो समझो कि उसका चित्त उसमें है, उसके उपयोगमें महत्त्व उसका है । क्या कभी यह उमंग जगी कि मैं अपने इस अंतस्तत्त्व भगवान आत्माकी उपलब्धिके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दूँ ।

१११०-ज्ञानीके समग्र पुण्यके हवनका साहस—

पूजाके समय तो लोग प्रतिज्ञा कर लेते—अर्हन् ! पुराण ! पुरुषोत्तम ! पावनानि, वस्तूनि

नूनमखिलान्ययमेक एव । अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ पुण्य समग्रमहमेकमना जुहोमि। हे भगवान, ये थाल, जल, चदन नैवेद्य, अक्षत, मदिर, प्रतिमाजी आदिक बहुत सी चीजे यहाँ विराजमान हैं लेकिन इस अन्तरात्माकी दृष्टिमे तो सब कुछ एक है, क्या सब कुछ ? मायने जहाँ धुन है, जहाँ लगन है, जहाँ रुचि है बस वही वही दिखता है इसीके मायने है कि बस सब कुछ एक है। ज्ञानीकी कहाँ लगन है ? अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ निर्मल केवलज्ञानरूपी ज्वाला। केवलज्ञान पर्याय है और केवल ज्ञान जरा इन दोनोको अलग अलग कर दो तो केवलका अर्थ है सिर्फ और ज्ञानके मायने ज्ञानस्वरूप। सो, इसके प्रति इसकी भक्तिमे, इसका जो महत्त्व जाना गया उसके एवजमे एकमन होकर मैं समग्र पुण्यको स्वाहा करता हूँ, सर्वस्व न्योछावर करता हूँ। कोई कहे वाह १३-१४ आनेका द्रव्य सजा लिया, इतना न्योछावर करते हुए इसपर इतनी ऐंठ कि मैं सारे पुण्यको स्वाहा करता हूँ। 'नही-नही, यह तो एक प्रसगकी बात है। जितनी भी पुण्य सामग्री है महल मकान, धन वैभव आदिक, इन सबको एकमन होकर इस निर्मल एक ज्ञानके लिए मै सब कुछ न्योछावर करता हूँ। फिर कोई बोल उठा कि बहुत चतुराईकी बात कर रहे भगवानके सामने, जानते हैं ना कि वे सब चीजें पौद्गलिक हैं, साथ तो कुछ जाना है नही सो कह देते भगवानके सामने कि मैं इन सबको स्वाहा करता हूँ। कहते है कि हे प्रभु कुछ ऐसी सीमा नही, वह समग्र पुण्य वैभव जिन कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुआ है इस समस्त पुण्य कर्मको मै स्वाहा करता हूँ। कुछ उससे प्रयोजन नही। मुझे तो निर्मल सहज ज्ञानसे प्रयोजन है। यह निर्मल ज्ञान यह मेरेमे रहे मेरे उपयोगमे बसे मैं अन्य सबको स्वाहा करता हूँ। फिर कोई कह बैठा वाह वाह वडी कला खेल जाते कि ये कर्म पौद्गलिक है, उनसे मतलब क्या है इनसे कुछ आनेका नही, सो कह लेते कि मैं इनको स्वाहा करता हूँ। तो कहते है कि इसकी भी मनमे सीमा नही। जब मैं पुण्य कर्म पापकर्म किसीको नही चाहता तो फिर मैं उसके साधनको तो चाहूँगा ही क्या ? मैं किसी भी प्रकारसे कर्मको नही चाहता। तो पुण्यका साधन शुभोपयोग, पापका साधन अशुभोपयोग इन समस्त शुभ अशुभ विभावोको भी मैं एकमन होकर स्वाहा करता हूँ। तो देखो यह अन्तरात्मा ज्ञानी इस एकत्वविभक्त अंतस्तत्त्वके प्रति कितना अनुरागी हुआ है कि वह सिवाय एक स्वभावाश्रयके और कुछ चाहता ही नही। भले ही नही बन पा रहा स्वभावाश्रय जब, तब ज्ञानी शुभोपयोग करता है और शुभोपयोगको अशुभोपयोगकी तरह हेय मानकर भी नही करता, क्योकि थोडा भी अनुराग न हो तो शुभोपयोग कैसे कर सकेगा ? मगर प्रतीतिमे यह बात बसी है कि मैं समस्त विभावोसे रहित जो मेरा एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है यह ही मात्र प्रकट हो जो कि सिद्ध अवस्थामे होता है यह ही मात्र मेरे भीतरमे एक अभिलाषा है, मैं इस समस्तको स्वाहा करता हूँ, जिसके लिए कुछ न्योछावर किया जा सकता है समझो कि प्रेम उसका असलमे वहाँ है।

१११९—विपद्धामसे हटकर सहजसमृद्धिधाममे प्रवेशकी अन्तर्भावना—

ज्ञानातिरिक्त अन्य पदमे बाकी जो कुछ और व्यवस्थायें बनती हैं, परिणतियाँ होती हैं और उनमे किसी प्रयोजनवश अनुरागसे लगता भी है मगर भीतरमे वह समझता है कि यह भी मेरे लिए एक आपदा हो गई। जैसे एक कहावत है कि गले पडे बजाय सरे। देखा होगा होलीके दिनोमे लोग किस तरहसे हँसी मजाकके खेल खेलते हैं। तो एक जगह होलीके दिनोमे वैसे ही कुछ हँसी मजाकके खेल हो रहे थे तो एकने एकको शर्मिन्दा करनेके लिए उसके गलेमे ढोल पहना दिया, पर उसने क्या काम किया कि दो छोटी-छोटी लकडियाँ उठायी और उछल-उछलकर वजाना शुरु कर दिया। लो उसका

शर्मिन्दा होना तो दूर रहा, वह भी शोभाको प्राप्त हुआ तो ऐसे ही अपने लिए समझो गले पड़े बजाय सारे। जब अपने गले पड़ गये हैं ये कुटुम्ब परिवार धन वैभव आदिको प्रसंग तथा शुभभावके प्रसंग तो उनकी समुचित व्यवस्था बनाये रखनेमें ही आपकी शोभा है, पर अन्दरमें यही भाव रहे कि यह मेरा करनेका काम तो न था। मेरे करनेका काम तो था अपने ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें मग्न होने का। यह तो सब झंझट है, परिस्थितिवश यह सब करना पड़ रहा है। हे प्रभो मेरेको कब वह क्षण प्राप्त हो जब कि मैं इन समस्त झंझटोंसे छुटकारा पाकर अपने आत्मस्वरूपमें मग्न होऊँ।

१११२—अन्तस्तत्त्वके अनुभवी पवित्र आत्मावोंके ज्ञानकी शुद्ध उछालें—

ज्ञानमात्र यह आत्मा जब अपनी ज्ञानमात्रतापर दृष्टि देता है, यह हूँ मैं केवल ज्ञानस्वरूप ज्ञान ही ज्ञान जिसका स्वरूप है मगर शेष वाले भी तो आ रही हैं, आवें, वे मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये सब ज्ञानातिरिक्त भाव हैं, परभाव हैं, औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं। मैं ही उनका निमित्त होऊं, ऐसा वह भाव नहीं है। मैं स्वभाव मात्र हूँ, ऐसी अपने केवल ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि दी है, और ऐसी दृष्टि लगाकर उसमें उपयोग देनेका अभ्यास करते-करते बाह्य विकल्पसे हटकर जब कभी अनुभूति की है, ऐसे पुरुषकी परिणति तो कभी रुक न जायगी। लोगोंको परिणति दिखती है, जिसमें अदल-बदलरूप मालूम पड़े, वह यह था, अब यह हो गया, नारकी था, मनुष्य बन गया या बच्चा था जवान हो गया। जो कुछ दिखता है उसको लोग बोलते हैं कि अब यह परिणम गया, बदल गया, लेकिन परिणतिशून्य पदार्थ कभी नहीं होता। तो जब यह ज्ञान अपने ज्ञानमात्र स्वरूपपर दृष्टि रख रहा है तो उसकी जो परिणतियां हैं वे विशुद्ध ज्ञानमय निर्मल निर्मल हो होकर उछल रही हैं, ये ही उसकी निजी तरंगें हैं। कोई औपाधिक तरंगें थीं कभी, तो अब उसको एक निजी तरंगें उछल रही हैं। उन तरंगोंके द्वारा ऐसी उछाल लेता रहता है यह ज्ञान, जैसे कि किसी अगाधसमुद्रमें जहां ऐसी गम्भीरता पड़ी है कि धूल कीचड़ ऊपर नहीं आ सक रहे हैं और उसकी तरंग उठ रही है। तो जैसे वह तरंग विशुद्ध जलमय चल रही है ऐसे ही उन ज्ञाताकी यह ज्ञानतरंग निर्मल शुद्ध ज्ञानरूप चल रही है। यह बात बहुत स्पष्टतासे ऊँचेके गुणस्थानोंमें है, श्रेणियोंमें है, भगवतमें स्पष्ट है, फिर भी उपयोगके नातेसे लगायें तो यहाँ भी यही बात आपको आंशिक मिल जायगी।

१११३—अनुभूति व समाधिमें अवस्थित अन्तरात्मावोंके अबुद्धिपूर्वक कलुषतावोंका अवेदन—

अनुभूति व समाधिमें रहने वाले जिन अन्तरात्माओंके जो अबुद्धिपूर्वक कलुषता है इस पदमें प्रमत्त अवस्था तक या आगे भी जो अबुद्धिपूर्वक कलुपता है वह गौण है, क्योंकि बुद्धि, मति जिस ओर लग रही, बुद्धिमें न आये तो उसकी व्यग्रता तो नहीं है। जैसे कभी आँगनमें सूखनेके लिए मानो आपने नमक डाल दिया था। आप कमरेमें बैठे थे। तब मान लो अचानक ही पानी बरसने लगा तो आप झट उसे उठानेके लिए दौड़े। उसे तो तुरन्त उठाना जरूरी ही था क्योंकि पानीके बूँद पड़नेपर वह नमक पिघल जाता। सो वहाँ आप इतना तेजीसे दौड़े कि दरवाजेका चौखट आपके सिरमें लग गया फिर भी आपको उसका कुछ पता नहीं पड़ता। नमक उठा लानेके बाद जब हाथसे सिरको टटोल कर देखते और हाथमें खून लग जाता, तब समझमें आता, ओह मेरे तो सिरमें चोट आ गई, तो देखिये वहाँ उपयोग दूसरी जगह होनेसे आपको उस चोटका भी पता नहीं पड़ता, तो ऐसे ही ज्ञानी पुरुषको अपने आपके स्वरूपकी ओर उपयोग हुआ, यह हूँ मैं ज्ञानमात्र, जहां कष्टका काम नहीं, स्वरूपमें अपने सहजस्वरूपकी बात है, वहाँ ही उपयोग चल रहा है तो भले ही नियमसे कुछ पदवी

तक अबुद्धिपूर्वक कषाय चल रही है और वह निरन्तर चल रही, एक क्षणको भी बद नही हो रही, इतना सब कुछ होनेपर भी चूँकि उसका उपयोग अपने इस शुद्ध आत्मस्वरूपमे लगा है इस कारण वह तो यहाँ सुरक्षित है। इस तरहकी दृष्टि द्वारा जिसने इस ज्ञानतत्त्वको पाया है बस वह समझता है उस ज्ञानका माहात्म्य। बस यही ज्ञानविलास मोक्षका हेतु है, लेकिन जिसने नही जाना ऐसा, और मोक्षके उद्देश्यसे बाह्य सब कुछ कर रहा है, उसका क्या होगा यह बात इस कलशमे कही जा रही है।

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः, क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इद निरामयपदं सवेद्यमानं स्वयम्, ज्ञान ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥१४२॥

१११४–ज्ञानगुणके विकास बिना दुष्करतर क्रियावोसे केवल क्लेश लाभ—

अनेक पुरुष साधु सन्यासीजन यदि वे बडी कठिन क्रियायों द्वारा खेद पाते है तो पायें, वे स्वय कष्ट पा रहे हैं, इसके लिए हम क्या समझायें ? नही मिला स्वाध्याय, अच्छे विरक्त पुरुषोका सग अधिक नही मिला, नही मिला तत्त्वज्ञान तो वे स्वय ही अपने आप इस दुष्कर मायने कठिन, हर एक से न किया जाय, ऐसी क्रियावोको करके कष्ट पाते हैं तो क्या करे। देखिये वे दुष्करतर कर्म कौन है जिनकी बात यहाँ कही जा रही है ? जैसे वर्षाकालमे वृक्षके नीचे आवास रहना, शीतकालमे नदीके तीरपर आवास रहना, गर्मीके समय पर्वतोपर आवास बना हुआ है, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, कठिन उपवास आदिक कोई कठिन क्रियाये चल रही है तो ऐसी क्रियायें ये मोक्षके उन्मुख हैं याने विपरीत क्रियायें नही हैं, मोक्ष पानेवाले पुरुषोंके ऐसी क्रियाये होती हैं, मगर जिन्होंने ज्ञानलाभ नही पाया, अपने आत्माके सहज स्वरूपका परिचय नही पाया उनकी बात यहाँ चल रही है कि वे अगर ऐसी क्रियावो द्वारा कष्ट पाते है तो पायें, किन्तु उन्हे ज्ञान गुण नही मिला, तो मोक्षकी सिद्धि नही होती।

१११५–मोक्षमार्गमे सवेग चलने वालोकी बाह्य मुद्रा—

देखिये, जो पुरुष मोक्षमार्गमे चले है उनके चरित्र पढे, पुराण पढे, समझे, युक्तिसे भी जाने। जब तक आत्माके ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेके लिए तीव्र धुनि नही होती तब तक उसमे सफलता नही मिलती और जिसके तेज धुन हो जाय वह क्या इन मौजोको पसद करेगा ? जैसे घरमे रहना, खूब स्वच्छद आहार विहार करना, एक अपने शरीरका पोषण, और और भी लौकिक बातें इन बातोको कोई पसद करेगा क्या ? उसे तो अपने आत्माके स्वरूपकी धुन लग गई है। तब उसकी मुद्रा क्या बन जायगी ? शरीर तो रहेगा, शरीर तो कही गया नही और उन मौजोमे इसका मन है नही, उसकी तो धुन लगी है अपने आत्मस्वरूपकी ओर तो उसकी मुद्रा क्या बनेगी ? उसकी मुद्रा बनेगी निर्ग्रन्थ। शरीर तो छूट न पायगा, चीजें छूट जायेगी इसीलिए बतलाया गात्र-मात्र परिग्रह। मुनिका स्वरूप क्या है ? मानो शरीर मात्र ही परिग्रह रह गया, वह कहाँ छूटेगा ? यही तो निर्ग्रन्थ अवस्था है। अन्तस्तत्त्वकी धुन प्रबल हुई तब यह निर्ग्रन्थ अवस्था मिल पायी। इसका लक्ष्य है कि अपने आत्माके सहज स्वरूपमे हमारी मग्नता बने, बाकी जो प्रसग है उनमे दिल लगना वह तो बहुत बाधक है, उनसे तो छुट्टी पा लें। अब शरीर साथ है और यह शरीर आहार बिना ठहर सकेगा नही, यह बात सब लोग जानते हैं तो उसे योग्य आहार भी करना होता। देखिये वहाँ एक अपने आपके स्वरूपमे इतनी धुन है, इतनी हठ है कि वह आहार नही करना चाहता, मगर विवेक मानो हाथ पकडकर कहता है कि अरे ऐसा न करो, उठो, चर्या करो। धुन इतनी है कि वह कुछ चाहता ही नही है। न आहार चाहे, न और किसी बातकी चाह है, केवल एक आत्मस्वरूपमे लगनेकी धुन है। उसीमे ही वह तृप्त रहता है।

लेकिन घटना और प्रकार है। शरीर आहार बिना ठहरता नही, तो उसीसे ही यह विवेक जबरदस्ती उठाता है, चलो निपट आवो आध पौन घटा इस झझटसे भी । देखो आहारके कामको भी वह निर्ग्रन्थ मुनि झझट समझ रहा। जिसे आत्माके सहज स्वरूपकी धुन है उसे बाहरी कोई बात सहन नही होती मगर विवेक समझाता है कि चर्या करो, आहार करो।

१११६—उपदेशादिमे भी ज्ञानीके स्वलक्ष्यकी धुन—

ज्ञानी जब आत्मस्वरूपमे मग्न नही हो पाता तो उपदेशके बहाने ही अपने आत्माकी दृष्टि बनाने का भीतर बहुत काम करता । जैसे कोई लोभी पुरुष कही भी किसी जगह किसी भी बातमे, किसी भी प्रसगमे फसे, लेकिन वह अपनो मुद्दाकी बात पहले रखता है, इसी प्रकार यह निर्ग्रन्थ मुनि आहार विहार शिक्षा दीक्षा उपदेश आदिकके सब काम करते हुए भी, परिस्थिति ऐसा करा रही है तो भी अन्तस्तत्त्वमे उसकी धुन और उन सब बातोमे ऐसी ही एक वृत्ति होती है कि उसका कुछ वेग अपने आपके स्वरूपकी ओर होता है। तो ऐसा आत्मधुनिका पुरुष उस धुनमे चल रहा है, जगलमे है, कोई भेष नही, शरीरमे वस्त्रादिक नही, भयकर शीत पड रही है, उस परीषहको वह मुनि सह रहा है। गर्मीके दिनोमे भीषण गर्मी सहता है। ये सब बातें उस मुनिकी चल रही हैं। इतनेपर भी कदाचित् कोई दोष लग जाय तो उसका प्रायश्चित्त लेता है। देखिये शरीरिके दोषका दण्ड कम है और मानसिक दोपका दण्ड विशेष है। कही यह न समझना कि मानसिक दोष हुए बिना शारीरिक बडे दोप हो जाते हैं। अरे दोषोकी बात तो मनके बिगाडसे बतायी गई है, दण्ड भी लेते—क्यो ऐसा दोष बना ? मनकी अस्थिरता होना पसद नही। मन स्वच्छद न चले, इसके प्रतिक्रमणके लिये कठिन-कठिन जो कर्म होते है वे सब मोक्षके उन्मुख हुए पुरुषोकी बाते हैं, लेकिन अज्ञानीजनोके तो ज्ञान गुण बिना वे सब केवल कष्ट ही कष्ट हैं।

१११७—व्यवहारचारित्रकी प्रयोजकताका लक्ष्य अन्तस्तत्त्व—

जैसे किसीको चावलोकी आवश्यकता है तो वह धान खरीदकर लाया, जिसपर मटमैला छिलका है और उसने प्रयोगसे चावल निकाल लिया, उस चावलको बेंचकर उसने लाभ कमाया। अब कोई दूसरा आदमी जिसे चावलका ज्ञान नही, यदि वह वैसे ही मटमैले धानके छिलके किसी मिलसे धान के भावमे खरीदे, जिनके अन्दर चावल तो रहे नही, तो बताओ उनको खरीदकर वह क्या लाभ कमा सकेगा ? उसे चावलका ज्ञान नही, प्रयोजनका ज्ञान नही तो वह क्रियाये चाहे जो कर डाले, वे कार्यकारी न होगी। देखो जो काम सेठने किया वही काम इस दूसरे पुरुषने भी किया, पर सेठने तो लाभ पाया और वह पुरुष हानिमे रहा। क्यो हानिमे रहा कि उसने उस धानके खरीदनेका प्रयोजन ही न जाना था। धान खरीदनेका प्रयोजन था चावल निकालना । इस प्रयोजनका पता न होनेसे उस दूसरे पुरुषने हानि सही । तो ऐसे ही समझो ज्ञानीजन अपने मोक्षमार्गमे चलते हैं, तो उनको करनेके लिए बीच बीचमे अनेक क्रियायें आया करती हैं। ठडके दिनोमे ठडीका परीषह सहते, गर्मीके दिनोमे गर्मीका परीषह सहते, अब उन बाह्य क्रियावोको देखा अज्ञानी जनोने, उनके अन्दरमे क्या धुन है इस बातको अज्ञानियोंने परखा नही, सो अपना निर्णय उन अज्ञानी जनोने यह बना लिया कि ऐसा तपश्चरण करना ऐसे क्रियाकाण्डोको करना यही मोक्षका मार्ग है, अब ऐसे ही क्रिया काण्ड कोई करता फरे, बाह्य तपश्चरण खूब करे, पर उससे मोक्ष प्राप्त करने का लाभ तो न मिल पायगा।

१११८—मोक्षोन्मुख व्रत तपकी मुद्रा होनेपर भी ज्ञानतत्त्वके आश्रय बिना मोक्षमार्गकी अप्राप्ति—

जैसे यहाँ कोई बालक किसी बातमे हठ बनाकर कष्ट पा रहा है तो उसे कहते हैं कि यह तो

अपने आप कष्ट पा रहा। इसी तरह यहाँ भी कह रहे कि यह अज्ञानी बालक, जिसने अपने आत्माका ज्ञान नही प्राप्त किया उसे अज्ञानी कहा, जहाँ जो अज्ञानी है वह उस विषयमे बालक है, वह यो निरखकर कि ऐसी क्रियावोसे मुक्ति मिलती है, कर रहे है क्रियाये बडी कठिन कठिन, तो ऐसे क्रियाकाण्ड करके भी वे शान्ति तो नही पाते, कष्ट ही पा रहे, क्योकि जहाँ रमना चाहिए, जहा अपने मनको लगाना चाहिए, जो स्वपद है, उस स्वरूपका ज्ञान नही है तो ऐसी कठिन क्रियावोको करके कष्ट पाये तो पाये कुछ और लोग भी, कुछ सन्यासीजन ज्ञानगुणसे रहित होकर महाव्रत और वडे तपश्चरणका बडा भार लादे मायने अधिक तपश्चरण वगैरह सब कुछ करे, किंतु यदि ज्ञानान्मुख नही है, ज्ञानदृष्टिसे विपरीत चल रहे हैं और इन्ही क्रियाकाण्डोपर दृष्टि है, इन्ही क्रियाकाण्डोको करके समझते कि मैं खूब बडा हो गया, और लोग ऐसा कुछ नही कर सकते, मैं ही यह करनेमे समर्थ हू आदिक बातें लादकर भीतरमे अहकार बसे और न भी अहकार बसे, कुछ थोडी बहुत धर्म बुद्धि भी हो, जिसे लौकिक रूपमे कहेगे उस धर्मका ख्याल ही बनाकर और बडी एक मद कषाय करके इस तपश्चरणमे लगे तो भी अगर ज्ञानगुण प्राप्त न हो तो केवल वहाँ भी कष्ट ही कष्ट है, ऐसे वे कष्ट पाये तो पाये, उन्हे मोक्षमार्ग नही मिल पा रहा, क्योकि ये बाहरी क्रियाकाण्ड मोक्षपद नही है, मोक्षका पद मोक्षका स्थान तो एक ज्ञायक स्वरूप, ज्ञानविकास, ज्ञानका स्वच्छ परिणमन यह है मोक्षमार्ग तो क्या जो कुछ कहा गया है चरणानुयोगमे, अगर इसका कुछ मतलब ही नही है तो फिर यह चरणानुयोगमे बताया क्यो गया ? ये तप हैं, ये परीषह है, यह अहिंसा है ? अरे यो बताये गये कि जो मोक्षमार्गमे चल रहे है ऐसे ज्ञानी पुरुष अखिर जिन्दगी तो है, शरीर तो रह रहा, कही तो रहेगा, उसपर क्या बीतती है ? उसकी क्या वृत्ति बनती है ? वही वृत्ति चरणानुयोगमे बतायी गई है। सो ऐसी बातोको देखकर कोई अज्ञानी अगर कष्ट पाये तो पाये मगर साक्षात् मोक्ष पद तो यह ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व है। और, यही निरापद पद है।

१११९—ज्ञानपदकी स्वसंवेद्यता—

ज्ञान ज्ञानमे रमे, ज्ञानस्वरूप ज्ञानमे बसे निर्विघ्न, निस्तरग कष्टरहित बने तो ऐसा उपयोग अथवा वह एक जिसमे प्रगति कर रहे है वह ज्ञानगुण, वह ज्ञानविकास ही निरामय पद है। आमय मायने रोग, भीतरी रोग, बाहरी रोग, शारीरिक रोग, आध्यात्मिक रोग और जन्म जरा मरण आदिक सब विपत्तियोसे दूर है वह ज्ञानपद जो स्वय अपने आपके सवेदनसे ही ज्ञानानुभूति रूपमे सवेद्य होता है, ज्ञानको कैसे जाना जाय, तो वह शब्दका विषय नही है, वह क्रियाका विषय नही है, वह तो एक ज्ञानवृत्तिका विषय है। ज्ञानमे ज्ञान लगे, ज्ञानमे जैसे ये बाहरी पदार्थ जाननेमे आ रहे हैं, ये जाननेमे न आयें और ज्ञानका ही क्या स्वय स्वरूप है, जो जाननहार है वह क्या स्वरूप रख रहा है, जान रहा है वही ज्ञान वह स्वय अपने ज्ञानको जान जाय यह है ज्ञानस्वरूप। यह ही कहलाता है ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयमे भेद न रहना। ज्ञान ही जाननहार है, ज्ञान ही जाना जा रहा है और वही ज्ञानसाधन है, जिस वृत्तिके द्वारा वह जाननेमे आ रहा है ऐसा जो ज्ञानगुण है, ज्ञानका माहात्म्य है, यह जब तक प्राप्त नही है तब तक किसी भी प्रकार यह जीव मोक्ष मार्गमे प्रायोगिक कदम नही रख पाता और यह ज्ञानप्रकाश ज्ञानके प्रयोग विना किसी भी प्रकार पाया नही जा सकता।

११२०—अन्तरात्माको निजकी अनादिमुक्तताका दर्शन—

देखिये मुक्ति तो आत्माको दिलाना है कि और किसीको ? जिसको मुक्ति दिलाना है वह स्वय

क्या है याने किसे दिलाना है यह बात अभी आत्मामे नजर तो आये ? मुक्ति तो मिलेगी बहुत काल बाद, पर इतना तो ध्यान रखना है कि यह दिलाना इसे है। जैसे किसीके विवाहकी तिथि रख दी—भाई अगहनमे विवाह है, पर उसे अभीसे मालूम है कि यह होना है, आरोपित तो हो रहा है, इस कन्याका या इस बालकका विवाह होना है यह बात आयगी जैसा कि अभी कल्पनामे आ रहा है। यदि उसका कुछ रूपक ही पहलेसे ज्ञानमे न बने तो वह भावी प्रोग्रामकी बात कैसे करु। उसकी सूझ इस वक्त आरोपितमे न हो, समझमे न हो तो क्या वह काम बन सकेगा ? न बन सकेगा। ऐसे ही समझो कि इस आत्माको मुक्त करना है, यह बात यहाँ अभी ज्ञानबलसे अन्त' समझमे तो आये। वह समझ भी तो यही है कि आत्माको केवल बनता है, इसीके मायने है मोक्ष। जो यह आत्मतत्त्व है, पदार्थ है, ज्ञानस्वरूप है, जो ज्ञान है यह केवल रह जाय, इसके साथ दद फद उपाधि सम्पर्क विभाव कुछ भी बात न रहे और यह आत्मा केवल रह जाय, इसीको कहते है मोक्ष। क्या ऐसा हो सकेगा ? हाँ हो सकेगा। क्योकि सत्त्वमे यह केवल ही है। यह दूसरेको लिए हुए नही है, किसी दूसरेकी सत्तासे इसकी सत्ता नही है, यह स्वय सत् है, सहज है, ज्ञानस्वरूप है, अपने आप अपनेमे सहज एकत्वगत है।

११२१—आवरणविगम होनेपर वस्तुके सहज यथार्थ स्वरूपका विकास—

जैसा आत्माका सहजस्वरूप है वैसा ही प्रकट हो, यह बात बन सकती है। जैसे धोतीमे मैल बहुत लग गया और धोना है उसे, तो धोने वालेकी समझमे है ना कि यह धोती साफ हो सकती है अर्थात् यह मैल जो चिपट गया, इसके बिना धोतीका जो स्वरूप है वह स्वरूप निकल सकता है, यह मैल दूर किया जा सकता है और धोतीका अपने आपका रूप निकल सकता है यह उसकी समझमे है ना, तब ही वह जल्दी सफाई कर लेता है तो ऐसे ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानीकी समझमे यह बात बनी हुई है कि यह सहज एकत्व निश्चयगत यह अतस्तत्त्व यह है, इस पर आवरण आया है—साक्षात् तो विभावोका निमित्तदृष्टिसे कर्मोंका, प्रसगसे शरीरका, ये सब लदे है हमपर, मगर यह तो भीतर अपने आपके उस ही स्वरूपको रख रहा है, भला बतलावो निगोद अवस्थामे रहा तो कुछ ऐसा ही लगता कि जान ही नही थी। अक्षरके अनन्तवे भाग तो ज्ञान, वह कोई ज्ञानमे ज्ञान है और ऐसी ऐसी उसकी बेहोशी कि कुछ पता ही नही। यहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुको देखलो, बनमे जीवत्व सिद्ध करनेको बडी युक्ति लगाना पडती। सहसा तो लोग जानते कि इनमे जान ही नही है, ऐसी-ऐसी स्थितियोमे जीव रहा और यही जीव मनुष्य बना, मुक्त हुआ, भगवान हुआ तो क्या उसका वह चैतन्यस्वरूप ऐसी स्थितिमे बदल गया था ? वह तो अन्त वहीका वही है। कितना आवरण था, कितनी ही विपत्तियोका एक आक्रमण था। न उठ सके न बोलते बने, किन्तु स्वरूप तो स्वरूप ही रहता है, वह कही मिटा नही। ऐसे ही अपने आपमे उस ज्ञानमात्र सहज स्वरूपको निरखा और उससे निर्णय किया कि यह ही स्वरूप जब केवल एक बन जाय इन उपाधिभाव प्रसगोसे यह अलग हो जाय, बस यह ही तो चाहता है, क्योकि ऐसा हुए बिना सब कष्ट ही कष्ट है।

११२२—आत्माकी भलाईकी साधना—

कहते हैं ना कि आत्माकी भलाई किसमे है ? तो कहा कि जहाँ सुख मिले, आनन्द मिले उसमे है। वह आनन्द कहाँ है ? वह आनन्द है निराकुलतामे। और, निराकुलता हो, ऐसी बात कहाँ मिलेगी ? तो ऐसी बात मोक्षमे मिलेगी। अच्छा ऐसी बात है तो मोक्षके लिए ही अपनेको प्रयत्न करना चाहिए। देखिये मोक्ष लोकके ऊपर है उस जगह पहुचना है, ऐसी दृष्टिसे प्रयत्न न बनेगा,

किन्तु स्वरूप मुक्तस्वभाव है, परभावमुक्त है अपने आपमे स्वय एकाकी है, इसीको कहते हैं सदामुक्त, यो एकत्वनिश्चयगत आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे ही सब समझना है। नही तो इतनी गडबड होगी कि इसे कोई मार्ग ही न मिल पावेगा। स्वरूप सब अपने आप समस्त परसे मुक्त है ऐसा अपना एकत्व, स्वरूपत यह विविक्त दशा यहाँ निरखना है, यहाँ का आश्रय लेना है। इस स्वाश्रयसे मुक्तिपद प्राप्त होगा किन्तु बाहर दृष्टि डालनेसे नही, वे परतत्त्व हैं। जानता तो यह जरूर कि वहाँ है मोक्षका स्थान और नमस्कार भी करता, वन्दन भी करता, मगर श्रद्धान नही रखता कि वहाँ पहुच जायेगे तो मुक्ति मिलेगी। वहाँ तो निगोद जीव भी रह रहे। जान तो सब रहे हैं कि इतना स्थान है सिद्धका और जब सिद्धभक्ति करते है तो वहाँ दृष्टि भी रखते है और वहाँ ध्यान भी बनाते है, पर प्रतीति सही रखते है, इसी बातका सकेत दिया है पूर्वप्रयोगात् इत्यादि सूत्रमे। पहले उस सिद्धालयकी बहुत-बहुत भावना की, वहाँ परिचय बनाया, ज्ञान बनाया या मुक्त होते ही ऊपर जाता है। वस्तुत तो ऊर्ध्वगमन स्वभाव है जीवका, मगर कुछ औपचारिक बातें भी कही जाती। तो अपने आपमे अन्त प्रकाशमान जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसकी उपसना किए बिना किसी भी क्रियाकाण्डसे मुक्ति प्राप्त नही होती। और वह ज्ञानगुण मिल जाय तो ये बाते आती है, और इनमे से गुजरता हुआ ही तो यह जीव आगे बढता है।

पदमिद ननु कर्मदुरासद सहजबोधकलासुलभ किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

११२३—वर्तमान भवका पिण्डोला—

देखिये—हम आप जो एक पिण्डोला बैठे हैं तो यह तीन चीजोका समुदाय है। है तो दो का ही समुदाय जीव और पुद्गल, पर उस पुद्गलमे दो जातियाँ हैं—(१) आहारवर्गणा और (२) कार्माणवर्गणा। तब इनका विपरिणमन होनेसे तीन बातें बतला रहे—(१) जीव (२) कर्म और (३) शरीर। जीव तो एक परिपूर्ण एकाकी द्रव्य है, और कर्म वह अनेक परमाणुका समूह है, यह कार्माण जातिका है याने उस जातिमे कर्मरूप हो परिणमन बनता है। और आहार वर्गणाओका पिण्ड है, शरीर, तो यह भव तीनका पिण्ड है, और वर्तमानमे कुछ ऐसा कसा हुआ सा है कि ये शरीर और जीव दोनो एक दूसरेसे जुदे जुदे हो जाये यह बात नही बन पाती। ऐसी एक कठिन सी दशा है। एक बार एकने अपने मित्रसे कहा—भाई कलके दिनको तुमको हमारे यहाँ आहार करनेका निमत्रण है, पर एक काम काम करना, मैं बहुत गरीब आदमी हूँ, सो आप अकेले ही १० बजे चले आना, अपने साथ किसी दूसरेको मत लाना। 'अच्छा साहब। अब दूसरे दिन १० बजे दिनमे वह पहुँच गया आहार करने। तो उससे कहा—भाई आ गए? 'हाँ आ गए। 'पर हमने तो कहा था कि आप अकेले आना सो? "अरे अकेले ही तो आये हैं।"'कहाँ अकेले आये? साथमे ये अनन्त आहार वर्गणायें लेकर आये, अनन्त कार्माण वर्गणाये लेकर आये।"'अब भला बतलाओ ऐसा एक अकेला कोई आ सकेगा क्या? नही आ सकता, क्योकि शरीर और जीवका ऐसा ही विकट बन्धन चल रहा। फिर भी स्वरूप देखो तो जीवमे जीव ही है दूसरा कुछ नही, यहाँ तक कि जैसे कहते हैं कि आकाश मे जीव है, यो यहाँ परका आधार भी नही बनता, मगर स्वरूप देखो आकाशमे आकाश है, आकाशमे कोई दूसरी चीज नही। ऐसे ही जीवमे जीव है और कोई दूसरी चीज नही। तो स्वरूपकी ही बात देखिये।

११२४—निमित्तनैमित्तिकभावके प्रसंगमे भी जीवका जीवस्वरूपमे ही अवस्थान—

यद्यपि परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे हो तो रहा है सब कुछ। जैसे यहाँ हम हाथ हिला रहे तो यह हिलनेमे तो आ रहा है पुद्गल, मगर यह पुद्गल हाथ हिलता है तो कैसे हिलता ? इसमे वायु भरी है, शरीरमे वात पित्त कफ है सो वायुके चलनेसे यह हाथ हिलता है और वायु इस तरह चली उसका निमित्त क्या है ? जीवके प्रदेशका उस प्रकार परिस्पद होना है, उसका निमित्त पाकर यह वायु चली, और जीवके प्रदेशमे परिस्पद हुआ, इसका हेतु क्या है ? जीवने उस प्रकारकी दृढ इच्छा की अपनेमे वेगमय भाव बनाया कि उसका निमित्त पाकर उसका उस ही मे योग हुआ और जीवमे यह इच्छा हुई सो क्यो हुई, ऐसा विकार बना सो क्यो बना ? देखिये खुदके विकारमे खुद निमित्त कभी नही कहा जाता और जितनी विषम स्थितियाँ होती हैं वे उपाधिसन्निधान बिना हो ही नही सकती। तो अब उत्तर देना चाहिए कोई निमित्त दृष्टिसे। इच्छा क्यो जगी ? भाई उस प्रकारका कर्म प्रतिफलन हुआ।" यह क्यो हुआ ? उस प्रकारका कर्मका विपाक उदयमे आया। वह क्यो बना ? उदयमे क्यो आया ? उस प्रकारकी स्थिति बँधी थी, उस प्रकारका कर्मबध था। ये स्थिति और बध क्यो हुए थे ? वह पूर्वका ऐसा ही जीवके रागद्वेषका भाव था उसका निमित्त पाकर ये हुए। फिर रागद्वेष क्यो हुए ? कर्मविपाकका निमित्त पाकर, चलते जावो, कही विराम न मिलेगा, क्योकि वह अनादिसतति बन गई इस योगकी। जिसे मोटे रूपमे समझते हैं भावकर्म और द्रव्यकर्म। भावकर्म पहले था या द्रव्यकर्म ? द्रव्यकर्मके उदयमे भावकर्म बना और भावकर्मके होनेसे द्रव्यकर्म बना, यह परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। तो पहले क्या बना था, बतावो। बीजसे वृक्ष हुआ, जो वर्तमानमे वृक्ष खडा है वह बीजसे हुआ और जिस बीजसे हुआ वह बीज कहाँसे आया ? वह वृक्षसे आया, और वह वृक्ष कहाँसे आया ? बीजसे आया। 'तो पहले बीज था कि वृक्ष ? चित्त तो चाहता है कि कहदूँ किसी एकको, क्यो दूसरोको दुविधामे डाले, पर उत्तर समझमे नही आता कि किस एकको बतायें। यह कहलाती है अनादिसतति। हम आप हुए है, हम आपके जनक पिता है, और वह पिता किसी दूसरे बापसे हुआ, वह बाप किसी दूसरे बापसे हुआ। यो उत्तर लेते जावो तो क्या कोई ऐसा भी बाप था कभी जो बिना बापका हो ? अगर किसीको कहा जाय ऐसा कि यह तो बिना बापका है तो वह तो गाली समझेगा तो ऐसी अनादि सततिके कोई उत्तर नही होते। फिर उसको घटना स्वभावमे डाल देते हैं—स्वभावोऽतर्कगोचर ऐसा सब कुछ होते हुए भी जीव जीव ही है, पुद्गल पुद्गल ही है, वहाँ स्वरूप नही बदलता।

११२५—जीव, कर्म और शरीरकी क्रियायें जानकर स्वक्रियासे सतोष पानेका सदेश—

अब यहाँ बाते तीनकी देखना—जीव, कर्म और शरीर। शरीरकी कोई क्रिया हुई, उपसर्ग सहा, शीत वायु आदिक जो योग हैं वे चल रहे, क्रियाकाण्ड भी जिन्हे कहते है, शरीरकी जो क्रिया हैं उनका काण्ड मायने समूह, इन्हे बोलते क्रियाकाण्ड। तो ये क्रियाकाण्ड इनका उपादान क्या है ? यह शरीर। अच्छा और चाहिए क्या आपको ? आपको चाहिए कि हमारा जो निज पद है ज्ञान-स्वरूप सहज ज्ञानभाव वह हमको मिल जाय। तो भला वह ज्ञानभाव हमको इन क्रियावोमे मिलेगा या निजके ज्ञानसे मिलेगा ? देखिये थोडा अगल बगलकी बात कहे और अगर प्रयोजनवश स्वरूपका निरखन मुख्यताम किया जाता है तो बुरा क्या, जिसमे हम अपने उस सहज स्वभावपर पहुच जायें, वह तो उचित ही है। क्योकि समस्त उपदेशोका प्रयोजन सार केवल एक अपने आपके स्वभाव भावका

आश्रय करना है। जगतमे हम आपको कोई शरण नही। वर्तमानमे कुछ कपायसे कषाय मिल गई और उसपर इतना लट्टू हो गए कि यह तो है मेरा और बाकी है गैर। इस भावका फल अच्छा नही मिलनेका। इसमे कोई अटक क्यो हो ? वस धुन हो एक स्वभावदर्शनकी। उसके लिये ही अपना अभिप्राय बनाये। किसी प्रकारकी अटक धर्ममार्गमे न बनाना चाहिए। एक बार कपाय आ गई तो आ गई, कोई कपाय हो गई, मिटा लिया, उसके पीछे उसकी वासना, उसमे अहपनेका अनुभव, मैं तो यह हू, यह कहलाती है अटक। कपाय तो एक गुजरनेकी बात है, अटक दो तरहकी होती है—(१) खटक भरी अटक और (२) केवल अटक। अटकमे भी दो भाग हुआ करते। जितनी कपाये हैं क्रोध, मान, माया, लोभ, व्यापार, यहाँ वहाँ, यह सब अटक कहलाती है, मगर किसीमे ऐसी अटक बने जिसमे कि एक अह का अनुभव हो, मै तो ऐसा हूँ, मै तो इतना हूँ, इस पार्टीका हूँ इस प्रकारका परभावमे जहाँ अह का जमाव बनता है जिस परतत्त्वमे, वह अटक है खटक वाली अटक। अटक हो तो भी कभी बात बन सकती कि पार हो सकते, पर खटक वाली अटकसे पार नही हो सकते। हम आत्मा हैं, हमको तो एक विशुद्धि चाहिए, आनन्द चाहिए, शान्ति चाहिए, और कोई प्रयोजन नही। बडी कठिनाईसे यह मनुष्यजन्म पाया, यह बार बार मिलनेका नही। यहाँ सही निर्णय बनाले, चूकिये नही कि मेरी भलाई किस प्रकारकी प्रवृत्तिमे है, किस प्रकारके भावमे है। धर्मके लिये जो बहुतसे होड लग रहे हैं क्रियाकाण्डसे या अन्य बातसे चर्या आदिकसे, तो वे एक दफे थोडी देरको भक्ति सहित सत्कार पूर्वक क्रियाकाण्डको किसी आलेमें विराजमान कर देवें और इस बातकी स्वच्छताके लिये अपना दृढ अभिप्राय बना लेवे कि मुझे यह निर्णय करना है कि अपने भाव कैसे रखें कि जिससे मुझे सन्मार्ग मिले। यह निर्णय करके फिर सत्कारपूर्वक आलेसे क्रियाकाण्डको उतार कर उसके प्रयोगमे परिस्थितिवश लग जावो।

११२६—स्वपदकी कर्मदुरासदता—

जीवका स्वभाव है, स्वभावाश्रय करना मगलमय है, मगर वह मिलेगा कैसे ? इन क्रियाकाण्डो से नही। आखिर यह मुद्रा कहाँ फेंकी जाय, शरीरको कहाँ मिटा दिया जाय। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियाँ होती हैं, तो कही उनको गलत तो न करने लगे। ये सब बाते सही होती हैं, मगर स्वरूप-निर्णयमे तो देखो, मेरे आत्माका जो एक अन्तस्तत्त्व बताया है उस पदका दर्शन यह हिलता हुआ हाथ करेगा या मेरा यह ज्ञानोपयोग करेगा ? यह पद, अपना एकत्वपद याने सर्वपर्यायोंमे जो एक स्वरूप रहता है याने जो आधार है उसका दर्शन ज्ञानसे होगा। एक मोटी बात दृष्टान्तमे लो, एक आम है, जब वह पहले छोटा होता फूलमे तो उसका रुप काला होता है। जब कुछ और बढ़ता है तो नीला बन जाता है। फिर कुछ और बडा हुआ तो हरा बनता है, और बड़ा हुआ तो पीला बन गया, फिर लाल बन गया फिर पक गया, और सड जाय तो सफेद बन गया। तो अब जिस आममे इतने रुप परिवर्तन हुए सो ये परिवर्तन तो समझमे आ गए कि देखो यह नीलेसे हरा बन गया। मगर कौन बन गया ? गुणभेदमे बात करना। रूप गुण बन गया। जो रूपगुण अभी नीली अवस्थामे था वह रूपगुण अब हरी अवस्थामे आ गया और अब वही रूपगुण पीली अवस्थामे आ गया तो ये तो हरी, पीली, नीली आदिक अवस्थाये बन गईं, मगर रूपगुण वह एक ही है। इसे कहो रूपगुण, रूप शक्ति। यह रूपगुण, यह रूपशक्ति आपको आँखो न दिखेगी। उसकी अवस्था तो बराबर दिख रही हरा, पीला, नीला आदिक, जब आप रूपशक्तिको भी इन आँखोसे नही देख सकते जो पुद्गलकी बात

कह रहे हैं वह भी आप ज्ञानबलसे समझ रहे तो भला बतलाओ कि हमारे जो निरन्तर भाव चल रहे उन भावोका जो स्रोत है, भावोकी जो धुरा है, भावोका जो बीज है चैतन्यधातु वह ज्ञानस्वभाव वह क्या हाथोसे समझ लिया जायगा ? वह क्या क्रियासे जान लिया जायगा ? अरे वह तो ज्ञानबलसे ही ज्ञानमे आयगा। तो यह जो पद है आत्माका एक चैतन्यस्वरूप, वह क्रियासे पाया नही जा सकता उसका क्रियाकाण्डसे पाना कठिन है, यह तो सहज बोधकी कलासे सुलभ है।

११२७—स्वपदकी सहजबोधकलासुलभता—

सहज ज्ञानकला मायने अपने स्वरूपका परिचय, इसको सहज बोध क्यो कहा ? स्वरूप बोध कह देते। सहज बोध याने कोई पर पदार्थका ज्ञान, यहाँ हम आप लोग जान जानकर कर करते, लग-लगकर करते, इसे समझा, उसे समझा, फस-फस कर करते हैं, जान जानकर लग लगकर कर्म करने की आदत छोड दें और ऐसा सोच ले कि मुझे कुछ नही जानना है, मुझे कुछ नही समझना है, कही हमे दृष्टि नही लगाना है। हम तो आरामसे बैठे हैं। तो वहाँ जो सहज बोध बन गया सो जानेगा कैसे नही ? निजका स्वरूप जानना पडेगा। अगर यह ज्ञान पर पदार्थको न जानना चाहे और ऐसा नियत्रण कर दे कि हम तो बैठे हैं, हमे कुछ पता नही कि किसके जाननेसे भला है और किसके जाननेसे बुरा है, और इतना भी विकल्प क्यो करू, हम तो कुछ जानना ही नही चाहते। हम तो कुछ भी ज्ञानमे विकल्पमे नही लाना चाहते, हम तो बस यो ही निष्क्रिय बैठेंगे। वहाँ सहज बोध जगेगा और वहाँ स्वरूपस्पर्श बनेगा। जैसे मानो किसीको चाह है कि मुझे धर्म करना है और वह इस सन्देहमे पड गया कि सभी लोग अपनी अपनी बात बखानते है, हिन्दू अपनी बात कहेगे, वैष्णव अपनी कहेगे, साख्य अपनी कहेगे, ईसाई अपनी कहेगे, जैन अपनी कहेगे, बौद्ध अपनी कहेगे, वे सब अपनी-अपनी बात बडी बडी दृढतासे कहते हैं कि हमारी बात तो सत्य है बाकी सब मिथ्या है। तो जब कुछ सन्देहमे कोई पड गया एक निष्पक्ष व्यक्ति कि वास्तवमे धर्म क्या है, हम कौनसे मजहब पर चले ? कल्याण चाहने वाला है वह तो वह भी एक उपाय बनाकर देखे कि जब एक भ्रम बन गया और सब अपनी अपनी गा रहे तो विश्वासके योग्य तो कोई न रहा। जिसे देखो वह अपनी गाता है, जैनियोको देखो वे अपनी गाते हैं, बौद्धोको देखो वे अपनी गाते हैं, एक निष्पक्ष कल्याणकी अभिलाषा वाला पुरुष जो नया-नया आया है, कल्याण मार्गमे उतरना चाहता है तो वह एक असमजसमे पड गया, मुझे क्या करना चाहिए। तो उसको एक सद्बुद्धि आनी चाहिए कि जब सबमे सदेह हो गया तो तुम सबकी बात छोड दो, किसीका विकल्प न रखो और सारे विकल्प छोडकर विश्रामसे अपनेमे बैठ जावो, आराम करो, हर एक कोई अपनी अपनी गाता है। तो जो हमने पहले सुन रखा कही भी, हमे हृदयमे नही रखना है, जो कभी कोई समझाये वह भीतर हमे हृदयमे नही रखना है। हमे तो बस एक ही काम करना है कि बस सबको भूलें, सबका विकल्प छोडे, किसीका भी ज्ञान ध्यान न बनायें, ऐसे सर्व विकल्प छोडकर एक ठडी श्वास लेकर आरामसे अपनेमे ठहर जाना, विश्राम पाना, याने लादनेका व्यापार रोककर किसी प्रकारकी व्यग्रता न करें। शान्त होकर बैठें और सोचे कि मुझे अगर कोई उत्तर मिले तो मिल जाय, मगर मुझे बाहरमे कोई उत्तर न चाहिए, ऐसा कोई ठान ले और बाहरी विकल्पोसे विराम कर ले और एक सहज आराम विश्राममे रह जाय, बस यह ही तो बनेगा उसका सहज बोध।

११२८—ज्ञानस्वरूप निज ब्रह्ममे ज्ञानको निस्तरग समा देनेका अनुरोध—

देखो ज्ञान तो ज्ञान ही है, अगर यह ज्ञान बाहरी पदार्थोका आश्रय तज दे तो ज्ञान ज्ञानका

आश्रय तो नही तज सकता । ज्ञान किसी बाहरी पदार्थको वास्तवमे जानता नही । किन्तु बाहरी पदार्थोके अनुरूप यह ज्ञान अपनेमे विकल्प बनाकर अपनी परिणति करता है, इसीको कहते है पर पदार्थको जानता है । तो पर पदार्थका आश्रय न करे । यद्यपि परका विकल्प करता हुआ न परिणमेगा ज्ञान, मगर परिणति तो न मिटेगी । तो उसका परिणमन बनेगा अपने ज्ञानरूपसे, यह ही है एक सहज बोधकला, जिसे ज्ञानकला कहते । इस कलाके द्वारा अपने आपका वह सहज स्वरूप पाना सुलभ है, इस कारण हे आत्मावो ! अपने ज्ञानकी कलाके बलसे एक इस निज पदको प्राप्त करनेके लिए सतत यत्न करे । एक धुन बन जाय पहले । अपने इन २४ घटोमे धर्मके काम तो बहुत किए जाते हैं सो सब करे, पूजा, स्वाध्याय वदना आदिक सभी चीजे करें । एक काम और ध्यानमे लावे जो आपके लिए बडे कामकी बात है और आपका एक मार्ग निकलेगा, नि सशय अपना बल आप पायेंगे, किसी भी समय, और उसके लिये उपयुक्त समय है सामायिक का । सामायिकके समय जहाँ और अनेक बातें की जा रही हैं, पाठ भी है भावना भी है, सब बात की जा रही है तो सब कुछ कर लीजिए । पहले सब कर लीजिए जो कुछ करना है—आलोचना, प्रतिक्रमण, जाप, नामस्मरण, पर एक काम और यह साधना बनाना है कि बडी दृढतासे, आसानीसे अपने आपमे अपना जमाव बनावे, यथार्थ ऐसा अपने मनको बनावें अपने ज्ञानोपयोगको ऐसा समझावे कि कुछ क्षणके लिए तू किसीका भी ख्याल मत बना । और बनाता है ख्याल तो जिस जिस चीजका ख्याल आता है उससे ही बात करलो जरा पहले कि तेरा ख्याल करनेसे मुझे मिलेगा क्या ? कुछ भी ख्याल आये, दूकानका ख्याल, परिजनोका घरका, अन्य लोगोका ख्याल इनको चित्तमे लानेसे इस आत्माको सिद्धि क्या होगी ? उन्हीसे बात करो, उत्तर मिल जायगा । क्या मिलेगा कि यह व्यर्थका भटकना है । तो यह सब उपयोगका व्यर्थका भटकना छोडे । एक पौरुष बनावे कुछ समयके लिए इस तरहका कि मुझे किसीका भी ख्याल नही करना । सबका ख्याल छोडकर एक परम आराम तो लीजिए ।

११२६—निजबोधकलाके द्वारा परमविश्राम लेनेकी सम्मति—

जैसे कोई मजदूर ८ घटे काम करके खूब ईट गारा, बोझा ढो ढो करके सीढियोसे चढने उतरनेसे खूब थक जाता और बादमे जमीनमे ढीला ढाला पडकर किसीका भी ख्याल न बनाता हुआ, बडे विश्रामसे ठहकर विश्राम करता है । उस स्थितिमे उसकी थकान मिट जाती है । तो अनादिसे जो हम विकल्प करते आये उन विकल्पोकी बडी थकान चली आ रही है जिस थकानसे हम दु खी हो जाते हैं, उस थकानको मेटनेके लिए कोई उपाय करना परमविश्राम मायने कोई विकल्प न जगे, ऐसा एक अपने आपका भरसक प्रयत्न करे । कुछ ज्ञानमे न आये यह बात तो बन नही सकती मगर जैसे हम जानना, पहिचानना, मानना, ठानना जो हम एक बुद्धिपूर्वक उमग करके उचक उचककर कर रहे है ऐसे समस्त ज्ञानो का, विकल्पोका परिहार कर दे तो वहाँ सहज बोधकला प्रकट होगी, निज बोधकला बनेगी । निजबोधकलाके बलसे फिर हम अपने आपमे अन्त. प्रकाशमान अनादि अनन्त अन्तस्तत्त्वका अनुभव करेंगे । यह ही अपना वास्तविक शरण है । इसको छोडकर जगतमे कोई भी तत्त्व, बाहरका कोई भी पदार्थ, उसका साक्षात् आश्रय लेना यह करतूत हमारे लिए शरण नही है ।

अचिन्त्यशक्ति स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेव यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥ १४४ ॥

११३०—स्वजिज्ञासा—

अपने आपके सम्बधमे अन्त दृष्टि देकर कुछ निर्णय बनायें। मैं क्या हूँ, एकदम यह बात स्पष्ट होती है कि मैं कोई जाननहार पदार्थ हूँ, जानने वाला कोई तत्त्व हूँ। यह सब जानता है, पर वह किस प्रकार है, कैसा है, उसकी सब रूपमुद्रा तो जान ही लेना चाहिये। तो सामान्य रूपसे तो सभीमे यह बुद्धि है कि मैं हूँ कोई ऐसा पदार्थ जो जाननहार हो। अब जरा पदार्थकी बात देखिये—यह मैं जो ज्ञानमात्र हूँ सो पुद्गल पदार्थोकी भाँति रूप, रस, गध, स्पर्श वाला तो हो नही सकता, क्योकि रूपादिक हो तो उसमे जाननेकी बात कैसे आयगी ? रूप वाले पदार्थमें जाननेकी वात तो जरा भी समझमे न आ सकेगी। रूपादिकसे मैं रहित हूँ और जो मैं हूँ सो हूँ अमूर्त, और भी पदार्थ हैं, पर उनमे ज्ञान नही। यह मैं ज्ञानवान पदार्थ हूँ, तो चलो उस ही एक ज्ञानमात्र स्वरूपको छाँटकर, निरखकर, विविक्त कर केवल एक ज्ञानमात्र पदार्थको अपने आपमे निरखे तो इसका प्रभाव तो पडेगा। वाह्य विकल्प नही हुये, व्यग्रता नही रही और भीतर जो यह मेरा है, यह अमुक है, इस प्रकारका उपयोग न होनेसे यह शान्तिमे आया। अब आप अपने आत्मामे उतरें, ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखकर निर्भार बने, इतना ही पर्याप्त लाभ है।

११३१—परमार्थ सहज भगवान आत्माकी अचिन्त्यशक्तिका बाहरी दृश्योसे अवगम—

यह ज्ञानमात्र अन्तरतत्त्व कैसा है ? अचिन्त्यशक्ति है, आखिर इसमे कितनी शक्ति है, कितना अद्भुत प्रताप है इस ज्ञानमात्र आत्माका। एक लौकिक बातको ही जरा देख लेनेसे लोग चमत्कारमे आ जाते कि साधुवोको ऋद्धि उत्पन्न होती और यहाँ भी अनेक मनुष्योकी चेष्टायें देखनेमे आती। कोई मत्रवादी मत्र पढ रहा है, सर्पका विष उतर रहा है और कई लोग बताते हैं कि मत्र द्वारा काटने वाले सर्पको बुला लिया जाता है। और, नही तो इतना तो लोग देखते हैं कि सर्पका विष दूर हो रहा। लोग सोचते हैं कि बडी अद्भुत बात है। पर वह क्या है ? एक अचिन्त्य शक्ति आत्मा की वह सब महिमा है। मत्रवादीने क्या किया अपने आपमे ? इसने तो अपने आपमे अपनी भावना बनायी। हम तो सुनते कि पहले जो गजरथ चला करते थे तो चलनेसे पहले लोग ओझावोको प्रसन्न करते थे कि इसमे कोई बाधा न डाले। अच्छा क्या बात होती थी कि ओझा लोग जो कुछ जानकार होगे वे अपने ही घरमे बैठे-बैठे कोई ज्वार वगैरहका डडा जोड जोड कर रथ बना लेते थे और कोई कल्पना बनाकर तोड देते थे तो उसके टूटनेके साथ गजरथकी भी वही कोई चीज टूट जाती थी, तो लोग उस गजरथको निर्विघ्न चलानेके लिये पहले ओझाओको खुश करते थे। एक बार हमसे किसी भाईने बताया कि किसी देहातका कोई एक बालक था, वह बडा निर्मल परिणामी था, वह अपने खेलमे कोई ऐसी चेष्टा करता था जिससे कि बाहरमे कुछ वैसी बात बन जाती थी। जैसे कोई रेलगाडी जा रही थी, उससे किसीने कहा—क्या तुम इस गाडीको यहाँ रोक सकते ? तो बालकने कहा हाँ रोक सकते। अच्छा करके दिखाओ। अब बालकने अपनेमे कुछ ऐसी चेष्टाकी धूलमे ही कोई रेखा बना कर अगुलि थमी, वह रेलगाडी वहाँ तुरन्त रुक गई। तो ऐसी आश्चर्यकी बाते बहुत सी देखनेमे सुननेमे आती हैं। यहाँ समयसार ग्रन्थमे भी खुद बताया है कि मत्रवादी मत्र पढता जाता और उधर विष दूर होता जाता" तो ये सब बातें देखकर लोग सोचते कि यह तो बडे आश्चर्यकी बात है। अरे आश्चर्यकी कुछ बात नही। असलमे बात क्या है कि यह अचिन्त्यशक्तिवान आत्मा है, इसकी शक्ति कही बाहर नही जाती, इसका बाहर प्रयोग नही होता, वह अपने आपमे ही प्रयोग होता मगर

माहात्म्य ऐसा है कि अनेक ऋद्धियाँ सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। यह तो एक लौकिक बात कही जा रही। अच्छा इस अचिन्त्यशक्तिकी, अतस्तत्त्वकी कोई उपासना करे, एक अभेद आराधना करे तो उसका ही तो फल है कि केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता।

११३२—पदवी व परिस्थितिके अनुसार विभिन्न आत्मव्यापार होनेपर भी अन्तस्तत्त्वके आश्रयके धर्मलाभकी अनतिक्रम्यता—

कोई जिन्दगी भर विद्याओंको जोड़-जोड़कर, सीख-सीखकर समस्त विद्याओंका पारगामी नही हो सकता और अपने उस सहज निरञ्जन परमात्मतत्त्वके उपयोगमे धारणा बनाकर, अभ्यास करके, वहाँ ही उपयोग लगाकर एकाग्र होकर कुछ क्षण ठहर जाय तो उसका प्रताप है कि सर्वज्ञ बन जाय। कब बनता, कैसे बनता, उसकी प्रक्रिया कोई एक है, मगर बनता तो इसी तरह है ना। अपने आपके सहजस्वरूपके आश्रयसे ये सारी समृद्धियाँ उत्पन्न होती है। तो यह आत्मा अचिन्त्यशक्ति वाला है। इसको ढूढते-ढूढते लोग हैरान हो जाते। कहाँ है वह ब्रह्मस्वरूप ? अन्दरमे है। निगाह करे, प्राप्यमान करें, और-और साधनाये करे, किंतु उपाय बनाते है। उपाय जबतक है तबतक इससे मेल नही। हुआ उपायके प्रतापसे ही मेल, मगर जब तक उपायकी क्रिया है तब तक इस सहज-परमात्मतत्त्वसे मेल नहीं। जिस समय सहजपरमात्मतत्त्वसे मेल है, अन्तर्दर्शन है, अनुभूति है, वहाँ किसी प्रकारकी क्रिया नही। वह सहजबोधकलासुलभ। इस कैवल्यकी प्राप्ति, अपने विशुद्ध निरञ्जन ज्ञानपदकी प्राप्ति एक सहज ज्ञानकलामे होती है। तो उसकी ओर दृष्टि जाय तो उसका यह सब प्रताप अपने आप होता रहता है। ऐसी यह अचिन्त्यशक्ति अन्तस्तत्त्व है। जिसको ज्ञान हो याने चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर जहाँ तक केवलज्ञानका लाभ नही हुआ वहाँ तक उपाय बनता गया है। वह यही है एक सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वभावका आश्रय करना बाहरी बातें हैं पदवी अनुसार। उस प्रकारका कर्मविपाक है उनका ऐसा ही प्रतिफलन है, ऐसी ही कमजोरी है कि बाते अनेक बनती है मगर धर्मका प्रसग, धर्म कहासे होता है, वे सभी बातें बस यही पायी जाती हैं। अपने अन्तस्तत्त्वका आश्रय, उसीमे यह मैं हूँ इस प्रकारका अनुभव। भले ही देशव्रती, महाव्रती भिन्न-भिन्न पदमे भिन्न-भिन्न प्रकारके साधक मिलेंगे, लेकिन अन्त लक्ष्य सबका एक प्रकारसे मिलेगा।

११३३—सहज अन्तस्तत्त्वके प्रति रुचि होनेपर भी विभिन्नपदस्थ ज्ञानियोमे सग प्रसंगके अनुसार परिणमनभेद—

जैसे देहातोमे सवेरे-सवेरे दूध दुहनेके बाद गाय भैंसोको बरेदी को सौप देते हैं अथवा उसके पास जगल पहुचा देते हैं तो वे गाय भैसें दिन भर चरती है, आखिर सामको जब वे वहासे चलती है तो जिन जिन गायोके बछडे है उन उन गायोकी प्रीति तो वहा एक जैसी है, वहा भी उनका ध्यान अपने अपने बछडोपर है पर बरेदीके डडेके वश हैं वे गायें सो अपने अपने बछडोसे मिल नही पा रही, पर प्रीति बराबर है। और जब बरेदी छुट्टी दे देता है, सामको चरकर वे गाये अपने घरकी ओर चलती हैं तो कैसा उछलकर, कैसा चारो पैर इस तरहसे तेज छोडकर, सिर भी मटकाकर, पूछ भी हिलाकर घरकी ओर भागती है, उनकी प्रीति कहाँ है ? अपने बछडोमे। उस प्रीतिके कारण बड़ी उमगके साथ वे भागती हैं तो उस समयकी उनकी मुद्रा देखो, कैसी उनकी पूछ गोल-गोल हिलती है,·· और क्यो जी, अगर किसी गायकी पूछ आधी हो और उसके भी बछडा हो तो प्रीति तो बराबर, जैसी प्रीति लम्बी पूछ वाली गायके है वैसी ही प्रीति कटी पूछ वाली गायके है। अब देखो लम्बीपूछवाली गाय

अपनी लम्बी पूछ हिलाती हुई भगती जाती और कटी पूछ वाली अपनी छोटी पूछ हिलाकर भागती जाती, मगर प्रीति दोनोकी एक जैसी है, तो ऐसे ही यहाँ भी यद्यपि प्रीति सबको एक समान है अपने लक्ष्यमे, जितने भी सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा पुरुष हैं, सबका एक ही ध्यान है, एक ही लक्ष्य है, भीतरमे सबकी एकसी अभिलाषा है—मैं अपने सहज स्वरूपमे मग्न होऊँ और साधारण मेरी स्थिति बने, यहा असतोष और दु खका कोई काम नही । मगर जो जिस स्थितिमे है, जो जितने घिरावमे है, जो जितने सग प्रसगमे बनता है उस माफिक वह अपने व्यवहारमे अपनी प्रवृत्ति कर पाता है ।

११३४—ज्ञानमे ही सुख-दुख आनन्द आदिकी सर्व रचनायें—

यह आत्मा अचिन्त्य शक्ति वाला है, वैसे भी देखलो सुख क्या है ? इस ज्ञानका एक ऐसे ढगका विचार बना ज्ञानद्वारा कि जिसमे सुखका अनुभव होता, तो सुख भी है क्या ? एक ज्ञानमे उस प्रकारकी वृत्ति, वही सुख है, दुख भी क्या ? कोई दूसरा पदार्थ इस आत्मामे घन मारता है क्या ? यह तो अमूर्त है मगर इस तरहका ज्ञान करता मोह कि जिस तरहके ज्ञान करनेसे यह अपनेको व्यग्र अनुभव करता फिरता, दु ख मानता । वह तो ज्ञानका उस ढगका प्रयोग है । और समाधि आनन्द मोक्षमार्ग धर्मपालन ये भी क्या हैं, ज्ञानमे ज्ञानका उस प्रकारका प्रयोग जहाँ रागद्वेषका रच भी अवकाश न हो, एक विशुद्ध ज्ञानप्रकाश रूप वर्तना चलती हो, यह ही है मोक्षमार्ग यह ही है सर्वश्रेय । एक कोई वालक था तो बालकने कोई चीज मुट्ठीमे ले ली और अन्य वालकोसे कहा बताओ मेरी मुट्ठीमे क्या है ? तो किसी वालकने कुछ कहा किसीने कुछ, कोई कहे गोली, कोई कहे कौडी, कोई कहे तिनका, तो वह वालक कहे ये कुछ नही है ।…अच्छा तो तुम्ही बताओ क्या है ? तो वह वालक बोला मेरी मुट्ठीमे सारी दुनिया है । यह बात सुनकर सब वालक बडे आश्चर्यमे पड गए, अरे ऐसा कैसे हो सकता ? इतनी बडी दुनिया जरा सी मुट्ठीमे कैसे आ सकती ? तो वह वालक बोला अच्छा बताओ तुमको हम दुनियाकी कौनसी चीज दिखाये ! तो किसीने कहा अमेरिका, किसीने कहा अफ्रीका, किसीने कहा कोई नदी, किसीने कोई पहाड, तो झट उसने मुट्ठी खोली तो निकली स्याहीकी एक टिकिया । उसने उस टिकियाको घोलकर सब कुछ बनाकर दिखा दिया । तो यह तो एक बच्चोंके खेलकी बात कही अब यहाँ अपने आपमे देखो, इस आत्मामे अचिन्त्य शक्ति है, जरा अपने आपके प्रभुसे मिलन तो बने, वहाँ किसी प्रकारकी असिद्धि नही ।

११३५—अपने आपमे रमणशील भगवान आत्मतत्त्वकी देवरूपता—

आत्मा यह स्वय देव है, अपने आपके भावोमे क्रीडा करने वाला, अपने आपके स्वरूपमे रमने वाला यह स्वय देव है । कोई पुरुष अगर विषयोमे रम रहा तो उसको कहते तो है लोग कि यह भोगोमे रम रहा, यह दूकानमे रम रहा, ऐसा बोलते तो है, मगर कोई भी प्राणी दूकानमे रम सकता है क्या ? तो आत्माके प्रदेशोसे बाहर एक सूत भी, एक प्रदेश भी यह कही रम सकता है क्या ? मग्न हो सकता है क्या ? वहाँ कुछ परिणाम बन सकता है क्या ? अपने ही प्रदेशोमे यह अपना परिणाम बना सकता है, तो उन विषय भोगोंके प्रसगमे अपना परिणाम बन रहा है वह मोही । बडा अच्छा है, बहुत ठीक है, लोग कहते हैं कि इसने मीठेका स्वाद लिया । मीठा आया इसके स्वादमे, मीठे रसकी कोई चीज खा ली, तो बताओ वह मीठा रस पुद्गलमे है या जीवमे ? पुद्गलमे, जीवमे कहाँ है, फिर लगता तो है कि यह चीज बडी मीठी लग रही, अरे लग तो रही मीठी और फिर भी कहते हैं कि रस जीवमे आता नही, रस पुद्गलमे ही रहता है, तो हुआ क्या वहाँ ? इस छद्मस्थताकी स्थितिमे कि रसना इन्द्रियके माध्यमसे उस

मीठे रसका परिज्ञान किया गया और भेदबुद्धि न होनेसे, अज्ञान संस्कार रहनेमे इतनी आसक्ति है कि वह यह नही समझ पाता कि मैं तो इस मीठे रसका भोग कर रहा हू, उस मीठेमे और ज्ञानमे एकमेक तन्मय हो जाता है और अपनेमे एक मीठा रस यह ही अनुभव करता है और ऐसी अपनी अन्तर्वृत्ति करता तो वह सब ज्ञानकी ही तो बात है। ज्ञान किस किस रूपसे परिणमे सब बात उसकी है। हमारी दुनिया, आपकी दुनिया अपने-अपने प्रदेशमे है, अपने-अपने स्वरूपमे है, अपनी-अपनी प्रवृत्तिमे है। यह इसके बाहर नही, अपने ही अन्दर जैसा विकल्प चल रहा, परभव, परलोक वह भी क्या है ? स्वय यह आत्मा ही तो है, जहाँ गया वहाँ इसकी परिणतियाँ चलती है। तो बाहर कुछ नहीं। सब कुछ अपना अपनेमे ही है, उसकी सम्हाल हो तो उस शक्तिका प्रताप फैलेगा। अचिन्त्यशक्ति स्वयमेव देव। यह देव अपने आपके स्वरूपमे क्रीडा करने वाला यह सहज परमात्मतत्त्व है।

११३६–चिन्मात्र चिन्तामणि भगवान आत्मा–

यह चिन्मात्र चिन्तामणि चैतन्यमात्र यह ही दृष्टिमे हो, यही चिन्तामणि है। लोग कहते है कि चिन्तामणि रत्न कोई ऐसा होता है कि वह मिल जाय तो जो विचारे सो कार्य सिद्ध हो जाय। अभी तक हमको तो कोई ऐसा पत्थर देखनेको नही मिला, यदि किसीको मिला हो तो बताओ। और, सुनते सब लोग आ रहे, होता होगा क्या कोई ऐसा पत्थर जो चिन्तामणि कहलाता हो ? जिसके द्वारा जो चाहे सो मिल जाय ? मगर यहाँ अन्दर देखो चिन्मात्र चिन्तामणि, जो चाहो सो मिल जाय, देखो बात कही जा रही है एक प्रकारमे। यह जीव शरीरको बहुत पसद करता, शरीरको अच्छा मानता, पैदा होना अच्छा मानता। शरीरोसे इसको बडा अनुराग है तो देखो शरीर चाहता है तो इसको बराबर शरीर दनादन मिलते रहेगे। इसने शरीरमे आत्मबुद्धि की, शरीरको आपा माना, तो आखिर यह आत्मा भगवान ही तो है, यह बिगड गया मगर इसकी कला, इसका ऐश्वर्य यह सब नजर आ रहा है, शरीरमे राग है तो शरीर मिलते रहेगे। जिस दिन अपने स्वरूपमे रुचि बन जायगी, जिस दिन एक बडे निश्चयके साथ आत्मकल्याणकी बात मनमे आयगी, तो यह आत्मकल्याण करके रहेगा। अपने स्वरूपका पूर्ण विकास करके रहेगा। बस कमी है तो यह ही है कि हम आत्मकल्याण मिलनेकी भावना नही बना पा रहे। कहनेको तो सब हैं, करते है गप्प। यदि आत्मकल्याणकी मूलमे भावना है तो बीचमे फिर और व्यर्थकी अटक क्यो होती, जिससे न तो आजीविकाका सम्बध, न धर्मपालनका सम्बध। व्यर्थकी ऐसी कषायोकी एक पकड क्यो बनती है और क्यो एक कोई हठ और जिद्द बन जाती है ? जिसके कारण हम अपने अन्त स्वरूपके दर्शन करनेके पात्र ही नही बन पाते। विशुद्धभाव, आत्मकल्याणकी सही प्रेरणा होना चाहिए। जिस दिन सहज अन्तस्तत्त्वकी रुचि बन गई उस दिनसे आत्माका उत्थान ही उत्थान है।

११३७–भगवान आत्माकी सहजसिद्धिस्वरूपता–

यह अचिन्त्यशक्ति, यह चिन्मात्र स्वरूप, यह आत्मतत्त्व, जिसकी उपासना करना है उसकी महिमा तो जानें पहिले। महिमा जाने बिना उपासनाकी उमग नही बनती। तो अपने आपके इस आत्मस्वरूपकी महिमा परखिये कैसा यह शक्तिमान आत्मा है, कैसा इसके अन्दर इसका सारा उद्यान है, कैसा इसके अन्दर विलास हो रहा। यह चैतन्य रत्नाकर, यह अन्तस्तत्त्व कैसी अपनी विशुद्ध मिली हुई निकट तरग बना रहा जो अत्यन्त स्वच्छ है। ज्ञान ज्ञानज्योति, ज्ञान ज्ञानरूप निरन्तर वृत्ति बना रहा, आखिर द्रव्यत्व शक्ति अपना काम कर ही तो रही है। निरन्तर अपनी निर्मल

ज्ञानवृत्तिमे उछलता रहे ऐसी वृत्ति जब ज्ञानीके जगी है तब उसे अन्य परिग्रहोसे क्या प्रयोजन रहा ? जैसे एक कहावतमे कहते कि तुम्हे आम खानेसे काम या पेड गिननेमे ? तुम्हे इन बाहरी बातोके सग प्रसगमे बुद्धि जोडनेसे काम या विशुद्ध आनन्द भोगनेसे काम। अगर सत्य आनन्द भोगनेसे ही काम है तो वह प्राप्त हो रहा है यहाँ। स्वय आनन्दस्वरूप है यह आत्मा। इसकी इकाई देख लो। निरुपाधि स्वरूप देखो, अपने आपके सत्त्वको। यह अपनेमे क्या है इस प्रकारकी दृष्टि बनाये, तो यह मिलेगा, उसके मिलते ही, उस प्रभुके दर्शन होते ही पूर्ण आनन्द जगेगा। उस आनन्दको प्राप्त करने वालेको अब अन्य परिग्रहोसे क्या प्रयोजन ? बाह्य परिग्रहोसे क्या प्रयोजन ? और बाह्यसे क्या मतलब ? वह तो बाह्य है। अरे उन बाह्य परिग्रहोके बावत जो इच्छायें, आकाक्षाये बनती है वे हैं अन्तरग परिग्रह। अब इनसे प्रयोजन क्या रहा ? इन वैभवोकी हठसे प्रयोजन नही रहा। इच्छा, आकाक्षा, प्रतीक्षा, ऐसे विभाव विकार इससे क्या प्रयोजन है ? सीधे अपने आपके स्वरूपमे आये और अद्भुत आनन्द प्राप्त करे।

११३८—भगवान अन्तस्तत्त्वका आवरणक्षयसे विकास

इस जीवपर आवरण है, इस ज्ञानके विकासका आवरण है तो ये विकार, विभाव विकल्प ये इसके आवरण है। ये विकल्प कैसे हटें ? ये आवरण कैसे दूर हो ? तो बात वहा दो चाहिए। इस आवरणसे उपेक्षा और अपने सत्य स्वरूपकी दृष्टि। आवरणसे उपेक्षा तब ही बन सकती है जब यह बात चित्तमे समा जाय कि यह आवरण, ये रागादिक विकार ये मेरी चीज नही है, ये परभाव हैं। ये बन गए विकल्प। अन्त तो यह गल्ती कहो कि यह जीव अपने ज्ञानस्वरूपका लक्ष्य छोडकर अन्य किसी पर विषयमे लगता है, परतत्त्वमे यह अपना उपयोग लगाता है। अतएव, यह उपयोग अध्रुव है, क्योकि पर ही अध्रुव है, उनका मेल अध्रुव है, उनका आश्रय अध्रुव है, और, यह बात बनी है परमे लक्ष्य करनेसे। परको क्यो अपनाया ? यह बात हुई कैसे इस जीवमे ? विचारिये उसका निमित्त कारण कर्मविपाकका उदय है। वह प्रतिफलित हुआ है। उसमे ही तो यह व्यामोही अज्ञान होकर जुट रहा है, तो ये जो क्रियायें है, यह जो कर्मरस है, ये सब परभाव हैं। मेरा स्वभाव तो वह है जो स्वरूपके अनुरूप और स्वाधीन है। जहाँ किसी परके सग प्रसग वातावररणकी भी बात नही होती है। ये रागादिक विकार, ये मेरे स्वभाव नही, स्वरूप नही। ये परभाव हैं, हेय है, दु खरूप हैं। जब इस प्रकारकी हेयता समझे तो वहाँ परभावसे उपेक्षा बने। अच्छा तो यह हेय है तो सही क्या है ? यह जो मेरे साथ एक बना हुआ है दृष्टिमे—केवल मात्र, चैतन्यस्वरूप, ज्ञानप्रतिभास यही है मेरा सहज स्वरूप। परतत्त्वसे उपेक्षा करना, यहाँ अपने स्वरूपमे लगना, यह ही बात तो करना है। इसके प्रतापसे कभी निकट कालमे ऐसा अतुल विकास होगा कि जिसके बाद उपासक महात्मा कहेगे कि अब यह कृतकृत्य हो गया।

११३९—कृतार्थताका अभ्युदय—

कृतकृत्य कौन कहलाता ? जो वीतराग है, सर्वज्ञ है वह कृतकृत्य है, कृत कृत्य येन स कृतकृत्य, जो करने योग्य है वह सब कर लिया गया है जिसके द्वारा सो वह कृतकृत्य है। कर लिया गया है कृत्य जिसके द्वारा उसे कहते है कृतकृत्य। देखिये—जगतमे ये बहुत बाहरी काम पडे हुए हैं। ये काम कब पूरे होंगे ? जिस दिन यह भावना बनेगी, यह निर्णय बनेगा कि यहाँ करने लायक कुछ नही है, तब समझिये कि उसके ये सारे कार्य पूरे होगे, और जब तक यह चित्तमे बना है कि यह कार्य है,

इतना हुआ है, अधूरा है, यो बनना है, यो करते जावो, पूर्ण न होगे। कृतकृत्यता तब प्रकट होगी जब यह निर्णय बने कि मेरा बाहरमे कुछ भी कृत्य नही है। तो अपने आप ही यह सतुष्ट होगा और करने योग्य जो बात है वह सही-सही होगी। करने योग्य नही है बाहर कुछ, इस प्रकारका भाव बनना, यह ही एक करने योग्य बात थी। वह बात इस ज्ञानी पुरुषको मिल गई, अब चारित्रमोहके विपाकसे जो कुछ इसमे अस्थिरता है वह भी अब दूर हो, ऐसा पौरुष इसका प्रकट साहस कहलाता। कृतकृत्य कौन ? वही देव, अरहत सिद्ध प्रभु, ये कृतकृत्य कहलाते है। तो ये बने कैसे कृतार्थ ? उसका ध्यानकर अपना भी यहाँ यह निर्णय बनावे कि मेरा सब कुछ मुझमे है। मेरेसे बाहर मेरा कुछ नही है। अपने ज्ञानमे अपने स्वरूपके ज्ञानका ही अभ्यास रखना है। ज्ञानमे यही ज्ञान समाया हुआ रहे, यही सारभूत काम है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ सारभूत बात नही है। यह निर्णय बनाना है और इसके लिए प्रयत्न करना है। अधिक समय सत्सगमे लगाये, अधिक समय चर्चामे लगाये, स्वाध्यायमे उसका मनन करनेमे। भैया जो समयसार तत्त्व है उसको अपने आपके ऊपर घटानेमे स्वभावानुरूप कुछ अपना पौरुष करना है, प्रयत्न करना है, इससे सिद्धि होगी।

११४०—आत्माकी सम्हालमे प्रमाद न करनेका कर्तव्य—

भैया, प्रमाद किया आत्महितकी बातोमे तो इसका फल अच्छा नही। अटपट अशुभोयोग हुए। यहाँ वहाँ के ईर्ष्या विरोध असुहावना, सुहावना आदिक कितनी ही प्रकारके तरग विचार उठना ये सब इसके लिए घातक है, ये विकार न जगे और शिवमय उपाय बनावे। वह उपाय स्वाध्याय और सत्सग है, इसीमे सब बात आ गई, चर्चा, अध्ययन, पढाई, पूजन भजन करना, भीतर उतरना, ये सब बाते आ जाती है। अब आप देखिये ये दो बाते है जीव और शरीर, और दोनोकी ही ऐसी स्थितियाँ है कि दोनोकी बात सम्हालनी पड रही। भोजन भी तो करते, क्यो नही भोजनका परिहार करते ? कुछ बात तो है, शरीरकी भी सम्हाल करनी होती और आत्माकी सम्हाल बिना तो सारी सूनी ही बात है। पर कुछ ऐसा हिसाब तो लगाओ कि शरीरकी सम्हालमे कितना समय गुजरता है ? अच्छा बताओ अच्छी और मुख्य आत्माकी सम्हाल है कि शरीरकी ? शरीरकी सम्हाल मुख्य नही। शरीर तो कभी विघट जायगा। शरीरकी सम्हाल यदि करते रहे तो भी यह कहो उल्टा ही चले और देखो आत्माकी सम्हालमे धोखा नही है, आत्माकी सम्हाल भविष्यमे भी काम देगी, आत्माकी सम्हालमे इस वक्त भी शान्ति, तृप्ति, आनन्द होगा। तो जरा अपने आपपर करुणा करके व्यर्थकी कुदृष्टिको त्याग कर अपनी सम्हालके लिए मेरा अधिक समय जाय, उपयोग लगे ऐसी उमग रखना चाहिए ? शरीरकी सम्हालके समय शरीरकी सम्हाल हो जाय, पर लक्ष्य तो अपने ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वको ज्ञानमे बसाना है यह ही रहे। यहाँ आत्माकी सम्हालका अन्तर्लक्ष्यका काम पडा है, यह काम जिस ज्ञानीके बने, जिसने ऐसा आत्मीय आनन्द भोगा वह ज्ञानी स्वय तृप्त होता है। अब उसको बाह्य परिग्रहसे कुछ प्रयोजन नही, पूर्ण आत्मा उतना ही है, वहाँ ही उसका प्रेम है। आत्माका स्वच्छ विकास बनना यह ही सच्चा आशीर्वाद है, यह ही मेरा शरण है, यह ही मेरा सर्वस्व है, उस ही आत्मामे रति तृप्ति करना है। बाहरी बातोमे प्रवृत्ति बनाकर, उनकी प्रतीक्षायें करके उनका आश्रय करके विकार बनानेसे इस आत्माको कुछ लाभ नही है।

इत्थ परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यत. स्वपरयोरविवेकहेतु ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्त. ॥१४५॥

११४१—मेरा परिग्रह दृश्यमान पदार्थ नही, दृश्यमान पदार्थ मेरा परिग्रह नहीं—

ज्ञानी जीवके यह निर्णय है मेरा परिग्रह वास्तवमे मैं ही हूँ, और परिग्रहका अर्थ शब्ददृष्टिसे ऐसा होता है कि जिससे इस भावमे कोई असुविधा नही, परि समन्ताद्ग्रहण इति परिग्रह चारो ओरसे जो ग्रहण हो उसे परिग्रह कहते है। चारो ओरसे मायने समस्त प्रदेशोमे ग्रहण है, किसका? इस ज्ञानमात्र स्वरूपका, इस कारण यह ज्ञानमात्र स्वरूप यह ही मेरा स्व है, इस ही का मैं स्वामी हूँ। यह ही मेरा परिग्रह है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा परिग्रह नही। मेरा परिग्रह यह दृश्य नही, तथा यह मेरा परिग्रह नही। एक ध्यान देनेकी वात है। इन दोनो वाक्योंमे जुदा-जुदा रहस्य और तथ्य है, मेरा परिग्रह यह दृश्यमान नही, यह दृश्यमान मेरा परिग्रह नही। दो वाते समझी जा रही हैं। मेरा परिग्रह मेरा स्वरूप है, मेरा ज्ञानमात्र तत्त्व है, जिसमे मैं अनादि अनन्त वसा हूँ। वह मेरा परिग्रह है, मेरा परिग्रह और यह दृश्य हो जाय, अरे कहाँ हो सकता यह ?यह सव वाहर है, मेरे प्रदेशोसे अलग है, इसकी सत्ता न्यारी है, इसे वतलाते हो मेरा परिग्रह। परिगह मायने स्वरूप। परिग्रहका यहाँ दूसरा अर्थ नही। क्योकि अपनेमे अपने समस्त प्रदेशोमे जो ग्रहण हो वह स्वरूप ही तो होता है, मेरा परिग्रह यह ? इस प्रश्न को वदल लीजिए। मेरा स्वरूप यह ? जो मेरा स्वरूप है उस ही का मैं स्वामी हूँ। वही मेरा स्व है, वही मेरा परिग्रह है। मेरेसे वाहर मेरा परिग्रह नही। अव ये दृश्यमान पदार्थ जो अपनी सत्तामे है इनका परिग्रह यह ही है। प्रत्येक वस्तुका स्वरूप उसका उस ही मे निहित है, उसके वाहर नही। यह दृश्यमान मेरा परिग्रह नही।

११४२—वाह्यविविक्तताके उपयोगमे आनन्दलाभ—

ध्यानमे देकर उस प्रकारका, स्वरूपका उपयोग वनाये तो उसका आनन्द मिले, केवल चर्चामे आनन्द नही। कहनेको तो सव कह ही देते है कि ये मेरे नही। कोई आपके घरमे महिमान आता है, वह पूछता है कि यह मकान किसका ? यह लडका किसका ? तो वहाँ लोग अक्सर करके वोल देते—साहव यह सव आपका ही है, तो भाई ऐसा कभी वोल भी न देना, नही तो कभी आप घोखा भी खा सकते। कोडरमाकी एक ऐसी घटना है। वहाँ कोई दो भाइयोमे आपसमे जमीनका झगडा था, वहाँ अग्रेंज आफीसर आया वयान लेने, पूछा यह जमीन किसकी ? तो दोनो पक्षोने यही कहा—साहव आपकी ही है। वस जो वयान दे सो ही लिख लिया और दोनोके दस्तखत करा लिया। वस वह जमीन उस अग्रेजकी हो गई। यह तो एक सही घटना वतायी। उस जमीनपर उन दोनो भाइयोका अधिकार नही रहा। तो कहनेको तो लोग वोल देते हैं, साहव मेरा कुछ नही है, पर भीतरमे अहकार और ममताका विष हटे तो वहाँ आनन्द प्राप्त हो। परिग्रह, यह वाह्य परिग्रह मेरा नही, क्यो नही, कि ये पर पदार्थ हैं, इनका सव कुछ इनमे है। मेरेमे इनका अश भी नही है, यह सव परपदार्थ मेरा त्रिकाल भी नही हो सकता। मेरा परिग्रह मेरा स्वरूप है। अच्छा तो वाहरी परिग्रह मेरा नही, उसको अगर छेद दें, भेद दें, मिटा दे तो ऐसा ज्ञातृत्व यदि दृष्टिमे रह सकता कि ये पदार्थ हैं, इनमे ऐसा परिणमन है, इनमे हर्ष विषाद न जगे तो समझो कि हाँ वास्तवमे स्वीकार किया कि मेरा स्वरूप ही मेरा है, वाकी दूसरी मेरी चीज नही। वताते है, एक घटना है श्वेताम्बर साधुकी। उनसे कोई विवेकी पुरुष पूछ बैठा—महाराज आप इतने अधिक वस्त्र रखते है और अन्य परिग्रह भी इतना रखने लगे जितना कि गृहस्थ लोग रखते हैं, सो क्यो ? जब कि भगवती सूत्रमे लिखा है कि एक कपडा तन ढाकनेके लिए रखे। फिर आप लोग मुनि कहलाते, आप लोगोको तो निष्परिग्रही होना चाहिए।

मुनिपद तो एक निर्ग्रन्थपद कहलाता है, फिर आप लोग इतना बडा परिग्रह क्यो रखते हैं ? तो वहाँ उस श्वेताम्बर मुनिने कहा—अजी कौन रखता है ये वस्त्र, कौन पहिनता है ये वस्त्र ? ये सब तो बिलकुल बाह्य पदार्थ है। वस्त्रमे वस्त्र है, आत्मामे आत्मा है, इसलिए हमारी निर्ग्रन्थतामे कोई फर्क नही।" तो इतनेमे उस विवेकी पुरुषने क्या किया कि झट उस साधुका दुपट्टा हाथसे खीचकर फाड दिया। वहाँ साधु आवेशमे आकर बोला अरे यह क्या कर रहे ? दुपट्टा क्यो फाड रहे ? तो वह पुरुष बोला आप नाराज क्यो होते ? आपका इसमे क्या नुकसान है ? वस्त्रमे वस्त्र फटा, इसमे आपका क्या फटा ? वहाँ साधु निरुत्तर रह गया।

११४३—अनात्मतत्त्वकी अस्वरूपता—

भाई सब पदवियोकी जुदी-जुदी बात है। श्रावकोके परिग्रहका परिमाण है, न कि परित्याग और श्रद्धामे तो आत्माके ज्ञानस्वरूपके सिवाय विभाव तकका भी परिहार है। चिद्रूप हमारा इसका हि सहारा 'यह एक भजन है। यह सहज चैतन्यस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है। ये बाह्य पदार्थ किसी भी अवस्थाको प्राप्त हो, उनको यह ग्रहण नही करता। मायने श्रद्धामे या अपनेमे ऐसा भाव नही लाता कि इसके विनाशसे मेरा विनाश है। ये बाह्य परिग्रह मेरे नही। अगर बाह्य परिग्रह मेरे बन जायें तो इसके मायने यह है कि ये बाहरी पदार्थ मेरे स्वरूप हो गए, स्व बन गए, मैं उनका स्वामी बन गया। सो ये तो मेरे स्वरूप हो गए, इसके मायने मैं जड बन गया, क्योकि दृश्य ये जड पदार्थ है। जितना जो कुछ दिख रहा है ये सब जड पदार्थ है। ये मैं बन गया और ये मेरे हो गए तो मैं जड ही हो गया। बोलो आप जड होना चाहते हो क्या ? हाँ, एक निगाह ऐसी डाल सकता कोई कि जड़ होनेमे अच्छा है, क्योकि उसे ये सुख दु ख कुछ नही है। जल जाँय ये पुद्गल चौकी वगैरह तो इनका क्या ? शायद एक बार हाँ भी कह दे कि हाँ जड बन जाऊँ तो कहने मात्रसे क्या होता ? केवल कहने मात्रसे जड बनता क्या ? तथा जब यह अपनी महिमापर दृष्टि देता है, सर्व द्रव्योमे सार यह मेरा अतस्तत्त्व है, इसकी कितनी महिमा है ? सर्वमे प्रधान है। लोकालोक सारा विश्व इसके ज्ञानमे आये, ऐसा एक उत्कृष्ट प्रताप वाला है। क्या मै जड बनूँ, मैं जड न बनूँगा, मैं अजीव न बनूँगा। ये बाहरी पदार्थ मेरे परिग्रह नही है, एक इतनी अपनी बुद्धि हो जाती है तो श्रद्धामे यह उपाधि तो छूट गई, उपयोगमे, श्रद्धामे, प्रतीतिमे एक सामान्यरूपसे इसने परिग्रहका परित्याग किया। यह ही ज्ञानी पुरुष जो मोह लगता, जो कलक लगता, जो गडबडी होती उसको यह लेशमात्र भी नही चाहता। बल्कि इनको उखाड़नेके लिए ज्ञानीका भाव रहता है।

११४४—स्वपरके अविवेकके कारणभूत अज्ञानके परिहारका विशेष प्रवर्तन—

अज्ञान स्व और परपदार्थके अविवेकका कारण बनता है। इसको त्यागनेकी चाह रखता हुआ यह ज्ञानी अब भिन्न-भिन्न प्रकारसे भिन्न-भिन्न नामको लक्ष्यमे लेकर परिग्रहका त्याग करता अथवा निर्मूल करनेके लिए मूलत परिग्रहका त्याग करता। वह जानता है कि परिग्रह क्या चीज है, बाहरकी बात बाहरमे, आत्माकी बात आत्मामे। बाहरका कुछ आत्मामे नही, आत्माका कुछ बाहरमे नही। बाहरके पदार्थ बेचारे अनजान ये ऊधम नही मचा पाते। ये तो अपनी ईमानदारीसे ही चल रहे है। जैसा जहाँ प्रसग होगा वैसा परिणमन और कुछ ही चल रहा है इनमे। ये पुद्गल बेईमान नही बन रहे। इनका परिणमन इनमे चल रहा सो ठीक है। यह आत्मा, यह जीव यह अपना ईमान खो रहा। जैसे कहते है ना—अपनी चीजको आप सम्हाले, हमारी चीज हम सम्हाले। आप अपना काम

करें, हम अपना काम करे। सो वस्तुस्वरूप तो मिटता नही, लेकिन अज्ञानी कल्पनासे इस सारे विश्वको ग्रहण करनेका, इसपर राज्य जमानेका इस परमे रमनेका भाव रखता है। देखो अपने ईमानसे हटा कि अपने सही स्वरूपसे हटा, नही तो ये अनजान बेचारे पुद्गल ये तो अपने अपनेमे है अपनेसे बाहर ये कुछ उछाल नही मारते। छलाग तो यह जीव भी नही मार सकता। बाहर यह आत्मा भी अपनेमे बाहर कुछ काम नही कर सकता, मगर इन विकल्पो रूपमे यह ज्ञान परिणमन तो करता है। ज्ञानगुण के विचित्र परिणमनसे ऐसा विचित्र जाल फैला लिया इस मोहीने कि जगतमे पडे हुए इन सारे विषयोपर एक अपना राज्य जमानेके लिए उचक उचककर उन विषय ग्रामोमे पहुचता है। और, लडाई किस बातकी है। किसीने धनको परिग्रह माना, शरीरको परिग्रह माना, अपने विभावोको परिग्रह माना, विचारोको परिग्रह माना, तब ही तो देखो मेरा विचार है, इस विचारके प्रतिकूल यह क्यो चल रहा है, मेरा विचार यह क्यो नही मानता ? ऐसा उसमे खेद हुआ क्यो ? उसने अपने विचारको परिग्रह बनाया, रागद्वेषको परिग्रह बनाया। रागमे बात उठी हुई है कि ऐसा बने, ऐसा परिणमे, और वैसा होता है नही इस कारण खेद होता है। अरे भव्य आत्मन् ! अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमे ही तू सन्तुष्ट रह। यह ही तेरा सर्वस्व परिग्रह है, यह तो तेरेमे अचिन्त्य निधि है, अनुपम है। बाहरमे इसके मुकाबले कुछ है ही नही।

११४५—सहजात्मतत्त्व की समयसारता—

भैया ! ६ प्रकारके द्रव्य बताये गये, अब उनमे से मानो, एक जीवद्रव्य न रहे, और बाकी ५ द्रव्य रहे, तो ५ की बात कैसे रहे और ५ की सत्ता जाने कौन ? व्यवस्था ही कुछ न रहेगी, फिर तो शून्य ही कहलायगा। यह जीव जाननहार पदार्थ है। इसके ज्ञानबलपर ही सब पदार्थोकी शोभा और शृङ्गार हो रहा है। तो इसको समझे कौन ? ऐसा है निज समयसार। समय मायने पदार्थ सम् अयते स्वगुणपर्यायान् गच्छति इति समय अपने गुण पर्यायको जो प्राप्त हो उसका नाम है समय। सभी द्रव्यो का नाम है समय। और समयमे सार कौन है ? आत्मा। समयसार मायने आत्मा। याने छहो द्रव्योमे ज्ञानप्रधान व ज्ञानमय होनेसे यह आत्मा समयसार है, और उस समयसारमे भी सार कौन ? समयसार तो हुआ एक जीव पदार्थ, उसमे भी सार कौन ? यह आत्मा। चलो मान लो आत्माकी विशुद्ध पर्याय, वही सार है याने अनन्त आनन्द। अच्छा वह तो पहलेसे नही है, कभी हुआ है। तो उसमे सार क्या है ? कहते है कि शुद्ध पर्याय जिस स्वभावसे प्रकट होती है, जिस स्वभावका आलम्बन लेकर प्रति समय नवीन-नवीन सम सम परिणतियाँ बना करती हैं, वह स्वभाव जो अनादि है, अनन्त है, अहेतुक है वह चैतन्य स्वभाव वह सबमे सार है। तो क्या हुआ ? समयसार-सारसार, इतने सार कहने पडेंगे क्या ! व्याकरणकी एक नीति होती है कि जहाँ बहुत समान शब्द होते हैं वहाँ एक शब्द शेष रहता है। शेष शब्दोका लोप होता है। रह गया समयसार। उसमे कई सार पडे हैं, वे सब सार लुप्त हैं, एक शेष है, यही हुआ आत्माका शाश्वत सहज स्वरूप। वह समयसार यही है उसका स्वरूप। इसके अतिरिक्त और मेरा कुछ नही है। *क्यों क्या नही है मेरे ? ये परिजन मकान धन वैभव ये मेरे नही है ?* वाह वाह अच्छी प्रशसा लूट रहे। जान रहे कि ये सग न जायेंगे, इनको मैं सग लाया नही, इनपर मेरा वश नही। अब तो सरकारी रजिष्ट्री भी बेकार। आप नगरपालिकासे कितने ही मकानके नक्शे पास करा लें, भले ही मनमे गल्ती रखकर पास कराया, मगर नगरपालिकाने पास कर दिया। अब बताओ ऐसी क्या गल्ती हुई जो अब आपके यहा सरकार द्वारा ये मकान ढाये जा रहे हैं ? तो यहांकी यह

रजिष्ट्री भी फेल हो गई। अभी तो कोई कोई ही रजिष्ट्री फेल होते दिख रही, कुछ ही दिनो मे और भी फेल होगी। परमार्थत देखो तो सब रजिष्ट्री फेल होती है। मात्र आप विकल्प करते हैं कि यह मकान मेरा है, क्योकि आपने रजिष्टर्ड करा रखा है, मगर इस बातको भगवान नही समझ रहे कि यह मकान इसका है। मकान मकान है, यह ज्ञानमे है, तुम तुम हो, यह ज्ञानमे है, यह किस विकल्पमे परिणत हो रहा ? यह ज्ञानमे है, मगर मकान इसका है, इतना अगर भगवान जान जाये तो आप अभी खुश हो बोल उठेंगे कि हम तो भगवानके बहुत बडे गुण गायेंगे, क्योकि अब वह मकान अनन्त काल तक हमसे छूटेगा नही। अरे यहाँ कोई सारकी बात नही, ये बाहरी पदार्थ ये सब पड़े हैं, ये आपके परिग्रह नही।

११४६—स्वभाव व विभावमे हुए भेदविज्ञानसे ही ज्ञानित्व—

देखिये इन पदार्थोके बारेमे जो इच्छा बनती है यह इच्छा परिग्रह ही तो दु ख देने वाला है। सो जिसने स्व और परका भेद किया है स्वभाव और विभावका भेद किया वह ही वास्तविक ज्ञानी है। भेदविज्ञान यहांसे होता है। स्वरूप याने स्वभाव और विभाव याने परभाव इनमे भेद जाने तो भेदविज्ञान सही है। बाहरका भेद जाननेसे भेदविज्ञान सही नही है। यो तो बहुत सी बाते रूठ कर भी लोग कहा करते—यहाँ वहां कौन किसका ? अगर लडकेको जोरसे मार दिया चाटा बापने तो लडका कहता अरे यहाँ कौन किसका ? यो तो रूस कर हर एक कोई बकता है। यो तो वहाँपर भी कुछ बुद्धि लगाकर ही बोलते, इतना भेद डाल कर देहाती लोग या और लोग, अनपढ लोग, आबाल गोपाल भेदको बात कहा करते, मगर इस भेदविज्ञानका फल तो शान्ति है, शान्ति उन्हे क्यो नही मिलती ? देखो, जहाँ क्रोधादिक आश्रव निवृत्त न हो वह भेदविज्ञान ही नही है। भेदविज्ञान वास्तवमे किसीके जगे और उसे अशाति रहे, व्यग्रता रहे, यह बात कभी नही हो सकती। भेदविज्ञान यहाँ करना है—मैं सहज स्वरूप क्या हू और औपाधिक रस क्या हैं।

११४७—अपनी अपनी सम्हालसे ही अपनी अपनी भलाई—

देखो केवल अपनी अपनी ही सब बात सम्हालेगे तो सब सम्हल जायगा। और, अपनी सम्हालकी भावना न रखे कोई, बाहरमे कुछ चाहे, परकी सम्हालकी कल्पना करता हो और चाहे उस प्रकारकी एक प्रकृति पड गई हो कि बाहर ही बाहर कुछसे कुछ व्यवस्था बनाता है, सोचता है तो उसे शान्ति कहाँ, धर्मलाभ कहाँ ? उसे मैंने नही किया। स्वय ऐसी बात करें, ऐसी व्यवहारव्यवस्था बनायें कि सबका धर्म सध जाय। अब दस लक्षणके दिन आयेंगे, उसके लिए बहुतसे प्रोग्राम बनेंगे—यह करना यह करना, व्यग भी होंगे, और कोई कोई मदकषाय वाले लोग ऐसे भी मिलेंगे कि जिनसे कोई कहे कि तुम तो पूजा करते ही नही, तुम तो स्वाध्याय करते ही नही और व्यवस्था ऐसी ऐसी बना रहे तो उत्तर वह क्या देंगे कि भाई अगर एक मैंने न किया तो क्या हुआ ? मैं सबकी व्यवस्था तो बना रहा हूँ। वहाँ भी चलो फायदा है, थोडा मदकषाय है, और दूसरे लोग करे उसे देखकर खुश हो रहे है, उसका भी थोडा लाभ है। और यदि स्वय उसमे प्रवृत्त हो, जो वास्तविक धर्मपालन है उसमे उपयुक्त हो तो उसका फिर कहना ही क्या है, उसका बडा लाभ मिलता है। हमारे गुरुजीने एक घटना सुनायी थी कटनीकी। कोई दो भाई थे उनमे बडा भाई तो खूब दूकान करे, व्यापार धधा करे, रोजिगार मे अधिक समय दे और उसका छोटा भाई मंदिरमे, स्वाध्यायमे, पूजा पाठमे, धार्मिक क्रियाकाण्डो मे अधिक समय दे। तो एक बार उस छोटे भाईने अपने बडे भाईसे कहा—भैया तुम तो सदा दूकान

धंधेमे फसे रहा करते, धर्मका काम करनेके लिए कुछ भी समय नही निकालते तो वह बडा भाई बोला—देखो हम तुमको धर्मका काम करनेमे कुछ दखल नही देते, हम तुमसे और कुछ काम करनेके लिए कभी कहते नही तो यह हमारा कम धर्मपालन है क्या ? आखिर ऐसा ही बहुत दिनो तक चलता रहा। उन दोनोमे सबमे पहले छोटे भाईका मरण हुआ। तो जब वह छोटा भाई मरणासन्न दशा मे था उस समय अपने बडे भाईसे बोला—भैया अब तो हम आपसे सदाके लिये विदा हो रहे, आप हमारे इन बाल बच्चोका ध्यान रखना, इनका इन्तजाम रखना।" तो वहाँ बडा भाई बोला—अरे यही धर्म किया जिन्दगी भर। मोह ममता अभी भी बसी हुई है। अरे अब तो अपनी मोह ममता तजो, विवेकसे काम लो। यदि तुम्हे विश्वास न हो तो मैं अपना सब कुछ तुम्हारे बाल बच्चोके नाम लिखे देता हूँ। मैं झोपडीमे रह लूँगा, यह मुझे स्वीकार है। तुम अब किसी भी प्रकारका शल्य न रखो। तो भाई किसके परिणामकी बात कौन जानता ? जो जितना अपने परिणामोको विशुद्ध रखेगा वह उतना चैनमे है। और जो अपने परिणामोंमे मलिनता रखेगा ईर्ष्या आदिकके भाव रखेगा तो उसका फल कोई दूसरा न भोगने आयगा। इसलिये अपने आपपर दया करके इन बाहरी परिग्रहो से दूर हो लो। इन बाहरी परिग्रहोसे दूर न हो पायेंगे गृहस्थ। तो भीतरके इन विभावोसे, परिग्रहोसे, श्रद्धामे तो दूर हो, अटल तो हो कि मेरा ज्ञानमात्र स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी पदार्थ नही। ये उपाधि और औपाधिक मेरे परिग्रह नही।

११४८—पाप पुण्य आदि विभावोसे अन्तस्तत्त्वकी विविक्तता—

भैया पापका नाम लेते तो सभीको डर लगता। अभी कोई कह दे कि हम ऐसा-ऐसा पाप करके कमाते हैं और तुम सब खाते हो तो हमारे ये पाप बाँट लो, तो पाप बाँटनेका नाम सुनना भी किसीको पसद नही होता। पापकी कमायी खाना तो पसद है पर पापको बाँट लेना, स्वीकार कर लेना पसद नही। ये पाप मेरे परिग्रह कैसे बनेगे ? ये पुण्य मेरे परिग्रह कैसे बनेंगे ? कार्माण वर्गणाये है, प्रकट अचेतन हैं, प्रकट जड हैं, और इनकी तो बात दूर रहो। पापका परिणाम यह मेरेमे सदा टिकता नही और यह औपाधिक भाव है, यह मेरा परिग्रह नही। पुण्यभाव शुभभाव ये भी औपाधिक हैं। ये मेरे स्वरूपसे उठे हुए नही हैं, अर्थात् अनैमित्तिक नही है। विभावोका मैं ही निमित्त होऊँ, मैं ही उपादान होऊँ, ये दोनो बातें हो, उस शुभभावके लिए, ऐसी बात नही है। विभावोका उपादान तो मैं हूँ, किन्तु इसका निमित्त मैं नही हूँ। ये मेरे स्वरूप नही हैं। ये मेरे परिग्रह कैसे ? ज्ञाना-वरणका क्षयोपशम होनेपर जो कुछ बुद्धि प्रकट हुई है, जितना विचार बनता है, यह विवेक, यह बुद्धि, यह चतुराई, यह तो होगी आपकी ? नही, नही, यह भी मेरी नही है, यह तो क्षायोपशमिकभाव है। जो एक मुझे सामान्य तत्त्व है उसके साथ विभाव तो लगा हुआ है। रागद्वेषके सम्पर्कसे स्थिति ऐसी बनी है।" अच्छा लो, जितना ज्ञान है सही एक जाननमात्र उस नातेसे, यह विज्ञान तो तुम्हारा होगा ?" नही नही, इतना ही मेरा विकास नही। यह तो मेरा सही स्वरूप नही। यह मेरा परिग्रह नही। तो ऐसा ज्ञान हो जायगा कभी तब तुम कुछ खुश हो लोगे कि यह है मेरा परिग्रह ? नही, यह भी नही मेरा परिग्रह। केवल ज्ञान भी मेरा परिग्रह नही, मेरा स्वरूप नही। वह अनादि है, मैं अनादि हूँ। तब फिर क्या ? वह केवल ज्ञान पर्याय जिस स्वभावके अनुरूप है वह स्वभाव अनन्त है, अहेतुक है, वह मेरा स्वरूप है। इसके अतिरिक्त बाहरमे मेरा कुछ भी परिग्रह नही। इसका अभ्यास बने, यह मददगार होगा। बाकी किसी दूसरेका सहारा लेना यह कभी मददगार नही हो सकता। तो

धन वैभव ये मेरे परिग्रह नही। लोग कहते हैं कि चाँदीका भाव क्या है। बताओ चाँदीमे भी कोई भाव होता है क्या ? यदि होता है तो फिर पूछनेकी जरूरत क्या ? देखलो उस चाँदीको खूब उलट पलट कर। यदि कही उसमे भाव मिल जाय तो बताओ। ऐसे ही सोनेका भाव, रत्नोका भाव, तो यह भाव उनमे भरा है क्या ? अरे उनके सम्बधमे लोगोके क्या भाव हैं, क्या ख्याल है, यह बात पूछी गई। इन सोना चाँदी आदिक पत्थरोमे कोई भाव भरा नही है, बल्कि इनके बारेमे लोगोके जो भाव है जो ख्याल है वही उनका भाव कहा जाता है। सब कुछ यहाँसे बात है, बाहरसे बात नही है। अब यहाँके स्वरूपको देखो और इसी मे रत हो, हमे यहाँसे ही सन्मार्ग मिलेगा, बाहरमे भटकने से इसे सन्मार्ग नही मिल सकता।

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग'।
तद् भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥

११४६—पूर्वबद्धकर्मविपाकवश उपभोग होनेपर भी ज्ञानीके रागवियोग होनेसे उसके परिग्रहत्वकी अप्राप्ति—

ज्ञानी जीव सभी प्रकारके पर द्रव्योके भावोको नही चाहता, परभावोको नही चाहता। न चाहे तो, उसके परिग्रह तो न रहा। परिग्रह तो चाहसे ही होता है, तब एक आत्माके शुद्ध मायने एकत्वविभक्त चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य किसी भावमे मैं हू, ऐसा मिथ्या अनुभव करनेमे समर्थ न रहा ज्ञानी। जैसे कि अज्ञानी अपने सहज स्वरूपमे वह मैं हू, ऐसा अनुभव करनेमे समर्थ नही है ऐसे ही ज्ञानी भी परभावको यह मैं हू ऐसा अनुभव करनेमे समर्थ नही है। जैसे वृक्षकी डठलसे फल टूटा तो अब उस फलको कोई जबरदस्ती उठलमे जोड तो नही सकता ऐसे ही जब जीवभावसे जीवस्वरूपसे इन विभावोको न्यारा समझ लिया, अनुभव करके भी, मान लिया, अनुभव किया। एक सहज एकत्व विभक्त अत पदार्थमे उपयोग होनेसे जो आत्मीय आनन्द बना और उसके अनुभवके बाद जो समझ बनी कि ये विभाव पर हैं वे परभावको यह मैं हू ऐसा अनुभव नही कर सकते, फिर भी बहुत समय पहले वे जो जो बाधे हुए कर्म हैं उन कर्मोंका जब विपाक आता है तो ज्ञानी जीवके उपयोगमे प्राप्त तो होता है, जैसे चतुर्थ गुणस्थानमे, पचम गुणस्थानमे, छठे मे भी पदवी अनुसार भोगोपभोगकी बात आती है मगर श्रद्धासे जो एकत्वविभक्तको परख बनी, उसकी भक्तिमे, उसकी स्मृतिमे यह निरन्तर चलता है सी प्रतीतिमे तो राग वहा नही हो पाता।

११५०—राग होनेपर भी राग न होनेका तथ्य।

देखिये—कैसा एक खेल खेलने जैसी बात है कि राग बिना भोग नही होता और ज्ञानीका भोग राग बिना हो रहा। ज्ञानीका भी भोग है वह राग बिना नही हो सकता, फिर भी ज्ञानीका भोग राग बिना होता है, दो बातोका कैसा समन्वय ? मुनि महाराज भी आहारचर्याको उठते तो क्या वे अटपट उठते, उनके इच्छा नही होती क्या ? वहाँ इच्छाका अभाव तो नही है, ऊपरके गुणस्थान तक भी इच्छाके सद्भावका तो वर्णन किया है मगर वह सब इच्छा बिना इच्छाके है इच्छासे किया और इच्छा बिना किया, ऐसा दो का समन्वय किया है उपभोग करनेवाले ज्ञानीने। जो इच्छा है वह चारित्र मोहकृत है। इच्छा का अभाव है दर्शनमोहके अभाव वाला। अध्यात्मशास्त्रोमे जितना वर्णन होता वह बुद्धिपूर्वक का वर्णन हो। हाँ अबुद्धिपूर्वक तथ्योका वर्णन करणानुयोग करता है। जहाँ एक एक समयका निर्णय है और करणानुयोग ही तो कहता है कि लोभ कषाय १० वें गुणस्थान तक है,

चरणानुयोग कहता कि लोभ कषाय कुछ न कुछ छठें गुणस्थान तक है, ७ वें मे अप्रमत्त होता। तो द्रव्यानुयोग या अध्यात्मशास्त्र कहते कि ये कषाय तो चौथे गुणस्थानमे नही, तो इसका मतलब ही क्या ? क्या ये जुदे-जुदे मत है ? दर्शन तो एक ही है, वहाँ अपेक्षाकी दृष्टि लगानी होती है। बुद्धिपूर्वक कषाय नही है ज्ञानीके याने ये कषाय मैं हूँ, इनमे ही मेरा बडप्पन है, इनमे ही हमारा महत्त्व है, प्रभाव है, इससे मैं सुखी रहूँगा, यह अज्ञानकी बात नही रहती ज्ञानीके। तो बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह नही है इसलिए ज्ञानी निराश्रव है और एक बार स्पष्ट शब्दोमे भी बता दिया—यतो हि ज्ञानी वुद्धिपूर्वकरागद्वेष-मोहानामभावान्निराश्रव। समयसारमे आत्मख्याति टीकामे तो आया है, इसमे अधिक उलझनमे नही पडना अपनेको। अर्थात् सब काम बुद्धिपूर्वक निर्णयमे बनाना है, बुद्धिपूर्वक गल्ती न हो, बुद्धिपूर्वक आश्रव न हो, विकार न हो, यह ही तो प्रयोगमे आयगा, यह ही तो सौख्य बनेगा, इतनेमे ही तो हमे काम है, इसलिए यह ही बात बनावें, यह ही काम किया जाय।

११५१—पूर्वबद्धकर्मविपाकसे उपयोगका विशिष्ट भवन—

इस जीवने पहले जो कर्मबन्धन किया उसका अब यह उदयकाल आया। उस उदयकालमे जैसे सातावेदनीयके उदयमे दो काम होते—बाह्य पदार्थोका समागम होना और इन्द्रिय द्वारा भोगकी पद्धति अनुभूति बनना, जैसे धवलमे स्पष्ट बताया और उदाहरण दिया कि अनन्तानुबन्धी कषायके दो काम हैं—(१) सम्यक्त्वका घात करना और (२) चारित्रका घात करना। ऐसे ही समझ जीजिए। जब पूर्वबद्ध कर्म उदयमे आये, स्थिति उसकी पूर्ण हुई तो उदय कहलाया, स्थिति पूरी हुए बिना पहले ही विपाक आये तो उदीरणा कहलाती है। देखो दो बातें होती है—(१) ज्ञप्ति और (२) निष्पत्ति। ज्ञप्तिके मायने भगवानने जो देखा, देखा भी क्या ? जो जिस विधानमे होना है वह देखा। अब चूँकि देखा तो उसके निर्णयके बाद यही तो कह सकेंगे कि भगवानने जो जाना सो होगा। और, यह कहते भी आये कि जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे। जब जब जहाँ जैसा जिसका जो कुछ प्रभु द्वारा ज्ञात है सो होगा। यह ज्ञप्तिनयसे कहा जा रहा है। पर निष्पत्तिसे देखेंगे तो वह विधिविधान, यह पद्धति वह सब समझमे आयगी। देखो वहाँ हुआ क्या ? चाहे निष्पत्ति वाली बात बोलो, चाहे ज्ञप्ति वाली बात बोलो, वस्तुस्वातन्त्र्य सर्वत्र अमिट है। कही निष्पत्तिनयसे यह वर्णन सुनकर कि जब जीवके राग प्रकृतिका उदय है तो यहाँ जीवमे रागविकार हुआ, ऐसा सुनकर कही यह न आयगा कि रागप्रकृतिने जीवमे परिणमन बनाया। प्रकृतिकर्म अपना परिणमन भी करे और जीवकी विकार परिणति भी करे, ऐसा नही है। निमित्तकी उपस्थितिका अर्थ इतना है कि वह एक ऐसा वातावरण है कि वहाँ यह उपादान अपनी कलासे अपनेमे विकाररूप प्रभाव बनाता है। सर्वत्र आप यही पायेंगे, तब ही तो यह कहा गया कि निमित्तसे जीवविकार नही होता और निमित्त बिना जीवविकार नही होता। दोनो का तथ्य तो परखना चाहिए।

११५२—कर्मविपाकके उदयकी घटना—

यह पूर्वबद्ध कर्मविपाक उदयमे आया मायने कर्ममे स्वयं जो अनुभाग पडा है, उसमे ही वह अनुभाग फूट गया। जैसे कोई चूनेका डला है तो वह कितनी देर तक ठहरेगा ? मानो खूब सुरक्षित रखा जाय, उसमे कुछ हवा, पानी वगैरह न लगने दिया जाय तो मानो इसकी म्याद ६ महीने तककी रह सकती है। ६ महीने बाद वह डला फूट जायगा। और मानो आज ही तो वह डला बना और आज ही उस पर पानी डाल दिया गया तो वह डला तुरन्त फूलकर खतम हो गया। तो अपने

समयपर विपाक आना यह तो उदय है और समयसे पहले विपाक आ जाना उदीरणा है। ज्ञप्तिनयकी दृष्टिमे तो सब समयपर हुआ क्योकि प्रभुने जाना, इस प्रकार यह हुआ तो सब समयपर है। मगर निष्पत्तिनयसे देखे तो यह सब आपको समाधान मिलेगा कि यह समयपर है या यह समयसे पहले है, पर सब कुछ समझनेके लिए एक जरा दृढता यह होनी चाहिए कि जब निष्पत्तियोको सुनेगे, समझेगे तो बीचमे ज्ञप्तिकी बात न मिलाये। ज्ञप्तिसे कुछ समझे तब निष्पत्तिकी बात न लाये तो बराबर व्यवस्थित हो जायगा। जब दो चीजें सामने रखी तो एक प्रतिपक्ष हुआ, एक पक्ष। ज्ञप्तिनयसे सिद्ध करेंगे तो वह पक्ष, निष्पत्तिनयसे सिद्ध करे तो वह प्रतिपक्ष। निष्पत्तिनयसे सिद्ध करेंगे तो वह पक्ष और ज्ञप्तिनयसे सिद्ध करेंगे तो वह प्रतिपक्ष। तो सभी जगह स्याद्वाद शासनकी यह नीति अतिक्रान्त न की जाना चाहिए कि प्रतिपक्षनयका निर्णय समझकर, प्रतिपक्षनयका विरोध न कर प्रतिपक्षनयकी बातको असत्य न कहकर प्रतीतिमे ले, जानकारीमे ले वह भी है और प्रयोजनवश पक्षकी, विवक्षितकी मुख्यता करे और उसको उस प्रकार समझे।

११५३—प्रतिपक्षनयका विरोध न कर विवक्षित नयकी प्रसिद्धिकी नीतिका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—

जैसे जीव नित्य है, नित्य नही है ये दो तथ्य जीववस्तुके विषयमे कहते हैं। वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक होती है। गुणोको तो आप भेद करके समझते सो चाहे एक बार गौण कर दे, क्योकि गुणोका भाव स्वभावसे लिया है। स्वभावके भेदको ही गुण कहा करते हैं। जो एक अविकल्प स्वभाव है उसको भेद करके बतानेका नाम गुण कहलाता है। तो गुणको तो चाहे एक बार गौण कर दे, बस अभेद करना, हमे तो अखण्ड निरखना है। स्वभाव देख लिया, यह हुआ द्रव्यस्वरूप। पर साथमे पर्यायको कभी मना नही कर सकते, क्योकि द्रव्यमे प्रतिसमय पर्याय होती है इसलिए द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु है। जब पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है तो द्रव्यदृष्टिसे बात बताओ। पर्यायदृष्टिसे बात बताओ। जीवका निर्णय क्या बना है तो द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है पर्यायदृष्टिसे जीव नित्य नही है, याने अनित्य है। अनित्य नही है ऐसा अगर बोला जाय तो वह पर्यायदृष्टिका मन्तव्य न रहा वहाँ द्रव्यदृष्टि ही रही, क्योकि दोनोका अर्थ एक है। द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है, अनित्य नही है, यह द्रव्य दृष्टिके अन्दरका निर्णय है, न कि स्याद्वादका, प्रमाणका? एक दृष्टिसे भी तो पक्का निर्णय पडा रहता है। अभी ७ भङ्ग कहे गये हैं उनको सुनकर कोई ऐसा सोचे कि ये स्याद्वादी तो सशयवादी हैं, देखो अभी कहा कि जीव नित्य है, अभी कहा कि नित्य नही, यह तो सशयवाद है, इसका कोई निर्णय ही नही। इस शासनका कोई निश्चय ही नही। किन्तु भैया, जो स्याद्वादके ७ भङ्ग है उनका जिन्होने गहराईसे अध्ययन किया है वे समझेंगे कि प्रत्येक भङ्गमे निर्णय पडा हुआ है, निश्चय पडा हुआ है कि ऐसा ही है, जैसे पहला भङ्ग क्या है? स्यात् अस्ति एव, अच्छा नित्यके प्रसगमे ले लो—जीव स्यात् नित्य एव, यह है पहला भङ्ग। उसमे सशय नही पडा है। यहाँ स्यात् मायने है दृष्टिसे। सो यहाँ बात यह पडी है कि जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है। यहाँ सशय नही है। द्रव्य दृष्टिसे नित्य ही है। अब इसकी दूसरी प्रतिफलित आवाज क्या है? द्रव्यदृष्टिसे अनित्य नही है, यह एक द्रव्यदृष्टिका ही निर्णय है, प्रमाणका निर्णय नही, स्याद्वादका निर्णय नही। स्याद्वादके एक भङ्ग का निर्णय है। प्रत्येक भङ्गमे निर्णय पडा हुआ है।

११५४—स्याद्वादमे सनिश्चय निर्णय व स्याद्वादके प्रत्येक भंगमे निश्चय—

कौन कहता है कि स्याद्वाद सशयवाद है। स्याद्वाद के तो एक-एक भङ्गमे निर्णय पडा है, मगर

ध्यान यह दें कि एक भङ्गके निर्णयमे दृष्टि बोलनी ही पडेगी दृष्टि बोले विना भङ्गका निर्णय निश्चय से बनना तो ठीक नहीं बैठता । जैसे स्यात् को तो हटा दिया मायने द्रव्य दृष्टिसे, इतना शब्द तो हटा दें और बोलें कि जीव नित्य ही है तो अब यह स्याद्वाद न रहा, यह ब्रह्माद्वैतवाद हो गया । अपरिणाम वाद हो गया, साख्य शासन हो गया, और जहाँ दृष्टि देकर पक्ष है, जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है, तो वह स्याद्वादका अग याने भङ्ग बन गया । एक अब लौकिक दृष्टिसे बात लो, तीन आदमी सामने बैठे हैं, अब हम किसका नाम लें ? मान लो, रामू, मोहन और सोहन ये तीन नाम ले लिया तो इनमे रामू तो बाबा है, मोहन रामूका लडका है और सोहन मोहनका लडका है, अब हम यहा मोहनका परिचय करना चाह रहे है तो वहाँ क्या कहा जायगा कि रामूकी अपेक्षासे यह मोहन लडका है । अच्छा जरा निर्णय दृढतासे बोलो मोहन रामूकी अपेक्षासे लडका ही है । बतलाओ इस निर्णयमे कोई गल्ती है क्या ? नही । अच्छा अब हम रामूको हटा दें न बोलें और कहे कि यह मोहन लडका ही है, अब इस तरह वहाँ वे दो अगल बगल है और समझ ऐसा भी सकते कि यह मोहन सोहनका लडका है तो वहाँ झगडा हो जायगा ना । तो वहाँ दृष्टि सहित बोलनेसे धर्मका निर्णय आता है, और दृष्टिको छोडकर बोलनेसे निर्णय नही आता । अगर दृष्टि छोडकर एवकार लगाते जायें तो एकान्त हो जाता है । अब वह चाहे क्षणिक वाद बने चाहे अपरिणामवाद बने ।

११५५—स्याद्वादमे धर्मके निश्चयमे दुमुही सहयोग—

स्याद्वादकी परख यह है कि जीव स्यात् नित्य एव, स्यात् अनित्य एव, द्रव्यदृष्टिसे देखे तो जीव नित्य ही है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य ही है । वहाँ जीवमे विवक्षित धर्मके परिचयमे सशयका या ढीलका अवसर नही है । द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य ही है पर्यायदृष्टिसे जीव नित्य कभी होता ही नही है, पर्याय दृष्टिसे अनित्य ही है, ऐसा निर्णय बन गया । देखो स्यात् और एव के बीचमे धर्मका नाम रखा है । जैसे पहाडपर कोई एक ऊँची नीची रेलकी पटरी हो, जैसे शिमलाकी रेलवे लाइन हैं ना ऊँची नीची, तो पहले तो उसमे दो इन्जन लगते थे एक आगे और एक पीछे । अब तो कोई तीन चार डिब्बे की ट्रेन रहती और एक ही इन्जन लगता । तो बात कह रहे हैं दो इन्जन लगनेकी । जब गाडीमे आगे और पीछे दो इन्जन लगते तो सोचना वहाँ यह है कि दो दो इन्जन क्यो लगते ? तो बताया कि इसलिए कि कही वह गाडी ऊँचे नीचेमे गिर न जाय इसलिए एक इन्जन तो गाडीके साधनेका काम करता और एक इन्जन गाडीको आगे बढानेका काम करता । तो ऐसे ही समझो कि सभी नयोके धर्मों के पीछे आगे स्यात् और एव ऐसे मानो दो इन्जन लगे हैं, किसी चीजको पहिचानने के लिए अब द्रव्यदृष्टिसे देखो तो वहाँ ऐसा निर्णय पडा कि जो अनुलोम प्रतिलोमविधिसे कहनेपर अनेकातता जचता है । द्रव्यदृष्टिसे जाना कि नित्य ही है, अनित्य नही है, है वह एक दृष्टिकी ही बात । प्रमाण की बात न रही, इससे जीवका पूरा ब्योरा नही बनता । जीवका द्रव्यदृष्टिका जो कुछ ब्योरा बनता, वहाँ उस दृष्टिका नि.सशय निर्णय पडा हुआ है, और उस निर्णयमे जो दृढता है वह एक दृष्टिकी है, क्यकि वह एक भङ्ग है इसी प्रकार अन्य धर्म व दृष्टिकी बात समझ लेना ।

११५६—तथ्यपरीक्षणके चार प्रकार—

अच्छा पूर्ण वस्तुका निर्णय ७ भङ्ग मिलाकर बोलो, दो भङ्ग मिलाकर बोलो, तीनमे बोलो । प्रयोजनवश जितनेसे प्रसग बन जाय बोलो । अगर वस्तुधर्म तीन हैं स्वतत्र तो उनमे ७ भङ्ग बनते हैं । जैसे कुछ भी आप तीन चीजें ले लीजिए—नमक, मिर्च, खटाई अब इन तीनोके अलग-अलग स्वाद

होगे—नमकका अलग, मिर्चका अलग और खटाईका अलग, चौथा नमक मिर्च मिलाकर, ५ वा नमक खटाई मिलाकर, छठवाँ खटाई मिर्च मिलाकर और ७ वाँ नमक, मिर्च, खटाई ये सब मिलाकर, इस तरह ये ७ प्रकारके स्वाद बनते है। तो जब तीन धर्म सामने है—नित्य, अनित्य, अवक्तव्य, तब उन तीनके भङ्ग बनेंगे तो ७ बनेंगे। वह ठीक है, पर प्रयोजनमे जल्दी समझनेके लिए दो का प्रयोग करलो। द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य ही है, और दोनो ही अग हैं वस्तुके। द्रव्य-शून्य पर्याय नही, पर्यायशून्य द्रव्य नही। तब दोनो बातें एक साथ समझते है और दोनो बाते समझ चुकनेके बाद दोनोको छोडते है, एकको छोडना, सबको छोडना। नय और प्रमाण दोनोसे अतीत हो। देखो अनुभव पानेके लिए नय, निक्षेप, प्रमाण जहाँ ये अस्तको प्राप्त होते हैं, ऐसी दशा होती है, वह है अनुभूति। हम चार तरहसे देख सकते है—केवल दाहिनी आँखसे देखें, केवल बायी आँखसे देखे, दोनो आँखे खोलकर देखे, दोनो आँखे बन्द करके देखे आप कहेगे कि दोनो आँखे बद करके कैसे दिखेगा ? सो दोनो आँखें बद करके भी दिखता, जो भी दिखे, वह बात एक अलग है, ऐसे ही दो दृष्टियाँ हैं—(१) द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि। पर्यायदृष्टिको गौण करके द्रव्यदृष्टिसे निरख लो, द्रव्यदृष्टिको गौण करके पर्यायदृष्टिसे निरख लो, द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि इन दोनोसे निरख लो, और द्रव्य पर्याय दोनो दृष्टियोको बद करके निरख लो। द्रव्यदृष्टिसे देखा कि नित्य है, पर्यायदृष्टिसे देखा कि अनित्य है, दोनो दृष्टियोसे देखा कि अवक्तव्य है, और दोनो दृष्टियोको बद करके देखा तो मिला सहज स्वरूपका अनुभव।

११५७—सर्व उपदेशोका लक्ष्य स्वभावाश्रयके पौरुषमे जुटाव—

देखो जितना भी आगममे उपदेश है चाहे नयसे बताओ, प्रमाणसे बताओ, किसी ढगसे बताओ, सबका उद्देश्य है कि यह जीव किसी प्रकार स्वभावका आश्रय करे। स्वभावाश्रयके लिए समस्त उपदेश है। प्रथमानुयोग हो, कथा हो, करणानुयोगकी बातें हो, सभी का उद्देश्य है स्वभावका आश्रय मिले। पर पदार्थोंका विकल्प करके, जुट करके, इनका आश्रय करके तो अब तक ससारकी परम्परा ही बढायी। इसमे अपने आपके आत्माका वास्तविक आनन्द नही मिला। तो सब उपदेशोका तथ्य यह निकालें और कोशिश यह करे कि स्वभावाश्रय हो। इस लक्ष्यके लिये जिनवाणीकी भक्ति अधिकाधिक बनी रहे। जैसे द्रव्यदृष्टिके देखनेसे हमको सुविधा अधिक मिलती है तो पर्यायदृष्टिके तथ्यको कहा जाय कि यह असत्य है बात, झूठ है बात, यह जिनवाणीकी भक्ति नही। पर्यायदृष्टिसे भी परीक्षा करनेपर यह भी कुछ मौका मिल सकता कि जिसके बाद शुद्धनयपूर्वक स्वानुभव बन ले। जैसे पर्यायदृष्टिसे ऋजुसूत्रनयसे देखते कि पर्याय एक समयमे है, अपने समयमे है, वहाँ दूसरा कुछ नही है। वह अपने आपमे है, उसका कोई कारण नही, कार्य नही। पर्यायदृष्टिसे जब हम पर्यायकी ऐसी दृष्टि करते कि ये अहेतुक हैं पर्यायें, क्योकि पर्यायदृष्टिमे जो सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय है उसकी दृष्टिसे देख रहे हैं कि जिसका एकान्त करके बौद्धमत निकला है वहाँ पर्यायकी जगह पदार्थ शब्द मिलेगा। यहाँ हम पर्याय कहते हैं। क्यो पर्याय कहते कि हम द्रव्यदृष्टिकी भी तो प्रतीति लिए हुए हैं इसलिए हमारा ऋजुसूत्रनयका वर्णन एकात न कहलायगा। अगर हम उस प्रतीतिको तज दे तो जो बौद्धो की स्थिति है सो ही ऋजुसूत्रनयके एकान्तकी है। तो पर्यायदृष्टिसे, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयसे जब देखा तो वहाँ विकल्पबाहुल्यका स्थान नही है तब अविभागी निरशसे अखण्ड निरशपर आकर स्वभावका आश्रय करनेका, पर्यायका व्यामोह हटानेका अवसर प्राप्त होता है। चलो उससे ही काम निकाले।

जिसको जिस तरह काम चलानेकी सुविधा है वह उस तरह काम निकाले। इसमे कोई विरोधकी बात नही। ऋजुसूत्रनयकी प्रधानतासे अपने प्रयोजनमे आगे बढ़ें, बढे चले इसी तरह। विवादका कही स्थान नही बनता। स्याद्वादविधिसे चलनेपर विवादका कही अवकाश नही, विवादका कही स्थान नही। सब ठीक ठीक समझते जावो और अपने उद्देश्यमे लगो। इस स्वभावका आश्रय करके मैं अपने उपयोगको वहाँ रमाऊँ, ऐसा ही ज्ञान पाऊँ कि जो निर्विकल्प अखण्ड सहज सत्त्वके कारण जो मेरा सहज चैतन्यस्वरूप है उसमे चिपक सकूँ, उसमे लग सकूँ, यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव बन सके, यह काम करनेको पडा है जीवनमे।

११५८—पराश्रयसे हटकर स्वाभावाश्रय करनेमे ही दुर्लभ क्षणोंकी सफलता—

अगर अन्य अन्य बातोंमे ही ममता करके—यह मेरा पुत्र, यह मेरा वैभव, यह मेरा अमुक, इस तरहकी अहबुद्धि लगाकर हम जीवन बिता डालें तो हमारा जीवन सफल नही कहलायगा। उद्देश्य एक रखना स्वभावका आश्रय करना जिनवाणीके प्रत्येक वाक्यसे स्वभावदृष्टिका मार्ग मिलता है, इसलिए जिनवाणीमे भक्ति रखना और वहाँ सर्व उपदेशोसे अपने आपके स्वभावका आश्रय करना यह हम आपका परमावश्यक कर्तव्य है। हम उन सब आचार्योंके उपदेश पढते है वे सब निष्फल नही जाते। उनमे एक प्रेरणा बसी हुई है स्वभावका आश्रय करनेके लिए। उसकी भक्ति तो चाहिए, जिस जिस पुरुषका सौभाग्य है, जिसे अपने स्वरूपका निर्णय है वह एक ८ वर्षके बालककी कवितामे भी कभी जिनवाणीकी बात सुन रहा हो जैसे बारह भावनायें वगैरह सिखा दिया करते ना, छोटे-छोटे बालकोको, तो उन बालकोके मुखसे कविता सुनकर भी श्रोता अपने आपके स्वरूपका आश्रय पा लेनेका पौरुप बना लेता है। अन्तरात्माने अपने आपका ऐसा निश्चय बनाया कि मैं चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ, अन्य विभावरूप नही, परभावरूप नही, ये तो मेरे को सताने आये हैं, ये परभाव मेरे प्यार के लिए नही है, ये तो मेरी बरबादीके लिये है, ये मेरे लिये दु खरूप हैं, ये तो दु खके ही हेतुभूत है। आप समझ लो कि इन सब विकल्पोको, इन सब ख्यालातोको, इन सब विभावोको हटाना ही चाहिए। इन सबसे विविक्त अपना जो एक शुद्ध अन्तस्तत्त्व है उसका आश्रय लें। वही हमारा सर्वस्व है। एक बहुत मोटी सी बात कही है कि जहाँ विकल्प है, जहाँ ख्यालात हैं, जहाँ जो कल्पना है वह मेरा रूप नही। साधु सन्तोने अपना यह निर्णय बताया है कि यद्यदाचरित पूर्व तत्तदज्ञानचेष्टितम्। पूर्वमे जो जो आचरण किया वे सब अज्ञानमे हुए।

११५९—सर्व विश्लेषणोंकी पारगतता होनेपर अटकावका अनवसर—

भैया, अज्ञानकी भी स्थितियाँ हुआ करती हैं। ज्ञान होकर भी अज्ञान, ज्ञान जरा न रहकर भी अज्ञान। सबकी अलग अलग व्यवस्था, सबके अलग अलग विश्लेषण। उन विश्लेपणोमे पारगत होनेसे विकल्पोमे अटकाव नही आता, मगर सुन रखा कुछ, बात है और कुछ उससे अटकाव होता। सहारनपुरकी एक घटना है। एक लडकेके पास कोई खोटी चवन्नी थी, वह चवन्नी बहुत दिनोमे चल नही रही थी। समयकी बात कि एक दिन वह चवन्नी चल गई, याने एक हलवाईकी दूकानमें १ आनेकी मिठाई उस लडकेने खरीदी तो हलवाईने चवन्नी रख ली और तीन आने पैसे फेर दिये। वह लडका मारे खुशीके यह कहता हुआ भागा कि चल गई चल गई चल गई। उसका प्रयोजन तो यह था कि चवन्नी चल गई। पर हुआ क्या कि उस समय हिन्दू मुस्लिम सामुदायिक दगे फिसाद लडाई बहुत चल रही थी सो दूकानदारोने समझा कि हिन्दूमुस्लिम झगडा चल गया, गोली लाठी चल

गई। सो सब दूकानदार अपनी अपनी दूकानें बंद करके अपने अपने घरमें घुस गए। तो भाई मूल बातका यथार्थ पता न होनेसे, सही सही रहस्यका पता न होनेसे बीचमें एक अटक हो जाया करती है। और जब तक यह अटक रहती है तब तक इस जीवको दुःखी होना पड़ता है। जब सब प्रकारका निर्णय हो जाता है तो फिर कहीं भी अटक नहीं होती।

११६०—शुद्धनयविज्ञानपूर्वक स्वानुभवकी विधिकी उत्थानिका—

जैसे बताया गया है कि शुद्धोपयोग जिसके होना है तो शुभोपयोगके बाद ही होता है, अशुभोपयोगके बाद अनन्तर तुरन्त शुद्धोपयोग नहीं होता इसी प्रकार यह समझिये कि जिसको स्वानुभूति नहीं और स्वानुभूति होनेको है तो जिसके स्वानुभूति होती है उसको शुद्धनयके प्रयोगपूर्वक होती है। शुद्धनयको छोड़कर स्वानुभवका कोई उपाय नहीं है और वह शुद्धनय क्या चीज है? परसे विविक्त निजमें समस्त एक अखण्ड तत्त्व, जिसको कहो अवक्तव्य, उसे ज्ञानमें लीजिये, वचनोंसे न बोला जायगा। ऐसा खैर एकान्त नहीं, वचनसे बोलते ही हैं अवक्तव्य, सो सर्वथा अवक्तव्य नहीं हुआ करता। वह भी कथञ्चित् अवक्तव्य होता, मगर उसका जो वेग है, उसकी जो सही बात है वह वचनागोचर है। अब देखो शुद्धनय किसके पूर्वक होता? उसके पूर्व कुछ भी सुनयोकी स्थितियाँ हो जाती हैं। इस बातको आप कुछ इन विभागोंमें रखें—परम शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय और इसके अन्तर्गत और भी कितनी ही तरहकी बातें हैं। अब किस प्रकार होता है? तो देखो उपचारमें तो गुंजाइश नहीं। उपचार भाषा एक ऐसी भाषा है कि जो परस्वामित्व और परकर्तृत्वकी बात लादता है केवल वचनोंमें। ज्ञानी जीव कदाचित् उपचार-भाषाका प्रयोग करता तो है, और उपचार भाषाकी मुद्रा ही यह है कि जिसमें परस्वामित्व और परकर्तृत्वकी मुद्रा बनती है, मगर ज्ञानी तो प्रयोजनको सोचकर बाकी बातको छोड़ देता है, और अज्ञानी जन उपचारभाषाके शब्दोंको उसी रूपसे उपादान उपादेय भावसे लगाते सो वह मिथ्या होता है। अतः इसकी बात तो रहने दीजिये इससे शुद्धनयमें जानेकी प्रेरणा नहीं मिलती। और उपचारनय भी नहीं है। यहाँ एक बात समझना, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय एक पर्यायार्थिकनय है। तब इतने नयोंका अंपको विचार करना है—परम शुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय, याने ऋजुसूत्रनय उसमें भी सूक्ष्मऋजुसूत्रनय। इसमें व्यवहारनय एक द्रव्यार्थिकनयका भेद है। नैगम, संग्रह, व्यवहार। व्यवहार केवल पर्यायको नहीं लेता, किन्तु पर्यायसंयुक्त द्रव्यको मुख्य लेता हुआ वह विवरण करता है। जबकि ऋजुसूत्रनय पर्यायको मुख्य लेकर विवरण करता है।

११६१—सूक्ष्मऋजुसूत्रनयतत्त्वपरिचयपूर्वक हुए शुद्धनयके अनतर स्वानुभवकी संभवता—

अब लो, ऋजुसूत्रनयसे ही शुरू करें। सूक्ष्मऋजुसूत्रनयसे यह जाना कि एक पर्याय, कैसा पर्याय जाना? निरंश। देखो निरंश दो तरहसे जाना जाता (१) अविभाग निरंश और (२) अखण्ड निरंश। अविभाग निरंश तो ऋजुसूत्रनयका विषय है याने इतना कालका अंश लिया जाय जो एक समय वाला हो, जिसमें फिर और विभाग ही नहीं किया जा सकता। स्थूल ऋजुसूत्रनयके विषयमें खण्ड होता है, पर सूक्ष्मऋजुसूत्रनयसे जहाँ एक समयकी चर्चा आयी, उसका ज्ञान तो न कर पायगा यह छद्मस्थ। एक समयकी पर्यायका ज्ञान छद्मस्थ नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उपयोग जो परिणत होता है किसी पदार्थको जाननेके लिए उसमें समय असंख्यात लगते हैं। जयधवलमें बताया गया है कि स्थितिके आधिक्यमें किन-किन स्थानोंके बाद किसका नम्बर आता है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें जितना

समय लग जाता है उससे भी अधिक छद्मस्थके एक उपयोगका समय बताया है प्राय । उसको कुछ अल्प बहुत्वके प्रकरणमे बताया है । तो जब पर्याय है तब उसका जानना छद्मस्थके उपयोगमे नही । उसके सम्बन्धमे विचार करता है, उपयोग जोडता है तो असख्यात समय बाद जान पाता है । इस बातको लेकर ही तो बौद्धोने निर्विकल्पदर्शन और विकल्पात्मक ज्ञान, ये दो भेद बनाये हैं । निर्विकल्पदर्शन तो है उनका प्रत्यक्ष और विकल्पात्मक ज्ञान है उनका सविकल्प ज्ञान । निर्णय जितने हुआ करते है वे सविकल्पात्मक ज्ञान हैं और साक्षात्कार जो होता है वह प्रत्यक्षसे होता है । यह बात बौद्धदर्शनकी अपेक्षा बतला रहे हैं । तो उनका मतव्य है कि हम जितना जो कुछ जान पाते हैं वह सब मिथ्या है, क्योकि वह विकल्पात्मक ज्ञानसे जाना जाता है । और, जो वर्तमान सत्य है यह वचनके अगोचर है । वह तो केवल प्रत्यक्षगम्य है निर्विकल्प दर्शन द्वारा प्रतिभास्य है । तो उस निरश एक समयकी पर्यायको हम चर्चामे लाते, बुद्धिमे लाते, तर्कमे लाते, मगर विशद ज्ञान नही कर सकते । तर्कमे ही सही, अनुमानसे ही सही, एक समयकी ही पर्याय जब ज्ञानमे ली जा रही हो तब उस विषयका क्या वर्णन होगा ? अहेतुक है, वह किसी कारणसे नही हुआ । उसका कोई विशेषण नही, कार्यकारण भेद होता ही नही, विधि भी नही, मना भी मत करो, उसका वह विषय ही नही, यहाँ विशेषण विशेष्यभाव हो ही नही सकता, और यहाँ तक कि कोई व्यवहार ही नही बन सकता । सर्वार्थसिद्धिमे ऋजुसूत्रनयका जहाँ वर्णन किया है तो वहाँ शका की है कि इसमे तो व्यवहारका लोप हो जायगा । तो कहा कि होने दो लोप, यहाँ तो नयका विषय बताया जा रहा । किसी बौद्धके रूईकी दूकान हो और वह ईमानदारीसे अपने शासनपर चले और कभी उस रूईमे आग लग जाय तो वह यह न कह सकेगा कि रूई जल रही है । क्योकि जो जल रही है वह रूई नही है जो रूई है वह जल नही रही है । रूई है सफेद, वह जल कहाँ रही और जो जलनेकी स्थितिमे है वह रूई कहाँ रही । इतना भी नही बोल सकते कि कौवा काला है, क्योकि कौवा सब काला तो नही होता, इसके भीतर खून लाल है, हड्डी सफेद है ? क्या जितना-जितना काला होता वह वह सब कौवा है ? नही । तो कौवा काला है वह विशेषण विशेष्य भी ऋजुसूत्रनयको मजूर नही, कारण कार्यभाव भी मजूर नही । यह तो एक चर्चाकी बात है, मगर यहाँ एक ढग देखो कि एक समयकी पर्याय विषयमे लिया, विकल्पमे लिया, सोचा और कुछ ख्याल न किया तो ऐसी स्थितिमे जैसे थोडी विचित्र बात बोली तो उससे उपयोग स्तब्ध हो जाता । तो ऐसे उस समयमात्रकी बात निरखनेमे उपयोग ऐसा स्तब्ध होता, विकल्पसे दूर होता, यद्यपि वह भी एक विकल्प कहलाता, किंतु वह विकल्प ऐसा लगडा है कि वह स्थिर न रह पायगा । तो ऐसा चिन्तन करते हुए मे वह विकल्प भी मिटेगा और शुद्धनयका प्रकाश आयेगा और उस पूर्वक स्वानुभव बताया ही गया है, तो यो ऋजुसूत्रनयके विषयका चिन्तन करके भी वह शुद्धनयपूर्वक स्वानुभवमे पहुँच सकता, किन्तु पर्यायनयका प्रारम्भ होनेसे यह उपाय कुछ दुर्गम है ।

११६२—व्यवहारनयभावपूर्वक हुए शुद्धनयके अनन्तर स्वानुभवकी सभवता—

व्यवहारनयकी बात लीजिए । व्यवहारनयसे विदित हुआ विभावोका परभावत्व । ये विभाव, ये रागद्वेष विकार, ये सब कर्मोदयविपाकप्रभव हैं, ये परभाव है । इनके साथ ही साथ यह भी ज्ञान चल रहा है कि ये स्वभाव नही है । और, स्वभाव नही, यह भी बोल पा रहा है वह जिसने स्वभावका भी दर्शन किया और वर्तमानभावका परिचय भी ले रहा है । ये विकार परभाव है, स्वभाव नही हैं ऐसा चिंतन करते हुए परभावोसे उपेक्षा बनी, स्वभावकी ओर दृष्टि गई । अब स्वभावपर दृष्टि जानेसे

उसे अवकाश मिलता है कि वह उस विकल्पसे मुक्त होकर शुद्धनयमे आये और स्वानुभव प्राप्त करे।

११६३—अशुद्धनिश्चयनयतत्त्वपरिचयपूर्वक हुए शुद्धनयके प्रयोगमे स्वानुभवकी संभवता—

अशुद्धनिश्चय नयकी बात लीजिए। अशुद्ध निश्चयनयमे निश्चयनयका एक नियत्रण है कि एक ही वस्तुको देखना, एकमे ही देखना, एकका एकमे सब कुछ दृष्ट करना। अशुद्ध निश्चयनयमे विकार विभाव दिखते तो है मगर देखो वहाँ ही एकमे मिलाकर, जैसे जीव रागी है, जीवमे राग परिणमन है। विश्लेपण करते जावो कि राग इसकी योग्यतासे हुआ। वहाँ दूसरा कुछ दिख ही नही रहा। अशुद्ध निश्चयनयका जो मूड है वह दूसरेको नही परख रहा। एकही को एकमे देख रहा, निमित्तको भी नही देख रहा, बस जीव रागी है, जीवमे रागपरिणमन है यही मात्र दिख रहा और इस तरह दिखा जैसे कि दर्पणमे प्रतिबिम्ब हुआ, वहाँ उन लडकोंको नही देखा जो पीछे खडे थे, जिनका निमित्त पाकर दर्पणने वैसा प्रतिबिम्ब परिणमन किया। इस मूडमे अन्य कुछ नही देखा जा रहा है। यहाँ यह दर्पण ऐसा प्रतिबिम्बरूप परिणम रहा है, यह जीव ऐसा रागविकाररूप परिणम रहा है, सिर्फ यह ज्ञात हो रहा है। वहाँ निमित्तपर दृष्टि नही, आश्रयभूत पदार्थपर दृष्टि नही। याने विकल्पबहुलताके अवसर जिन जिन दृष्टियोसे आते वे वे दृष्टियाँ यहाँ नही हैं। एकमे ही एकको देखा जा रहा है। ऐसा जब देखा जा रहा तो उस एक नियत्रणके कारण, और परदृष्टि न होनेके कारण उसे ऐसा अवसर मिलता जैसे कि कभी कभी देखा होगा—जाप दे रहे, गुरियापर हाथ लग रहा और किसी समय झपका आया तो माला गिर गई, विकल्प सो गया। एक नियत्रणमे अशुद्ध निश्चय नयमे यह निरखा जा रहा है, चूकि उसके जागृति नही है, वेदान्तकी भाषामे चलता है जागृति शब्द मोह व्यवहारमे। निमित्तमे आश्रयभूतमे उसका विकल्प नही जग रहा है। ऐसी स्थितिमे वहाँ एक अवसर ऐसा आयगा कि यह भी विकल्प छूटेगा इस नियत्रणके कारण। सो वहाँ एक शुद्धनयका प्रकाश जगा कि स्वानुभूति बनी।

११६४—शुद्धनिश्चयनयतत्त्वपरिचयपूर्वक हुए शुद्धनयप्रयोगमे स्वानुभवकी सभावना—

शुद्ध निश्चयनयमे एक नियत्रण है, शुद्ध पर्यायको देखना, एकमे देखना। जैसे जीव केवलज्ञानी है, जीव अनन्तचतुष्टयात्मक है और कुछ नही दिखता। यहाँ क्षायिक भावका कोई विकल्प नही, केवलज्ञान क्षायिक है ऐसा इस नयके मूडमे परिचय नही। क्षायिकत्व शुद्धनिश्चयनयका विषय नही, यह व्यवहारका विषय बनता, वह यहाँ नही परखा जा रहा है, वह केवलज्ञान, जीवका केवलज्ञान, जीवकी परिणाम जीवके उपादानसे प्रकट हुआ है। चूकि वह स्वभाव परिणमन है तो उसमे अनुरूपता है। तो एक अनुरूपता होनेसे, दूसरे निश्चयनयका नियत्रण होनेसे वह दिख तो रहा है मगर ऐसे भी विकल्प टूटकर एक शुद्धनय प्रकाशमे आ सकता और उसके उस पूर्वक स्वानुभव बनेगा।

११६५—परमशुद्धनिश्चयनयतत्त्वपरिचयपूर्वक हुए शुद्धनयप्रयोगमे स्वानुभवकी सभावना—

परमशुद्ध निश्चयनय, यद्यपि परमशुद्ध निश्चयनय और शुद्धनयमे अधिक अन्तर नही है लेकिन सूक्ष्म दृष्टिसे देखे तो अन्तर है, परमशुद्ध निश्चयनयमे एक कोई द्रव्यमे स्वभावका ही दर्शन किया जा रहा है। जीवमे चैतन्यस्वभाव जीव चैतन्यस्वरूप। पर्यायको इसने ग्रहण नही किया और विधि भी यही है, स्वभाव निरखा, उस एकमे निरखा तो उस एकमे और उसको सहज स्वभावमे निरख रहे हैं तो एक और अभेद बनता कि शुद्धनयका प्रकाश होता और तत्पूर्वक स्वानुभव बन सकता।

११६६—नयोका प्रयोजन शुद्धनयको ओर ले जाना—

इस शुद्धनयनसे पहले ऐसा कोई न कोई विकल्प आया करता है। शुद्धनय एकदम नही हो गया

ऐसे विकल्प ये आया करते तो इन नयोके वाद शुद्धनयका प्रकाश बनता। शुद्धनयके प्रकाशपूर्वक स्वानुभव बनता, उसी कारण जैन ग्रन्थोमे आगममे जितना उपदेश हुआ करता है वह सब उपदेश एक स्वभावाश्रय करानेके प्रयोजनसे हुआ करता है, तो हमको आगमकी प्रत्येक वाणीको सुनकर हमे अपनी ऐसी निजकला खेलना चाहिए कि उससे हम स्वभावाश्रयके अनुरूप उसमे शिक्षा पा सके। क्या हर्ज है, अगर कही पापके स्वरूपका वर्णन भी चल रहा तो जो मोक्षमार्गके पथमे कुशल है वह ऐसे अशुभके स्वरूपका वर्णन भी सुन रहा, उसका भी इसी प्रकारसे अर्थ लगेगा कि जिससे उपेक्षा उससे हो और अपने आपके प्रयोजन वाले तत्त्वपर दृष्टि जाय और वह अपने मार्गमे आगे बढे।

११६७—ज्ञानीकी चर्याके उदाहरणसे अपनेमे दोषपरीक्षा करके दोषसे हटनेका कर्त्तव्य—

प्रयोजन कहनेका यह है कि अपने जीवनका लक्ष्य यह रखियेगा कि लोकमे कोई सा भी ऐसा पदार्थ नही है कि जिसका आश्रय करनेसे हमे शान्ति उपस्थित हो। इस ज्ञानी जीवने यह ही तथ्य तो पहिचाना जिस कारणसे उसके रागका वियोग हुआ, विभाव आ रहे, लग रहे फिर भी उन विभावोमे राग नही। ऐसा एक सम्यग्ज्ञान प्रकाश हुआ। उस विभावसे लगाव नही जीवविभावसे, जीवपरभावसे, इन परभावोका एकदम ऐसा तोड कर दिया, ऐसा सधिविच्छेद कर दिया कि अब कभी भी वहाँ विभ्रम नही हो पा रहा। उपभोगका राग नही है इसी कारण ज्ञानी जीवके पूर्ववद्ध कर्मके विपाकका उपभोग तो हुआ मगर वह उपभोग रागवियोग होनेसे परिग्रह भावको प्राप्त नही हुआ वहाँ। बात कहनेमे आसान हुई, ज्ञानीके उसका रागभाव नही है और उपभोग हो रहा है तो भला उपभोग होते हुए भी और राग नही हो रहा, ऐसी स्थिति क्या कही गप्पोसे मिल जायगी? भीतरमे स्वभाव भावनाका दृढतम अभ्यास करना होगा, तब यह स्थिति आती है कि रागका वियोग है, उपभोग होने पर भी। जो कुछ थोडेसे ही साधु बने, और ज्ञानी पुरुषकी तुलना करके एकदम यह समझ बठे कि यह तो चारित्रमोहका उदय है, होने दो। अरे होने तो दो पर आप अपनी निगाहमे यह परख तो करे कि इस उपभोगके साथ तेरे भीतर कामचार भी है या नही। आसक्ति और रागमे अन्तर है। रागमे और ज्ञानमे अन्तर है। एक हिरण घास खा रहा हो, जगलमे उसे जरा सी आहट मिलती तो झट घास छोडकर छलाग मारकर बहुत दूर भग जाता है और एक बिल्ली किसी जीवको पकडे हो तो उसपर कोई डडे भी बरपाये तो भी नही छोडती। ऐसा आसक्ति और रागमे अन्तर है। अपने आपमे भी परीक्षा करके निरख लो। आसक्ति और रागमे कितना अन्तर पाते हैं। भोजन बनाते, खाना पडता है, खाते हैं तो बताओ वह काम राग बिना हुआ क्या? कोई न कोई प्रकारका वहाँ राग तो है। इच्छा हुई, हाथ चलाया मगर आसक्ति नही कि यह ही सर्वस्व है। आज बहुत आनद आया, इसीमे मेरी पुष्टि होगी और उसका स्वाद लेवे आसक्तिसे और उस ही मे रम जाय यह कहलायी आसक्ति। अच्छा तो राग और ज्ञान क्या, राग हो रहा, उस रागमे कुछ विचलितपना होता, स्वभावकी सुधसे न हटे मानो, तो स्वभावके उपयोगसे तो हटा ही हटा जहाँ राग बन रहा है। और वह राग, वह पर्याय परिणमन केवल ज्ञानमे रहे, यह हो रहा है याने रागके साथ मिलकर याने रागके कधेपर हाथ डालकर चलना न बने, रागका केवल ज्ञान ही करे यह है राग, जैसे अन्य पदार्थको जाना ऐसे ही एक रागपरिणमन जाना। यह बहुत ऊँची पदवीमे होने वाली बात है, देखो यहाँ भी अतर पाया जाता।

११६८—ज्ञानीका उपभोग परिग्रहरूप न होनेका कारण—

जिस अन्तरात्माने अपने आपमे इतना बडा त्याग किया है, ऐसा महान पौरुष किया है कि

जिसने इन रागादिक विकारोको अपने स्वभावसे अत्यन्त निराला परख लिया है और समझ बनी है कि इन विकारोमे फसनेसे, इन विभावोमे लगनेसे आत्माका कुछ भला नही होनेका, यह जहाँ दृढ़तम निश्चय है ऐसे पुरुषकी यह कथा है कि पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग । तद् भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् । पहले अज्ञानमे बांधे हुए जो कर्म हैं उनकी सत्ता अब भी है । ज्ञान जग जानेपर बहुतसी निर्जरा तो हो जावे, सबकी निर्जरा नहीं होवे, अथवा ज्ञान जग जानेपर भी जितना जितना रागांश है उसके अनुसार बन्ध चल ही रहा था । तो ऐसे पूर्वबद्धकर्मके विपाकसे यह उपभोग प्राप्त हुआ । बाहरी पदार्थ मिले, यह भी कर्मविपाकसे । और, बाहरी पदार्थोंमे उपयोग देकर वहाँ कुछ लगाव बना, राग जगा, उपभोग बना मायने उसके अनुरूप ज्ञानविकल्प बना, यह भी भीतर बना तो ये दोनो ही विकल्प व बाह्य पदार्थोंका सगम यह भी कर्मविपाकसे हुआ और भीतर जो ज्ञानविकल्प जगा वह भी कर्मविपाकसे जगा । एक है सातावेदनीयके उदयका फल, एक है चरित्रमोहके उदयका फल । तो अनेकोका जब एक ऐसा योग जुड गया जिसे कहते है कि भानमतीने कुनमा जोडा, कहीका ईट कहीका रोडा, ये जो बाह्यपदार्थ है, इनका आश्रय बन गया, भीतरमे ज्ञानविकल्प बना और इस तरहके उन सब समन्वयोमे एक विधिपूर्वक राग बना । परन्तु उसमे राग न होनेसे ज्ञानीका उपभोग परिग्रह नही बनता ।

११६६—रागवियोग होनेसे ज्ञानीके उपभोगकी परिग्रहभावत्वसे शून्यता—

जो कुछ भी उपभोग हुआ चूंकि वह हुआ ज्ञानीके सो, वह सबकी पोल जान रहा, तो उसको राग नही उत्पन्न होता, कैसे ? वह जानता है कि यह राग स्वभावमे तो है नही, परमे है नहीं, परसे आता नही, कर्मसे आता नही । यह राग, जीवराग विषयोसे आता नही. अन्य किसीसे आता नही । हुआ तो यह जीवका परिणामरूप, किंतु जीवके स्वभावसे आता नही । तो यह तो लावारिस है । जैसे—देखा होगा कि जब कोई बालक खेलता हुआ बीच सडकमे पहुँच जाता है तो वहाँ रिक्सा वाले, तॉगा वाले कहते है—अरे चल, तू लावारिस है क्या, अपने घरमे फालतू है क्या ? तो इसी तरहसे ये राग, ये विकार लावारिस और फालतू है । क्योकि इनको इस जीवने सहारा नही दिया । जीव इनको पकड कर नही रहता । तो ये रागादिक विकार इस आत्माकी दृष्टिसे लावारिस हैं । और, इनको कर्मोंने भी आश्रय नही दिया, कर्म अपने प्रदेशोमे ही तो कुछ करेंगे, अपनेसे बाहर कुछ न करेंगे । कर्मोंने भी इन्हे आश्रय नही दिया, सो ये रागादिक विकार लावारिस रहे, इन लावारिसोका पालन पोषण कब तक है ? जब तक इनमे यह जीव अपनायत किये हैं । इनको मानता कि मै हूँ इनका वारिस, रो मत, तुम कही जाने न पावोगे, तुम मिट भी जावोगे तो हम तुम्हे फिर बना लेंगे । तुम दुःखी मत होओ, हटो नही ।' यहाँसे ये अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव इन रागादिक विकारोके वारिस बने । तो जब तक यह जीव इन रागादिक विकारोका वारिस बनता है तब तक इनकी परम्परा चलती है, और तब तक इस जीवका ससारमे परिभ्रमण चलता । किन्तु जिस क्षण यह समझमें आ जायगा कि यहाँ किसका कौन ? ये रागादिकविकार सब लावारिस हैं, ये सब मायारूप है, हुये है, इस ढगमे सही बात जान ले वहाँ फिर यह जीव इनको आश्रय नही देता । तो जब यह आश्रय ही नही देता अन्तरात्मा तो ये उपभोग क्यो हो रहे, कैसे हो रहे ?जैसे किसी कैदीको जेलके अन्दर जबरदस्ती चक्की पिसवाये कोई सिपाही तो वह पीसनेको पीसता है मगर उसको उसमे राग नही होता ऐसे ही आचार्योंने इन शब्दोमे लिखा कि इसपर विपाक कोतवालके डंडे पड रहे, सो हो रहा उपभोग, मगर उसके इच्छा कहाँ है ?उसका सम्बन्ध

नही, क्योकि ज्ञानीके रागका वियोग है, ऐसा वियोग होनेके कारण ज्ञानीके उपभोग आये तो भी वह परिग्रहभावको प्राप्त नही होता । ऐसी बात सुनकर अपना सिर उठाकर नही चलना है कही कि मेरे तो कुछ परिग्रह होगा नही, किन्तु भीतरमे एक ठोस निगरानी करता है कि मेरे कामचार है, इच्छा है कि नही, मेरेमे विषयोके भाव वासना जगती कि नही । यदि वासना जगती है तो उसके नाश करनेका उद्यम करे । आगे आगे बढनेके लिए आचार्योंका उपदेश होता है, नीचे गिरनेके लिए आचार्योंका उपदेश कभी भी नही होता ।

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥ १४७ ॥

११७०—ज्ञानीके राग न होनेपर भी उपभोगका होना व उपभोग होनेपर भी परिग्रहभाव न रहना—

प्रकरण यह चल रहा है कि ज्ञानी जनोको अपने अन्दरमे सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन अनुभव होता है और उसके अन्दरमे विभोरता बन गयी है, बस अब उसे सिवाय एक इस सहज परमात्मतत्त्वके अन्यत्र कही रुचि नही है, ऐसा होनेपर भी जैसा कि आप लोग भी अनुभव कर रहे हैं कि चाहते तो है कि मैं अभी अपने इस स्वरूपमे गुप्त हो जाऊँ, क्यो ये कष्ट लगे रहे, क्यो ये विपत्तियाँ सही जाँय ? इन असार बातोमे क्यो बरबाद होऊँ ? अभी ही इस स्वरूपमे गुप्त हो जाऊँ ऐसी आप भावना रखते हैं और गुप्त हो कुछ नही पाते । हो जावो गुप्त, कोई रोकने वाला है क्या ? यह तो आपका भीतरी काम है, आप ही कर डालेंगे, फिर भी नही कर पा रहे हैं तो अपनी ओरसे तो है अपनी कमजोरी और निमित्त दृष्टिसे है ऐसा चारित्र मोहका तीव्र उदय, प्रतिफलन, सो यह अशुद्ध उपादान अपने उस तत्त्वका उपयोग छोड छोडकर उन बाह्य बातोमे कुछ लगता है, ऐसी स्थिति है, ऐसा होनेपर भी याने ज्ञानी जीवके पहले बँधे हुए कर्मविपाकसे उपभोग आनेपर भी और वह इन्द्रिय द्वारा उपभोगको भोग रहा है तिस पर भी प्रतीति उसे निज सहज स्व की है, अतएव परिग्रह भावको प्राप्त नही हो रहा वह उपभोग, याने वहाँ अनन्तानुबन्धीकी बात च न ही नही रही है, और उपभोग हो रहा है ।

११७१—ज्ञानीके अतीत वर्तमान अनागत उपभोगका रागवियोग होनेसे अपरिग्रहत्व—

ज्ञानीका उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नही होता ऐसा हुआ क्यो ? तो बात बाहर देखो, भीतर देखो । बाहरकी बात तो यह है कि देखिये उपभोग तीन तरहके हुआ करते हैं, पहले भोगा था वह, अब भोग रहे हैं वह, आगे भोगे जायेंगे वे । तीन बातें है ना ? अज्ञानीको तो तीनोका ही परिग्रह लगा है, जो भोगा गया था और अब नही है, पहले धनी था अब गरीब है तिसपर भी चार आदमियोमे शान तो रखता ही है कि मेरे ऐसा था, मेरे द्वारार सैकडो जूते उतरते थे याने लोगोकी बडी भीड रहा करती थी, ऐसी शान मारने वाले लोग तो बहुत मिलेंगे जिन्होने बीते हुए भोगोसे चिपकाव लगा रखा है । अच्छा आगामी कालमे जो मिलेंगे उपभोग उनके बारेमे आशा, प्रतीक्षा, शेख चिल्लीपनेकी बातें करते, ये सब परिग्रह जम गए वहा, वह सार आवरण बना हुआ है । कहा से वे प्रभुके दर्शन करेंगे ' तो आगामी कालमे मिलेंगे उपभोग, वर्तमानको कुछ बात ही नही है, मगर यह तो ऐसा बिक गया आगाम उपभोगके लिए कि यह अपने अन्त बसे हुए परम शरण सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन नही क सकता । तो जब भूत और भविष्यके उपभोगमे यह बरबादी हो रही है तो वर्तमानमे जो उपभोग हो रहा है उसकी बरबादीकी तो कथा ही क्या कही जाय ? एकदम आसक्त होकर भोगता है, यह है अज्ञानीकी रिपोर्ट । और ज्ञानीका क्या हाल है कि वह सोचता कि जो बीत गए उपभोग वे तो बीत

ही गए, अब उनका क्या ख्याल करना। जिसको वर्तमान उपभोगसे भी अरुचि है, उनमे नही रम रहा वह पुरुष भूतकालमे भोगी हुई बातका कोई ख्याल बनायेगा क्या ? उनकी कोई शान मारेगा क्या ? भूतकालमे जो उपभोग किया वह तो गुजर ही गया। अब आगामी कालमे जो उपभोग होगे उनकी वह चाह कहाँ रखता ? जब वर्तमानके उपभोगोसे ही वह विरक्त है तो आगामी भोगोकी क्या चाह करेगा ? ज्ञानीको उपभोगोका परिग्रहपना नही प्राप्त हो रहा ।

११७२—ज्ञानीकी बाह्य क्रियाओसे अपनी तुलना करनेका अज्ञानीका व्यामोह—

ज्ञानीका उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नही होता ऐसी बात सुनकर अज्ञानी यदि अपने मनमे ऐंठ लगाये कि मैं क्या कम ज्ञानी हूँ,मेरा भी उपभोग परिग्रह न बनेगा सो बात ठीक नही। ज्ञानीकी लीला ज्ञानीमे है, अज्ञानी उस लीलाको न पायगा। एक"गधेकी कहानी"नामकी किताब हमने बचपनमे पढी थी उसमे एक छोटी सी कथा लिखी थी कि एक धोबीके घर एक गधा था, जो कि रूखा सूखा खाकर बोझा ढोनेका काम किया करता था। उसी धोबीके घर एक कुतिया भी पली हुई थी जिसके छोटे छोटे पिल्ले थे। एक दिन धोबी उन पिल्लोको खिला रहा था। पिल्ले अपने पैरोके पञ्जे मारते थे, मुखसे काटते भी थे फिर भी वह धोबी उन बच्चोको कभी गोदमे लेता, कभी अपने कधेपर बिठाता, कभी छातीसे लगाता, बडा प्यार दिखाता था। यह दृश्य देखकर गधा बडा हैरान हो गया, सोचने लगा—अरे देखो मैं इस धोबीके कितना काम आता इसका सारा बोझा ढोता, हमारी वजहसे इसके परिवारका पालन पोषण होता फिर भी यह हमसे प्यार नही करता, देखो इन पिल्लोसे कितना प्यार करता, जबकि ये पिल्ले इसके कुछ काम नही आते। अब उसकी समझमे आया कि शायद ये पिल्ले इसे पञ्जोसे मारते, मुखसे काटते इसीलिए प्यार पाते है। सो खुदने भी वही उपाय किया। धोबीके पास आकर पैरोसे मारना, मुखसे काटना शुरू कर दिया। वहाँ प्यार मिलना तो दूर रहा, ऊपरसे डडे बरसे। अब गधा सोचने लगा—अरे हमसे क्या गल्ती हुई ? काम तो वही किया जो पिल्लोने किया, फिर क्यो डडे बरषे ? तो भाई सबकी जुदी जुदी बात है। ज्ञानोकी बाह्य क्रियाये देखकर अज्ञानी नकल करता है तो भी वह अभी सही रास्तेपर नही है। ज्ञानीको अपने सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन हुआ सो बाहरमे उसका मन नही लगता, जबकि अज्ञानी पुरुष उन बाह्य क्रियाओको करता हुआ उनमे आशक्त होता है। सो ज्ञानीकी बाह्य क्रियाये उसके लिए परिगहरूप नही बनती जबकि अज्ञानीकी बाह्य क्रियाये परिग्रहरूप बन जाती है। देखिये अध्यात्मशास्त्रोमे सब कुछ वर्णन है, पर करणानुयोग का प्रकरण जब सुनते है तो वहाँ उस प्रकरणका ही मूड बनाकर सुनना होता है। नही तो बीच बीचमे शका होती कि राग तो १० वें गुण स्थान तक है, वह भी बात सही है और छठे गुण स्थान तक तो प्रवृत्ति वाला भी राग है, जहा जितना होता। इस प्रसगमे यह अटक न रखना। यहाँ बुद्धि पूर्वक बात चल रही है कि ज्ञानीकी रुचि कहाँ लगी है और उस प्रयोगसे क्या क्या परिणाम बन रहा है। हाँ तो वर्तमान उपभोगको कैसा अलग सा होकर भोग रहा ज्ञानी। उसके लिए और दृष्टान्त बहुत है कि वह प्रवृत्तिमे है और प्रवृत्तिमे लिप्त नही है, मन भलेकी ओर है और प्रवृत्ति करनी पडती है कुछ। ऐसा ज्ञानीका जो कदाचित् उपभोग है वह परिग्रहपनेको प्राप्त नही होता ।

११७३—ज्ञानोके भविष्य उपयोगमे आकाक्षा न होनेका कारण—

अब यहाँ थोडा कुछ कुछ यह तो समझमे झट आ जाता कि जो अतीत भोग है, जो गुजर गए, बीत गए उनका क्या ख्याल करना ? लोग समझाते है कि क्यो मूर्ख बनते ? क्यो गई बीती बातोका

उखाड करते ! यह तो झट समझमे आ जायगा। वर्तमानकी बात भी कुछ कुछ बतायी जा सकती, पर यह बडा मुश्किल है कि आगामी उपभोगकी चाह न करे। तो कहते हैं ना कि ऐसा पुरुष दूकान भी जायगा, कमायी भी करेगा, गृहस्थोसे सम्बन्धित सब काम भी करेगा फिर भी कह रहे कि यह ज्ञानी इच्छा ही नही करता तो यह कैसी बात है ? तो साधारणतया तो जो बात अतीत और वर्तमानके उपभोगमे है वही बात भविष्यके उपभोगके प्रति है साथ ही एक बात और भी है कि यह मोही जीव उपभोग चाहता। मुझे ऐसे ऐसे उपभोग मिलें। अच्छा अब एक रहस्यकी बात और सुनो— इन आगामी चीजोकी चाहमे कितना समय गुजर गया। जैसे मानो जो १० वर्ष बाद मिलेगा तो १० वर्ष तो चाहकी दाहमे चले गए—यह मिले, यह मिले, और जब वह वस्तु मिली तो उस समय उसकी चाह न रही। वह तो मिली हुई है, वह तो भोगमे है, उसकी अब चाह नही रही तो जो १० वर्ष तक चाह की थी और उसका जो कष्ट सहा वह तो फोकट ही सहा। यदि इच्छाके समय ही कदाचित् वह चीज मिली हुई होती तो उसका वह आनन्द भी मानता, अब उसकी चाह नही रही तब वह चीज मिली तो उसका मिलना भी किस कामका ?

११७४—आकाक्षाकी निष्फलताका एक दृष्टान्त—

एक कथानक है कि एक बार कोई राजपुत्र किसी नटकी लडकीपर आशक्त हो गया, उसके साथ अपना विवाह करना विचारा। नटके यहाँ खबर भेजी तो नटको वह बात सुनकर बडा बुरा लगा। नट बोला—अरे वह अनट हमारी लडकी कैसे ले जा सकता ? तो लोगोने समझाया कि भाई तुम्हारी लडकी उस राजपुत्रके घर बहुत सुखसे रहेगी, उसके साथ विवाह कर देना ठीक है। तो नट बोला—अच्छा यह बात हमे स्वीकार है, पर उस राजपुत्रको एक काम करना होगा। पहले हमारी जैसी सारी नटकलाये सीखे—जैसे कुलाटे नानाविध लगाना, रस्सीपर चलना, बाँसपर ऊपर गोल गोल घूमना आदि तब हम अपनी लडकीका विवाह उसके साथ कर देगे।..ठीक है। आखिर उस राजपुत्रको वे सब कलाये सीखनेमे १०—१२ वर्ष लग गए। जब सब कलाये सीख ली तो वह नट बोला— अब इसकी परीक्षा होगी। अगर इन सारी कलावोमे उत्तीर्ण हो गए तो अपनी लडकीका विवाह राजपुत्रके साथ कर देंगे। होने लगी परीक्षा, दर्शकोकी अपार भीड थी। वह राजपुत्र अपनी सारी कलाये दिखा रहा था। उसी प्रसगमे उसको ऐसी ग्लानि जगी—अरे कहाँ तो मैं राजपुत्र और कहाँ यह नटका काम, धिक्कार है मुझे जो नटकी लडकीसे विवाह करनेके लिए बारह वर्ष व्यर्थ गमाये। देखिये उस लडकीसे विवाह करने की चाह अब न रही। बारह वर्ष तक बराबर चाह बनी रही। अब तो वे सभी नट लोग उस राजपुत्रसे अपनी लडकीका विवाह करनेके लिए हाथ जोडते फिर रहे, पर वह राजपुत्र अब विवाह करना स्वीकार न करे। देखिये जब चाह थी तब चीज न मिली और जब चीज हाजिर है तब चाह न रही। ससारकी यही रीति है। हाथमे रखी हुई वस्तुके बारेमे कौन चाह करेगा ? कि मुझे मिल जाय ? अरे मिली हुई तो है ही, और कोई चाह है तो तब ही तो है जब कि वह चीज पास नही है।

११७५—वेद्यवेदकविभावकी अस्थिरताके तथ्यका परिचय होनेसे आगामी उपभोगमे आकाक्षाका अभाव—

अब इससे भी और सूक्ष्म बातपर आइये—दो भाव ये कहलाते हैं वेद्यभाव और वेदकभाव। वेद्यभाव मायने इच्छा वाला भाव—यह चीज चाहिए। जो वेदनके योग्य हो, जो चाह हो रही है, इच्छा हो रही है उसे कहते हैं वेद्यभाव। और वेदकभाव—वेदयते इति वेदक, जो वेदन करे, भोगे ऐसा

भाव, मायने भोगनेका भाव और चाहनेका भाव। चाह और भोग ये दो भाव है, और यह देखो कि ये पूर्वोत्तर समयमे होते, एक समयमें हो ही नही सकते जीवके वेद्य और वेदकभाव, चाह और भोगके भाव कथमपि एक समयमे नही होते। जब चाह है तो भोग कहा और जब भोग है तो चाह कहाँ तो ज्ञानीने यह समझा कि चाह करना बिल्कुल व्यर्थ है। अरे मोटे रूपमे राजपुत्रके ही दृष्टान्तमे देख लो, आखिर उस नटकी लडकीकी चाहमे १०-१२ वर्ष खोये, पर अन्तमे फल कुछ न निकला। फल तो बहुत अच्छा निकला, वैराग्य ऐसा जगा कि जो घरमे न जग पाता। एक हित घटना घट गई, मगर जो चाह की थी वह काम तो न हुआ। सूक्ष्म रूपमे देखो जिस समयमे वेद्यभाव होता, उसके बाद फिर उसका वेदकभाव होता। तो अब वह वेदक भाव जो हुआ, एक मिनटमे वेद्य, दूसरेमे वेदक, तो वह वेदक उस वेद्यको कैसे भोग पायगा? वह तो मिट गया। पहले मिनटका वेद्यभाव समाप्त हुआ तो फिर कहा दूसरे मिनटमे वही वेद्य रहा। दूसरी इच्छा जब हो गई तो पहलेके भोगनेका भाव खतम। भोगना और चाहना, जब भोगना हो रहा तब उसका चाहना नही हो रहा और जब चाहना हो रहा तो उसका भोगना नही हो रहा, जो चाह है उसका उसी समय भोगना नही बन सकता और जब भोगना हो रहा तब उसी समय उसकी चाह नही बन सकती। तो जब भोगना नही होता तो फिर उस वस्तुके चाहनेसे मतलब क्या? ऐसा यह ज्ञानी परख रहा है।

११७६—ज्ञानीके संसार शरीर भोगसे वैराग्य—

ज्ञानी आगामी भोगोकी भी कोई चाह नही रखता, ऐसी स्थिति है तो वह ससार, शरीर, भोग इन सबसे अत्यन्त वैराग्यको प्राप्त होता है। ससार, शरीर और भोग ये तीन नाम ऐसे धरे जैसे मन, वचन और काय। कही काय वचन और मन भी लिखा। अच्छा बोलनेकी पद्धतिमे है मन, वचन, काय। काय बहुत बाहरकी बात है, वचन उससे कुछ अन्दरकी बात है और मन यह तो उससे भी अन्दरकी बात है। ससार, शरीर भोगमे भोग बाहरकी बात है। पञ्चेन्द्रियके जो ये दृश्य विषयभोगके साधन हैं ये बाहरी चीज है, इनका भोग उससे अन्दरके और निकटकी बात है। कुछ और निकट आये तो यह शरीरका भोगना, इसमे अध्यवसाय बनना हुआ, और उससे निकट है ससार मायने रागद्वेष भाव। इस रागद्वेप भावमे लगना। ज्ञानी जीव इन तीनोसे विरक्त है। भोगनेकी बात तो अभी बतायी गई कि क्या लाभ है किसी भोगोपभोगकी वाञ्छा करनेमे।

११७७—भोगोपभोगसे विरक्त होकर शेष जीवनको अविकार अनन्तस्तत्त्वका उपयोग करके सफल बनानेका अनुरोध—

भोगोपभोगमे होता क्या है? जैसे यहाँ किसीको अज्ञान जगा और उससे पहले बहुत बाते हो गई—बाबा गुजरा, पिता गुजरा, माँ गुजरी, स्त्री गुजरी, पुत्र गुजरा, कुछ भी बात हुई तो यह ज्ञानी सोचता कि वह सारा जीवन तो बिल्कुल व्यर्थ गया। अगर ऐसा ज्ञान बचपनसे ही होता तो मेरा कल्याण होता। वह सब समय व्यर्थ गया। जिसका जो समय गुजर गया वह अपेक्षाकृत देखो तो व्यर्थ गया तो अब जो समय शेष रहा उसका सदुपयोग करले। उसका सदुपयोग यही है कि आत्मध्यान, स्वभावरुचि, स्वभावाश्रय, सर्वजीवोमे उदारता, समता हो किसी जीवको विरोधी न समझना। किसी जीवको अपना शत्रु न मानना। किसी जीवमे अनिष्टपनाका भाव न आये, ऐसा गैरपनेका भाव एक विघ्नरूप भाव है जो इसको परमात्मा अन्तस्तत्त्वका अनुभव नही करने देता। ऐसा अपने हृदयको स्वच्छ बनावें तो सब जीव एक समान नजर आने लगेंगे। साधर्मी साधर्मी एकसे नज़रमे आये यह तो

बहुत ही आवश्यकीय बात है, मगर एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक जो जीव है, पशु, पक्षी, कीट पतिंगा वगैरह जो जीव हैं इनके भी स्वरूपको निरखकर समताका भाव जगे। जो मै हूँ सो ये हैं। केवल स्वरूपको देखकर यह निर्णय होता। उसको देखकर सब जीवोमे ऐसा समताका भाव जगे, यह तैयारी बने, भीतरसे यह स्वच्छता बने, हम अपना कल्याण कर जायेंगे।

११७८—अहंकार छोड़कर विनयप्रयोगसे अपने अन्तस्तत्त्वमे आनेका सन्देश—

भैया कितनी सी जिन्दगी रही ? इस थोडीसी जिन्दगीके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ, कपट, छल, माया आदि बातोंमे लगना यह तो बडी मूढता जैसी बात है सबका आदर करे। सबको अपना अपना समझे बल्कि अपनेसे भी अधिक। पदका क्या घमड ? कोई किसी बातमे कुशल होता कोई किसी बातमे। किसीको सर्वविषयोमे पाडित्य मिल जाय, ऐसा होना तो कठिन है, हाँ केवलज्ञानमे सर्वविद्याओंका पूर्ण पाडित्य पडा हुआ है। उससे पहले क्या ? यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं कि कोई एक नवयुवक था वह बी-काम पास हुआ तो उसकी खुशीमे उसने सोचा कि अब समुद्रमे शैर करना चाहिए सो पहुंचा वह एक नाविकके पास, और बोला—हमे समुद्रमे शैर करना है, क्या लोगे ? दो रुपये। ठीक है चलो। वह नवयुवक नावमे बढ गया, नाविकका लडका नाव खेने लगा। नाव कुछ थोडी चली ही थी कि वह नवयुवक उस नाविकसे कुछ बाते करने लगा घमड था ही अपनी विद्याका, सो बोला—अरे नाविक तूने कुछ ए बी सी डी सीखा कि नही ?' नहीं मालिक।' तो क्या हिन्दी भी नही पढा ?' नही मालिक। और तेरे बापने ? बापने भी नही पढा। 'बस ऐसे ही नालायक, मूर्ख, लोगोने ही तो इस भारत देशको बरबाद कर दिया। खैर सुन लिया सब गाली, क्योकि बेचारा पढा लिखा तो था नहीं। कुछ ही देरमे नाव कोई एक मीलकी दूरीपर पहुच गई अब वहाँ एक ऐसी भँवर उठी कि नाव डगमगाने लगी। वहाँ वह बी काम बहुत घबडाया। नाविकसे बोला—अरे अब क्या होगा प्राण बचेंगे भी या नही ? तो वहाँ नाविक बोला—बाबूजी नाव तो डूबनेसे बच नही सकती, हमे आप छुट्टी दे, हम तो तैरकर बाहर निकल ही जायेंगे।" अरे भाई ऐसा न करो, जैसे भी बने, प्राण बचाओ। तो क्या आप तैरना नही जानते ? नही जानते अरे नही जानते क्या बिल्कुल नहीं जानते ? हाँ बिल्कुल नही जानते। तो जितनी गालियाँ उस नवयुवकने दी थी उतनी ही गालियाँ देकर कहा—ऐसे ही नालायक मूर्ख लोगोने तो इस भारत देशको बरबाद कर दिया। तो भला बतलाओ सर्व कलाओमे निपुणता यहाँ किसे मिल पाती ? कोई किसी कलामे निपुण होता कोई किसी कलामे। यहा किसका अहकार। और, फिर अपना-अपना ज्ञान सबको बहुत अच्छा लगता। मैंने खूब समझ लिया, मैं बहुत जानकार हू, ये लोग क्या समझेंगे ? किसीको थोडा भी ज्ञान हो तो उसे ऐसा लगता है कि हममे बहुत चतुराई है, लेकिन ये सब बातें थोथी हैं, बेकार हैं।

११७९—आत्मस्वभावविज्ञान बिना सर्वश्रमोकी अकिंचित्करता—

भैया किसी को ज्ञान कम हो तो क्या, अधिक हो तो क्या ? जिसने अपने सहज स्वभावका परिचय नही किया उसके लिए बडे-बडे ज्ञान भी क्या करेंगे ? और आत्मदृष्टि, आत्माका आश्रय बैलको, घोडेको, बदर को, नेवलेको या सप्तम नरकके नारकीको मिल जाय तो क्या यह हो नही सकता ? हो सकता है। सम्यग्दर्शन इनके भी जागृत हो सकता है। बताओ इन पशु पक्षियोको कौन सिखाने गया जो हो जाते ये सम्यग्दृष्टि। देखो मनुष्य सम्यग्दृष्टि श्रावकोसे अधिक संख्या इन तिर्यञ्च देशविरत व सम्यग्दृष्टियोकी है। यहाँ श्रावक तो बहुत थोडे है, तो किसे क्या कहेगे हम ? कौन सी बातपर गर्व

किया है, सो भैया, सब गर्व छोडकर एक नम्रता अपनेमे लाये, विनय भाव अपनेमे लाये। अपने ही स्वभाव, अपने ही भगवान आत्मतत्त्वकी ओर ही यह उपयोग विलीन कर ले।

११८०—स्वरूपसम जीवोंको निहारकर सर्वसाम्यभाव करनेका कर्तव्य—

भैया, आदर दो सब जीवोंको। पर्यायके व्यवहारसे पर्यायका व्यवहार चल रहा, तो उनके ढग का तो बनाओ व्यवहार। सबको आदर करे, सबका विनय करे। ज्ञानस्वरूप ही तो है दूसरा। उसी को ही निरख करके अपनेमे गर्व न लाये और अध्यात्मसाधनामे, व्यवहारमे अपनेको सुरक्षित बनाये और भीतरमे अध्यात्मसाधनासे अपने मोक्षमार्गमे बढ ले। यह ही मार्ग जो अपना रहा उस ज्ञानी की बात चल रही कि वह भोगोमे विरक्त है।

११८१—ज्ञानीकी शरीर और ससारसे निर्विण्णता—

वह ज्ञानी शरीरसे विरक्त है। बहुत मोटी बात है कि यह शरीर किसी दिन जलेगा, मिटेगा, सदा तो नही रहनेका। इतनी बात देखकर भी विरक्त हो सकते। और, शरीर क्या है? मल भीतर भरा है। अरे बहुत भीतर नही, बाहर भी मल है। जरा सा एक सूत भी यह नाकरानी नासिका द्वारसे बाहर निकल पडे तो इस शरीरके प्रति ग्लानि हो जाती है। ऐसा यह अपवित्र देह है। यह शरीर आहार वर्गणाओंके परमाणुओंका पुञ्ज है। और यह मैं आत्मा चेतन्य प्रकाशमय हूँ, ऐसे अन्तरका ज्ञान करे। ऐसे ही ससार रागद्वेष मोहभाव ये नैमित्तिक हैं, परभाव है, ये कर्मरस हे विकार, उनका ही तो फोटो है, यही तो लीला है। जैसे दर्पणके सामने फोटो आयी तो झट ज्ञान होता है कि यह वस्तु दर्पण की कुछ नही है, इसी प्रकार जितने भी विभाव हैं वे सब कर्मरस हैं, मैं उनमे पड गया सो मैं विकल्प-रूप बन गया। ये मेरे नही, ये तो मेरी बरबादीके लिए है। ऐसा ससारी जीवोंके प्रति उस ज्ञानीका चिन्तन है। तो यह ज्ञानी सभी बातोमे अत्यन्त विरक्तिको प्राप्त होता है। जिसके न भोगोमे रुचि, न अन्य मे रुचि, न रागद्वेष मोहभावमे रुचि, ऐसे व्यक्तिको देखकर तो लोग कहेगे कि इसको कोई बडी बीमारी है, इसको तो भोगोमे रुचि ही नही होती। इसको कोई बडी कठिन बीमारी लग गई, अज्ञानी जन तो यो कहेगे। ज्ञानीकी लीलाको दूसरा कोई क्या समझे? अज्ञानी क्या समझे कि ज्ञानीको कौनसा बल मिला, कौनसा आश्रय मिला, जिससे सारे कर्मविपाक, कर्मरस, उपभोग आदिक बातें किसी ज्ञानीमे आती तो भी वे पदार्थ परिग्रहको प्राप्त नही होते। वह सब बल है अपने सहजपरमात्मतत्त्व चैतन्यस्वभावके दर्शनका। उसमे अनुपम आनन्द मिला। अब अनुपम स्वाधीन निराकुल आत्मीय आनद को तजकर ज्ञानी पराधीन दु खमय उपभोगोको कैसे चाहे। अन्त राग न होनेसे ज्ञानी उपभोग मे लगता नही, फिरभी कर्मविपाकवश उपभोग आ पडे तो वह उपभोग ज्ञानीके परिग्रह भावको प्राप्त होता नही।

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रेऽस्वीकृतैव बहिर्लुठतीह ॥ १४८ ॥

११८२—शरीरविषयक अध्यवसानसे हुए उपभोगसे संसारबन्धनकी अक्षमता—

प्रकरण यह चल रहा है कि पूर्वबद्ध कर्मविपाकवश उपभोग प्राप्त हो तो भी वह उपभोग ज्ञानीके परिग्रहभावको प्राप्त नही होता। वह उपभोग परिग्रह नही बन पाता। उपभोग क्या चीज है? उपभोग उन बाहरी प्रसगोमे विषयोके साधनोमे जो कुछ कुछ भी थोडा ज्ञानविकल्प चलता है, प्रवृत्ति चलती है, जिसे कहते भोगना, वह क्या बात है? उस जीवका ही एक परिणाम है, जिसे कहेगे

अध्यवसान। अध्यवसान हल्के तीव्र अनेक प्रकारके होते हैं। तो जो अध्यवसान रागद्वेपमोहरूप हैं उनसे अपने उपयोगका चिपकाव है, यो समझिये कि वहाँ रागद्वेप मोह छाया है उसमे यह उपयोग मिलकर एक तन्मय हो जाता है। जैसे बताया था ना पहिले कि कोहुवजुत्तो कोहो इत्यादि, क्रोधमे उपयुक्त जीवका नाम क्रोध, मानमे उपयुक्त जीवका नाम मान इत्यादि। तो जो कर्मरम है, कर्मविपाक प्रतिफलन है उस रूप अपनेको मानना उसे कहते हैं उसमे उपयोगी होना। रागकी ओर उपयोग तो अब भी है ज्ञानीके। लेकिन अन्तर देखो—एक तन्मयतासे अपने आपमे रागादिको चिपकाये तो एक वह अध्यवसान और एक ऐसा अध्यवसान जो शरीरविपयक है। दो प्रकारके अध्यवसान होते हैं। सुख दु ख भोगे जाते, आहार चर्या करते हैं साधु, आहार चर्या करते है गृहस्थ भी, जो कोई विरक्त हुआ, उस समय वह केवल एक शरीर चलानेके हेतु अपना व्यापार करता है याने खाना पीना करता है तो वह शरीरविपयक उपभोग हुआ। और एक उसमे चाह बनना, इसमें वहुत अच्छा आनन्द है, विषयोमे बडा मौज है, ऐसा उछलकर उनमे उपयोगका रमना हो तो वह कहलाता है ससारविषयक अध्यवसान। तो शरीरविषयक जो अध्यवसान है, उपभोगविपयक जो एक अभिलाषा है बस उसको कहोगे कि है यहाँ कर्म। एक यह भी कर्म है। कर्म मायने क्रिया, ज्ञानकी क्रिया है, उसमे कुछ रागभाव भी वना, कुछ परिस्पद भी बना, कुछ शारीरिक चेष्टा हुई। तो ज्ञानीका जो कर्म है, वह परिग्रहभावको प्राप्त नही होता। जैसे बेमनसे कोई काम करे तो उसे कहते है कि तुम काम ही नही करते। कोई मजदूर काम करनेमे वहुत जी चुराता है, जरा सी मालिककी निगाह हटी तो झट बीडी पीनेके बहाने या वैसे ही आराम करने बैठ गया, या अच्छी तरहसे काम नही करता तो कहते कि अरे तू तो काम नही करता। अरे कुछ तो कर रहा है। अरे दिलसे करनेको करना कहा जाता है। तो ऐसे ही जिस ज्ञानीका भाव अपने अन्तस्तत्त्वकी ओर है, जिसे समस्त लोकमे सारभूत तत्त्व केवल यही नजर आ रहा है, दूसरा कुछ नही, ऐसे अन्तरात्मा ज्ञानीके कर्मविपाकवश कर्म होने पडते है तो भी वे परिग्रहभावको प्राप्त नही होते।

११८३—अन्तस्तत्त्वके अपरिचयमे ज्ञानीकी वाह्यप्रवृत्तिकी नकलकी अकिंचित्करता—

देखिये ऐसा वर्णन सुनते समय वाहरकी वातोपर दृष्टि अधिक न देना चाहिये, भीतरकी वातपर दृष्टि देना चाहिये। उपभोग परिग्रह नही बनते, यह तो जल्दी मान लेंगे, क्योकि बडी अच्छी बात है, और उसका भी ऐसा ही नाम बन जाय मगर भीतरमे ज्ञान क्या कर रहा है? क्या परखता है, कहाँ दृष्टि है यह नही परख रहा, वाहर कुछ परख रहा। और, इसीलिए फिर यह विडम्बना बन जाती कि जैसे कहने लगते कि ज्ञानीके उपभोगसे बध थोडे ही होता है, हम भी ज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, अपनेको कम नही मानते पर्यायव्यामोही जन तो वे भी स्वच्छन्द हो रहे और विषयोसे निवृत्त नही होते। उनकी केवल गप्प रह जाती है। जैसे पहाडपर चढना दूरसे बडा सुगम दीखता, अरे इतना सा ही तो पहाड है, और एक मखमल सा इसपर विछा है। जैसे शिखरजीका पहाड जब दूरसे देखो तो ऐसा लगता है कि बस जरासा तो ऊँचा है, अभी इसपर थोडी ही देरमे चढ जाऊँगा, खूब हरा भरा दिखता मानो उस पर मखमलसा बिछा हो, लगता कि इसपर चढना कुछ कठिन नही है, पर जब उसपर कोई चढता है तब पता पडता है कि हाँ यह है पहाड। पहले नही पता पडता। तो ऐसे ही जरा अतस्तत्त्वकी ओर दृष्टि दो कि मैं अपने उस सहज अन्तस्तत्त्वकी ओर दृष्टि कर पा रहा हूँ या नही, निर्विकल्प, कुछ ख्याल न रहे, ऐसी कोई स्थिति कभी क्षणभरको भी होती है कि नही। वात तो

कुछ हो नही और केवल अपने आपको ज्ञानी मानकर कुछ ज्ञानीकी बाहरी नकल करे, भीतरी नकल तो कर नही सकते, तो कही उस बाहरी नकलसे सम्वर निर्जरा तो न हो जायगी।

११८४—ज्ञानीकी अन्तर्विशुद्धि—

ज्ञानीका भीतरी भाव परखिये कि कहाँ लगा है ज्ञानी जिस कारणसे कहा जाय कि वह ज्ञानी रागरसरिक्त है याने राग उठ रहा है, उपभोग राग बिना नही होता ज्ञानीका भी और फिर भी यहाँ यह कह कह रहे कि ज्ञानीका उपभोग राग बिना है, इस कारण परिग्रहभावको प्राप्त नही होता। वह मनसे करे तो करना कहलाता, मनसे न करे तो करना नही कहलाता। ज्ञानीका उपभोग चूकि वह भी विकार है, कुछ इच्छा हुए बिना कोई साधु चर्या भी नही करता, इसी प्रकार श्रावककी बात लो। कुछ बात तो होती है तो राग तो बना मगर अन्दरसे राग नही बना। उस रागमे राग न बना। जो राग उठ रहा उस रागसे राग नही। जैसे यहा किसीका किसी दूसरेसे मन हट जाय तो उससे राग नही बनता ऐसे ही इस ज्ञानी पुरुषको अपने उन समस्त विकारोसे मन हट गया, क्योकि सारी पोल जान ली, विभाव अस्थिर हैं, नैमित्तिक है, वैभाविक है, दु:खके हेतुभूत है, अपवित्र हो तो हैं, इससे आत्माका हित नही होनेका, भली प्रकार ज्ञान बन गया, अब एक रागभावका राग न होनेसे, बस यह तो रागसे रीता है, मायने उस रागमे राग नही कर रहा है, इस कारण ज्ञानीका उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नही होता।

११८५—अकषायित उपयोगमे उपभोगका अप्रभाव—

ज्ञानीके कैसे रहता वह उपभोग ? तो देखो पहले जमानेमे जिसे कहते कढी रगकी धुतिया, जो कि पहले रँगी जाती थी। तो पहले कैसे क्या पकाते थे ? उसमे लोध फिटकरी या अन्य कुछ डालते थे फिर रगमे रगते थे तो उस कपडेमे खूब रग भिद जाता था। फट जाय कपडा तो भी वह रग नही छूटता था और कोई ऐसा रग है कि पानी डाला रग डाला तो वहाँ रग तो आया कपडेपर, परतु भीतरमे रग भिदा नही, स्वीकार नही हुआ, वह बाहर ही रहा, उसे दो चार बार धो दिया जाय तो रग कपडेसे बाहर हो जाता है। तो जैसे जिस वस्त्रको कषायित नही किया, लोध फिटकरी आदि मे नही पकाया, ऐसे ही वस्त्रमे बाहरसे रग डाला तो वह ऊपर ही स्वीकार है, भीतर अगीकार नही और वह रग बाहर ही बाहर लोटता है, ऐसे ही जब कषायित नही है ज्ञानीका परिणाम याने जो रागभाव उठा, कर्मविपाक आया उस रागमे राग नही है, उसको भीतर कषायित नही किया है इस कारणसे वह उपभोग बाह ही बाहर बन रहा है, बाहर ही बाहर लोट रहा है, ज्ञानीने उसे अपने आपके अन्दर अगीकार नही किया।

११८६—एक अन्तस्तत्त्वकी साधनामे सर्वश्रेय—

एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय। एक अपने आपके इस सहज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि हो कि मै वास्तवमे निरपेक्ष क्या हू। यह बात अगर चित्तमे है तो आपकी सारी बाते षट्कर्तव्य, व्रत तप ये सब उसमे कई गुणा काम करेंगे। जैसे १ का अक न रखे और वहाँ बिन्दी (०) रखें तो बिन्दी (०) की कीमत है नही, कितनी ही बिन्दी रखे जावो उसकी कोई कीमत नही, ऐसे ही कोई मन वचन कायकी खूब चेष्टायें करे मगर अपने आपके एक सहज अतस्तत्त्वका आश्रय न ले तो ये सब बाहरी क्रियाकाण्ड कुछ काम न देंगे। जैसे १ का अक लिख लिया गया तो उसके बाद जितनी बिन्दी (०) रखी जायेंगी उनकी प्रत्येक की १०-१० गुनी कीमत बढती जायेगी और यदि कोई

अक पहले न रखे तो उन बिन्दियोसे कोई सख्या नही बनती, ऐसे ही एकको साधना बनावे। यही तो अध्यात्म साधनामे बात चलती है, पर फर्क यह हो जाता कि हम जिस पदवीमे हैं, गृहस्थ है, श्रावक है उस पदवीमे हम अपनी चर्या नही बनाते। साधुजनोको तो कुछ करना नही पडता। उन्हे तो मन्दिरमे जाकर दर्शन करना भी आवश्यक नही। पास मिल जाय तो दर्शन करते है। जैसे श्रावकोके नियम है कि बिना दर्शन किए न खाना तो ऐसा नियम साधुवोके नही होता। साधु स्वय एक जिन-मुद्रामे है। और जिनका नियम है वे साधुदर्शन करके अपना नियम पूर्ण करते हैं। तो साधुवो जैसी बात अगर श्रावकजन करे और उसमे एक अतरग निश्चयनयकी बातका आधार दें तो उसमे हम हो टोटेमे रहते हैं। हमारी व्यावहारिक चेष्टाये अगर बेकार है फोकट हैं तो फिर फोकटके करनेमे भार क्या ? उन्हे करो। वह तो एक प्रकारसे ढालका काम करता। उसमे उपयोग रहनेसे व्यसनके पापके परिणाम न बनेंगे। जो किसी न किसी प्रकार हम शुभोपयोगकी क्रियावोमे चलते हैं तो इतना लाभ तो तुरन्त है कि व्यसन और पापकी बातें उस समय नही आती। वहाँसे तो मोड हो गया। अब ऐसी सुरक्षित स्थितिमे हमारा क्या काम है कि शुभोपयोगकी पकड न रखें, शुभोपयोग क्रिया ही मेरा सर्वस्व है, यह ही मुझे पार करेगा, ऐसी दृष्टि न होनी चाहिए वह तो सुरक्षाके लिए है। अब हमारी अतस्तत्त्वकी साधनापर दृष्टि होनी चाहिए। मैं क्या हूँ सही परमार्थ निरपेक्ष अपने आपके सत्त्वके कारण। हमने जो परखा है, बस वह दृष्टिमे आये वह कहलाती है एककी साधना। एककी साधना करें तो बाकी सब भी उसमे सहायक हो जाते। अगर उस एकको तज दिया तो वहा फिर पार नही पा सकते। तो जैसे जो वस्त्र अकषायित है उसमे रगका योग केवल एक स्वीकृत जैसा है अथवा अस्वीकृत है ? सधिमे यहाँ अस्वीकृत अर्थ भी निकलता है। स्वीकार नही किया उस वस्त्रने रगको, रग ऊपर ही ऊपर रहा, उसमे भिदा नही, ऐसे ही ज्ञानीने उस उपभोग को स्वीकार नही किया अन्दरमे किन्तु कर्म विपाकसे और उसकी कमजोरीके कारण वह ज्ञानी पुरुष उपभोगमे पड गया फिर भी उसके उपभोग परिग्रह भावको प्राप्त नही होते।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत. स्यात् सर्वरागरसवर्जनशील: ।
निप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ।।१४९।।

११८७—ज्ञानीकी सर्वरागरसवर्जनशीलता—

ज्ञानवान पुरुष, ज्ञानी पुरुष जिसने अपने चैतन्य महाप्रभुकी आराधनाका दृढतम अभ्यास कर लिया है वह स्वरसत स्वय ही अपनी प्रकृतिके कारण, अपनी ही आदतसे वह समस्त राग रसको छोडनेके स्वभाव वाला है, जैसे स्वर्ण कीचडको, मलको छोडनेका स्वभाव रखने वाला है। कोई लोहा पडा हो और उसमे जरा सा कीचड लग जाय तो कुछ ही कालमे उसमे जग लग जाती है, लोहेमे जग चढ जानेका स्वभाव पडा है, लोहा जगको, कीचडको, मलको स्वीकार कर लेता है, पर स्वर्ण चाहे कीचडमे कितने ही दिन पडा रहे पर वह उसे स्वीकार नही करता। जैसे दृष्टात दिया है कि स्वर्णका स्वभाव उस जगमे, कर्दमसे, कीचडसे, मलसे अलग ही रहनेका है ऐसे ही ज्ञानी जीवका स्वभाव समस्त रागसे अलग ही रहनेका है। कहाँ उपयोग गया, बस इसकी तारीफ है। ज्ञानीका उपयोग अपने आपके सहज स्वरूपमे यह ही मैं हूँ इस प्रकारकी प्रतीतिमे बना हुआ है इसलिये वह समस्त रागरसमे परिहरणका स्वभाव वाला ही है। आ रहा है राग तो आये।

११८८—स्वभावोन्मुखताकी दृढताका प्रभाव—

इस प्रसगमे हमे अपनी एक बचपनकी याद आयी। उस समय हमारा विद्यार्थी जीवन था।

हमको खूब तेज बुखार चढ गया, ऊपरसे लिहाफ ओढे हुए पडे थे, कुछ झपकी सी आयी, वही स्वप्न आया कि हम नीचे पडे हुए है और हमारे ऊपरसे रेलगाडी जा रही है। (यह स्वप्नकी बात कह रहे) और हम अपने अन्दरमे एक बहुत कडा दिल करके, एक तेज ऐंठ सी बना करके पडे हुए थे। वहाँ हम बार बार यह देखते जा रहे थे कि अभी रेलगाडी कितनी निकलनी और बाकी रह गई। थोडी देरमे स्वप्नमे ही क्या देखा कि रेलगाडी हमारे ऊपरसे पार हो गई। और बडा विश्राम पाया नीद खुली, स्वप्न भग हुआ, क्या देखा कि खूब तेज पसीना बह रहा था और चढा हुआ सारा बुखार मिट गया था। तो जैसे वहाँ स्वप्नमे अन्दरमे एक कडा दिल बनाकर एक बडे मौजसे श्वास लेकर आरामसे पड गए तो रेलगाडी भी ऊपरसे निकल गई याने उपद्रव भी निकल गया, ऐसे ही ये उपभोग आये हैं, यह मानो ज्ञानीके ऊपरसे रेल निकल रही। इसे एक उपद्रवसा समझिये। स्त्री पुत्रादिक सम्बधी दिख रहे है, कुछ स्नेहकी बात बोल रहे, ये उपभोग है, ये उपद्रव है। इनके बीचमे ज्ञानी भीतर ऐसा एक कडाकाका वातावरण लिए हुए है कि भीतरमे आँच नही आने देता। ये उपभोग चल रहे है, मगर अभिप्रायमे, आशयमे भीतरमे उनकी हवा नही लगने देता, ऐसी कोई विकट स्थिति होती है ज्ञानी जीवकी। इसीको कहते है रागरसरिक्त। वहाँ राग है, पर उसके रससे रिक्त है, उसका रस नही ले रहा है। वैसे चम्मचका दृष्टान्त लोग देते खराब बातके लिए कि दाल, साग वगैरहके बीच रहकर भी वह चम्मच उनका स्वाद नही ले पाती। अब उसको अच्छी बातके लिए भी समझलो, कि वह चम्मच इतनी अलिप्त रह रही कि ये सब बाते आ रही, दाल साग वगेरह चलानेकी, उनके बीच रहनेकी मगर उनके स्वादका कुछ भी असर उस चम्मचपर नही होता। ऐसे ही ज्ञानीका दिल कहाँ रागा है, कहाँ चित्त है, कौनसी बात सुहाती है उसे ज्ञानी ही जाने। उसका एक दृढतम निर्णय है कि सहज स्वभावका आश्रय ही इस जीवको ससारके दु खोसे पार कर सकता। दूसरा कोई उपाय नही है, और जिसमे यह निर्णय बना है वह जैनागमके समस्त उपदेशोको इस तरहसे ढालेगा कि वह स्वभावाश्रयकी ओर जायगा। उसके एक यही कला है, एक यही बात लगी है, उसको किसी जगह विवाद ही नही लगता, क्योंकि उसने एक काम निश्चित कर लिया। उसके तो एक काम है दूसरा नही।

११८६—ज्ञानीके सदाशयकी विजय—

जिसके दिलमे जो हो उसकी ओर ही वह चलता है, कोई जबरदस्ती भी लगता है तो जबरदस्ती की तो पोल खुल जाती हैं और जो हृदयसे लगता है उसकी बात निभ जाती है। तो यह ज्ञानी पुरुष समस्त राग रससे परिहरणका स्वभाव वाला है इस कारण कर्मके बीचमे गिरा हुआ होनेपर भी कर्मसे अलिप्त है, कौन सा कर्म ? ये जो ज्ञानी उपभोग कर रहा, ज्ञान विकल्प कर रहा या जो भी इसमे विकल्प हो रहे इन कर्मोके बीच पडे हुए भी समस्त कर्मोसे लिप्त नही होता अभिप्राय बहुत महत्त्वकी बात है। आपका मित्र है और उस मित्रके द्वारा कोई क्रिया ऐसी बन जाय कि जिससे आपका ही बिगाड हो जाता है तो भी आप मित्रपर गुस्सा नही होते, क्योकि आप जानते हैं कि इस मित्रका तो हमारे हितके लिए भाव रहता है, भाई उदय था, हो गया ऐसा, पर मित्रका तो उसके लिए अच्छा ही भाव है, अभिप्रायकी कितनी कदर होती है, जिसका जितना अभिप्राय मिल गया वही तो उसका मित्र कहलाता। और, उस मित्रतामे उस अभिप्रायके मेलके प्रसगमे कदाचित् कुछ हल्की भी बात हो जाय, कुछ अपमान भरी बात भी हो जाय तो भी वह बडा सुखद हो जाता है। भली प्रकार सहन हो जाता है। वहाँ बिगाड नही होता। जिसका अभिप्राय बुरा है—उसकी जरा सी भी

बात चाहे अच्छी भी थोडी बहुत हो फिर भी बुरी लगती है । वहा मन नही जमता । माँ अपने बच्चेको बहुत मार भी देती, बच्चा रोता भी है और रोते हुएमे भी उस माँसे ही वह चिपटता है। और कोई दूसरा पुरुष उस बच्चेपर आँख जरा सी तेज निकाल दे तो वह रोने लगेगा, डर जायेगा, और उसका हितैषी भी उससे लडेगा। तो अभिप्रायका बहुत बडा महत्त्व होता है। इस ज्ञानी जीव का आशय, अभिप्राय, दृष्टि अपने अन्ततत्त्वकी ओर है। उसे सर्वत्र बस स्वभावाश्रयकी ही बात दिखती है। स्वप्न भी आयगा तो स्वभावाश्रयकी बातका आयगा। और जैसे स्वप्नमे और और बाते देखता ना—यह पर्वत है, यह नदी है' ऐसे ही स्वानुभवमे जो स्थित होता है उसके भी स्वप्न हुआ करता है। जो बात लगी है, दिलमे वही बात पडी है, वही बात स्वप्नमे भी आती है। तो बस एक उपयोग भूमिको विशुद्ध करनेमे कितना बल लगाना पडता है। निष्क्रिय, अचल, निर्मल, ध्रुव अविकार स्वभावको देखो।

११६०—जीवविकारकी नैमित्तिकता—

प्रत्येक पदार्थ अपने आप ही अपने स्वरूपसे अविकार होते है। चेतन हो या पुद्गल हो या कुछ भी द्रव्य हो, अपने आप अपने स्वरूपमे ही हैं सब। जीव पुद्गलका कुछ सम्पर्क बनता है। फिर वहाँ विषय स्थिति बनती है, विकार होते है, हों, तिसपर भी स्वभाव देखो तो सबका अविकार स्वभाव है। यदि स्वभावमे विकार आ गया तो वह विकार फिर सदा रहेगा। किसीके मिटाये मिट ही नहीं सकता, कोई उद्यम ही नही बन सकता। स्वभावमें विकार नही होता, तभी बडी दृढतासे, निश्चयसे कुन्दकुन्दाचार्यने, गाथामे कहा उसकी टीकामे अमृतचन्द्रजी सूरिने कहा है कि "न जातु रागादिनिमित्त-भावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त । तस्मिन्निमित्त परसग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् । एक तो जातु शब्द लगा—तस्मिन्निमित्त परसग एव। एक एव शब्द डाला कि उस विकारमे निमित्त पर का सग ही है, और यह वस्तुका स्वभाव है। यो इसे वस्तुस्वभावोऽय कहा, उदेति तावद्, तावद् शब्द भी बडे महत्त्वका होता है निश्चयपूर्वक, याने ४-४ शब्दोसे दृढता लाये हैं कि आत्मा अपने विकारमे खुद निमित्त नही हो पाता। इसमे निमित्त परसग ही है, और तभी तो देखो उस विकारको नष्ट करनेकी तरकीब बन जाती है। अगर विकारमे कोई निमित्त न हो और इसमे ये विकार हो रहे तो उनको नष्ट करनेका कोई उपाय सम्भव नही हो सकता। चकि ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक है, सम्पर्कज हैं, इसलिए ये स्वभावमे स्थान नही पाते, इस स्वभावमे प्रतिष्ठा नही पाते। जैसे दर्पणके सामने लाल पीली हरी कोई वस्तु रखी है, या कपडा रखा है तो उस दर्पणमे वह रगीन फोटो आयी। वह फोटो कपडेकी नही है, पर कपडेका सन्निधान पाकर हुई अतएव सभी लोग उसे कपडेका फोटो कहते है। फोटोरूप जो परिणमन है वह तो दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। वह उसका परिणमन है उस कालमे। ऐसा होनेपर भी सब लोग जानते है कि यह फोटो यह प्रतिबिम्ब दर्पणमे प्रतिष्ठित नही है। हो तो गया, आधार तो है, मगर दर्पणमे प्रतिष्ठाको प्राप्त नही होता। हो ही नही सकता, क्योकि यह औपाधिक है। जब यह जाना कि यह कर्मराग मेरेमे मात्र प्रतिफलन है, यह औपाधिक है, मेरे स्वरूपकी चीज नही है, निमित्तनैमित्तिकयोग है ऐसा कि यहाँ यह जीव अपनेमें ज्ञानविकल्प बना लेगा, लेकिन ये विकार स्वभावमें प्रतिष्ठाको प्राप्त नही हो सकते। अगर ये स्वभावमें प्रतिष्ठित हो जायें, स्वभावरूप हो जायें, स्वभावके परिणाम बन जायें तब फिर वे किसी भी उपायसे हटाये नही जा सकते।

११९१—रागरसरिक्त होनेसे कर्ममध्यपतित होनेपर भी ज्ञानीको कर्मालिप्तता—

ज्ञानी सब तरहसे अपनेको देख रहा । निश्चयसे अपना एकत्वस्वरूप देख रहा, व्यवहारसे गडबडियोकी पोल देख रहा, उपेक्षा भी कर रहा, अपनेमे लीन हो रहा । आजादीके दो ही तो उपाय है—(१) असहयोग और (२) सत्याग्रह । अन्य भावोका, विभावोका असहयोग और सहज सत्य स्वरूप जो सत्य शिव सुन्दरम् है उसपर आग्रह है । ये दो बाते ज्ञानी करता है अत उसकी यह स्थिति है कि वह रागरसरिक्त है, ज्ञानरसयुक्त है । सर्व रागरससे जुदा रहनेका उसका स्वभाव है, इसलिए कर्मके मध्य पडा हुआ भी ज्ञानी कर्मसे लिप्त नही होता । जो कर्ममध्यपतित नही वह कर्मलिप्त नही, यह तो उभय सम्मत है, मगर ज्ञानी कर्मके मध्यमे पतित हुआ भी कर्मसे लिप्त नही होता । यहाँ अपि शब्दसे यह ध्वनित होता है कि उसमे सदेह ही नही, लेकिन ज्ञानी कर्मके मध्यमे पडा हुआ भी क्रियाये नही करता, मन, वचन कायकी चेष्टाये उसकी बद हो गई, वह तो केवल अलस्तत्वका ही अनुभव कर रहा, उसकी बात तो है ही ऐसी, मगर वह ज्ञानी जीव कदाचित् उपभोग भी करता हो, तो भी वह कर्मोसे लिप्त नही है।

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि य, कर्तुं नैष कथचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते । अज्ञानं न कथचनापि हि भवेद् ज्ञानं भवत्सततम्, ज्ञानिन् भु क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ।।१५०।।

११९२—प्रत्येक पदार्थके स्वभावकी स्वाधीनता तथा अन्यके द्वारा अन्यादृश किये जानेकी अशक्यता—

जिस पदार्थका जो जैसा स्वभाव है वह स्वभाव उस ही के तो आधीन है याने स्वाधीन है। प्रत्येक पदार्थ स्वभावमय है, वह तो सत्त्वसिद्ध अधिकार है, जिस पदार्थका जो स्वभाव है वह अन्य पदार्थोके द्वारा किसी भी तरह अन्य रूपसे किया नही जा सकता । प्रत्येक पदार्थ सुदृढ है, अपने स्वरूपमे मजबूत है । सत्त्व ही वैसा है । तो चाहे कितना ही मेल बने, चाहे कैसा ही सम्पर्क हो, कैसी ही परिस्थिति हो, प्रत्येकका स्वभाव उसका उसमे ही है, एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको बदलता नही है, किसी के द्वारा अन्यस्वभावरूप किया जा सकता नही । देखिये—किसी प्रसगमे कोई बात कभी पराधीन भी लग रही हो, जैसे जीव रागद्वेष करता है, पर पदार्थका सन्निधान पाकर होता है तो यह पराधीन भाव है, पराश्रित भाव है । तो कोई कहे कि देखो यह जीव पराधीन हो गया । अरे जीव स्वतत्रतासे परतत्र बनता है । परतत्रतासे परतत्र नही बनता । जैसे कोई मनुष्य किसीका गुलाम बन रहा, सेवक बन रहा तो वह मनुष्य अपनी रुचिसे, अपनी मर्जीसे, अपनी स्वतत्रतासे, अपनी गर्जसे पराधीन बन रहा, दूसरे की आधीनतासे कोई आधीन नही बनता । जो भी बनता है वह स्वय अपनी स्वतत्रतासे आधीन बनता है । यह जीव इस समय पराधीन है, रागद्वेष मोह इसपर उछल रहे है और कैसे कैसे शरीरोमे बँध जाता, फस जाता, जकड जाता, जन्म मरण करता । कितनी ही बाते इसके हो रही हैं तो इसे पराधीन न कहेंगे क्या ? हो रहा यह जीव पराधीन, हो रहा बन्धन । हो रहा अपने आपके ज्ञान विकल्पसे, अपनी परिणतिसे इस प्रकार बना है कि ये सारी कहावतें, ये सारी बाते इस पर लद जाती हैं, तो यह जीव अपने आप अपनी परिणतिसे परिणमता है । सभी पदार्थ स्वयकी परिणतिसे परिणमते हैं । कोई दूसरा उस परपरिणतिको नही कर बैठता ।

११९३—स्वाधीन स्वाधीन स्वभावमय पदार्थोंमे परस्पर नैमित्तनैमित्तक योगका दर्शन—

हाँ इतनी बात अवश्य है लोकमे कि कौन उपादान, कैसा उपादान कैसे निमित्तके सन्निधानमे अपने आपमे कैसा परिणाम बना ले यह एक स्थिति है, अन्यथा जगतकी सारी व्यवस्थायें समाप्त हो जायेगी । हो रहा है ना ऐसा । जैसे रोटी अग्निपर पकती है, अब कोई सोच ले कि रोज रोज तो

अग्निमे रोटी पकती थी, आज पानीमे या धूलमे ही रोटी सेक ले, तो यह बात नही बन सकती। वहाँ एक नियत व्यवस्था है। क्योकि ऐसे कार्यके लिए ऐसा निमित्त सन्निधान हो, ऐसी नियत व्यवस्था है। सो भाई जो नियत व्यवस्था है, उसे कोई मना नही कर सकता, मगर वहा यह स्वभाव है कि ऐसी स्थितिमे उपादान जो परिणमता है वह किसी अन्यकी परिणति नही है। निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव कुछ अपनेमे ग्रहण करके परिणमता है ऐसा नही है। अरे वहाँ निमित्तसन्निधान है, ऐसा ही योग है कि ऐसे सन्निधानमे ऐसा उपादान अपनेमे ऐसा परिणमन कर लेता है, मनुष्य चल रहा एक सडकसे जा रहा, सडकके किनारे पेड भी है, कुछ जगह खाली है, धूप भी निकल रही है, मनुष्य जा रहे है, पेडके नीचेसे गए है, छायारूप परिणम गए, और जहाँ पेड नही है, खाली मैदान है वहाँ तेज धूप प्रकाशरूप परिणम रहे हैं, चल रहे है तो ऐसा योग है वहाँ जिसका जैसा वातावरण है उसमें उसके अनुकूल इस मनुष्यपर छायारूप, प्रकाशरूप ये सब नानाविध परणतियाँ चल रही है। तो उस छायाको कही वृक्षने नही कर दिया, मगर वह योग ऐसा है कि वहाँ से यदि यह मनुष्य गुजरे तो वह छाया रूप आ जाता है एक निष्पत्तिकी ओरसे बात विचारेंगे तो निमित्तनैमित्तिकभाव आपको व्यवस्थित मिलेगा, और ज्ञप्तिकी ओरसे विचारेंगे तो वहाँ तो यह ही निर्णय पडा है कि अवधिज्ञानीने, केवल ज्ञानीने जान लिया ना वही तो होगा, इसमे कोई सदेह नही, लेकिन ज्ञानीने वही जाना कि जैसा जब जिस विधिसे होता, हो गया, भविष्यमे भी याने जैसा होगा, जिस विधानसे होगा वही जाना प्रभुने इसलिए ज्ञप्ति व निष्पत्तिमे परस्परका अतिक्रमण नही। निमित्तनैमित्तिक योगका और सर्वज्ञदेव या अवधिज्ञानीके ज्ञानका कोई विरोध नही खाता, मगर जहाँ निष्पत्तिकी दृष्टिसे विचार चला करता वहाँ ये सब बाते होगी। कार्यकारणभावको दो दृष्टियोसे परखा जाता है—(१) उपादान उपादेयके रूपमे और (२) निमित्त नैमित्तिकके रूपमे। उसके परखनेकी दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं। उपादान उपादेयभावकी दृष्टिसे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कार्यकारणभाव नहीं है, और निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे ये सब कार्यकारणभाव युक्तिसगत हो जाते हैं। इसका मूड और है और उपादान उपादेयमे कार्य कारणभावकी तलाश करना बने तो इसका मूड और है।

११६४—सर्व परिस्थितियोमे स्वभावकी ध्रुवता—

कैसी भी स्थितिया हो, यह जीव निगोदमे अनन्त काल रहा। अच्छा कोई बता सकता है, क्या, कि निगोद जीवोके कितना ज्ञान है ? अक्षरके अनन्तवे भाग। वह ऐसा लगता कि कुछ भी नही है। जड है एक तरहम निगोद, यो लगता है। क्या वह कोई ज्ञानमे ज्ञान है। कोई चेतना सी लग रही है ? मगर कितना ही दबा हो, स्वभाव अमिट है। अगर स्वभाव बदल गया होता तो मनुष्य हुआ, भगवान बने, सिद्ध बने, यह बात फिर कैसे होती है। स्वभाव वही है, वह कभी दूसरे पदार्थके द्वारा बदला नही जा सकता। एक बात, दूसरी बात पर्यायदृष्टिसे विचारो, मायने सम्यग्दृष्टि ज्ञानमय स्वरूपमे हैं। ज्ञान स्वरूप ज्ञानरूप वर्त रहा, उसको अज्ञानरूप करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नही है। यही ज्ञानरूप वर्तने वाला जीव अपनी ज्ञानकी स्थितिको छोडकर अज्ञानरूप मोही बन जाय तो बन जाय। हाँ वहाँ निमित्त सन्निधानको मना नही किया जा सकता। जैसे मनुष्य चल रहा है, छायामे वह छायारूप परिणम रहा है, वही आगे बढा, धूपरूप परिणम गया, फिर छायारूप परिणम गया, इस परिणमनको वृक्षने नही किया, मैदानने नही किया, इस परिणतिको तो जिसकी परिणति है उसीने किया, पर उस योग प्रसगमे ऐसा कर लेता है। निमित्तनैमित्तिकयोग और वस्तुस्वातन्त्र्य इन दोनोके एकत्र रहनेमे विरोध जरा भी नही

है। परखनेकी दृष्टि है, किसी तरह परखे । हाँ तो जिस वस्तुका जो स्वभाव है वह स्वभाव अन्य पदार्थोंके द्वारा अन्य रूपसे किया नही जा सकता।

११६५–ज्ञानरूप भूयमान ज्ञानीके परापराधनिमित्तक बधकी अप्रतिष्ठा–

प्रकरण चल रहा है ज्ञानीका। और, स्वभावका मतलब है सहज स्वभावसे। अब इसके अनुरूप उठकर जो उसकी परिणतिमे एक आदत बन गई है उसे यहाँ ग्रहण कर लिया जाय। ज्ञानीकी परिणति मे यह आदत बनी है कि वह ज्ञानस्वरूपको निहारता रहा करे। अपने आपको सहज ज्ञानस्वरूप प्रतीति मे लिये हुए है ज्ञानी। वहाँ ही उसकी दृष्टि लगा करती है। ऐसी आदत वाले ज्ञानी जीवकी बात कह रहे है। ज्ञानरूप हो रहा है निरन्तर ज्ञानी उसे कोई अज्ञानरूप नही कर सकता। स्थिति होती है। करणानुयोगकी बात तो ऐसी है कि सम्यग्दृष्टि भी हो जाय और फिर मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय हो तो सम्यक्त्वसे छूटकर मिथ्यात्वमे आता है। यह बात एक निमित्तनैमित्तिक योगमे है, पर वहाँ भी यह देखिये कि ज्ञानसे अज्ञानरूप परिणमता हुआ जीव उस प्रसगमे मिथ्यादृष्टि हुआ याने ज्ञान अज्ञानरूप परिणमा, ऐसा उस जीवको इस मिथ्यात्वने मिथ्यादृष्टि किया। परिणति होनेका ढग क्या ? तो उपादान की ओरसे देखिये मिथ्यात्वकर्मने परिणमन किया क्या, इस जीवको परिणमाया क्या ? न परिणमनेको कोई परिणमायगा क्या ? तो अन्तस्तत्त्वपर दृष्टि दीजिए–एक निश्चयनयके आधारसे विचार करे कि यह जो जीव ज्ञानरूप चल रहा है तो यह अज्ञानरूप किसी परके द्वारा नही बनता। तो ज्ञानरूप चल रहा यह ज्ञानी, अपने उपयोगमे उस सहज ज्ञान प्रकाशको लिए है और उस ही रूप अपनेको अनुभव करता है। बस इतिश्री, समाप्ति कुछ कार्य नही है बाहर करनेको। बाहर सब मायाजाल है, भ्रमजाल है, झूठ बात है, बिना प्रयोजनका श्रम है, वह सब करना योग्य नही। एक यही सहज ज्ञान स्वभाव ज्ञानमे अनुभूत रहे, यही मात्र एक कर्तव्य है, ऐसा आग्रह करके ज्ञानी जीव जो ज्ञानरूप निरन्तर चल रहा है, चल रहा है। यहाँ यह बात हो रही है और ऊपर कर्मविपाक आ गया, पूर्वबद्ध कर्मविपाक समागत हो गया, उपभोग हो गया, वहाँ यह बात बनी। भीतरमे यहाँ सतत ज्ञानरूप होनेकी बात चल रही। सो उस ज्ञानीने स्वय अनुभव किया है। फल क्या मिलेगा ? जैसा वह अपने स्वभावमे बस रहा है उसके अनुरूप उसके उपयोगका फल प्राप्त होगा। जो ज्ञानरूप हो रहा है, उसको बध नही हो रहा। ऐसी बात निरख करके उस ज्ञानीके इस गुणपर आकर्षित हुआ कोई दूसरा ज्ञानी यहाँ कह रहा है धन्य है महाराज, तुम भोगो उपभोग, तुम्हारे परापराधजनित बध नही होनेका, कोई बधन नही होनेका।

११६६–ज्ञानीके ज्ञानगुण माहात्म्यके दर्शकका ज्ञानीके प्रति वात्सल्यवचन–

देखिये–कौनसे मूडमे यह बात कह रहा है ज्ञानी ? उस अन्तरात्मत्वकी कलापर प्रसन्न होकर एक तरह आशीष रूप कह लो, प्रसादरूप स्थितिमे कह रहा है ज्ञानी। एक भिखारी भी तो जब किसी दातार की उदारताका गुण समझता, उसे खूब भोजन वस्त्रादिक दिया ना सो उसकी बडी उदारता समझमे आयी तो वह भी एक बार बोल देता है–तुम्हारा भला हो, तुम खूब सुखी रहो, यह उसकी भीतरी एक आवाज है। तो जिस ज्ञानीने इस अन्तस्तत्त्वको जाना है कि जिसका उपयोग निरन्तर अपने सहज तत्त्व इस परमार्थ ज्ञानस्वरूपपर रह रहा है उसको कह रहे है, जब ऊपरसे कोई आक्रमण ही हो गया कोई उपभोग, चारित्रमोहका विचित्र विपाक ही हो गया तो कहते है कि हे ज्ञानी जीवो! भोगो, तुम्हारे बध नही। तो उसका कही यह मतलब न लेना कि हर एक जीवके प्रति यही आशीष चलेगा। यह आशीष लटोरे खचोरे लोगोके लिए नही है। यह आवाज उनके लिए निकल रही, जिन्होने अपने स्वतत्र स्वरूप

को नही पहिचाना। ज्ञानीके परापराधनिमित्तक वध नही। और, कही यह ज्ञान विगड जाय तो क्या करे ? वहाँ जो वध होगा वह स्वापराधनिमित्तक वध होगा, परापराधनिमित्तक वध वैसे भी कभी होता नही। ज्ञानीको एक मदद भी कर रहा यह तत्त्वज्ञान–हे ज्ञानी तू लगा रहे अपने ज्ञानस्वरूपके अभ्यासमे। तू इस तरहका भी ख्याल न करना कि उपभोग आये हैं, कही ये वध नही कर दें, अरे उन उपभोगोको तू भोग, ये वाहरी पदार्थ हैं। तू अपनी इस पवित्र दृष्टिमे चल रहा तो तू इतना भी कलक मत लगा लेना कि जो ऐसा सोच वैठे कि उस उपभोगके कारण कही वध न हो जाय। अरे परपदार्थके कारण जीवको वध नही होता। एक तो यह साधारण नियम है और फिर आपके लिए तो स्पेशल स्थिति गुजर रही है। तू अपने इस ज्ञानस्वरूपमे ही रह। ज्ञानस्वरूपमे ही रम।

११६७—ज्ञानस्वभावके भवनके सवंधमे ओघ और समुचितपनेकी दृष्टि—

जिसका जो जैसा स्वरूप है वह वही रहता है, यह तो है एक ओघ उपादनकी दृष्टिसे वर्णन। यहाँ समुचित उपादानकी दृष्टिसे कहा जा रहा है। उस अनादि अनन्त सहज स्वरूपकी वात कही जा रही है, किन्तु ज्ञानरूप जो निरन्तर हो रहा है ऐसा जो समुचित उपादान चल रहा है उसके प्रति वात कही जा रही है। ओघ उपादान और समुचित उपादान, इन दोनोका क्या मतलव है ? ओघ कहते हैं–सामान्यको और समुचित कहते हैं विशेषको। जीवमे केवलज्ञानका स्वभाव है, निगोद के जीवमे भी है और अभव्यमे भी है केवलज्ञानका स्वभाव। परिपूर्ण ज्ञानका स्वभाव अभव्यमे भी है, ऐसी वात सुनकर आप सोचते होगे कि अभव्यमे कैसे कहा ? अच्छा नही है ना ? तो चलो छुट्टी हो गई। फिर ज्ञानावरणकी ५ प्रकृतियाँ अभव्यके न वतावे। केवलज्ञानावरण वतानेकी क्या जरूरत ? अभव्यमे यदि केवलज्ञानका स्वभाव नही है तो उस ज्ञानस्वभावको आवरण कर्म क्यो कहा, अभव्यके ५ ज्ञानावरणकी सत्ता वताना यह सिद्ध करता है कि अभव्य भी केवलज्ञानका स्वभाव रखता है, तव ही तो उसके अनादित यह केवलज्ञानावरण वना हुआ है। भव्य और अभव्यमे जीवस्वरूपके नाते भेद नही है, अगर स्वरूपके नाते भेद होता तो ६ द्रव्य न कहकर ७ द्रव्य कहे जाने थे। आचार्योने, वीतराग ऋषी सतोने जहाँ जो वाणी की है, चाहे कोई पहिचान न पाये लेकिन उस वाणीका एक भी अक्षर कितना कीमती है, कितना मार्मिक है, कितना रहस्यको लिए हुए है इस वातकी कला यदि देखना है तो टीकाकार अकलक देव, विद्यानन्दी स्वामी आदि जो वडे दिग्गज दार्शनिक विद्वान हुए हैं उनकी रचित टीकामे देखो जब टीकायें पढते है तो उनके रहस्यका पता पडता है। उनकी तो वात क्या ? षट्खडागम सूत्रकी टीका वीरसेन स्वामीने किया, जिन्होने उसका अध्ययन किया है उनको जब उसके मर्मका पता पढता है तो वे श्रद्धासे नतमस्तक हो जाते है। मूल सूत्रकारने जो वात कही है उसमे कोई वात अगर ऐसी भी जचे कि यह अक्षर फालतू है, अगर ऐसा एक प्रसग रखे तो उसके विपयमे आचार्योने टीकाकारोने शका और समाधान रूपमे ऐसा रखा कि ठीक जच जाता कि यह वात गलत नही है, ऐसा ही है।

११६८—आर्षसूत्रोके रहस्यका एक उदाहरण—

एक जरा सूत्र समर्थनका उदाहरण लो। तत्त्वार्थसूत्रका द्वितीय अध्याय जिसमे सूत्र आया है औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। सर्वप्रथम कहा-औपशमिक-क्षायिकौ भावौ, देखना औपशमिक भाव व क्षायिक भाव, ये दो वताये, लग रहा ऐसा कि सूत्र खतम हो गया, जब भाव शब्द यहाँ डाल दिया और भावका ही वर्णन करना था और भावके ही भेद वताने थे तो भावके जब दो विशेषण वता दिये औपशमिक और क्षायिक और उसके बाद कहते हैं भावौ,

औपशमिक और क्षायिक ये भाव हैं, अब इसके वाद कुछ शक सा नही रहता कि अब आगे और भी कुछ कहना चाहिए, सूत्र पूरा हो गया, मगर सूत्र वहाँ तो पूरा हुआ नही है सो फिर कहते है मिश्रश्च च मायने और जैसे किसी वच्चेसे कोई बात कही जाय—देखो भाई जीवके भाव कितने है ? तो वह कहता है दो, औपशमिक भाव और क्षायिकभाव, और, वहाँ वह रुक गया, जैसे मानो वह भूल गया था और उसे फिर ख्याल आ गया हो। तो वह और लगाकर आगे वोला। औपशमिक क्षायिक भाव यहाँ दो वात कह कर विरामसा लेकर कहता कि और मिश्र। अब च शब्द बोल दिया तो आखिरी भेदकी वात समाप्त हुई आप अगर १० नाम लेते है तो ९ नाम तक तो आप सभी शब्द वोलते जाते, 'और' शब्द नही लगाते, फलाने फलाने किन्तु अन्तमे कहते और फलाने 'अन्तमे' और लग गया, और के बाद एक नाम ले लिया तो अब गु जाइस नही कि यहाँ और कुछ बोलेगा कोई। बस हो गया। सूत्र पूरा। मिश्रश्च, और फिर लिखा—जीवस्य स्वतत्त्व, ये जीवके स्वतत्त्व है। अब तो कोई शका न रहना चाहिए, सूत्र पूरा हो गया। मगर इसके वाद फिर वोल देते है औदयिकपरिणामिकौ च। याने लगता होगा कि यहाँ आचार्य महाराज कई वार कुछ अटक गए। मगर वहाँ रहस्य देखो तो आपको ऐसा लगेगा कि वे अटके नही, किन्तु अनेक रहस्योको बताने वाली वात है। औपशमिकक्षायिकौ ये दो वाते एक साथ वतलायी हैं, तो ये भव्य जीवके होते है। जैसे मानो आप एक रेडक्रास + बना दे, इसमे आप नाम लिख दीजिए, ऊपरकी जो लाइन है उसमे आप ऐसा लिख दीजिए—नीचेके कोनेपर औपशमिक लिख दीजिए और सबसे ऊपर किनारेपर लिखिये क्षायिक। अब आडी लाइनमे लिखो, औदयिक, दूसरी ओर लिखो पारिणामिक, मिश्र महाराजको वीचमे लिख दो, तो आपका रेडक्रास + बन गया। यह सूत्र बन गया, इसे पढ लो अच्छी तरहसे। यह सब नक्शा इस बातको स्पष्ट कर रहा है कि भव्य जीव, अन्तरात्मा जो मोक्षमार्गी है उसके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपमिक भाव होते हैं, क्षायोपशमिक भाव दोनो किस्मके है, रही भाव है, ऐसे भी क्षायोपशमिक है और सम्यक्त्वके साथ वाले भी क्षायोपशमिक है, ऐसा वह वीचका मिश्र क्षायोपशमिक दोनो डडोको छू रहा है। और बाहरमे देखो तो औदयिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ये सब ससारी जीवके है, भव्य जीव है तो अभव्य जीव है तो। इस तरहका एक तथ्य सीधा स्पष्ट होता है। इसके लिए सूत्रमे इस इस तरहसे रुक रुककर विशेप भी वीच-बीचमे दे देकर सूत्र निर्माण हुआ है। आचार्य सन्तोके प्रत्येक अक्षरोमे बडे तथ्य और रहस्य पाये जाते है।

११९९—ज्ञानीके सतत ज्ञानरूप होनेकी महिमा—

यह ज्ञानी जीव है, इसके निरन्तर अपने आपके ज्ञानस्वरूपमे दृष्टि, प्रतीति अनुभूति, कुछ न कुछ तो सदा है, प्रतीति तो निरन्तर बनी हुई है, वहाँ वहाँ हो चित्त है। जैसे किसीका कोई वडा ही इष्ट गुजर जाय तो रात दिन उसका वही चित्त रहता है, इसी तरह ससारके जन्म मरण सकटोसे जिसका भयभीत चित्त हो गया, ससारमे रुलना भला नही, यह बडे सकटकी बात है, और साथ ही इन सकटो से छूटनेका उपाय भी दृष्टिमे आ गया, यह है मेरा सहज चैतन्यस्वरूप। इसका आश्रय करना, इससे ही छुटकारा बनेगा। ऐसे जीवको अब क्या चाहिए ? उसे निरन्तर अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी प्रतीति रहती है, ऐसे जीवके पूर्ववद्ध निज कर्मविपाकसे उपभोग आता है और आया तो कुछ तो बात बनी, चाहे क्षोभ बाहर ही लौटे। मगर उस अन्तरात्मत्वके उस भीतरी गुणके समझनेसे यह इतना प्रसन्न होकर कह रहा कि कि हे ज्ञानी जीव तुम भोगो, तुम्हे परापराधजनित वन्ध नही। परके अपराधसे,

परके कारणसे, सम्बधसे होने वाला यहा यहां बन्ध नही । यह कर्मविपाकजनित जो उपभोग आया है उसके भोगने पर भी तेरेमे परके कारण बंध नहीं है और इतना ही नहीं, तू यह भी विकल्प न कर कि कहीं इसके कारण बंध न हो जाय, ज्ञानीके दृढ निर्णय है कि जिसके बन्ध होता, उसके ज्ञानविकल्पके कारण बंध होता । अपने स्वभावसे चिगकर जो रागद्वेष परिणाममे आता हो उस परिणामका निमित्त पाकर कर्मबन्धन होता है । कहीं दूसरे पदार्थके कारण यह बंधन नही बनता । निमित्तनैमित्तिक योग दोनो ओर बराबर है, कर्मोदयका कार्य उपभोग तो मिल गया, किन्तु यह ज्ञानी उस कालमे जो अपने स्वभावमे रम रहा है उसका फल है कि उसमे बुद्धिपूर्वक वासना नहीं बन रही है । बराबर दोनो ओरसे बात चलती है । जीवके विशुद्ध परिणामोका निमित्त पाकर पूर्वबद्ध कर्म अपने आपमे निर्जरा करते हैं छूटते रहते है । कैसे छूटते उसकी भी एक नियत व्यवस्था है कि कर्मका दूर होना यह किस तरहसे हो रहा है, चल रही है सब व्यवस्था, मगर प्रत्येक द्रव्यका जिसका जो स्वभाव है, स्वरूप है वह स्वरूप वह स्वभाव किसी अन्य पदार्थके द्वारा अन्य प्रकार नहीं किया जा सकता । यह एक दृढता है इस स्वरूप दृष्टाकी । यह स्वरूपका जो निहारना मात्र बन रहा यह अनुभव बिना नही बन सकता । अनुभव किया गया है, उसके बादसे दृष्टि और प्रतीति चला करती है ।

१२००—सहज अन्तस्तत्त्वके अनुभवके प्रसादसे प्रमाणित व प्रतीत सहज स्वभावके आश्रयका प्रभाव—

भैया, सबसे अधिक प्रमाणित चीज अनुभव है, एक बार एक राजाके दरबारमे यह झगडा आया कि एक पुरुषके दो स्त्रियाँ थी बडी और छोटी । मानो उन दोनोमे से छोटीके पास एक बालक थां, बडीके कोई संतान न थी । वह मन ही मन कुडा करती थी । एक दिन उसने राज दरबारमे यह मुकदमा पेश कर दिया कि यह बालक मेरा है, मुझे मिलना चाहिए, छोटी कहे कि मेरा है, मुझे मिलना चाहिए । राजा यह बात सुनकर बडा हैरान हुआ । क्या निर्णय वह दे दे कि किसका है ? पतिकी सम्पत्तिपर दोनो ही स्त्रियोका बराबरका अधिकार था । वहाँ उस राजाको यह निर्णय देना मुश्किल पड गया कि यह बालक किसका है और किसे मिलना चाहिए । सो उस दिन राजा बोला अच्छा इसका न्याय कलके दिन होगा । अब उसी बीच राजाने अपने जल्लादोको समझा दिया कि देखो कलके दिन तुम लोग नगी तलवारे लेकर खडे हो जाना, और हम निर्णय देंगे कि इस बालकके बराबर-बराबर दो टुकडे कर दो, सो तुम उसके टुकडे तो न करना, सिर्फ टुकडे करनेका रूपक दिखाना । ठीक है । दूसरे दिन फिर हाजिर हुई वे दोनो स्त्रियाँ वहा, राजाने अपना निर्णय दिया कि पतिकी सम्पत्तिपर दोनो स्त्रियोका हक है अत उस बालकके तलवारसे बराबर बराबर दो टुकडे करके एक एक टुकडा दोनो स्त्रियोंको दे दिया जावे । तो वहाँ बडी स्त्री तो प्रसन्न दिख रही थी क्योंकि वह तो ऐसा चाहती ही थी और छोटी स्त्री दुखी होकर बोली—महाराज यह मेरा बालक बिल्कुल नहीं है । यह बालक इस बडीको ही दे दिया जावे । बस क्या था, राजाने सब बात समझ लिया कि यह बालक इस छोटी स्त्रीका ही है, क्योंकि यह जानती है कि यदि जिन्दा रहेगा तो इसे देख देखकर ही खुश रहूँगी । आखिर वह बालक उस छोटी स्त्रीको दे दिया । तो देखो यहाँ किसने निर्णय बताया ? अनुभवने । तो ऐसे अनुभवसहित ज्ञानको कहते है सम्यग्ज्ञान । और ज्ञान पहिले भी है, वचनोमे, युक्तिमे, समझमे ज्ञान वही है मगर अनुभवरहित जब तक ज्ञान है तो वह ज्ञान है । उसे जबरदस्ती कहना हो तो कहो मिथ्याज्ञान, और ढगसे बोलना हो तो कहो ज्ञान ।" तुम इस ज्ञानको मिथ्या कैसे कहते सत्र तो बतला रहे ? अच्छा, सुनो, वह ज्ञान सम्यक् कैसे है ? अनुभवसहित तो है ही नहीं,

इसी कारण बताया कि जानकर श्रद्धान करें और उस पर आचरण हो। श्रद्धा और आचरणके बीच जो ज्ञान है वह श्रद्धानका अविनाभावी है। तो यह ज्ञानी श्रद्धानी अनुभवपूर्वक अपने स्वरूपको निहारता है, देखता रहता है, उसका उपयोग इस अन्तस्तत्त्व पर है, उसके लिए कह रहे कि उस ज्ञानीके उपभोग होने पर भी निमित्तक बध नही है।

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचित किंचित्तथाप्युच्यते, भुंक्ष्वे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः। बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते, ज्ञानं सन् वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम्॥१५१॥

१२०१—कुछ भी कर्म करनेको अनुचितताका ज्ञानीको संबोधन—

प्रकरण यह चल रहा है कि ज्ञानी पुरुषके कर्मविपाकवश उपभोग भी आ जाय तो भी उपभोग निमित्तक उसके बध नही बनता। कारण यह है कि उसका उपयोग उस ज्ञानस्वरूपकी ओर है तो उसके बुद्धिपूर्वक कोई विकल्प वहाँ नही है, इस कारणसे वह बँधता नही। इस प्रकरणके चलनेके बाद कोई लोग स्वच्छद भी हो सकते सुनकर, तो उस स्वच्छदताका अपहार करनेके लिए कह रहे हैं कि हे ज्ञानी तुमको कुछ भी कर्म करना उचित नही है। कोई सा भी कर्म, कोई भी उपभोग किसी भी प्रकारका विकल्प किया जाना उचित नही है। आया था उपभोग कुछ, तो सुख दु ख रूप बात बन गई थी, इतना भी विकल्प करना उचित नही है। हाँ जब ऐसी वस्तुस्थिति है, वही एक उत्सर्गका निर्णय है कि किसी भी प्रकारका कर्म किया जाना उचित नही, कुछ सोच मत करें, कछ विचारें नहीं, कुछ बोलना नही, करना नही, भोगोपभोग कोई भी प्रकारका विकल्प करना नही। यह है एक उत्सर्गका आदेश। तो एक बात यह कह रहे हैं कि कोई ऐसा सोचता है अथवा ऐसी स्थिति बनती है कि मैं भोगता तो हूँ पर मेरा यह उपभोग कुछ नही, अथवा ये बधादिक कुछ नही, भोग रहा हूँ पर मेरे बध नही। ऐसा जो कोई कहता है तो समझो कि उसने खट्टा खाया, जिसे कहते हैं एक दुरुपयोग करना। उपभोग होता है, पर बध नही होता, ऐसे वचनको सुनकर कोई चित्तमे यह बात लाये कि मैं भी भोगता हूँ, पर उसके बध नही है तो यह भी उसने खट्टा खाया, दुर्भुक्त हुआ। एक बात। दूसरी बात यह कि खट्टा खाया, क्योकि उसके भीतर इच्छा तो पडी है भोगको और इस तरहका वह अनुभव बनाता है—मैं भोग रहा हूँ, परन्तु बन्ध नही तो कामचार जब है, इच्छा जब है तो फिर बध न हो, यह कैसे हो सकता ? इच्छा है तो बध चलेगा, इस कारण कोई भी काम करना उचित नहीं, एक ही निर्णय रखे अपने लिए कि भोग भोगना उचित नही, उपभोग रच न चाहिए। किसी प्रकार का सुख दु ख विकल्प कुछ भी न चाहिए।

१२०२—उपभोगकी ज्ञानीके दुर्भुक्तता—

अब जरा थोडा ज्ञानीकी प्रशसामे इसी बचनको ढालो। ज्ञानी जीवके उपभोग होता है, किन्तु प्रतीति, दृष्टि, अनुभूति कुछ अपने आपकी होनेके कारण कुछ हुई, कुछ हो रही है, प्रतीति निरन्तर है। तो इस कारण उसके उपभोगकृत परापराधकृत बध नही है, तो यह दुर्भुक्त याने बडा खराब भोगा गया। अच्छा भोगा गया क्या कहलाता कि भोग हो और बध हो और ससारमे रुलना हो यही तो भोगनेका एक न्याय है और इसीको ही डटकर भोग कहते हैं। जैसे इस मुद्रामें देखा जाय तो जगतमे कही भी कुछ भी अन्याय नही हो रहा। कैसे कि किसीने पाप किया, बध किया, फल इसमें भोगा गया सो भोगे, अन्याय काहेका ? किसीपर कोई कितना ही अन्याय कर रहा, पर जीवोकी नीतिपर देखो तो जो जैसा करता है सो पाता, अन्याय काहे का ? जो सता रहा है, अन्याय कर रहा

है उसका है अन्याय। अगर कोई पाप करे, व्यसन करे और उसका फल न मिले तो उसे कहो अन्याय जैसे इस ओर बात यो लगाते हैं इस तरह यहाँ भी लगावें कि ज्ञानीके उपभोग हो रहा और बध नही हो रहा तो यह कोई भोगकी नीतिका और भोगके कानूनसे बात होनी चाहिए—ससार बढे, दु खी हो, बध हो, यह हुआ नही तो वह दुर्मुक्त हो गया। कुछ अच्छा नही भोगा गया। अच्छा भोगना मायने भोगे और बध होवे, दु खी होवे वह तो है भोग भोगनेकी सही बात भोगना हुआ और बध हुआ ना ? नीतिकी बात हुई, न्याय हो गया, मगर यहाँ देखो कि ज्ञानी जीवके उपभोग हो रहा और बध नही हो रहा। यह एक ज्ञानीकी प्रशसाका अर्थ है।

१२०३—उपभोगमें इच्छा कामाचार होनेके अपराधसे बन्धन—

मतलब यह है कि उत्सर्ग बात यह है कि कुछ करना ही न चाहिए और विपाककी कुछ बात आ पडती है तो अपने आपके भीतर सम्हाल रखना कि भीतर इच्छा न जगे, उसके प्रति कामाचार न हो, अभिलाषा न बने। देख भोग भोगते हुए तेरे अदर कामचार है या नही, अगर कामचार नही है, इच्छा नही है तो कोई बध नही और इच्छा अगर है तो भी भोगनेसे बध नही अपने भीतरसे जो इच्छाकी उस अपराधसे तुझे बध हुआ है, ये बाहरी बातें है, बाहरी प्रसग हैं, उनको देखकर जैसे कह देते हैं कि यह तो बाहरी बात है, इससे बध नही होता, हाँ बिल्कुल सही बात है। बाहरी पदार्थों के कुछ भी परिणमन सम्पर्कसे बध नही होता, मगर यह भी तो देखो कि उस प्रसगमे इच्छा है या नही, मेरे विकार है कि नही। है तो बध हो रहा है। गुरुजी सुनाते थे कि एक वेदान्ती गुरु शिष्योको पढाता था तो वह रोज रोज यही कहे अपने शिष्योसे कि ब्रह्म नित्य अपरिणामी वह न खावे, न पिये न कुछ करे न कुछ भोगे। यहाँ तो यह कहे और आदत उसकी क्या थी कि एक मास वालेकी दूकानपर रसगुल्ले कुछ मिलाकर बनते थे तो वह प्रतिदिन उस दूकानमे बैठकर रसगुल्ले खाता था। तो उसे उसके शिष्योने बहुत मना किया, समझाया पर वह न माने। तो एक दिन किसी शिष्यने साहस करके उसी दूकान पर जब गुरुजी रसगुल्ला खा रहे थे, दो तीन थप्पड गुरुजीके जड दिए तो वहाँ गुरुजी बोले अरे अरे यह क्या करते ? इस मास वाली दूकानपर आप रसगुल्ले क्यो खाते ? तो गुरु बोला—अरे कौन खाता ? ब्रह्म तो खाता नहीं, वह तो अपरिणामी है, नित्य है, तो वहाँ शिष्य बोला—अरे तो आप हमारे थप्पड लगानेसे नाराज क्यो होते ? थप्पड तो शरीरमे लगे, ब्रह्ममे तो थप्पड लग ही नही सकते। वह तो अपरिणामी है, नित्य है तो वह गुरु बोला—बस बस मेरा होश ठिकाने आ गया, तुमने तो मेरी आँख खोल दी, अभी तक तो मैं बडी भूलमे था। तो मतलब यह है कि बाहरी प्रसग हैं तो तत्त्व यह कहता है कि बाहरी पदार्थके कारण बध नही होता, वह बात तो ठीक है, मगर यह भी निरखो कि हमारे विकार हैं कि नही ? अभी हमारी अरहत भगवानकी जैसी स्थिति नही है। दिव्यध्वनि खिरती है, और वह बिना इच्छाके खिरती है। प्रभु तो ज्ञान स्थित बन गया है। ज्ञानानदमय है। इच्छा है, विकार है, तो यही तो खुदका अपराध है। और इस खुदके अपराधके कारण यहाँ बध होता है।

१२०४—आत्माकी सही सम्हाल मे बन्धनका अभाव—

देख आत्मन् तू तो ज्ञानरूप रहता हुआ रह, यह ही काम तुझे सौंपा गया है मोक्षमार्ग मे। तू तो अपने को ज्ञानरूप वर्तता हुआ, उपयोग करता हुआ रह। अन्यथा देख, तेरा ही अपराध बनेगा और तेरे ही अपराधसे वहाँ निश्चित बध होगा। तो एक अपने आपको सम्हाल। बाहरकी बातका

क्या अधिक सोचना ? आया कि गया कि क्या हो रहा ? मेरा बध है, नही है, क्या है ? अरे तू एक अपने आपके आत्मा को सम्हाल । अपनेको ज्ञानरूप अनुभवकर । मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ, ऐसा उपयोग अपने भीतर लगाये और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करें।

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात् कर्मैव नो योजयेत्, कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं सस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा, कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फल परित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥

१२०५—फललिप्सा बिना कर्मका कर्ताके प्रति स्वफलकी अयुक्ति—

कर्म, उपभोग, मन वचन कायकी चेष्टायें ये सब कर्म कर्ताको बलपूर्वक अपने फलके साथ नही जोडते । देखिये दो द्रव्योंकी बात अपनेको समझनेकी है । मन, वचन, कायकी चेष्टायें हुई, कर्म हुआ, क्रिया हुई तो यह कर्म कर्ताको अपने फलके साथ जबरदस्ती नही जोडता है किन्तु यह ही जीव फलकी इच्छा करता हुआ कर्म करता है तो वह फलसे जुडता । यानि कुछ भी चेष्टा करता हुआ उसी समय फलकी अभिलाषा कर लेता है यह जीव । बस यह ही एक ऐसा निमित्त है कि वहाँ उदयमे आया हुआ द्रव्य प्रत्यय नवीन कर्मोंके आश्रवका कारण बन जाता है, बध होता है । फल न चाहो तो बध नहीं, बंधन नही । फलकी चाह है उसमे बंधन है । इसीको तो बताया है निष्काम कर्मयोग । कर्मयोग हो रहा, पर निष्काम होना चाहिए । इसमे भी कुछ लोग तो जानबूझकर कि भाई कर्म करो, उपकार करो, फल न चाहो, एक उमगके साथ उपकार करते और सोचते कि फल न चाहो । तो जो कर्मकी उमगमें आता है, जो उमगपूर्वक कर्म करता होता है उसके भीतरमें कुछ चाह पडी हुई है । चाहे और फल नही चाहा कि जैसे हमको और वैभव मिले या और बात हो तो इतना तो मनमें आया कि चलो उपकार करे, ये लोग भी समझेंगे । ये भी एहसान मानेंगे । या चलो कुछ न कुछ लोगोकी कोई बात चित्तमे आये, उमगपूर्वक कर्म किया जा रहा है तो उस प्रसगमे कुछ चाहा ही गया । निष्काम कर्मयोग तो यो होता है वस्तुत कि वह चाहता ही नही । कर्म भी करना नही चाहता । फलकी बात तो दूर जाने दो । फल भी नही चाहता, और क्रिया भी नही करना चाहता । अगर कर्मविपाकवश कोई क्रिया करनी पड रही है तो वहाँ कहलायगा वह निष्कामकर्म । फल मत चाहे और फल न चाहते हुए मे जो कुछ कर्म भी करना पडे है उसकी बात बतायी जा रही है कि वहाँ स्वापराध नही बन रहा, फल नही चाह रहा । अब कर्म कर रहे, वहाँ उमग नही, वहाँ राग नही, इस कारणसे स्वापराध न होनेसे बध नही है । भीतरमे इच्छा जगे, चाह हो, विकार हो उससे बन्धन है ।

१२०६—कामचारके बाबत आत्मनिरीक्षण—

अब यह बात तो सबकी अपनी-अपनी है । कोई वचन बोल देवे ऐसा कि मेरा मकान नही, मेरे भोग नही, मेरे शुद्धभाव है, तो ऐसा कहने भरसे तो चाहरहितपनेकी बात नही बनती । और चाह नही है तो कहते ही क्यो ? कहनेकी जरूरत क्या पड़ गई ? लोकमे गोष्ठीमे जो ऐसा कहनेकी आवश्यकता पड़ी वही एक अनुमान कराता है कि चाह है कुछ, इच्छा है कुछ । तो भीतरमे इच्छा हुई, विकार हुआ तो तत्क्षत बन्ध होता है । इन सभी बातोमे नियमहै, जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाप बताये गए ना—तो पापमे दो बातें तो बतायी गई ना ? भीतरका भाव और ऊपरकी क्रिया । जो क्रिया है वह क्रिया है । उस क्रियामे आश्रव बन्ध नही, मगर यह तो देखो कि ऐसी क्रिया करता हुआ कोई पुरुष इच्छा बिना कर रहा क्या ? इच्छासे कर रहा । विकारभाव सहित कर रहा, इसलिये वहाँ बन्ध है । तो यह बहुत-बहुत अपनेमे निरखना चाहिये कि मैं अपने ज्ञानस्वरूपमे प्रतिष्ठित

रह पाता हूँ या नहीं ।

१२०७—सहजस्वभावगुणकी दृष्टिमें लाभ—

भैया गुण देखे तो सहज स्वभावका देखें । पर्यायमे इस समय गुणदृष्टि करके संतोष करनेकी आदत न बनावें । हाँ स्वभावमें, सहज स्वभावमे उस गुणको निरखकर, उस अविकार रूपको निरखकर संतोष करनेकी तो बात ठीक है, मगर पर्यायमे थोडे गुण प्रकट हो गए, साथ ही दोष भी लगे हैं । अब जो कुछ थोडेसे गुण प्रकट होते हैं उनको निरखकर सतोष करनेकी आदत रहेगी तो अहकार और अटकाव ये सारे दोष वहाँ आ जाते हैं । वहाँ तो तुम अपने दोष निरखो पर्यायमे, परिणतिमे । तुम्हारेमे यह कमी है तो उससे उस दोषोको हटानेके लिये एक भावना तो बनेगी । उसका अन्तर्व्यापार तो बनेगा । तो पर्यायको निरखें तो दोष निरखें अपने कि हमारे दोष रह गया, यह दूर करें, और थोडे बहुत गुण अगर दिखें पर्यायमे होने वाली छद्मस्य अवस्थामे तो अहकार बनेगा । देखो उसी बुनियाद पर ही तो प्रत्येक पुरुष अपने आपको सबसे अधिक ज्ञानी भीतरमे मानता हुआ बैठा है । जिस पर्यायमे जो गुण-विकास हुआ है उसपर नजर है, उसका अपनेमे एक बडा अनुभव सा करता है, मैंने सब कुछ जाना, तो पर्यायमे छोटे मोटे थोडे होने वाले विकाससे सतोष करनेकी बात ठीक नही । गुण देखना है तो उस परिपूर्ण स्वभावको देखो, अविकार स्वरूपको देखो, उससे तो लाभ मिलेगा, स्वभावाश्रयसे लाभ मिलेगा, और जो थोडे बहुत गुण प्रकट हुए हैं उनका आश्रय करनेसे लाभ नही मिलता । अच्छा तो क्या दोषोके आश्रयसे लाभ मिलता है ? दोषोके आश्रयसे भी लाभ नही मिलता, मगर दोषोंके निरखनेसे अहकार न जगेगा और उनको दूर करनेका मनमे भाव होगा । और दोषोको दूर करनेका उपाय है स्वभावाश्रय यदि स्वभावाश्रयकी ओर बढेगा तो अवशिष्ट दोष भी दूर होगा । अपनेमे जो छोटा गुण प्रकट हुआ है उसको निरखकर मैं गुणी हूँ, मेरे यह प्रकट हुआ है तो अहकार बनेगा ।

१२०८—दोषोंको निरख निरखकर धुननेका कर्तव्य—

अहकारमे रागमे चूकि स्वभावाश्रयके लायक भूमिका न बन पायेगी इसलिए बताया है कि इन दोषो को निरख निरखकर ऐसा यत्न करना चाहिए, ऐसे दूर करना चाहिए जैसे रूईका धुनिया एक-एक पूनीको निरख निरखकर उसको छोटे-छोटे हिस्सोमे, तातोमे लाकर ऐसा धुनता है कि उसका जरा सा भी हिस्सा धुने बिना नही रहता । ऐसा आचार्योने दृष्टान्त दिया है, उस तरहसे अपने दोषो को निरख निरखकर धुनना चाहिए । थोडी बहुत जो रुई धुनी है उसपर धुनियाकी अधिक निगाह नही पहुचती, किन्तु जो नही धुनी, एक ऐसा कोई हिस्सा देखता है तो उसपर झट उसकी निगाह पहुचती है, क्योकि उसको धुनकर वह साफ करता है । तो अपनेमे गुण देखे तो सहज गुण देखें । सहज स्वरूप दिखे जो प्रत्येक जीवमे समान है । और भीतर मे पर्यायकी बात देखना हो तो विनाश करने के ध्येयसे उन दोषोको निरखना चाहिए । ये तो दोष हैं, फल की चाह करके नही, कर्मकी चाह करके नहीं । और लोग तो बस निष्काम कर्ममे निष्कामके इस अर्थपर बल देते हैं कि फल नही चाहते । कर्ममें बल नही दिया कि कर्म भी न चाहिए । मगर मोक्ष मार्गमे यह बताया गया है कि फल भी न चाहो और क्रिया भी न चाहो । और, ऐसी स्थितिमे फिर क्रिया हो, भोग हो, उपभोग हो, तो वह है निष्काम कर्म यहाँ तुम अपनेमे ज्ञानरूप ही बस करके रहो ।

१२०९—फललिप्सासे ही कर्मफलप्राप्ति—

यहाँ कह रहे हैं कि ये कर्म कर्ताको जबरदस्ती फलसे नही जोड देते, ये ही स्वय फल चाहते हैं

सो ये फलको प्राप्त करते हैं। जैसे फल चाहता हुआ कोई राजाकी सेवा करे तो राजा उसे फल देता, फल न चाहे तो फिर राजाकी सेवा ही क्योंकी जाय ? और, कोई ऐसी बात भी हो सकती किसीमे कि फल भी न चाहे किंतु राजसम्पर्क है तो फलकी चाह और क्रिया करनेकी चाह ये बधन मे बाँधते हैं। तो अपने को किस रूप रहना ? ज्ञानरूप रहना, सारी राग रचनाको दूर करना है; ऐसा अपने आपको ढालना है। देखो प्रति समय परिणतियाँ होती रहती हैं, हो ही रही हैं, बस प्रयोग करनेको परीक्षा करनेको सब स्थितियाँ पड़ी है। उन परिणतियोमे राग न होना, उन परिणतियोको जानना कि यह कर्मविपाकवश प्रतिफलन हो गया है, और यहाँ जीवमे वैसा ज्ञान बना करके, परलक्ष्य करके मैं अपने आपको विभावी बना रहा हूँ, हो रहा है ऐसा, मगर मेरा स्वरूप तो एक सहज ज्ञानमात्र है। उसमे ही बसना यह ही उसका कौशल है। ज्ञानरूप रहे, समस्त राग रचनाओको दूर करे तो कर्मोंसे बँधेगा नही। देखिये लाभ पानेके लिए हर एक स्थिति काम दे देगी।

१२१०—ज्ञानीकी विभावपर भावोसे दो टूक वार्ता—

देखिये—मातायें अपने बच्चेको गोद मे खिलाती हैं। तो गोदमे खिलाते हुए ऐसा भी भाव बनता है कि यह मेरा बच्चा कितना सुहावना है। इसके कारण मेरा कितना महत्त्व है। मैं भरी पूरी हूँ…। यह भी ममताका भाव बनता है। और क्या ऐसा भाव नही बनाया जा सकता कि उस बच्चेको सामने रखकर यह सोच कि यह जीव पुद्गलका पिण्डरूप एक यह पर्याय है, इसके साथ इसके कर्मोदयके अनुसार इसकी सासारिक व्यवस्था चल रही है, यह जीव भिन्न है। यह मेरा कुछ नही है। यह मैं स्वतन्त्र सत् हूँ, इस तरहकी तत्त्वभावना क्या बोली नही जा सकती है ? लो उस प्रसग मे भी हमने अपने कल्याणरूपकी बात पायी। अच्छा और भीतर देखो, परिणितियाँ निरन्तर हो रही, मानो यह मेरी गोदमे नित्य ठहरा हुआ है। ज्ञानी जीव उन परिणतियोको निरखकर ऐसा चिन्तन रखता है कि वाह इससे मेरा बड़ा महत्त्व है, यह ही तो मैं हूँ। एकमेक होकर सोच रहा। वहाँ परिणतिके सामने देखे और सोचे, इतना भी भेद नही, किन्तु एक परिणतिमे तन्मय होकर उस रूप अनुभव कर रहा है कि बस यह ही मैं महान हूँ, खास हूँ सुखी हूँ, यो अनेक कल्पनाये बनाता है। तो ज्ञानी उन परिणतियोको सामने निरखकर क्योंकि उसने स्वभाव और वैभाविक प्रज्ञाके बलसे भेद किया है तो अब वह विभावपरिणतियोसे याने दूसरोसे बात कर रहा है इस तरहसे चिन्तन कर सकता। अज्ञानी यो चिन्तन नही कर सकता उन पर्यायोके प्रति, शरीरादिकके प्रति कि जैसे मानो यह दूसरा है और हम बात करे यो भेद नही कर पाता। वह तो एक रूप होकर ही व्यवहार करता है, पर ज्ञानी जीव उसे दूसरा कायम करके बात करता है। यह परिणति, यह परभाव जो मेरे स्वरूपमे नही बसा, यह निबद्ध हुआ। मेरी बरबादीके लिए आया परभाव है। इससे मेरा क्या नाता ? यह मेरा स्वरूप नही, मैं इस रूप न बहूँगा। मैं तो अपने स्वभावरूप रहूँगा। ज्ञानी इस तरहका चिन्तन करता।

१२११—कर्मफल परित्यागशील आत्मानन्दानुभवीके कर्मफललिप्साकी असंभवता—

ज्ञानरूप हो रहा है ज्ञानी। उसने रागरचनाको दूर कर दिया है। हो रहा है कुछ राग कही, मगर प्रतीतिमे उसके राग रचना नही है। ऐसा पुरुष कर्मसे नही बधता कर्मको करता हुआ भी कर्मको कर नही रहा है। यह लौकिक भाषामे कहा जा रहा है। कर्मको करे और बँधे नही, यह बात न होगी, मगर लौकिक भाषामे समझाया जा रहा है, लौकिकजनोको ही तो समझाना है कि यह ज्ञानी कर्मको करता हुआ भी कर्मसे नही बँधता। क्यो नही बँधता ? तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः। यह मुनि, यह

सत, यह ज्ञानी कर्मफलके परित्यागका स्वभाव रख रहा है याने स्वभावत निसर्गत कर्मफलकी बात इसमे आती नही, जुडती नही, उसकी ओर चाह ही नही, जिसने अपने सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव करके आनन्द पाया, ऐसे अनुपम आनन्दका अनुभव कर चुकने वाले ज्ञानीके इन बाहरी सासारिक फलोकी क्या चाह हो सकती है ? क्योकि ज्ञानी पूरी तरहसे पोल समझ चुका सासारिक सुखो की ; और अपने आपमे जो एक सहज चैतन्यस्वरूप हैं उस रूप अपने आपको माननेका अनुभव कर चुका है। ऐसी परिस्थितिमे जो अनुपम आनन्द जगा है वह उस ही आनन्दके लिए इच्छुक है, वह कर्मफल न चाहेगा। कर्मफल मायने सुख दुख, कर्मफल चेष्टायें इनकी ओरसे वह विरक्त रहता है, और अपने आपके स्वभावकी ओर उन्मुख रहता है। स्वभाव सहज भाव चिन्तन करते-करते ध्यानमें आयगा।

१२१२—सहज आत्मस्वभावसे आत्मत्व माननेका फल—

सहज भाव क्या कहलाता ? अपने आप निरपेक्ष स्वय ही होने वाली जो बातें है स्वरूप सर्व उसमे यह अनुभव करना कि यह मैं हूँ बहुत सीधी सुगम बात लोग अनुभव करते ना इस शरीरमे कि मैं फलाने चद हूँ, फलाने लाल हूँ, फलाने प्रसाद हूँ, मैं अमुक व्यापारी हूँ, अमुकका पति हूँ, अमुककी पत्नी हूँ अमुकका भाई हूँ, मैं इतने कुटुम्ब वाला हूँ, मैं ऐसे रोजगार वाला हूँ, कारखाने वाला हूँ ' यो कितने ही प्रकारसे मैं का अनुभव चल रहा है। बस उस मैं की ही बात कही जा रही है, कि इस तरहसे उस मैं का अनुभव न चले और ऐसी प्रतीति चले कि मैं तो एक सहज चित्प्रकाश मात्र हूँ। जैसा स्वरूप सबका वही मैं हूँ। देखिये इस विचारमें कितने ही ऐब दूर हो जाते हैं। जैसे सब वैसा मैं। निरखते जावो उस चित्प्रकाश रूप अपने आपका श्रद्धान बन जाय कि मैं तो हूँ यह। बस उसका बेडा पार है। वह ससारसे नियमसे छूटेगा। उसके सारे जन्म मरणके सकट दूर होंगे। अब वह अधिक समय तक ससारमे न रहेगा जिसने अपने आपके सही सत्य सहज स्वरूपको यह अनुभव कर लिया कि मैं तो यह हूँ, बस उसकी ये सारी बाते अपने आप आती हैं कि वह कर्मफलको रच भी न चाहेगा और उसका फिर ससारमे बधन नही।

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं, किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्। तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो, ज्ञानी किं कुरुतेऽथ कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयम् ॥१५३॥

१२१३—कर्मफलके चाहकी विपत्तिसे ज्ञानीकी विविक्तता—

इस लोकमे इस जीवको विपत्ति है तो एक कर्मफल चाहनेकी है। इच्छा और कर्मफल—ऐसे मिलें, ऐसा सुख हो, इन्द्र होऊँ, राजा बनूँ, इत्यादि जो इच्छा आकाक्षा है वह ही इस जीवपर विपत्ति है। सम्यग्दृष्टिमे और कौन सी कला उत्पन्न होती है जिससे कि वह सदा निर्व्यग्र रहता है। नरकका नारकी भी हो तो भी वह अन्त निर्व्यग्र रहता है। मारधारमे लगा है, पिट रहा है फिर भी अन्दर देखो तो एक निर्व्यग्रता है ? क्यो है ? उसको अपने सहज आनन्दधामका परिचय हो गया है। कौन है सहज आनन्द धाम ? यह मेरा निरपेक्ष सहज चित्प्रकाश मात्र यह स्वरूप। उसका परिचय होनेसे उसको विश्राम रहता, आराम रहता। जैसे बालक को पता है कि यह मेरा घर है, यहाँ वहाँ खेलता है, किसीने पीटा, कुछ किया, आखिर एकदम जब देखा कि आकुलता हो गयी, तकलीफ हो रही तो झट घर आ जाता। अपनी तकलीफ को दूर कर लेता, तो ऐसे ही वह उपयोग विपाकवश यहाँ वहाँ कुछ थोडा बहुत गया भी, कही लगा तो वह देर तक बाहर नही लगता और कुछ व्यग्रसा होता, कुछ क्षोभ सा होता। तो उसकी निवृत्तिके लिए वह अपने घर आ जाता है। ऐसी प्रकृति है ज्ञानी सम्यग्-

दृष्टि जीवकी, जिसने यह समझ लिया कि मेरा आनन्द, मेरा महत्व, मेरा ज्ञान, मेरा कल्याण सब कुछ मेरे स्वरूपमे है मेरे स्वरूपसे बाहर मेरा कुछ नही। किसी भी चीजकी आशा, आश्रय, आकाक्षा ये सब इस जीवके क्षोभके ही कारण होते हैं, शान्तिके कारण नही। क्षोभ भी होता है किसी ज्ञानीके, मोहसे रहित ही तो होता है अविरत सम्यग्दृष्टि आदि कुछ गुण स्थानो तक वीतराग चारित्रसे पहले वह मोहरहित ही तो होता है, क्षोभरहित नही होता। क्षोभरहित होता है सम्यक्चारित्र की पूर्तिमे। तो न हो क्षोभरहित मगर उसका क्षोभ ऊपर ऊपर लोटने वाला होता है, भीतर बसा हुआ नही है, उसका कारण क्या है ? बस सहज आनन्दधामका परिचय। कही लुट पिट गया तो झट अपने धाममे आ गया, बस उसका एक ही निर्णय है, कही कुछ रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्साकी बात आये तो झट थोडी देरमे ही प्रतीति है, अभ्यास है ज्ञानीका, अन्त सहज ज्ञान स्वरूपकी ओर अभिमुख होता।

१२१४—सहज आनन्दके अनुभवके पौरुष का महत्व—

भैया एक बार प्रयत्न करके, पौरुष करके एक क्षण ऐसा तो प्राप्तकर लेना चाहिए कि जहा सहज आनन्दका अनुभव बने, याने ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ज्ञेय हो, सहज ज्ञानस्वरूप ही जहाँ ज्ञेय बने तो वहाँ विकल्प नही दौडता। ऐसी स्थितिमे स्वय ही सहज एक आल्हादका अनुभव होता है, वह चीज प्राप्त हुई तो ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मेरा सब कुछ यह है, इसे नही मिटाता, इसमे बाधा नही डालता, और बाकी सारी बाते जैसी हो सो हो, छिदेभिदे, जो बात बनती हो बने, पर पदार्थमे बने, किन्तु मेरी यह प्रतीति न मिटे बस एक ही आग्रह बन जाता है इस ज्ञानी जीवका। सब कुछ सह्य है, मगर अपने आपकी प्रतीति मिट जाय तो इसका बडा खोटा फल होता। वह सह्य नही इसको करणानुयोग मे बताया है कि किसी जीवको एक बार सम्यक्त्वका लाभ हुआ और इतना ही क्यो, मुनि भी बना और उपशम श्रेणीमे भी चढा और ११ वे गुणस्थानपर पहुचकर वीतराग भी हो गया और उसके बाद कषायका उदय आता है और गिरता है, और गिर गिरकर मिथ्यात्वमे आ गया तो उस मिथ्यात्वमें कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन तक घूमे और बादमे फिर सम्यक्त्व जगे और फिर मोक्ष जाय। एक बार वीतराग दशा हो जाने पर भी, उपशान्तमोह हो जानेपर भी, वीतराग छद्मस्थ हो जानेपर भी कहो प्रमाद बने, अपनी सम्हालमे नही आये तो ऐसी स्थिति हो जाती है। इतना ऊँचा पहुचने पर भी जहाँ इतना खतरा आ गया, भला हम आप लोग कौन सी बडी चीज है। हम आप लोगोको तो बडी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है और उस सहज स्वरूपका अनुभव करनेके लिये प्राण तकभी न्योछावर हो तो कुछ भी नही गया, उसने सब कुछ पाया। अपने भीतर पक्ष हठ कोई चीज या रागद्वेष भाव सुख आराम ये सारे त्यागे जाते जाते हो और दृश्य सर्वस्व त्याग होने पर अगर एक अनुभूति की दिशा मिलती है तो उसका गया कुछ नही, उसने सर्वस्व पाया।

१२१५—दुर्लभ नरजीवनमे सहजानन्दमय सहजज्ञानके लाभका अनुरोध—

भैया एक बार मनुष्य भवमे सहजानन्दमय सहज ज्ञानकी प्राप्ति तो करना चाहिए, क्योकि इसके बिना अब तक ससारमे भ्रमण करते करते चारो गतियोमे खोटी योनियोमे सब जगह भ्रमण करते करते यह जीव अब तक कष्टमे ही तो रहा। इसने क्या आनन्द पाया ? राजा भी हुआ, बड़ा धनी हुआ, शासन वाला हुआ, देव भी बना, पर आखिर इसकी बात रही क्या। एक बार तो ससारकी जड मेटनेका पौरुष करलो। अधिक से अधिक यह ही तो बात होती है हर एक भवमे मेरा नाम, मेरी ख्याति, मेरी प्रसिद्धि, मेरा यश मेरा परिवार, मेरा अमुक बने, ऐसे ही सोच लीजिए कि मानो

हम आज इस मनुष्य पर्यायमे न होते और किसी पर्यायमें होते, क्या हुए न थे, तो उस पर्यायमे रहते हुये मेरे लिए यहाँका दिखने वाला समागम क्या चीज थी ? यह दृश्य कुछ ज्ञानमे रहता क्या ? उपयोगमे रहता क्या ? यहाँ मूढना न करे तो क्या बिगाड होता है ? जैसे और भव गुजर गये वैसे ही यह भी गुजर जाने वाला है। अगर एक भवमे एक मूल बात पा ली जाय, अपने सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव बन जाय तो उसने सब पा लिया। और एक यह आत्माके इस सत्य आनन्दका परिचय नही होता तो जैसे अनन्त भव बीते वैसे ही एक यह भव भी बीतेगा, हाथ कुछ न आयगा। परिश्रम तो किया जायगा बहुत, अपने आपमे उधेड बुन तो सारी जिन्दगी कर ली जाएगी, पर फल रहेगा जीरो (०)। तो भाई ऐसा दुर्लभ नर जन्म पाया, जैन शासन पाया, बुद्धि पाई, तत्त्व विचारका हम सबमे सामर्थ्य हुआ तो यह सब होनेपर इसको सफल बननेका भी कुछ सोचें। अपनी एक यह प्रकृति बने कि हम कर्म करते, कर्म हो गये, मगर उस कर्मके फलको न चाहें, इसके एवजमे मुझको ऐसा मिले, मुझको ऐसा बने, ऐसा कर्मफल नही चाहना।

१२१६—कर्मफलपरित्यागशील ज्ञानी संतकी अद्भुत अन्तर्दशा—

जिसने फलका परित्याग किया, वह कर्म करता है, यह ही हम विश्वासमे नही ले पाते, क्योंकि फलकी बात जिन्होने तज दी उनकी कर्ममे आशक्ति कभी नही हो सकती। कर्ममे आशक्त वह ही होता है जो उससे कोई फलकी आशा रखता है। तो जिन ज्ञानी जनोने फलका त्याग कर दिया वे कर्म करते हैं इति न प्रतीम विश्वास नही आ रहा कि वे कर्म करते हैं फिर भी इस ज्ञानी जीवके किसी कारण कुछ भी कर्म विवश होकर आये, योग ऐसा बने कर्म करना पडे, तो ऐसी स्थितिमे यदि कर्म उसपर आ पडे तो वे ज्ञानीजन क्या करते है, क्या नही करते है। इसकी व्याख्या करनेका अधिकार मिथ्यादृष्टियोको नही, वे पार नही पा सकते। अकम्प परम ज्ञानस्वभावमे ठहर रहा वह ज्ञानी। वहाँ दृष्टि है, अपने आपके स्वभावमे, यह मैं हू, इस प्रकारका अनुभव करनेकी उसकी आकाक्षा रहती है। एक ही निर्णय हैं। उसका निर्णय बदलता नही, अचलित है। बस कल्याणमय है यह स्वभाव। आराम है वास्तविक तो इस ज्ञानस्वभावके आश्रयमे है। ऐसे निर्मल ज्ञानस्वभावमे ठहरा हुआ ज्ञानी क्या करता है, क्या नही करता है। इसको कोई दूसरा क्या जाने ? याने जिन्होने अनुभव नही किया सो क्या जानें ? यह तो बात ज्ञानीकी है, मगर लोकमे कहते हैं ना कि "जाकी फटी न पैर बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई ?" एक ही नही, ऐसी-ऐसी अनेक कहावते हैं। जिनको खुदका अनुभव नही बनता वह दूसरोका अनुमान क्या कर पायेगा ? ज्ञानी ज्ञानीकी अन्तवृत्तिका अनुमान कर सकता है कि वह क्या किया करता है अपने अन्तरमे ? इसे ज्ञानी ही जान सकता, अज्ञानी नही।

१२१७—अपनी-अपनी सम्हालका प्रताप—

ज्ञानीकी वृत्ति जानने और न जाननेसे भी क्या ? अपनी-अपनी सम्हालो, अपनी-अपनी सम्हालोगे तो सबकी सम्हाल हो सकती, और कोई अपनी तो सम्हाल न करे, दूसरोंके सम्हालकी बात सोचे तो उनमेसे कोई नही सम्हल सकता। अपनी अपनी सम्हाले कोई दो चार लोग भी तो कमसे कम सम्हालने वालोकी गिनती तो बनी। और अगर सभी लोग यही यही सोच लें कि एक हम न सम्हले तो क्या हुआ, हम तो दूसरोकी सम्हाल करते, तो इस तरहसे सम्हलने वालोकी कुछ गिनती भी न आ सकेगी। यदि अपने आप पर करुणा उपजी हो तो उसका एक कर्तव्य है कि वह अपने आत्माकी सम्हाल करे। सम्हालनेके मायने सहज निरपेक्ष स्वय अपने आप अपनेमे जो भाव है पारिणामिक भाव,

जो अपना वास्तविक तथ्य है उस रूप अपनेमें अपनेको मान लेना कि मैं यह हूँ, उसके सारे काम सिद्ध होंगे, मायने सब समृद्धियाँ बन पायेगी, आत्मवैभवके सारे दृश्य इसके ऊपर गुजरेंगे, एक ही बात बनाना है, ध्येय एक ही है। अब देखिये—इस ध्येयमे कही विवाद नही, इस ध्येयमे कोई उलझनकी बात नही और इस ध्येयकी पूर्ति होती है शुद्धनयके प्रयोगके बाद। वहाँ वह शुद्धनय ऐसे इस अनुभवके नजदीक है कि वचनात्मक शुद्धनय हो तो नयको स्थान मिलता है और ज्ञानात्मक शुद्धनयका प्रयोग हो तो वह अनुभव का स्थान ले लेता है। इतना निकट है शुद्धनयमे। पर उस शुद्धनय पर पहुचनेके लिये प्राथमिक और उपाय भी नयात्मक विविध है। किसी भी प्रकार हो, विभावसे उपेक्षा हो और स्वभाव की ओर उपयोग बने, बस यह ही काम करनेका है। तो जिस घरमे किसी परिवारमे सबका एक भाव रहता है कि घर बने, आमदनी बढे ... सब लोग एक ही बात सोचते है और काम करते है लोग भिन्न-भिन्न प्रकारके। महिलाये अपना घरका काम करती, पुरुष लोग अपने अपने काम करते। घरमे जितने लोग है वे सब भिन्न-भिन्न प्रकारके काम करते, पर सबका लक्ष्य एक होनेसे उन सबका एक बडा अच्छा आवास रहता है। तो ऐसे ही ज्ञानीके विकल्प नाना प्रकारके हैं, असख्याते विकल्प हैं सोचनेके, चिन्तनके, मननके, चर्चाके, मगर सभी ज्ञानियोका लक्ष्य मात्र एक ही है कि अपने सहज ज्ञान प्रकाशमे यह मै हूँ, ऐसा परिचय बने, अनुभव बने, इसके सिवाय लोकमे मेरा कुछ भी शरण नही है।

१२१८—स्वरूपानुभव होनेपर अन्तस्तत्त्वप्रापक कलावोकी सुगमता—

जिन्होने कर्मके फलका परित्याग किया उनमे सब कलाये आ जाती हैं। जिन्होने स्वरूपका परिचय पाया उनमे ये सब कलाये आ जाती है जिनके बलसे शुद्धनय प्राप्त होता है, सीखनी नही पड़ती। जिसके प्रतिभा जगी है उसको सब समाधान है, जिसके यह प्रतिभा नही जगी उसको समाधान नही मिलता, अन्धकार रहता तो वह चिन्तामे किंकर्तव्यविमूढ सा बना रहता है। बताये बताये, सिखाये सिखाये किसीपर पार पाया जा सकता है क्या ? खुदकी जागृति, खुदका अनुभव, खुदका समाधान, खुदका आराम, खुदके स्वरूपकी दृष्टि, इनके होनेके लिए सिखाने बोलने चालने आदिकी आवश्यकता नही होती। मूल बात है अपने स्वभावका परिचय। गुरुजी एक घटना बताते थे इसी बुन्देलखण्ड की। शायद राजा छत्रसालके सम्बन्धमे वह बात थी। बताया कि उनके पिता गुजर गए तो राज्यका सारा अधिकार एजेण्ट लोगोके हाथमे आ गया। जब वह बालक छत्रसाल बड़ा हुआ तो उसकी माता (राजमाता) ने साहब को दरख्वास्त दे दिया कि हमारा बालक अब बालिग हो गया है, कामकाज सम्हालने लायक हो गया है सो उसे राज्य दे दिया जाय, तो साहबने उत्तर दिया कि ठीक है, पहले उस बालक की बुद्धिमानी की परीक्षा होगी, यदि वह परीक्षामे उत्तीर्ण हुआ तो उसे अवश्य ही राज्य दे दिया जायगा। परीक्षाका दिन निश्चित कर दिया। उधर राजमाताने अपने बालकको दसो बाते समझा दिया, बेटा यदि बादशाह यो पूछे तो यो उत्तर देना, यो पूछे तो यो उत्तर देना, वहाँ उस बालकने कहा—और यदि इन दसो बातोमेसे कोई भी बात न पूछा, कोई अन्य ही बात पूछा तो क्या उत्तर देंगे ? तो बालकका यह तर्कणापूर्ण प्रश्न सुनकर राजमाता अत्यन्त प्रसन्न हुई और बोली—बेटे अब मैं समझ गई कि तुम जरूर साहबको सही उत्तर देकर आवोगे, क्योकि तुम्हारे अन्दर प्रतिभा है, तर्कणाशक्ति है। आखिर हुआ क्या कि जब वह बालक साहबके सम्मुख परीक्षा देने पहुचा तो वहाँ साहब ने पूछा तो कुछ नही, सिर्फ उसके दोनो हाथ जोरसे पकड लिया और कहा—बोलो बेटे अब तुम क्या कर सकते, क्योंकि हमने तुम्हारे दोनो हाथ जकड़ रखे है ? तुम पराधीन हो गये तो बालक

बोला--महाराज अब तो मेरा सारा काम बन गया। क्योंकि आप अब मेरे अधीन हो चुके। अरे कैसे ?" देखो विवाहमें भाँवर पडते समय लडका लडकीका एक हाथ पकड लेता तो उसे उसकी जीवन भर रक्षा करनी पडती, आपने तो मेरे दोनो ही हाथ पकड लिए, अब तो मैं सदाके लिए रक्षित हो गया। बस, साहबने ऐसा प्रतिभापूर्ण उत्तर सुनकर उसे राज्य दे दिया। तो जिसे अपने अन्तस्तत्त्वका अनुभव हुआ है उसके लिए सारा समाधान सही है। चाहे न अधिक जानने हो, न ही अधिक पढे लिखे हों तो कुछ भी बात नही है मगर अनुभव ऐसी वस्तु है कि अनुभवके पानेके बाद अपनी तोतली भाषामे किसी भी बातमे वह बात कह सकता है। सब अनुभवके अनुरूप जितना बोला जा सकता है बोलेगा, तो अपना प्रभाव, अपना विकास, अपनी उन्नति मात्र अपने सहज स्वभावके आश्रय मे है। दूसरी कोई बात ही नही है। ज्ञानी करता भी है सब बात, मगर बार बार उन सब कार्योंसे लौट-लौटकर अपने आपके स्वभावके आश्रयका पौरुष करता है।

१२१९—सहज स्वभावकी भक्तिका एक प्रयोग—

भैया, एक बार तो सहज स्वभावकी भक्तिमे सर्व जीवोमे वही स्वभाव परखकर एक समान सबके प्रति उस स्वभाव भक्तिका भाव जगना चाहिये। है स्वरूप सबमे वही। तो जिसको जिसकी धुन लगी है उसे प्रथम वही दीखता है। जिसको उस स्वभावका परिचय हुआ है, उसका दृढ अभ्यास बनाया है उस जीवको प्रथम वह दिखेगा। वही स्वरूप स्वभाव और बादमे फिर अटपट उस ढगमे निरखेगा कि हो क्या रहा है ? यह सहज परमात्मा भगवान यह कीडा कैसे बन गया है यह सहज अंतस्तत्त्व यह पेडके रूपमे इस तरह है। बादमे अटपट बातोकी चर्चा होगी, मगर सर्वप्रथम उसे स्वभाव ही इष्ट होता है। तो एक बार सर्व जीवोके प्रति अपने उपयोगमे, अपने ज्ञानसे ऐसी समतामे आइयेगा कि जहाँ किसी भी एक जीवके प्रति विकल्प न हो, भेद न आये और एकेन्द्रिय, निगोदसे लेकर सिद्ध-पर्यन्त समस्त ससारी जीव और मुक्त जीवमे उस जैसे दृष्टिको निहारकर एक बार अतस्तत्त्वके उद्यान मे विहार तो हो जाय, यह काम देगा। यह वैभव या लोककी और और बातें ये कुछ काम नही देते। बल्कि ये विकल्पके साधन बनते है आश्रयभूत होकर।

१२२०—सर्व स्थितियोमे स्वभावाश्रयका अभियान—

भैया, अभ्यास बनायें अपने आत्मस्वरूपके निरखनेका। व्याख्यान दे तो वहाँ भी यही निरखना, व्याख्यान सुनें तो वहाँ भी यही निगाह रखना, प्रत्येक बातमे इस ही आत्मस्वभावका आश्रय हो। कोई भी उपदेश हो, कोई भी चर्चा हो, सबमे अर्थ इस अभिमुखताके साथ चले जिससे कि स्वभावका परिचय और आश्रय बनता हो। चाहे उल्टी ही बात कही जा रही हो, पापकी बात कही जा रही हो, व्यसनकी बात कही जा रही हो, यह नरक गया, इसने ऐसा व्यसन किया, तत्काल नजर आना चाहिए कि ये ही विभाव हैं इस अतस्तत्त्व भगवानके अनुभवके बाधक। इन विभावोसे हटें, ऐसे पापोसे हटें, उनके विकल्पसे दूर हो तो वहाँ ऐसी पवित्र भूमिका बनती है कि यह स्वभावाश्रय करनेका पात्र बनता है। आगममे सभी तरहके उपदेश हैं और सभी उपदेशोसे यह शिक्षा लेना है कि किस प्रकार हम इस जानकारीसे अपने सहजस्वभावकी ओर आते हैं। जिनको यह निरपेक्ष आनन्द मिला, स्वतत्र, स्वाधीन निरन्तराय, जिसमे परका प्रवेश नही, अपने आपमे ही अपने आपके स्वयके आश्रयसे इतना सुगम यह और सहज परम आनन्द जब अनुभवमे हुआ तो ऐसा अनुभव अमृत पाकर विषय विष रसको पीनेकी कौन वाञ्छा करेगा ? ऐसा अपना ज्ञानामृतका पान करके, उसका अलौकिक आनन्द लूट करके फिर

बाहरी इन्द्रिय मनके विषय साधनोमे कौन आशक्ति करेगा ?

१२२१—कर्मफलवाह त्याग कर सर्व स्थितियोंमे कर्मसे उपेक्षा करके अन्तस्तत्त्वको निरखनेका अनुरोध—

इस छदमे, इस कलशमे सर्वप्रथम यह बात बताया है कि जिसने फलका त्याग किया उसके भाव कैसे होते हैं ? मानो भाषण दे रहे, प्रवचन कर रहे, उस प्रवचनके बीच यद्यपि प्रवचनकी स्थिति ऐसी है कि थोडा श्रोताओकी ओर भी देखना होता, किसीसे कहा तो जा रहा, मगर मात्र वही दृष्टि हो तो वहा फलकी चाह कुछ न कुछ पैदा हो जाती है। ये ठीक-ठीक समझें, ये हमारी ओर ध्यान दें, ये हमारी ओर मुख करें, एक व्यक्तिगत भी स्थिति बन जाती है। इनको देखकर खास बोलना,"'यो कितने ही विकल्प उत्पन्न होते हैं तो प्रवचनमे एक यह भी बात आती है। मगर, प्रवचन धर्मोपदेश है, स्वाध्यायका एक भेद है। स्वाध्याय उसे कहते है जिसमे स्वका अध्ययन हो। यह तो और भी अच्छा मौका मिला कि प्रवचनके बहाने, श्रोताओको सम्बोधनेके बहाने अपने आपको सुनाते जायें, अपने आपपर घटित करते जायें और उस आनन्दकी वह छाया लेते जाये। सब जगह फलका त्याग करना और सर्व बातोका, सर्व उपदेशोका एक उद्देश्य, एक लक्ष्य यह ही लें कि अपने आपके आत्मस्वभावका आश्रय करनेके लिए इससे हमको क्या प्रेरणा मिलती है ? तो इस तरह हमारी वृत्ति अपनी ओर हो, अनुभव बने, ऐसा जिसने अनुभव पाया वह ज्ञानी पुरुष अपने अकम्प परम ज्ञानस्वभावमे ठहरा हुआ हो, कर्म आ पडें तो उनकी निवृत्तिके लिए वह क्या कर रहा, क्या नही कर रहा, उसको अन्य कौन जानता है ? मूल बात यह है कि अपना यह निर्णय बनावे कि जगतमे सार कही कुछ नही है। सार है तो अपने विशुद्ध निरपेक्षस्वरूप चित्प्रकाशमे। यहाँ वहाँके विकल्प न करे तो सहज आनद अनुभवमे आये। यह उपाय जिसको बना है उसको अपने आपके सहजस्वरूपका बनता है।

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिद कर्तुं क्षमते पर, यद्वज्रेपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शका विहाय स्वय, जानन्त. स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

१२२२—सम्यग्दृष्टिका अद्भुत साहस—

जिसने अपने सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया और उस अनुभवके ही साथ अलौकिक परम आनन्दसे तृप्ति पायी ऐसा पुरुष इस ही ओर धुन रखता है। थोडा कर्मविपाकवश उपयोग यहाँ वहाँ भी चलता हो तो भी धुन और प्रतीति अपने आत्मस्वरूपकी ओर ही है, परमशरण क्या ? मेरा सर्वस्व क्या ? बस यही सहज शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव। ऐसा जिसने आभास किया, ऐसा पुरुष कैसी भी हालत आये मगर अपने इस ज्ञानस्वरूपसे च्युत नही होता है। यह साहस अपने आपके सही शुद्धस्वरूप की प्रतीतिसे च्युत न हुए सम्यग्दृष्टिमे ही होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष ही ऐसा साहस रखता है कि कि कोई ऐसा वज्र भी गिर जाय जिसके भयसे तीनो लोकके जीव अपना मार्ग छोड दें तो ऐसे समयमें भी चूकि सम्यग्दृष्टिने अपना सर्वस्व अपनेमे पाया है, अतएव वह निसर्गत. निर्भय रहता है। उसे कोई शका नही होती। वह जानता है कि मेरा जो स्वरूप है वह है अवध्य। किसी भी प्रकार दूसरेके द्वारा वध बन्धनमे आ सकने योग्य नही है।

१२२३—सम्यग्दृष्टिके अलौकिक साहस का आधार—

सम्यग्दृष्टिका यह साहस किन किन चिन्तनोके बलपर है ? प्रथम तो स्वरूप चिन्तन, अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमे ही इसकी ऐसी दृढ भावना है, सही निर्णय है कि मैं तो यह हूँ, बाकी तो विनाशीक पर्याये हैं, हो गई है, औपाधिक हैं, ये मैं नही हूँ। मैं तो शाश्वत सहज ज्ञानस्वरूप हूँ।

यह प्रतीतिका बल है जो इतना साहस हुआ है ज्ञानीको। बाहरमें क्या कैसा परिणमन होता ? तो यहां उसका निर्णय है कि जो भी बात जिस विधानसे जिस निमित्त योगपूर्वक जिस उपादानमे जैसी बात बनें सो बनें, मगर वह सब सर्वज्ञ देवद्वारा व अवधिज्ञानियो द्वारा ज्ञात तो हो ही जाती। अब सर्वज्ञ तो हमें मिलते नही, लेकिन अवधिज्ञानी द्वारा भी तो ज्ञात है। तो जो जान गया है वही तो होनेका है। यद्यपि जाना गया है वही कि जो बात जहां जिस विधिमें जिस योगमें होनेको है होती है, कुछ भी बात बने, निष्पत्ति विधि भी यही है, पर जान तो लिया गया। अब जो जान लिया गया होगा, होगा वह ही विधिपूर्वक, मगर यह तो निर्णय हो गया कि क्या विह्वलता करना—जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे। उसे इतना बडा धैर्य रहता है। दूसरी बात निष्पत्ति योगमें, उसको वहां भी क्या घबडाहट ? कुछ भी बने आत्मस्वरूपसे तो च्युत न होगा, स्वभाव तो इसका अमिट है। स्वभाव कभी खण्डित नही होता। मैं अवध्य हूँ, मेरा कही विनाश नहीं।

१२२४—अपने प्रियतम आत्मारामको सत्य आराममे रखनेका अनुरोध—

देखिये—जगतमे सबसे प्यारा कौन ? सबसे अधिक प्यारा क्या है आपको ? इसका खूब निर्णय कर लो। सबसे अधिक प्यारा अपना आत्मा। सबको अपने अपने आत्मासे अधिक प्यारा कुछ नही। हर स्थितिमें, हर एक घटनामे, हर प्रकारसे निर्णय करलें, आपको आपका आत्मा प्रिय है। और जब आत्मा अपना ही प्रिय है तो जरा अपने आत्माके भलेके लिए ही सारी बातें सोचना। कोई भी चिन्तन हो, वह चिन्तन अपनी भलाईके लिए ही हो, कषायके लिए नहीं, क्योकि दुर्लभ मानव जीवन मिला है, अनेको भव ऐसे ही व्यर्थमे निकल गए हैं। अगर उन्ही कुरीतियोमे यह भव भी खो दिया गया तो फिर पता नही, आगे क्या होगा ? इसलिए जीवनमें एक निर्णय बनावें, जिसमे आत्माका भला है सो करना है। अन्य बातोका हठ नही किन्तु एक ही भीतर आग्रह सोच लें सब बातोका कि मेरे आत्माका इसमे भला है, मेरेको तो यही करना योग्य है। इसमें मेरे आत्माका पतन है क्या, बरबादी है क्या ? मेरेको कुछ नुकसान है क्या ? यदि नुकसान है तो बस नही करना। एक परिस्थिति ऐसी होती है कि जिसको देखकर यह ही बनेगा कि यह ठीक नही, मगर जो जिस पदवीमे है उस पदवीमे छांट हुआ करती है। भाई पाप ठीक नही, वह तो बुरा है, शुभ भाव करो। भाई शुभ भावो मे एक यह शुभ भाव ठीक नही; उसकी अपेक्षा ऐसा शुभ भाव बनाओ कि यह अच्छा है। परिस्थिति होती है और उनमें ऐसी छांट होती है, पर भीतरी छांट, भीतरी निर्णय तो यह ही है कि शुभभाव और अशुभभाव ये भी जब तक आत्मा पर छाये हैं तब तक आत्माको धोखा ही है। सही कुछ नहीं कहा जा सकता। और की तो बात जाने दो, एक बार शुद्धभाव ही बन गया, ११ वे गुणस्थानमे उपशान्त मोह बना वह कषायोंके उपशमसे, मगर वहांसे भी धोखा मिला। खैर वह धोखा कुछ नहीं मिला। एक स्थिति हैं। काम तो सिद्ध होगा स्वभावके आश्रयसे ही। हमारी शुद्धसमृद्धि स्वभावाश्रय को तजकर अन्य अन्य बातोमें आसक्त होकर नही होती। अपने स्वरूपको निरखें और अपनी दया बनावें, अपनी सम्हाल करे और व्यर्थके अन्य विचार, अन्य कषायें, अन्य भावनायें कभी होती हो तो उनपर खेद लाना चाहिए, क्यो ये भावनायें जगती हैं ? मेरे तो शुद्ध सद्भावना रहे। एक नाता अपने आत्माका रहे, एक निर्णय अपने हितका रहे। वह सब है स्वभावके आधारमे, आश्रयमे-उपासना।

१२२५—स्वभावाश्रयके बलका प्रताप—

स्वभावाश्रय एक इतना बडा बल है कि जगतमें कुछ विपत्तियां आये उनसे यह ज्ञानी विचलित

नही होता, क्योकि जानता हैं कि विपत्तियाँ हैं क्या ? लोगोंके ख्याल, चेतन अचेतन पदार्थोंके परिणमन, सबकी अपनी अपनी जुदी जुदी परिणतियाँ उनकी उनमें हो रही हैं। उनसे मेरेमे कुछ आता तो नही। यहाँ जो भी दु खी होता है वह अपने अपराधसे दु खी होता है। दूसरेके अपराधसे कोई दु खी नही है। वह क्या अपराध है ? अरे स्वभावसे च्युत होना, विभावोमे या विषयोमे, पर पदार्थोंमे उपयोग लगाया, यह ही अपराध है। बन सके तो कुछ साधना बनावे। यह अपराध न बन पाये तो स्वय अनुभव कर लेगे कि बस ससारमे कष्ट कही नही है। इन घटनाओमे जैसे मानो कोई निन्दा कर रहा है तो निन्दा करने वाले ने अपनी कषायका ही तो परिणाम किया, अपना ही तो व्यापार किया, वचन प्रयुक्त किया तो उसने अपना ही तो व्यवसाय किया। गाली देने वालेसे, निन्दा करने वालेसे कुछ आया नहीं इस सुनने वालेमे, मगर वह सुनने वाला स्वयं मोही है, मुझको ऐसा कहा, मेरी निन्दा की, मेरा अपमान हुआ, ऐसी कल्पनायें कर करके वह स्वय दुःखी होता है। कही गाली देने वालेने इस दूसरेको दु खी नही किया, यह खुद अपनी कलासे अपने आप ही अपने विचार बनाकर दु खी हो लेता है। इसको दु खी करने वाला जगतमे कोई दूसरा जीव नही है, न कोई परमाणु है, हम ही अपने ज्ञान की ऐसी धारा बना डालते है, ज्ञानकी ऐसी ही अपनी तरग बना डालते है कि जिसके कारण हम आकुलताका अनुभव करते है। जगतमे दूसरा पदार्थ हमको सताने वाला नही, हमारा विरोध रखने वाला नही, हमको दु खी करने वाला नही। हमारी ही कल्पना हमको दु खी कर रही है। दुःख मिटाना है तो बाहरमे कुछ निग्रह अनुग्रह न करके अपने ही ज्ञानमे ऐसा पौरुष बनाना चाहिए कि जिसमे कल्पनाओका जाल न बन सके। खुद ही खुदके जिम्मेदार हैं, दूसरा कोई नही, इस कारण अपने परिणामोकी निर्मलतामे कुछ बाधा नही। काहेका कोई मित्र, काहेका कोई बधु, लोकमे बधु और मित्र तो होते ही रहते है। जिसकी कषायसे जिसकी कषाय मिल गई वह उसका बधु, उसका मित्र बन गया, कषायसे कषाय न मिली तो वह शत्रु बन गया। वस्तुत कोई जीव किसी दूसरेका न मित्र है न शत्रु है। यहाँ जो भी दु खी होता है वह अपनी ही कल्पनासे दु खी होता है। ज्ञानी पुरुषको यह सारा निर्णय है और अन्तरमे प्रकाशमान परम ज्योति स्वभावका निर्णय है इस कारण वह किसी भी घटनामे अपने स्वरूपसे च्युत नही होता। कठिनसे कठिन विपदा आये तो वहाँ भी यह ज्ञानी जीव अन्दरमे अपने आपकी स्मृति जरूर किए रहता है और उस उपासना-स्मृतिके प्रसादसे उसमे निर्मलता की उन्नति होती है।

१२२६—ज्ञानीकी अकपपरमज्ञानस्वभावस्थताका प्रभाव—

सम्यग्दृष्टि पुरुष ही ऐसा साहस करता है कि जगतमे जो होता हो सो हो किन्तु यह तो अपने निष्कम्प परम ज्ञानस्वभावमे स्थित होवेगा, इसकी ही स्मृति रखेगा। इसके प्रतापसे ही शान्ति प्राप्त होगी। सम्यग्दृष्टि जीव स्वभावसे निर्भय है, उसमे शका नही। जैसे यहाँ कोई पुरुष दूसरेका कितना ही बिगाड कर रहा हो उसको देखकर यह कही घबडाता तो नही। लौकिक पुरुषोकी बात कह रहे तो यह जान रहा कि मेरा इसमे क्या बिगाड ? इसमे तो उसका खुदका ही बिगाड हैं, खुदकी ही बरबादी हैं। तो ज्ञानी जीव अपने आत्मातिरिक्त जितने भी बाहरी पदार्थ है उन्हे जानता है कि ये सब पर हैं, इनसे द्रव्य-क्षेत्र, काल, भाव कोई भी बात मेरेमे नही आती। तो कोई भी पर पदार्थ उपद्रव डालता नही, यह मैं ही खुद दूसरे मे दृष्टि दूँ, दूसरोका शरण मानूँ, बस ऐसा ही अपराध करूँ तो मैं दुखी होऊँगा, दूसरा दु खी करनेको नही आता, ऐसे निर्णयके कारण सम्यग्दृष्टि जीवमे एक बहुत अद्भुत

साहस होता है। यह निर्जराधिकार चल रहा है। कर्मोंकी निर्जराका निमित्त क्या होता है वह सब यहाँ बतलाया जा रहा है। जीवमे ज्ञान और वैराग्य ये दो भाव हैं, जिनका निमित्त पाकर ये कर्म झड रहे हैं। ज्ञानकी महिमा ज्ञान, ज्ञानमे ज्ञान समाया हो, कल्पनाओंका जहाँ विलय हो, ऐसा ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान वह आनन्दमय है, उसकी धुनमे उसकी अनुभूतिके कारण सम्यग्दृष्टिको अब बाहरी बातोंकी परवाह नही है। बनता है, बिगडता है, जो कुछ बाहरमे होता है वह सब बाहरकी परिणति है। ऐसा निर्भय नि शक रहने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपकी ओर ही पहुचनेका अधिकाधिक अभ्यास करता है।

लोक' शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन:, चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यह्लोकयत्येकक.। लोकोऽय न तवापरस्तव परस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो, निःशंक. सततं स्वय स सहज ज्ञान सदा विंदति ॥१५५॥

१२२७—ज्ञानीके इहलोकभयका अभाव होनेसे निःशङ्कत्व—

बताया है ना पहले कलशमे कि सम्यग्दृष्टि जीव निसर्गत निर्भय रहता है। उसके भय नही आता। तो अब उन भयोंका विश्लेपण कर रहे हैं—भय होते हैं ७ प्रकारके—इहलोकभय—मैं इस लोकमे अच्छी तरह जीवित रह सकूगा या नही, धन वैभव कुटुम्ब परिवार आदिक किसी बाधाओंमे तो न दब जाऊँगा। परलोकभय—परलोकमे मेरा क्या होगा। कहाँ जाऊँगा, क्या बनूगा, क्या बीतेगी। इसी प्रकारके ५ और भय है। इस छन्दमे तो दोनो भयोंका जिक्र चल रहा है लोकभय—इस लोकका भय होना। कही मेरा धन न मिट जाय। कही मुझे भूखो न मरना पडे। कही कोई धोखा न दे दे। यो इस लोकमे नाना प्रकारके भय लगे हैं। अज्ञानीके लोकभय है, मगर ज्ञानीके लोकभय नही, इसका कारण है कि ज्ञानी जानता है कि मेरा लोक तो जो मेरा शाश्वत स्वरूप है। यह बाहरी क्षेत्र, यह दुनिया यह बाहरी परिकर परिणमन यह मेरा लोक नही। मेरा शाश्वत लोक है मेरा स्वरूप। जो सदाकाल व्यक्त है, अन्त प्रकाशमान है और ज्ञानीको इस सबका बोध है। मैं कहाँ रहता हूँ? तो इसके अनेक उत्तर आयेंगे। मैं इस नगरमे रहता हूँ, मे इस देशमे रहता हूँ, मैं इस विचारमे रहता हूँ। पर इसका सही उत्तर क्या है कि मैं मुझमे रहता हूँ। अच्छा मैं शरीरमे रहता हूँ क्या यह बात गलत है? तो भाई गलत तो नही है यह रह तो रहा है, व्यवहारमे, यो देखनेसे विदित तो होता है, मगर परमार्थ दृष्टिसे देखें तो, एक अपने आपके एकत्वकी दृष्टिसे देखें तो मैं अपनो सत्तामे रहता हूँ। मैं अपने स्वरूपमे रहता हूँ। मैं औरजगह नही रहता। तो जब मैं मुझमे ही रहता हूँ, मैं अपने प्रदेशोमे ही रहता हूँ। मैं अपनी गुणपरिणतियोमे ही रहता हूँ तो मेरी दुनिया? बस यही तो कहलायी। इससे बाहर मेरी दुनिया नही। मेरी दुनियामे अगर कोई ऐबकी बात, कष्टकी बात, विकल्पकी बात आती है तो वहाँ तो हमारा बिगाड है, पर मेरी दुनियासे बाहर जो पदार्थ पडे हुए है उनमे कोई बिगाडकी बात क्या है? उसका तो ज्ञाता रहना है कि हो गया यह।

१२२८—सर्वविविक्त स्वैकत्वगत अन्तस्तत्त्वके शरणागतकी निसर्गत निर्भयता—

मेरा लोक है मेरा यह शाश्वत आत्मस्वरूप क्योकि मैं स्वभावत ही समस्त पदार्थोंसे निराला हूँ। सभी पदार्थ अपने स्वरूपमे अर्थात् अन्य सर्व पदार्थोंसे निराले रहते हैं। क्योंकि वे सत् हैं। जो-जो सत् हैं वे अपनेमे परिपूर्ण और अन्यसे निराले हैं। यह बराबर व्याप्ति मिलेगी सर्वत्र। जो भी वस्तु है वह अपने एकत्वमे रत और परसे विभक्त ऐसा प्रत्येक पदार्थ रहता ही है। तो मेरेसे मैं ही रहा, मेरी दुनिया मैं ही रहा, और कोई मेरी दुनिया नही। तब इसमे कोई भय ही नही बसा। मेरे

आत्मप्रदेश, मेरा स्वरूप, इसमे डरकी कोई बात है क्या ? क्या यह मिट जायगा ? सच कभी नही मिटता, मैं यह आत्मा कभी न मिटूँगा, रहूँगा, इसको इस लोकका भय नही, क्योंकि यह अपनेको एकाकी तक रहा है। यह है तेरा लोक। और, यह बाहरका जो आंखो दिखता है, शरीर है, यह आकाश है, यह नगर है, ये सब मेरे कोई लोक नही है, फिर उसको इस लोकका भय क्या होगा ? वह अपनेको एकाकी निरख रहा और अपनेमे सहज आनन्द स्वरूपको पा रहा। ज्ञानीके लोक भय नही होता।

१२२९—ज्ञानीके परलोकभयका अभाव—

ज्ञानीके परलोक भय भी नही होता। परलोक कहाँ ? परलोकको तो शब्दने ही बता दिया, गैर लोक; मेरा है ही नही वह। मेरा लोक तो यह आत्मस्वरूप है और मरकर याने इस देहको छोड-कर जाऊँगा तो यह ही आत्मस्वरूप साथी है। वहाँ परलोक इसके लिए कुछ नही है। तो लोक और परलोक सब कुछ अपने आपके आत्मा मे ही है ऐसा जानने वाले ज्ञानीको इस लोक और परलोकका भय कैसे होगा ? वह तो नि शक होता हुआ निरन्तर स्वय अपने आप सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता है, सहज ज्ञान क्या ? ज्ञानस्वभाव। अपने सत्त्वके कारण अपने आप ही रहने वाला। इस ज्ञानस्वभावमें कोई सीखना पढना नही बनता। उसका कोई निर्माण नही किया जाता। वह तो सत्ता-सिद्ध अधिकार है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूपमे हुआ करते। तो तेरा लोक वही अतस्तत्त्व है, अन्य कोई तेरा लोक नही। ऐसा निर्धारण करने वाला ज्ञानी निरन्तर स्वय ही सहज ज्ञानका अनुभव करता है। ज्ञानीके इह लोक भय भी नही, परलोकभय भी नही, बस उस दृष्टिकी महिमा है सब। काम एक ही है, उसके विस्तार अनेक बताये जा रहे हैं। एक काम क्या ? अपनेको निरखना, अपनेमे गुप्त होना। यह उपाय बनता कैसे है ? कमसे कम इतना निर्णय तो पडा हुआ है कि मेरा जिम्मेदार केवल मैं ही हूँ। कोई दूसरा मेरा जिम्मेदार नही। जैसा करेगा वैसा भरेगा। दूसरा उस भरनेमे न सामिल होगा। ऐसा अपना एकाकीपनका स्वरूप जब चित्तमे है तो वे सब कलायें अपने आप आयेंगी। देखो अकेले ही जन्म लेना पडेगा, कोई साथी नही है, अकेले ही मरण करना पडेगा, कोई साथी नही है। जन्मके समयमे यह सक्लेश करता है, मरणके समय भी वह सक्लेश करता है। मेरा सत्य स्वरूप तो यह सहज अ नन्दघन है। वस उसकी ही सम्हालमे वहाँ ही निरन्तर ज्ञानदृष्टि देते रहे, इस अन्त प्रोग्राममे सम्यग्दृष्टि समय व्यतीत करता है।

१२३०—सम्यक्त्वके प्रथम ४ अगोका सक्षिप्त परिचय—

पहले अगका नाम है नि शकित अग। नि शकतासे अपने आपमे विहार करना। जैसे कोई पुरुष चलता है ना तो वह आगेका पैर कैसा नि शक होकर धरता है। कही वह यह तो नही सोचता कि पता नही हमारा यह पैर जमीन पर पडेगा भी कि नही। वह तो नि शक होकर अपना अगला पैर रखता है। और, देखो पिछला पैर बडी उपेक्षाके साथ उठता है। कोई ऐसा सोचता है क्या कि पिछला पैर हमने जिस धरतीपर रखा है उस धरतीकी बडी मेहरबानी रही। जरा उस धरतीको देख तो लू'''ऐसा नही है। ऐसे ही ज्ञानी जीव मोक्षमार्गमे अपनी प्रगति नि शक होकर करता है—और विषय इच्छा इनसे उपेक्षाभाव करता है। ऐसे ये दो अग हैं सम्यक्त्वके, नि शकता और नि कांक्षितता और देखो हम आप सबके दो-दो हाथ हैं—बायें हाथसे रोज मल साफ करते हैं। इतना होनेपर भी [illegible] इस बांये हाथसे घृणाकी क्या ? तू यहाँ क्यो रहता है, तू यहाँ यो ही स्टेशनके सिगनलकी

तरह खड़ा रह,"'कोई दम बाथे हाथको तोड़ फेंकता है क्या ? कैसा वह अपनेमे निर्विचिकित्सा अग पाल रहा है। ऐसे ही जीवको अन्तरमे कर्मविपाकवश ग्लानि की बात बहुत आती है, क्षुधा तृषा, क्लेश, ये तो अतरगमे आने पर इनमे ग्लानि याने विषाद नही करना, इनमे एकत्व नहीं करता, इनकी उपेक्षा करता है, आये होंगे, कर्मरस है, कर्मफल है, उस विषादमे वह अधीर नही बनता। यह है ग्लानि करनेके मायने विषाद करना, और व्यवहारमे ग्लानि करनेके मायने घृणा करना। कोई साधु त्यागी व्रती पात्र बीमार हो जाय, मल मूत्र भी गिरे तब भी उसमे घृणा नही करना ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव। और, समय तो घृणा करनेका काम ही क्या ? ऐसे समयमे भी यह जीव घृणा नही करता। निर्विचिकित्सा अग। और दाहिना हाथ देखो, यह अमूढ दृष्टि, जरा भी ढिलाई नही रखता, मोह नही आगा अटक नही आती, अज्ञान नही लाता। आदेश करना, बतलाना, यह काम करना ठीक नहीं, ऐसा ही ठीक, ऐसे ही ज्ञानी भी अपने मार्गमे अमूढ है, उनके कोई अज्ञान नही।

१२३१—सम्यक्त्वके अन्तिम चार अगोका सक्षिप्त परिचय—

देखो पीठ और पेट, सब अगोकी बात देख लो, शरीरमे भी ८ अग हैं, और एक अग है नितम्ब, जिसपर कि आप लोग बैठे है, उसे तो आप लोग धोतीमे पाजामा आदिसे छुपाकर रखते। यह तो शरीराङ्गमे उपगूहन है। किसी धर्मात्मा पुरुषमे कदाचित कोई त्रुटि हो, कुछ बात हो तो उसका उपगूहन करना, मायने उसको प्रकाशित न करना। यह सम्यक्त्व अङ्गमे उपगूहन है नहीं तो अन्य सुनने वाले लोगोंको धर्मसे अरुचि हो जायेगी कि क्या रखा है धर्ममे। बस देख लिया सब, और उसके साथ उसे समझाना, यह बात तो अलग है, मगर जनसमूहकी बात, जैसे अपने नितम्बका उपगूहन करते ऐसे ही धर्मात्माके दोषोका उपगूहन करना सो उपगूहन अग है। अब इस पीठ पर देखो कितना बोझ रख लेते ऐसे ही स्थितिकरणच्युत होने वालेको स्थिर कर देना। और यह वात्सल्य अग है हृदय। जैसे हृदयमे प्रेम उमडता तो वह है वात्सल्य अगका सूचक। मस्तक है प्रभावना अगका सूचक। जैसे मनुष्यकी प्रभावना मस्तकसे जानी जाती। ज्ञानीके धर्मकी प्रभावना उसके आचार विचारसे होती है। इन ८ अगोके दूषण लगनेसे सम्यक्त्वका घात होता है। तो इस ८ प्रकारके अगोका पालन हो और अतरगसे स्वभावका आश्रय हो।

एषैकेव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते, निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो, निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥१५६॥

१२३२—ज्ञानीके वेदनाभयका अभाव—

सम्यग्दृष्टि जीव ७ भयोसे रहित है इस कारण वह निःशक है। सम्यग्दृष्टि जीव निःशक है इस कारणसे ७ भयोसे रहित है। वे ७ भय कौन-कौनसे हैं ? इनमेसे दो भयोका नाम तो कल आ गया था, आज बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव वेदनाभयसे रहित है। वेदनाभय नाम किसका है ? शरीरमे कोई वेदना हो, किसी प्रकार की अन्य वेदनायें हो तो उनका भय करना या वेदना भी न हो तो भी पहलेसे ही भय करना। मेरा शरीर स्वस्थ रहे, अब बुढापा आ गया, न जाने मेरी अब क्या हालत होगी। थोडी सी भी हरारत हुई तो यह न जाने कैसा ज्वर जायगा ? कही मियादी बुखार न जाय, कही कोई जटिल बीमारी न बन जाय आदिक वेदनाके सम्बन्धमे भी भय करते। वेदना नही भी हो रही है तो भी वेदनाका ख्याल करके भय बनाना यह सब वेदनाभय कहलाता है। तो यह वेदना भी अज्ञानीके होती है ज्ञानीके नही। अच्छा—बताओ, यदि ज्ञानी पुरुषके बुखार चढा हो तो वह

कांपेगा कि नहीं, वह लिहाफ ओढेगा कि नहीं, वह वेदनाका कुछ अनुभव करेगा कि नहीं ? करेगा, मगर, उसके वेदनाभय नहीं होता। जब थोडा आत्मा की सुध ले, तो फिर वेदना का भय नहीं होता।

१२३३—आत्माकी सुधमें शारीरिक वेदनाका अपरिचय—

बताया है कि आत्माकी सुध रखना शारीरिक बीमारीका आधा इलाज है। इस सम्बन्धमें एक घटना बताते हैं कि जब हमारे गुरु श्री गणेशप्रसादजी वर्णी ललितपुरमें थे तो उनकी जंघामें एक बडा भारी फोडा हो गया था। उन दिनों हम मुजफ्फरनगरमें थे। हमारे पास भी उस फोडेके सम्बन्धमें खबर पहुंची तो हम भी देखने आये। जब तक हम आये तब तक उनके फोडेका आपरेशन हो चुका था। वहाँ लोगोंने बताया कि जब आपरेशन होनेको था तब डाक्टरने बताया कि बेहोश करके आपरेशन करना होगा, पर वहाँ गुरुजीने कहा—अरे बेहोश करनेकी जरूरत क्या, यों ही आपरेशन कर दो। आखिर गुरुजीने उस समय आत्माकी ओर विशेष ध्यान रखा, उन्हें यही पता न पडा कि कब कैसे आपरेशन हुआ। यह था आत्माकी सुधका प्रताप। आखिर वहाँ गुरुजीका फोडा देखते हमारी खुदकी आँखके ऊपर भी एक फुंसी हो गई। उसने अपना काफी बडा रूप रख लिया। खैर हम मुजफ्फरनगर चले गए, वहाँ जो चिकित्सक लोग चलते फिरते जर्राहा होते इनमेंसे कोई एक चिकित्सक मेरे पास आया, उसने कहा कि हम इस फुंसीको ठीक कर देंगे। कैसे ?···बस इसे फोडकर।···अच्छा भाई ठीक कर दो।···उस समय हमने अपनी आत्माकी ओर विशेष ध्यान दिया। उस समय उस चिकित्सकने उस फुंसीका फोड दिया। दर्द तो काफी हुआ, पर उसकी ओर दृष्टि न होनेसे उस दर्दका कोई विशेष असर हमारे ऊपर न पडा। तबसे हमें प्रतीति हुई कि होता तो आत्माकी सुध रखने पर ऐसा प्रभाव। तो कदाचित् कभी कोई कष्टकी बात भी आ पडे तो आत्माकी ओर सुध होनेसे वह कष्ट कष्ट नहीं महसूस होता।

१२३४—ज्ञानीकी परमार्थ वेदना—

यहाँ मूल बात यह बतला रहे कि वहाँ वेदना का कुछ काम ही नहीं ज्ञानीके। वेदना नाम है किसका ? वेदना नाम है वेदन करनेका, जाननेका। वेदना शब्द विल्द धातु से बना, जिसका अर्थ है जानना। तो ज्ञानीकी एक यह ही वेदना है जो स्वयं अचल अकम्प ज्ञान उसके द्वारा वेदा जा रहा यह है वेदना ज्ञानीकी। ज्ञानीके वेदना है क्या ? हाँ है डटके। और अज्ञानीके वेदना है क्या ? हाँ है, डटके। अज्ञानीके वेदना है उस रोगपर ख्याल रखकर, अनेक प्रकारका भय बनाकर और ज्ञानीके वेदना है डटकर कि अपना जो अकम्प स्वरूप है उसका जानन चल रहा है, उसका वेदन अपने स्वरूप में हो रहा है, और अज्ञानी का वेदन बाहरी पदार्थोंका विकल्प करके हो रहा है, तो ज्ञानीकी यह वेदना जिसकी बात सुनकर आत्मकल्याणार्थीको वहाँ स्पर्धा हो सकती है, मैं भी ऐसा ही चाहूँ, ऐसा ही बनूँ, वह अविचल ज्ञानस्वरूपका वेदन कैसे होता है ? अभेद वेद्य वेदक बलसे होता है। जाननहार कौन ? यह आत्मा। जाननेमें आया कौन ? यह आत्मा। ज्ञान जाननहार है। ज्ञान ही जाननमें आया है, दूसरा कोई जाननहार नहीं और जाननेमें दूसरा नहीं आया, यह बात उस अज्ञानीके नहीं बन पा रही क्योंकि जाननहार अज्ञानी वह एक और उसके जाननमें क्या आ रहा है ? वह रोग वेदना शरीर, ये ज्ञेय विषयभूत, उसकी अपेक्षा द्वैविध्य ही रहा, तो उसको घबडाहट होती है, और जहाँ वेद्यवेदक भाव एक बन रहा है वहाँ घबराहटका काम नहीं। तो ज्ञानीके यह अकंप परम ज्ञानकी

वेदना चल रही है। तो वह निर्ग्रन्थ है, निराकुल है।

१२३५—वेदनाकी अन्यागतताका अभाव—

जिन ज्ञानियोके द्वारा यह निर्भेद वेद्यवेदक भाव अभ्युदित हुआ है उनका दृढ निर्णय है कि यह वेदना जो परमार्थ है मेरे स्वरूपमे है, वह वेदना अन्य कहीसे नहीं आती। कुछ वाहरी दृष्टि भी लगाकर अर्थ लगाओ तो वेदना पीडा किसी वाहरी वस्तुसे नही आती। ज्ञानमे ही विकल्प वनता है। तो वह ज्ञानमे से ही वह वेदनाभाव आया, वाहरसे नही आया। किसीका मकान जल रहा है, वडी तेज आग लग गई है, दमकलें भी आयी, आग वुझा रही, पर आग वुझती नही, वहाँ मकान जल रहा, यहाँ इस मोहीका हृदय जल रहा। जैसे जैसे आगकी ज्वाला वढ रही वैसे ही वैसे इसके हृदयकी ज्वाला वढ रही। मकान जलने से वेदना नही हो रही, क्योकि मकान पर क्षेत्र मे है। वहाँ से वेदना नही आ रही, पर उसका विकल्प वनाकर जो ज्ञान विकल्प किया जा रहा है, हाय सव मिट गया, मेरा तो सव नाश हो गया, वरवाद हो गया, ऐसा जो विकल्प चल रहा वहाँ वेदना आयी। सो अगर उस लौकिक वेदनाकी भी वात कहे तो वह भी अन्य पदार्थसे नहीं आयी, लेकिन यहाँ ज्ञानीकी वेदना की वात चल रही है। जो अकम्प ज्ञानस्वभावका वेदन चल रहा है वह वेदन अन्य कहीसे नही आया। आत्मासे ही हुआ। तो जव वेदना अन्य पदार्थसे आती नही तो उसका भय ज्ञानीके कहाँसे हो?

१२३६—ज्ञानवलसे अभयत्वलाभ—

भैया, घवडाये हुए पुरुषको अभयदान दो। उसका भय दूर हो जाय। सो कुछ तो वाहर भी प्रयोग हो जाता। जैसे प्याससे घवडाया तो पानी दे दिया। कोई रात विरातको कहींसे घवडाया हुआ आया तो उसे ठहरनेको जगह दे दिया ये तो वाहरी वाते हैं। कोई घवडाहट ऐसी होती कि जिसका वाहरमे काम नही देता। जैसे किसीका मानो इकलौता वेटा गुजर गया तो अव इसकी पूर्ति कोई कहाँसे करे, कैसे करे, उसकी घवडाहट कैसे मिटे? तो उसकी घवडाहट मिटेगी तव जव कि उसके ज्ञानवल पैदा हो। अन्य किसी प्रकार घवडाहट न मिटेगी। ऐसे आदमीके घर मानो रिस्तेदार आये, मामा आया, फूफा आया, वुआ आयी, मौसी आयी, समझानेके लिए और उन्होंने समझाना शुरू किया, वडा—अच्छा वेटा था, गुजर गया। अव कैसे क्या होगा तो वहाँ दुःख मिट जायगा क्या? घवडाहट मिटेगी क्या? वे तो दुःखका और भी ध्यान कराने आये, घवडाहट ऐसे कैसे मिटेगी? और ऐसा करने वाले भी कैसे देखे गए? मान लो उन्हे कही दूरसे आना है, मानलो सतना या कटनीसे चलकर रेलसे आये तो वहाँ तो तास खेलते आये, जो फेरेमे आये वे हँसते हुए आये पर जव आपके जवलपुर आये तो मान लो स्टेशन पर उतरे तो वहाँ भी आनन्द रहा। तनिक और निकट आये। और, जव घर पासमे आया, रिक्शा या ताँगासे उतरे तो वहाँसे रोनी सूरत वनायी; और जव घरमे आये तो रोने लगे, वताओ वहाँ उनको वेदना है क्या? नही है वेदना। अव जो घवडाया हुआ है उसकी वेदनाको कौन मिटायेगा? घवडाहट को मिटायेगा ज्ञानी जीव। जव प्रतिवोध करेगा कि अरे तू अपनेको देख, तू तो शरीरसे भी निराला है केवल ज्ञानमात्र, जिसे लोग हवा भी कह देते हैं। देहाती लोग कह देते हैं ना कि हवा निकल गई। और, और ढगोसे भी वोलते। वह एक वास्तविक पदार्थ है आत्मा। वह आत्मा ही तेरा सहाय है, दूसरा कोई सहाय नही। तेरे साथ कुछ जानेका नही। सव जीव अपने-अपने कर्मोदयवश जन्म लेते, मरण करते, किसी का किसीसे क्या सम्वन्ध? और, कोई यो भी समझा देगा कि वह तो तेरा पूर्वभवका वैरी था जो

थोडी उमरमे गुजर गया, वह तो बैर भँजाने (बदला चुकाने) आया था। खैर किसी भी ढगसे समझाये, जब वह समझे कि इसमे तो कुछ हानि नही हुई। मेरा आत्मा तो पूराका पूरा है। वहाँ कोई बिगाड नही होता, ऐसा कोई बोध आता है तो उसे धैर्य जगता है।

१२३७—धैर्य और ज्ञानानुभवका उपाय स्वयका प्रतिबोध—

धैर्य जगनेका उपाय स्वयका प्रतिबोध है। दूसरा कोई उपाय नही। जैसे बाहरसे वेदना नही आती ऐसे ही बाहरसे ज्ञान भी नही आता। वह भी अपने आपमे अभ्युदित होता है। तो ज्ञानी जीवके भय कहाँसे हो? क्योकि उसको दृढ विश्वास है कि बाहरसे वेदना आती नही, और वास्तविक वेदना तो यह ही है कि मैं अपने आपमे अपने आपका जानन कर रहा हूँ। ऐसी दृढ प्रतीतिके कारण वह ज्ञानी जीव नि शक होता हुआ निरन्तर स्वय निज सहज ज्ञानका अनुभव करता रहता है।

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थितिर्ज्ञान सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः। अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो नि.शकः सतत स्वयं स सहज ज्ञानं सदा विन्दति॥१५७॥

१२३८—अज्ञानीके अत्राणभय और उसका कारण—

सम्यग्दृष्टि जीवके अत्राणभय नही होता, अरक्षाभय नही होता, मेरी कुछ रक्षा ही नही, मैं अरक्षित हूँ, मेरा कोई सहाय नही, अब क्या हाल होगा? यह अरक्षाभय अज्ञानी के होता, क्योकि उसे अपने स्वरूपका श्रद्धान ही नही। मेरा स्वरूप कैसा है, इस बातका उसे बोध ही नही। वह तो यह जान रहा है कि यह जो शरीर है सो ही मैं हूँ। यह ज्ञानीकी बोलीकी बात बोल रहे कि अज्ञानी ऐसा मानता है कि जो यह शरीर है सो मैं हूँ, ज्ञानीने नही ऐसा माना कि जो यह शरीर है सो मैं हूँ। ऐसा अगर मान ले तो उसके भ्रमने थोडा फर्क पड गया। इतना तो मुखसे कह लिया कि जो यह शरीर है सो मै हूँ। दो बाते तो दिमागमे आयी—मैं और शरीर। किन्तु अज्ञानीके इतनी भी बात चित्तमे नही रहती। उसके चित्तमे एक ही बात रहती कि यह मैं, या मैं हूँ। यह मैं हूँ ऐसा भी कहा जा सकता। ज्ञानी भी तो कहता है अपने स्वरूपके लिए "एव सम्वेदन प्रत्यक्ष दर्शन—ज्ञानसामान्यात्मात्माह" इत्यादि" 'यह प्रत्यक्षभूत आत्मा' ऐसे ही भ्रममे उस एकको ही कह रहा है ये अज्ञानी। यहाँ इस एक को ही कह रहा है, जो पर्याय है, जो शरीर है, बस उसमे तो जरा भी भेद अज्ञानीके उपयोगमे नही है। जैसे कहा जाय कि घडेमे गोलाकार है, तो कही धरा है क्या घडेमे गोलाकार? अरे गोलाकार मय वह घडा है, ऐसे ही अज्ञानी जीवको जो पर्याय है वही पूरी उसका सर्वस्व है उसके लिए "मैं" का प्रयोग है। वहाँ थोडा भी दुविधा नही है। जैसे ज्ञानीको बाह्य पदार्थोंमे जरा भी दुविधा नही है कि ये मैं हूँ ऐसे ही अज्ञानीको जरा भी अपने बारमे दुविधा नही है कि जो शरीर है सो मैं हूँ।

१२३९—भगवान आत्माकी विकारस्थितिकी लीला—

ज्ञानी और अज्ञानीकी होड चले अगर उनके विश्लेषणकी दौडके लिए तो अज्ञानी ज्ञानीसे कम रहेगा क्या? और कभी तो अज्ञानी यो कह बैठेगा सिद्ध भगवानसे भी कि हे सिद्ध भगवान जरा तुम हमारी जैसी अद्भुत लीला करके तो दिखा दो। देखो हम कैसी अद्भुत लीला करके दिखाते, न जाने कितने कितने प्रकारके भेष धारण करते, कभी पेडके रूपमे हुए तो कैसे कैसे पेड, कैसे कैसे पुष्प, कैसी कैसी पत्तियाँ, भिन्न भिन्न प्रकारके पुष्प, भिन्न भिन्न प्रकारके पराग, केसर मकरदोंके रूपमे दिखाई पडते। यह तो इस बिगडे हुए परमात्माकी लीला कही जा रही। कैसी विचित्र लीला यह

बिगडे रूपमे दिखा देता कि जिसे देखकर लोग हैरान हो जाते, न जाने कितने तरहके वृक्ष, न जाने कितने तरहके कीट पतिंगे यह सब इस बिगडे हुए परमात्मा की लीला है। तो मानो वह अज्ञानी कभी सिद्ध भगवानसे भी कह बैठता कि हे भगवान हम जितनी अद्भुत लीला करके दिखा सकते, क्या वैसी तुम नही दिखा सकते ? देखो जब कभी घरका कोई बडा आदमी बिगड जाता, नाराज हो जाता तो उसे देखकर सभी लोग थर-थर कांपते, तो ऐसे ही यह परमात्मा इस समय बिगड रहा है। अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब इसके चल रहे हैं, तो ये सब भी उस बिगडे हुए परमात्मा की अद्भुत लीलाये हैं। तो बात यह है कि ज्ञानी और अज्ञानीकी होडमे अज्ञानी अद्भुतताके लिये कम नही रहेगा। परन्तु जब एक प्रश्न आता है कि जीवका प्रयोजन केवल आनन्द है तो उसकी होड दिखावे, मौलिक बात करें तो वहाँ यह बिगडा हुआ परमात्मा पिछड जाता है और मानो कहता है कि महाराज मैं आपके सामने पामर हूँ, दीन हूँ, सत्य तो तुम हो, अनन्त आनन्दमय तुम हो, ऐसा ज्ञान विकास है कि तीनो लोक जिसके ज्ञानमे प्रतिभासित होते वहाँकी होड, वही सच्ची बात है परम विकास है, अनन्त आनन्द हैं। तो बताओ के सिद्ध प्रभु कितना उत्कृष्ट है, वे सुरक्षित है और यहाँ ये ससारी जीव अरक्षित है।

१२४०—ज्ञानीके सत्के अविनाशित्वका पूर्ण निर्णय—

हाँ है तो ससारी अरक्षित, मगर ये जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव है उनका विकास, उनका ध्यान, उनका ज्ञान इसी प्रकार चल रहा है कि वे अपने मे अरक्षाका रच भी अनुभव नही करते। जो सत् है वह कभी भी नाशको प्राप्त नही होता। भागवद्गीतामे बताया है "नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सत," कितना भी कोई किसी प्रकार गडबड सिद्धान्तमे चले, कुछ न कुछ सच्चाईको लिए हुए होगा तो गडबड भी निभ जायगी और जहाँ रच भी सच्चाई नही है वहाँ गडबडका एक पग भी नही चल सकता। जो पदार्थ सत् है उसका कभी नाश नही होता। कल्पना करो कि जो है वह प्रतिभासात्मक है, जो है वह गुणात्मक है। जो भी सत् है उसका बिल्कुल अभाव हो यह कुछ कल्पनामे आ सकता क्या ? क्या हो गया, कुछ भी रहा क्या ? अरे वह गुणप्रदेशात्मक जो वस्तु है याने सत् है उसका सर्वाभाव कैसे हो जाय ? अरे जिसको अन्य लोग अभाव कहते हैं वह तो तुच्छाभाव है। एक बात और ध्यानमे रखना। जैन सिद्धान्तमे अभाव तुच्छाभाव नही है किन्तु अन्यके सद्भावरूप होता है। जब-जब भी अभावकी चर्चा करें तब-तब अन्यके सद्भावकी बात देखे। क्योकि जैन सिद्धान्तमे अभाव तुच्छाभाव रूप नही है, और इसी कारणसे अभाव प्रमाण नही है जैन सिद्धान्तमे। वैशेषिक मानते हैं अभाव प्रमाण, क्योकि उनका अभाव प्रमाण तुच्छाभावको बतानेके लिए कल्पित हैं। तो जहाँ अभाव की भी कोई बात कही जाय, तो वहाँ पर अत्यन्ताभाव याने सर्वाभाव नही है, पूर्ण अभाव नही है। मात्र अभाव कुछ होता नही। पर्यायमें अभावकी बात तो चलती है, पर वहाँ इस पर्यायका अभाव है, मायने अन्य पर्यायके सद्भावरूप है यह प्रत्यक्ष होगा।

१२४१—अभावकी अन्यसद्भावरूपता—

कोई भी अभाव पूर्ण अभावरूप नही होता। तो जो सत् है वह कभी नाशको प्राप्त नही होता। यह बात, यह वस्तुस्थिति एकदम स्पष्ट है, याने पदार्थको हाथमे लेकर अभाव कर करके भी दिखा दो। पर्यायका अभाव तो हो गया मगर सत्का अभाव नही है। पर्यायका भी अभाव अन्य पर्यायरूप होता। अगुली अभी सीधी है, कुछ टेढी करनेपर सीधीका अभाव हो गया, मगर वह सर्वाभाव नही

है। वह टेढी अगुली हुई तो उस रूपसे ही सीधीका अभाव कहेगे। एक वार एक बुढिया रहटा काट रही थी तो उसका तकुआ टेढा हो गया। अब अगर तकुआ घरमे किसी हसिया वगैरहसे ठोक ठोककर सीधा करे तो सही न होगा यह सोचकर वह लुहारके पास ले गई। लुहारसे बोली—भाई हमारे तकुआकी टेढ निकाल दोगे? 'हाँ-हाँ निकाल देगे।'''कितने पैसे लोगे?'''एक आना।''अच्छा भाई निकाल दो। वस लुहारने उसे ठोक पीटकर सीधा कर दिया। जब लुहारने ४ पैसे माँगा तो बुढिया बोली—ठीक है अपने एक आना पैसा तो ले लो पर जो तकुआका टेढ निकाला है वह मुझे दे दो। अब भला बताओ यह काम कैसे किया जा सकता? अगर वह उसे फिर टेढा करदे तो टेढ निकली कहाँ और अगर टेढी न करे तो टेढ निकली अलग है कहाँ? तो वहाँ वात क्या है कि वह सीधी और टेढी पर्याय है। टेढी पर्यायका विनाश हुआ और सीधी पर्यायका उत्पाद हुआ तो टेढी पर्यायका अभाव सीधी पर्यायके सद्भावरूप है। देखो वहाँ वात तो ऐसी हुई मगर सत्का नाश तो नही हुआ। जो सत् है वह कभी नाशको प्राप्त नही होता।

१२४२—स्वय सद्भूत ज्ञानमात्र आत्माके अत्राणका अभाव—

ज्ञान स्वय सत् है। ज्ञान कहो, आत्मा कहो। ज्ञानमात्र रूपमे आत्माका अनुभव, परिचय करनेसे उसका सही परिचय सुगम वनता है। यह ज्ञान स्वय सत् है, यह नाशको प्राप्त नही होता, स्वय ही यह सुरक्षित है, जो है उसका नाश हो ही नही सकता। तो दूसरेके द्वारा रक्षाकी क्या वात आयी? और अरक्षित हुआ कहाँ? जो है वह कभी नष्ट नही होता, तव कुछ अत्राण है ही नही, इसकी कभी अरक्षा है ही नही। कल्पनाये कर करके मैं अरक्षित हूँ, ऐसा सोच सोचकर कोई मर भी जाय तो भी अरक्षा नही है। सुरक्षित है वह। यहाँ न रहा और जगह चला गया। आत्मा अरक्षित नही है, क्योकि वह स्वय सत् है। जो सत् है उसका अत्राण कुछ नही है। यहाँ जो घबडाहट होती है सत्त्वकी कुछ भी अरक्षा नही। ये सव घबडाहट क्या हैं? ये मोहके विकल्प है। प्रत्येक चीज अपने आपमे है, उसका कभी विनाश होता नही है। तो वहाँ अत्राण कहाँ रहा? अत्राण आत्माका ही क्या किसीका भी नही है।

१२४३—स्वय सत् स्वय सुरक्षित अन्तस्तत्त्वकी श्रद्धामें निःशक शातिवेदन—

मैं सुरक्षित हूँ, सदा रहने वाला हूँ, ऐसी दृष्टि कोई भीतर बनाये तो सही, इसीको कहते हैं सन्यास मरणकी तैयारी। यहा तो भय छोडकर जा रहा है वह, बडा प्रसन्न होकर जा रहा है वह, खेद सहित नही जा रहा। वह जान रहा है कि जो मैं हूँ वह पूराका पूरा तो यहाँसे चला। इसमे हमारी अरक्षा क्या हुई? अरक्षा तो वहाँ है जहाँ दूसरे पदार्थमे ममता लगी है और वह अपना साथ निभा नही सकता। कोई पर पदार्थ हमारा साथ निभा दे यह कभी हो ही नही सकता। इतना निकट है यह शरीर, मगर बोलो—यह शरीर साथ निभा सकेगा क्या? एक सम्वाद दिया है। मानो यह जीव बोल रहा है मरते समय कि अरी काया मैंने तेरे लिए क्या क्या काम नही किया। पाला पोसा, खिलाया पिलाया और बडे प्यारसे रखा। जव नहाते है तो ऊपरसे फव्वारा चाहिए। खूब साबुन तेल फुलेल लगा लगाकर इस शरीरकी खूब सेवायें किया, फिर आयना देख देखकर खूब खुश हुआ, खूब अच्छे अच्छे स्वादिष्ट व्यञ्जन खिलाया पिलाया। रे शरीर मैंने तेरी बडी सेवा किया। अब अन्तमे यही कहता है कि तू मेरे साथ चल। तो मानो शरीर कहता है कि अरे तू बडा बेवकूफ है। यह तो मेरी आदत ही नही। मैं किसीके साथ नही गया। बात तो सही यह है किन्तु इसको

य होता है अज्ञान से। ज्ञानी तो अपने अकम्प उस चैतन्यस्वरूपको निरखता है, यह मैं हूँ। इसका कही विनाश नही, त्रिकाल विनाश नही, फिर अरक्षा क्या। ऐसी स्थिति वाले सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको अत्राणका भय नही, किन्तु वह नि शक होता हुआ एक निज सहज स्वभावका अनुभव करता है। यो सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा महान साहस करता है कि कठिनसे कठिन स्थिति हो तो भी वह अपनी अरक्षा नही मानता। अपनी सत्ता पर उसका श्रद्धान है। वह तो जानता है कि यह सत् है, सुरक्षित है, इसका कोई बिगाड नही कर सकता। तो यह अपनेको सुदृढ सुरक्षित मानता हुआ अपने सहज ज्ञानामृतका निरन्तर पान करता रहता है।

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे नयच्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः। अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५८॥

१२४४—ज्ञानीके अगुप्तिभयका अभाव—

अज्ञानी जीवोको अगुप्तिभय रहा करता है, जैसे मकान खुला हो, किवाड ठीक न हो या अन्य प्रकारसे कोई एक आवरण न हो, जहाँ कोई विरोधी जन आ सके, विरोधीजन जहाँ अपना अधिकार जमा सके, ऐसी ही कोई वार्ता हो, उसको देखकर उसको अगुप्तिभय हुआ करता है, मेरी रक्षा का कोई दृढ साधन नही है यह है अत्राणभय। अगुप्तिभयमे रक्षा होनेका साधन नही है, इसका भय है। उस विषयमे ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि कहाँ है मेरी अगुप्ति ? जगतमे जो पदार्थ है उनका जो स्वरूप है वह स्वरूप उनमे त्रैकालिक है, मजबूत हैं, वहाँ किसी परका प्रवेश नही होता। मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूपमे किसी अन्यका प्रवेश नही। जो सत् है वह स्वय सत् है, उसमे दूसरेका कोई प्रवेश नही। यह वस्तुस्वभाव है। उस स्वभावको कौन मेट सकता। मेरे ये प्रदेश मेरा यह स्वरूप यह ही दृढ किला है ऐसा मजबूत किला कि जहाँ त्रिकाल भी किसी परका प्रवेश नही हो सकता है।

१२४५—आत्मप्रदेशमे ही विराजे आत्मारामको अज्ञानमे स्वापराधकृत कष्ट—

देखो भैया, स्वरूप तो सुरक्षित है फिर यह क्यो दु खी हुआ करता ? यह यही विराजा विराजा भीतर कल्पनायें मचा मचा कर यही दु खी होता है। यह ऐसा खेल चल रहा है दु खी होने का कि जैसे किसी पुरुषको किसी दूसरेपर भ्रम हो जाय, बल्कि वह हितू है, समर्थक है, शुभचिन्तक है फिर भी भ्रम हो गया कि यह मेरा विरोधी है, मेरा दुश्मन है, तो अब वह तो भ्रमके कारण भीतरमे बडी तकलीफ मानता है और वह दूसरा आदमी उसे कुछ भान ही नही है, वह कुछ समझता ही नहीं है, वह तो जा रहा, आ रहा, घरमे है, कही भी है तो देखो वह इकतरफा ही तो दु खी हो रहा। कोई दूसरा दु खी करने वाला है क्या ? ऐसे ही यह आत्माराम अपने आपमे भ्रम बनाकर दुखी होता रहता है। दूसरा न कोई विरोधी है, न मित्र है, वे तो सत् पदार्थ हैं, उनका काम उनमे चल रहा है, लेकिन यह भ्रमी यह बहिरात्मा अपने आपमे बाहरी पदार्थोंके प्रति भ्रम परिणति कर डालता है, यह

मेरेको [illegible] ...र, इस तरह भीतरमें जो एक भ्रमभाव बना रखा है उससे

व्यथित [illegible] वाला अपना ही अपराध है। दूसरेके अपराधसे कोई दुःखी

नही हो [illegible] भरा है—अपगता राधा यत्र स अपराध याने जहाँ राध

ही है, [illegible] जहाँ आत्माकी उपासना नही है, अपने आत्म स्वरूपकी

ष्ट [illegible] । स्वरूपसुधसे हटकर भ्रमवाला कोई भाव करें तो वह

अ [illegible] ी मजबूत किलेमे बैठा हुआ भ्रम लगाये रखता है।

अज्ञानी, बाहरी पदार्थोंका चिन्तन कर रहा है, उनमे इष्ट अनिष्टकी कल्पना मचाता है और दु खी होता है, और ख्याल करता है कि मेरी कोई गुप्ति ही नही है, कोई ऐसी मजबूत बात ही नही है कि मैं दु खी न होऊँ।

१२४६—परमगुप्तिमय निजस्वरूपके जाननहारके अगुप्तिभयका अनवसर—

ज्ञानी जान रहा कि जो मेरा स्वरूप है वही परम गुप्ति है, उत्कृष्ट गुप्ति, क्योकि स्वरूपमे कोई भी अन्य पदार्थ प्रवेश करनेके लिए समर्थ नही, और यह स्वरूप खुद है, सहज है. यही तो उसका सत्त्व है। तो इस जीवके अगुप्ति है ही नही, इस कारण ज्ञानीको अगप्तिका भय नही होता। जिसने अपने स्वरूपमे आग्रह किया है, यह ही मैं पूरा हूँ। यह ही मेरी सब दुनिया है, यह ही मेरा सर्वस्व है, दूसरे से तो प्रयोजन ही कुछ नही। अन्य पदार्थ चेतन अचेतन वे अपने आपके सत्त्वसे प्रतिष्ठित है। तो जो अपने स्वरूपसे प्रयोजन रख रहा है, यह मैं हूँ, पूरा हूँ, यह ही हूँ, स्वरूपसे अमुक्त हूँ, इससे कभी छूटता नही, अन्य सब परतत्त्वोसे मुक्त हूँ, अपने स्वरूपको तो ग्रहण कर रहा हूँ। अन्तस्तत्त्ववेदीका मरण भी हो रहा तो भी वह दु खी नही होता। क्योकि वह जान रहा कि इससे मेरा बिगाड क्या ? जगतके पदार्थोंका कुछ भी परिणमन हो तो भी वह अपना बिगाड नही मानता, और फिर किसी पर का यहाँ प्रवेश ही नही है, ऐसा निर्णय होनेके कारण यह ज्ञानी जीव नि शक रहता है।

१२४७—स्वरूपदर्शन व सर्वसाम्यके उपाय द्वारा विकल्पकष्टोका दूरीकरण—

जो लोग बाहरी पदार्थोंमे इष्ट अनिष्टकी बुद्धि रखते है वे ही शकित होते है, दु खी होते हैं। यह मेरेको भला नही रहा, यह मेरेको बडा बुरा है, ऐसी बाहरी पदार्थोंमे दृष्टि है, वह क्या है ? अपने आपकी कलुषित परिणति। तो जहाँ कलुषता है वही कष्ट है। यदि कष्टसे दूर होना है तो प्रथम कर्तव्य है कि चित्तमे कलुषता न रहे, और इसके लिए एक बार ऐसी उपयोगदृष्टि बनानी होगी, फिर प्रतीतिमे रहेगा, एक वार पौरुष तो करे कि ससारके जितने जीव है वे सब मेरे स्वरूपके समान हैं। उनमे इसकी थोडी भी गुजाइश नही कि यह मेरा और यह मेरा नही। स्वरूपको निहारो। इसमे अपने आपकी बडी दया है, तत्काल अशान्ति दूर होगी, शान्तिका स्रोत बहने लगेगा क्योकि अशान्ति जितनी है वह सब कलुष परिणाम है। कलुष परिणाम होनेका आधार है जगतके इन जीवोमे से कुछ को मान लिया अपना और कुछको मान लिया गैर। यह एक ऐसा विकट आधार है कि इस जीवके कलुष परिणाम बढते रहते है। तो जब कोई विडम्बना हो, कलुष परिणाम हो वह बडी विपत्ति है तो उसे मूलसे नष्ट करनेका पौरुष करना है। तो मूलमे स्वरूपदर्शन और उसी दृष्टिसे जगत के सब जीवोमे पूर्णतया एक समानताका दर्शन यह भाव जब जगे तो इसका कलुष परिणाम दूर हो। जगतके जीवोपर दृष्टि दे तो समान दीखे और किसीपर दृष्टि न दें तो केवल अपने आत्मारामको देखे, बीचकी बात नही करनी कि जगतके जीवोको देखें और उनमे यह विभाव बनावें कि यह मेरा यह गैर, स्वरूपदृष्टि करके एक समता लायें, वहाँ सन्मार्ग प्राप्त होगा।

१२४८—गुप्ति अगुप्तिका तात्पर्य—

गुप्ति मायने क्या है ? लोग बताते है छुपाना, इस बातको गुप्त रखना मायने छुपाकर रखना, यह भी अर्थ मानलो मगर वास्तवमे गुप्त रखनेके मायने छुपाकर रखना नही है, किन्तु सुरक्षित रखना है। व्याकरणमे गुप् सरक्षणे धातु है, उससे बनता है गोपन, सरक्षण करना। चूँकि सरक्षण छुपाकर होता है, इसलिए गुप्तका अर्थ छुपाना प्रसिद्ध हो गया। वास्तवमे गुप्तका अर्थ छुपाना नही है।

निर्णय किया। अरे कोई यहाँसे उठा देगा तो वहाँ चला जाऊँगा, मैं तो पूरा रहूँगा, मेरा तो कुछ विनाश नही। वहाँ भी मैं सुरक्षित। किसी ज्ञानीको कोई कैद करले, अपराध हो न हो, किसी प्रकार जेलमे बद करदे, रस्सीसे बाँध दे, तो भला बतलाओ वह बँधा क्या ? वह अपनेमे कुछ अनुभव कैदका कर रहा क्या ? अगर वह ज्ञानका ज्ञानमे उपयोग रख रहा तो उस कालमे उसे कैद कहाँ ? कोई किसीको जबरदस्ती पकडकर रखे या शरीर पर जबरदस्ती हो रही मगर ज्ञानीका उपयोग करते समयकी बात कह रहे—जो जीव अपने ज्ञानस्वरूपमे उपयोग कर रहा है ऐसी स्थितिमे उसको यह अडचन नही है। भले ही किसीको रोक दिया कि तुम इस कोठरीसे बाहर नही जा सकते, पर इसे कोई रोकेगा क्या कि तुम ज्ञानानुभव नही कर सकते। किसीको खम्भेमे बाँध दिया जाय, पहरेदार भी उसको ताकनेके लिए नियुक्त कर दिये जाये, पर कोई यह जबरदस्ती कर सकता क्या कि तुम अपने ज्ञानस्वभावको ज्ञेय नही कर सकते ? कोई प्रतिबन्ध नही कर सकता। भले ही कोई स्वय घबडाकर अधीर होकर स्वरूपसे च्युत होकर व्यग्र हो तो हो तो, मगर कोई दूसरा व्यग्र नही कर सकता। इस ज्ञानीने ऐसा गुप्त सुरक्षित स्वरूप पाया।

१२५२—गुप्तमे गुप्तको गुप्त साधना—

अच्छा गुप्तका अर्थ गुप्त ही रख लो छिपा हुआ, यह गुप्त तो है ही, छुपा हुआ है। अच्छा और इस गुप्तको देखेंगे तो यह प्रकट दिखेगा कि गुप्त होकर दिखेगा ? अरे गुप्तने गुप्तको देखा उस समयमे क्या बात बनेगी ? कल्याण वह गुप्त है कि खुला है ? वह भी गुप्त। गुप्तमे गुप्तको गुप्त करके गुप्तका अनुभव करना है, इसका ऐसा सुरक्षित गुप्तस्वरूप है। उसका निर्णय करने वाले ज्ञानी जीव नि शक होकर निरन्तर सहज ज्ञानस्वरूपका वेदन करते हैं। वेदनमे जानना, अनुभवना, वेदना ये सब बाते आ जाती हैं इसलिए एक सीधा प्रत्येक कलशमे "विन्दति" का प्रयोग किया है।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरण प्राणाः किलास्यात्मनो ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरण न किंचन भवेत्तद्भी. कुतोज्ञानिनो नि शंकः सतत स्वयं स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५६॥

१२५३—मरणभय और प्राणोच्छेदका संक्षिप्त विवरण—

अज्ञानी जीवको मरणका बहुत बडा भय है। इससे बढकर और कोई भय न मानता होगा जितना कि मरणका भय मानता। मैं मर जाऊँगा, उसके साथ ये सारे ऐब छुपे हुए हैं जिसके कारण वह भयभीत हो रहा। मैं मर जाऊँगा, ऐसी शकाके साथ वह सब दृश्य इसकी निगाहमे आ गया कि यह छूट जायगा, वह छूट जायगा, बच्चे छूट जायेंगे'''। सारीकी सारी बातें उसके पास एक साथ लगी हैं, ये सब सग प्रसग मरण भयको और अधिक बढा रहे हैं। अज्ञानी जीवको मरणभय क्यों होता है ? अज्ञानीके मोह है आशक्ति है, ये सारी व्यथाये हैं, ये सारी विडम्बनाये हैं जो कि उसके भयको उत्पन्न करती है। मरणके मायने क्या है ? प्राणका उच्छेद होना प्राणका वियोग होना। प्राण मायने क्या ? परमार्थ प्राण तो एकमात्र चैतन्य है उसका तो वियोग होता नही, पर व्यवहार प्राण क्या ? ५ इन्द्रिय, ३ बल, स्वासोच्छ्वास और आयु जिनका वियोग होनेसे मरण बने, जिनका सयोग होनेसे जीवन बने उन्हे कहते हैं प्राण। स्पर्शन आदिक जो ५ प्राण हैं इन्द्रिय वाले ये ज्ञानमयवित्त हैं, ऊपरी चीज नहीं, शरीरकी रचना मात्रसे मतलब नही। नही तो कहो कि हमने दोनो आँखें फोड लिए, पर हम मरे तो नही, तुम तो कहते कि जिनके वियोगसे मरण हो जाय। तभी तो ये ५ इन्द्रिय प्राण १२ वें गुणस्थान तक हैं। इन्द्रिय प्राण १३ वे गुणस्थानमे नही है। अच्छा, और देखनेमे तो

शरीर १३ वे गुणस्थानमे भी आ रहा, ५ इन्द्रियाँ हैं, रहे, वह पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्मकी वात चल रही है। मगर यह इन्द्रिय प्राण लब्धिरूप है, याने उन-उन इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान करनेकी वात आती, ये अगर मिट जायें तो मरण हो जाय। भले ही उसमे आप ऐसा निर्णय करें कि लो गला कटे या कुछ वात वने तव वनता है यह। वनो मगर इन्द्रिय प्राणके मायने है इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करनेकी वात। वह क्षयोयशम लब्धि १२ वें गुणस्थानमे है। जव १३ वे गुणस्थानमे प्राण मिट जाते, वहाँ मनोवल भी मिट जाता तो वचनवल, कायवल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये ४ प्राण रहते। मनोवल भी नही रहा क्या १३ वें गुणस्थानमे ? हाँ नही रहा। इन छहोका काम वहाँ नही है। इनके माध्यमसे ज्ञानकी वात नही चलती, और मुख्य वात है आयुका क्षय सो मरण। तो इन प्राणोके वियोगका नाम मरण है।

१२५४—परमार्थ प्राणके वियोगकी असभवताका परिचय होनेसे ज्ञानीके मरणभयका अभाव—

आत्माका वास्तविक प्राण क्या ? ये १० प्राण तो प्राण ही नहीं हैं। वास्तवमे आत्माके ये तो औपाधिक वातें हो गई। प्राण तो हमारा है ज्ञान। शाश्वत स्वभावमय यह ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व कभी मरता है क्या ? ज्ञानस्वरूप कभी नष्ट होता है क्या ? स्वरूप तो शाश्वत है, वह कभी भी छिदता नही। इस कारण इस जीवके मरण नही है। मरण होता ही नही। चेतन मिटता ही नही। तो अव इसको मरणका भय कहाँसे हो ? जो अपने स्वरूपको अपना पूरा सर्वस्व मान रहा है और उससे वाहरमे किसी चीजको अपना नही समझ रहा है। वह यदि एक शरीर त्यागकर दूसरे शरीरमे जाय तो उसके भीतर कोई विषाद नही होता। वह जानता है कि मेरा तो सव कुछ मेरे साथ चल रहा है। जो मेरा न था, न है, न होगा, वह जहाँका तहाँ है। उसे मरणभय कहाँसे ?

१२५५—दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानवलीके मरणभयके अभावकी सिद्धि—

एक दृष्टान्त लो—किसी वहुत वडे आफीसरका तवादला हो रहा, मानो जिसके लिए एक रेलकी बोगी स्वतंत्र मिलती है, एक मालका डिव्वा भी स्वतंत्र मिलता है, नौकर चाकर भी वीसो मिलते जो सव सामान रखेंगे, और पहलेसे अगले स्टेशनपर वीसो नौकर वहाँ खडे, हजारो आदमी अगवानीके लिए खडे, रहनेके लिए अच्छा वँगला मिलता, ऐसे आफीसरका तवादला हो तो उसके चूल्हा, चक्की आदिक सव साथ जायेंगे। कोई चीज तो नही रहती। सव सुविधायें हैं, दो डिव्वे मिले हैं, उसे क्या करना है, वस घरसे कारमे वैठा और वहाँ पहुँचकर ट्रेन पर चढा, उसका सारा सामान उसके साथ जा रहा। वताओ ऐसे आफीसरको तवादलेमे कोई दुःख होता है क्या ? हाँ ये छोटे-छोटे क्लर्क लोग जरूर दुःख मानते क्योकि इनके लिए तो वहाँ पहुँचकर कही क्वार्टर भी तलासना पडेगा, स्थान परिवर्तन करनेके लिए अनेक दिक्कतें भी उठानी पडेंगी। तो जैसे उस वडे आफीसरको तवादलेमे कोई दुःख नही होता ऐसे ही इस ज्ञानी जीवको भी इस तवादलेमे (मरणमे) दुःख नही होता। यह देहका छोडना आखिर तवादला ही तो है। इस भवको छोडो, अव तुम्हारी डियूटी देवगतिकी दी जा रही है। तो इस तवादलेमे यो कष्ट नही कि वह जानता है कि जो-जो कुछ मेरा है वह सव मेरे साथ चल रहा, उसे कोई कष्ट नही होता। यह तवादला भी कैसा विचित्र है। वताओ एक आफीसर दूसरे आफीसरको चार्ज देता है तो उनमेसे महत्त्व किस आफीसरका अधिक समझा जाता ? वैसे महत्त्व तो दोनोका है पर एक अधिकारकी दृष्टिसे देखो तो चार्ज देने वालेका महत्त्व अधिक समझा जाता, क्योकि उसका हुकुम अधिक चल रहा और लोकप्रियताकी दृष्टिसे चार्ज लेने वालेका महत्त्व तो जव

इस भवसे तबादला होता है मानो मनुष्य यहासे मरा और उसे घोडेकी पर्यायमें पैदा होना है तो उस बीचकी जो विग्रहगति है वहा विग्रहगतिमे नाम तो रहेगा घोडेका और आकार रहेगा मनुष्यका, ऐसा विचित्र तबादला है, तो यह बात तो आप सब जानते ही होगे कि विग्रहगतिमे आकार रहता है पूर्व-देहका और नाम होगा अगली पर्यायका यहासे मरा, घोड़ेके देहमे पहुँचना है तो तिर्यञ्चगति बोली जायगी, आकार मनुष्यका रहेगा। ऐसी स्थितिया होती। परन्तु फिक क्या है ज्ञानी जीव जानता है कि ज्ञान मेरा है, वह शाश्वत है, वह छिदता नही, इसका कभी मरण होता नही, तो उसको मरणका भय नही है, और वह निःशक होता हुआ स्वत. सहज ज्ञानस्वरूपका सवेदन करता है।

एकं ज्ञानमनाद्यनतमचल सिद्ध किलैतत् स्वतो, यावत्तावदिद सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय'। तन्नाकस्मिकयत्र किंचत भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो, निःशकः सततं स्वयं स सहज ज्ञानं सदा विन्दति।।१६०।।

१२५६—आकस्मिक भयका विवरण—

निर्जराधिकारमे सम्यक्त्वके ८ अग बताये जा रहे हैं, जिनमे यह प्रथम अंगका वर्णन चल रहा। सम्यग्दृष्टि जीव नि शक होता है, क्योकि वह सप्तभयसे रहित है, सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मस्वरूप मे निशक है, अत वह सप्त भयोसे रहित है। निर्भयता व नि शकता परस्पर साधक है। उन सप्त भयोके प्रकरणमे आज आकस्मिकभयके सम्बन्धकी बात कह रहे हैं। आकस्मिकका अर्थ क्या है ? तो आकस्मिकका प्रसिद्ध अर्थ है अचानक। कहीसे भी भय बन गया, जिसका कोई अनुमान नही, अदाज नही, कुछ पहलेसे बोध नही और हो गया उसे प्रचलित अर्थमे कहते है आकस्मिक। शब्दार्थमे यह निकलता है कि कहीसे नही सो आकस्मिक 'न कस्मादपि इति आकस्मिक,' किसीसे भी नही अर्थात् जाननेमे आये हुए किसी से नही, जिसका कि पहले कुछ सिलसिला लग गया हो कि अब यह बात बनी, अब यह बात आ रही। जैसे अचानक ही कोई ख्याल करले, अगर बादलोसे बिजली ही टपककर इस भवन मे आ जाय तो कही यह छत ही न गिर जाय तो कुछसे भी कुछ एक आकस्मिक ख्याल बने, इसे कहते हैं आकस्मिक भय। यह भय ज्ञानीके नही है। इसका कारण यह है कि ज्ञानी जीव के यह निर्णय है कि यह मैं एक ज्ञानमात्र हूँ। इसमे किसी दूसरे पदार्थका उदय नही होता।

१२५७—आत्मा और ज्ञानगुणकी अभेदरूपता—

कैसा परम पदार्थ है यह सहज भगवान आत्मदेव 'ज्ञान निर्वृत्त अनादित,' यह ज्ञान ज्ञान ही है, जिसका प्रतिभासमात्र स्वरूप है। सो बताया जा रहा है, इसी कारण इसे सर्व द्रव्योमें सार कहा। यह मैं एक ज्ञानमात्र हूँ, सो वह ज्ञानस्वरूप अनादि अनन्त है। मेरे इस ज्ञानस्वरूपका आदि नही है कि किस दिनसे मैं हूँ। आत्मामे ज्ञान है ऐसा यहाँ नही कहा, यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह निरखना है। इसमे ज्ञान है, ऐसा कहने पर इसकी दो दृष्टियाँ बन सकती है, अभेद भी बनाया जा सकता, मगर तुरन्त तो भेदभाषा बोली जा रही है। जैसे घडेमे चना हैं, बोरेमे गेहूँ है, आत्मामे ज्ञान है। देखिये आत्मा और ज्ञान इन दो के सम्बधसे साख्य और वैशेपिकके आधार पर कितना भेद माना है। साख्य सिद्धान्तके अनुसार तो ज्ञान आत्माकी चीज ही नही है, वह तो प्रकृतिका धर्म है। प्रकृतेर्महान् ततोऽहकारस्तस्माद्गणश्चषोडशक.। तस्मादपि षोडशकात्पचभ्य पच भूतानि। यह साख्य सिद्धान्तमे लिखा है कारिकामे। प्रकृतिसे महान उत्पन्न होता है और महानका अर्थ है बुद्धि, ज्ञान जिससे कि अहकार बनता है, तो ज्ञान प्रकृतिका धर्म है, आत्माका धर्म नही। पुरुषका धर्म नही। फिर उनसे पूछा जाय तो पुरुषका धर्म क्या है ? पुरुष मायने आत्मा। तो उसका धर्म है चैतन्य। उस चैतन्यका अर्थ

क्या है ? कहते हैं कि प्रकृतिका धर्म है ज्ञान, और ज्ञानसे जो निर्णय बना उसको चेतनेका काम है पुरुषका। कितना बडा व्यायाम है। तो यहा ज्ञानको उस आत्मासे अत्यन्त जुदा बताया है। साख्य सिद्धान्तमे और वैशेषिक वहाँ भी बताते तो जुदा है, किन्तु अविष्वगभाव रूप मानते याने अनादिसे सम्बन्ध वाला कहते। वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार द्रव्य, गुण, पर्याय (क्रिया) सामान्य, विशेष समवाय ये सब स्वतन्त्र, स्वतन्त्र हैं। गुण स्वतन्त्र है तो यह गुण इसका ही है यह कैसे जाना जावे इस प्रश्नपर उत्तर देते हैं कि समवाय सम्बन्ध से। किन्तु यह सब युक्तिसगत नही है। आत्मा ज्ञानात्मक है।

१२५८—द्रव्य, गुण और पर्यायको भिन्न स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत् माननेकी विडम्बना—

द्रव्य स्वतन्त्र सत्, गुण स्वतन्त्र सत्, पर्याय स्वतन्त्र सत्। सामान्य विशेष, समवाय ये ६ भावरूप और १ अभावरूप ये सब स्वतन्त्र स्वतन्त्र पदार्थ माने वैशेषिकों ने, अच्छा ये स्वतन्त्र सत् अगर हैं तो स्वतन्त्र सत्की व्याख्या क्या है ? जो स्वय अपनेमे परिपूर्ण है और जैन सिद्धांत के अनुसार जो उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त है गुणपर्याय वाला है उसे सत् कहा गया है। सद्द्रव्य लक्षण, गुणपर्ययवद्द्रव्य, तो जितने उनके गुण हो, २४ गुण है, पार्थक्यगुण, सयोग गुण, ज्ञान गुण आदि आदि ऐसे ऐसे गुण माने हैं, तो ज्ञानगुण अगर स्वतन्त्र सत् है तो वह गुणपर्याय वाला होना चाहिए। याने ज्ञान गुण स्वय गुण-पर्याय वाला हुआ सो निर्गुणा गुणा। गुणमे गुण होते नही, जरा जैनागम अनुसार उन वैशेषिकोंके वक्तव्यकी परीक्षा कर लीजिये, उत्पादव्यय ध्रौव्य वाले होते सत्। अब देखो ज्ञान कैसे स्वतन्त्र सत् है? सो वह ज्ञानगुण ध्रौव्य तो है, पर स्वय उत्पादव्यय रूप नही। इसी तरह उनकी क्रिया, परिणति वह स्वतन्त्र सत् है तो वह भी गुण पर्यायवान होनी चाहिये, उत्पाद व्ययध्रौव्य वाली होनी चाहिए सो नही। न्यायसे वह द्रव्य गुण क्रिया, सामान्य ये सारे पदार्थ जुदे-जुदे नही ठहरते। वे सब एक ही द्रव्य के ही भेद करके बताये गये हैं। सो इतना एकान्तमे वह गए वैशेषिक कि उन्हे स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगे, जब कि जैन सिद्धांतमे केवल अतद्भाव बताया गया, पदार्थ एक ही है द्रव्य, वह अखण्ड स्वभाव-मय है। उसमे गुण आरोपित किये स्वभावके भेद करके, तो उन गुणो का स्वरूप देखो तो परस्पर अतद्भावको लिए हुए हैं उन्हे स्वतन्त्र सत् नही कहा जा सकता। इसी तरह द्रव्यमे जो परिणतियाँ होती हैं वे अतद्भावको लिए हुए हैं, स्वतन्त्र सत् नही। पर्याय स्वतन्त्र सत्, यह है बौद्धका सिद्धांत। पर्यायको उन्होने पदार्थ कह दिया, क्योंकि स्वतन्त्र सत् निरन्वय होता है। किसी दूसरेसे लगार नही रखता। जैसे जीव, परमाणु यह परस्पर निरन्वय है, पर वैशेषिक सिद्धान्तमे द्रव्यको जुदा, पदार्थको जुदा पदार्थ माना है। तब एक विपत्ति आती है कि जब द्रव्य जुदा है, आत्मा जुदा है वैशेषिक सिद्धात मे और ज्ञान गुण है जुदा पदार्थ, तो ज्ञान आत्मामे ही पाया जाता और इन भौतिक पदार्थोंमे या आकाश आदिकमे न पाया जाय। ऐसा नियम कैसे बनावेंगे ? जब यह एक प्रश्न वैशेषिकोंके सामने आया तो उन्होने उत्तर दिया कि समवाय न बनेगा। समवायका अर्थ क्या है कि जो कभी प्रथक् न हो और प्रथक् होगा भी नही उनका सम्बन्ध बनना सो समवाय है। सयोग तो प्रथम होता उनका फिर सम्बन्ध बने वह तो सयोग है। तो साख्यकी अपेक्षा वैशेषिक कुछ अभेद तो लाये मगर स्वतन्त्र मानना उनका भी रहा, पर जैन सिद्धान्तमे आत्मा स्वतन्त्र, ज्ञान स्वतन्त्र पदार्थ है ऐसा नही है, किन्तु यह आत्मा ज्ञानमात्र है।

१२५९—आत्माकी ज्ञानरूपता—

आत्मा एक ज्ञान है, ज्ञानमात्र है, अनादि है, अनन्त है, इस ज्ञानकी आदि नही, इस ज्ञानका

अन्त नही अचल है। अपने स्वरूपसे कभी चलित नही होना, ऐसा यह स्वत सिद्ध अतस्तत्त्व है। यह जितना है उतना ही है, यहाँ पर दूसरेका उदय नही। बाहरी पदार्थोंसे इसमे कुछ आता नही, इस कारण यहाँ आकस्मिक कुछ हो ही नही सकता। ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वमे जब किसी दूसरेका उदय ही नही है तो यहाँ कुछ विपत्ति नही आ सकती। यहाँ तक कि कर्मोंका और आत्माका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, पर्यायोमें, विकारमे वहाँ भी कर्म अपनेमे विपाक पा रहे हैं। वे अचेतन है इसलिए पता न पडेगा उसे और हम इससे अलग है सो हम कर्मको जाने क्या, मगर कर्मोमे विपाक इस प्रकार है कि उसकी फोटो यहाँ उपयोगमे ज्ञानविकल्पसे जानी जा रही, जैसे दर्पणके आगे लाल कपडा रखा तो असलमे लाल तो वह कपडा है मूलत, पर उसका सन्निधान पाकर दर्पण भी लाल फोटोरूप हुआ है, सो कही ऐसा नही है कि इस समयमे दर्पण लाल रग वाला न हो। वहाँ स्वच्छताका विकार रूपसे लाल रग है, मगर वह ऐसा बाहर लोट रहा है कि उसके हटनेमे रच भी देर नही लगती। तो ऐसे ही कर्मोमे कर्मविपाक आया और चूँकि यह ज्ञानस्वरूप पदार्थ है और उस प्रकारके अशुद्ध उपादान वाला है, उसके उपयोगमे उसकी झाँकी है। इसे परिशिष्ट अधिकारमे बताया कि यह आत्मा रागबिकार करता है इसका अर्थ क्या है? कर्मविपाकरूप बाह्य ज्ञेय और ज्ञानमे यह भेद नही समझ पा रहा। तो इस प्रकारका ज्ञान विकल्प मचा रहा है। यह है विकारका मौलिकरूप। ज्ञेयके मायने कर्मविपाक, उसका प्रतिफलन, उसमे भेद न जान करके और उसमे एक अभेदरूपसे ज्ञानका विकल्प कर रहा इसलिए सामान्य अपेक्षासे तो यह कहेगे कि वहा भी यह आत्मा ज्ञानरूप ही परिणम रहा, उस ज्ञानरूप परिणमनेका अर्थ दूसरा है, और विशेषकी अपेक्षा कहेंगे तो यह राग विकाररूप परिणम रहा। याने रागविकार है कर्ममे, कर्मका अनुभाग, पर उसका प्रतिफलन हुआ और वहा उपयोग जुटा। यह उपयोगका जुटना यह जान जानकर नही हो रहा, और हो रहा है, जैसे दर्पणमे अधेरेका फोटो आया तो कुछ पता नही पड रहा कि फोटो है, तो उस स्थितिमे भी यह ज्ञान कहीं पुद्गलरूप नही बन गया। वह अपने विकल्परूपसे ही परिणम रहा।

१२६०—ज्ञानीके आकस्मिकभयके अभावका कारण परिपूर्ण परविविक्त अन्तस्तत्त्वका परिचय—

जब विकृत स्थितिमे भी अज्ञानी ज्ञानविकल्परूप ही परिणम सका, अन्यरूप नही फिर तो जैसे भेदविज्ञान है और परतत्त्व, परभावसे विविक्त सहज ज्ञानस्वरूपका जिसको प्रत्यय है ऐसे पुरुषकी तो और भी विशेषता है, वह ज्ञानी जान रहा है कि यहा पर किसी दूसरेका उदय नही हैं, आत्मामे आत्मा ही आत्मा है, वहा दूसरे पदार्थका प्रवेश नही स्वरूपमे। बाह्य क्षेत्र तो आकाश है, और वहा आत्मक्षेत्र भी है। जहा आत्मप्रदेश वहा कार्माण वर्गणाए भी है। बहुतसे पुद्गल पडे हुए है, कितने पुद्गल हैं एक जीवके साथ, ससारी जीवके साथ? सो आप यो परखिये कि एक छोटासे भी छोटा जीव लो जिसका बहुत छोटा शरीर है, लघु अवगाहनावाला एकेन्द्रिय जीव लो, उस एक जीवके शरीरमे अनन्त परमाणु हैं, और जितने शरीरके परमाणु हैं उससे अनन्त गुणे शरीरके विश्रसोपचय परमाणु हैं, याने जो शरीर रूप नही बने किन्तु शरीर रूप बन सकते हैं। और, उनसे अनन्त गुणे तैजस शरीरके परमाणु हैं। उनसे अनन्त गुणे कर्मपरमाणु लगे हैं, उनसे अनन्त गुणे कार्माण वर्गणाके विश्रसोपचय परमाणु हैं। कुछ ध्यानमे दीजिए और, हैं सब एक क्षेत्रावगाह, पर स्वरूपसे कुछ नही। यह तो एक एक इन्द्रिय जीवकी बात है, अब इतनी बात तो चारइन्द्रिय तक मे भी है, पर इसके अलावा भाषा वर्गणाके परमाणु और उसके साथ हैं। अच्छा यह सब बात असज्ञी तक मे है, सो सज्ञीमे

तो है ही, पर उसके साथ मनोवर्गणाके और परमाणु लगे हैं। तो आप ध्यानमे दें कि एक जीवके साथ अनन्त परमाणु यहाँ हैं, मगर स्वरूपमे किसी दूसरेका उदय नही है। यह ज्ञानी ज्ञानमात्र स्वरूपको निरख रहा है। यहा यह ही है। यह जितना है उतना ही है। यहाँ कोई आकस्मिक बात नही होती तब इस ज्ञानीको उसका भय कहासे हो ? वह तो नि शक होता हुआ निरन्तर सहज इस ज्ञानका सम्वेदन कर रहा है।

१२६१—स्वरूपनिःशक ज्ञानीके आकस्मिक भय का अभाव—

ज्ञानीके ज्ञानकी सुध प्रतीति रूपमे तो निरन्तर है और अनुभूति रूपमे कभी कभी, मगर इसका स्मरणमात्र भी इस जीवको निराकुल स्थितिमे बहुत मदद देता है। जिसने अनुभव किया इस अतस्तत्वका सो अनुभव तो थोडे समयको है, पर स्मृति तो रहेगी। उसकी स्मृति ही बहुत काम करती है। जैसे किसीने कोई बडी मधुर चीज खायी और स्मृति आ जाय तो उस जैसा रस या थूक एक घूँट मे आ ही जाता है। नीबू को देखते हैं तो दूर रखा है वह नीबू, पर खटास जैसी बात कुछ गलेमे आ सी जाती है। न सम्बन्ध है न कुछ, पर स्मृति हुई कि इसका कैसा रस है ? क्या नीबूका रस खाते समय वह आत्मामे आता है ? अरे वह तो ज्ञानमे बात आयी। तो यह नीबू खाते समय ज्ञानमे समझा वह रस, उस ज्ञानसे वह यहाँ चैन, मौज या अनुभव बनाता है। कही नीबूके रसका अनुभव नही बनता, वह तो बौद्धकालिक चीज है पर द्रव्यका आत्मा अनुभव कैसे करे ? उपचारसे तो कहेगे, किन्तु परमार्थ से तो रसना इन्द्रियके द्वारा जो उसका ज्ञान किया गया, एक आत्माका ही, ज्ञानका ही आनन्द ले रहा है यह जीव। पदार्थका आनन्द कभी नही मिलता, किसीको नही मिलता। बाहरमे अनेक पदार्थ हैं, वैभव पडा है, पर उस वैभवमे आनद आता है क्या ? उस वैभवको विषय करके जो यह जीव अपनेमे बहुत बहुत कल्पनायें बनाता, ज्ञान विकल्प बनाता, उनमे मौज लिया करता। इसको कही बाहरी पदार्थोंमे मौज नही मिला, यह एक ज्ञानमात्र, सो अनुभव किया, उसके बाद प्रतीतिमे ही इसके निर्व्यग्रता बनी रहा करती है। इसके आकस्मिक भय नही होता।

१२६२—ज्ञानीकी लीलाका धाम—

ज्ञानीको आकस्मिक भय इस कारण नही कि इस ज्ञानीके तो अन्तरमे एक अद्भुत लीला है। कहाँ वह क्रीडा कर रहा है, किस उद्यानमे रम रहा है यह ? कर्मविपाकसे उत्पन्न हुआ जो यह सारा वैभव है उससे अपने आपको पृथक् जानकर यह तो एक स्वभावकी ओर रम रहा है। तो देखो उस स्वभावरमणकी स्थितिमे यहाँ प्रतिफलन हो रहा, विभाव हो रहे, पर वे बिना फल दिये झड रहे, विभावोका फल था ससार बधन कराना, पर उपयोग रहा अतस्तत्त्वमे तो विभाव तो हुये मगर प्रतिफलनरूप कलुषता करके निकल गये। और अगर बुद्धिपूर्वक हुए तो केवल उपयोग निमित्तक बन्ध हुआ, वहाँ ससार निमित्तक बन्ध नही, क्योकि उसने जीवभावको, पारिणामिक भावको, इन सब विभावोको छोडकर उपयोग द्वारा छिन्न-भिन्न कर अलग कर दिया था। अब इस जीवभावमे ये विभाव जम नही सकते। जैसे टूटे हुए फलको डालीमे जोडे रहना एक जबरदस्ती है ऐसे ही कर्मविपाकवश विभावोंको उपयोगमे जोड लेना एक जबरदस्ती है, पर अन्तरमे जीवभावके विभावोका जुटना नही बनता। और उस समय जैसे बाहरमे पौद्गलिक कर्म स्वय निर्जीर्ण हो रहे हैं इसी तरह यह विभावोकी श्रृखला भी इस ज्ञानी जीवमे आयी और निर्जीर्ण हो रही।

१२६३—कर्मनिषेकोके उदयनके समयकी विडम्बना—

देखो निर्जरा तो सभी जीवोके चलती है। अज्ञानीके भी जो राग आया वह गया, ठहरता

नही है, इसी प्रकार जो कर्म उदयमे आये सो गए। उदय कहते हैं निकलनेको, जगह छोडनेको उदय कहते है। जैसे सूर्यका उदय हुआ मायने सूर्यने अव वह जगह छोडा, वह निकला। कर्मका उदय मायने कर्मका निकलना, दूर होना। तो ये कर्म जब दूर होनेको होते है तब विडम्बना बनती है। देखो कितना कुमित्र है यह। जब तक आत्मप्रदेशमे रह रहा यह कर्म याने सत्तामे स्थित है तब तक इसमे बिगाड नही चल रहा और जिस समय यह दूर होनेको होता है तो न जाने क्यो इतनी विडम्बना होती ? शायद दूर होता हुआ मानो वह घबडा गया कि ऐसा बढिया भगवान आत्माको स्थान मिला था रहनेको और जा रहा अब सो वह मानो बौखला गया। वहाँ एक विपाकरस फूटा, तो उदयके मायने है निकलना, दूर होना।

१२६४—सत्तास्थित कर्मोके दूर होनेके समय सपदा विपदासे भेंट—

यह पुण्य सम्पदा जिनको मिली है सो कहते हैं कि पुण्यके उदयसे मिल रही। उसका अर्थ यह है कि पुण्य कर्मके निषेक परमाणु हर समय निकल रहे, दूर हो रहे। उदयका अर्थ यहाँ निकलना है, याने पुण्य प्रकृतिके दूर होनेके समय सम्पदा मिलती है। उदय होनेका अर्थ बतला रहे कि जो पुण्य प्रकृति इस आत्मामे सत्तामे स्थित है उसका उदय हो तब ही तो सम्पदा मिले और उदयके मायने निकलना है। अब यहाँ निकलने निकलनेका ताँता चल रहा है, तो इतनी बात तो अवश्य है। उस निकलनेके ताँतेका फल है बहुत काल तक सम्पदाका समागम रहना। उस निकलनेका निमित्त पाकर ये भोग उपभोग सम्पदा प्राप्त हुए, सत्तामे रहते हुए मे नही प्राप्त होते। तो निर्जरा तो सभी जीवोके हो रही, जिनके पास धन है उनका पुण्य कर्म निकल रहा सो धन मिल रहा और जिनको कष्ट है उनके पापकर्म निकल रहा इसलिए कष्ट हो रहा। बताओ कष्टमे क्या बुराई ? पापकर्म निकल रहा। दूर हो रहा, पापकर्मके उदय होनेका याने दूर होनेका निमित्त पाकर कष्ट होता है और पुण्य कर्मके उदय होनेका, दूर होनेका निमित्त पाकर सम्पदा मिलती। विशेष यह है तांतेकी बात और भीतर समझ लो। जिसके पापका उदय चल रहा तो उसकी सततिमे, ताँतेमे बहुत काल तक पापकर्म दूर होता जा रहा, वहाँ निरन्तर कष्ट हो रहा। बडा पाप नारकियोके है, जिसे कहते है तेज पापका उदय। तो कहते हैं कि नारकी जीव मरकर फिर तुरन्त नरकमे व देवमे नही जाता, कुछ बीचमे और भव पाकर जाता। तो एक कल्पना लायी जा सकती कि पापकर्म इतना वहाँ दूर हुआ कि अब उतना पाप नही रहा कि फिर वह नरकमे आ सके। वह फिर दूसरा भव धारण करेगा उसके बाद फिर पापबध होगा नरकके लायक, फिर नरक जायगा। तो ये कर्म सदा निर्जराको प्राप्त हो रहे। बस ताँतेकी बात पुण्यसपदामे और ताँतेकी बात यहाँ कष्टोपभोगमे समझ लीजिये। राग हो रहा, निकलना हुआ। वह ताँता चल ही रहा है, और फिर उसका उपयोग बनता है।

१२६५—ज्ञानीके निःशक ज्ञानसचेतन—

जिन्होने यह रहस्य जाना, जैसे दर्पण पर प्रतिबिम्ब आया गया, वह बाहर बाहर लोटता रहा, अन्त प्रविष्ट नही हुआ इसी प्रकार यह उपयोग आया गया, बाहर ही बाहर लोटता रहा, अतः प्रविष्ट नही हुआ। ऐसा जिसके अन्त प्रतिबोध है वह अपने स्वरूपकी सम्हालमें स्वरूपके अभिमुख हो रहा इसलिए वे विभाव निर्जीर्ण हो रहे, ससारमे भटकना करने वाले नही बन रहे। करणानुयोगके अनुसार बन्ध वहाँ भी हो रहा। करणानुयोगके मायने झूठा अनुयोग नही, किन्तु पूर्ण पक्का, न्याययुक्त सच्चा। वहाँ बधन हो रहा, आश्रव हो रहा, पर उसकी विवक्षा अध्यात्ममे नहीकी जाती। यह सब

बुद्धिपूर्वक उपयोगसे सम्बन्धित बातोका वर्णन चल रहा, क्योकि जितना बिगाड हम आपका है वह उपयोग लगानेसे बिगाड है। अगर उपयोग उन रागादिक विकारोमे न लगे तो यह बहुत सामान्य होकर निर्जीर्ण हो जाता है, तो इस ज्ञानी जीवने अपने स्वरूपको पहिचाना ज्ञानमात्र, अचल, इसमे किसी दूसरेका प्रवेश नही। तो कोई आकस्मिक भय नही। ज्ञानी अपने स्वरूपको ही लिए हुए है उपयोगमे, इस कारण वह नि शक है। जैसे लोग कहते–मर गए, मरने दो, मैं तो पूराका पूरा यह हूँ। रेलगाडीमे कह देते ना कि भाई वहाँ न बैठो यहाँ आ जावो, तो झट वह वहाँसे उठकर दूसरी जगह बैठ जाता है, दूसरी जगह पहुच जाने से कही उसका शरीर घट तो नही गया, वह तो पूराका पूरा पहुच गया, ऐसे ही यह आतमा एक देह छोडकर दूसरे देहमे पहुच गया तो वह तो वहाँ भी पूराका पूरा ही पहुचा, उसमेसे कुछ कम नही हो गया। इस आत्मामे किसी दूसरी चीजका प्रवेश नही है, उसमे से इसकी कोई चीज कभी इससे बाहर जाती नही। ऐसा एकत्व विभक्त स्वरूपका निश्चय होनेसे सम्यग्दृष्टि जीव नि शक होता हुआ अपने स्वरूपका सचेतन कर रहा है।

टकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकल घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन् पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्ध, पूर्वोपात्त तदनुभवतो निश्चित निर्जरैव ॥१६१॥

१२६६—सम्यग्दृष्टिकी लक्ष्मी—

वहाँ सम्यग्दर्शनके अग बताये जा रहे है। ये क्या है? सम्यक्त्वके लक्ष्य, सम्यग्दृष्टिके लक्षण। जैसे यहाँ कभी कोई उल्टा गलत काम कर रहा हो तो कहते हैं कि तुम्हारे लच्छन ठीक नही है। अभी अपने लच्छन तो अच्छा करो, तो लक्षणके मायने वही प्रवृत्ति, वृत्ति, पहिचान। तो सम्यग्दृष्टिके ये सब लक्ष्य है, लक्षण हैं। देखो लक्ष्य और लक्षण दोनो एकार्थक हैं। केवल प्रत्ययके बदलनेसे दो रूप बने। इतना ही नही, लक्ष्मी लक्ष्य, लक्षण इन तीनोका एक अर्थ है। लक्ष्मी का अर्थ मूर्ति नही या कोई देवी नही, लक्ष्य शब्द नपु सकलिङ्ग है, लक्ष्मी शब्द स्त्रीलिङ्ग है लक्ष्मीका अर्थ है लक्षण, पहिचान। तो लक्ष्मी शब्दसे पहले ज्ञानका ही बोध होता था। जिसने कहा लक्ष्मी, तो अर्थ यह ही ध्वनित होता था कि ज्ञानस्वरूप, ज्ञान लक्ष्य, ज्ञानलक्षण मायने आत्माकी जो लक्ष्मी है, मायने लक्षण है वह क्या है? ज्ञान लक्ष्मी। दीवालीके दिन लोग लक्ष्मीकी पूजा करते हैं, वह लक्ष्मी क्या है? ज्ञानलक्ष्मी, जिसमे अतुल समृद्धि हो वह है लक्ष्मी। अतुल समृद्धि है कहाँ? बाहर तो बाह्य पदार्थ है, भिन्न हैं। कुछ मतलब ही नही, समृद्धि है अपने आपमे। सारी करतूत कला यह सब ज्ञानमे बसी हुई है। तो ज्ञान ही लक्ष्मी है। सम्यग्दृष्टिके लक्ष्य क्या हैं। ये ८ अग भी तो ज्ञानरूप वर्त रहे हैं। ज्ञानको छोडकर और कुछ रत्नत्रयमे बात न मिलेगी।

१२६७—सर्वभावोकी ज्ञानसबधितता—

भैया, व्यवहारधर्म सब कुछ ज्ञानसे ही सम्बधित है। व्रत, तप, सयम, असयम ये ज्ञानसे अलग न मिलेंगे। ये भी सब ज्ञानमे सम्बधित है और इतना ही क्यो, सुख, दु ख, कष्ट, ये भी ज्ञानसे अलग न मिलेंगे। ये सब भी ज्ञानसे सम्बधित हैं। कष्ट नाम किसका? याने ज्ञानका ऐसा विकल्परूप परिणमन जिसमे भय, शका आदिक विकल्प जगते है, वह ज्ञानका ही तो विकल्प है। सब कुछ ज्ञानस्वरूप है। और, इसीसे ही बढ गए एकान्तमे जो, सो उनका एकान्त सम्प्रदाय बन गया। उसने तो यह माना कि सब कुछ ज्ञान ही ज्ञान है। कोई कहे कि यह खम्भा जो दिख रहा यह क्या है? ज्ञान। जो कुछ दिख रहा वह क्या? ज्ञानस्वरूप। उनका ऐसा अनुमान है कि जो जो कुछ प्रतिभासमे आ रहा

है वह-वह सब प्रतिभासस्वरूप है। जैसे ज्ञान प्रतिभासमे आ रहा है तो वह ज्ञान प्रतिभासस्वरूप है। तो ये सारे पदार्थ जो प्रतिभासमे आ रहे हैं ये सब प्रतिभास स्वरूप हैं। और मोटी दलील से भी दिखाते हैं। जैसे कि लोग कहते है कि हमारे ज्ञानमे आया तो यह है और ज्ञानमे न आया तो नही है। किसी तरहसे समझें ज्ञानाद्वैत। ज्ञानमात्र ही है सब कुछ, यह एकान्त हो गया। किन्तु यह युक्त नही बैठता, ज्ञानमय पदार्थ भी है, अज्ञानमय पदार्थ भी है, पर आत्माका जो कुछ है वह सब ज्ञान उद्यानके ही सारे फल फूल हैं यहाँ। तो सम्यग्दृष्टि जीवके जो ये लक्ष्य हैं, ८ अग है, ये समस्त कर्मोको दूर करते है।

१२६८—स्वरसनिचित ज्ञानसर्वस्वमय सम्यग्दृष्टिके कर्मसवरण और कर्मनिर्जरण—

कैसा है वह सम्यग्दृष्टि कि टकोत्कीर्णवत् एक स्वभावरूप जो स्वरस आत्मसमृद्धि उससे भरा हुआ ज्ञान ही इसका सर्वस्व है। ज्ञानमात्र तत्त्वको अन्य बातोसे भरे तो यह रीता हो जायगा और अन्य बातोसे रीता करे तो यह ज्ञानमात्र तत्त्वसे भर जायगा। कैसा है यह ज्ञानमय पदार्थ ? अगर इसमें और बातें भरे तो यह रीता रहेगा, दुःखी रहेगा, ससारमे भटकेगा और इसको रीता करेंगे इस प्रकार कि ज्ञानमे और कुछ बात न आये, केवल ज्ञानस्वरूप ही रहे, ऐसा रीता अगर कर देंगे, अन्य बातें यहाँसे हटा लेंगे तो यह ज्ञान ऐसा भर जायगा कि इसमे तीनो लोक व अलोकके सब पदार्थ अवश होकर यहाँ आ पडेंगे। पदार्थ न आ पड़ेंगे। पदार्थोका ज्ञान हो जायगा, तो ऐसा यह आत्मतत्त्व ज्ञानस्वरूप वही जिसके लिए सर्वस्व है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवोके ये लक्ष्य समस्त कर्मोको दूर करते है। वह लक्षण क्या ? अभी निशकित अगका वर्णन चला था। ७ भयोसे रहित अपने स्वरूपमे निःशक वह जान रहा है टकोत्कीर्णवत् स्वरूप निश्चल है। यद्यपि कही इस पदार्थपर आवरण है, अन्य प्रकार सीमामे परिणमन है तो भी स्वभाव अचल है, स्वभाव नही बदलता। ऐसे अचल स्वभावमे अतस्तत्त्वकी श्रद्धा रखने वाले पुरुषके मिथ्यात्व नही रहा, जहाँ मिथ्यात्व नही है वहा शका नही। जहा तक मिथ्यात्व है वहाँ तक कर्मबधकी शका है, अर्थात् ससार परम्परा करने वाली प्रकृतियोका बध मिथ्यात्वके रहते हुए होता है। तो जब इसके शका न रही स्वरूपमे, तो इसके बध नही है और निर्जरा ही चल रही है, बध नही है। इसका अर्थ है कि मिथ्यात्वकृत बध नही है। और बधकी इसके सामने कुछ गिनती नही, वह ससार परम्परा नही बढाता।

१२६९—अध्यात्मशास्त्रमे बुद्धिपूर्वक रागादि आस्रवक भवन व अभवनकी चर्चा—

मिथ्यात्वमे होने वाला बध ससार परम्परा बढाता है, अनन्तानुबधन करता है इसलिये बस इसके ही भवन अभवनका अध्यात्म शास्त्रमे प्रयोगमे आ रहा, जो बुद्धिपूर्वक आ रहा उसका ही वर्णन यहाँ चलता। यद्यपि जैन सिद्धात चार वेदोमे विभक्त है—(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग। करणानुयोगकी दृष्टिमे निरखें तो बध १० वे गुणस्थान तक है, अब समझिये श्रेणियोमे जहाँ समाधिभाव है वहाँ भी बध है और चौथेमे तो उनकी अपेक्षा विशेष ही बध है। ५ वे मे, चौथेसे कम ऊपरवालोसे ज्यादह इतने बध प्रसग चल रहे है तो जब कोई ज्ञान न हो करणानुयोगका और केवल एक उम हो अध्यात्ममे कही हुई बात को एकान्तत कोई पकड़ता है तो अन्य कोई इसमे विवाद भी उठाता है। अध्यात्मशास्त्रके अनुसार तो वह कहता है—हाँ बिल्कुल बन्ध नही होता, पर बात यहाँ नही यो नही बैठती कि बन्ध तो चल रहा है, १० वे गुणस्थान तक। तो एक इनका प्रकरण जान ले। बन्ध है १० वें गुणस्थान तक लेकिन यहाँ उपयोगकी मुख्यतासे बात

कही जा रही है। उपयोग जहाँ जुडा है और उस उपयोगमे इस जीवके बुद्धिपूर्वक भी दृष्टिसे देखे तो वहाँ आश्रव बध नही है, पर एकान्त करते हैं, तो विवाद बनता है और उस विवादमे न इन्हे लाभ न उन्हे लाभ, क्योकि कषाय, या विवाद, या विडम्बना या अपने आपके विचारका पक्ष ये ऐसी कलुष परिणतियाँ हैं कि जो स्वानुभवमे बाधक बनती हैं, इसलिए निर्णय सब प्रकार से करें और प्रतिपक्ष वालको अगीकार करके विवक्षित बातकी प्रधानता देना, बस यही है सुरक्षित अपना मोक्षमार्गमे गमन।

१२७०—सम्यग्दृष्टिके स्वरूपविषयक शकाका अभाव तथा जिनवाणीमे शकाका अभाव—

सम्यग्दृष्टिके शकाकृत बध नही। यहाँ भी एक शकाकी जा सकती है। अच्छा, बैठा है सम्यग्दृष्टि और मानो बडे जोरसे तोपका गोला छूट गया तो क्या वह जरा भी हिलेगा डुलेगा नही ? हिलेगा डुलेगा पर वहाँ कोई शका हो गई क्या ? अरे शका उसके स्वरूपमे नही है। केवल बाहरी बातें होती रहे तो भी स्वरूपमे सदेह नही। मैं सहज ज्ञानमात्र ही हूँ, अन्य रूप नही हूँ, जिसका कभी नाश नही होता, ऐसा मैं अतस्तत्त्व हूँ। उसकी श्रद्धामे कभी भी शका नही चलती और फिर यह सब रूपकी परख जिन उपायोसे पायी है, उन वचनोमे भी शका नही। साक्षात् परख तो शुद्धनयसे पायी, पर जो और परखके साधन बने थे, जिनकी कृपासे समझकर हम शुद्धनयको पहिचान सके वह सब क्या है ? वही आगम, ७ तत्त्वोका निर्णय और सभी प्रकारके वस्तुस्वरूपका निर्णय। आगमसे पाया तो उस आगमके सम्बन्धमे भी रच शका न रहना इसे कहते हैं व्यवहारिक निशकित याने जिन वाणीमे जिनेन्द्रदेवके वचनोमे उसे शका नही रहती, "जिन वचमे शका न।" जिनेन्द्र भगवानकी वाणीमे उसे शका नही है, आगममे लिखा है परोक्षभूत तत्त्वके सम्बन्धमे, वहाँ हम कुछ युक्ति बुद्धि नही लगा पाते, स्वर्ग नरकके बारेमे हम साधारणतया बता दें, वहाँ हम और कोई बात चलाते जाये, सही समझें कि हाँ स्वर्ग जरूर है, नरक जरूर हैं, थोडा बनाते हैं अनुमान। जहाँ ऐसा वर्णन किया विमानोकी नाप तौल, उनमे रहने वाले देवोके नाम, और और वर्णन, यही मध्यलोकमे जो मेरू आदिक पर्वत पडे है, एक एक पर्वतकी नाप, कुलाचल और और द्वीप सबकी एक-एक अगुल की नाप बताया है, जहाँ पूरा अगुल भी नही तो बता देते कि अगुलके तीसरे भाग प्रमाण, आदि यहाँ तक बारीकी से सब बताया। इसको सही निर्णय है, सही श्रद्धान है कि जो कुछ आगममे बताया है वह सब यथार्थ है। यह उमग उसे कैसे बनी ? जब आगममे बताये गए ७ तत्त्व ९ पदार्थोंके बारेमे इनको युक्तिसे परखा, अनुभवसे जाना और एक दृढ निर्णय श्रद्धान बना तो एक बात जो हमारी समझ मे आ सकती है वह जब पूरी ठीक बन गई तो उन वीतराग सत महर्षियोको और प्रकारसे गप्प लिखने का क्या प्रयोजन था ? ऐसी कोई भी चीज गप्परूप नही है। उसके प्रति दृढ श्रद्धा होना वह एक बहुत उचित चीज है।

१२७१—सम्यग्दृष्टिके स्वरसका महत्व—

सम्यग्दृष्टिको अपने स्वरूपमे शका नही, यहाँ कोई भय नही आ सकता, यहाँ किसी दूसरेका प्रवेश नही। यह कभी मरता नही, इसमे यह ही है। यहाँ किसी प्रकारका भय नही, वह नि शक निरख, रहा है अपने ज्ञानस्वरूपको। तब हो क्या रहा है ? बंध रुक गया और निर्जरा हो रही, उस कर्मफलमे जब उपयोग नही दे रहा यह और एक ज्ञानप्रकाशसे समझ लिया कि ये सब कर्मरस है। मेरे स्वरूपके रस नही हैं, उनका प्रतिफलन है और उस प्रकारका विकल्प बनता है, पर यह मेरे स्वरूप की बात नही है तो ज्ञानीको विकारमे क्यो रुचि होगा। स्वरसका ही ज्ञानी महत्त्व आँकता है, कर्मरस

का महत्त्व नही आँकता अतएव निर्जरा होती है।

१२७२—विभावोकी उपेक्षासे विभावोका निर्जरण—

भैया किसी महिमानको आप बडी खातिरीसे बहुत ऊँचे स्वागतसे मना मनाकर रखे तो महिमानको रहनेमे क्या आपत्ति है और महिमान अगर आपके लिए बोझ रूप बन गया हो तो क्या उपाय है उसको हटानेका ? उससे उपेक्षा करले तो वह अपने आप चला जायगा। तो यह कर्मरस एक महिमान है, जिसकी हमारे लिए कोई महिमा नही। ऐसा यह महिमान आया है तो इससे राग होगा, इससे प्रीति जगेगी, इसका स्वागत होगा, इस रूप बनकर चलेगे तो इसको यहाँ रहनेमे क्या आपत्ति ? इसका तो मौज बन रहा। कर्म अपना कुल बढाना चाहते, जीव अपना कुल बढाना चाहता, एक अलकारमे कहा है आचार्योने, कर्म कभी गम खायेंगे क्या ? बहुत हो गया, बहुत सता लिया इस जीवको, बस अब तृप्त हो गए, अब न सतावे। तो कर्मको तृप्ति नही। अलकारमे समझिये कर्म यो नहीं हटते। कर्ममे राग नही लगे, उनसे उपेक्षा बनायें, स्वभावकी ओर दृष्टि रखे तो उससे विभावोकी निर्जरा है। हट जानेका नाम है निर्जरा। विभावोका फल था एक ससार परम्परा बढाना मगर मिथ्यात्वका योग न होने से ये ससार परम्परा नही बढा पाते। यही उन विभावोका निर्जरण चल रहा है। ज्ञानी जीवके निकाक्षित गुण प्रकट हुआ है, भीतरसे कुछ नही चाहता। देखिये इच्छा भी है और नही भी है, एक गृहस्थ है, ज्ञानी है अपने अध्यात्मरसका अभ्यासी है तो वह घरमे रहता हुआ क्या दूकान न जायगा ? क्या अन्य काम न करेगा ? गृहस्थीमे रह रहा इसलिए करना पडेगा। तो क्या थोडी बहुत भी इच्छा नही होती कि दूकान जायें, इसमे ऐसा व्यापार करूँ, इसमे ऐसे दाम लिखूँ, इसमे इतना मुनाफा पाऊँ, इसकी थोडी सी बात तो मनमे आती ही होगी। न आये तो फिर इतना रोजिगार, व्यापार क्रिया कैसे बनी। तो यह इच्छा है चारित्र मोहकृत। करना पड रहा है, परिस्थिति है ऐसी, पर अन्दरमे किसी भी विभावको वह चाहता नही। शुभ अशुभ समस्त विभावोसे विविक्त एक विशुद्ध चैतन्य प्रकाशमे ही अपनी स्थिति चाहता है तो मौलिक तो ऐसी बात है पर आ पडेकी ऐसी बात है अब इस बातको ज्ञानीके सिवाय दूसरा कौन समझे कि ऐसी भी परिस्थिति होती है। वह आ पडेकी जबरदस्ती है। अज्ञानी कैसे समझे ? कही ऐसा भी होता है कि काम करे, और आ पडे की जबरदस्ती माने। वह ज्ञानी ही इस बातको समझता है। तो उसकी निःकाक्षता है, विषय भोगोमे प्रीति नही है। आकाक्षा न होनेसे उसके बध नही, निर्जरा है। निर्जरा है ऐसा शब्द सुनकर करणानुयोगकी दृष्टिमे तो इसका समाधान करले। यहाँ बुद्धिपूर्वक वर्णनके प्रसगमे बात चल रही है। उसे ससार वाला बध नही, जैसे बताया था— अध्यवसान दो प्रकार के है—(१) ससार विषयक और (२) उपभोग निमित्तक। ससार विषयक बध कहलाता है रागद्वेष मोह। उपभोग निमित्तक कहलाता है सुख दुख आदिक। सम्यग्दृष्टि जीवके निःकाक्षनाके प्रतापमे बध नही। व्यवहारमे अथवा एक प्रवृत्तिमे वृत्ति है—"धारि वृष भवसुख वाञ्छा भाने" मायने धर्मको धारकर विषयोकी वाञ्छा न करना, धर्मके एवजमे कोई सांसारिक सुखकी चाह करना मिथ्यात्व है। चारित्रमोहकृत कमजोरी है सो इच्छा भले ही हो पर धर्मके एवजमे सासारिक सुखकी चाह करना वह उसका मिथ्यात्व है, तो धर्मधारण करके भवसुखकी चाह नही होती है ज्ञानीके धर्म सासारिक सुखकी प्राप्तिके लिये न माने, किंतु अपने आपको निर्भार कृतार्थ, सहज तृप्त होनेके लिए ही धर्मका पालन मानें, मैं अपनेको अकेला जैसा मैं अपने स्वरूपमे हूँ वैसा ही अपनेको अनुभव करूँ यह है धर्मपालन। इसके लिये है धर्मक्रिया।

१२७३—ज्ञानीको निर्विचिकित्सा और अमूढदृष्टिताका प्रभाव—

ज्ञानी जीवका लक्ष्य एक है, निर्विचिकित्सा, विभाव आ रहे हैं, क्षुधा तृषा आदिक दु ख आ रहे हैं, पर स्वरूपकी श्रद्धाके कारण व्यग्र नही वन रहा, वहाँ ग्लानि नही चल रही है। ग्लानि कहते हैं मालिन्यको, रोगको। ज्ञानी जीवको अपने स्वरूपमे आस्था है और जो-जो कुछ ऊपरी वातें हैं, विभाव हैं, उनके कारण यहाँ ग्लानि विषाद व्यग्रता नही वन रही है, क्योकि उसने अपने स्वरूपको निरखा और उसके आशयमे नि शक यह वात है कि इस तरहमे मैं अपनेको सुरक्षित वनाता हूँ उसके स्वरूपकी नि शकताके कारण और विभावोसे उपेक्षाके कारण वध नही, किन्तु निर्जरा चलती है। इस ज्ञानीका एक लक्षण है अमूढ दृष्टि। टकोत्कीर्णवत् निश्चल जो एक चैतन्यप्रकाश है उसमे इतनी लगन है कि इसके अतिरिक्त अन्य वातोमे उसको मोह नही जगता। कोई कितना ही वहकावे, जैसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, इनकी महिमा जताये वहाँ इसका मोह नही वनता। कोई कितना ही चमत्कार दिखाये वहाँ इसको मोह नही जगता, मूर्खता नही आती कि वहाँ ही अपना कल्याण समझने लगे। स्वरूपानुभवकी कला है ऐसी कि जिससे उसे ऐसी अमूढता प्राप्त हुई। अव इसके मूढदृष्टिके कारण हो सकने वाला वध नही है, अर्थात् मूढदृष्टि मे होने वाला जो वध था वह अव रहा नही, सो उसके निर्जरा ही चलती है।

१२७४—ज्ञानीका उपवृहण और स्थितिकरण लक्ष्य—

ज्ञानीका एक लक्षण है उपव्रहण, अपने गुणोमे वढना, समस्त आत्मशक्तियोकी वृद्धि करना। उसमे ज्ञानवल ऐसा पडा है कि उसकी शक्तिमे दुर्वलता वाला वध अव नही हो रहा। पहले कायर हो जाता था, जरा-जरा सी घटनामे अपने आपके स्वरूपको भूल जाना था। अव अपने स्वरूपकी दृढताके कारण शक्तियोका वढावा चल रहा है, धीरता, वीरता, गम्भीरता, उदारता ये सव वृद्धिको प्राप्त हो रहे और भीतरमे अपने स्वरूपकी निश्चलता वढ रही, ऐसे जीवका यह उपव्रहण यह समस्त कर्मोको दूर कर रहा है। सम्यदृष्टिका लक्ष्य है स्थितिकरण, स्वय मार्गसे च्युत हो जाय तो अपनेको मार्गमे स्थिर कर देना। देखिये—अपनी-अपनी सम्हाल अपने-अपनेको वहुत आवश्यक है, जो कुछ करें धर्मके लिए। चर्चा करे तो, स्वाध्याय सुने तो, प्रवचन करें तो, सव स्थितियोमे आत्मसम्हाल, आत्मदर्शन, आत्माकी अभिमुखता यह ही ध्यानमे होना चाहिए और इस ही तरहकी अन्तर्वृत्ति चलना चाहिए, अन्य भाव नही। कभी अगर कोई श्रोता इस ख्यालसे सुनता हो कि कोई गलत वात जचे तो मैं उसकी पकड करूँ तो उसको उस प्रवचनसे या वचनसे या उस जिनवाणीसे अपने आत्माको पोषने वाला तत्त्व न मिलेगा, क्योकि उसकी बुद्धि एकदम वाहरकी ओर है, और इस तरहसे सुने जैसा कि श्रोताका प्रधान लक्षण वताया—"भव्य कि कुशल ममेति विमृशन्"। श्रोताकी पात्रता वताते हुए कहा है छन्दमे सर्वप्रथम लक्षण श्रोताका। उसका क्या अर्थ है, कि, मेरा क्या हित है इस प्रकारका विचार करता हुआ श्रोता होता है। ऐसे विचार वाला श्रोता ८ वर्षके वालकके मुखसे भी कोई जिनवाणीका सुनेगा तो उससे भी वह अपना लाभ निकाल सकता है। आत्मशक्तिका उपवृहण करने वाला भी अपने आपसे च्युत हो तो अपने आपमे अपनेको स्थिर कर दे, यह है उसका स्थितिकरण और व्यवहारमे कोई दूसरा च्युत हो रहा हो तो तन, मन, धन, वचन जिस किसी भी प्रकारसे सेवासे उसको धर्ममे स्थिर कर देना यह है उसका स्थितिकरण। तो अपनेको निरखें, कभी गल्ती भी स्वरूपसे च्युत हो, कभी वाह्यमे भटकना वन जाय तो झट-पट अपने आपको सम्हालें।

अन्य बाहरी झंझटोको, उन विकल्पोको हटायें और अपने आपके स्वरूपमे अपने उपयोगको जोडे। ऐसा चिन्ह प्रकट होता है सम्यग्दृष्टि जीवके, तब समझिये कि उसके बध क्यो हो ? उसके तो निर्जरा ही चलती हैं।

१२७५—सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य और प्रभावना रूप लक्ष्य—

सम्यग्दृष्टि जीवका लक्षण है वात्सल्य। रत्नत्रय मार्गमे उसको अत्यन्त प्रीति जगी। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनको अपनेमे निरख रहा, अभेद विधिसे देख रहा है मार्ग वत्सल। और, ऐसा पुरुष सदा आत्मामे मग्न तो हो रहा, तो उसकी जो बाहरी प्रवृत्ति है वात्सल्यके प्रसगमें अपने साधर्मीजनोसे निष्कपट प्रीति रखनेकी है। देखिये—साधर्मीजन जो धर्मका पालन करें, तथा नामके जैन हो वहाँ भी वात्सल्य जगना, स्थापना जैन हो वहाँ भी, द्रव्य जैन हो वहाँ भी, भाव जैन हो वहाँ भी, सर्वत्र वात्सल्य जगना। वहाँ द्वन्द्व न मचना, वहाँ दुविधा न होना कि जो मेरे सगमे अधिक रहे, जिसका विचार हमसे पूर्ण मिले वह तो हमारा साधर्मी और विचार न मिले तो हमारा साधर्मी नही। कोई नाम मात्रका जैन हो वह भी साधर्मी है। और, देखिये—विचार प्रत्येक दिमागमे भिन्न-भिन्न होते। किसीके विचार किसी दूसरेसे पूर्णरूपेण न मिलेंगे। इसके सबधमे एक कहावत है—पाग भाग वाणी सकल, सूरत बुद्धि विवेक। अक्षर होय न एकसे इत्यादि······इनमे कोई बात समान नही मिलती। अक्षर देख लो—क ख ग घ वगैरह अक्षर लिखे जाते, सभी लिखते, पर अक्षर किसीका किसीसे नही मिलता, भाग्य भी सबका एक समान नही मिलता, पगडी भी किसीकी किसीसे नही मिलती, वाणी भी किसीकी किसीसे नही मिलती, सकल सूरत भी किसीसे किसीकी नही मिलती। बुद्धि विवेक भी सबका एकसा नही होता तो मतलब यह है कि ये सब बातें हैं। अब अपनेको तो यह देखना है कि अपनी रक्षा कैसे हो, अपने आत्माकी प्रगति कैसे हो, उस प्रकारके भावसे प्रयोजन रखना चाहिए। जीवका यह समय कितना है ? गई बहुत थोडी रही, थोडी हू तो जाय,···अब थोडा सा समय शेष रह गया, इसमे समताका, उद्धारका ऐसा विधान बनना चाहिए कि जिससे अपने आपमे कोई सकुचितता न जगे। स्वानुभूतिके लिए तो सकुचितता ठीक है, मगर व्यवहारके लिए उदारता ठीक है। स्वानुभव तो तब ही बनेगा जब बाहरी पदार्थोंसे हटते जायें, विविक्त होते जायें, अपने स्वरूपमे लगें। और उदारता तब बनती है जब कि हम सब जीवोमे स्वरूपको निरखेंगे, समता जगेगी, थोडी सुरक्षा होगी। एक लक्ष्य रह गया प्रभावना अपने आचरणसे, अपने तपश्चरणसे, अपने उपायोसे ऐसा चलना कि अपनेमे धर्मकी प्रभावना बढे और दूसरे लोग निरख कर भी उसके अनुसार चलें। ऐसे चिन्ह समस्त कर्मोंको नष्ट करते हैं।

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सगतोऽष्टाभिरङ्गैः, प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं, ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥ १६२ ॥

१२७६—ज्ञानबलसे ज्ञानरूप होकर ज्ञानीका गगनाभोगरगमें ज्ञानवृत्तियोसे सहज नाट्य—

यह निर्जराधिकारका अन्तिम कलश है। यह सम्यग्दृष्टिजीव ज्ञानरूप होकर इस सारे गगनको व्यापता हुआ नच रहा है अर्थात् समस्त पदार्थोंको जानता हुआ, प्रतिभास लेता हुआ अपने उज्जवल तरगोसे यह विलसित हो रहा है। किस प्रकार ज्ञानरूप होता ? पहले तो इसने नवीन बधको रोका। कैसे बन्धको रोका ? भाव बन्धको रोका। और, उस समय क्या रुक गया ? द्रव्य बन्ध रुक गया, कैसे रुक गया ? द्रव्य कर्मका जो बन्ध होता है वह आश्रवपूर्वक होता है। जहाँ जहाँ बन्ध है वहाँ

आश्रव अवश्य हुआ है, जहाँ जहाँ आश्रव है वहाँ बन्ध हो अथवा न हो। ईर्यापथाश्रव होता है, वहाँ कर्मबन्ध नही। चूँकि बन्धके चार भेद कहे—प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग, सो इस नातेसे उपचारसे बन्ध यो बना कि नाम तो वह ही है प्रकृति बंध, प्रदेश बन्ध, पर जहाँ स्थिति नही पडती वहाँ बन्ध नही कहलाता। याने एक ही समयका आश्रव होता है, दूसरे समय कर्म नही ठहरते। कहाँ ? वीतराग दशामे, ११ वें गुणस्थानसे लेकर १३ वे गुणस्थान तक। वह आश्रव क्यो होता था ? नवीन कर्मोंका आश्रव उदयमे आये हुए कर्मका निमित्त पाकर होता था। तो उदयमे आये हुए कर्म नवीन कर्मबंधके निमित्त कहलाते हैं, लेकिन उदयमे आये हुये कर्ममे नवीन कर्मोंके आश्रवका निमित्तपना बने इसका निमित्त होता है रागद्वेष मोहभाव। तो मूल आश्रय, आधार, नवीन कर्मोंके आश्रवका हुआ रागद्वेषमोह, और रागद्वेष मोह बनता है उस विभावमे उपयोगको एक बनानेसे, ज्ञान करनेसे। ससार परम्पराका कारणभूत बंध इस तरह होता है। इस ज्ञानी जीवने अपने ज्ञानबलसे अपने आपमे सहज निरपेक्ष सत्त्वके ही कारण मात्र अपनेमे अन्त प्रकाशमान अन्तस्तत्त्वको निरखा, उसमे ही यह मैं हूँ, इस प्रकारका अनुभव पाया, अब वहाँ ही उसकी लगन है, उस ही रूप अपनेको विश्वासमे रखता है तो ऐसा एक अन्तरका ज्ञान बल बढानेसे अब नवीन बध नही हो रहा। कौनसा नवीन बध ? इस ज्ञानके प्रतापसे जो अज्ञान मिटा, मिथ्यात्व दूर हुआ तत्कृत अब इसके बध नही होता।

१२७७—अध्यात्मलक्ष्यमे ज्ञानीका अन्तस्तत्त्वके प्रति उपयोग—

देखो भैया, यद्यपि यहाँ अन्य प्रकृतियोका बध है तो भी बधोको चित्तमे मत लावो। जब अध्यात्मशास्त्रके उपदेश उद्देश्यमे एक अध्यात्मिकताका उपयोग बना रहता है तो अन्यको ध्यानमे लेना यह एक आध्यात्मिक ढगका भङ्ग करना होता है, तो है तो सही, बन्ध चलेगा कर्म प्रकृतियोके आनेसे किन्तु जब एक आत्मतत्त्वमे उपयोग लगानेका मूड है तब अगल-बगल की चीजे कारण होते हुए भी ध्यानमे नही लायी जाती। जहाँ ये रागद्वेष मोह न रहे, उनमे लगन न रहा, भेद कर दिया तो नवीन कर्मका बध रुक गया, और तब अपने निज ८ अगोसे सगत होनेसे निर्जरा बढती और प्रकृतिक्षय होता। सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूपमे नि शक है। सम्यग्दृष्टिके स्वरूपके अलावा और कुछ चाह नही, स्वरूपमे ही लगन, स्वरूपके अतिरिक्त अन्यमे उलझना नही, स्वरूपके अतिरिक्त अन्य बातमे कभी मोह नही, स्वरूपका विकास ही बढानेका जिसका एकमात्र लक्ष्य है, स्वरूपमें स्थिर होनेका ही पौरुष है, स्वरूपका प्रेम है, स्वरूपकी ही प्रभावना है, ये सारी बातें होकर भी आखिर एक ही बात है। इन अष्ट अगोसे सगत होनेसे अब निर्जराका बेग बढा और निर्जरा होनेसे पहले बाँधे हुए कर्म क्षयको प्राप्त होते है, कर्मका क्षय होवे, निर्जरा होवे, द्रव्य-कर्ममे अडचन आये उसके निमित्त हैं आत्माके शुद्धभाव अपने स्वरूपको निरखे, उसका आश्रय ले, जिसके कारण होगी कर्मोंकी खलबली, कर्मोका नाश, कर्मोका निर्जरण, सब यथाविधि होता रहेगा। अपना तो लक्ष्य एक स्वभावका आश्रय करना है। तो निर्जरा उज्जृम्भण हो, उत्तरोत्तर विशेष विशेष निर्जरा हो, असख्यातगुणी निर्जरा, गुण श्रेणी निर्जरा। जिस जिस पदमे जिस प्रकार सम्भव है उस निर्जराके वेगसे प्रकृतियोका क्षय होता है।

१२७८—निर्जरोज्जृम्भणपूर्वक प्रकृतिक्षय—

जरा यहाँ कुछ कुछ प्रकृतियोकी भी बात समझते जायें। जो बँधे हुए कर्म है उनमे किसी भी प्रकारका क्षय होता है तो ऐसे ही नही हो जाता। निर्जरा होते होते जब उस प्रकृतिकी अतिम फालोकी भी सर्वसक्रमण होकर निर्जरा होती है तो उस प्रकृतिका क्षय कहलाता है। तो निजरण मायने

उसे क्षीण करना, उसके बहुतसे अग नष्ट हो जाना, ऐसा होते-होते प्रकृतिका क्षय होता है। जैसे, जहाँ जिन प्रकृतियोका क्षय हुआ १२ वे गुणस्थानके अन्तमे तीन घातिया कर्मोका क्षय हुआ, १० वे गुणस्थानके अन्तमे मोहनीयकर्मका क्षय हुआ तो एकदम पूरेका किसी समय क्षय नही हुआ, किन्तु सम्यक्त्वकालसे ही उन प्रकृतियोमें अन्तर आता गया, निर्जरा होती गई, स्थितियाँ कम होती गई, अनुभागके निषेक बदल गए, कम अनुभागमे मिलते गए, हर प्रकारसे जब निर्जराये चली तो होते-होते जब अन्तिम निषेक पुन्ज समाप्त होता है तो उस प्रकृतिका क्षय कहलाता है। ये सब बातें निमित्त नैमित्तिक भावके अनुकूल होती रहेगी अर्थात् आत्मस्वभावका आश्रय करता है और वहाँ कैसा क्या होता है, निर्जरण वैसा होता रहता है। श्रेणीमे विराजे हुए साधु सत कितने ही ऐसे थे कि जिन्होने पहिले कर्मसिद्धान्तका कोई विशेष ज्ञान न रखा, परिचय नही किया, पर प्रयोजनभूत बात भली प्रकार हुई, वह भेदविज्ञान अपने सहज स्वरूपका श्रद्धान और उस ही मे आनन्द पाया, इस कारण उस ही मे लगन, यह उनका एक बल था जिस बलसे उत्तरोत्तर बढकर श्रेणी पहुचा, वहाँ काम वही हो रहा है पुद्‌गलकर्मसे झडनेका, जितना कोई ज्ञान करके समाधि लेकर श्रेणीमें चढे। यह सब एक निष्पत्ति दृष्टिसे बात विदित होती है। कैसा क्या सानिध्य मिले, किस जातिका, किस योग्यताका उपादान किस रूप परिणमे यहां तक व्यवस्था है सो यथायोग्य चलती रहेगी, मगर अपने आपको तो इन सब विपत्तियोसे, सन्टोसे निपटानेके लिए एक स्वभावाश्रयका ही पौरुष चाहिए। फिर तो निर्जरा बढी, प्रकृतियोका क्षय हुआ, तब क्या हुआ कि यह सम्यग्दृष्टि जीव बडे अपने अतिरससे याने उस प्रतिभास की विशुद्धिसे केवल जानन, ज्ञान ज्ञान ही रहा उस अत्यन्त वेगसे और ज्ञानमात्र, जिसकी न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। स्वभावके अनुरूप एक है, उस विकासमे स्वभावकी एकता नजर आती है, वह स्वभाव किस दिनसे है, उसका बीज क्या है, उसका अन्त क्या है? आदि मध्य अन्तसे रहित ज्ञानरूप हुआ।

१२७६—मोक्षमार्गदर्शन ॐ की मुद्रा—

देखिये—'ॐ' शब्द जो लिखते है उसका यह आकार हमारे मोक्षमार्गको बतला रहा है। पहले लिखते ३ (तीन) का अक, फिर उसमे लगाते एक — (डैस), उसके बाद लिखते है ० (शून्य) और उसके ऊपर लगाते हैं ˘ (अर्द्धचन्द्र) और उसपर एक ▪ (शून्य) रखते हैं, इस प्रकार उसकी मुद्रा बनती है—'ॐ'। अब इस 'ॐ' शब्दके ५ अग हो गए। ३ (तीन) का अक, — (डैस), ▪ (शून्य), ˘ (अर्द्धचन्द्र) और ▪ (शून्य), तो यह 'ॐ' शब्दकी मुद्रा हमे मोक्षमार्गकी सूचना दे रही है। कैसे? ३ (तीन) का अक यह हुआ व्यवहारनय, इस व्यवहारनयसे समस्त तत्त्वोका ज्ञान-बनाया प्रमाणसे, नयसे, निक्षेपसे, हर तरहसे तत्त्वका ज्ञान बनाते ना, तो प्रथम व्यवहारनयसे इसका ज्ञान किया और ० (शून्य) है निश्चयनय याने जिसका आदि, मध्य अन्त नही वह स्वभावसे शून्य जहाँ आदि मध्य अन्त नही होता। कहाँ उसकी शुरुवात, कहाँ उसका बीच, कहाँ उसकी आखिरी। तो ऐसे ही शुद्धनय का विषयभूत अखण्ड तत्त्व इसमे आदि मध्य अन्त नही। उसका विषय करने वाला है शुद्धनय। ये दो नय सामने है—(१) व्यवहारनय (२) शुद्धनय अथवा परमशुद्ध निश्चयनय, ये दो नय अपने-अपने विषयको समझ रहे है, मगर ये अलग ही अलग बने रहें, जैसे कि लिखनेमे ३ (तीन) अलग है, ० (शून्य) अलग है तो उससे काम नही बनता। वह एकान्त बन जाता। तो प्रमाणका डडा (—) है बीच मे, उस प्रमाणने दोनो नयोको साथ रखा, निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार उचित नही, व्यवहारनिरपेक्ष

निश्चय भी इसको सम्यग्ज्ञानकी बात न बतायगा। एकान्त बन जाता, तो प्रमाणने उन्हे साध रखा। तो अब व्यवहारनय प्रमाण और निश्चय इन तीनोके ज्ञानमे अपना अवसर था, पर किसीको गौण कर, किसीको प्रधान कर इस प्रकार ज्ञानमे अवगाहन करता था। यह जीव जब प्रमाण और नय इनसे भी परे बनता है, दो को छोड़कर एक परे बनता मायने निर्विकल्प होता तो उसकी स्थिति बनती है क्या ? अनुभूति। अनुभूतिका प्रतीक है अर्द्धचन्द्र। अनुभवमे आया तो बस उस ही अनुभवकी धारा बने, उसका फल यह होगा कि यह शून्य बन जायगा, दोषोसे, उपाधियो से रहित हो जायगा, सिद्ध बनेगा। यह मुद्रा हमे यह सिखाती है कि निराधार प्रमाण कोई चीज नही। कब क्या उपयोगी है उसमे अपना उपभोग जुटाये, और आखिरी बात यह है कि शुद्धनयका अवलम्बन करें अनुभव प्राप्त करे, बस यही हमारे समस्त दोषोके दूर करेगा।

१२८०—ज्ञानभवनमहिमापरिचयकी यथाशक्तिप्रयोगसाध्यता—

सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनेमे स्वरसके वेगसे ज्ञानरूप हो रहा, ऐसा केवल प्रतिभासमान होना प्रयोग-गम्य नही है यह बात कभी स्वय ही अपनी शक्ति माफिक ज्ञानबलसे, अपनी शक्ति माफिक पूर्ण प्रयोग करके अपने उपयोगको इस तरह ठहराये कि यहाँ कोई भी बाहरी पदार्थ इस उपयोगमे न आये और बने तो यह भी करें कि खुदका आत्मा भी ज्ञानमे न आने दें, ऐसा होगा तो नही, क्योकि यह उपयोग अपने श्रोतमे कहाँ ठहरेगा, मगर आत्माका हम जिन विकल्पोसे परिचय करते हैं वह विकल्प अनात्म-तत्त्व है, वह भी न आने दे यह मतलब है। कोई बाहरी पदार्थ भी न आने दें और किसी क्षण ऐसा पौरुष बन जाय, कुछ भी विकल्पमे न आये, वहाँ स्थिति ऐसी बनेगी कि जैसे मानो यह उपयोग नीचे को खिसकता, उतरता, कही ऐसी जगह आता है कि जहाँ कुछ होश नही रहता, जहाँ कोई विकल्प नही होता, और एक बिजली चमकनेमे तो देर लगी, पर अपने पदके अनुकूल बात बोल रहे हैं, याने हम आप जिस स्थितिमे है उस पदवीके माफिक वहाँ क्षण भरको भी एक स्थिति होती है कि वहाँ कष्टका नाम नही रहता, विकल्पका नाम नही रहता, और एक शुद्ध जाननमात्र एक अनुभवमे होता है, यह तो है एक अनुभवकी रीति। यह अनुभव अधिक समय जब स्थिर होता है और जिसके सर्व दोष दूर हो जाते है, जहाँ अरहत अवस्था प्रकट होती है वहाँ क्या होता है ? यह ही ज्ञान, इस समस्त आकाश रगभूमिमे अपना अवगाह कर ज्ञान द्वारा उन समस्त ज्ञेयोको जानता हुआ, निज स्वच्छ तरगोमे विलास करता है। ज्ञान अर्थको कैसे जानता ? बाहर जाता नही, भीतरमे ही उसकी तरगे उछलती हैं, अपने आपमे विकसित होता है। तो मानो यह एक निरन्तरकी विशुद्धि परिणति है। जहाँ षड्गुण हानि वृद्धि अन्त बनी हुई है और ऐसा होते हुए भी जहाँ इतनी हानि नही कि कोई सत् ज्ञेयसे छूट जाय। इतनी वृद्धि नही कि कोई असत् भी ज्ञानमे आ जाय, इस तरह एक अपने आपमे इन समस्त ज्ञेयोको व्यापता हुआ यह ज्ञान निश्चय कर रहा है, मायने सहज ज्ञाता बन रहा है।

१२८१—सर्वोत्कृष्ट सार तत्त्वकी आदेयता—

सर्वोत्कृष्ट स्थिति है जीवकी एक आनन्दवाली आत्माको निर्दोष परिणति है, जहाँ तक आत्मामे कलुषता है, किसी भी ढगमे हो, किसी भी नाम पर हो, मालिन्य है वहाँ तक इस जीवकी भलाई नही, चैन नही। तो अपनेको चाहिए आनन्द, शाति, निर्दोषता। तो उस निर्दोषताको पानेके लिए हमे रागद्वेष विरोध मात्सर्य या अन्य अन्य बात जो जो कुछ जीवनमे गल्तियाँ चलती हैं,

जिनसे चित्तमे अशांति रहती है, अपने आपमे फिट नही बैठ पाते हैं, ऐसे उन दोषोका आदर न करे। भला, उन दोषोको करनेसे क्या प्रयोजन है ? जो मेरा ही विघात करे उन दोषो को क्यो आदर दिया जाय ? खूब निरख निरखकर इस तरहसे उनका विनाश करे कि पुनः आत्मामे प्रवेश न पा सके। अपने आपके स्वरूपकी ओर अभिमुखता हो और उनका विनाश हो तो हम आपके लिए कोई भलाई का मार्ग मिलेगा, भलाई होगी, पूर्ण निर्णय रखे॥ मुझे उन ऐबोसे, उन विभावोसे, उन कषायोसे मेरे को मतलब नही। वे तो मेरी बरबादी करनेको आते, मेरेमे वह बुद्धि जगे कि जिससे मैं अपने आपमे मग्न होऊँ या सब जीवोमे समान स्वरूपका दर्शन करूँ।

१२८२—सर्व जीवोमे स्वरूपदर्शन व आत्मरमणके पौरुषकी महनीयता—

देखिये एक मामूली प्रयोग—राग होता है ना, तो उस रागको खूब फैलाकर लाइये, मायने व्यापक बनाइये। राग आता है तो आप घरके दो तीन जीवो पर ही राग करके उस रागको केन्द्रित मत बनावे उस रागको सर्व जीवो पर फैलाकर उस रागका विनाश कीजिये। यदि उस रागको सकुचित करे, केन्द्रित करे, घरके दो जीवो पर ही अपना राग बनाये रहेगे तो यह राग पुष्ट रहेगा, संसार संकट टलेंगे नही। राग होता है, राग बिना चैन नही पडती है, तो ठीक है, आपके मनकी ही बात कह रहे है। नही छोडते राग तो ठीक है, राग किए बिना चैन नही पडती, मगर उस रागको सब जीवोपर तो लगाओ, घरके दो चार जीवोपर ही क्यो लगा रहे ? सब जीवोपर उस रागको फैला दीजिए अर्थात् आप अपना वात्सल्य, अपनी प्रीति, अपनी रुचि, अपना राग बनाते हैं, अनुराग करते है तो सर्व जीवोपर अनुराग लाइये। ऐसा करके देखो तो सही, जब स्वरूपदर्शन होगा तब ही सब जीवोमे समता की बात आयगी। और, वहाँ यह राग ध्वस्त हो जायगा। तो दो बाते चाहिए। बाहरमे सब ओर कही भी दृष्टि जाय तो सर्वके स्वरूपदर्शनकी बात आनी चाहिए। और, भली तो यह ही है कि यह इससे पार होकर मात्र अपने आपके ज्ञानस्वरूपमे ही अपना ज्ञान उपयुक्त रहे। तो ये दो लीलायें हैं। अध्यात्ममार्गमे। सब जीवोमे उस ही स्वरूपका दर्शन करे। सबको स्वरूपमे लाकर तत्त्व निरखे। सबका सहजस्वरूप यह है और अपने आपमे सर्वप्रकारकी विकल्प बाधाओको हटाकर बस और अधिक नही तो यहाँसे ही प्रारम्भ करे, जो ज्ञान उसके जाननेका काम करे उस रूप वह ज्ञान है क्या ? कैसे जान रहा वह ज्ञान, इसका स्वरूप क्या ? ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूपको निरखते रहनेपर ज्ञान अपने इस सहज ज्ञानस्वरूप तक आ जायगा। इस जानन पर्यायमे परिणत इस ज्ञानका ही स्वरूप जब जानने लगा, यह जो जान रहा है सो यह जानन क्या कहलाता है। जानन नाम किसका है ? उस ही जाननके स्वरूपको जानने बैठे तो हम उस आन्तरिक ज्ञानस्वरूपमे आ सकते है।

१२८३—सर्वसाम्य व स्वरूपरमणसे आत्मसमृद्धि—

सो भैया आत्महितार्थ दो ही काम करनेके हैं। बाहरी जीवोमे स्वरूपदर्शन, अन्तरगे अपने आपके ज्ञानस्वरूपमे मग्नताका प्रयास। ये दो बातें सामायिकमे या अन्य समयमे बनाये और यह निर्णय रखें कि इसके अतिरिक्त जो फाल्तू बातें आती है, बेकार बातें आती हैं। मेरा तेराकी कुछ भी बात हो वे सब बातें उपद्रव है। हमको तो दो ही बातोसे प्रयोजन है। जीवोको निरखें तो सर्वजीवोमे स्वरूपदर्शन हो। अपने आपको देखें तो केवल ज्ञानमात्र अपने अन्तस्तत्त्वकी ही अपने आपकी रुचि हो, अपने आपकी रुचि, अनुभूति प्रतीति ये सब अपने आपके प्रति ही बनावें। बस ये दो बातें है, इन ही मे अपने कुछ क्षण व्यतीत हो। इनके लिए ही बाहरी कुछ बातें करनी होती, स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा

आदि की । तो एक बड़े वात्सल्यसे सर्व जीवोको एक समान मानकर, जैसे अन्य लोग कहते है कि सब एक हम ही हम हैं, अब किससे हम द्वेष करे ? तो यहाँ स्वरूपको देखो, सभी एक ही समान है, अब किससे विरोध करना ? तो बाहर देखो तो स्वरूपदर्शन, अन्तरमे देखो तो ज्ञातमात्र सहज अविकार इस उपायसे एक अपने आपमे विभावोका क्षरण होगा । आयेंगे प्रतिफलन और यो ही निकल जायेंगे और ऐसा होते-होते हम पर जो भार लदा कर्मका, देहका, विभावका, जैसा जब जितना भार हटना होगा उतना हट-हटकर कभी सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी । करनेका काम यह ही है कि अपना जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसका भान करें, उस ही मे अपनेको तृप्त रखें, ऐसा पौरुष बने तो इसमे आत्माका कल्याण है ।



समयसार कलश प्रवचन चतुर्थ भाग

(बन्धाधिकार)

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्, क्रीडंतं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत् ।
आनन्दामृत नित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्, धीरोदारमनाकुल निरुपधि ज्ञानं समुन्यज्जति ।।१६३।।

१२८४—बन्धको धुनते हुए निरुपाधि ज्ञानका उपयोगभूमिमें प्रवेश—

अब निरुपाधि ज्ञान प्रकट होता है याने उपयोगमे रागद्वेषादिक विभाव अतरंग उपाधियोंसे रहित यह ज्ञान प्रकट होता है जो ज्ञान इस बधको धुनता हुआ प्रकट हो रहा, जहाँ आत्मस्वभाव स्पर्शी ज्ञान है वहाँ बधकी क्या कथा है ? बध किसे कहते हैं ? बधकी क्या तारीफ है ? उपयोग कर्मविपाजक विकारभावमे, विकल्पमे अपने आपको जोडता याने विभावोके अधीन बन गया उपयोग । अब विभावरूप, विकाररूप यह अपनी परिणति करे, यह है अपने आपमे बध । और ऐसा बध बना कैसे ? ऐसा कही आत्माका स्वभाव नही है कि वह विभावोके अधीन विभावरूप परिणमन, ज्ञान विकल्प यों ही अपने आप बनाया करे, ऐसा स्वभाव नही है । करता यह जीव ही विकारपरिणाम है, मगर कर्मविपाक के सन्निधानमे यह जीव अपने आपमे इस प्रकारका विकार करता है, तभी यह विकार दूर हो सकता है, नैमित्तिक है, अतएव वह विकार दूर हो सकता है, जो अनैमित्तिक तत्त्व है, अहेतुक है, स्वाभाविक है वह दूर नही किया जा सकता । तो यहाँ इस बधको इस रूपमे जो रखता है यह मेरा स्वरूप नही, स्वभाव नही, स्वाभाविक भाव नही, यह औपाधिक है, नैमित्तिक है, पर लक्ष्य करके उत्पन्न हुआ भाव है, ये सारी बाते जब इस ज्ञानीके निर्णयमे हैं तो उसमे एक ऐसा बल होता है कि इसको तो ज्ञानबलके द्वारा क्षणमात्रमे दूर किया जा सकता है ।

१२८५—रागोद्गारमहारससे बन्ध द्वारा जगत्की विडम्बना—

यह बन्ध रागके उदयविपाकरससे सारे जगतको प्रमत्त कर चुका है, कर रहा है । कैसा प्रमत्त ? बेहोश, स्वरूपकी सुध नही हो पाती । इस जीव पर राग बहुत बडी विपत्ति है । स्वरूपसे देखो तो सब जीव आनन्दमय है, स्वरूपमे निरखिये, स्वरूप कष्टके लिए नही होता । एक आत्मा ही क्या, किसी भी पदार्थका स्वरूप अपनी बरबादीके लिए नही हुआ करता । मुझ आत्माका स्वरूप है चैतन्य प्रकाश, उसमे कष्टका कहाँ अवसर है ? तो स्वरूपको निरखिये—स्वरूप आनन्दमय है । मगर पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकवश बन रहे हैं ज्ञान विकल्प । इन ज्ञान विकल्पोंने इस जीवको झकझोर दिया, यह जीव परेशान हो गया । परेशान शब्द यद्यपि है उर्दू का, किन्तु इसको सस्कृत शब्द अगर मानलें तो परेशानका अर्थ क्या होगा ? पर ईशान, इशान कहते हैं स्वामीको । तो पर पदार्थोको अपना स्वामी मानना या पर का स्वामी अपनेको मानना, जहा यह बुद्धि जगती है वहाँ इस जीवको परेशानी शुरू हो जाती है । सूक्ष्मरूपसे, मोटे रूपसे, ऐसे ही कोई परके प्रति लगाव बनाता है जीव तो यह परेशान है, दु खी है, यह परतन्त्र है । यह विह्वलता, यह रागके उद्गारसे प्रकट हुई है ।

१२८६—ज्ञानवासित वैराग्ययुक्त जीवनकी धन्यता—

भैया, किसी भी वस्तुका राग न करें तो क्या बिगडता है यहाँ ? आत्माके गुणोंमे से कोई गुण क्या कम हो जाता है ? किसी भी वस्तु विषयक किसी भी परतत्त्वमे, किसीभी वस्तुधर्ममे राग न हो तो आत्माका क्या बिगाड है सो बतलाओ ? जरा अपने जीवनसे अदाज करो, इस जीवन तक इस

कुटुम्बमे कितने लोग गुजर गए ? आपके बाबा थे, वडा प्यार रखते थे वे भी नही रहे, जो जो नही रहे दादा, बाबा, पिता, किसीके पुत्र भी नही रहे, जो जो भी जिनके नही रहे, वे जरा विचारें तो सही कि हमने पूर्व समयमे ऐसी ऐसी चेष्टायें की, राग किया, प्रीति की। यदि मैं प्रीति न रखता, राग न रखता, तो मेरा क्या विगाड था ? यह बात अब जरा समझमे आ सकती है, क्योकि वे साधन सामने नही है, वे गुजर गए हैं और उसके प्रति जो प्रीति की है, उसकी एक वडी चोट है, आघात है, दुःख है, तो यह बात झट समझमे आ सकती है कि उन जीवोसे यदि प्रीति न की होती तो मेरा क्या विगाड था। बल्कि मैं तब भी आनन्दमे रह लेता, इतना समय व्याकुलता मे तो न जाता, यह बात झट समझमे आती, ऐसी ही बात मिली हुई सम्पत्ति और परिचयमे यदि वन सके तो उसका जीवन धन्य है। जलसे भिन्न कमल है। जलसे भिन्न रहेगा कमल तो वह सड़ेगा नही, जलसे ही पैदा होता और वह जलसे राग करने लगे, जलमे पड जावे तो कुछ दिनमे वह सड जायगा। वह जलसे न्यारा रहता है तो प्रफुल्लित है, ऐसे ही हम आप घरमे पैदा होते, इसी कुटुम्बमे पलते पुषते, इसके बीच रहकर भी अगर अपने स्वरूपका भान रहे तो प्रसन्न रहेगे और जो परिजनमे, परिग्रहमे इनमे अनुरक्त होगे, आशक्त होगे तब तो फिर सैकडो प्रकारके झगडे रहेगे, वहाँ फिर आदर न रहेगा, उसमे सड जायेंगे मायने बरबाद हो जायेंगे। इसका खूब भली प्रकार अदाज कर लो—घरके बीच रहकर अगर बालबच्चोसे अधिक मोह रहेगा तो वे बाल बच्चे भी यही समझेंगे कि यह बाप तो वडा बुद्धू वन रहा, मेरे लिए रात दिन जुत रहा, मैं जो कहूँगा सो यह करेगा और जो कुछ ज्ञान और वैराग्यकी ओर प्रेरित रहेगा यह तो इसके प्रति उन सबको भय रहेगा कि हमसे कही कोई अनुचित बात न वनने पावे। कही ऐसा न हो कि ये पूर्ण विरक्त हो जावे। तो ज्ञान और वैराग्यसे वासित होकर घरमे रहना बनेगा तो वहाँ प्रसन्नता रहेगी और आशक्त होकर घरमे रहेगा तो वहाँ क्लेश रहेगा। यह रागका उद्गार ऐसा ही महान मदिरारस है।

१२८७—बधकी अज्ञानियोपर मार और ज्ञानियोकी बन्धपर मार—

इस बधने क्या किया, इस कर्मविपाकने क्या किया कि राग उद्गार रूपी मदिरारससे सारे जगतको प्रमत्त कर दिया और स्वय अपना अनुभागरस भरा हुआ होनेसे एक अपना नृत्य बनाये, क्रीडा कर रहा अर्थात् इन सब प्राणियोको जैसी चाहे दुर्दशा बनानेमे यह कारण हो रहा, निमित्त हो रहा। अथवा भावबधसे देखो तो यह भावबध इस जगतको नाना प्रकारसे नाच नचा रहा, ऐसे स्वच्छद क्रीडा करने वाले बधको अब इस ज्ञानने धुना। धातु एक अर्थमे अनेक होती हैं फिर भी सूक्ष्मतासे देखें तो भेद पडता है, जैसे देखना, निरखना, परखना, लखना, अवलोकन आदि ये सब देखनेके अर्थमे हैं, मगर सबके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। इनकी सावधानी हिंदीमे अधिक नही रखते पर इगलिशमे और सस्कृतमे इसकी वडी सावधानी होती है। कैसे कहाँ किन शब्दोका प्रयोग करना होता। यहाँ यह ज्ञान इस बध को धुन रहा है, नष्ट कर रहा है, पीट पीटकर, मार मारकर उसके अश अशको धुन रहा है, ऐसा यह ज्ञान अब प्रकट होता है। यह चल रहा है बधाविकार। तो बधाविकारके मायने यह न जानना कि इसमे बधने-बधने की बात की जायगी, इसमे बधके धुननेकी बात कही जायगी। प्रकरणवश बधके लक्षण भी आयेंगे। बधका स्वरूप बताया जायगा, पर प्रयोजन है बधको दूर करनेका। बधका यहाँ प्रवेश होता है याने इस उपयोगभूतिमे अब बधकी चर्चा चलती है तो चर्चा धुननेके रूपसे चलेगी। बध क्या कहलाता है ? वह कैसे मिटता है ? उसके प्रति क्या अपनेको पौरुष करना है, ये सब चर्चायें

इस अधिकारमे आयेगी तो यह ज्ञान विभाव उपाधिसे रहित होकर विलास कर रहा है। ज्ञानबलके द्वारा विभावभाव हट गए।

१२८८—अविकार स्वरूपपर विकार लदनेकी विडम्बना—

यह हूँ मैं अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्य प्रकाशमात्र, इसमे विकार नही, किन्तु इस पर विकार लद गए, जैसे सनीमाका पर्दा है, तो उस पर्देमे फिल्म फोटो नही है, दिनमे देख लो, कहाँ है ? और जब चाहे देख लो कहाँ है ? सनीमाके पर्देपर फोटो नही पडी हुई है, वहाँसे वह फोटो नही आयी किन्तु उसपर फोटोका रग लद गया है, कब ? उस फिल्म मशीनसे जो भी कार्य किया जा रहा है उसका सन्निधान पाकर। ऐसे ही मेरे स्वरूपमे विकार नही है और स्वरूपमे से विकार नही निकले किन्तु अशुद्धताकी योग्यतासे मुझपर विकार लद गए हैं, जैसे उस पर्दे पर इतनी योग्यता है कि उसपर फोटो लद सकती है, चित्रण हो सकता है ऐसे ही इस उपयोगमे ऐसी योग्यता है कि उसपर विकार लद सकते हैं। कब ? रागोद्गाररस निर्भर कर्मविपाकका सान्निध्य पाकर। ये विकार मेरे स्वरूप नही हैं। ऐसा जो एक दोनोकी सधिमे महान एक छेद किया है, दूर किया है, टुकडे किया है ज्ञान द्वारा अब ये विभाव अब इस स्वभावमे जुड सके, जुडते तो किसीके न थे, पर अज्ञानी भ्रमसे अपनाता रहा, यह अब भ्रम भी नही रख रहा है तो एकदम स्पष्ट मामला बन गया। यह मैं चैतन्यप्रकाश मात्र हूँ, ऐसी दृढ दृष्टिके कारण अब यहाँ बन्धका निरन्तर धुनना बन रहा। आ रहे जा रहे, उसे अपना नही रहा ज्ञानी।

१२८९—अध्यात्मशास्त्रमे बुद्धिगत पौरुष एवं कार्यका वर्णन—

देखिये—अध्यात्मशास्त्रमे बुद्धिपूर्वक वर्णन होता है तो अन्य-अन्य बात जाननेपर भी जब एक अध्यात्ममे केवल अतस्तत्त्वका लक्ष्य रखा जाता है तो वहाँ फिर ज्ञानमे एक ऐसा ध्यान नही लाया जाता कि बध तो यहाँ तक चलता आश्रव तो यहाँ तक होते ९ वे गुणस्थान तक, १० वें गुणस्थान तक, तो वह जान तो गया, जान लिया, मगर अबुद्धिपूर्वक जो बाते है उन पर आप क्या पौरुष करे ? बुद्धि पूर्वक जो गदगियाँ हैं उन्हे हटाना है। जब बुद्धिपूर्वक गदगियाँ हटेंगी, अबुद्धिपूर्वक गदगियाँ भी हटेंगी। यह ही तो सम्यग्दृष्टि पौरुष करता है कि बुद्धिपूर्वक पर तत्त्वपर विजय किया तो अबुद्धिपूर्वक पर विजय करनेका उसका यही पौरुष है जो बुद्धिपूर्वक रागको दूर करनेका पौरुष है, कोई भिन्न पौरुष नही, अपने सहज स्वरूपका आश्रय करना और एक ही मात्र यह पौरुष है जिसके बलसे सभी प्रकारके आश्रव बध धुने चले जाते हैं जहाँ एक ज्ञान प्रकट हुआ। अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमे, मैं हूँ ऐसा अनुभवने वाला वह ज्ञान नित्य ही आनन्दरूपी अमृतका भोजन करने वाला है अर्थात् उस ज्ञानके साथ ही आनन्द लगा हुआ है। फिर उस विशुद्ध आनन्दसे ही ज्ञानका पोषण चल रहा, यह ज्ञान और आनन्द सहभावी है, ऐसा आत्मीय ज्ञान और आत्मीय आनन्द ये दोनो ही चल रहे हैं। तो आनन्दामृतका नित्य भोजन करते हुए यह ज्ञान प्रकट होता है।

१२९०—आनन्दको उमगाता हुआ ही शुद्ध ज्ञानके अभ्युदयकी विलास—

जिसे सम्यग्ज्ञान हुआ, स्वानुभव बना, आत्माकी सुध हुई उसे आनन्द होगा ही। वहाँ कभी ऐसा नही सोचा जा सकता कि मैंने ज्ञानका तो अनुभव किया और देखो मुझे आनन्द हुआ कि नही ? जैसे अनेक लोग ऐसा सोचते है कि मैंने जिंदगी भर धर्म तो किया मगर मेरेको दुख न मिटा, धन न बढा, बच्चे न बने अरे ऐसी दृष्टि करने वालोने धर्म किया कहाँ ? समस्त परभावोसे विविक्त सहज चैतन्य

प्रकाशकी रुचिकी हो, उसमे ही लगन होनेकी, मग्न होनेकी धुन बनी हो, ऐसे पुरुषको कष्ट कहाँ है ? बच्चो को वह क्या मानता है, सब पर चीजें हैं, परका सम्बन्ध, परके लगावको तो वह एक विपत्ति समझता है। तो जैसे एक मोटे रूपमे कोई कहे कि ज्ञानकी हम बहुत बहुत बारीक चर्चा भी करते हैं, उसका अर्जन भी करते हैं और फिर भी आनन्द नही मिलता, तो समझो अभी धर्म नही कर सका। धर्म परिणाम हो और आनन्द न आये यह बात कैसे हो सकती है ? यदि सविधि जैसा कि यह ज्ञान करे, इस सहज ज्ञानस्वभावको ज्ञेय कर ले, ज्ञानमे वह सहज ज्ञानस्वरूप समाये ऐसी कभी वृत्ति बने तो वहाँ तत्काल ही उसको अद्भुत आनद प्रकट होता है। एक वेदान्तकी टीकामे दृष्टात दिया है कि कोई नई बहू जिसके पहली बार गर्भ रहा था तो जब कुछ उसे पेट दर्द सा होने लगा, कुछ जरा तकलीफ सी हुई तो वह अपनी साससे बोली—माँ जी जब मेरे बच्चा पैदा हो तो मुझे जगा देना, कही ऐसा न हो कि मैं सोती ही रहूँ और बच्चा पैदा हो जाय या कुछसे कुछ गडबडी हो जाय। तो वह सास बोली—बेटी घबडा मत, बच्चा जब भी पैदा होगा तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा। तो ऐसे ही समझो कि यह ज्ञान जब भी पैदा होगा तो आनन्दको जगाता हुआ ही पैदा होगा। स्वका ज्ञान बने, स्वकी अनुभूति बने और वहाँ आनन्द न हो यह कभी हो नही सकता।

१२९१—अनर्थ विभावको छोडकर चैतन्य महाप्रभुके दर्शनकी कलासे अपनेको आत्माभिमुख बनानेका सदेश—

इस ससारके ये जीव सब अपनी सुध न पानेके कारण इतने दु खी हैं और इतना ससारमे भ्रमण कर रहे हैं, इनको आनन्दामृतका पता ही नही, न जाने बाहरमे कहाँ कहाँ दिमाग लगाते, न जाने कितनी ही पक्ष विपक्ष की बाते चलती, न जाने किन किन चीजो को अपनी मानकर गर्व करते, पर जरा सोचो तो सही कि इस जगतमे कोई भी पर पदार्थ अपना है क्या ? यहाँ गर्व किए जाने लायक कोई बात भी है क्या ? जिसके मिथ्यात्व है, मोह है उसको इतना विष व्याप्त रहा है कि जिसको समझ लिया अपना, जिसको मान लिया अपना बस उसके लिए अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करता और जिन्हे गैर समझ रखा उनके प्रति रच भी उदारताका भाव नही उमडता, मानो उनसे कुछ मतलब ही न हो, यह मिथ्यात्व महाविषकी छाप है। नही तो जिसकी विशुद्ध दृष्टि हो गई वह जब जगतके जीवोको निरखे तो सबसे पहले उसे ब्रह्मस्वरूपके दर्शन होना चाहिये ज्ञानबनसे। सब जीवोमे यही चैतन्यस्वरूप है वहाँकी गडबडियाँ, वहाँकी अटपट प्रवृत्तियाँ, इन बातोमे चित न देकर सर्वप्रथम उनके सहज चैतन्य महाप्रभुका दर्शन हो।

१२९२—निज सहज स्वरूपके दर्शनके दृढ अभ्यासीको सर्वत्र चैतन्य महाप्रभुके दर्शन—

सर्वजीवोको निरखते ही प्रथम वहाँ चैतन्य महाप्रभुका ख्याल आ सके तो समझिये कि वह उसका अभ्यासी है। होता भी तो ऐसा ही है। जो पुरुष हर तरहसे सासारिक सुखमे मग्न है, कुटुम्ब अच्छा है, वैभव ठीक है, लोगोमे इज्जत भी है। सब कुछ बात हो रही है तो उसे कही भी कुछ दिखता है तो सर्वप्रथम वह सुखमय वातावरण ही दिखता है, क्योकि वह खुद सुखी है, वैसी उसकी दृष्टि बनी है। वही उसके अनुभवमे चल रहा है वह तो उसे सहज ही ऐसा लगेगा कि सब सुखी हैं, सब सुखमय हैं, किसीको कष्ट नही, और कभी खुदको कोई बडा सासारिक कष्ट आ जाय, मानो किसीका परम इष्ट गुजर गया, या अन्य कोई विपत्ति आ गई तो वह जब कुछ भी देखता है तो बाहर उसे ऐसा लगता है कि यह सारी दुनिया कष्टमे पडी हुई है। जैसी अपने अन्दर बात है वैसी ही बात बाहर नजर आती है। तो जिसने अपने इस चैतन्यस्वरूपका अभ्यास किया है ज्ञानसे यही भीतर अपने उस तत्वको

निरखनेके पौरुषमे सफल हुआ है, अनुभव बना है उसे जगतके सब जीवोको निरखकर प्रथम उसके अन्त स्वरूपका दर्शन होता है। होना चाहिये। बात यह भी सत्य है, पर्यायकी भी बात ठीक है, ये परिणतियां चल रही है मगर अन्तरमे उसे इस प्रभुताका अवश्य स्मरण होता है, क्योकि यह ज्ञान, यह स्वरूप अपने इस आनन्दामृतसे तृप्त हुआ है।

१२९३—निरुपाधि ज्ञानका सहज विलास—

आनन्दामृतनित्यभोजी ज्ञानने अपनी सहज अवस्थाको स्फुट साफ साफ स्पष्ट प्रकट किया है। अर्थात् अपने ज्ञानमे जाना कि यह मैं आत्मा, यह मैं ज्ञान हूँ। यदि कोई पौरुष बाहरका न करूँ, किसी तरहका विकल्प न बनाऊँ, कही मोहममत्व रागकी बातें न करूँ तो इसकी सहज हालत क्या होगी, यह उसके निर्णयमे भली भांति पडा हुआ है। विकल्प करते हैं तो क्या स्थिति बनती है और बाहरी विकल्प नही रखते है तो क्या स्थिति बनती है? दोनोका इसको परिचय है, तो जब वह ज्ञान प्रकट होता है, जिसके विभावोसे उपेक्षा है ऐसे ज्ञानके समय वह ज्ञान अपनी सहज अवस्थाको स्पष्ट नचा रहा है, प्रकट कर रहा है। नचाना किसे कहते है? जब मन आये तब काम करलें, इसे कहते है नचाना। यहाँ भी तो ऐसा कहते हैं कि इसने तो उसे नचा रखा है, मायने जब मन चाहे तब उसे दु ख मे डाल दे, कष्टमे डाल दे, जैसा चाहे तैसा काम करा दे, इसे कहते हैं नचाना। तो इस ज्ञानने किसे नचा रखा है? अपनी सहज अवस्थाको नचा रखा है। जब दृष्टि दे तो वह सहज अवस्था इसके ज्ञान मे स्पष्ट है। दुष्ट लोग दूसरोको नचायेंगे, किसी प्रकार? तो यह ज्ञान, सहज ज्ञान अपनी शुद्ध अवस्थाको नचाता है मायने वही-वही बना रहता है, और कदाचित कोई ज्ञानी कुछ वीतराग अवस्था से नीचे है, सराग अवस्थामे है और कभी कभी उसका ज्ञानविकल्प बनता भी है तो भी उसके हाथ यह बात है कि जब दृष्टि दें तब ही अपने आपकी सुध लें, बस अपनेमे आनन्द सामने पा लेते है। दृष्टिकी और वह चीज सामने है। जब अपने पास यात्रा करनेमे टिफिन बाक्समे रखा हुआ भोजन है तो जहाँ भूख लगी वहा ही खा लिया। उसके लिए अधिक चिन्ता नही करनी पडती कि पता नही कौनसे स्टेशनमे खाना मिलेगा,…ऐसे ही ज्ञानी जीवकी प्रतीतिमे निज सहज तत्त्व है, ऐसी जब इसकी सुध होती, जब भी इसकी दृष्टि होती तब ही अपने तत्त्वका अनुभव कर लेता है। तो ऐसी सहज अवस्थाको स्पष्ट नचाता हुआ यह ज्ञान अब प्रकट होता है।

१२९४—धीर उदार अनाकुल निरुपाधि ज्ञानका प्रताप—

बधको धुनता हुआ यह ज्ञान धीर है, धीर कहते हैं धीराति इति धीर जो बुद्धि दे, बुद्धिका विकास करे, ज्ञानका विकास करे वही ज्ञान है। ऐसा ज्ञान प्रकट होता है कि अब उसके विकास ही विकास चलेगा। अवनतिकी बात नही। जैसे लौकिकजन कहते हैं कि धनसे धन बढता है, उनकी बात और है। जिनके पास धन है वे व्यापार करेंगे, धन बढेगा। यहाँ देखो ज्ञानमे ज्ञान बढ रहा है और निरुपाधि ज्ञान प्रकट होता है। वह विशुद्ध ज्ञान ज्ञानविकासमे ही बढा हुआ रहता है इसलिये वह ज्ञातृविकासको ही दे रहा है, अतएव धीर है। धैर्यका अर्थ लोग कहते हैं घबडाहट न होना यो धीरता रखें, यह फलित अर्थ है, इस शब्दका अर्थ नही है। जिसका भाव ऐसा है कि ज्ञान ज्ञानको, बुद्धिको साफ रखता है, विकसित करता है, वहाँ घबडाहट होती नहीं है, इसलिए धैर्यका अर्थ घबडाहट नही होता, यह फलित अर्थ निकलता है। यह ज्ञान धीर हैं, उदार है। इसमे अब तुच्छ बाते विभाव गन्दगियां नही आती है। सर्व जीवोमे स्वरूपसाम्य इसकी नीव है, जिसपर कि यह ज्ञानका विकास चल

रहा। यह निराकुल हैं। आकुलता नही है। ज्ञानमे आकुलता नही। देखिये—जब कहा जाय कि ज्ञानीके बन्ध नही होता तो उसका एक तो अर्थ यह लेना कि बुद्धिपूर्वक बन्ध नही है, आश्रव नही है, दूसरा अर्थ यह लेना कि इस जीवको ज्ञानी शब्दसे कहा है इसलिए ज्ञानभावके नातेसे ही उसको निरखना है। और, भावके नातेसे है बन्ध है तो हो मगर उसका सम्बोधन तो नही किया। जिस शब्दसे सम्बोधन किया उस शब्द की कला से ही देखें तो ज्ञानकी कलामे क्या बन्ध हुआ करता है ? तो यो परखो, ज्ञानको ज्ञान–ज्ञान स्वरूप मात्रमे ही निरखा जाय तो ज्ञानकलाके द्वारा बन्ध नही होता। यहाँ अब यह निरुपाधि ज्ञान प्रकट होता है जो कि इस सब बन्धको धुनता हुआ विलास करता रहता है।

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मक कर्म वा न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बवकृत्।
यदैक्यमुपयोगभ्. समुपयाति रागादिभि' स एव किल केवल भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥१६४॥

१२६५—बन्धहेतुके सम्बन्धमे विचार—

यह जीव अपने आप अपने स्वरूपसे स्वभावत अपने एकत्वमे रहता है। इसमे स्वरूप दृष्टिसे निरखे तो कोई असुन्दरता नही, कोई आपत्ति नही, और जब आजकी स्थिति निरखते हैं, घटना देखते हैं तो यहाँ आपत्ति है, बधनमे है। शरीरमे कैसा बँधा है ? सो परख लो। स्वरूपदृष्टिसे तो निराला है, पर बन्धन भी देख लो, अगर कहा जाय कि आपका शरीर तो वही बैठा रहने दो और केवल आप हमारे पास आ जावो तो नही आ पाते, ऐसी घटना है। तो ऐसा बन्धन क्यो हुआ इस जीवको ? उसका कारण क्या है ? देखिये—शरीरका बन्धन हुआ उसका कारण तो उस प्रकारका कर्मोदय और उदय तब आया जब यह सत्तामे आया। सत्ता हुई इसकी तब जब इसका बध हुआ। तो उस कर्मबन्ध का कारण क्या है ? आपत्ति तो सब बन्धमूलक हुई ना ? तो उस बधका हेतु क्या है ? इस तथ्यका इस छदमे विचार किया है याने यह जीव ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोसे बँध गया उसका कारण क्या है ? इस तथ्यपर इस छदसे विचार किया गया है।

१२६६—बन्धप्रसगके समयकी कुछ बाहरी घटनाओका चित्रण—

देखिये यहाँ बाहरी घटनाये किस प्रकारकी हैं। इस ससारमे हम आप हैं जिनमे कार्माणवर्गणायें खूब भरी पडी हुई हैं। प्रत्येक जीवके साथ अनन्त तो पुद्गल कर्मपरमाणु हैं और उसमे अनन्त गुणे कार्माणवर्गणाके विश्रसोपचय परमाणु हैं याने जो कर्मरूप अभी नही है, पर कर्मरूप बन सकेंगे, ऐसा इसके साथ बना हुआ है एक क्षेत्रावगाही इनसे यहाँ बन्ध नही है। जहाँ कार्माण वर्गणाके विश्रसोपचय हैं वहाँ बन्धन नही है। जीवके साथ बद्ध कर्म परमाणुओका बन्धन है, मगर देखिये—जब जीव एक भव छोडता है, दूसरे भवमे जाता है तो बद्ध कर्म जाते हैं साथ, मगर ये विश्रोसोपचय भी इसके साथ जाते हैं। उसमे बँधा होकर भी कैसा यह बँधा सा चिपटा हुआ है। अब एक घटना देखो—कार्माणवर्गणाके जो विश्रसोपचय है, (विश्रसोपचय अर्थ है विश्रसा उपचय, स्वभावसे ही ढेर लगा), वे ही कर्मरूप बन जाते हैं। तो ऐसा होनेका कारण क्या ? तो एक बात तो यह दिख रहा कि सारे ससारमे कर्म भरे पडे हैं। दूसरी बात यह दिख रही कि जीव बडी-दौड लगा रहा है, मन वचन कायकी बडी-बडी प्रवृत्तियां कर रहा है, यह भी दिख रहा है। यह भी दिख रहा है कि यह जीव बहुतसे साधनोके बीच रह रहा, घरमे रह रहा, कुटुम्बमे रह रहा, जहाँ जो सग प्रसग हैं उनमे रह रहा यह जीव नजर आ रहा है। यह जीवका जिस चाहेको सतानेका काम करना, किसीका बध कर देता, किसीका चित्त

दुखा देता, ऐसी अनेक बातें दिख रही है।

१२६७—कर्मबहुल जगतका बन्धहेतुतामे अनियम—

कोई कह रहा है शकाकार कि हम तो यह जानते हैं कि जब कर्मोंसे भरा हुआ यह ससार है और इसके बीच यह जीव रह रहा है तो उसमे अधिक क्या दिमाग लगाना ? अरे—काजलकी कोठरी मे कैसा ही सयाना जाय, कालिमाकी रेख तो लागे पै लागै ही। ऐसे ही कर्मोंसे भरा हुआ ससार है और उसमे पडा हुआ यह ससारी जीव है तो यह बचकर कहाँ जायगा ? उसको कर्म बघेंगे ही एक लौकिक पुरुष ने अपना ऐसा विचार रखा, मगर यह विचार बन्धके कारणकी असलियतको नही बता रहा। कर्म तो भरे हैं ससारमे, सिद्धभगवान विराजे हैं वहाँ पर भी कर्म भरे है। निगोद जीव वहाँ भी रह रहे है और उनकी कार्माण वर्गणाये तो है ही और अनेक वर्गणायें जीवसे अलग भी रहा करती है। तो कर्म जब सारे लोकमे भरे है और कर्म भरे रहनेके कारण इनका बन्ध हुआ ऐसी बात मान लेते, तब तो सिद्धमे भी बन्ध होना चाहिए। याने कर्मबन्धका कारण कर्मसे भरे हुए ससारमे निवास नही बताया जा सकता। अरहत भगवान तो यही रह रहे। वे तो सिद्ध लोकमे अभी नही है और कर्म यहाँ भरे पडे है ही। उनको क्यो नही बन्ध हो रहा ? तो यह कारण बताना कि कर्मसे भरे ससारमे रहते है इस कारण कर्मबन्ध होता है, यह बात ठीक नही बैठती, कारण तो वह बताना चाहिए कि जिसके होने पर कार्य हो ही हो, जिसके न होने पर कार्य न हो। तब तो वह निमित्तकी बात बतानी भली है अन्वयव्यतिरेकी हो तो उसको निमित्त बताया जावे। यह कर्मोंसे भरा ससार है इस कारण नवीन कर्मोंसे बँधता है, यह बात तो युक्त नही है। देखिये—बन्धके बारेमे दोनो ही दृष्टियोसे निरख सकते है। इसके भाव बन्ध क्यो होता ? द्रव्यबन्ध क्यो होता ? अच्छा अब द्रव्यबन्धकी चर्चा है कि जो अष्ट कर्मोका बन्ध है उसका कारण कर्म भरे ससारमे रहना नही है।

१२६८—चलनात्मक कर्मका बंध हेतुतामे अनियम—

दूसरा कोई कहता है कि बात बिल्कुल स्पष्ट है कि यह लोक यह प्राणी इसका मन डोलता है, कहाँ कहाँ मनका योग होता है, कहाँ अटपट वचन व्यवहार है, शरीरकी कैसी चेष्टाये रखता है पाप मे, विषयोमे, व्यसनोमे ऐसी ऐसी जब इसकी प्रवृत्तियाँ है, मन, वचन, कायकी ऐसी प्रवृत्तियाँ है तो यह ही कर्मबधका कारण है। कर्मबधका कारण अधिक खोजनेमे क्या दिमाग लगाना ? तो इस दूसरेका क्या भाव आया कि मन, वचन कायका जो हलन चलन है, योग है, यह कर्मबन्धका कारण है। तो यह बात भी सूक्ष्मतासे विचारें तो युक्त यो नही बैठती कि अरहत भगवानके मनोयोग है कि नही ? मनोबल तो नही, भाव मन तो नही, पर द्रव्यमनका योग वहाँ भी है, परतु बन्ध तो नही। वचनयोग वहाँ है कि नही ? भवि भागन वच जोगे वसाय। कहा ही है कि भव्य जीवोका सौभाग्य और भगवान का वचनयोग, उसके वश दिव्यध्वनि खिरती है। अरहत भगवानके काययोग भी है कि नही है। वे विहार करते है, काययोग भी चल रहा पर उनका बन्ध नही हो रहा, इसलिए बन्धके कारणमे योगकी बात बताना युक्त नही है। जिसके होने पर कार्य हो, न होनेपर कार्य न हो ऐसा अन्वयव्यतिरेक वाला कारण बताना चाहिए।

१२६९—अनेक करण साधनोका बन्धहेतुतामे अनियम—

तीसरा बोला कि बात बिल्कुल सामने है, यह गृहस्थ, यह जीव कैसा मोहियोके बीच पड़ा है, वैभव धन सम्पत्तिके बीच पडा है, आहार आदिक अनेक प्रसग रखे हुए हैं, मकान सजावट बहुत-बहुत

बातें, इनके बढ़िया साधन बने हुए हैं। इन साधनोंके बीच रह रहे है इसीलिए तो बंध होता रहता है और तब ही तो ज्ञानी पुरुष इन सबसे विरक्त होकर इन्हें त्यागकर निर्जनस्थानमे आत्मसाधना करने जाता है, तो यह सारा बंध इन बाह्य साधनोंसे हो रहा है। सो ये अनेककारण याने बाह्य पदार्थोंका जो निकटपना है, बस यह बंधका कारण है अथवा ये स्पर्शन रसना आदिक इन्द्रियां बंधके कारण है। यह बात तीसरे पुरुषने रखी। इस पर भी विचार करें, तो यह संगत यों नही बनता कि जहाँ-जहाँ ये बाह्यपदार्थ हो वहाँ-वहाँ बंध हो, ऐसा नियम तो नही बन पा रहा है, क्योंकि यहाँ तो आपका एक मकान और जिसमे आप रहते है, वहाँ आपको बंध बता दिया और समवशरण कितना बडा मकान, कितनी बडी शोभा, वहाँ अरहंत भगवान रह रहे है उनको भी बंध बता दिया। प्रभुके होता है क्या बंध ? बाह्य साधन, प्रसंगसे बंध नही होता। इन्द्रिय शरीर भी वीतराग मुनिके हैं, वहाँ भी बंध होता नही।

१३००—चिदचिद्वधका बन्धहेतुपनेमे अनियम—

अच्छा तो चौथा पुरुष बोला, ये बाते आपने फेल करदी ठीक, मगर एक बात बिल्कुल सही जच रही है कि यह जीव अन्य जीवोंका वध करता, जीवोंको दुःख पहुंचाता, चेतन अचेतन पदार्थोंका यह विग्रह करता, तोड मरोड करता, ऐसी कठिन बाते जब यह कर रहा है तो बंध क्यों न होगा ? और, लोग कहते भी खूब हैं-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, आदिक, हिंसायें करना, दूसरे जीवोंका वध करना, दिल दुःखाना ये सब पाप हैं और इनसे बंध होता है तो जब चेतन अचेतनका विग्रह किया जा रहा है तो बंध हो रहा है यह बात एक चौथे पुरुषने रखी, पर इसपर भी विचार करें, सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो युक्त यों नही बैठती। देखो मुनि महाराज जो समितिपूर्वक चलते हैं, जिनको कोई प्रमाद नही है, जिनके चित्तमे नाना परिणतियाँ चल रही है और अचानक कोई छोटा जीव ही मानो कहींसे उड-कर कैसा ही नीचे आ जाय और उसका वध हो जाय तो इतनेपर भी मुनि महाराजके बंध नही बताया। तो यह बात भी तो युक्त न रही।

१३०१—बन्धहेतुतापर यथार्थ प्रकाश—

अच्छा, तो अब ये चारोंके चारों शंकाकार बोले तो फिर तुम ही बताओ कि बंधका कारण क्या है ? होता है ना ऐसा ? कोई बच्चा एक पहेली पूछे तो चार लडके अपना अपना जबाब दे रहे, पर वे जबाब ठीक नही बैठ रहे तो ठीक नही है यह बात तो चारो बोलते हैं फिर बोलते हैं कि अच्छा तुम ही बताओ। वहाँ इतनी बात जरूर होती कि वह लडका यह कहे कि तुम यह कह दो कि हार गए तो हम बतायें। यहाँ भी कहना चाहो तो कह लो नही तो इतना तो पूछ ही लो कि बंध का कारण क्या है सो बताओ ? सो आचार्यदेव बतलाते हैं कि देखो, आत्माकी ही बात देखो, आत्मा मे ही उस बातको निरखना है तो उत्तर आयगा। बाहरी बातोंसे उत्तर सही न आयगा। यह आत्मा है उपयोग स्वरूप, यह आत्मा है उपयोग लक्षण वाला, उपयोगकी भूमि। सो यह आत्मा, यह उपयोग जब रागादिक विकारोंके साथ एकता करता है, बस उन रागादि विकारोंमे आत्मीयता जो आशय है, यह मैं हूँ अपनेको भूल गया और विकाररूप अपनेको अनुभवने लगा, बस ऐसी जो विकारके साथ एकता है यह ही बंधका कारण है। देखिये जहाँ अज्ञान नही रहता, मिथ्यात्व नही रहता, भेदविज्ञान जगता वहाँ भी यथाख्यात चारित्र अवस्थासे पहले रागादिकका सद्भाव होने से बन्ध है, आश्रव है, मगर उस बन्ध को गिनतीमे यों न लेना कि संसार परम्पराका करने वाला बन्ध तो यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधीके

विपाकमें होता है, और इनका जहाँ छेद हो गया, स्वभाव और विभावकी सन्धि दो टूक कर दी गई, सन्धि तोड दी गई। स्वभाव विभाव ये एकदम उपयोगमे ज्ञानमें अलग जचे, वहाँ ससारका बन्धन नही। अधकार नही रहा अब ? तो रागादिक विकारोके साथ यह उपयोग जब एकताको करता है तो वह बन्धका कारण होता है। वह एकता क्या ? वही स्नेह, चिपकाव, लगाव। विभावमे और उपयोगमे ऐसा बन जाना। जम जाना कि इसे यह भान ही नही रहता कि मैं अविकार ज्ञानस्वरूप वस्तु कुछ परमार्थ हूँ।

१३०२—बन्धहेतुताके तथ्यका सकेतक एक दृष्टान्त—

बन्धहेतुताके तथ्यको एक दृष्टान्तमे देख लो। कोई पहलवान तेल लगाकर लगोट कसकर किसी उद्यानमे स्थित अखाडेमे कूद गया। अपने हाथमे शस्त्र लिए हुए वह अपनी कलाका अभ्यास कर रहा था। वहाँ पर कदलीके वृक्ष भी खडे थे। उस अखाडेमे, उद्यानमे धूल भी बहुत भरी हुई थी। अब वह पहलवान उस धूल भरे अखाडेमे अपने हाथोमे शस्त्र लेकर व्यायामका अभ्यास कर रहा था। उसके उस अभ्यासमे सैकडो कदलीके वृक्ष भी कट-कटकर गिर रहे थे। धूल भरी वह जगह थी, हवा भी चल रही थी सो वह धूल उड-उडकर उस पहलवानके सारे शरीरमे लिपट रही थी। अब वहाँ आप बताओ कि उस पुरुषको धूल क्यो लग गई ? तो वहाँ ऐसे कुछ बच्चे बोल उठे कि धूल क्यो न लगे ? जब धूल भरी जगहमे ऐसा खेल करने आया है तो धूल तो लगेगी ही, तो दूसरा बोला—अजी यह बात नही है। बात यह है कि इसने जो इतनी खटपटकी, हाथ पैर चलाया, खूब घूमा इसलिए इसको धूल लगी। तीसरा बोला—वाह, यह बात नही है, वह जो शस्त्र लेकर आया और ऐसी तैयारी से आया इसलिए धूल लग गई। तो चौथा बोला—बात यह नही है, इसने कितने ही कदलीके वृक्षोको काट गिराया है, जो इतना खोटा काम करे उसके धूल तो चिपकेगी ही। पर उन चारोकी बातोपर खूब विचार करे तो ये कोई उत्तर सही नही है। सही उत्तर तो यह होगा कि इस धूलके चिपकनेका असली कारण है शरीरमे तैलका लगा होना। यह बात न हो तो फिर बतलाओ कि यदि वह तैल न लगाये, १० - ५ दिन पहलेसे ही अपने शरीरको रुखा रखे, वह पुरुष यदि उस ढगका व्यायाम करता है तो उसके शरीर पर धूल चिपकते तो नही देखा जाता। तो जैसे उस धूलके चिपकनेका कारण तैलका सग है, ऐसे ही कर्मबधका कारण स्नेह, रागद्वेष मोह ये भाव हैं। ये भाव ये खुदकी परिणतियाँ हैं।

१३०३—बन्धहेतुविदारणका स्वाधीन सुगम उपाय—

कर्मबधकेके हेतुभूत रागादिभावोके दूर करनेका उपाय खुदकी निगरानी है। यह काम इतना सुगम और सरल है कि जिसमे किसीपर की अपेक्षा नही पड़ती। कोई ऐसा कार्य तो नही है कि अभी यह नेग नही हुआ, यह बात नही हुई। कैसे काम बने ? कोई ऐसी बाहरी बात तो नही है आत्म-कल्याण की। जैसे एक कथानक है कि एक सेठके घर एक बिल्ली पली हुई थी तो जब उसका कोई विवाहकाज आये तो उस बिल्लीको असगुन समझकर उसे किसी टिपारेमे बदकर दिया करता था। जहाँ विवाहकाज हो जाय, बस बिल्लीको टिपारेसे खोल देता था। आखिर सेठ तो गुजर गया, वह बिल्ली भी गुजर गई। सेठके लडके तो सयाने हुए, तो किसी लडकेने जब अपनी लडकीका विवाह किया तो भाँवर पडनेका समय आया, वहाँ एक लडका बोल उठा—अरे ठहरो, अभी भाँवर नही पडेगी, अभी तो एक दस्तूर बाकी है, कौन सा दस्तूर ?…अरे अभी एक बिल्ली कहीसे पकडकर लाना है,

बध हो जाता था, सो अब यहाँ नहीं चल रहा। है ही नही कुछ। तो बधका कारण है रागादिक विकारोमे अपने को लगा देना, एकमेक कर लेना। एकमेकके मायने वह भ्रम कर रहा है और जान रहा है कि मैं यह हूँ।

१३०६—सकल संकटोका मूल रागद्वेष मोह—

स्नेह, रागद्वेष, मोह ये भाव सारी विपत्तियोकी जड है। आज मनुष्य है, मरण करके मानो अच्छी जिन्दगी न गुजारें तो कीडा बन गए, स्थावर बन गए। अब वहा कौन पूछे ? यहाँ तो स्वयं जैसा कष्ट है सो पा रहा है। इतनी वडी विपत्तिका कारण क्या है ? रागद्वेष मोह अज्ञान। तो जो बात आज बहुत सस्ती सी जच रही है, करलोर ाग, आखिर घरका ही तो बेटा है, घरके ही तो लोग है, अपनी ही तो सम्पत्ति है। निरख निरखकर खूब हृदय भर लो, ऐसी जो यहाँ एक स्वच्छन्दता है, रागभाव है सो यह बहुत सस्ता लग रहा—हमारा ही घर है, खूब मौजसे रहो, खूब मौज मानो, यह सस्ता तो लग रहा मगर इसका परिणाम बहुत महगा पडता है। किस गतिमे जाय, कहाँ जन्म ले, क्या बात वने। तो जो वात आज है, पुण्योदय है, चीजें मिली है, मन स्वच्छन्द है, खूब रम रहे हैं, रागद्वेष बढाये जा रहे हैं और मनमे एक हठ बनाये जा रहे हैं ये सब बातें आज बहुत सुगम सी लग रही हैं, क्योकि ऐसी बहुत योग्यता मिली, मगर यह ध्यान मे रखें कि अपने स्वभावसे चिगकर किसी भी वाह्य विकार प्रसगमे अपने उपयोगको उलझा लेना इतना बडा पाप है कि जिसका फल ससार परिभ्रमण है। क्यो क्या पाप कर दिया है ? इसने तो अपने अन्दर ही एक भावनाकी है। एक दूसरेसे प्रेम ही तो किया। किसी पर अन्याय किया क्या ? घर है मेरा, कुटुम्ब है मेरा, इनमे राग रखता हूँ, इसमे कौन सी अन्यायकी वात है ? और, क्यो इतना विकट फल मिल रहा है कि ससारमे घूमे ? उसका समाधान देखो अपना यह आत्मस्वरूप, यह भगवान आत्मा, यह जैसा सिद्धका स्वरूप वैसा अपना स्वरूप। इस भगवान पर हम अन्याय कर रहे, इतनी वात तो है कि यह दूसरे पर अन्याय नही है मान लो थोडी देरको। मगर हम एक इस भगवान आत्मा पर इतना विकट अन्याय कर रहे हैं। इसके विकासको तोड मरोड कर दिया है हमारे विभावोने, इसकी सुध नही है, इसने विभावोको ढक दिया है, यो समझो, जैसा कि यही दिख रहा है, इन विभाव मल्लोने मिलकर इस स्वभावको दृढतासे दबा रखा है, इतना बडा अन्याय यहाँ किया जा रहा है, तो भला किसी एक व्यक्तिपर अन्याय करे तो दो चार लट्ठ मारे और हम जब भगवानपर ही अन्यायकर बैठे तो उसे क्या कठोर फल न मिलना चाहिए ? मिलना ही चाहिये कठोर दड, तो यह समझ लो कि वह कठोर दड यही ससारका परिभ्रमण है। यह ही इसका खोटा फल है। इस भगवान आत्मतत्त्वकी रक्षा इसमे है कि इसका जो निरपेक्ष स्वरूप अपना सहजभाव है वह दृष्टिमे आये, यह है असली वात, परमार्थ स्वरूप। यह हूँ मैं इस तरहका परमार्थ स्वरूपमे अनुभव हो। मैं अपनेमे अह प्रत्यय वेद्य हूँ, उसमे एकता करे, स्वरूपमे एकता करे तब तो वध न होगा और विकारमे एकता मचाये तो उसका फल है बध। तो जिन्हे वध न चाहिए उनको यह ही पौरुष करना है कि अपने सहज स्वभावकी परख करे और उस रूप अपने आपका अनुभव बने। एतदर्थ उपाय तो तत्त्वज्ञान है। जो जो तत्त्वज्ञान स्वभावका आश्रय करा सकें वे सब आगमवर्णित हैं। वस्तुस्वातन्त्र्य, निमित्तनैमित्तिकयोग, जीवदशायें, निरपेक्ष सहजस्वरूप, सप्त तत्त्व, पदार्थस्वरूप, उपादानोपादेयभाव, अभिन्नकारकत्व, आदि विषयोका यथार्थ परिचय विकारोंसे उपेक्षा कराकर स्वभावकी अभिमुखता कराते हैं।

लोक. कर्म ततोऽस्तु सोस्तु च परिस्पन्दात्मक कर्म तत् तान्यस्मिन् करणानि सतु चिदचिद्व्यापादन चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञान भवन् केवल बधं नैव कुतोऽप्युपेत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुव ॥ १६५ ॥

१३०७—परपदार्थप्रसगोके बन्धहेतुत्वके प्रतिपादनका समर्थन—

इससे पहलेके कलशमे यह बात आयी थी कि कर्मो से भरा हुआ यह जगत बधका कारण नही। चलनात्मक यह योग कर्मबधका कारण नही, अनेक प्रकारके ये बाह्य साधन इन्द्रिय आदिक ये बधके कारण नही। चेतन अचेतनका विघात विग्रह होना यह बधका कारण नही क्योकि बन्धका कारण तो इनसे अन्य है, रागादिक भावोके साथ उपयोग भूमिका एकमेक बनना, जुडना, भ्रम होना यह बन्धका कारण है। इस बातको दृष्टान्तपूर्वक भी बताया गया था। यद्यपि ऐसा जानकर स्वच्छद न बनना कि बध किसी बधका कारण है। दूसरेका दिल दु खाना बधका कारण नही बताया। अरे तो बन्धका कारण रागादिक भाव तो बताया, उसके अदर आपकी लगन है या नही, यह बात तो देखो तो स्वच्छदताके लिये इस कथनका उपयोग न करना किन्तु वास्तविकतासे देखना और जब-जब भी हिंसामे बन्ध, झूठमे बन्ध, चोरीमे बन्ध, तो वह बन्ध जो हुआ है तो भीतरमे विकारभाव आया उस कारणसे बन्ध हुआ, हाथ उठाने धरने से बन्ध नही होता। जो उमग रख करके, भाव रख करके जान जानकर हिंसा, झूठ, चोरी कर रहा तो भीतरमे जो उसका दुर्भाव है तत्कृत बन्ध है, यह बात यहाँ बतायी जा रही है।

१३०८—विकारोको उपयोगभूमिमे न ले जाते हुएके कर्मबन्धका अभाव—

अब प्रतिलोमविधिसे बन्धहेतुताके ही समर्थनमे यह कलश आया है। तब फिर क्या निर्णय रहा? ससार रहा आये तो रहा आवो। कार्माण वर्गणाओसे भरा हुआ जगत रहा आये तो रहा आवो बधका कारण तो यह है नही। जगत जैसे भरा बना है तो बना रहने दो, उसके ज्ञाता रहो, जाननहार रहो कि है ऐसा। बध तो उसका कारण नही ना? बन्ध तो तब है जब रागादिक भावोके साथ ये विकार जुटे, एकमेक बने, यह जीव तन्मय अपनेको मानने लगे वहाँ है यह ससारका बध। जहाँ-जहाँ बन्धकी बात आये, अध्यात्मशास्त्रोमे वहाँ-वहाँ प्राय मिथ्यात्व और अनन्तानुबधीकृत बध नही होता, यह अर्थ लेना चाहिए और बुद्धिपूर्वक हमारा यह ही पौरुष है और इस तरह अपनेको आत्मासे जुटाना है, यह बात यो बोल रहे ताकि चित्तमे खुदको या दूसरेको कोई विवादकी बात न आये। क्योकि धर्मसाधना होती है तो निर्विवाद, नि शल्य रहकर। अपने लिए बाहरमे मेरे विचारकी अनुकूलता ही बने और ऐसा ही दूसरा माने, इस प्रकारका हठ न हो बस ज्ञाता रहे, जैसा हो सो ठीक है, ऐसी कोई साधारण स्थिति बने खुदकी तो वहाँ स्वानुभवका एक मार्ग मिलता है और इस असार ससारमे अपनेको करना ही क्या है? कितने दिनोकी जिन्दगी? बहुत सी आयु पार हो गई। रहा सहा थोडा सा समय है तो उस समय ये केवल आत्महितकी भावना रखते हुए तत्त्वका रुचिया होना चाहिए। हाँ बात यह कही जा रही है कि बन्ध किस वजहसे है? जो बन्ध ससार सकटोका जनक है, जन्म-मरणकी परम्परा बढाने वाला है उस ही बन्धसे तो निवृत्त होना है और विधिपूर्वक जिस बन्धसे हम निवृत्त हो सकते हैं उस ही का तो जिक्र और उस ही का तो प्रयोग है। यद्यपि यह ही प्रयोग अबुद्धिपूर्वक बन्धको दूर करनेका भी कारण है, तो भी एक पौरुष जो चला प्रथम प्रथम वह बुद्धिपूर्वक रागद्वेषको दूर करनेके लिए चलता है।

१३०९—कर्मवर्गणापूरित लोकमे तथा चलनात्मक कर्ममे कर्मबन्धहेतुत्वका अघटन—

हे सिद्ध, प्रभो, क्या फिक्र है, बना रहने दो, कार्माण वर्गणासे भरा हुआ क्षेत्र। सिद्ध प्रभुकी कुछ

भी खराबी नही है । जैसे लोकमे कहते ना बस शका ही नही । यदि कर्मभरा लोक बधहेतु होता तो सिद्धोके बध क्यो नही ? वे अपने स्वरूपमे विराजे है। वहाँ किसी भी प्रकारका निमित्त नैमित्तिक योग नही बन पाता है । विशुद्धि हुई, निर्विकार हुए सदाके लिए मुक्त हो गए । रहा आये वही चलनात्मक योग वह भी बधहेतु नही । अरहतके योग है, पर बध नही । देखो जब किसी बडे पुरुषके अदर उदारता, विशुद्धि निर्मलताको बात समझमे आती है, जो कि एक खास बात है, और ऊपरी कोई बात जो किसी लोकमे भी हो सकती हैं हो भी जाये तो भी उसके गुणोकी भक्तिमे ऐसी अन्त आवाज उठती है कि हो ऐसा, मगर आप तो आप ही हैं । प्रभु अरहतके विहार होता, योग होता, दिव्य ध्वनि खिरती, किंतु यह बन्धका कारण नही है । आपके जो वीतरागता प्रकट हुई है, जिसके फलस्वरूप सर्वज्ञता प्रकट हुई है वह एक ऐसा प्रासाद है कि जिस प्रासाद पर जिसकी दृष्टि जाय उसको प्रासाद मिल जाता है । तो चलनात्मक कर्म रहते है तो रहे, तत्कृत वन्ध नही हुआ करता ।

१३१०—अनेक करणोमे कर्मबन्धहेतुत्वका प्रघटन—

यह करण, यह साधन, यह बाहरी सग प्रसग यह भी बन्धहेतु नही । समवशरणकी अद्भुत रचनाके बीच अरहत हैं उनका बध नही । समवशरण, अरहत प्रभु जहाँ विराजे हैं ना, तो वीतरागता तो वीतरागतामे ही है, मगर रागी इन्द्र देव भक्तिमे क्या करें ? देवोके प्रयत्नसे समवशरण बनता है । किस प्रकार बनता समवशरण ? कोई चीज बनता क्या ? कहाँ बनता ? यहाँ जमीनसे करीब ५हजार धनुष ऊपर बनता है । इन्द्रने ऐसा क्यो सोचा ? वहाँ क्यो बनाया ? तो आप ही बताओ कहाँ बनावे ? अगर किसी नगरके पास या किसी गाँवके पास बनायें तो उतनी बडी जगहमे कितने ही गाँव पडते है ? उतना बडा मैदान कहाँसे आये ? बारहकोशका मैदान । आकाशमे बहुत बडा समवशरण बनाया । अहमदाबादमे एक भाई कह रहे थे कि यहाँ तो जमीन बहुत मँहगी है, कोई ३००) गज जमीन बिक रही पर आसमानके लिए एक धेला भी नही लगता । चाहे जितने खण्डका मकान ऊपर बनाते चले जावो । तो आसमान सस्ता हुआ ना इस मामलेमे ? इसीसे समवशरणकी रचना देवगण आसमानमे करते । अब लोग वहाँ पहुचे कैसे ? तो नीचेसे सीढियोकी रचना बनाते । सीढियोके लिए तो सब जगह स्थान मिल जाता है । उसके ऊपर समवशरणकी कैसी अद्भुत रचना, कितना श्रृङ्गार, कितनी विशिष्ट शोभा । आप उसका अगर नक्शा देखे तो उससे ही प्रभावित हो जाये । कितनी कैसी वेदिकाये, कैसी भीतर रचना, फुलवाडी, तालाब, चैत्यालय, कल्पवृक्ष, कैसी-कैसी रचनायें, फिर स्फटिक मणिका कोट बनाकर वहाँ बारह सभाये हुई । प्रभु चारो ओर देखते हैं सबको, क्योकि बहुत बडी सभा थी, गोल सभा थी । गोल-गोल सभामे बैठे श्रोता वक्ताको चारो ओर से देखें तब सभाका आनन्द आये । प्रभुकी धर्मसभा ऐसी थी कि प्रभुका मुख चारो ओर दिखता था । ऐसा ही कुछ अतिशय था । वह इन्द्रकी क्रिया है, इन्द्रकी कलाये हैं । मनुष्य भी थोडा थोडा ऐसा बना सकते । उस समवशरणको रचा कैसे गया ? कुछ लोग तो यो कहते कि देवोने विक्रियासे बनाया तो वह देवोकी विक्रिया वाला शरीर कहलायगा, और एक कोई पुराने अच्छे पडित थे उन्होने बताया कि देवोमे ऐसी कला है, इतनी बडी कारीगरी है कि किसी भी स्कधको अन्तर्मुहूर्तमे इस प्रकारसे बढाकर घटाकर सजाकर तैयार कर सकते है । अब आप यह सोचिये कि इतने अद्भुत समवशरणकी रचना जिसमे विराजमान अरहत प्रभु हैं । अगर कोई यो देखने लगे कि यह ऐसे घरमे रहते है ये बाबू साहब या सेठ जी, ये बडे आदमी हैं, बडे धर्मात्मा भी हो, इनके बध कैसे नही है ? तो फिर वे प्रभुको भी तो देखें । भैया प्रभुके

इस प्रकारकी बात नही होती। प्रभुका ध्यान समवशरणमे स्थित किसी भी चीजके प्रति नही होता। क्योकि पर पदार्थका लगाव हो कर्मबंधनका कारण है। ये बाह्यसाधन यहाँ रहे तो, न रहे तो, इनसे यदि लगाव है तो कर्मबंधन है और यदि लगाव नही है तो कर्मबंधन नही है। आप लोग अपने-अपने घरोमे बडे-बडे आरामके साधन रखते, पर उनके प्रति यदि लगाव है तो बंधन है और यदि लगाव नही तो बंधन नही। कोई भी चीज हो अगर उसके प्रति लगाव है, प्रीति है, आशक्तिबुद्धि है तो वह बुद्धिपूर्वक कर्मबंध कर रहा और यदि उसके प्रति लगाव नही, प्रीति नही आशक्ति नही तो वहाँ कर्मबंध नही। जो बुद्धिपूर्वक ये सब कर रहा तो भीतर तो उसने ऐब रख ही लिया फिर क्यो न बंध हो? यह बात चल रही है एक सीधी-सीधी उस ही वस्तुमे।

१३११—व्यापादनसे कर्मबंधहेतुत्वका अघटन—

अच्छा चेतन अचेतन पदार्थोका पीडन विघात होता है तो यह किसके लिए बात कही जा रही है जो रागादिक भावोमे उपयोगकी एकता नही कर रहा और अपनेको ज्ञानमय ही देख रहा है, ऐसे साधुसत महात्माकी बात कही गई है, मगर कदाचित अबुद्धिपूर्वक ही तो होगा सो चेतन अचेतनका व्यापादन है तो हो, पर जो पुरुष रागादिक भावोको उपयोगभूमिमे नही ला रहा है, अपने आत्मामे उसे तन्मय नही मान रहा, रागमय अपनेको नही बना रहा उस पुरुषकी बात कह रहे। वह ज्ञानरूप होता हुआ बंधको प्राप्त नही होता। अपने-अपने उपयोगके विशुद्ध करनेकी दया जरूर लाना चाहिए। मेरे परिणामोमे विशुद्धि जगे। स्वभावाश्रय करनेकी मेरेमे प्रकृति बने, कला बने, यही भावना हो और कुछ आकाक्षा नही हो, होती है बातें प्राक् पदवीमे, कर्मविपाकवश चलती हैं सब, मगर जिसे कहते हैं प्रधान लक्ष्य, जीवनका एक उद्देश्य वह स्वरूपाश्रय ही हो। हमने बुद्धि पायी तो उस समग्र बुद्धिका प्रयोग वास्तवमे कैसे किया जाना चाहिए इसका निर्णय बस यही है। सो ज्ञानी मे मुख्य रूपसे जो होना उचित है सो होता ही है। तो एक ही प्रोग्राम मुख्य होना चाहिए कि इन विभावोमे उपेक्षा होकर एक स्वभावकी ओर अभिमुखता रहे, और यह बात तब बनती है जब बाहरमे इष्ट अनिष्ट, शत्रु मित्र, उपकारी अपकारीकी कल्पना न रहे, और जितने भी चेतनशक्तियोसे अतिरिक्त भाव हैं वे सब भाव मेरे स्वरूप नही। मेरा स्वरूप तो एक चेतना, प्रतिभास है।

१३१२—स्याद्वादविमुखताके कारण द्रव्यदृष्टिके दर्शनकी एकान्तनतता—

देखिये कल्याणकी भावना पहले भी करने वाले अनेक हुए कि मेरे आत्माका उद्धार हो और उसके लिए अनेकोने बहुत ज्ञान वाला प्रयत्न भी किया। जैसे यही तो सुना कि आत्माका स्वरूप अखण्ड सीमारहित, असीम, व्यापक एक मात्र यह ही तत्त्व है। बात तो बडी भली है, पर इसके एकान्तमे जो चला गया याने इस प्रतीतिको तज दिया कि इसमे परिणति भी होती है, इसका बाह्य सम्पर्क भी है अन्दर, पदार्थ भी है यो घटना चला करती। इन सब परिणामोके प्रसगकी बातका जिसने निषेध किया, बस वह ही तो बन गया एक अद्वैतवादी, साख्यादिक जो एक विशुद्ध चैतन्यको ही सर्वप्रकार निरखते हैं। जब वस्तुसिद्धिकी बात चलती है, द्रव्यसिद्धिकी, तो वहाँ यह ही तो बात दृष्टिमे आयगी कि सर्वसे विविक्त गुणपर्यायके भेदसे भी परे मात्र एक अनादि अनन्त स्वभाव, मगर यही जिसका सर्व पदार्थ बन गया, जिसके विकल्पमे यह ही है और सब स्थितियोमे कुछ है ही नही तो उनका एकान्त हो गया। अद्वैत साख्य आदिक ने क्या गल्ती की? जो जैन सिद्धान्त कहता है सो ही तो उन्होने माना, कोई दूसरी बात तो नही मानी। जैन सिद्धान्त भी तो यही बात कह रहा, अनादि अनन्त

अहेतुक सीमारहित, निर्विकल्प अखण्ड एक चिद्ब्रह्म ही तत्त्व है, यह ही वे कह रहे। मुखसे दोनोंकी ही आवाज एक सी चल रही मगर आशयके भेदसे सम्यक् और मिथ्याका अन्तर आ जाता है, स्याद्वादी के आशयमे वस्तुका सब कुछ है, जाना सब कुछ, पर्याय दृष्टिसे भी निर्णय पडा है और फिर द्रव्यदृष्टि की प्रधानतासे कह रहे, मगर उन एकान्तवादियोके पर्यायदृष्टि वाला निर्णय नही पडा, उन्हे वे पूर्ण मिथ्या कहते है, मानते हैं कि पर्यायको तो केवल एक भ्रममे कहा जा रहा है सो उस द्रव्यदृष्टिमे पूर्ण एकान्त बन गया, लो मिथ्यावाद हो गया। स्याद्वादका आश्रय छोडनेसे मिथ्या हो जाता और स्याद्वाद का सहारा लेनेसे सम्यक हो जाता।

१३१३—स्याद्वादविमुखताके कारण पर्यायदृष्टिके दर्शनकी एकान्तमलता—

निरशवादियोने कौनसी त्रुटिकी? जो स्याद्वादी, जैन कहते है वही तो वे भी कह रहे हैं। स्याद्वादी जैन पर्यायार्थिकनयको दृष्टिसे कहते है कि प्रति समयकी पर्याय भिन्न-भिन्न है। एकका दूसरे से कुछ सम्बन्ध नही। भिन्न पर्याय ही तो नजर आ रही है, अन्वय तो नजर नही आ रहा। अन्वय नजर आये तो सम्बन्धकी बात कहो, संतानकी बात कहो, पर जब केवल पर्यायदृष्टिका वर्णन है, प्रति समयमे एक-एक पर्याय स्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं, उसका कोई कार्य कारण नहीं, कोई भी उपादान उपादेय नहीं, संतति नही, एक ही समयकी पर्याय नजर आ रही है। कह रहे हैं ना स्याद्वादी वही तो बौद्ध कह रहे हैं, बस नाम भर बदल दिया। पर्यायकी जगह पदार्थ नाम धर दिया। पदार्थ है प्रतिक्षण, एक क्षण को होता है, दूसरे क्षण नही रहता और वह पदार्थ अहेतुक है, विनश्वर है। अन्तर क्या आया? अंतर यह आया कि स्याद्वादीने कहा तो सब, पर उसकी दृष्टिमे द्रव्यदृष्टिकी भी प्रतीति साथ है। द्रव्यदृष्टि से वह वस्तु त्रैकालिक है, अविनाशी है, यह भी उसके साथ प्रतीतिमें है। तो उसकी पर्यायदृष्टिका यह कथन सम्यक् है, पर क्षणिकवादियोको दृष्टिमे द्रव्यदृष्टिकी बात असत्य है, कपोल कल्पित है, सम्वृत्ति है, असत्य है याने केवल व्यवहारमे लोग कहते हैं कि वही आत्मा है जो सुबह था इसलिए मान लेते हैं, कह लेते है, पर आत्मा या कोई भी पदार्थ एक समयको ही होता है, दूसरे समय ठहरता ही नही है। लो स्याद्वादका विरोध रखकर उस पर्याय दृष्टिका एकान्त किया, लो वह मिथ्या हो गया।

१३१४—आत्महितोपयोगी शासनकी उपलब्धिका सदुपयोग करनेकी प्रेरणा—

यहाँ कैसा एक शासन मिला है अपूर्व, जहाँ कोई धोखा नही, जहाँ कोई विवाद नही, और बड़े आरामसे, बड़ी सुगमतासे इस तीर्थमे अपने आपको आत्महितमे बढानेका यह धोखा रहित मौका है। कुञ्जी एक ही है। प्रतिपक्षनयका विरोध न रखकर प्रयोजनवश विवक्षितनयकी प्रधानतासे इस ढगका मनन करें कि जिसमे अपनेको स्वभावका आश्रय मिले, बस एक ही मार्ग, एक ही नीति, एक ही ध्यान रखें। जीवनमे फिर कभी धोखा नहीं हो सकता, न कोई अंधेरा रह सकता।

१३१५—उपयोगमे विकारको ले जाना व विकारमे उपयोगको ले जाना इन दो प्रतिपादन पद्धतियोका तथ्य—

यहाँ प्रसगमे कह रहे हैं कि ये सारी बाते हो रहीं, मगर जीव जो रागादिकको अपनी उपयोग भूमि पर नही ले जा रहा उसके बध नही। देखो इस बातको यो भी कह सकते कि रागादिकमे जो अपने आत्माको नही लिया जा रहा, अन्तर अधिक नही और अन्तर है जो कर्मविपाक रागविकार प्रतिफलित हुआ उनका प्रतिफलन यहाँ लग रहा चल रहा, अवश है, पर ज्ञानवलसे इस ज्ञानीका इतना तो वश है कि वह अपनेको अत. ज्ञानमात्र अनुभवे और उस उपयोगको उन रागादिकमें न जुटायें, दूसरी बात—रागादिक हो रहे है, उनको अपनेमे न जुटायें, अपनी उपयोगभूमिमे न ले जायें, मतलब

रागमय अपनेको अनुभव करें, वह पुरुष ज्ञानमात्र होता हुआ उपयोगमें अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव रहा, उसके बन्ध नही। बातें समझना है यहाँ—उपयोगको रागादिमे जोडना, रागादिको उपयोगमे जुडना। इन दो पद्धतियोमे कोई विधिका सूक्ष्म अन्तर होता है। जैसे समयसारके परिशिष्ट अधिकारमें बताया कि मैं पर नही, पर मैं नही। मैं यह दृश्य नही, यह दृश्य मैं नही। दिखने वाला जो यह जगत-जाल है इसके प्रति सोचिये मैं यह नही, यह मैं नही। अच्छा चले इस विवरणमे। कोई सोचे कि मैं यह हूं तो उसका मूड कैसा बनता? यह मैं हू, ऐसा सोचने वालेका मूड क्या बनता? देखो अन्तरसा तो नही जचता और कोई अन्तर ऐसा नजर आयगा जो एक बाहरी मत मतान्तरोंका एक आधार नजर आयगा। मैं यह हू, इसके मायने यह हुआ कि इसने अपनेको सर्वमय मान लिया। चेतन अचेतन बाहरी जो पदार्थ है इन सब रूप मान लिया। आपको बडा अन्तर नजर आयगा।

१३१६—मैं यह हूं व यह मैं हूं इन दो प्रतिपादनपद्धियोका अन्तर—

मोटा अन्तर बताये कि कितना अन्तर आ गया केवल इन दो बातोंके इस तरह होलनेमे कि मैं यह सारा विश्व हूँ, सारा विश्म मैं हूँ। इन दो बातोमें जितना अन्तर है कि जिस नीवके आधारपर बिल्कुल भिन्न दो मत आ जाते हैं। मैं सारा यह जो विश्व है, सो हूँ। उसने अपने आपके भीतरकी बात, अपना महत्त्व तो खोया सब और सारे विश्वमय अपनेको माना, जिससे बने ब्रह्माद्वैत अन्य अद्वैत आदिक, जो मानते हैं कि यह चेतन अचेतन साराका सारा एक ब्रह्मस्वरूप है। अच्छा और तब यो कोई सोचे कि सारा विश्व मैं हू, तो उसने विश्वकी सत्ता खो दी और अपने आपमे ऐसा अनुभव किया कि सारा विश्व मैं हू, जिसे कहते हैं ज्ञानाद्वैत। बौद्धोका भेद है यह, वे क्षणिक मान रहे याने जीवादिक जो दिख रहे हैं ये कुछ नही हैं। ज्ञान-ज्ञान ही है, अन्य कुछ बात नही। कहनेको तो जरा सी बात है—अजी क्या हुआ? अगर इस भाईने ऐसा कह दिया कि मैं यह हू और इसने यह कह दिया कि यह मैं हू। तो कौन सी ऐसी दुविधा पड गई? कौन सा बडा अन्तर पड गया? पर इसमें अन्तर तो बहुत बडा हो गया।

१३१७—आर्षवचनोंमे अनेक रहस्य—

इस अज्ञानीको तो विकारके साथ ऐसी एकमेकता है कि उसे तो यह और मैं का भी ख्याल नही। उसे दो बातोका ख्याल नही। यहाँ तो ज्ञानी पुरुष अज्ञानीकी गल्ती बता रहे कि यह अज्ञानी रागादिकको अपनी उपयोगभूमिमे ले गया, इसने अपने उपयोगको रागादिकमे लगाया। देखो इन दो प्रतिपादनोमे भी अन्तर है। अज्ञानीका अज्ञान कैसा है, वह इन शब्दोमे बताया गया कि उपयोगभूमि समस्त रागादिकके साथ एकता करता है। विशेषण देखो—अज्ञानीके वर्णनमे तो इन शब्दोमे कहा था एक कलशमे कि उपयोग अथवा आत्मा रागादिकके साथ एकताको प्राप्त होता है तो बन्ध होता है और यहाँ ज्ञानियोकी प्रधानतासे कहा जाने वाले आजके कलशमे यह बताया जा रहा कि रागादिकको उपयोगभूमिमे न ले जाता हुआ ज्ञानी बन्धको प्राप्त नही होता। बहुत सूक्ष्म अध्ययन करनेपर इन आचार्योंके शब्दोसे ऐसी एक भक्ति जगती आचार्योंके प्रति कि कैसी सावधानीसे शब्द रचना हुई। उन्होने जान जानकर ऐसे शब्द चाहे न बोले हो कि जिनमे ऐसा रहस्य छुपे मगर उसके निसर्गत स्पष्ट प्रकाश होनेके कारण ऐसे ही शब्द निकले कि जिनमें ये सब रहस्य पडे हुए हैं। तो यह जीव, यह भव्यात्मा, यह अन्तरात्मा उस रागादिकको अपनेमे नही लेता, अपनेमे ही अपनेको अनुभव करता, तो ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव निश्चित यह बन्धको प्राप्त नही होता।

तथापि न निरर्गल चरितुमिष्यते ज्ञानिनां, तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्याप्तृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारण ज्ञानिनां, द्वयं नहि विरुध्यते किम् करोति जानाति च ? ॥१६६॥

१३१८—निरर्गल प्रवर्तनकी अनुचितता—

पहलेके कलशोमे यह बताया गया था कि कर्मोंसे भरा हुआ यह जगत है, तो यह जगत रहा आये, इसके कारण कर्मबध नही होता, ये मन, ये वचन, कायकी प्रवृत्तियाँ होती हैं, होती हैं तो होने दो, इनके कारण बध नही होता । ये अनेक प्रकारके साधन हैं, इन्द्रिय मन, बाह्य साधन मकान वैभव आदिक, कहते हैं कि ये रहते हैं तो रहने दो । इनके कारण बन्ध नही होता । चेतन अचेतन पदार्थोंका विग्रह होता है होने दो, उससे कर्मबन्ध नही होता । ऐसी बात सुनकर स्वच्छदता आ सकती है । लिखा तो है कही कि बन्ध होता है तो होने दो, योग होता है तो होने दो, घर-मकान मिला है तो रहने दो, इनसे बन्ध नही होता । तो स्वच्छदता भी अपनाई जा सकती है । उस स्वच्छदताको दूर करनेके लिए यह कलश कहा जा रहा है कि भाई तुम सही बात तो समझो एक मनुष्यने दूसरे मनुष्यके दो तमाचे जड़ दिया तो उस मारने वालेके मनमे क्रोध जगा, मनमे कुछ खलबली सी हुई और उसकी चेष्टा हो गई, तमाचा लग गया, अब यहाँ यह भेद बनावे कि तमाचा लगा, हाथ लगा, इससे बन्ध नहीं, किन्तु उसने शरीरमे जो एक खलबली मचाई, खुशी आयी, अपने स्वरूपसे चिगा, सक्लेश किया वह तो बन्धहेतु है ना ? उसका तो निषेध नही किया गया । तो हर जगह यही देख लो अगर किसी जतुका वध हुआ तो उस बध करने वालेके परिणाम क्या समाधिमे थे, आत्माकी अनुभूतिमे उसके परिणाम थे ? यह यो ही अद्भुत हाथ चल गया क्या ? तो जो बुद्धिपूर्वक बातें होती है जान बूझ करके ये कर्मबन्धके कारण ही हैं । वहाँ वे बाह्य क्रियायें वन्धका कारण नही, किन्तु आत्मामे जो सक्लेशभाव है वह बधका कारण है, यह तो एक विवेककी बात है । तो यद्यपि सब सही-सही स्वरूप बताया है तो भी निरर्गल आचरण करना ज्ञानियोको उचित नही है, करना ही नही है । क्योकि निरर्गल आचरण होना यह ही तो बन्धका आयतन है । निरर्गलता होना मायने मन स्वच्छद रहा, कषायोमे रहा तो वहाँ बध होता ही है ।

१३१९—अकामकृत कर्ममे ही बन्धकी अकारणता—

भैया, बात यह कही जा रही थी कि बिना इच्छाके कोई कर्म बने तो वह बधका कारण नही, पर ऐसा हो रहा क्या यहाँ अभी कही ? जिनको हो रहा उनकी बात सही है । बिना इच्छाके कौन प्रवृत्ति कर रहा ? फिर भी कोई परिस्थिति होती है ऐसी कि उसमे लाग नही, लगाव नही और फिर भी प्रवृत्ति हो रही है । जैसे—अरहत भगवान बिहार करते हैं तो अब बिहारमे क्रिया नही चल रही क्या ? द्रव्य मनोयोग है, वचनयोग है, दिव्यध्वनि खिरती है, शरीरका योग है, तो ये चेष्टायें तो बध का कारण नही हैं । वहाँ तो झट समझमे यो आ जाता कि वे वीतराग हैं और उनका वह विहार अनिच्छा से हो रहा है । जैसे मेघ गरजते, बरषते, यत्र तत्र फिरते, वहा कोई इच्छा है क्या ? नही । यह तो एक मोटा-उदाहरण दिया, तो ऐसे ही प्रभु गरजते हैं मायने दिव्यध्वनि खिरती है, विहार करते हैं फिर भी उनके इच्छा नही है इसलिये वन्ध नही है । तो यहाँ भी जैसे महाभाग लोगो के, ज्ञानियोके भीतरकी दृष्टि बनी है, जिनको सही निर्णय है कि जो कर्मविपाक है, कर्मरस है, प्रतिफलन है, गन्दा है, ये मैं नही हूं । मैं तो यह विशुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ । मानो कर्मरसके कहनेमे नही रहा अब यह जो विकार राग जिस कर्मरसका ऊधम वहाँ था अब यह नही कर रहा । यह तो ज्ञानस्वरूपकी ओर ही

आकर्षित है, तो ऐसा अकाम, निष्काम होते हुए जो जो कर्म हुए, वह अकारण है बन्धका।

१३२०—निष्कामकर्मयोग व अकामकृत कर्मका विश्लेषण—

अन्य जन भी निष्काम कर्मयोग कहते मायने फल न चाहे और काम करे। वहाँ दृष्टि यह है कि फल मत चाहो और काम करो और यहाँ दृष्टि यह है कि काम करना पड रहा, चाहता नही। देखो जरा सी बातमे कितना अन्तर है। फल मत चाहो, कर्म करो। जहाँ कर्म करनेका तो भीतरमे हुकुम है, आदेश है वहाँ कुछ न कुछ कामना आ ही जाती है। रोगियोकी सेवा करो, पर रोगियोसे फल मत चाहो। यह तो बातें बनेगी मगर रोगियोकी सेवा करके कुछ न चाहो यह कर्म करनेकी उमग वालोसे कैसे बनेगा? उसके भीतर कुछ तो फल पडा है कि हमारे धर्मकी प्रभावना होगी। हमारा इसमे यश बढेगा। हमने जिस मिसनका बीडा उठाया है उसकी वृद्धि होगी। कोई न कोई बात चित्तमे है, तो एक मोटा फल न चाहा कि रोगीसे फीस आदि ले ले मगर इच्छा ही कुछ न करें, और काम खूब करें। यह बन रहा है वहाँ क्या। वहाँ पर अकामकृत कर्मकी बात नही बनती, जो बधका अकारण है वह अकामकृत नही बनता। अकामकृत कर्म वहाँ तो बनेगा, जैसे कोई कैदी सेठ कैदखानेमे पडा है तो वहाँ उसे चक्की भी पीसनी पडती, सिपाहियोंके डडेके भयसे, तो वह वहाँ चक्की पीसता, पर पीसना नही चाहता। परिस्थितिवश पीसना पड रहा, याने वह काम तो कर रहा पर उस कामको भी नही चाहता और उस कामका फल भी नहीं चाहता। जिस कामको करे उसको भी न चाहे और उसका फल भी न चाहे, ये दोनो बातें हो तो अकामकृत कर्म होगा। और लौकिकजनोके निष्कामकर्ममें उस कर्मका उससे फल नही चाह रहा, किन्तु कर्म करना तो चाह रहा। लेकिन यहाँ देखो, ज्ञानी किसी कर्मको भी नहीं चाहता व फल भी नही चाहता। इतना सहज वैराग्य है, तो उस कर्म आदिके सम्बन्ध मे बात कही जा रही कि वह कर्मबंधका कारण नही। अकामकृत कर्मबधका अकारण कहा गया है, क्योंकि क्या ये दो बातें एक साथ रह सकेगी कि जानता है और करता है? दो बातें एक साथ नहीं रह सकती। करना पड रहा है और जानता है। ये चाहे किसी पदवीमे एक साथ रह जायें मगर करता है और जानता है ये दो बातें एक साथ नही रह सकती।

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुर्मिथ्यादृशः स नियतं स हि बन्धहेतुः॥ १६७॥

१३२१—ज्ञाताके कर्तृत्वका अभाव व कर्ताके ज्ञातृत्वका अभाव—

जो जानता है वह करता नही, जो करता है वह जानता नही। जानने और करनेका यह अर्थ अवधारित कीजियेगा—मैं ज्ञानमात्र हू, जानन ही मेरी क्रिया है, जानन ही मेरा व्यापार है। यह जानन चल रहा, जाननहार जान रहा, सो जाननेको ही जान रहा है, इस जाननका फल भी जानना ही है, जाननेके लिए जान रहा। ज्ञान केवल ज्ञानके लिए ही है, वह इस ही ज्ञानमे हो रहा कार्य। ऐसा यह जाननका कार्य होता है। इस तथ्यको जो जाने इसे कहते है कि वह जाननहार है। नही तो जानने वाले तो सभी कहलाते हैं, और अहकारके साथ बोलते कि तुम क्या जानते हो? मैं जो जानता हू। सो उसका जानन क्या जानन कहलाता है? वह तो करना कहलायगा। तो जानना जहाँ केवल जाननको सर्वस्व दृष्टिमे है उसे कहते हैं कि जानता है, तो ऐसा पुरुष जो जानता है वह क्या करता है? एक बात इस प्रसगमें खास जानें कि जो क्रियायें राग हो यानें उस परिणतिके साथ, उस विभावके साथ मिलकर जो स्वरमें स्वर मिलता है वह तो कहलाया कर्ता और जो अपने स्वरूपमे जानन

क्रियामे प्रतीति रखकर स्वरूपमे स्वर मिलाकर जो बात करे वह है ज्ञाता।

१३२२—जीवविकार व अजीवविकारके द्वैविध्यके प्रतिपादनसे आत्मा अनात्मामें भेदका समर्थन—

यह बात समयसारमे आगे कही जायगी कि कषायें दो प्रकारकी होती हैं—(१) जीव कषाय और (२) अजीव कषाय। मिथ्यात्व दो प्रकारके, (१) जीव मिथ्यात्व और अजीव मिथ्यात्व। जीव अजीव उसका मतलब क्या है ? यह मतलब है कि जैसे दर्पण है, तो दर्पणके सामने कोई लाल-पीला कपडा आया, अब फोटो भी आयी ना लाल पीली। अब लाल पीली वहाँ दो प्रकारकी है-(१) दर्पण रूप और (२) कपडा रूप। सामने देखते जाइये—लाल दो हैं—कपडा और दर्पण। फोटो भी तो दिख रही ना। सो दो रूप हैं—एक दर्पण रूप और एक कपडा रूप। कपडेका लालपना कपडेमे ही है, कपडेमे तन्मय है और उसका सानिध्य पाकर जो दर्पणमे लालपना आया वह लालपना दर्पणकी परिणति है। भले ही यह लालपना ऊपर लोट रहा है दर्पणमे याने स्वभावमे प्रवेश नहीं कर पाया, तब ही तो देखो उसके हटनेमे विलम्ब नही लगता। खूब प्रयोग करके देख लो कपडा हटाया तो फोटो हट गई, कपडा सामने किया दर्पणके तो फिर फोटो आ गई। तो वह फोटो बाहर बाहर ही है, दर्पणके स्वरूपमे नही है, दर्पणका स्वभाव नहीं है इसलिए बाहर ही बाहर लोट रहा हैं पर, वह लालिमा दो जगह है कपडेमे और दर्पणमे। ऐसे ही दो जगह कषाये हैं कर्ममे और जीवमे। कर्ममें कषायें होती क्या ? हाँ वहाँ तो मौलिक बात है। जैसे कपडा भी लाल होता क्या ? अरे खूब देख लो, असलमें तो कपडा ही लाल है। अब उसका सन्निधान पाकर यह झाँकी आयी। तो क्या अचेतन कर्म पुद्गल मे कषाये हैं ? हाँ है। अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ यह कर्म प्रकृतिका भेद है अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ यह कर्म प्रकृतिका भेद है। अच्छा तो कर्ममे ये कषायें कब आयी थी ? सागरो वर्ष पहले जब भी यह कर्मबध था, उसी समयमे कषायका अनुभाग आ गया था। अच्छा और ऐसा ही अनुभाग भीतर पडा हुआ सागरो पर्यन्त रहा ? हाँ रहा तो सही। अब जब विपाक आया उदयकाल आया तो वह विपाक फूटा। कर्म अचेतन हैं, नहीं तो जीवसे अधिक दुर्दशा इस कर्मकी होती। जो कषाय अनुभाग कर्ममे पडा हुआ है वह कषाय अनुभाग फूटा, उदित हुआ और चू कि यह जीव उपयोग रूप है, जानन इसकी प्रकृति है, अभी यह अशुद्ध जीव है। इसमे वह कर्मरस प्रतिफलित होता है। यह प्रतिफलन जानकर हुआ या बिना जाने ? दर्पणमे अँधेरा जानकर हुआ या बिना जाने ? हुआ वह प्रतिफलन, उस प्रतिफलनको इस जीवने अपनाया, उस स्वरमे स्वर मिलाकर बोला जैसे किसी के सर्पका विष चढा तो वह उस सर्पकी बोलीमे बोलता है, ऐसे ही यह अज्ञानी जीव मोहमे मानो कर्म की बोलीमे बोलीमे बोलकर उन दशावो रूप अपनेको मानकर चेष्टायें कर लेता है। इसकी चेष्टायें ज्ञान विकल्प रूप है। कर्मका विपाक, कर्मके अनुभाग रूप है, बस भेद विज्ञानीने यहाँ ही तो भेद डाला।

१३२३—कर्ताका लक्षण कर्मराग—

यह कर्मरस–प्रतिफलन यह मेरा स्वरूप नही। मेरी क्रियायें हँसना, रोना, आना आदि नही। मेरी क्रिया तो जानन है। यह तो केवल औपाधिक भाव बनता, तो ऐसी विशुद्ध जानन क्रियाका जिसे अनुभव है, आस्था है वह जान रहा, समझता है कि मेरा काम जाननमात्र है। अभी यही एक अनुभूति बनावे कि जब आप ऐसी दृष्टि कर डालेंगे कि ज्ञानमात्र जाननक्रिया, यही सर्वस्व है मेरा, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही, उस समय यश निन्दा और और बातें वे सब खतम हो जाती हैं। कोई आकाक्षा ही नही जगती, और सकोच लाज, भ्रम कितने ही प्रकारके सकट ये कोई नही ठहरते, इस

तरहका अन्दरमें एक दृढ विश्वास है और ऐसे ही विश्वासके साथ ही इस ज्ञानीने जाना सो यह जानन कहलाता है। जो जानना है वह कर्ता नही। करना क्या कहलाता है? कर्मराग जो कर्मरस है, जो क्रिया चेष्टा है उससे राग होना यह है कर्मराग, यही कहलाता है करना। देखो बहुत सीधी सी बात। कोई रईस बीमार पड गया। तो उसका कमरा बहुत अधिक सुगंधित सजाया गया, पलग बहुत कोमल स्प्रिंगदारका गद्देका सजाया गया, डाक्टर भी समय समयपर आते, दवा देते, नौकर चाकर भी बडी सेवा करते, मित्रजन भी आ आकर बडी सेवायें करते, बाहरी सब प्रकारके आरामके साधन जुटाते, वह रईस उस दवाको बडे प्रेमसे पीता, यदि जरा भी दवा मिलनेमे देर हो जाय तो खूब झुझलाता' पर जरा देखो तो सही कि उसके मनमे उन सब साधनोके प्रति राग है क्या? अरे उसे राग नही है। वह तो दवा न पीना पडे इसलिये दवा पीता। वह नही चाहता कि हमे जिन्दगीभर इसी तरहके आरामके साधन बने रहे। बल्कि वह तो यह चाहता कि मैं कब ठीक हो जाऊँ और मील दो मील प्रतिदिन पैदल घूम आऊँ। देखिये—उस प्रसगमे बाहरमे बडी उमग सी दिख रही थी उस रईसको, दवा, डाक्टर वगैरहके प्रति, पर भीतरसे उनके प्रति उसे राग बिल्कुल न था। वह तो परिस्थितिवश उसे करना पड रहा था। यहाँ उस रईसके आशयको देखना है उसकी बाहरी वर्तमान परिस्थितिको नही। उसके उस प्रकारका आशय होनेसे बध नही। आपके वर्तमान कानूनमे भी यही बात होती है। कोई जीव मारना चाहता है किसीको, मार न सके, इसने इच्छा बनाया था यह बात यदि सिद्ध हो जाती है तो न्यायालय उसे दड देता है। तो उसे दण्ड मिला उसका उस प्रकारका आशय देखकर। एक आशयकी ही तो बात है यहाँ। कर्मविपाक, कर्मप्रतिफलन हुआ और इसका उसमे जुटाव बन गया, जुड गया कि यह हू मैं, तो बात तो बन रही कर्मरसमें और उसका सानिध्य निमित्त पाकर यह ज्ञान-विकल्प इस रूप चल रहा है हर क्रियामे कि मैं ही तो राग करता, तो वहाँ मैंने किया, मैं कर रहा, मैं कर दूँगा, मेरे सिवाय कौन कर सकता है? कितने रूपमे यह करनेकी बात लादता है। तो जो कर रहा है उसे सुध है क्या यह कि आत्माकी क्रिया तो मात्र जानन है।

१३२४—मोहसम्पर्कसे अज्ञानमय भावकी मुद्राका निर्माण—

भैया, एक तरहसे यह बात भी परख लो, हो भी रहा मानो बाह्यकर्म, मगर जो स्वतत्र निरपेक्ष केवल अपने आपमे अपनेसेही जो बात बने, करना तो वह कहलाता है और सामर्थ्य भी वही कहलाती। ऐसी बात तो जानन क्रियामे पायी जा रही है। स्वरूप ही यह है। जब यह ज्ञानमय आत्मा है। ज्ञान स्वरूप ही पदार्थ है, तो निरन्तर उत्पाद क्या होगा? वह जानन जाननरूप, प्रतिभासन प्रतिभासनरूप, उसे कोई रोक नही सकता। वह निरन्तर चलता है। तो यह तो बात चल ही रही है, किन्तु साथमे मोहका सम्पर्क है तो अब यह विकल्परूप बनता जाता। जब तेजीसे कोई चक्र चल रहा, मानो बिजली का पखा चल रहा, बडी तेजीसे चल रहा, आपको सब एक नजर आ रहा, पखुडियाँ भी जुदी नही मालूम होती। कितनी पखुडियाँ है इसका भी कुछ पता नही पडता। एक रूप चल रहा, और कही एक पखुडीमे कपडा बाँध दिया तो चलते हुएसे अब आपको कुछ समझमे आने वाली बात भी चल उठी। तब तो कुछ न समझमे आने वाली बात थी। अब समझमे आने वाली भी बात बन गई। बस यही हालत हो रही है जगतकी। इसकी जो विशुद्ध क्रिया है अर्थ पर्याय षड्गुण हानि वृद्धिरूप सो सब पदार्थोमे, आत्मामेभी निरन्तर चल रही उसका तो कुछ पता नही। बस मोहसम्पर्क हुआ और ये मोटे-मोटे विचार विकल्प जिनकी मुद्रा बन रही, यह समझमे आयी तो यह जानता है कि हाँ अब जाना

हमने। अरे जिसको कहते हो कि जाना वह तो है करना और जो वास्तविक जानना है वह उसके जाननेमे आया कहाँ ? जो जानता है वह करता नही, क्योकि करना नाम है कर्मरसका। जो क्रिया बन रही, जो प्रतिफलन हुआ उसमे राग है तो करना है, यह ही मैं हू। जैसे रोगी औषधि खा रहा और उसमे अन्दर राग है, यह कि हमेशा ही मिले, यही मेरा काम है तो वह राग कहलायगा, औषधि खाना कहलायगा।

१३२५—जानन और विकारमे अन्तरकी सूचना—

इस ज्ञानीको कर्ममे राग नही, क्यो राग नही, क्योकि वह कर्मको, रागको, उस विभावको, विकल्पको जानता है कि यह अज्ञानमय भाव है। मैं तो ज्ञानमय हू। कर्मराग अज्ञानमय भाव है, राग का स्वरूप जानना है ही नही तो यह मेरा कैसे काम ? जो जानन है सो मेरा काम। अगर यह राग खुद जानता होता तो राग चेतक कहलाता, यह तो चेत्य है। ज्ञान द्वारा जाननेमे आया हुआ है, भले ही राग देखकर एक चेतनका अन्दाज होता है, अनुमान होता है, यह जीव है, जो राग करे सो जीव है, किसी पदवीमे ऐसा अनुमान हुआ तो यह रागभाव तो रागसे निराला चैतन्यस्वरूप है। इसको ही जता रहा है, जैसे रात्रिके समय कमरेमे बिजली जल रही है। बाहर बैठा हुआ पुरुष बिजलीको नही देख पा रहा। बल्ब एक कोनेमे है और इस जगलेमे से ये चौकी तखत वगैरह दिख रहे तो उनका दिखना इस बातका निर्णय करा देता है, करते ही हैं सब लोग, कहते हैं ना—अरे देखो बिजली जल रही। वहाँ बिजली तो दिखी नही, और वे जो प्रकाश्य है टेबुल, कुर्सी वगैरह, बस उनके दिखनेने ही ज्ञान कराया कि यहाँ बिजली जलती है। तो ज्ञानी पुरुष तो इस रागको इसका प्रतिभास्य समझता, यह ही अनुमान कराता, ज्ञान कराता कि इससे निराला है एक जानन पदार्थ। जैसे इस चौकीसे निराला है बल्ब। तो जानन और कर्ममे भेद है, अन्तर है।

१३२६—विशुद्ध अभेदषट्कारकताके परिचयका प्रताप—

इस जीवकी जो जाननस्वरूपमे जानन क्रियाकी आस्था है यह बडा काम कर रही है कि मैं ज्ञानमात्र हू, जानन मेरी क्रिया है, जानता हू, जाननको जानता हूं, जाननके द्वारा जानता हू, जानने के लिए जानता हूं, जाननेमे जानता हू, यह है इसकी फैक्टरी अभेदषट्कारका। देखिये षट्कारकमें सम्बन्धको नही लिया गया। हिन्दीमे तो सम्बन्ध भी कारक माना गया है पर सस्कृतमे नही माना गया। विभक्ति तो जरूर है, मगर कारकपना नही है। भाई सम्बन्धको क्यो नही कारक कहा ? उस सम्बन्ध वाली वस्तुके साथ क्रियाका साक्षात् सम्बन्ध नही। उस सम्बन्ध वाली वस्तु जैसे कोई सा भी एक वाक्य बोलो—"हमने मन्दिरमे अमुकके लिए कलमसे फलाने चदकी किताब लिखी।" यह एक वाक्य बनाया। लेखन क्रियाका सबके साथ जुटान हो गया मगर फलाने चदके साथ जुटान नही हो सकता। जैसे—किसमे लिखी ? मदिरमे। किसके लिए लिखी ?···अमुकके लिए लिखी, किससे लिखी ? कलमसे लिखी और आगे पूछते लिखी किसको ? अमुक चदकी लिखी, तो इसका अर्थ क्या ? अमुक चदकी किताब लिखी। तो उस बीच किताबका सम्बन्ध बना लेखन क्रियासे। लेखन क्रियाका उस सम्बन्ध वाले पदार्थ के साथ सीधा जुटान नही बना। उसका जुटान है पुस्तकके साथ, और किसीसे सम्बन्ध नही। चूंकि क्रियाका साक्षात् सम्बन्ध कारकके सम्बन्धीसे नही होता, उस सम्बन्ध वालेके साथ जिसका सम्बन्ध कहा, इस कारण वह कारकमे नही गिना। हां स्वद्रव्योमे अभेदषट्कारक रूपसे वह जाननकी बात परख रहा है, यह है जानन।

१३२७—कर्मरागकी संकटमूलता—

राग तो अज्ञानमयभाव है। यह तो अध्यवसान है। यह अज्ञानभाव तो मिथ्यादृष्टिके होता है। सो मिथ्यादृष्टिका राग निश्चित ही बंधका कारण है। यहाँ जोर किस बात पर दिया ? आत्माको जानो। निश्चयनयसे निरखो केवल एक अतस्तत्त्व आत्मा, उसकी क्रिया जानो, जो पदार्थ है जैसा स्वभाव है ? उस स्वभावरूप ही उसका काम होता। बाकी बात सब औपाधिक भाव हो गया, मगर उसके स्वभावकी बात न होगी। मैं ज्ञानमात्र हूँ। जानन मेरी क्रिया है। हर जगह यही सोचना है। इस ज्ञानीको पर्यायमे आत्मबुद्धि नही है, इस कारण ये सब ज्ञानकलामें उसके सहज प्रकट होती हैं, सही काम करती हैं। पर्यायमे आत्मबुद्धि होना यह ही बडी विपत्ति है और इसीमे ही यह करने करनेकी बात कहता है। मैंने किया, मैं कर दूँगा। करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तितम्। मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्तृतम्। यह एक लौकिक शिक्षाकी बात कह रहे हैं मैं करूँगा, करूँगा करूँगा इसका तो ख्याल है इसे और मैं मरूँगा मरूँगा मरूँगा, इस बातका कुछ भी ख्याल नही होता। यह एक मोटी बात कह रहे है। जाननक्रियाकी बात और है। जो जानता है वह कर्ता नही। अकाम-कृत कर्म हो तो वह बधका हेतु नही, किन्तु कर्मराग तो सब सकटोका दृढ मूल है।

सर्वं सदैव नियत भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदु खसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदु खसौख्यम् ॥१६८॥

१३२८—कर्मरागकी ससारबधहेतुता तथा मिथ्याध्यवसायरूपता—

इससे पहले कलशमे यह बताया था कि जीवको बध होता है तो कर्मरागके कारण बध होता है। कर्मराग क्या चीज कहलाती ? शब्दोसे देखो तो कर्ममे राग होना यह है कर्मराग, कर्मके मायने क्रिया, क्रियामे राग होना। मैं कर्ता हूँ, मैंने किया, मैं कर दूँगा। अनेक प्रकारके कामोमे राग होनेका नाम है कर्मराग। जैसे कोई ऐसी कल्पना करे कि मैं दूसरे जीवोको मारता हूँ तो उसने कर्मराग किया ना ? मैं इसको मारता हूँ। उसने उससे ऐसा लगाव लगाया कि मैं मारता हूँ। मैं करता हूँ। उस क्रियामे जो राग लगाया वह है कर्मराग, और, देखो कर्मराग जितने हैं वे सब तथ्यके विपरीत होते हैं। मैं इसको मारता हू यह तथ्यके विपरीत कैसे ? तो जिनेन्द्र भगवानने बतलाया कि आयुके क्षयसे ही जीवोका मरण है। और आयु कोई किसीकी हर सकता क्या ? बाह्यसाधन होना और बात है और निमित्त नैमित्तिक योग होना और बात है। यह बात जरा ध्यानसे सुनो—किसीने किसीको तलवार मार दी, अब उसके अलग अलग क्या विशेषण किए जाये, उसमे तो लम्बा समय लगेगा। उपचारभाषा बिना गुजारा न चलेगा। वह तो बोलना ही पडेगा, और न बोलोगे तो इतनी लम्बी चर्चा बनाओ कि उसमे उतना समय लग जाय कि जितने समयमे उसका मूड ही खतम हो जाय, उपचार भाषा होती है संक्षिप्त (Short) भाषा हम थोडेमे अपनी बात पा सकें वह भाषा है उपचार भाषा। किसीने तलवार मार दी—यह उपचार भाषा मे बोल रहे, क्योकि यह भी कर्मरागका ही हिस्सा है। वहाँ तलवारसे कोई अग अलग हो गया, उस प्रसगमे उसका मरण हो गया, तो वह आयुके क्षयका निमित्त पाकर हुआ। इसे कहते हैं निमित्त नैमित्तिक योग। निमित्त नैमित्तिक योग मरण उस शस्त्रमारक मनुष्यके साथ नही है किन्तु आयु क्षयके साथ है। आयु क्षय होनेसे मरण है।

१३२९—बुद्धिपूर्वक विकारके प्रसगमे उपादान, निमित्त व आश्रयभूत साधनका परिचय—

ध्यान दीजिए—आपने किसीकी निन्दा की तो उसे दु ख हो गया। तो उसके दु.खी होनेमे

असाता वेदनीयका, मोहनीयका उदय यह निमित्त है, वह दूसरा आदमी निमित्त नही है। वह है बाह्य साधन। आप करणो को तीन हिस्सोमे विभक्त करें उपादान, निमित्त और आश्रयभूत। आश्रयभूत कहो या बहिरङ्ग कारण कहो या बाह्य साधन कहो, सब एक बात है। बाह्य साधनका उस नैमित्तिक कार्यके साथ निमित्त नैमित्तिक योग नही, किन्तु कर्मदशा का नैमित्तिक कार्यके साथ निमित्त नैमित्तिक योग है। मायने असाता वेदनीयका उदय, मोहनीयका उदय यह है उस जोवके दु खो होनेमे निमित्त कारण। निमित्त कारणका आपलाप नही होता, क्योकि यह तो नियत व्यवस्था है। आचार्यदेव यहाँ स्वय कलशमे कह रहे हैं, अपने अपने कर्म उदयमे जैसी सारी बातें होती हैं, वह है नियत व्यवस्था। आगपर या सतापपर रोटी सिकती है, यह नियत व्यवस्था है। रोटी सिकनेमे निमित्त कारण वह गैस है। निमित्त नैमित्तिक भावको तो खूब अच्छी प्रकार कहो। उसके बिना मार्ग न मिलेगा, मगर निरखना यह होगा कि आग नही सिक गई, सिकी रोटी ही है, यह बात वहाँ निरखना है। निमित्त नैमित्तिक योग तो होते ही हैं विकारमे। कोई भी विकार निमित्तके अभावमे हो ही नही सकता। लेकिन साथमे यह निरखना होगा कि निमित्त सन्निधानमे उपादान अपनी ही परिणतिसे अपना प्रभाव बनाये है, निमित्तने उसकी परिणति नही की। इसीबातको एक अध्यात्मसूत्र पुस्तक है, जिसमे १० अध्याय बने हैं, बहुत छोटे-छोटे सूत्र हैं, व्यवस्थापूर्वक एक-एक अध्यायमे प्रकरण बद्ध किया है। एक सूत्र आया है "निमित्त प्राप्योपादान स्वप्रभाववत्" उसका अर्थ है कि निमित्तको पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला होता हैं। उसका यह शुद्ध अर्थ है, निमित्तसानिध्य है एक वातावरण। उस वातावरणके अभावमे उपादान विकार नही कर सकता, मगर विकाररूप जो परिणमा है वह उपादान परिणमा है, निमित्त नही परिणमा।

१३३०—निर्विवाद प्रगतिमार्गपर चलनेका अनुरोध—

देखो किसी वातचीतमे भी किसीके कोई विवाद नही। सब लोग हैं, सबके ज्ञान है, सब लोग ज्ञानसे बोलते है, गलत कोई नही बोलता, मगर फर्क क्या पड गया ? एक तो फर्क यह पड जाता कि शब्दके अर्थ अनेक होते हैं सो कोई किसी अर्थको लेकर उस शब्दका भाव चलाता है कोई किसीको लेकर चलाता। विवादका कारण एक तो यह हो सकता, दूसरे कषाय विवादका कारण हो सकती। याने हृदय मान रहा है कि बात ऐसी नही हैं, बात ऐसी है, लेकिन चू कि एक नाम पड गया है कि यह इस प्रकारके विचार वाले है। अब लोगोको कुछ बताना है तो वह समझता है कि मैं अगर ज्ञानी हुई की तरह कह दू तो मेरी शान न रहेगी, दूसरा कारण यह भी हो सकता। मगर कुन्जीको अपनाकर चलें। अपना-अपना हित करना है सबको अपने मार्गका दीपक यह बनाओ—प्रतिपक्षनयका विरोध न करके प्रयोजनवश विवक्षितनयकी प्रधानतासे ऐसा मनन करना, जिसमे कि स्वभावका आश्रय मिले। यह नीति अपनायेंगे तो कही धोखा न होगा। हाँ कर्मरागकी बात चल रही है। एक जीवने दूसरे जीवको गाली दी तो दूसरा यह माने कि मुझे गाली दी गई व मुझको इसने दु खी कर दिया, तो यह बात अध्यवसाय है। यह उपचारमे तो आया, पर व्यवहारमे और निश्चयमे नही आया। निश्चयनय होता है स्वाश्रित। स्वमे स्वका ही वर्णन करना। व्यवहारनय होता है पराश्रित। घटना, परकी बात, परभाव, सब प्रकारका यथार्थ सही-सही वर्णन करना और उपचार होता है परका स्वामित्व और परका कर्तृत्व जिससे जाहिर हो, ऐसी भाषाका प्रयोग करना। जैसे हमको इसने दुःखी किया, यह उपचार कथन है, वह तो निमित्त भी नही है। वे तो बाह्यसाधन है। आश्रयभूत पदार्थ हैं। निमित्त

सो कर्मोदय है। सो कर्मोदयके अभावमे कोई जी दुःखी हो पाया हो, ऐसा कोई दृष्टान्त मिलेगा क्या ? उस मनुष्यके अभावमे याने वह नही है तो भी दु.खी हो सकता। आप कहेगे कि और कोई होगा। चलो वह भी न हो, कोई आश्रय न हो और कर्मोदय है तो अबुद्धिपूर्वक दु ख तो होगा। बुद्धिपूर्वक आश्रयभूत साधन मे होता है। अबुद्धिपूर्वक तो आश्रयभूत साधन के अभाव मे भी चलता ही है।

१३३१—मिथ्याध्यवसायकी ससारबन्धनरूपता व बन्धहेतुता—

यहाँ जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके प्रति यह भाव रखता है कि मैंने इसे मारा, मैंने इसे दु खी किया, यह अध्यवसाय मिथ्या है, क्योकि उसने तथ्यको त्याग दिया कि दु ख सुख वगैरह ये सब मेरे कर्मके अनुसार होते हैं। तो आयुका क्षय हो तो मरण है। आयु क्षयको दूसरा कर सकता नही। भले ही बाह्यसाधन बन गए, मगर साक्षात् कर्ताकी बात कह रहे। जैसे मानो कोई इजन चल रहा है, मानो रेलगाडी चल रही है, उसमे बहुतसे डिब्बे एक दूसरेसे फसे हैं तो परम्परा निमित्त हो जाता सारे डिब्बोको खीचने वाला इन्जन, मगर साक्षात् तो पहला डिब्बा दूसरे डिब्बेके खीचनेका निमित्त है, दूसरा तीसरेके खीचनेका निमित्त है, मगर उनमे निमित्तपना तब ही तो आ पाया' जब कि इन्जनमे इस प्रकारकी बात बन रही है। इस कारण परम्परया निमित्तकी बात आती है। मगर साक्षात् बात जहाँ दिखती है वहाँका निर्णय वह तत्काल वाला निर्णय है, उसी समय वाला निर्णय है। उसी समयके मायने जिसका निमित्त पाकर जहाँ जो बात हो पा रही हो तो मरणमे आयुक्षय निमित्त है। मनुष्य निमित्त नही। तो ये मनुष्य व्यर्थमे एक अपना अभिमान बनाये हैं कि मैं मार दूंगा, मैं मार डालूगा, मैं ऐसा कर दूंगा तो यह अध्यवसाय मिथ्या है। यह बन्धका कारण है। और, इतना ही क्या, कोई जीवनके लिए अहकार बनाये—मैं इसको निन्दा करता हूँ देखिये दयाकी बात तो इस पदमे योग्य है, उचित है, जो जिस पदवीमे है। मगर यह अहकार रखना कि मैंने इसको बचाया, मैंने इसे जिलाया'। अरे उसका उदय था, आयुका उदय चल रहा था। आयुका उदय निमित्त है उसके जीवित रहनेमे। मैं तो बाह्यसाधनमात्र हू। ये अध्यवसाय हटाना योग्य है। क्योकि आयुका क्षय उसके उपभोगसे ही होंगे, किसी जीवके करनेसे नही।

१३३२—अकालमृत्युमे भी आयुकी उपभोगसे क्षीयमाणता—

देखो इस प्रसगमे एक बात और समझना। जैसे कहते हैं अकालमृत्यु, तो उस अकालमृत्युका अर्थ क्या है, यह करणानुयोगके ज्ञानसे ही विदित होगा। किसी जीवने परभवमे इस भवके लिए मानो १०० वर्षकी आयु बाँधी, उस १०० वर्षकी आयु बधनेका अर्थ क्या है कि उस आयुकर्ममे इतने निषेक बने कि एक-एक निषेक एक-एक समयमे उदित होवे तो १०० वर्ष तक इस भवमे यह जीव रहेगा, याने १०० वर्षके जितने समय होते हैं उतने उसकी आयुके निषेक होते हैं। अब यह बात तो वहाँ बध गई। अब इस भवमे जन्म लिया। ४० वर्षकी आयु हो गई है, तो निषेक ४० वर्ष तक ईमानदारी से खिरते रहे। अब ४० वर्षकी उम्रमे किसीने शस्त्र मार दिया या कोई योग बन गया ऐसे बाह्यसाधन मिल गए तो उसके शेष ६० वर्षके समय परिमाण बराबर जो निषेक हैं वे उसके अन्तर्मुहूर्तमे खिर जाते हैं। जैसे किसीने मोटरमे ट्रकमे या स्कूटरमे पेट्रोलकी टकी भर दिया पेट्रोलसे, मानो उतने पेट्रोलसे वह ४० मील तक जा सकती है। तैयार होकर तो चला मगर रास्तेमे कोई १० मीलकी दूरीपर ही किसी पेडसे टक्कर लग गई, पेट्रोलकी टकी फट गई और सारा पेट्रोल वही बह गया, बस गाडी वही रुक

गई। तो ऐसे ही आयुके निषेक १०० वर्षके थे मगर ४० वर्षकी उम्रमे ऐसे साधन मिल गए कि जिससे ६० वर्षके निषेक खिर गए, इसका नाम है अकालमृत्यु। अब कोई यो देखे कि अकालमृत्यु भी हो तो भी अवधिज्ञानीने तो ऐसा देख लिया है ठीक है। अकालमृत्यु इस ढगसे हुई सो जान गया है ज्ञानी। तो जाननेकी ओरसे तो हम कहेगे कि भाई जब जान गए, जिस समय जो बात बतायी गई सो हुई। किन्तु जब जान लिया गया सो वही तो होगा, होता है। यह बात ज्ञप्तिकी दृष्टिसे ठीक ही है। निष्पत्ति की दृष्टिसे देखेंगे तो यह यह ढग बना, इस इस तरह निषेक था, यो यो बाह्यसाधन बने, वहाँ खिरे हैं बाकी ६० वर्षके निषेक, यह अकाल मरण है। ज्ञानीके ज्ञानमे आ गया सो उस दृष्टिसे जिस समय मरण था उसी समय हुआ प्रत्येक तत्त्वके जितने भी उपदेश हैं उन सबमे यथार्थता है, अगर नही होता है अकालमरण तो फिर अकालमरण शब्द कहा ही क्यो गया ? जो नही है वह कोषमे शब्द कैसे आ सकता ? तो वहाँ एक जो अकालमृत्यु हुई है तो वहाँ भी आयुका उपभोग हुआ। यह बात बतानेके लिए यहाँ यह प्रसग कह रहे, अगर अपने काल पर प्रति समयके एक-एक निषेक खिर-खिरकर आयु दूर हुई तो वह भी उपभोगसे दूर हुई, इसी प्रकार अकाल मृत्युमे अगर कोई निषेक अन्तिम अतर्मुहूर्तमें खिर रहे हैं तो वे भी उपभोगसे खिर रहे है। प्रत्येक अवस्थामे चाहे अकालमरण भी हो वे सब आयु-कर्मके प्रदेश उपभोग से क्षीण होते है और हुआ करते है। इसमे दूसरे जीव क्या करे ?

१३३३—बहिरंगसाधनोमे अन्यके प्रति अकर्तृत्व व निमित्तत्वाभाव—

देखिये—बाह्यसाधन तो बन रहे हैं इसके अन्य पदार्थ, मगर साक्षात् निमित्तकी बात कही जा रही, और उस निमित्त नैमित्तिकमे भी अगर उपादान उपादेयके कर्तृत्वकी जैसी बुद्धि लादे तो वहाँ वह भी अध्यवसाय किए हुए हैं। जैसे यह ज्ञान हुआ कि कर्मने ही ये विकार पैदा किये। यह जीव विकाररूप नही परिणम रहा, नही परिणमना चाहिये था, नही परिणम रहा है। यह तो कर्म ही विकाररूप कर रहा है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई वहाँ कर्तृत्वबुद्धि आ गई। निमित्त नैमित्तिक योगका इतना ही अर्थ है कि अनुकूल निमित्तके सन्निधानमे उपादानने अपनी परिणतिकी है। वह सानिध्य न हो तो ऐसी स्थितिमे उपादान अपनी परिणति नही करता। अब यहाँ कोई ज्ञानदृष्टिसे यह कहे कि कैसे नही ? जब प्रभुने देखा तब होता है। कैसे न होगा निमित्त। कैसे न होगी बात ? तो यह बात एक ज्ञानी द्वारा ज्ञान होनेकी नियत व्यवस्था है। निमित्तनैमित्तिक योगमे भी एक नियत व्यवस्था है। वह युक्तिगम्य है कि अगर ऐसा नही है तो ऐसा हो नही सकता। जैसे कि अग्नि नही है तो धूम हो नही सकता अग्निका ताप न मिले तो रोटी आदिक नही सिक सकती। यह युक्तियोंसे व्यवस्था बनती है। और उस आधारपर यह नियत निमित्त नैमित्तिक योग व्यवस्था है। मरण जीवन आदिकमे है तो निमित्त नैमित्तिक योगकी व्यवस्था, लेकिन अज्ञानी जीव मानता है कि मैंने किया। क्या यह अज्ञान नही है।

१३३४—सर्व ससारियोकी सुख दुःख आदिकी कर्मविपाकप्रभवता—

इस कलशमे यह कह रहे हैं कि सभी जीवोका सदाकाल ऐसा ही नियत है अपने-अपने कर्मो-दयसे ही मरण, जीवन, दु.ख और सुख होते हैं। यह बात तो यथार्थ है मगर अज्ञान वह है जो ऐसी मान्यता है कि दूसरा पुरुष दूसरे पुरुषका मरण, जीवन, दु ख, सुख करता है ऐसी जो मान्यता पड़ी है, अज्ञानकी याने आश्रयभूत कारणको कर्ता मान लेनेकी, निमित्त मान लेनेकी वह अध्यवसाय है और ससारबन्धका हेतु है। बाह्यसाधनको कर्ता मान लेना यह भी अज्ञान है और निमित्तको उपादान भावसे

कर्ता मान लेना यह भी अज्ञान है, क्योंकि वाह्यसाधन निमित्त नही होता, आश्रयभूत है और निमित्त अपनी परिणतिसे उपादानको नही परिणमाता ।

१३३५—अचेतनविकारमे उपादान निमित्तका प्रसग व वुद्धिपूर्वक चेतनविकारमे उपादान निमित्त व आश्रयभूत साधनका प्रसग—

इस प्रसगमे एक वात और जाने कि जहाँ अचेतनके विकार वननेका प्रसग है वहाँ दो ही कारण चलते—निमित्त कारण और उपादान कारण । वायुका वेग हुआ, पत्ता उडा, वायुका प्रसग हुआ, लहर उठी, ये दो ही कारण वने—निमित्त कारण, उपादान कारण, मगर जीवका जो कार्य है विकार-रूप उन विकाररूप कार्यमे तीन का'ण वने, (१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत । जो वुद्धिपूर्वक विकार है जैसे कि किमी मनुष्यको किसी नौकर आदिकको देखकर गुस्सा आ गई तो उसको गुस्सामे निमित्त कारण है क्रोध प्रकृतिका उदय, और आश्रयभूत कारण है उस नौकर आदिकका दिखना । उसकी कुछ व्यापाररूप परिणतिका दिखना । तो आश्रयभूत कारणका गुस्साके साथ निमित्त नैमित्तिक योग नही है । वहाँ तो इस मनुष्यने उम आश्रयभूत वस्तुके परिणमने मे अपना उपयोग दिया, वहाँ उपयोग जोडा, कल्पनायें उठायीं । इस तरहसे ही तो वे वाह्य कारण वने । मगर क्रोध प्रकृतिका उदय हम जाने तो, न जानें तो, हो रहा है उदय । तो उस प्रकारका प्रतिफलन हो रहा है । उसके साथ विकारका निमित्त नैमित्तिक योग है, वाह्यमाघनका जीवविकारके साथ निमित्त नैमित्तिक योग नही है ।

१३३६—अज्ञानी जनोका मिथ्याध्यवसाय—

ये अज्ञानीजन जीवविकार कार्योंके लिए इन बाहरी पदार्थोंको कारण समझते हैं । जैसे मैंने इसे मारा और मैं इसके द्वारा मारा गया, मुझे इसने मारा । इन दोनो मान्यताओंमें ही अध्यवसाय है, कर्मराग है, उस क्रियामें लगाव है ऐसी मान्यता होनेसे वहाँ वधका हेतु बन जाता है याने ससारपरम्परा बढ़े, ऐसा कर्मबन्धका कारण वन जाता है, हाँ जैसे मरणकी वातमे कोई लगाये—मैं मारने वाला, ऐसे ही जीवनकी वातमें भी लगाया जिलाने वाला, दु खकी वातमे लगाया दु खी करने वाला । मैं दु खी करने वाला, मैंने इसे दु ख दिया, यह भी एक अध्यवसाय है । क्योंकि जिनेन्द्रदेवने बताया है कि कर्मोदयसे ही इस जीवको दु ख सुख होते, मायने उस उस प्रकारके कर्मोदयका संनिधान पाकर जीवमें ऐसी-ऐसी वुद्धियाँ, विकल्पजाल और दु ख होते हैं । तो यहाँ जो कोई पुरुष ऐसा मानें कि मैं इसे दु खी कर दूँगा, दु खी कर सकता हूँ, दु खी किया है वह सब एक अध्यवसाय है, क्योंकि असाता का उदय न हो, उस प्रकारके मोहका उदय न हो और कोई जीव दु:खी कर दे, ऐसा कोई कर सकता क्या ?

१३३७—मिथ्याध्यवसायका एक दृष्टान्त—

धवलसेठने श्रीपालको बडे भारी विकट समुद्रमे गिरा दिया, समुद्रके बीचकी जगह थी । सेठने सोचा था कि यह श्रीपाल मर जायगा और इसकी स्त्री हमे मिल जायगी । इस दुर्भावनासे तो गिराया था, हुआ क्या कि श्रीपालकी आयुका उदय था और असाताका उदय थोडा जितना भी रहा, न रहा, तिरकर निकला । समुद्रके किनारे पर आया, वही वह सोया हुआ था । वहाँ एक राजा आया जिसकी यह प्रतिज्ञा थी कि जो इस समुद्रको पार करके आयगा उसके साथ हमारी लडकीका विवाह होगा । आखिर उस राजाको श्रीपाल दिख गए, अपनी कन्याका विवाह किया, आधा राज्य दिया । जब

धवलसेठने श्रीपालको उस स्थितिमे देखा तो फिर उसका अनर्थ करना विचारा। क्या अन्याय किया कि कुछ मित्रोंको भाँडका रूपक दे दिया और यह समझा दिया कि तुम सब राजाके सामने ऐसा प्रदर्शन करके दिखा दो कि राजा जान जाय कि यह भाँडका पुत्र है सो वैसा ही रूपक करके दिखाया जाय, जैसे अरे बेटा तुम यहांसे चलो अपने घर, अरे भैया, अरे फूफा, अरे दद्दा चलो अपने घर। वहाँ राजाको भी यह समझ आ गई कि सचमुच यह भाँडपुत्र है, सो क्रोधमे आकर श्रीपालको फाँसीका हुक्म भी दे दिया। अच्छा इतने पर भी आगे क्या हाल होता है, घटना सही आती है उसकी रक्षा होती है, फाँसी छूट जाती है। राजा समझ लेता कि यह तो क्षत्रियपुत्र है। मैंना सुन्दरी श्रीपालको मिल जाती है, और और भी अनेक प्रकरण बने। तो कोई कितना ही किसीपर उपद्रव डाले, अगर उसके ही पाप-कर्मका उदय नही है तो उसे कोई सकट दे सकता क्या ? नही दे सकता, फिर भी यह भाव रखना कि मैं इस पर ऐसा सकट डाल दू। अरे यह अध्यवसानका परिणाम, यह भीतरी परिणाम यह आत्माके दर्शनमे बाधक है।

१३३८—कर्मरागकी मिथ्याध्यवसायरूपताका समर्थन—

ससारी जीवोंको सुख दु ख आदिक उन उनके कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ करते हैं। कोई जीव किसी दूसरेको सुख दु ख देनेमे समर्थ नही है। हाँ उदय ही ऐसा खोटा हो तो उसमे दूसरा बाह्यसाधन बन जाता है। तो वहाँ कर्मराग नही रखना—मैंने यह किया, दूसरे पदार्थका मैं कुछ कर देता हू इस प्रकारका कर्मराग यह ससार परम्परा बढाने वाला बन्धका हेतुभूत है, सही-सही जानें। हाँ, अच्छा ये कर्म मिथ्या क्यो हैं, कर्मराग मिथ्या क्यो हैं ? ऐसा सोचना कि मैं दूसरेको मारता हू, दु खी करता हू, यह मिथ्या यो है कि इसकी ओरसे देखें तो इसका तो वह भाव कर्मरूप है, इस कारण वे बन्धके कारण हैं। और, मिथ्या वे यो हैं कि बात ऐसी है नही। एक जीवका दूसरे जीवके किसी कार्यके साथ कर्तृत्व नही, निमित्त नैमित्तिक योग भी नही है, किन्तु कर्मदशाका ही जीवभावके साथ निमित्त नैमित्तिक योग है। निमित्त नैमित्तिक योग एक तरफसे ही तो नही है। जब यह जीव अपने विशुद्ध परिणाममे होता तो वहाँ कर्ममे भी बडी खलबली चलती है। वहाँ कर्म कैसे झडे, कैसे निर्जरण होता, क्या होता, वहाँ भी उनमे उनकी ही परिणतिसे स्वय हो रहा है, मगर जीवके विशुद्ध परिणामके सानिध्यसे हो रहा, ऐसे ही जब कर्मकी कोई दशा है तो उस दशाका सानिध्य पाकर जीवमे विकार होता। होता है तो हो मगर यह दूसरा जीव उसमे अपनी टाँग अडाता है—मैंने कर दिया यह…तो ये सब अध्यवसाव मिथ्या है क्योकि ये अध्यवसाय अज्ञानसे पैदा होते हैं। उसने वस्तुके स्वातन्त्र्यको नही जाना है, इसका सब कुछ इसके साथ हैं, अपनी ही परिणतिसे अपना परिणमन कर रहा है। मैं इसका कुछ नही करता, यह तथ्य उसके चित्तसे हट गया और अपने को कर्ता मान लिया, इस कारणसे वह दु खी होता है।

१३३९—कष्टरूप अज्ञानमयभावको दूर हटानेका संदेश—

अज्ञान स्वय कष्टमय भाव है। जहाँ अज्ञान है वहाँ सहज आह्लाद हो ही नही सकता। वह स्वय कहाँ पडा हुआ है। और, संसार परम्परामे वह बढ रहा है। इस छदमे यह बतला रहे हैं कि जीवके जो जो भी मरण, जीवन, दु ख, सुख होते हैं वे सदा ही ऐसे ही नियत हैं कि वे अपने-अपने ही कर्मोदयके निमित्त पाकर होते हैं। इस प्रसगमे यह अज्ञान है कि ऐसी कोई मान्यता करे कि दूसरा आदमी दूसरेका जीवन मरण दु ख और सुखको करता है, तो यह अध्यवसान हटाना है। मैं अपने

परिणामको ही करता हूँ, मैं दूसरे जीवका कुछ काम नही करता। यह तथ्य समझना होगा और कोई बाह्य पदार्थका लक्ष्य रखकर लक्ष्य बना हो तो वह उसके दु खके लिए है, और मैं अपने आपमे अपना ही एक आश्रय रखता हुआ लक्ष्य करके अपनेमे अपने परिणाम बनाता हूँ तो वह मेरी प्रगतिके लिए है। बस यह ही तो निर्णय रखना है। ऐसा निर्णय रख करके हम आप इस भावको छोड दें कि मैं दूसरे जीवोको सुख दु ख वगैरह दिया करता हूँ, मैं सर्वत्र अपने परिणामोको करता हूँ और उस करतूत के अनुसार ही मैं अपने फलको भोगता रहता हूँ।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरणऽजीवितदु:ख सौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशोनियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

१३४०—सर्वत्र आयुकर्मकी स्वोपभोगसे क्षीयमाणता—

अज्ञानी जीव दूसरे पदार्थोंके प्रति, दूसरे जीवोके प्रति कुछ करनेका अहकार रख रहे हैं। मैं इनको यो करूँगा, सुधार दूँगा, बिगाड दूँगा, मार दूँगा, जियाऊँगा, दु खी करूँगा, सुखी करूँगा, यह सब है कर्मराग, कर्ममे अहकार। यह भाव मिथ्या है, स्वार्थक्रियाकारी नही है। विकल्पमे जो बात सोची वैसा इसका विकल्प करनेसे हो जाय ऐसा नही है, तब फिर वह सार्थक नही। पहले बतलाया था मरणका अध्यवसाय। मैं इन इन जीवोकी हिंसा करता हूँ, मारता हूँ, यह अध्यवसाय मिथ्या क्यो है कि मरना दूसरेके हाथकी बात नही है किन्तु आयुके क्षयके निमित्तसे होने वाली बात है। देखिये प्रसगमे प्रयोजनभूत जितनी बातें होती है उनपर तो ज्यादह मनन करना चाहिए और उससे लगी हुई और भी बातें होती है जो विशेष प्रयोजनभूत नही हैं वह विशेष चर्चामे ऐसा न होना चाहिए कि जिसकी कुछ उलझन बने यहाँ मूलमे बात यह कही जा रही है कि आयुका क्षय दूसरा कर नही सकता और मरण आयुके क्षय से होता है इस कारण यह अध्यवसाय मिथ्या है कि मैं इसको मारता हूँ। अब एक बात दूसरी है कि आयुका क्षय दो पद्धतियोसे होता है—एक तो पूरी स्थिति पाकर, दूसरा स्थितिपूर्वनिर्जरण से जिसको अकाल मृत्यु कहते हैं। उसका दूसरा नाम यह रखें तो करणानुयोगकी बात जल्दी समझमे आयगी—स्थितिपूर्वनिर्जरण। जिसकी जो स्थिति बधी है उससे पहले उसका खिर जाना स्थितिपूर्व-निर्जरण है। स्थितिपूर्वनिर्जरण मात्र आयुकर्ममे ही हो, ऐसा नही, किन्तु प्राय सभी कर्मोमे स्थितिपूर्व-निर्जरण होता है। १४८ प्रकारकी कर्मप्रकृतियाँ हैं, सभीमे प्राय स्थितिपूर्वनिर्जरण है याने बँधी हुई स्थितिसे पहले निर्जरा हो जाना। करणानुयोगमे बडी स्पष्टतासे बताया है और ऐसा चारित्रमोहमें होता है उसका तो बडा आदर करते। निर्जरातत्त्वमे उसकी महिमा बताई है।

१३४१—स्थितिपूर्वनिर्जरणकी उपयोगिता—

यदि स्थितिपूर्वनिर्जरण न हो तो बताओ, सम्यग्दर्शन हुए बाद कितने कर्म रहते हैं? कुछ कम एक कोडा कोडी सागर। सम्यक्त्व हो गया जिस जीवको फिर भी उसके पास कितना स्थितिसत्त्व है कि कुछ कम एक कोडा कोडी सागर। कितना होता एक कोडा कोडी सागर? तो उसको पहले पल्यसे लीजिए। मान लो, उपमा प्रभावसे बता रहे हैं। ऐसा कोई कर सकता नही, किन्तु उपमासे जाने कोई २ हजार कोशका लम्बा चौडा गहरा गड्ढा हो, उसमे मेढके बच्चेके कोमल बालोंके इतने इतने छोटे टुकडे भर दिये जायें कि जिनका दूसरा हिस्सा न हो सके, साथ ही उसपर हाथी फिराकर खूब ठसाठस कर दिया जाय अब प्रत्येक १०० वर्षमे उसमेसे एक एक टुकडा निकाला। अब उन सारे टुकडोके निकलनेमे जितना समय लगे उतने वर्षोंका नाम तो है व्यवहारपल्य, उससे अनगिनते गुणे वर्ष

लगे इसका नाम है उद्धारपल्य और उससे अनगिनते वर्ष लगे उसका नाम है अद्धापल्य। एक करोड अद्धापल्यमे एक करोड अद्धापल्यका गुणा करने से जो काल आवे उसका नाम है एक कोड़ा कोडी अद्धापल्य। ऐसे १० कोडा कोडी अद्धापल्यका एक सागर, और एक करोड सागरमे एक करोड सागर का गुणा करें तो उसे कहते हैं एक कोडा कोडी सागर। कुछ कम एक कोडा कोडी सागर कर्म रहते हैं सम्यक्त्वके होने पर भी, मगर पूरी स्थिति पाकर वे कर्म भड़ें तो उसका भला हो गया, कितने दिन तक वह सम्यग्दृष्टि ससारमे रहेगा, और देखा यह जाता कि कोई घटे भरमे मोक्ष चला जाता कोई और ज्यादह कालमे सम्यक्त्व हो जानेके बाद। उन सबके स्थितिपूर्व निर्जरण चलता ही है। तभी तो गुण श्रेणी निर्जरा आदि होते हैं। तो सबमे स्थितिपूर्व निर्जरा ही होती है, तो आयुकर्ममे भी स्थितिपूर्व निर्जरण चलता है, केवल देव नारकी भोगभूमिज तिर्यञ्च और…चरमशरीरी इनको छोड़कर शेष जीवो की आयुकर्मकी स्थितिपूर्व निर्जरा चल सकती है।

१३४२—आयुकर्मके स्थितिपूर्वनिर्जरणका दिग्दर्शन—

जैसे आयुकर्मकी स्थिति १०० वर्षकी है तो उसके मायने है कि १०० वर्षमे जितने समय हैं उतने निषेक बध गए। एक-एक समयमे एक एक निषेक खिरते, ४० वर्षके समयमे अगर ६० वर्षके निषेक खिर जाते हैं तो यहाँ यह जानना प्रकृतमे कि वहाँ ६० वर्षके बाकी जो निषेक है वे भी अन्तर्मुहूर्तमे उपभोग द्वारा क्षीयमाण हो गए। जैसे पूरी स्थितिमे उपभोग क्षीयमाण हुआ ऐसे ही बाकी ६० वर्ष के निषेक जो ४० वर्षमे उपभोग द्वारा क्षीयमाण हुए, ऐसा समझना कि निषेककी ओर से तो अकाल मरण रहा और, जब ज्ञप्तिकी ओर दृष्टि चलती है तो कैसा हो रहा, प्रभुने तो जाना, विशिष्ट ज्ञानी ने जाना। जिस समय हुआ उस समय मरण हुआ, जब होना जाना गया तब ही मरण हुआ। यद्यपि जाना गया तब ही, जब इस तरह हुआ तब ही तो जाना गया, किंतु जाननेकी ओर से देखो तो यह समझमे आयगा कि समयपर हुआ सब, जिस समयकाहोना जाना उस समय हुआ ऐसा। और करणानुयोगकी विधिसे देखें तो उसका नाम है स्थितिपूर्व निर्जरण। दोनो बातोमे दृष्टियाँ दो हैं, दोनो समझोमे विरोध नही। वहाँसे देखो तो यो विदित हुआ, यहाँसे देखो तो यो विदित हुआ। ऐसी एक बारकी घटना है हम अपने विद्यार्थी जीवनमे उस समय रत्नकरण्डश्रावकाचार पढते थे, करीब ९–१० वर्षके थे। १७ वर्षकी उम्रमे राजवार्तिक, १६ मे पचास्तिकाय, १५ मे कर्मकाड, १४ वर्षकी आयुमे जीवकाड, १३ मे सर्वार्थसिद्धि, १२ वर्षायुमे सागारधर्मामृत, ११ वर्षायुमे द्रव्यसग्रहजैनसिद्धान्तप्रवेशिका, १० वर्षायुमे मोक्षशास्त्र, हा ९ वर्षायुमे रत्नकरण्डश्रावकाचार पढा करते थे सागर विद्यालयमे। वहाँ सुबह व विद्यालय समाप्ति बाद शहरसे बाहर निपटने जाया करते थे। एक दिन ऐसा मनमे आया कि कहते हैं जो भगवान ने जाना सो होता है। उस समय हम रोज धर्मासी जाते थे। अचानक मनमे आया कि आज तो हम वेदान्तीके रास्ते से जायेंगे रास्ता हमने पकड़ा, फिर सोचाकि भगवान ने अगर यह ही जाना हो तो फिर हम वेदान्तीकी ओर क्यो जायें ? हम तो धर्मासी जायेंगे, सो रास्ता बदल कर फिर लौट गये, फिर सोचा कि अगर ऐसा ही जाना हो तो हम वेदान्तीकी गलीसे क्यो न जायें ? यो दो तीन बार अदल बदल किया, और बादमे जहाँ जाना था सो चले गये। अब चले तो गये मगर थोडी देर बाद मनमे विकल्प आया कि ओह ! भगवानने यही जाना था कि यह दो तीन बार बदलेगा। अब देखो काम तो हुआ वह करनेसे, अन्यके ज्ञानसे नही हुआ, वह तो मैंने ही किया, मैंने ही विकल्प किया। यहाँ गये, वहाँ गये, हो तो रहा, करनेसे काम मगर करते हुये जब आगे करेंगे तो वह ही

तो ज्ञात हो गया ।

१३४३—निमित्तनैमित्तक योगकी प्रतिनियत व्यवस्थामे होते हुएका विशिष्ट ज्ञानियो द्वारा ज्ञान हो जानेकी दृष्टिमे कार्यके निश्चित समयका बोध—

कोई-कोई लोग कहते हैं कि सर्वज्ञको क्या पता ? जानते कि नही, और जानते हैं तो और ढग से । अच्छा सर्वज्ञको छोडो, अवधिज्ञानी तो जानते, परमावधि तो जानते, सर्वावधि तो जानते । जानना तो निश्चित हो गया । होने वाली वातको कोई जान तो लेता है । अव जाननेकी ओरसे देखो तो यह वात आती कि "जो जो देखी वीतरागने सो सो हो सी वीरारे", मगर निष्पत्तिकी ओरसे देखें तो तो निमित्तनैमित्तिक योग और यह विधान, यह यथावत नियत है । तव ही तो लिखा है कि कर्मोदयसे मरण जीवन आदिक होते हैं, यह नियत योग है याने ऐसा होता है । सव जानते हैं कि आगका निमित्त पाकर रोटी सिकती है, सव जानते है, वह नियत निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है, मगर सोचना वहाँ यह है कि रोटीमे ही रोटीका ही काम हुआ, महिलाने रोटी वेली, रोटी वना दी, सब लोग जानते हैं कि ऐसे ऐसे व्यापारका सन्निधान पाकर अगली अगली दशाये बनती हैं, सव जानते हैं, मगर महिलाका काम महिलाके हाथमे ही रहा, रोटीका परिणमन उस आटेमे ही चला । तो स्वयमे भी यह ही निरखना है, निमित्त नैमित्तिक योगमे मेरी प्रत्येक दशा अपने आपकी परिणतिमे परिणमती, अन्यकी परिणतिसे नही परिणमती, किन्तु विकार परिणाम अनुकुल वातावरणके अभावमे न हो सके, निमित्त सन्निधानके अभावमे न हो सके, इतनी वात तो विकारके लिए है, मगर वहाँ निरखे यह कि प्रत्येक द्रव्य अपनेमे अपनी ही क्रियासे परिणमा । रच भी विरोध नही है किसी जगहमे निमित्त नैमित्तिकभावका और वस्तु स्वातन्त्र्यका ।

१३४४—अज्ञानवश हुये कर्मरागकी व्यग्रता—

प्रकरणमे यह वताया जा रहा कि यह जीव अज्ञानसे इस क्रियामे लिपट गया, कर्ममे रागकर वैठा और यह भूल गया कि मेरा काम तो जाननमात्रका है, इसके आगे मेरा काम नही, यह औपाधिक योग है, हुआ है ऐसा, उसका हमे ज्ञाता रहना चाहिए, यो वन गया, परन्तु मैं इन सबका करने वाला नही हूँ । स्वतन्त्र. कर्ता मैं स्वय ही निरपेक्षरूपसे कर सकूँ विकार, ऐसी वात नही, मैं स्वय जाननेका काम करता हूँ । किन्तु अज्ञानको पाकर जीव दूसरे से दूसरेका मरण जीवन दु ख सुख निरखता है और यह मिथ्यादृष्टि जीव, अहकाररससे मैं करने वाला हूँ ऐसा मानता है । देखो घर घरमे जो लडाई चलती है वह किस वातकी है ? सव कर्मरागकी लडाई चलती है । कर्मराग केवल शरीरकी क्रियाके प्रति नही, वल्कि विचारके प्रति । मेरा विचार, मेरा ज्ञान, मेरी वुद्धि, मेरा काम, कैसा मैं मेरा मेरा यह जीव लगा रहा है, तो क्या कर रहा वह जीव ? दूसरेका तो करेगा क्या ? वह अपने आपका हनन कर रहा है । जब अज्ञान वसा हुआ है, वाहरी प्रवृत्तियोमे उपयोग फसा हुआ है, वाहरी पदार्थोमे उपयोग जमा हुआ है, वैसा ही भाव है तो अन्त जो चैतन्यस्वरूप है, प्राण है, उसकी इसको सुध कहाँ है ? हालाकि यह चेतनसे अलग नही होता, लेकिन उपयोगमे तो अलग वन वैठा । यहाँ किसी के हाथकी मुट्ठीमे अगूठी रखी हो और अचानक ही उसका ख्याल न रहा तो वह उसकी तलास यत्र तत्र करता फिरता, कहाँ गई, क्या हुई; देखो है मुट्ठी मे ही, पर ज्ञानमे तो नहीं है । ज्ञानमे नही है, उसका फल मिल रहा है । हर एक वातका फल ज्ञान मे है या नही, इसके अभावमे चला करता है, तो अज्ञानी जीव स्वय चैतन्यस्वरूप तो है मगर उसको सुध नही है अपने आपकी । अपनेको तो वह अजीव, जड़

बनाता फिर रहा है उपयोग द्वारा वस्तुत बन नही सकता जड। तो जब अपने आपकी सुध नही है तो यह बाहर-बाहरमे काम करता है। जब आत्मामे सन्तोष नही है तो बाहरके पदार्थोंमे रमकर संतोष पानेकी कोशिश करता है। होता नही है सतोष बाहर, वास्तविक सन्तोष तो आत्मामे ही होता है। मगर आत्म सन्तोष तो मिला ही नही, सो बाहर ही बाहर यह भटकता फिरता है बधाधिकारमे यह बात बतलायी जा रही है कि बाहरी बातोसे बध नही, किन्तु कर्मरागसे बध है। यह ही प्रकरण प्रारभ मे था उसीके समर्थनमे यह प्रकरण चल रहा है।

१३४५—अध्यवसाय दूर करनेकी प्रकरणसे शिक्षा—

यहाँ शिक्षा यह लेना कि भाई कर्मराग क्यो करता ? मैं इसको दु खी कर दूँ, ऐसा भाव होनेसे क्या वह दु खी होता ? उसका ही कर्मोदय हो उस अनुकूल तो वह दु खी होगा, पर उसके विकल्पसे न होगा, इसलिए यह विकल्प, यह अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी नही। आश्रयभूत निमित्तकी बात कही जा रही है कि जो आश्रय कर करके अहकार किया जा रहा है वह बात मिथ्या है, निमित्त नैमित्तिक योग की बात यहाँ नही है, कि वह मिथ्या है, वह तो एक नियत शब्दमे बोला। सर्व सदैव नियत। यहाँ तो अहकाररस छुटाना है कि किसी भी क्रियामे अहकार न रखे तो इस प्रकारसे समझाया गया है कि तेरे सोचनेसे कुछ होता नही, तू अध्यवसाय क्यो कर रहा है ? तो यह जीव अहकाररससे कर्मोंको करनेकी इच्छा करते हुए वह निरन्तर क्या कर रहा है ? वह अपने आपका हनन कर रहा है, आत्म-हत्या कर रहा है। आत्महत्या क्या है ? लोग तो प्राण चले जानेको आत्महत्या बोल देते, पर वह आत्महत्या नही, वह तो भवहत्या है। आत्महत्या तो यह है कि जो अपनी सुध नही है और बाहरमे क्रियाका अहकार बना है, बाहरी तत्त्वमे यह मैं हूँ इस प्रकारकी आस्था बनी है और अपने स्वभावकी सुध नही कि मैं अपने स्वरूप मात्र हूँ। बस स्वमे ही परिणमन उठते रहते है। इनकी ही तरग चलती रहती है। यह तरग विकाररूप हो तो निमित्त सान्निध्यमे होगी, एक वातावरणमे होगी तो भी इसकी तरग करने वाला कोई दूसरा नही है। स्वय अपने आपमे से अपनी तरग उठाता हुआ यह अपनी कालयात्रा कर रहा है। ऐसे ही प्रत्येक पदार्थ अपने अपनेमे अपनी यात्रा करते हुये चले जा रहे है।

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्। स एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥१७०॥

१३४६—कर्मरागकी ससारबधहेतुता—

कर्मराग सम्बन्धी अध्यवसाय याने दूसरे जीव या दूसरे पदार्थ मे कुछ करनेका जो अभिप्राय बना वह अभिप्राय मिथ्यादृष्टिके ही होता है और वह बधका कारण है। अगर कोई सभ्यताके कारण ऐसा भी कह दे कि भाई मैंने नही किया, मैं तो निमित्त मात्र था और उसमे अभिप्राय करनेका ही है और ऐसा सोचे कि ऐसा कहनेसे जरा सभ्यता प्रकट होती है तो भी वहाँ अज्ञानमय अध्यवसाय है और वह अज्ञानीके होता है, ऐसा अनेक बार होता है। किसीने कोई मन्दिर बनवाया, पाठशाला खुलवाया, कुछ बनवाया तो जब प्रशसा करने बैठते है तो यह खडा होकर कहता है कि भाई मैंने कुछ नही किया, आप लोगोका सब हाथ है, मैं तो एक निमित्त मात्र हो गया, और अन्दरमे हो कर्मराग, मोह, कर्तृत्व-बुद्धि हुआ तो वहाँ एक डबल अध्यवसाय याने भीतर पर पदार्थके प्रति करनेका भाव तो था ही, मगर एक यह कि इस तरह कहनेसे हमारी सज्जनता प्रकट होगी, यह एक और अध्यवसाय हो गया। सारी चीज अभिप्रायसे चलती है। जहाँ कर्मराग है, क्रियामे आत्मबुद्धि है, परतत्त्वमे आत्मबुद्धि है वहाँ इस जीवको बध होता है ससार बध। बध तो कुछ पद तक सम्यग्दृष्टिके भी चलता, मगर वह ससार बध नही

चलता, कुछ पद तक उपभोगनिमित्तक चलता है। १० वे गुण स्थान तक अबुद्धिपूर्वक चलता है, किन्तु ससार वाला बध ज्ञानी के नही होता।

१३४७—अध्यवसायोकी अज्ञानात्मकता व निष्फलता—

यह अध्यवसाय अज्ञानात्मक है, और निष्फल है? जैसा सोचते वैसा है नही, इस कारणमे तो अज्ञानरूप है और जैसा सोचते वैसा काम बनता नही इसलिए निष्फल है। स्वयभूरमण समुद्रमे महामत्स्य होता है बडी अवगाहनाका। एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौडा, २५० योजन मोटा एक महामत्स्य है। चार कोशका एक योजन होता है, कुछ लोग सोच सकते है कि क्या कोई इतने बडे भी जीव होते है, चार हजार कोशके लम्बे? तो भाई यहाँ पर भी तो हम आपको एक-एक फर्लांग तककी मछलियाँ देखनेको अथवा सुननेको मिलती। इस समय भी है बडे-बडे तालाबोमे नदियोमे अथवा समुद्रोमे बडी-बडी मछलियाँ छोटे तालाबोमे छोटी मछलियाँ बडे तालाबो मे बडी मछलियाँ, समुद्रोमे उससे भी बडी मछलियाँ इस तरह देखने, सुननेको मिलती हैं। अब कोई सीमा बताओ कि बडी बडी होकर कितनी बडी मछलियाँ हो सकती? कोई सीमा लगा सकता क्या? स्वयभूरमण समुद्र एक इतना बडा समुद्र है कि जिसके अन्दर असख्याते द्वीप और समुद्र भी पूरा नही कर सकते। जैसे एक तौलनेके बाँटोमे सेरको ले लो, वह कितना बडा है कि उससे आधा है आधा सेर, उससे आधा है एक पाव, उससे आधा है आधा पाव, उससे आधी है एक छटाक, उससे आधा आधी छटाकी इस तरहसे लगाते जावो तो भी ये सब मिलकर सेर बराबर नही हो सकता, आधी छटाककी कमी रह ही जायगी, तो ऐसे ही जम्बू द्वीप है, १ लाख योजनके जम्बूद्वीपसे दूना एक तरफ दूना है समुद्र उससे दूना द्वीप उससे दूना समुद्र इस तरह चलते चलते असख्याते द्वीप समुद्रके बाद अन्तमे स्वयभूरमण समुद्र है, तो उसका जितना विस्तार है वह सब विस्तार असख्याते द्वीप समुद्रका भी नही, इतने बडे जलकी स्थितिमे ये मत्स्य पाये जाते हैं। लोग यो सोचते कि हिन्द महासागरकी बात होगी, तो यहाँकी बात नही है। और फिर कोई यह सोचे कि पैदा होगे तो कितने, फिर बडे होगे तो कितने दिनमे? यह हिसाब गर्भज जीवोमे लगाया जाता। जो गर्भज होते, पेटसे निकलते तो कितने और कितने दिनमे बडे होते? लेकिन वे मत्स्य है सम्मूर्छनज, याने ढेर पडा है, चीज पडी है तो वही जीवने उस सारे ढेरको शरीररूप ग्रहण किया। वहाँ ही गठान हो गया। तो थोडी देरमे बडे बडे शरीर देखनेको मिलते हैं। तो ऐसा वह स्वयभूरमण समुद्रका महामत्स्य अपना मुख बाये पडा रहता है और उसके कान या आँखके पास एक तदुल मत्स्य रहता है। वह सज्ञी पञ्चेन्द्रिय है, वह विचार करता है कि देखो यह महामत्स्य कितना मूर्ख है। इसके मुखमे हजारो मछलियाँ फिर रही है फिर भी यह उन्हे नही खाता। इसकी जगहपर यदि मैं होता तो एक भी मछली । अब सोच लो इतने खोटे परिणामके कारण उसको नरकगतिका विकट बन्धन होता है।

१३४८—मनुष्यजीवनको निर्दोष शान्त बनानेका अनुरोध—

इतनी बात तो हृदयमे आनी चाहिए भैया, इस जिन्दगीका भरोसा क्या? मुश्किलसे मनुष्य आयु पाई और सब कुछ श्रेष्ठ बातें पायी तो इस भवमे अपनी वृत्ति ऐसी निर्दोष कषायरहित होनी चाहिए कि जितनी अपनी बुद्धिमे पुरुषार्थमे बने, कषाय करना, द्वेष न रखना, विरोध न होना, सर्व जीवोमे सर्व साधर्मीजनोमे एक परिणाम रहे। पहले भी तो नाना प्रकारके मनुष्य होते थे, मगर धर्मके नामपर दुविधा न हुआ करती थी। कोई ज्ञानी है, कोई कम ज्ञानी है। कोई कितना ही है, सब एक धारामे

चलते थे। तो अपनेको ही इतना एक सतोषी हृदय वाला बनाना चाहिए कि सब एक जैन सिद्धान्तके मानने वाले हैं, नाम जैन, स्थापना जैन, द्रव्य जैन, भाव जैन, किसीके भी प्रति विरोधकी भावना न होना चाहिए। सर्व जीवोमे उस स्वरूपको देखना है जिसमे समता परिणाम जागृत होता हो। हम आपका रक्षक तो समता परिणाम है। रागद्वेष होना, साम्यभाव होना, अज्ञान न रहना, यह भाव हम आप लोगोकी रक्षा करने वाला है। बाकी कुछ विचार करना कि मेरा अमुक मददगार, अमुक मददगार ऐसा बाहरमे शरण ढूढा तो वह धोखा ही पायगा। दूसरा कोई जीव मेरा शरण नही है। भले ही कोई उपकार होता है तो मान लिया व्यवहारमे किसी सीमा तक शरण, पर निश्चयमे तो अपने आप मे दृष्टि दीजिए और मानें कि मैं ही अपना जिम्मेदार, मैं ही अपने लिए महान, मैं ही अपने लिए सर्व कुछ, कोई खोटा परिणाम न हो। दूसरेका बुरा चिन्तवन करना यह अपध्यान कहलाता है जो कि बहुत खोटा ध्यान है। किसीके बारेमे कभी भी किसी प्रकारका खोटा भाव न होना चाहिये क्योकि वह निष्फल है। खोटा भाव करनेसे वहाँ वह बात बनती नही और आप स्वय एक बधनमे आ गए, ससार बध बन गया, तो उस भावसे क्या लेना? अपनेको स्वरूपदृष्टि करना चाहिए और अपना व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि हृदयसे कि जिसमे कषाय न उत्पन्न हो। यह बात अपनी रक्षाके लिए है। जो अपने आपके हृदयको सही रखेगा उसकी रक्षा है। रक्षक खुदका खुद ही है। तो अपने आपपर दया करके ऐसा अपना प्रयत्न बनाना चाहिए कि जो दोषीक न हो।

१३४९—शुभ अशुभ सभी कर्मोंके रागकी बन्धहेतुता—

यदि दूसरे जीवोके प्रति किसी प्रकार कुछ करनेका राग किया, खोटा कर्मराग किया तो वह भी ससार बधका हेतु है और जैसे हम लोकमे अच्छे काम करते हैं उन कर्मोका राग भी बधका हेतु है, क्योकि अज्ञानमूलक है ना ये बाते। जहाँ अज्ञान है वहाँ बध है, अनेक लोग कभी कभी ऐसा प्रश्न करने लगते कि यह बतलाओ कि जो जानता है वह पाप करे तो उसको अधिक पाप लगता या जो नही जानता है वह पाप करे तो अधिक पाप लगता? ऐसा प्रश्न एक साधारण रूप से प्राय सभीके चित्तमे उत्पन्न हो जाता। जैसे जिसे मालूम है कि पानीमे कीटाणु होते वह यदि छानकर न पिये तो उसे पाप लगेगा और जिसे पता ही नही है इस बातका वह यदि पिये बिना छाने ही पी ले तो उसे पाप क्यो लगेगा? इस बातकी पुष्टि करने के लिए लोग अनेक उदाहरण दे देकर बोला करते। तो इस बातको बडी सावधानीसे समझो। देखो बात आप ऐसी भी पायेंगे और उल्टी भी पायेंगे। प्रायः करके जो नही जानता है उसको न जाननेसे महापाप चल रहा है। तब साथमे तो और पापकी गिनती ही क्या? एक उदाहरण लो। आग पडी है किसीके पीठ पीछे और एक पुरुषको ज्ञान है कि यह आग है उसे यदि कोई धक्का दे या हाथ पकडकर वहाँसे उसे जबरदस्ती चलाये तो वह आग पर धीरेसे, जल्दीसे पैर धरकर निकल जायगा, एक तो ऐसा मनुष्य और एक मनुष्यको कुछ पता ही नही है कि यहाँ हमारे पीठ पीछे आग है तो वह तो पैरको डटकर धरेगा जोरसे, तो बताओ उन दोनोमे से अधिक कौन जलेगा? अरे अधिक तो वही जलेगा जिसे कुछ पता नही है, उसके ज्ञान ही नही है। यही बात सब जगह लगाओ किसी ज्ञानीको कर्म विपाकवश लगना पडता है बाह्य प्रसगोमे, उसको अदरसे उनके प्रति रुचि नही है, बल्कि ग्लानि है तो उससे उसे कम दोष लगता और जिसे उसका ज्ञान नही है वह तो आशक्त होकर उनमे लगता जिससे विकट पाप बध करता। तो वहाँ मूल बातका उत्तर यह रहा कि जो नही जानता वह पाप करे तो अधिक दोष लगता। जिसे भीतरमे ज्ञान प्रकाश नही वह अभी

अज्ञानी ही तो है। उसे तो अभी अज्ञानी ही समझें, मगर जिसे स्पष्ट ज्ञान प्रकाश है ऐसे पुरुषको विरक्त होना उसके साथ ही साथ है। किसी भी अशमे हो उसे कर्मविपाकवश किसी विषयमे लगना पड रहा, उसके कम बन्ध है।

१३५०—ज्ञानीके सर्व जीवोमे अविरोध रखनेका साहस—

अज्ञानीके ये अभिप्राय बधके हेतु हैं, क्योकि उसका परिणाम विपरीत है। जैसे कभी कोई क्षमावणी पर्व आता ना, जबकि लोग एक दूसरेसे क्षमा मांगते, गले मिलते। तो लोग वहाँ क्या करते कि जिनसे बडी मित्रता है उनसे तो खूब जोरसे लिपटते और जिनसे कुछ विरोध है, कुछ अनबन है उनके सामने नही पडते, कही वे दिख जाये तो उनसे मुख फेर लेते। भला बताओ यह कोई क्षमावणी है क्या ? अरे सच्ची क्षमावणी तो यह है कि जिनके प्रति विरोध हो उनसे अपने किए हुए अपराधकी क्षमा माँग लें, पर इतना साहस किसीका नही बन पाता, ऐसा साहस होना बडी कठिन बात है, उसके लिए परिणामोमे बडी निर्मलता चाहिए। तो ऐसे ही जिसके प्रति भी कभी कोई खोटी बात विरोध या मनमे द्वेष जगा हो, अगर अपने आपमे दया आयी है तो कुछ साहस बनाना होगा कि उससे नम्रता का व्यवहार करें, और उससे कहे कि मैंने आपके प्रति जो ऐसे ऐसे अपराध किये, ऐसी ऐसी दुर्भावनायें रखी, आप मुझे क्षमा करें। ऐसा साहस तो ज्ञानी जन ही करते, अज्ञानी नही, क्योकि अज्ञानीको पर्यायमे आत्मबुद्धि है। वह जरा-जरा सी बातोमे अपमान महसूस करता अरे इसमे मेरी शान न रही और ज्ञानी जीव इन बाहरी बातोकी शानकी होली कर देता है। वह बाहरी शानको, नामवरी को न कुछ चीज समझता है। तो जब ऐसी निर्दोष बुद्धि प्रकट होती है तो वहाँ कर्मराग मिटता है और एक सन्मार्ग प्राप्त होता है। कर्मराग मेटनेके लिये भीतरमे बडी सफाई करनेकी आवश्यकता है।

१३५१—प्रत्येक जीवो व पदार्थोंका स्वतन्त्र स्वरूप जानने वालेकी उदासता—

जो जो भी बाते अध्यवसायकी बतायी गई कि मैंने इसे दुखी किया आदिकके उन सब मान्यताओंका, इस तरहका भाव करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि नही है, क्योकि ये सब अज्ञानमय भाव हैं। भैया, दूसरे जीवोका आदर करे मायने यह निरखे कि इस जीवका जो कुछ हो रहा है वह इसके परिणामसे हो रहा है। इसका करने वाला मैं नही। ऐसा सोचनेमे परजीवका आदर है। कैसे आदर हुआ कि मैंने उस परजीवको महत्त्व दिया, उसकी स्वतन्त्रता ज्ञातकी, ये अपने कामके प्रभु हैं, स्वतन्त्र हैं, इनका मैं कुछ नही करता। ऐसा ज्ञानात्मक भाव हो वहाँ तो स्वभावका, उस जीवका आदर बनाया इस ज्ञानी जीवने। और, जो यह जानता है कि मैं इसको यो कर दूँगा, उसकी दृष्टिमे यह है कि यह तो तुच्छ है, इसमे तो कुछ बात ही नही है, सामर्थ्य ही नही है। जो कुछ मैं करूँगा सो होगा, ऐसी उस दूसरे जीवके प्रति जो भावना है उस भावनासे तो उस दूसरे जीवका मानो एक अस्तित्व ही मिटा दिया, कुछ स्वातन्त्र्य ही नही, कुछ परमार्थ सत् ही नही। तो भाई दूसरे जीवोंके प्रति खोटे भाव रखना यह तो बहुत ही बुरी बात है और उसमे कर्मरस जो बना वह विकट कर्मबन्ध करेगा। अच्छे कामोमे भी कर्मराग न करना चाहिए। जैसे मैंने सुखी किया, मैंने इस पर दयाकी, मैंने अमुक विधान किया आदिक बातें, वहाँ भी कर्मके प्रति राग न रहे, वह भी ससार बंधका हेतु है, फिर जो खोटी बातोमे राग चले उसका कैसा खोटा फल है।

१३५२—शुद्ध विचार वालोमे धर्मकी पात्रता—

यदि धर्म करना चाहते हो तो पहले अपने हृदयको साफ बना लो। यहाँ दूसरे किसी जीवके प्रति

कोई विरोध द्वेष न रहे । पहले ऐसा हृदय बनाये तो वहाँ धर्म बनेगा, स्वानुभूतिके लायक पात्रता बनेगी । इसलिए पहला काम है कि अपने मनको, उपयोगको, हृदयको स्वच्छ बनाये । स्वच्छ बनानेके मायने यह है कि सबका स्वतन्त्र सत्त्व पहिचानना और यह जानना कि मेरे द्वारा दूसरेकी कोई परिणति बन नही सकती, फिर मैं क्यो दूसरे जीवोके प्रति अनिष्ट बात करूँ ? अतरायकी बात, उसके विपरीत बात, उसके अपमानकी बात या और कोई बात सोची जाय ? ये सब अज्ञानभाव है। जहाँ यह अज्ञानमय भाव है, अध्यवसान है वहाँ ससारका बधन है, नरक, निगोद, तिर्यञ्च जैसी कुगतिका वहा बध बन रहा है । क्या पडी है अपनेको किसी दूसरेके बिगाडनेकी ? अपनेको सम्हालें शुद्ध निर्दोष जानन बने, इसके भीतर आवो, अपनेको उज्जवल कीजिये और इस तरहसे जीवन व्यतीत करे, रहना कुछ नही है, साथ जाना कुछ नही है । एक अपने आपके परिणामोमे विशुद्ध निर्मलता होगी तो आगे भी भला होगा, और अगर नही है तो बस समझ लो कि गये सो गये। यहाँके मरे न जाने कहाँ पैदा हों, न जाने कहाँ क्या हो ? यहाँ कैसे कल्याण हो सकेगा ? सोचिये तो सही, कितनी मनुष्यभवकी यह निरुपमता है । मानलो हम मनुष्य न होते, कीडा मकोडा आदिक और कुछ बन गए होते तो फिर कैसे कल्याणकी बात बन पाती ? इसलिये अपने आपके उपयोगको विशुद्ध निर्दोष बनावे । जो ये मिथ्यादृष्टिके अज्ञानमय भाव हैं, बधके कारण है, इन भावोको दूर करनेसे कल्याणका मार्ग मिलता है ।

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः । तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

१३५३—शुभ अशुभ सभी कर्मोके रागकी निष्फलता—

अभी तक इस बधाधिकारमे जो अध्यवसाय बताये गये है वे सब अध्यवसाय इस जीवके बधन हैं, हेतुरूप हैं, चाहे वे शुभ कामोके अध्यवसान हों चाहे वे अशुभ कार्योंके अध्यवसान हो, अज्ञान जहाँ बसा है वहाँ ससार बधन है । मैं इस जीवको दु खी करता हूँ, इसमे भी कर्मराग है, ससारबधका हेतु है । मैं इस जीवको सुखी करता हूँ इस प्रकारका जो अध्यवसाय है वह भी कर्मराग है, ससारबधका हेतु है । फर्क इतना पडेगा कि दु खी करने आदिके खोटे अध्यवसाय नरक आदिकके कारण बनेंगे, दया उपकार आदिकके शुभ अध्यवसाय स्वर्गके कारण बनेगे, मगर है दोनो ही अज्ञानरूप । और, इस ससार मे भ्रमण कराने के ही हेतुभूत हैं । चाहे पुण्यरूप अध्यवसान हो, चाहे पापरूप अध्यवसान हो, अध्यवसानके नाते से, अज्ञानके नातेसे उसमे दुविधा नही, वह बध हीका कारण है । जिसने सोच लिया परिणामोमे इस जीवको मारना है, न भी मर सके तो भी ससारबध, तो भी उसको पाप होते हैं । शिकारी ऐसे कि किसी पक्षीको चोट लगाये और वह पक्षी उड गया, चोट उसके न लग सकी तो भी उसको तो पापबध हुआ ही हुआ, क्योकि उसे हिंसामे अध्यवसाय था कि मैं इस जीवको मारू, ऐसे ही कर्मराग की बात कह रहे है । व्रत तप करनेपर भी अगर यह कर्मराग है कि मैं व्रत करता हूँ, मैंने ऐसा व्रत किया कि किसीसे वैसा बन नही सकता । १० दिनका उपवास किया था मैंने, और ऐसा किया था कि कोई तकलीफ नही हुई, ज्योका त्यो बोलते थे, और, और भी व्रत तपके बारेमे कर्मरसके अध्यवसान हो तो वहाँ अज्ञानमय भाव पाया जा रहा है क्योकि उसे अपने इस चित्प्रकाशकी खबर नही है कि मैं चैतन्यमात्र हूँ,, और इतना बेसुध बन गया कि मैने यह किया है, मैं ऐसा हू। उसे अज्ञानमय अध्यवसाय है ।

१३५४—स्वभावसाधनाकी धुनवालेकी प्रवृत्ति निवृत्तिका स्वभावसाधनामें सहयोग—

अरे बात तो यो होना चाहिये थी कि जिसने आत्माका प्रकाश पाया वह बस उस धर्मात्माको ज्ञातादृष्टा रहनेमे भलाई है । रागद्वेषमे उसका बधन है, तो मैं अधिकाधिक स्वभावदृष्टिमे रहू, स्वभा-

बाश्रय करूँ, बस जब उसके भीतरमे एक प्रखर सकल्प बना, उसकी धुन बनी तो उस धुनमे आकर जब वह चलता है और बाहरी व्यवहार छूट नही पाते, शरीर है तो खाना पडता है, बोलना पडता है, ये सब बाते होती हैं, मगर धुन है एक स्वभावके आश्रयकी। तो ऐसी स्थितिमे उसका व्यवहार क्या बनेगा ? क्या वह बाल बच्चोके बीच बैठकर उनको गोदमे ले लेकर उनको छातीसे लगा-लगाकर, उनका ख्याल बनाने का व्यवहार करेगा ? जिसको स्वाभावाश्रयकी धुन है उसका व्यवहार क्या बनेगा ? उनसे उपेक्षा रहेगी, वे छूटेंगे, घर छूटेगा, वैभव छूटेगा, जानकर छोडेगा, यहाँ प्रेरणा है ना भीतर, तो वह जानना एक वैराग्यप्रेरित है, ये भी छोडेगा और वस्त्र भी उसे बाधक मालूम होगे, उतनी भी चिंता क्यो हो ? कैसा मुनित्व होता है कि जहाँ चिन्ता नही, जहाँ विभावका साधन नही, केवल एक स्वभावाश्रयकी ही धुन है, न भी उसमे सफल हो तो भी उसकी दृष्टि वहाँ ही रहती है। उसे ये सारी बाते बनती है तो व्रत बन रहा है, तप बन रहा है, सयम हो रहा है, उस प्रकारसे बात चलती रहती है, और एक स्वरूपकी सुध छोडकर यह सोचकर कि मैं साधु हूँ, मुझे ऐसा ही करना योग्य है, बस साधु, साधु पर्यायपर ही दृष्टि है और यह दृष्टि भूली गई कि मैं एक चिदानन्द स्वरूप एक परमार्थ तत्त्व हूँ और वह भगवान आत्मा इन विभावोसे तिरस्कृत होकर ससारमे भटकता रहा। मैं तो यह हूँ, और यह जानन मेरा काम है। अब यह मैं जब मैं आत्मस्वभावके आश्रयके मार्गमे चल रहा हूँ। तो कुछ तो गुजारा होगा। कैसे रहना ? गुजारा केवल खानेका ही नाम नही। उस परिस्थितिसे गुजरना, वह सारा गुजारा है, मेरा स्वरूप तो यह परमार्थ चैतन्यमात्र है। जब साधकको ऐसी दृष्टि होती है तो उसके क्रोधमे फर्क आ जाता है, मान न जगेगा क्रोध, मान तो छू भी न जायगा, मायाचार करेगा ही क्यो, लोभ जगेगा ही क्यो, क्योकि उसको अपने स्वभावकी परख है और उसकी धुनमे चल रहा है। तो ऐसी धुन वालेके व्रत तप वगैरह ये सब उसके साधक बनते हैं, कैसे साधक कि वह ऐसा पात्र रहता है, ऐसा योग्य रहता है कि नही भी इस समय वह स्वानुभवमे है मगर वह स्वानुभव के लायक बना रहे ऐसी उसकी स्थिति रहा करती है व्यवहारधर्ममे, अज्ञानपूर्वक जो क्रिया होती है वहाँ यह पात्रता नही रहती है कि जब कभी भी हम स्वभावकी अनुभूतिकर सकें।

१३५५—अध्यवसानके प्रतिषेधके लिये बाह्यवस्तुका प्रतिषेध—

इस प्रसगमे बात क्या बतलायी गई है कि अध्यवसान बधका कारण है, बाह्यपदार्थ बधका कारण नही। कुछ ऐसा सुनकर कोई ऐसा बके कि बाह्य पदार्थ रखनेसे बध तो होता ही नही है तो क्या क्या बध है ? अरे तो यह तो देखो कि हमारे अध्यवसाय भी है या नही ? अगर भीतरमे अध्यवसाय है तो वह बधका कारण है, बाह्य वस्तु बधका कारण नही। हाँ इतनी बात अवश्य है कि बाह्य वस्तु अध्यवसानका हेतुभूत बनता है। समयसारमे बताया है—अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्य वस्तु तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात्। ये बाह्य वस्तु साक्षात् बधके हेतु तो नही मगर बधके हेतुके हेतु है याने बधका कारण है अध्यवसाय, अध्यवसाय रूप खोटे परिणाम, और खोटे परिणाम होनेमे आश्रयभूत है बाह्य पदार्थ। देखिये निमित्त हो या निमित्तका निमित्त हो, कोई भी बाह्य पदार्थ उपादानमे उसकी परिणति को नही करता। मगर यह तो एक वातावरण है कि ऐसी स्थितिमे उपादान अपना प्रभाव कर पाता है। तो बाह्यवस्तुका आश्रय लिये बिना चूँकि अध्यवसाय व्यक्त नही होता। कौन सा अध्यवसाय ? जिसका जिकर चल रहा बुद्धिपूर्वक अध्यवसाय। यह बाह्य वस्तुका उपयोग किए बिना, उसमे उपयोग जुडे बिना यह अध्यवसाय नही होता, इस कारण बाह्यवस्तु अध्यवसायके कारण

है। इसी कारण चरणानुयोगमें बाह्यपदार्थोंका त्याग करनेका उपदेश दिया गया है। आचार्यदेव यहाँ यह कहते कि "तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेध ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थ" अगर बाह्य पदार्थ बन्धके कारण नहीं है तो बाहरी पदार्थोंका त्याग क्यों कराया जाता है और क्यों विधि बतायी गई है चरणानुयोगमें ? तो उत्तर दिया है कि वह अध्यवसायके आश्रयभूत है, इस कारण उसका त्याग करना बताया गया है। जो चीज नहीं है उसका सहारा लेना, और कुछ अध्यवसाय बनना कैसे हो सकता है। जो सामने है उसका आश्रय लेते है उसमें उपयोग जोडते हैं उससे अध्यवसाय बनाते हैं, तो चरणानुयोगकी जो प्रक्रिया है वह अध्यवसायका आश्रय छोडनेकी प्रक्रिया है, और इस कारण चरणानुयोगमें जो विधान है उसके प्रति ज्ञानीका आदर रहता है। हाँ यह मार्ग है, इस तरहसे ज्ञानी पुरुष चला करता है और वह अपने अन्त स्वरूपका आश्रय करके सफल होता है।

१३५६—अध्यवसायकी मुद्रामें—

अध्यवसाय किसे कहते हैं ? स्व और परका विवेक न हो, ऐसे समयमें जो कुछ भी निश्चय बनता है, बोधन बनता है, विकल्प बनता है, काममें लगना बनता हैं, वह सब अध्यवसाय कहलाता है। अध्यवसायका मूल स्वरूप है स्व और परमें ज्ञान न होनेपर जो कुछ विकल्प हो वह सब अध्यवसाय है। तो ऐसे अध्यवसायमें मुग्ध हुए प्राणी अपनेको किस-किस रूप बना डालते हैं ? ये नाना रूप बना डालते हैं ? जैसे नारकी कौन ? जो अपनेमें यह अध्यवसाय किए हुए हो कि मैं नारकी हूँ, वे है नारकी, यह किस नयसे कहा जा रहा है ? आगम भाषामें कहा, एवंभूतनय और इस अध्यात्म भाषामें कहा अध्यवसायसे निश्चय किए हुएकी दृष्टिसे। जब अपने उपयोगमें यह बात समायी हुई हो कि मैं अमुक हूँ, तो इस उपयोगमें, इस अध्यवसायमें तो वही है, जब उपयोगमें आत्माका अनुभव किया जा रहा हो उस कालमें यह आत्मा अन्य रूप नहीं। ज्ञायक भावमय उपयोगकी परिणतिसे सब यह निर्णय बनाया जा रहा है।

१३५७—क्रियागर्भ अध्यवसायसे अपना नानाभावीकरण—

आत्मा हिंसक कौन ? कब बनता यह हिंसक ? जब हिंसाकी क्रियामें अध्यवसाय होता है, मैं मारता हूँ इसे कहते हैं सकल्पी हिंसा। सकल्पी हिंसा सम्यग्दृष्टिमें नहीं होती, उसका कारण क्या है कि जिसने सकल्पसे हिंसाकी है उस पुरुषको अपनी हिंसाकी क्रियामें राग पडा है। कर्मराग हुये बिना कर्मका सकल्प नहीं बनता और इसीलिये सकल्पी हिंसाका त्यागी पचम गुणस्थानके श्रावकको बताया है, पर नियम न होनेपर भी सकल्पी हिंसाकी प्रवृत्ति चतुर्थ गुणस्थानमें भी नहीं है, क्योंकि कर्मराग नहीं है. नियमपूर्वक तो पचम गुणस्थानमें और बिना नियमके वैसी ही प्रवृत्ति अविरत सम्यग्दृष्टि की भी है। तो जब हिंसा क्रियामें एक अध्यवसाय लगाया कि मैं मारता हूँ तो ऐसा जो अध्यवसाय है उसके द्वारा इस जीवने अपनेको हिंसक बनाया। यह अध्यवसाय मुनिके तो नहीं है। यदि वह मुनि रास्तेमें जा रहा है और पैरके नीचे दबकर कोई जीव मर जाय तो वह हिंसा क्यों नहीं कि उनको क्रिया द्वारा हिंसाका अध्यवसाय नहीं है। मैं मारता हूँ, मैं मारूँ, अथवा कुछ प्रवृत्ति हो प्रमाद हो, सो नहीं। थोडी बहुत चारित्रमोह वाली भी अध्यवसायित हिंसा नहीं, हिंसाके बारेमें यह जीव अपनेको किन-किन रूप नहीं बना डालता है ? अध्यवसायके द्वारा अपनेको झूठा, चोर, कुशील, परिग्रही इन स्वरूप बनाता है, अन्यथा वस्तुतः परिग्रह कभी यह जीव हो सकता क्या ? जीवमें जीवका ही तो स्वरूप है। स्वरूप में किसी पर पदार्थका ग्रहण हो सकता क्या ? किसी परका अन्यमें ग्रहण नहीं। स्वरूपमें किसी अन्य

का प्रवेश नही है, तो जब किसी अन्यका प्रवेश नही है तो ग्रहण क्या हो ? पर भीतरमे अध्यवसाय द्वारा ग्रहण करता है, ऐसा परिग्रही है, यह मेरा है, मै लखपती हूँ, मैं ऐसा हूँ, पर्यायमे या पर पदार्थ मे सम्बन्ध जोडकर अपनेको यह शरीररूप ही अनुभव करता है, और केवल इतनी ही बात नही, क्रियागर्भ, अध्यवसाय सभी क्रियाओमे होता तो वहाँ भी यह अपनेको नानारूप बना रहा, मैं दया न करता, यह जीव तो मर ही जाता, मैंने ही तो इसे बचाया, तो क्रियागर्भ अध्यवसाय बन गया। तो दया करना परोपकार करना आदिक जितने भी शुभोपयोग हैं उनमे भी अगर क्रियागर्भ अध्यवसाय है तो वहाँ भी ससारबध है। तो अपनेको यह जीव उपयोग द्वारा सोच-सोचकर किस किस रूप बना डालता, यह तो क्रियागर्भकी बात है।

१३५८—विपच्यमान-अध्यवसायकी विडम्बना—

अब देखें कौन कौन विपाकवाली बात अभिप्रायमें अज्ञानीके बनी रहती है याने जिसमें करनेकी बात न लगे, किन्तु यह मैं हूँ मैं नारकी हूँ, तिर्यञ्च हूँ, पशु हूँ, मनुष्य हूँ, ऐसी नानारूपताको यों ही स्वीकारता है। मुनि हूँ, ऐसी भी कोई श्रद्धा करे मुनि बनकर निर्ग्रन्थलिङ्ग पाकर मैं मुनि हूँ, तो विपच्यमान अध्यवसाय बन गया। वह यह बात भूल गया कि मैं चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। एक शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें आत्मबुद्धि कर ली जो मुनि—वह विपच्यमान अध्यवसायसे दूर होनेके कारण ज्ञानी है। मुनियोके मान क्यों नही रहा ? यही तो कारण है कि वह मुनि पर्यायमे अहबुद्धि नही रखता और जो भी परिणतिमे कोइ अहबुद्धि रखता, मैं मुनि हूँ, मैं साधु हूँ, ऐसी भावना जिनके रहती है तो जरा जरा सी घटनाओमे उन्हे क्रोध आ जाता है, बिगाड आ जाता है, कारण कि पर्यायमे आत्मबुद्धि की है। मुनि होकर भी पर्यायमे आत्मबुद्धि नही है, इस कारण उनकी कषायें मद रहती है, उनको धुनिमे, उनकी दृष्टिमे केवल यही एक बात है कि मैं चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ, उनकी भावना करना। यहाँ मान किस बातपर करना ? दोष तो पडे हैं और दोषोकी निवृत्ति करना है उसके लिए काम बहुत पडा है। क्या काम ? अतस्तत्त्वको निरखना और उस अतस्तत्त्वमे रमण करना, जब यह बात बन नही पा रही तो मैं किस कामका ? मैं दोषी हूँ, अपराधी हूँ, अभिमान करने लायक मेरेमें कोई बात नही है। ऐसा ध्यान साधुके रहता है तो वह अन्तस्तत्त्वकी अनुभूतिके लिए ही अपनी धुन रखता है।

१३५९—विपच्यमान अध्यवसायकी नाना मुद्रायें—

विपच्यमान अध्यवसायकी बात कह रहे हैं। मैं पुण्यवान हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं पापी हूँ, यो चाहे कोई भली पर्यायमे बैठा हो चाहे खोटी पर्यायमे बैठा हो, वे सब अध्यवसाय कहलाते हैं, देखिये श्रावक भी है, गृहस्थ भी है तो उसके भी अगर यह भाव बने, श्रद्धान बने कि मैं गृहस्थ हूँ, मैं श्रावक हूँ तो उसके अध्यवसाय आ गया, उसके ससार बध बन गया, है गृहस्थ, है कुटुम्बमे, मगर दृष्टि आस्था यह रहना चाहिये कि मैं मात्र चैतन्यस्वरूप हूँ, यह दृष्टि रहनी चाहिये प्रत्येक गृहस्थके, प्रत्येक भव्य-पुरुषके, और जब यह दृष्टि नही रहती तो गृहस्थको भी तृष्णा सताती है, वह मायाचारीमे बढता है, क्योकि पर्यायमे आत्मबुद्धि की। यह हूँ मैं, इसकी शान रहना चाहिए, मान आ जाता है, क्रोध आने लगता। तो क्या कारण है ? यह कि पर्यायमे आत्मबुद्धि है, पर्यायमे आत्मबुद्धि सिर्फ इसका ही नाम है कि चार गतियोका भव मिला, उसमे माने कि यह मैं हूँ, वह तो मुख्य है ही मगर साथ ही साथ अपने सूक्ष्म विचारोमे भी अगर अहबुद्धि जग गयी कि मैं यह हूँ, मैं विचार कर रहा हूँ, जो मैं विचारता हूँ सो ठीक है। मैं बहुत ठीक हूँ, इस प्रकारकी जो आस्था है उसमे मिथ्यात्व पडा हुआ है।

व्यवहार सब तो, गले पडे बजाय सरे की बात है।

१३६०—ज्ञानीकी विपच्यमान परिस्थितिसे उपेक्षाभाव होनेसे विजय—

चाहे गृहस्थ हो चाहे साधु हो, सबके लिए, जो सम्यग्दृष्टि है उसके लिए तो, गले पडे बजाय सरे की नीतिपर व्यवहार हैं। अभी इस पर्यायमे हू, गृहस्थी छोड सकता नही। इतना अभी साहस नही कि निर्ग्रन्थ लिङ्ग रूपमे रहकर अपने आपको अनुभव कर सकें। सदा ऐसी अवस्थामे रहे, यह बात अभी नही बन पा रही, तो गृहस्थोमे रहकर गृहस्थीमे रहने का खेद तो रहे। तब तो उसका मार्ग भला है और गृहस्थ रहकर गृहस्थीमे मोज माने तो वह गृहस्थ श्रावक नही है. गृहस्थीमे रहता हुआ गृहस्थ मौज के कारण, गृहस्थोकी सुविधाओके कारण वह अगर मौजकी श्वास ले—मेरी बडी अच्छी हालत है, तो वहा उसका मार्ग सन्मार्ग नही रहा, उसे तो गृहस्थीमे खेद होना चाहिए, मैं इस पर्यायके भुगतानमे क्यो पडा हू। कब मैं आत्मस्वरूपमे रमू, यह ही श्रावककी इच्छा रहती है, यह मैं इस पदमे हू यह आफत है, यह कब निवृत्त हो, मैं कब आत्मामे रमू, ऐसी उसे धुन रहती है, अगर नही है आत्मस्वरूप की समक्षता तो वहाँ अध्यवसाय है जो ससारका बध करने वाला है। तो मैं पुण्यवान हू, पापी हू, ध्यानी हू, बुद्धिमान हू, ये सभी के सभी अध्यवसाय मिथ्यात्वमे ही तो है, जैसे बताया ना—"मैं सुखी दुखी मैं रक राव, ये सब मिथ्यात्व ही तो हैं, ये अध्यवसाय हैं, मैं सुखी हू क्या, उस इन्द्रियज भोगोप-भोगके कारण क्या मैं मौज वाला हू ? ऐसा मेरा स्वरूप है क्या ? मेरा स्वरूप तो अखण्ड चैतन्य स्वभाव रूप है। अन्य किसी रूप मैं नही हू, आस्थाकी बात कही जा रही है। करना तो सब कुछ पडता है। जैसे जिसका कोई खास इष्ट मर गया तो अब वही है धुनमे, वही उसकी नजरमे है। सो अब वह खाता पीता नही है क्या। अरे खाना पीना तो पडता ही है। मानो एक दो दिन न खायगा, मगर रोज-रोज खाये बिना चलता तो नही, और भी सारे काम उसे करने पडते, मगर उसकी धुनमे वही बात रहती जिसके ऊपर उसका ख्याल है। इसी प्रकार गृहस्थ श्रावक साधु जो जो भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है वे इन सब क्रियावोको करते हुए भी समझते कि ये तो गले पडे बजाय सरे, उस प्रकारका विपाक है, वह स्थिति बन रही, ऐसा होनेपर भी उसकी धुन, उसकी दृष्टि एक अपने आत्मस्वरूपमे यह मैं हू, ऐसी रहती है। अब इसको कोई नही बहका सकता और, और लौकिक बातोमे किसी भी बातमे कभी भ्रममे पड जाय मगर आत्मस्वरूपके बारेमें ज्ञानी जीवको कभी भ्रम नही हो सकता।

१३६१—सम्यग्दृष्टिकी अपनेको सुखी दुखी आदि माननेके अध्यवसायसे अतीतता—

सम्यग्दृष्टिकी दृढ आस्था है कि मैं सहज चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ, यह ज्ञानी जीव अध्यवसाय द्वारा अपनेको दुखी नही बनाता है वह बात कही जा रही है। मैं गरीब हूँ, अरे आत्मा कही गरीब होता। आत्मा तो ज्ञान दर्शन शक्ति आनन्दका पिण्ड है, उसमे गरीबोकी बात क्या ? सब जीव एक समान, सब मनुष्य एक समान, यहाँ गरीब अमीर अन्य बातका भेद नही है। स्वरूपको देखो—अगर ऐसा न मानकर कोई मानता है कि मै गरीब हूँ तो हमने क्या किया ? अध्यवसायके द्वारा अपनेको गरीब बना डाला। मैं अमीर हूँ, कोई बाहरी पदार्थके सम्बन्धसे अमीर बना क्या ? आत्मा अमीर है तो अपनी ज्ञान दर्शन निधिके कारण अमीर है, बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धसे अमीर नही है। अगर मानलो अमीर है, तो मैं अमीर हूँ के अध्यवसायसे अपनेको अमीर बना डाला। इस जीवने इन मिथ्या अध्यवसायोके द्वारा अपनेको न जाने क्या क्या बना डाला। मैं प्रभाव वाला हूँ, मेरा गोधन है, मैं इतना वैभव सम्पन्न हूँ, मैं पुत्रो वाला हूँ, मैं स्त्री वाला हूँ, मैं बलवान हूँ, ये सब अध्यवसाय बने रहे,

क्योंकि मूलमे तो यह जीव केवल एक चैतन्यप्रकाश मात्र है।

१३६२--मुनित्व परिणतिके अध्यवसायमे भी शिवपथबाधा--

बताते है कि मुनि होकर भी, और कोल्हूमे पिलकर भी और शत्रुपर द्वेष न रखकर भी कोई मुनि मिथ्यादृष्टि रह जाता है तो वहा कारण क्या है ? वह अपनी परिणतिमे अह बुद्धि रखता, पहले तो यह ही अहबुद्धि रखता कि मैं मुनि हूँ, मुझे समता रखना चाहिए। देखिये भीतरमे उसने मुनित्व से अपना ऐसा लगाव लगाया कि यह भूल गया कि मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, उसकी बात कही जा रही है कि कोई मुनि कोल्हूमे पिल रहा, उसकी हड्डियाँ पिस रही, मरण हो रहा, और उसके उपयोगमे यह अनुभव बना हुआ है कि मैं मुनि हूं, मरण हो तो हो जाय मगर विरोधीपर द्वेष न करना। वहाँ उस स्थितिमे भी उस मुनिपनेमे अहबुद्धि होनेके कारण वहाँ भी अध्यवसाय चल रहा, मिथ्यात्व चल रहा। तो अध्यवसायकी बात कही जा रही, कैसे कैसे सूक्ष्म अध्यवसाय होते हैं, तो इसी प्रकार अनेक प्रकार से यह जीव अध्यवसायके द्वारा अपनेको नानारूप बनाता रहता है।

१३६३--ज्ञायमानाध्यवसायसे अपनेको नानारूपीकरणमे पातन--

तीसरी प्रकारका अध्यवसाय है ज्ञायमानका अध्यवसाय करना। जो कुछ हमारे ज्ञानमे आ रहा उस रूप अपनेको अनुभवना, यह है ज्ञायमान अध्यवसाय। जैसे किसीका ध्यान बनाया, जिसमें मोह है ऐसी वस्तुका ध्यान बनाया तो ऐसा ध्यान बन गया कि उसका ध्यान बस वही निरन्तर चलता रहता है, उस उस ही रूप बस उपयोग चल रहा और अपनेको भूल गया कि मैं क्या हू। एक ध्यान की ही तो बात है। नाटकोमे देखा होगा बच्चे लोग अपने-अपने पार्ट अदा करते हैं, तो जिसका पार्ट अदा करना है उसके प्रति उस पार्ट करने वाले बच्चेका इतना ध्यान बन जाता है कि वह उसी रूप अपनेको अनुभव करने लगता और यह भूल जाता कि मैं अमुक बालक हू। और पार्ट भी वह तब ही सही ढगमे अदा कर सकता, मगर एक बात है कि अगर अपनेको उस रूप बहुत अधिक रूपमें अनुभव कर ले तो उससे बडा अनर्थ भी हो सकता। कथामे घटना हो तो कभी किसी दूसरे पार्ट करने वाले बालकका सिर ही उडा दे। तो वहाँ जो उस पार्ट करने वाले बालकने अपनेको उस दूसरे रूप अनुभव किया वह भी अध्यवसाय है। कोई धर्म अधर्म जैसे बडे सूक्ष्म द्रव्योका चिंतन करे, और ऐसा चिन्तन हो रहा कि वहा स्वपरका कुछ विवेक नही, मिथ्यात्व अज्ञान बसा, बस जिसको जानना सो बडी लगनमे जानना और एकमेक रहकर जानता, लो यहाँ भी एक अध्यवसाय हो गया। क्यो जी, कभी सूक्ष्म बातपर चर्चा भी होती है, धर्मकी चर्चा, तो वहाँ चर्चा करते-करते गुस्सा भी आ जाती है, लडाई भी हो जाती है, गाली गलौजकी भी नौबत आ जाती है, होता है ना कभी कभी ऐसा, तो उसका कारण क्या है ? ज्ञायमान अध्यवसायमे जो जाननेमे आ रहा उसके अध्यवसायीके ऐसा अध्यवसाय बन गया कि उस प्रकार करनेकी चीजमे कोई विघ्न पड जाय, जो मैं सोच रहा हू, जो मैं विचार रहा हू, इसमे अगर कोई प्रतिकूल बात बोले, अथवा इसके खिलाफ कोई दूसरी बात कहे तो उसे यो लगता है कि मानो मैं ही मर गया और उस विचारमे उसने इतना अध्यवसाय बनाया कि वह अपना उसने अभाव समझता है।

१३६४--अज्ञानीके परका स्वका परमार्थ आदर करनेके साहसका अभाव--

अज्ञानीको यह साहस नही जगता कि कोई न माने तो उसमे मेरा क्या है ? उसका ही परिणाम है। उसके अन्दर भी ज्ञान है। प्रथम तो जहाँ तक हो, ऐसी दृष्टि करना चाहिए कि जगत मे जितने

प्राणी है वे सब ज्ञान करने वाले है, और ज्ञानमे अपनी दृष्टिसे सही विचारता है, बुद्धिमान केवल मैं ही नही हू, सबके अन्दर बुद्धि है, और जो कोई जो कुछ ख्याल करता है धर्मके मामलेमे वह किसी न किसी दृष्टिमे ठीक है, ऐसा भाव रखकर उसकी ही दृष्टिसे कोई परख करे कि इस दृष्टिसे यह बात वह रहे हैं, इस दृष्टिसे इसकी यह चर्चा है । अपनेको विवादरहित बनानेसे अपना कल्याण है और बात भी सही है । और जैसा कह रहे कल्याणके इच्छुक पुरुष वे अपनी-अपनी दृष्टिमे ठीक कह रहे, मगर दृष्टिको जब नही परखा है तो वहाँ विवाद होता है, जैसे एकने कहा कि जीव नित्य है, नित्य अपरिणामी है, उसकी दृष्टि लगाओ । वह द्रव्यदृष्टि, स्वरूपदृष्टि, स्वभावदृष्टिसे उसका समर्थन करता है, इतनेमे बौद्ध बोले कि जीव तो क्षणिक है, अनित्य है, उसमे अब दृष्टि लगा लीजिए, पर्याय दृष्टि, पर्याय चूकि प्रति समय भिन्न-भिन्न है, व्यतिरेकी है सो क्षणिक है ही । तो दृष्टि जब लगा ली तब वहाँ कुछ विवाद न रहा, अब समझा कि यह जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है ।

१३६५—अखण्ड होनेपर भी पदार्थका नानाधर्मिताके रूपमे परिचयकी आवश्यकता—

अब कोई ऐसी बात कहे कि कही भी दो बातें नही कहो, बात तो एक ही होती है ।" अरे एक बात जो होती है वह अवक्तव्य होती है । एक बात कहनेमे नही आती, कहने वाली एक बात नही होती है । अखण्ड अवक्तव्य जो तत्त्व है वह है अद्वैत, मगर जब कहने बैठे तो कहनेमे कोई शब्द आ गया और शब्द जितने हैं वे विशेषणरूप है । कोई विशेष्य शब्द नही है जिसका नाम हो । शुद्ध नाम किसी का नही है । कुछ भी नाम बने वह विशेषण है, जैसे कोई कहे चौकी, तो यह कोई उसका शुद्ध नाम तो नही । यह तो उसका विशेषण है, कैसे कि जिसमे चार कोने हो सो चौकी । यो आप किसी भी चीजका नाम ले, सभी नामोमे उस चीजकी तारीफ या विशेषता बताने वाली बात मिलेगी । किसी चीजमे कोई नाम नही पडा है, पर उसकी तारीफमे हम नामकी कल्पना कर लेते हैं, तो जब प्रतिपादन करने चले तो वहाँ दो बातें आयी, दसो बाते आती, हजारो बाते आती, क्योकि शब्द अनेक हैं । जब शब्द अनेक हैं तो वहाँ दृष्टियाँ भी अनेक होती हैं । और, जितनी ये दृष्टियाँ है उतने नय है, और व्यवहारके द्वारा विशेषण बनता है, तो यहाँ जितना जो कुछ अपने बारेमे सोचा जा रहा है कि जो भी परिणति हो रही है वह सब विनश्वर परिणति हो तो है, उसमे आत्मबुद्धि करना, मैं हूँ यह, मैं करता हूँ यह, इस प्रकारसे ससारबन्धक अध्यवसाय बनता है, और यह अध्यवसायसे अपनेको क्या-क्या नही बना डालता है ।

१३६६—अध्यवसायोकी निष्फलता—

ये अध्यवसाय सब निष्फल हैं, क्यो निष्फल है कि जो जो कुछ सोचा जा रहा हो किसी दूसरी चीजके बारेमे, वहाँ आपके सोचनेसे बनता नही है । गाडी चलती है, कोई ५०-६० मन बोझा लदा होता तो उसे बैल खीचते रहते । अब उसके पीछे कोई दो चार बालक लग जाते, पीछेसे धक्का देते और यह समझ बैठते कि हमारे धक्का देनेसे गाडी चल रही । कदाचित् बैल रुक जाते, गाडी खडी हो जाती तो उनके धक्का देनेसे गाडी नही चलती तो वहाँ वे अपनेको दु खी अनुभव करते । तो वह उन बालकोका अध्यवसाय ही तो कहलाया । पर पदार्थोमे किसी भी प्रकारका अध्यवसाय रखना, अहबुद्धि करना, उस रूप मानना ये सब अध्यवसाय हैं । कथानकोमे सुना होगा कि सीताका जीव मरकर १६वें स्वर्गका प्रतीन्द्र बना इधर श्रीरामको भी वैराग्य हुआ, श्रीराम निर्ग्रन्थ दशामे तपश्चरणमे रत थे । वहाँ उस प्रतीन्द्रने अवधिज्ञानसे जाना श्रीरामके सम्बन्धमे । तो उसने विचार किया कि अभी श्रीरा

को डिगा देना चाहिये ताकि अभी ये मोक्ष न जावें। हम और वह दोनो एक साथ मोक्ष जायेंगे। तो उस प्रतीन्द्रने श्रीरामके सम्मुख आकर दिव्याङ्गना बनकर बडे हावभाव दिखाये। न चिगे ध्यानसे श्रीराम तो यहाँ तक दृश्य दिखाया कि रावण सीताके केश खीच रहा है, सीताका अपमान कर रहा है, पर श्रीराम वहाँ रच भी विचलित न हुये। आखिर श्रीरामका उस ध्यानके प्रतापमे निर्वाण हुआ। तो यहाँ कौन किसके परिणामोको बदल सकता ? यह जीव चाहता है कि मैं इसको (अपने इष्टको) बाँधकर रखूँ, इसका परिणमन अपने मन माफिक करूँ, पर यह बात हो कैसे सकती ? कोई किसी दूसरेके परिणामोको बदलनेमे समर्थ नही। हाँ अगर उस दूसरेका खुदका ही परिणाम बदल जाय उसके कहे माफिक तो वह बात दूसरी है। तो ये सब इस जीवके मिथ्या अध्यवसाय हैं।

१३६७—अध्यवसायोमे स्वार्थक्रियाकारिताका अभाव—

कोई पुरुष अपने मनमे यह कल्पना करता कि मै इसे सुखी कर दू, और मेरे घरके ये बाल बच्चे भी सुखी हो जायें ऐसा कौन नही सोचता ? सोचते सब हैं मगर किसी के सोचनेसे कोई बात बन पाती है क्या ? कभी कोई बीमार होता, कभी कोई दरिद्र होता, कभी कोई पागल बन जाता, न जाने क्या से क्या स्थितिया बन जाया करती। लोग बहुत सोचते कि मैं अपनी सतानको खूब सुखी रखू, पर वैसा हो कहाँ पाता ? यदि उस सतानके पापका उदय है तो उसका पिता कितना ही उसके लिए जोडकर धर जाय, मगर वह सब कुछ ही दिनोमे समाप्त हो जाता है। कथानकोमे सुना होगा कि जब राजाने अकृतपुण्य पुत्रको राज्यसे बाहर निकल जानेका आदेश दे दिया तो उसकी माता भी साथ गई। कितना ही धन, कितना ही अनाज उसके साथ भेजा था, पर उसके पापोदयसे मुहरें आग बन गई सारा धन खतम हो गया। सारा अनाज बिखर बिखरकर खतम हो गया। तो यहाँ कौन किसको सुखी बना सकता और कौन किसे दु खी बना सकता। सबके साथ अपने-अपने कर्मोदय हैं, परिणाम है। अपने अपने कर्मोदयानुसार परिणामोके अनुसार ही सब सुखी दु खी होते। तो जीवके ये सब अध्यवसान निष्फल हैं। जैसे कोई आकाशके फूलोकी माला बना नही सकता, खरगोशके सीगोका धनुष बना नही सकता इसी प्रकार कोई किसी को सुखी अथवा दु खी बना नही सकता। ससारके जितने भी जीव सुखी अथवा दु खी होते हैं वे सब अपने-अपने कर्मोदयसे ही सुखी दु खी होते है। अगर कोई मुक्ति पाता है तो वह भी अपने आपके निर्मल शुद्धोपयोगके परिणामसे स्वय ही मुक्त होता है और जो ससारमे भटकता है वह भी अपने अपने इस अध्यवसायके कारण ही भटकता है। तो जानना कि ये अध्यवसाय निष्फल हैं।

१३६८—अध्यवसायसे विमोहित न होकर अन्तस्तत्त्वमे स्वका अनुभव करनेका अनुरोध—

अध्यवसायोमे मुग्ध न होना। इन सबसे भिन्न जो एक अपना अतस्तत्त्व है उसमे ही आस्था रखना कि मैं यह चैतन्यस्वरूप आनन्दघन आत्मतत्त्व हूँ। देखिये एकका सहारा रखेंगे तो कल्याण होगा, और यदि अनेकका सहारा रखेंगे तो डूब जायेंगे। अनेकोको न अपनाना, एकको अपनाना। मैं यह ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। अन्तस्तत्त्वकी उपासनामे अध्यवसाय न रहेगा। वर्तमान सग प्रसग को भूल जावो। चाहे कोई कितना ही बडा हो, कितना ही वैभवशाली हो, मगर इसको भूल जावो कि मैं वैभववान हूँ, और यह ध्यानमे रखो कि मैं मात्र चैतन्यस्वरूप हूँ। अगर पर्यायके बडप्पनपर दृष्टि गई तो सासारिक पर्याय ही पर्याय मिलते रहेगे। यह निश्चित बात है, क्योकि राजा भी मरकर कीट बन जाता है। पर्यायके बडप्पनमे जो एक चित्त लगा है, उपयोग लगा है—मैं मिनिष्टर हूँ, मैं

आफीसर हूँ, मैं वैज्ञानिक हूँ, ऊँचा हूँ, इस प्रकारका जो उसमे भाव लगा है वह भाव एक मिथ्यात्व वाला भाव है, अध्यवसाय है। उसका फल ससारवध है और वहाँ खोटी गति, खोटी आयुका बधन होता है, इसलिए एक ही निर्णय रखे, परिणतिसे उपेक्षा हो, अपने आपके एकत्व स्वरूपका भान हो, उसकी ही धुन हो, उसका ही अनुभवन हो। एक मात्र विशुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र यह मैं हूँ, इसका बार-बार अनुभव होना चाहिये, इसमे ही अपनी विजय है।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वं,
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१७२॥

१३६९—पराध्यवसायोंकी मिथ्यारूपता—

प्रकरण यह चल रहा था कि यह अज्ञानी जीव पर पदार्थोंके बारेमे नाना तरहके अध्यवसाय करता है और उन अध्यवसायोंसे अपनेको नानारूप बनाता रहता है। अब इस छदमे यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जिसके बारेमे यह जीव अध्यवसाय करता है, विकल्प करता है वे सब अत्यन्त भिन्न है। सारे विश्वसे, समस्त विषय साधनोसे यह आत्मा विभक्त है, निराला है, जिस जीवके बारेमे अज्ञानीने विचार किया कि मैं इसको मारूँ, जिलाऊँ, पालूँ, कुछ भी विचार किया तो यह जीव इससे मिला है या निराला है? एकका दूसरेमे अत्यन्ताभाव है, याने त्रिकाल निराला पदार्थ है। मैं अन्य आत्मामे मिल नही सकता। जितने भी ये बाहरी साधन है इन सबमे इस आत्माका त्रिकाल अभाव है, अत्यन्ताभाव है, कभी यह मिल जुल नही सकता। घरमे रहते तो इस प्रकारका प्रयोग तो करें रोज-रोज कि जिन बच्चोमे प्रीति है उनको सामने बैठाये हो या गोदमे ले लिया हो तो उसके बारेमें विचार तो करें कि यह जो जीव है इसमे मेरा जीव मिला जुला है या अत्यन्ताभाव है? मैं और यह कभी भी एक नही हो सकता। इसके कर्मका उदय, इसकी परिणति इसके परिणामसे चलती है, इससे मेरा सम्बन्ध नही कुछ, फिर भी उसके बारेमे यह विचार करना कि मैं इस भैयाको, इस राजाको ऐसा पढाऊँगा, ऐसा करूँगा, यह बडा होगा, कमायेगा मुझे खिलायेगा ' यो खूब अध्यवसाय करते रोज-रोज, मगर उसका कुछ पता भी तो नही कि बडा होकर वह क्या करेगा।

१३७०—अज्ञानीके अज्ञानसे विश्वका आत्मीकरण—

यह जीव तो इस ससारमे अकेले ही जन्म मरण कर रहा है, खुदके खुद ही अकेले जिम्मेदार हैं, अब इस जीवका कोई रक्षक तो नही है बाहरमे, मगर यह आत्मा अध्यवसाय बनाता रहता है। विश्व से सबसे निराला है यह जीव, मगर इसने सारे विश्वको मान लिया, विश्वरूप अपनेको बना डाला उसमे किसका प्रभाव है? अध्यवसायका, अज्ञानका। अज्ञानका ऐसा प्रभाव है कि सारा विश्व न्यारा है, लेकिन इस सारे विश्वको इसने अपने रूप बना डाला, मैं हू, मेरा है, ऐसे अपने स्वरूपकी सुध नही, देखो ज्ञानमे बढो और ऐसे निर्मलभावसे ठहरो कि सब जीवोके प्रति समता परिणाम हो, यह तो दयाकी बात है, जो अपनी दया करेगा वह पार होगा, न करेगा तो ससारमे रुलेगा। किसी जीवके प्रति यह बात न आये कि ये सब गैर हैं और ये मेरे हैं, व्यवहारमे कहना पडता है, रहना पडता है, वे सब बाते अलग करे, मगर जो भीतरमे एक गाँठसी लग बैठती कि ये खुदके घरके दो चार जीव तो मेरे हैं, बाकी सब गैर हैं और इतना गैर रूपसे निरखते कि मानो उनकी जान ही न हो। तो ऐसी बुद्धि जब तक है तब तक स्वानुभवकी पात्रता भी नही होती, इस कारण यह अध्यवसाय त्यागने योग्य है। सब जीवोमे स्वरूपको निरखे, सबका स्वरूप समान है, फिर कौन मेरा कौन गैर? गैर है

तो सब, और मेरे हैं तो सब। उनमे यह छटनी होना कि ये मेरे है, ये गैर हैं, यह किसका घात करेगा? खुदका यह आत्महनन है, इस मोहमे, रागमे, द्वेपमे, अध्यवसायमे आत्महनन है, जैसे भी बने शुद्ध ज्ञानार्जन करें, अपने आप पर ही करुणा करना है, एक आत्महितकी भावनासे ही ज्ञानका प्रयोग करना और अपने ज्ञान द्वारा अपनेमे अन्त प्रकाशमान इस सहज ज्ञानमात्र भगवान आत्मस्वरूपका अनुभव करना है। यह हो तो सब ठीक और ये न होगे तो चाहे दुनियामे दिखानेके लिए कुछ भी कर दिया जाय, मगर उससे पार नही हो सकते।

१३७१—विश्वसे विभक्त होनेपर भी अज्ञानसे आत्माका विश्वरूपीकरण—

यह जीव सारे विश्वसे विभक्त है फिर भी इस अध्यवसायके प्रभावसे यह आत्मा अपने को नाना विश्वरूप बना डालता है, मैं तिर्यञ्च हू, नारकी हू, देव हू, उसमे यह तो बात एकाएक नही आती समझमे, इस समय तो समझमे आता है कि मैं मनुष्य व्यापारी हूँ सर्विस वाला हूँ, ज्ञानी हूँ, बुद्धिमान हूँ, मूर्ख हूँ, कितनी-कितनी तरह के अध्यवसायसे अपनेको नाना रूप कर रहे हैं, यह परखमे नही आता कि यह मैं तो इन लदानोसे रीता हूँ, ये कर्मरस हैं, मैं अपने गुणोसे भरपूर हूँ, मगर जिनसे मैं भरपूर मानता चला आया था भ्रममे उनमे तो यह ज्ञानमात्र मैं बिल्कुल रिक्त शून्य हूँ, अकेला, अमूर्त प्रकाशमान हूँ, यह मैं परमार्थभूत पदार्थ हूँ, यह अमूर्त है। यदि अपने आपमे बसे हुए इस अन्त स्वरूपकी दृष्टि बने तो यह अमृतपान किया और इसको छोडकर बाहरी पदार्थोमे चाहे धर्मके नाम पर, चाहे परिवारके नामपर, चाहे अन्य लौकिक प्रतिष्ठाके नामपर, किसी भी बातपर यदि बाह्य पदार्थोमे अध्यवसाय रखे तो वह विषपान है, अमृतको पियो और विषको त्यागो, रागद्वेष परिणाम छोडो, अपनेमे समता लावो। रहना तो कुछ यहाँ है नही, आपके साथ न सदा मकान रहेगा न परिवार, मरकर न जाने कहाँ से कहाँ पहुचता है जीव न जाने मरकर किस जगह गया, किस पर्यायमे गया। कुछ पता भी है क्या? फिर वर्तमानमे जो सग मिला है इसमे विमोहित होना यह कितनी मूढताकी बात है, अपनेमे ज्ञानप्रकाश लावें और इस नरभवको सफल करें। मुझसे सब कुछ ये बाहरी पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं, मगर अज्ञान अवस्थामे परपदार्थमे अपना उपयोग जुटाकर नाना तरहके अध्यवसाय बनाये गये।

१३७२—अध्यवसायोंका त्रैविध्य—

यहाँ अध्यवसायका जिक्र हुआ है, ये तीन तरहके अध्यवसाय हैं—क्रियागर्भ अध्यवसाय, मैं करता हूँ, मारता हूँ, पढाता हूँ, जिलाता हूँ कितनी-कितनी तरहकी क्रियायें हैं। दूसरा अध्यवसाय है विपच न अध्यवसाय—मैं नारकी हूँ, तिर्यञ्च हूँ, व्यापारी हूँ, रोजगारी हूँ, अमुक हूँ तमुक हूँ। इस प्र व्यवहार काम तो चलता है, मगर आस्थामे यह बात रहना चाहिये कि मैं चैतन्यप्रकाशमात्र अमूर्त नामरहित भगवान आत्मतत्त्व हूँ, यह आस्था रहना चाहिए हर जगह, मगर अज्ञान अवस्थामे इस ओर दृष्टि नही पहुँचती और बस निरन्तर अपने नामकी चाह रहती। मानो किसी जगह ५० आदमी सो रहे, उनमे से किसीका नाम लेकर किसी ने पुकारा तो जिसका वह नाम हुआ वह झट उठकर बैठ जाता, इतना तेज अपने नामका सस्कार इन जीवोके पडा है। तो बात यह कह रहे कि नाम का सस्कार कैसा भिदा पडा है अतरगमे, मैं अमुक हूँ, अरे मैं तो एक निर्नाम चैतन्य प्रकाशमात्र आत्मतत्त्व हूँ। देखिये—बडी साधनाकी जरूरत है। और, इसके लिए समस्त बाह्य पदार्थोंका परिहार करनेका साहस होना चाहिए। यहाँ तो लोग व्यर्थ ही अपनी शान लिए फिर रहे। जैसे कि लगूर

अपनी पूँछ ऊपर किए फिर रहा ऐसे ही ये मनुष्य अपनी शान पूँछकी तरह सम्हाले हुए चल रहे। शान लग रही है पीछे पीछे, जैसे कि पूँछ लगी है बिल्कुल पीछे। जैसे यह लगूर अपनी पूँछ उठाकर सम्हाल सम्हालकर बडी उमग बनाता है इसी तरह यह अज्ञानी जीव अपनी शानको पूँछकी तरह उठाये उठाये फिरता और दु खी होता है। कहाँकी शान ? भीतर तो देखो चैतन्यप्रकाशमात्र यह परम ब्रह्म तत्त्व हूँ मैं। इसकी बाहर शान कुछ नही।

१३७३—शान मानके अध्यवसायको सभी उपायोसे दूर करनेका अनुरोध—

भैया, कल्याणकी भावना है तो कभी कुछ समय जान-जानकर भी अपमान कराना चाहिए ऐसा मेरा ख्याल है ताकि अपना ठिकाना फिट तो बैठ जाय। एक बारकी बात सुनो हमने देहरादूनमे चौमासा किया, तो वहाँ पर सभी लोग बडे विनयमे श्रद्धाभक्तिसे तो रखते ही थे। ऐसा तो प्राय सभी जगह होता है। तो वहाँ पर रोज रोज अपने प्रति प्रशमायें लोगोके मुखसे सुननेमे आवें। अब कहाँ तक सुने, ऊब गये। एक दिन हमे यह बात सूझी कि कुछ ऐसा काम करें कि जिससे कुछ निन्दा, अपमान या गालीकी जैसी बाते सुननेको मिले, आखिर किया क्या कि प्रात काल शौच क्रियाके लिये बाहर जाते थे रास्ते मे देखा कि कुछ पजाबियो के लडके गोली खेल रहे थे, तो वहाँ हमने जानबूझकर उन लडकोकी गोलियोको पैर मारकर मामूली जरासा इधर उधर बिखेर दिया। बस शुरू हो गया ऊट पटाँग गाली देना उन बालकोका। तो वहाँ हमको सतोष मिला कि देखो जो हम चाहते थे सो हमें मिल गया। आखिर समतासे उन्हे सुनकर आगे बढ गया, क्षोभका अवकाश वहाँ न आने पाया। वेदान्तकी टीकामे एक कथा है कि कोई गुरु शिष्य थे। वे बहुत पहुँचे हुये माने जाते थे। उनकी प्रशसाये चारो ओर खूब फैल रही थी। उनका चमत्कार देखकर लोगोका समूह उनके पास आता जाता था। वे बस्तीसे बाहर एक पहाडीपर रहते थे। वहाँके राजाने भी उनकी प्रशसाकी बाते सुनकर उनके दर्शनार्थ अपना प्रोग्राम बनाया। खूब सज धजकर एक बडे समूहके साथ चल दिया राजा। उधर गुरु को यह सब भीडभाड एक अपने ऊपर आफत दिखने लगी, जब यह जानकारी हुई कि राजा भी मेरे दर्शनार्थ आ रहा है तो समझा कि अब तो और भी आफत आ गई, आखिर उसने सारी आफतोसे बचनेका एक उपाय बनाया। क्या उपाय बनाया कि अपने शिष्यको समझा दिया कि देखो आज अपने पास राजा आयगा। उसके सामने हम तुम दोनो रोटियोके लिये इस तरहसे झगडेगे। सब समझा दिया। आखिर राजा एक बहुत बडे समूहके साथ आया, आते ही गुरु शिष्य दोनो परस्परमे रोटियोके लिए झगडने लगे, अरे आज तो हमको दो ही रोटियाँ दी, तुमने तो ६ खाया। कल आपने भी तो ६ खाया था, हमने तो सिर्फ दो ही खाया था। राजा यह सुनकर दग रह गया, सोचने लगा—अरे काहेके साधु ! ये तो रोटियोके लिये लडते फिरते, हमने तो इनकी बडी बडी चमत्कारकी बाते सुनी थी, पर यहाँ तो कही कुछ नही। राजा तुरन्त समूह सहित वापिस लौट गया। बादमे गुरु बोला अपने शिष्यसे—देखो अब तो अपना काम बन गया। यदि लोगोका अधिक आना जाना बना रहता तो वह तो अपने लिए एक आफत थी। तो मतलब यह है कि यहाँ नामवरीकी बात क्या सोचना ? उस बाहरी सम्मानमे धरा क्या है ? बल्कि वहाँ अशाँति है। यदि शान्ति चाहिये हो तो कभी अपमान की बात हो रही हो तो उसका भी स्वागत करें।

१३७४—अध्यवसायोकी मोहमूलता—

यहाँ जितनी जो कुछ अटपट बातें लोगोंमें दिख रही हैं वह सब एक इस अध्यवसायका ही प्रभाव

है। यह अध्यवसाय कैसा है ? मोह ही जिसकी एक जड है। यह अध्यवसाय क्यो बनता है ? बाह्य पदार्थोंमे लगाव है प्रीति है तो ये अध्यवसाय बनते है। इन सबकी जड है मोह। मोहके मायने क्या ? अज्ञान, बहुतसे लोग तो इस मोहमे और रागमे कुछ भेद नही समझते मोहमे भी प्रेम होता और रागमे भी प्रेम होता। लोग यो मोटे रूपमे मोह और रागमे फर्क नही समझते पर जैसे मोहमे राग होता ऐसे ही मोहमे द्वेष नही होता क्या ? द्वेष भी होता। तो राग और द्वेष इन दोनो परिणतियोसे न्यारी परिणति है मोहकी, वह कैसे ? मोहके मायने अज्ञान है जैसे हाथीको पकडने वाले शिकारी लोग क्या करते कि जगलमे एक बडा गड्ढा खोदते, उस गड्ढेको बासकी पतली पतली पञ्चोसे पाटते, उसपर ऊपर पतली सी मिट्टी लीपते, फिर उसके ऊपर एक बासोकी कागज वगैरह चिपकाकर हथिनी बनाते, उससे कुछ ही दूरीपर उसकी ओर बढता हुआ एक झूठा हाथी बनाते। अब उस जगलका हाथी वहा आता, उस हथिनीको देखता, साथ ही उसकी ओर बढता हुआ हाथीको भी देखता तो झट उस हथिनीके पास दौड लगाकर पहुचता, वहा पहुचते ही वह हाथी उस गड्ढेमे गिर जाता, धीरे धीरे वह हाथी शिकारियोके चगुलमे फस जाता। अब देखिये जगलमे उस हाथीकी यह दशा क्यो हुई ? क्यो गिरा वह हाथी गड्ढेमे ? तो उसके गड्ढेमे गिरनेके तीन कारण हुए पहला कारण तो है अज्ञान (मोह) उसके ज्ञानमे यह बात न थी कि यह झूठी (बनावटी) हथिनी है, यहा गड्ढा है यह हमको पकडने के लिए रचना है। दूसरी बात उस हथिनी (कुट्टनी) के प्रति उसे राग हुआ और तीसरी बात उस नकली बनावटी हाथीके प्रति द्वेष जगा कि यह मेरा विषय छुडाने आ रहा। तो अब यहा अन्तर आ गया ना मोह राग द्वेषका ? द्वेष क्या चीज है ? जिस विषय को हम चाहते हैं उस विषयमे कोई बाधा डाले, प्रतिकूल बात बोले तो वह यद्यपि अपनी कषायका ही काम करता है, मगर इसने तो बाधा समझा उसे। उसे मान लिया कि यह राग द्वेषकी चीज है तो मोह राग द्वेष ये अध्यवसायके मूलमे हैं।

१३७५—क्रियागर्भाध्यवसाय व विपच्यमानाध्यवसायकी मिथ्यारूपताका दिग्दर्शन—

मोह ही जिसका एक मूल है, ऐसा अध्यवसाय जिसके नही है वह ही पुरुष यति, मुनि, साधु, साधक याने आत्मविकासमे प्रयत्न करने वाला है। वे सब मोहमूलिक अध्यवसाय हैं, जैसे कि पहला अध्यवसाय क्या ? मैं अमुकको करता हूँ, मैं पढाता हूँ, लिखाता हूँ, इसका सब कुछ करता हूँ, तो अब वहाँ इतना ज्ञान न रहा कि मैं हूँ ज्ञानमात्र अन्त प्रकाश और मेरी क्रिया जानन है। भीतर ज्ञान स्वरूप है ना यह जीव आत्मा ज्ञानमात्र अमूर्त, जिसका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नही, वचनो द्वारा नही, उपयोग वैसा बनावें, प्रयोग करें वैसा बन सकें तो अपना आत्मस्वरूप अनुभवमे आ जायगा। मैं ज्ञान मात्र हूँ मेरा काम तो जानन है जो इस स्वरूपमे ही, अन्दर प्रदेशोमे ही स्वच्छ तरग जानन रूपसे उठ रही है, जिसमे रागद्वेषकी कोई कीचड नही, कोई विकल्प नही, विशुद्ध जानन क्रिया है, मेरा काम तो विशुद्ध जानन है, खाना पीना, लिखना पढना, अमुक तमुक जो कुछ भी बातें चल रही है ये रागद्वेषके उदयमय क्रियाये चल रही हैं, इनकोमे नही करता मैं तो जानन को ही करता देखो काम ही स्वभावके आश्रयका और स्वभावका आश्रय सुगमतासे जानना है तो एक बार निमित्तनैमित्तिकभावके यथार्थ परिचयके माध्यमसे प्राप्त करने तो चले उसके बाद परम शुद्धनिश्चयनय बनेगा, अनन्तर शुद्धनय होकर ऐसा जल्दी उतरेगे स्वभावमे कि और आसानी रहेगी, उस परिचयमे आपको दिखगा क्या कि ये जो रागद्वेष विकार क्रियाये जितनी भी ये विकृतियाँ है ये मूलमे तो कर्ममे पडी हुई हैं और उस विकार रूपसे परिणम रहे कर्म का यह प्रतिफलन है क्योकि मैं उपयोग दर्पण की तरह स्वच्छ हूँ उसमे इसकी

फोटो है, प्रतिफलन है यह मैं नही, यह मेरे स्वरूपकी चीज नही । यह तो पौद्गलिक नैमित्तिक औपाधिक है, मै तो अन्त चैतन्य स्वभावमात्र हूँ । देखिये विभावमे उपेक्षा कब बनेगी, जब वे परभाव है, यह बात समझमे आयगी और परभाव हैं, यह समझ बनानेके लिए समयसारमें इस बातपर जोर दिया कर्मोदयविपाकप्रभवा भावा परभावा न ते मम स्वभावा' ये कर्मोदयविपाकप्रभव, ये विकृतियाँ विभाव हैं मेरे स्वरूप नही, मैं तो अपने अन्त जानन क्रियाको करता हूँ, अपने स्वरूपमे ही रहता।

१३७६—स्वभावाभिमुख होकर स्वभावस्थ होनेके पौरुषकी श्लाघनीयता—

अन्त' स्वभावके परिचयका उद्देश्य केवल एक ही है किसी भी तरह उन सर्व विकल्पोसे हटकर स्वभावका आश्रय करूँ । स्वभावाश्रयके पहले शुद्धनय आता है, शुद्धनय बिना स्वभावाश्रय नही हो सकता । उस शुद्धनयसे पहले परमशुद्ध निश्चयनय आता उससे पहिले अनेक बातें आती है मगर उसका प्रयोग इस ढगसे करना होता कि जिसमे विभाव छूटे और स्वभावकी अभिमुखता बने यह ही एक प्रयोग करना । और देखो अपनेको तो अपना काम बनाना है एक चैतन्य स्वरूपका आलम्बन बनें उसमे ही मग्नता रहे एक यह बात चाहना है इसके लिए जो प्रयोग बन सके उसे करे, पर यह निश्चय है कि आखिरी प्रयोग शुद्धनय है, शुद्धनय हेय नही । जिसने शुद्धनयको नही त्यागा, जिसने शुद्धनय का ग्रहण किया उसके बध नही है, मगर और और बातें और और परिणतियाँ जो शुद्धनयसे पहले होती हैं या जो जो कुछ भी काम करके उस सबसे हम ऐसा प्रयोग बना सकते हैं कि जिससे स्वभावमे मदद पा सकते हैं, सो ये पूजन वदन आदिक क्रियायें ये मदरागमयी है, मेरी क्रिया तो ज्ञप्ति है, जानन है, ऐसा भेद जिसने जाना, अध्यवसायको जिसने मिटा दिया वह पुरुष धनी है और अपने आपमे वह एक ब्रह्म प्रकाश पाता है । ये अवस्थायें, ये परिस्थितियाँ मनुष्य, तिर्यञ्चादिक जो जो भी चीजे बन रही हैं ये मैं नही हूँ ये कर्मविपाकप्रभव हैं । मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप हूँ, मैं तो यह अन्तस्तत्त्व चैतन्यस्वभावमात्र हूँ । इसमे तो बहुत अन्तर है—कहा तो ये विकार और कहाँ यह मैं ज्ञान स्वभावमात्र ।

१३७७—ज्ञायमानाध्यवसायके मिथ्यापनका कारण—

जाननेमे जो कुछ आ रहा यह कुछ भी जाननेमे नही आ रहा । जिसको हम जान रहे हैं कि इतने लोग बैठे हैं परमार्थत ये कुछ भी मैं नही जान रहा हूँ । किन्तु मैं उस प्रकारके ज्ञेयाकार ग्रहणरूप, जाननरूप अपने आत्माको जान रहा हूँ । मेरा ज्ञान मेरे आत्मासे निकलकर कही बाहरी पदार्थोंमे भ्रमता है क्या ? जाता है क्या ? अरे यह ज्ञानराजा अपने इस ज्ञानकिलेमे ही बिराजा हुआ बस यह सब कुछ अपनेमे इन सबको जान रहा है । जैसे दर्पण सामने है तो पीठ पीछेकी दूसरी चीजे उसमे प्रतिबिम्बित होती है । देखते हैं सामने दर्पणको मगर वर्णन पीछे होने वाली सारी घटनाओंका करते जाते हैं । इसी तरह यह आत्मा देख किसे रहा, जान किसे रहा ? अपने आत्माको, अपने आत्माकी परिणतिको मगर यह समस्त विश्वाकार ग्रहण चल रहा है, इस ज्ञाताकी, इस ज्ञानकी प्रकृति ही यह है कि दुनियामे जो भी सत् है वह सब यहाँ झलके । यह जाना तो असलमे हमने जाना किसे ? अपनेको ही, मगर यह भ्रम बन गया कि मैं इसको जानता हूँ, इसको समझता हूँ, तो इसके साथ ही साथ उसमे ऐसा लीन हो जाता है कि अपने आपके उस स्वरूपको भूल जाता है । जैसे दर्पणपर अधकारका फोटो आया तो [illegible] विलुप्त हो गई इसी तरह इस उपयोगने इन बाहरी पदार्थोंमे अपना जुटान किया तो जुटान करनेके कारण अब यह उपयोगकी स्वच्छता तिरोहित हो गई । यह सब आया तो उसी पद्धतिसे [illegible], मगर अपनेको भूले और बाहरमे उपयोग जुटाया इस कारणसे यह आत्मा

पूरा अंधेरेमें है। उस समय यह अज्ञानी ज्ञायमान अर्थमे तन्मय होता हुआ अपने स्वरूपको भूलकर व्यग्र होता है।

१३७८—त्रिविधाध्यवसायरहित यतियो के आत्मतृप्ति—

ये अध्यवसाये तीनो तरहके जिन पुरुषोके नही है वे पुरुष यति हैं, मुनि है, उन मुनिजनो का निरन्तर साक्षात्कार हो नही तो प्रतीतिमे तो निरन्तर है। कभी अनुभव कभी प्रतीति यह सब है। लोग तो बडा आश्चर्य करते कि मुनिजन अकेले ही रहते हैं एकान्त निर्जन स्थानमे, फिर भी प्रसन्न रहते हैं, उनको यह इच्छा ही नही होती है कि मेरे पास कोई आये। कोई आ नही रहा, भीड नही हो रही, कुछ नही हो रहा, जगलमे उन मुनिराजके पास कोई प्रकारका सहारा देने वाला नही, कोई बात करने वाला भी नही, उनका कैसे मन लग जाता होगा ? यहाँ लोग सदेह करते ना ? अरे उन मुनिराजको तो इतना बडा भगवान मिला है कि वे उससे ही बातें करते रहते हैं। भला भगवान बातें करनेको मिल जाय तो फिर उसके आगे मोह रागद्वेषसे बात करनेकी उमंग रह सकती क्या ? उन मुनियोको जगलमें, अपने आपके आत्मामे अपना भगवान अतस्तत्त्व मिल गया उसीकी दृष्टिमे, उसीकी चर्चामे, उसीके ध्यानमे जब इसमे ही वे मग्न हो रहे, वही जब उनको आनन्द मिल रहा तो वे क्यो इच्छा करें कि मेरे पास कोई आता नही, मेरे से कोई बोलता नही, मैं कहाँ हूँ ? कोई नौकर भी नही, कोई परिवार भी नही, कुछ धेला पैसा भी नही, उन्हें क्या परवाह ? वे तो अपनी अन्त दृष्टि करके निरन्तर अमृतपान करते रहते हैं, ज्ञानमात्र अपने आत्माका अनुभव करते रहते हैं। ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वमें तृप्त होते रहते हैं, सतुष्ट होते रहते हैं। उनको अन्य किन्ही बातोकी क्या परवाह ? यो उनको सतोष होता है। तो जिन्होने इस अध्यवसायको त्याग दिया वे पुरुष अपने आपमें तृप्त रहते और मोक्षमार्गमें अपनी प्रगति बनाते हैं।

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः, तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजित ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं, शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

१३७९—अध्यवसानोमे स्वार्थक्रियाकारिताका अभाव तथा सर्वजीवसाम्यभावसे स्वभावकी अभिमुखता—

अध्यवसानका प्रकरण चल रहा था। यह अज्ञानी जीव दूसरे जीवोके प्रति कुछ भी करनेका भाव रख रहा है। मैं इसे ताढूँ, मारूँ, पालूँ, ठीक करूँ आदिक नाना प्रकारके यह परिणाम बनाता रहता है, मगर उसके ये सब परिणाम मिथ्या हैं, अर्थात् जो उन परिणामोमे विचार बनाया गया वह काम वहाँ हो ही जाय सो तो कुछ है नही, और हो भी जाय तो भी इसके परिणामकी वजहसे हुआ सो बात नहीं। इस कारण यह अध्यवसाय मिथ्या है। दूसरी बात खुदके लिये विचार करें, अध्यवसाय करके खुद क्या भला पा लेंगे, दूसरोका अनर्थ सोचकर, दूसरोको बाधा देकर, दूसरोंके विरुद्ध अपनी विकल्पधारा चलाकर, सोचें तो सही कि अपने लिये कौनसी उपलब्धि होगी ? उपलब्धि यही है पापका बन्ध है और भविष्यमे, विपाककालमे दु खी होना पडेगा। भैया, अपने आपपर दया करके एक निर्णय तो बनावें, हम उसपर कितना चल पाते या नही चल पाते, भले ही यह अन्तर आये, निर्णय यह ही होओ। ससारके सब जीव, सभी मनुष्य, सभी पडोसी मेरे स्वरूपके समान हैं, उनमे ये मेरे हैं, ये गैर हैं, ये दो बातें नही पडी हुई हैं। यह अपने अध्यवसायसे, अपनी ही कल्पनासे ये दो भेद पडे यह मेरा, यह गैर। वस्तुत: सब समान हैं सबका यही स्वरूप है। तब किसीके प्रति कुछ करनेका अहकार अनर्थका भाव न सोचें। कुछ करनेका अहकार न जगे, इसके लिये यह ज्ञान कीजिये कि मैं स्वतन्त्र सत् हूँ,

दूसरे जीव स्वतन्त्र सत् हैं। कोई किसीकी परिणति कर पाता क्या ? मैं तो दूसरे जीवोंके सुख दु खमे निमित्त तक भी नही होता। भले ही उसके पुण्यका उदय हो या पापका उदय हो, तो मैं आश्रयभूत कारण बन जाऊँ, तो वह उपयोग मेरी ओर जुटाये, ऐसा तो भले ही, हो जाय, मगर मैं दूसरेके सुख दु खमे निमित्त कारण कतई नही होता, कभी भी नही, क्योकि जीवके सुख दुःखका निमित्त कारण उनका कर्मोदय है।

१३८०—अध्यवसायोका त्याग करानेका उपदेश—

यहाँ अध्यवसाय छुडानेका प्रयत्न हो रहा आचार्यदेवका देखो सभी जगह चाहे शुभ प्रसग हो चाहे अशुभ प्रसग हो ये समस्त अध्यवसाय त्यागनेके योग्य ही है। भगवानकी पूजा हो रही, भक्ति बन रही, गुणगान हो रहा होने दो उस पदवीमे हो रहा, मगर उसमे यह भाव लानाकि मैं भगवानको पूज रहा हूँ तो भगवान तो पदार्थ हैं, है शुद्ध, मैं यह हूँ परमार्थत मैं उन्हे कैसे पूज सकता हूँ ? भगवानमे उपयोग देकर मैं अपने आपको ही तो पूज रहा हूँ जो गुण विकास मुझमे हो रहा है, मेरा जो परिणमन है उसीका ही तो नाम पूजा है अध्यवसाय न रहना चाहिए। सभी स्थितियोमे अध्यवसायको त्यागने के योग्य जिनेन्द्र देवने कहा है, सो मै ऐसा मानता हूँ कि ये सब पराश्रित भाव छुटाये गये है। याने दूसरे जीव अजीव पदार्थोंका आश्रय लेकर उनमे उपयोग जोडकर जो जो कुछ भी यहाँ करनेकी बात सोचते है, लगनेकी बात सोचते है, तन्मयताकी बात निरखते है, वे सब अध्यवसाय त्याज्य हैं उन्हे नही ग्रहण करना क्योकि वह सब मिथ्यात्वका रूप है। अपने आपकी जानन क्रियाको त्यागकर, वहाँ से दृष्टि हटाकर, स्वरूपकी सुध छोडकर क्रियामे अध्यवसाय, वस्तुमे अध्यवसाय और अपने विचारोमे अध्यवसाय होना सब मिथ्याभाव है, मैं इन सबसे निराला केवल ज्ञप्तिमात्र हूँ सो जब यह एक स्थिति है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र स्वतत्र है, कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थकी कुछ परिणति नही करता, तो फिर मै क्यो बाहरी जीवोमे नाना प्रकारकी बातें करूँ। मैं क्यो व्यर्थमे विकल्प करता रहूँ और होना वहा वह है जो वहाके विधानमे है। अध्यवसायीके विचारसे वहाँ कुछ हो नही रहा है, तब फिर मैं व्यर्थ पाप ही तो बाध रहा, मिथ्यात्व ही तो बाध रहा दु ख ही तो बाध रहा। क्यो ऐसा दु ख पाते है ये जगतके जीव ? क्यो अपने स्वरूपसे च्युत होकर बाह्य पदार्थोंमे उपयोग देकर दु खी हो रहे है ?

१३८१—जीवोको अध्यवसायरहित देखनेका परम वात्सल्य—

अध्यवसायको त्याग कर क्यो नही ये जीव अपने निष्कम्प स्वभावका आश्रय करके ज्ञानघन विशुद्ध याने मैं मैं, मैं अन्य नही ऐसा जो इसका सहज स्वरूप है अपने ही सत्त्वके कारण जो एक चैतन्य प्रकाशमान स्वरूप है उस स्वरूपमे उस महिमामे अपनेको रखकर क्यो नही धैर्य धरते ? क्यो नहीं धीरज बनाते ? अपना ज्ञानस्वरूप उत्तरोत्तर बना रहे ऐसी बात क्यो नही बनती ? अच्छा एक जरा मोटी सी बात सोच लो, लोग इस मनुष्यभवमे बडे-बडे पुलावा बाँधते रहते रागके और द्वेषके। पर यह तो बताओ कि ये जो दिखने वाले लोग है ये क्या आपके आधीन हैं ? नही, आप जैसा सोचें वैसा वहाँ हो जाये यह बात नहीं। हो भी जाय कदाचित् वह परिणमन, आपके सोचनेके समय या बाद किसी दूसरेको सुख अथवा दु ख हो भी जाय तो भी ऐसा नही है कि आपके सोचनेसे दूसरेको सुख अथवा दु ख हुआ है। फिर उस प्रकारका अहकार रखकर अपनेको ससारबधनमे क्यो डाला जाय ? सर्वजीवो मे वात्सल्य आये बिना भीतरकी बाधा दूर नही हो सकती। जिसके प्रतापसे इसके स्वानुभवकी पात्रता जगती है।

१३८२—स्वात्मोद्धारके पौरुषमे विवेकिता—

भैया, अपनेको तो अपना काम करना है, अनादिकालसे रुलते भटकते, अनेक कष्ट भोगते जो विताया है समय ऐसी अपवित्रतामे समय विताना क्या अभीष्ट है ? जन्म और मरण, जन्म लेना, मरण करना, जन्म लेना मरण करना, ये जन्म मरणके तांते, यह परम्परा सुहाती है क्या ? एक ओर जब विषयोमे प्रीति है और अध्यवसाय चलता है, कषायोमे लगाव है तो उसका स्पष्ट निणय है कि जन्म मरण चलते जायेंगे। दोनो ही प्यारे लग रहे क्या ? कषाय भी प्रिय लगें, विषय भी प्रिय लगें और जन्म मरण भी प्रिय लगें, कितना अधेर ? कितना अज्ञानमयभाव । और देखो दूसरोको देखकर खेद न करे, अपनी ही बात विचारे और अपनी ही सम्हाल बनावें। जगतमे अनन्तनन्त जीव हैं, मनुष्योंसे ही पूरा परिचय नही है और फिर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च या और-और जीव, अनन्तानन्त जीव, दूसरोका उद्धार करना, दूसरोका कल्याण करना, यह अभिप्राय स्वार्थक्रियाकारी तो नही है, तो फिर ऐसी भीतरमे आस्था रखना, भीतरमे ऐसी उमग रखना कि मैं तो दूसरोके उद्धारके लिए होजन्मा हूँ, यह आशय मिथ्या है, यह बात निरखें। तो आपका उद्धार होते देखकर दूसरे जोव भी अपने आपके मननसे अपने उद्धारकी बात पा लेंगे । तब स्वयमे स्वयका मनन बनाना है ।

१३८३—स्वमे स्वक्रियाका दर्शन—

यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा अपने आपके स्वरूपमे ही बस रहा हूँ, अपने प्रदेशोसे बाहर नही, जो कुछ किया जा रहा है वह अपने आपमे किया जा रहा है अपने प्रदेशोसे बाहर नही । भलीभाँति देख लो, आप क्या करते हैं, किसके द्वारा करते हैं, किसके लिए करते हैं, किसमे करते हैं। अमूर्त ज्ञानमात्र यह आत्मा सिवाय ज्ञान तरग उठानेके और क्या करेगा ? स्वच्छ तरग उठाये, विकल्प रूपसे उठाये, अपने आपकी परिणतियोके सिवाय और करेगा क्या ? बाहरमे किसीके सुख दुःख इष्ट अनिष्टका विचार करना यह हो क्या रहा है ? खुदमे खुदके ज्ञानविकल्प चल रहे हैं, इसका असर बाहरमे कुछ नही हो रहा है। बाहरमे सासारिक बातोके वे कर्म निमित्त हैं, बुद्धिपूर्वक विचार जगे उनका तो दूसरा आश्रय भूत बनता है, मगर मैं यहाँ जीव किसी दूसरेका क्या भला करता हूँ और क्या बुरा करता हूँ? इस ओर जब उपयोग नही लगा है तो अपने स्वरूपसे हटकर बाहरी क्रियावोमे उपयोग करने लगा है, रागद्वेष विपाकमयी क्रियामे उपयोग फसा है तो यह तो बेचारा बन गया, असहाय बन गया, अपने आपमे अपनी कुबुद्धिसे रीता बन गया, इसको चैन कैसे मिलेगी। बाह्यदृष्टि और उसमे यह आस्था बने कि यह मेरा है, ऐसा जिसके विकल्प है, यह विकल्प ही कष्ट है, कही दूसरेसे कष्ट नही आया करता। जितने सुख भोगते है सासारिक सो अपने आप हो मे सहज आनन्दगुणका ही विकृत परिणमन करना है। सुख और दुःखमे बाहरसे कोई चीज नही आती, बाहरकी वस्तुमे यह उपयोग देता है और सुख दुःख पाता है, सो अपने ही आनन्दगुणके विकार परिणमनसे सुख दुःख पाता है। तो जब बाहरी जीवो मे, दूसरोमे मेरा कुछ अधिकार नही तब फिर बाहरी रागद्वेषकी क्रियावोंमे रागद्वेष विकार क्यो जगता है ? भैया ज्ञाता द्रष्टा बनें कि ये कर्मरस हैं, मेरे स्वरूप नही हैं, मेरा स्वरूप तो ज्ञानस्वभाव है, इस ही ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वमे अधिकाधिक लगें।

१३८४—धर्मपालनमे निःशंकताका महत्त्व—

धर्मपालन करें, मतलब अपने धर्ममे, अपने स्वभावमे आत्मतत्त्वकी दृष्टि बनावें, उस स्वभावका आश्रय करें, यह ही धर्मपालन है, अब ऐसा करनेके लिये जो उद्यत होता है सो एकदम यह बात भो

नही बनती, क्या क्या बात बनेगी, किस किस ढगसे वह गुजरेगा, क्या होगा, वह सब चरणानुयोगमे जो बताया गया है उसके अनुसार उसकी प्रवृत्ति है। उसमे गुजरता हुआ यह चला अपने आपमे प्रवेश पाने के लिए धर्मपालनके लिये। कष्ट आये तो विह्वल न हो, क्योकि उन कष्टोको, उन विह्वलताओं को दूर करानेमे समर्थ यह हमारा धर्मपालन है। अनगार धर्मामृतमे आया है कि कोई राजा जैसे किसी बडी सेनाको पाल पोप रहा है, मेरेपर कोई शत्रु आक्रमण न करे इस आशयसे उस सेनापर करोडों रुपये खर्च कर रहा है। अब इस तरहसे सेनाको पालते पोषते बहुत दिन व्यतीत हो गये। अचानक ही किसी शत्रुने उस राजापर आक्रमण कर दिया तो वहाँ क्या उस राजाका यह कर्तव्य है कि बस घबडा जाये, दुःखी होकर, हताश होकर बैठ जाये? क्या वह यह घोषणा कर दे कि मैंने व्यर्थ ही सेनाके पीछे इतने दिनो तक इतना खर्च किया, हटाओ? इस सेनाको'''क्यो? इस शत्रुने हमारे ऊपर आक्रमण कर दिया? अरे वहाँ तो यह चाहिये कि उस मौकेपर और भी अधिक शक्ति बढाले, सेना बढाले, खर्च बढाले और डटकर उस शत्रुका मुकाबला करके उसपर विजय प्राप्त कर ले? यदि उस मौकेपर उस सेनाको हटाना सोचे तो जैसे वह उस राजाको मूर्खता है, उसे बुद्धिमानी न कहा जायगा इसी प्रकार यहाँ धर्मके मार्गमे कोई सोचे कि हमने तो अपने जीवन भर खूब धर्म किया, प्रतिदिन देवदर्शन किया, स्वाध्याय किया, जाप किया, पूजापाठ किया, सामायिक किया, व्रत उपवास किया, खूब धार्मिक कार्योंमे अपना समय लगाया फिर भी ये दुःख हम पर आते, सुख तो हमे मिला ही नही, जबकि कहा यह गया है कि धर्म करनेसे दुःख दूर होते हैं, सब प्रकारके सुख साधन प्राप्त होते है, तो हमे तो यह बात देखनेको मिली ही नही, इसलिए धर्मकर्म सब बेकार है, छोडो इस धर्मको।'' ऐसा अगर किसीके मनमे आये और वह इस धर्मको छोड बैठे तो उसे विवेकी कहा जायगा क्या? अरे वह तो उसकी मूर्खता है। उस समय तो धर्ममे और अधिक प्रीति बढावें।

१३८५—धर्मात्मापर कष्टाक्रमणकी असभावना—

भैया, प्रथम तो यह समझना चाहिए कि यदि हमे दुःख सताते हैं तो हमने अभी तक वास्तवमें धर्म किया ही नही, धर्मके स्वरूपको जाना ही नही, दृष्टि बाहर ही बाहर लगी रही। यदि धर्म किया होता तो उसके फलमे सुख शान्तिकी प्राप्ति न हो, यह हो नही सकता। धर्म है वास्तवमे अपने आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसमे आत्मप्रत्यय रखना कि मैं यह हूँ, उसका आश्रय होना यह धर्मपालन है, अगर ऐसा करते हुए भी कष्ट आये तो उसे कष्ट न मानना चाहिए। देखिये सुकुमाल, सुकौशल, राजकुमार जैसे मुनियोपर भी ऐसा करते हुएमे कितने कितने उपसर्ग आये, बाहरसे देखने मे तो ऐसा लगेगा कि उनको बहुत बडा दुःख हुआ होगा पर वहाँ उनके अन्दरमे देखो तो दुःखका नाम नही। वह उस समय वास्तविक धर्मपालन कर रहे थे, अपने आत्मस्वभावके दर्शनमे आनन्दविभोर हो रहे थे, उनको रच भी दुःखका आभास नही, अन्त प्रसन्न रहे, यद्यपि पूर्वकृत कर्मके उदयमे ऐसे उपसर्ग आये फिर भी उनका उपयोग बाहर-बाहर नही भटका, वे अपने आपके स्वरूपमे और विशेष लगे जिससे कि उन बाहरी कष्टोका, उपसर्गोंका उनपर रच भी प्रभाव न पड़ा।

१३८६—पराश्रित व्यवहारकी विडम्बितता व त्याज्यता—

इस जीवने अब तक किया क्या? अनादिसे अब तक यही-यही तो किया। बाहरी पदार्थोंमें जीवों मे यह मैं ऐसा हूँ और यह भी ऐसा है इस तरह जिसकी कषायसे कषाय मिल गई उसको तो मित्र बनाकर चल रहे और जिनकी कषायसे अपनी कषाय न मिली उनको द्वेषी मानकर चल रहे, यह ही

किया इस जीवने आज तक । वास्तवमें यहां कोई जीव न किसीका मित्र न शत्रु, सब स्वतंत्र-स्वतंत्र जीव है, मगर देखलो, प्राय एक दूसरेके शत्रु अथवा मित्र बन रहे हैं तो बात यहां यह है कि जिसकी कषायसे जिसकी कषाय मिल गई वह उसका मित्र बन गया और कषायसे कषाय न मिली तो शत्रु बन गया, जैसे घरके किसी बच्चेको अपनी स्त्री या पुत्रोंसे कुछ मनमोटाव हो गया, एक दूसरेसे मन नहीं मिलता तो वहां वह कुछ क्या करता कि उसको उस घरमें जाना रहना बुरा लगता। अब रहना तो पड़ता ही, जाना पड़ता ही, मगर उसका वहां मन नहीं लगता, तो वह क्या करता कि दूकानमें अधिक समय तक रहता । दूकानका काम, कमाईका काम तो किए बिना चलेगा नहीं, वह तो करता है पर उसके भाव देखो, उसका उस घरमें मन नहीं लगता । ठीक ऐसा ही वस्तुस्वरूप है जगत का । सब जीवोंके उस स्वरूपको निरखो, जिसके निरखनेमें अपने आपमें समता जगती है, तो यहां आचार्यदेवने जो उक्त उपदेश किया उसमें यह बात दर्शायी है कि सारे अध्यवसाय त्यागने योग्य हैं, अच्छा तो जितना पराश्रित व्यवहार है, बाहरी पदार्थोंमें उपयोग दे देकर जो अध्यवसाय बनते हैं ये सारे व्यवहार त्याज्य है ।

१२८७--शुद्ध भावके वर्तनमें आश्रयभूतकारणका अभाव व स्वाश्रयत्व--

शुद्धभाव होनेमें आश्रयभूत कारण नहीं हुआ करते । एक बात । शुद्धभाव होनेमें सद्भावरूप निमित्तकारण नहीं होता । दूसरी बात । काल द्रव्य तो एक साधारण निमित्तमात्र वस्तु है, वह सबके परिणमन सामान्यका कारण है । सम्यक्त्वमें जो भी चर्चा है उसका विचार करना चाहिए । सब यही कहते । सम्यग्दर्शनके कारण बताये हैं वेदनानुभव उपदेश आदिक, तो बात यहां क्या है कि जिस काल में सम्यग्दर्शन होनेको है उस कालमें कोई भी बाहरी पदार्थ उसके उपयोगमें नहीं है । किसी भी बाहरी पदार्थका यह सम्बन्ध नहीं कर रहा मगर जिस शुभोपयोगके बाद यह सम्यग्दर्शन हो रहा उस शुभोपयोगमें तो आश्रयभूत कारण था और उस शुभोपयोगकी धारामें चलते हुये ये जीव उन विकल्पोंको त्यागकर, उन आश्रयोंको त्यागकर, उन शुभ भावोंको त्यागकर विपरीत अभिनिवेश रहित परिणतिमें आया है, तो सम्यक्त्वका निमित्त तो है नहीं, बाह्यवस्तु और शुभभावका भी निमित्त नहीं, ये बाहरी पदार्थ शुभविभावके भी निमित्त नहीं, अशुभविभावके भी निमित्त नहीं; मात्र आश्रयभूत कारण है, उन विभावोंका निमित्त तो कर्मोदयादि है, मगर सम्यक्त्व उत्पन्न होनेसे पहले जो शुभोपयोग हुआ वहांके आश्रयभूत कारणको देखकर, चूंकि उस हीके बाद, सम्यक्त्व वह हुआ सो परम्परया कह दो, उपचारसे वह दो याने उस धारामें आगे बढे, सो उस प्रकारसे उस बाह्य आश्रयभूत कारणकी चर्चा कर दो । सो यह भी सारा व्यवहार तीर्थ प्रवृत्तिका विच्छेद न हो इसलिये है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें अभावरूप निमित्त है कर्मका उपशम, कर्मका क्षय, कर्मका क्षयोपशम, किन्तु बाह्य वस्तु कोई आश्रयभूत नहीं है तो आश्रय किसका है ? वहां आश्रय है सहज निरपेक्ष शुद्धस्वभावका आश्रय । इस आश्रयसे सम्यक्त्व हुआ ।

१२८८--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्रका व्यय आय स्थितिके रूपमें परिचय--

अब यहां देखना--सम्यक्त्व एक विपरीत अभिप्रायरहित परिणाम है। उसको हम किस रूपमें बता दें यथार्थ कि यह है सम्यक्त्व उसके चिन्ह बताये गये प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, तो यह भी आभास रूप मिल सकता कि है प्रशमाभास, दिखता है प्रशम । सम्यक्त्वका कौनसा चिन्ह ऐसा कहा जाय कि जिसे देखकर हम निर्णय बना लें कि यह सम्यग्दर्शन है, इसीलिए सम्यग्दर्शनको अनिर्वचनीय कहा । उसका स्वरूप बताया तो जरूर है मगर अन्य अन्य रूपमें, ढालकर बताया गया है । जैसे आत्मा-

मे रुचि होना सम्यग्दर्शन । अब रुचि सम्यक्त्व की परिणति है या चारित्रकी ? चलते जावो ? आत्माके शुद्ध स्वरूपका प्रत्यय होना सम्यग्दर्शन है । प्रत्यय होना मायने दृढ ज्ञान होना, वह किसकी परिणति है । किस तरह बतायें सम्यग्दर्शन को ? उसका विश्लेषण, उसका प्रकट रूप बतायेंगे तो किसी दूसरेके सहारे । तब फिर सही बात यह है कि सम्यक्त्वसे पहले क्या था ? मिथ्यात्व, मिथ्यात्वका उदय । और, वहाँ हो क्या रहा था ? विपरीत अभिप्राय । मैं इसे मारूँ, मैं इसे पालूँ, ऐसी बात समझमे आ रही है ना ? मिथ्यात्वकी बात तो बहुत समझमे आती है कि ऐसी क्रियामे अध्यवसाय, विपाक अध्यवसाय, जाननेमे अध्यवसाय, यह है मिथ्यात्व । अब मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय निवृत्त हो गया, यहाँ क्या हो गया ? विपरीत अभिप्राय निवृत्त हो गया ? इसी बातपर पुरुषार्थसिद्धयुपायमे मोक्षकी ऐसी प्रक्रिया बतायी कि जिससे उत्पाद व्यय स्थिति जैसा बोध होता । याने वहाँ उत्पादव्ययकी स्थितिकी मुद्रामे स्वरूप चल रहा है । जैसे—कहा है—विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निज तत्त्वम् । आत्मन्यविचलनं यत् सम्यक् पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् । याने विपरीत अभिप्रायको नष्ट करके और अपने तत्त्वको व्यवसित करके, निश्चित करके जान करके जो अपने स्वरूपमे निश्चल स्थित होता है, यही पुरुषार्थ सिद्धिका उपाय है । नाश हुआ विपरीत अभिप्रायका, तो नाशके जरिये इसने सम्यग्दर्शनको पहिचाना । आत्मतत्त्वका वहाँ निश्चय हुआ इसे कहा वहाँ कुछ छूटने जैसे ढगसे और यह क्या बना ? इस प्रकार ढग से तत्त्वव्यसाय याने सम्यग्ज्ञान हुआ और अपने आत्मस्वरूपमे स्थित हुआ, ध्रुव हुआ, स्थिर हुआ, यों ध्रुवताके ढगसे चारित्रको पहिचाना विश्वास किया, यह विपरीत अध्यवसाय, ये सारे अध्यवसाय, ये सब पराश्रित व्यवहार इन सबकी जहाँ आखिरी हो और एक शुद्ध ज्ञान घन आत्मामे, जिसकी अद्भुत महिमा है, उस अतस्तत्त्वमे स्थित हो बस यह ही मोक्षका मार्ग है । तो यहाँ आचार्यदेव आश्चर्यके साथ कहते हैं कि देखो ये पराश्रित चलने है, वहाँ कष्ट ही कष्ट है, तथ्य भी नही, वस्तु स्वभावके विपरीत है, फिर यह जीव क्यो नही अध्यवसायको त्यागकर अपने शुद्ध ज्ञानघन स्वरूपमे ठहरकर धैर्य प्राप्त करता ?

१३८६—व्यग्रतास्वरूप पराश्रितभाव व्यवहारकी त्याज्यता—

उस कलशमे यह कहा जा रहा है कि सर्व प्रकारके अध्यवसाय त्यागने योग्य हैं, क्यो त्यागने योग्य हैं कि ये सब पराश्रित भाव हैं, मायने किसी परका आश्रय करके उसमे उपयोग दे करके ये बने हुए भाव हैं, मैं इसको मारूँ, जिलाऊँ, कुछ करूँ, ये सब पराश्रित भाव होनेसे सभीके सभी त्यागने योग्य हैं, भला परखो पराश्रितता यह एक तरहसे उधार लेनेसे भी अत्यन्त खराब है, ऐसी पराश्रितासे उत्पन्न हुए भाव क्या इसे कही चैन लेने देंगे ? आत्माकी सुधसे निकलकर बाहर फिका हुआ उपयोग क्या चैनसे रह सकेगा ? सभी प्रकारके अध्यवसाय त्याज्य हैं क्योकि ये पराश्रित हैं, और आत्माश्रित क्या है ? एक अपने आपका सहजशुद्ध विशुद्ध निरपेक्ष ज्ञानस्वभावका आश्रय वह एक अपने आधीन चीज है । तो जितने पराश्रित भाव हैं वे सब त्याज्य हैं और स्वाश्रित भाव उपादेय है । स्वाश्रितको कहते हैं निश्चय और पराश्रितको कहते हैं व्यवहार । ये सब पराश्रितभाव याने परका आश्रय करके जितने भी हमारे विकल्प बनते, ये व्यवहार सभी त्यागने योग्य है । देखो आत्माश्रय करें तो ये पराश्रयभाव दूर होंगे । पराश्रयभावमे परकी ओर दृष्टि देकर उनका निषेध करके या उन्हे विपरीत बताकर या कुछ कहकर जो आप बात कहेगे वह भी पराश्रितभाव होगा । ये पराश्रितभाव त्याज्य हैं, परसे हटे, परमें न लगें, ऐसा जब कभी मनन चले, कल्पनायें चलें तो वे पराश्रित है या स्वाश्रित ? परके लिए मनन

करें इस परका आश्रय न करें यह पराश्रित बात हुई या स्वाश्रित ? पराश्रित बात, परमे विधि बने, परमे निषेध बने, किसी तरह परमे भाव जाय, उसमे उपयोग हो वह पराश्रित है। सभी पराश्रितभाव त्यागने योग्य है याने हम परको देखे ही नही, आत्माको देखें, आत्मामे रत हो, क्योकि जितने भी पराश्रित अध्यवसान हैं वे बधके कारण है इसलिए पराश्रित भाव छुटायें मायने व्यवहार ही सारा छुटाया।

१३६०—निश्चयकी प्रतिषेधकता व व्यवहारकी प्रतिषेध्यता—

लो परखो व्यवहार प्रतिषेध्य हुआ, निश्चय प्रतिषेधक हुआ। पराश्रित जितने भी सकल्प विकल्प है वे सब प्रतिषेध्य हैं, निषेध करनेके योग्य है और स्वकी दृष्टि, स्वका आलम्बन यह प्रतिषेधक है हम स्वका आश्रय करके परिणमे तो व्यवहार छूटे, गडबड तो वहाँ है कि प्रतिषेधक भाव तो आता नही और प्रतिषेध्यमे जोर देते कि व्यवहार त्याज्य है सभी कामोमे यही अन्तर पड गया। जैसे शुभभाव व्यवहार है, प्रतिषेध्य है मगर प्रतिषेध्य तो तब कहलाता है जबकि प्रतिषेधक हमारे सामने है। तो हम प्रतिषेधकका तो आदर न करे, प्रतिषेधकका तो उपयोग न करें और प्रतिषेध्यकी मुख्यता रखें तो वह तीर्थप्रवृत्ति कायम रखनेमे बाधक है। जो शुभभाव हैं वे भी प्रतिषेध्य हैं। जैसे दान, पूजा, भक्ति, अनुराग, यात्रा, आदरभाव आदि ये सब शुभभाव भी प्रतिषेध्य हैं क्योकि इन शुभ भावोको ख्यालमे रखना शुभ भावोका अध्यवसाय करना यह तो प्रतिषेधक भावका बाधक हैं प्रतिषेधककी सुध रहे तब तो प्रतिषेध्यका प्रतिषेध कार्यकारी है और यदि प्रतिषेधककी ओर दृष्टि नही है और प्रतिषेध्य किये जा रहे हैं तो वह कार्यकारी नही। अभी कोई प्रतिषेध्यका तो खूब बखान किया जावे पर प्रतिषेधककी कुछ चर्चा भी नही, सहज अन्तस्तत्त्वकी बातको अभी तक समझते ही नही, केवल इतना भर सुन लिया कि यह त्यागने योग्य है, इसे छोडना योग्य है, व्यवहार कार्य करना अयोग्य है, बस इतनी भर तो समझ रखी और उसकी तुलनामे हमको और क्या काम करना चाहिये, इतनी बात यदि दृष्टिमे न हो तो उसमे विडम्बनाकी बात आती है। इसलिये प्रतिषेधकका समझना एक खास बात है, और, जो आत्माश्रित भाव बनेगा तो वह तो प्रतिषेधक हो ही जायेगा, इसलिये निश्चयके विषयभूत अंतस्तत्त्वमे शुद्धनयके विषयभूत अतस्तत्त्वमे जैसे उपयोग बने, और लक्ष्य बने उसकी उमग यहाँ होनी चाहिये। प्रतिषेधकका लक्ष्य बनने पर उस शुभभाव व्यवहारको भी हटायें, प्रतिषेध्य करे और प्रतिषेधक याने अन्तस्तत्त्वके लक्ष्यमे जुटे तो यह तो मोक्षमार्गकी आज्ञा है कि इस तरहसे प्रवृत्ति चलायें। तो कोशिश यह करे, हम अधिकाधिक प्रयत्न करे कि हमारा स्वभाव हमारा स्वरूप हमारी दृष्टिमे रहे।

१३६१—व्यवहाराश्रयाग्रहमे मुक्तिकी असभवता—

अच्छा, तो बात यह कही जा रही है कि सारा व्यवहार प्रतिषेध्य है। क्यो प्रतिषेध्य है कि व्यवहारको तो अभव्य भी कर सकते, उन्हे कभी सिद्धि नही मिलती, क्योकि उनके चित्तमे प्रतिषेधकका लक्ष्य नही बना। ऐसे ही भव्य भी कोई हो और उसका प्रतिषेधकका लक्ष्य नही बनता तो उसका जो व्यवहार है वह व्यवहार शान्तिमार्गका कार्यकारी न बनेगा। सो व्यवहार कर्तव्य भी करते लेकिन वे तो अज्ञानी ही रहते, मिथ्यादृष्टि ही रहते, तो यह निर्णय तो न चलाये कि इन क्रियाओसे हमको मुक्ति मिलेगी। क्रियावोसे तो मुक्ति किसी को नही मिलती, न भव्यको न अभव्यको, मुक्ति मिलती है तो रागद्वेषका अभाव होने पर, याने वीतरागता जितने अशमे है उतने अशमे उसके विशुद्धि है, मोक्षमार्गमे गमन है। रागके कारण तो मोक्षमार्ग है ही नहीं, लेकिन जो वीतरागताका लक्ष्य किए हुए है वह शरीरको कहाँ

ज्ञाल आवे। एक साधु है, उसको अपने स्वभावका लक्ष्य बना, अतस्तत्त्वको पहिचाना, उसकी साधनामे धुन बनी, ठीक है यह तो बडा अच्छा है मगर शरीर तो अभी लगा हुआ है। अच्छा एक दिन न खायें, दो दिन न खावे, पर सयमका साधन भूत शरीर बताया गया है व्यवहारमे, तो अब इस शरीरको न भोजन दें तो प्रयोग करके देख लो, क्या दशा होती है। आलोचकोंकी तो यह दशा, दूसरेकी आँखकी फुली भी बहुत जल्दी दिख जाती है मगर अपनी आँखका टेंट भी नही दिखता, ऐसे ही जैसे देखो किसी के घर कोई इष्ट गुजर गया, पुत्र गुजर गया, मानो वह अकेला ही पुत्र था, तो वहाँ घरके लोग उसके पीछे बहुत-बहुत रोते। वहाँ जाने वाला पुरुष सोचता कि देखो ये लोग कितने मूर्ख हैं। व्यर्थ ही ये रो रहे हैं। उन्हे समझाता भी अरे क्यो रोते? वह तो तुम्हारा कुछ था ही नही,वह तो एक भिन्न जीव था, अकेला आया था, अकेला चला गया…। यो दूसरोको तो खूब समझाता, पर खुदपर कभी कोई ऐसी बात आ जाय तो फिर वहाँ वह स्वय बडा विह्वल होता, दु:खी होता। तो दूसरोकी बात तो झट समझ लेते, पर अपनी बात जरा कठिनाईसे समझमे आती है। यह ही बात यहाँ है। कोई कहे कि मुनिजनोको तो आहार करनेसे तो कुछ मतलब न रखना चाहिए, उनको तो अप्रमदशामे रहना चाहिए, वे आहार क्यो करते…? और कभी ऐसा कहने वाला व्यक्ति खुद मुनि बन जाय तो उसे पता पडता कि कब, किस तरहसे क्या होना चाहिए। तो ऐसी बात सोच करके तीर्थप्रवृत्तिका विनाश न हो, यह परम्परा बनी रहे, इस बातका सभीको ध्यान रखना चाहिए।

१३६२—गुणग्राहित्वप्रकृतिक मनुष्यका व्यवहार—

कोई मुनि मानलो कम ज्ञानी है फिर भी उस मार्गमे रहता है उसको ज्ञानमार्गमे बढनेका अवसर तो है। तो चरणानुयोगकी जितनी भी प्रक्रिया है, विधि है उसके अनुसार यह देख लेवे कि अमुक साधुमे कषाय मद हैं—और चरणानुयोगकी विधि वाली प्रक्रिया भी चल रही है, बस उसके आगे तीर्थप्रवृत्ति रखनेके प्रसगमे और कुछ प्रासगिक नही है निरखना कि इसके मिथ्यात्व है या सम्यक्त्व है यह कुछ निरखनेकी वहाँ आवश्यकता नही है। तीर्थ प्रवृत्तिमे चलने वाले कोई मुनि मिलें तो उनका दर्शन करे, वदन करे, यह तो मोक्षमार्गमे चलने वालोकी बाहरी मुद्रा हुआ करती है और साथ ही देखिये जैसे अदालतमे किसी मुल्जिमपर कुछ शक हो जाय कि पता नही इसने इस दूसरेको मारने का अभिप्राय किया या नही किया, तो उस शकपर क्या निर्णय होता कि उसको छूट हो जाती। याने वहाँ शक हो जानेपर यह मान लेना पडता है कि इसने यह अपराध नही किया। तो ऐसे ही किसी भी साधुमे मिथ्यात्व है या सम्यक्त्व है यह तो कोई बता नही सकता और शक भी हो जाय मायने, इसमे मिथ्यात्व भी हो सकता और सम्यक्त्व भी हो सकता तो इस शकके होनेपर अधिकतर किस ओर दृष्टि जाना चाहिए? उसके सम्यक्त्वकी ओर। जैसे मुल्जिमके कसूरके प्रति कुछ शक हो जानेपर उसे छूट दे दी जाती ऐसे ही मुनिजनोके प्रति भी सम्यक्त्व व मिथ्यात्वके सम्बन्धमे शक हो जाने पर उनके सम्यक्त्वकी ओर दिमाग क्यो नही आया। मायने उनके मिथ्यात्वकी ओर दृष्टि न जाकर सम्यक्त्व की ओर दृष्टि जानी चाहिए और उनके प्रति भक्ति जगनी चाहिए। देखिये मुनिकी मुद्रा देखकर, उसके बाहरी रूपको देखकर अपनी तीर्थ प्रवृत्तिको कायम रखनेके लिए उनके प्रति भक्ति होनी चाहिए। इस प्रसगमे बातें तो अनेक आयेगी, मगर अपने आपमे एक यह ही निर्णय बनाना है कि स्वका आश्रय करना है, बस सर्व विकल्पोको त्यागकर, सारे व्यवहारको, सारे पराश्रित भावोको त्यागकर एक अपने अंत-स्तत्त्वका भान हो, यह ही अपने आपको अपनेमे देखना है तो व्यवहार कहो या अध्यवसाय कहो, ये

दूसरेके बारेमे कही हुई बातें त्याज्य हैं।

१३६३—व्यवहार शब्दका प्रकरणवश अर्थ समझकर उसके सत्य असत्यपनेका निर्णय करनेका कर्तव्य—

इस प्रसगमे एक बात और जानना। व्यवहार शब्दके अनेक अर्थ हैं और अनेक स्थानोमें व्यवहार का प्रयोग होता है। जैसे विचार इनका भी नाम व्यवहार। जैसे निमित्तनैमित्तिक योग, इसका भी नाम व्यवहार। जैसे तीर्थप्रवृत्ति, देवपूजा, वदना, दर्शन ये भी व्यवहार है। सम्यक्त्वमे पहले जो कुछ उसका श्रद्धान बने, ज्ञान बने वह भी व्यवहार। सम्यग्दर्शन होनेपर जो भी उसकी परिणति बनी वह भी व्यवहार। निश्चयनय, व्यवहारनय, वहाँ भी व्यवहार। और देखिये एक व्यवहार है द्रव्यार्थिकनयका भेद। नैगम, सग्रह, व्यवहार, और इस द्रव्यार्थिक व्यवहारनयसे ही उपादान उपादेयका निर्णय किया जाता है, दर्शनशास्त्रके अष्टसहस्री आदिक ग्रथोमे अध्यात्ममीमासाकी दिशा पानेके प्रयोजनसे बहुतसे ऐसे वर्णन हैं जिनसे स्पष्ट दर्शन होता है। जैसे कहा कि घटका उपादान क्या ? मिट्टीका पिण्ड। यह किस नयसे कहा ? व्यवहारनयसे। कौनसा व्यवहारनय ? द्रव्यार्थिक रूप याने पूर्वपर्यायसयुक्त द्रव्य को मुख्य रखा गया है एक उपादानमे। केवल पर्याय कुछ होता नही, उपादान है तो परिणति वाला द्रव्य होता है, और इसके समाधानमें कुछ शब्दोमे बताया गया कि व्यवहार नामक द्रव्यार्थिकनयसे उपादान उपादेयका निर्णय होता है। तो व्यवहारका प्रयोग कई जगह हुआ करता है। वहाँ विवेक रखना होगा कि यह व्यवहार असत्य है, यह व्यवहार सत्य है। यह सब निर्णय बनाना होगा, व्यवहार सत्य हो वह भी, व्यवहार असत्य हो वह भी सभी व्यवहार आश्रयके योग्य नही है, भले ही किसी पदवीमे व्यवहार आश्रयके योग्य कदाचित् हो। व्यवहारके सत्य असत्यपनेकी ठीक परीक्षा करना चाहिये। ऐसा किये बिना कथन स्याद्वादकी शैलीके अन्तर्गत नही रह सकता।

१३६४—पराश्रयज बुद्धिपूर्वक अध्यवसान व्यवहारोकी त्याज्यता—

यहाँ व्यवहार त्याज्य है, यह शब्द इस प्रकरणमे आया है कि ये सारे अध्यवसान हैं, परके बारेमे जो कुछ सोचा जा रहा है वह सब व्यवहार है, वह त्याज्य है। क्यो त्याज्य है कि इस व्यवहारको तो अभव्य भी कर लेता। सभी बातोंमे व्रत पाले, तप पाले, शील पाले, सयम पाले और अपनी बुद्धि माफिक हृदयसे पाले, मगर एक दूसरोपर रोब जमानेके लिये या अपनी प्रतिष्ठा कायम करनेके लिये मुनिव्रत लिया गया हो तो वह तो उस मुनिके लिये दुःखका ही कारण है। उसने चूँकि यह बात सुन रखी थी कि इस ससारमे दुःख ही दुःख है, इसे छोडो और अपनी धर्मसाधना करो, मोक्षके मार्गमे लगो, मोक्षका मार्ग तो उसने नही पाया, पर नामका तो पता है, और व्यवहारसे जो कुछ चल रहा है उसे तो जानता है, अब इतनी बुद्धि रखकर वह व्रत करता, तप करता, शील पालन करता, उसके भीतरमें पर्यायमे आत्मबुद्धि बसी हुई है, मैं मुनिव्रत पाल रहा हूँ, मेरेको ऐसा करना चाहिये। लोगोको मेरे साथ यो व्यवहार करना चाहिये, इस तरह एक मुनि पर्यायमे आत्मबुद्धि है इसलिए मिथ्यात्व है। देखो बाहरी कोई बातकी आकाक्षा भी नही हो, किन्तु उस समझे हुए कल्पित धर्मके ख्यालसे उसने तप व्रत वगैरह पाला है तो पाले, मगर मोक्षमार्ग तो नही मिलता। इसीलिये हो रहा है उसका व्यवहार ? वह प्रवृत्ति, वह पराश्रित व्यवहार हो रहा, मगर वह उससे अपने आपका दर्शन तो नही करता, उसे अपने आपकी मुक्तिका पथ तो नही मिला। इसलिये यह व्यवहार त्याज्य है, प्रतिषेध्य है।

१३६५—श्रुताध्ययनका गुण सहज अतस्तत्त्वका परिज्ञान न होनेसे एकादशांगपाठीके भी व्यवहारकी अकार्यकारिता

अच्छा, देखो कोई अभव्य या भव्य मिथ्यादृष्टि कितना भी ज्ञानी बन जाय कि ११ अग ६ पूर्व

का ज्ञाता बन गया और देखिये ९ पूर्वमे ज्ञानप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, जैसे कई महत्त्वपूर्ण विषय आते है और उसपर उसका पूर्ण अधिकार है, उसका वह पाठी है, वह उपदेश देता होगा तो बडे फोर्ससे, बडी शक्तिसे, बडे अच्छे ढगसे देता ना, जिसके वचनोको सुनकर कही दूसरे भी तिर जायें ऐसा बताया है ना। यहाँ एक बात समझिये कि वहाँ जो श्रोता है उसके मनमे उस अगपूर्व पाठीके प्रति यदि यह बात बसी हो कि यह तो अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, ११ अगके पाठी भी मिथ्यादृष्टि हो सकते है, यह भी अज्ञानी हो सकता है ऐसा यदि ध्यानमे है तो उससे भला नही है, उसे सन्मार्ग न मिलेगा, उसके सम्यक्त्व न जगेगा, क्योकि उसके भावोमे अज्ञान समाया है। अज्ञानी है भावमे तो वह उपदेश असर ही न करेगा, तो बात यह बतला रहे है कि कोई ११ अगका पाठी हो फिर भी उसका व्यवहार प्रतिषेध्य है क्योकि उसने ११ अग पढ तो लिया मगर पढनेका गुण क्या है ? गुनना। जैसे यहाँ बोलते है ना कि, अमुक भाई पढे तो बहुत है मगर गुने नही है। तो पढनेसे गुनना अच्छा होता है ना ? हाँ अच्छा होता, कोई ११ अग तो जान गया, मगर उस सबको जाननेका फल तो यह है कि इस अतस्तत्त्वका ज्ञान करे, पढनेका गुण तो नही लिया उसने, यह ही अर्थ है कि गुना नही, इतना अधिक ज्ञान किया इस अभव्यने, पर उस ज्ञानका गुनना तो यह है कि निज अतस्तत्त्वका परिचय पा ले, वह तो नही मिला ना, तब फिर काहे का ज्ञानी ?

१३९६—अन्यायमयी क्रियावोके कर्तावोके निश्चय तत्त्वकी चर्चावोकी हास्यास्पदता—

लोग बोलते हैं ना कि कोई ज्ञानकी बात तो बहुत ही बगराये मगर क्रिया अन्यायकी करे याने ऐसे भी लोग हमको दिखे कि जो आपसमे एक दूसरेके प्रेमी थे,परस्पर धर्मचर्चा किया करते थे, भिण्डमे निश्चयैकान्ती एक व्यक्ति दूसरेकी दूकानमे बैठा किरायेसे, वहाँ उसने कुछ ऐसी चाल खेली कि उस दूकानको अपने नाम खुद लिखकर उसपर नकली हस्ताक्षर लगवाकर अपने नामसे रजिस्ट्री करवा ली झूठे दस्तखत कर दिये। इस तरह की बात तो हमने आपसमे बडी-बडी अध्यात्मकी चर्चा करने वालो के प्रति देखा। अब उसका केस चल रहा है भला बतलाओ ऐसा ज्ञान करनेमात्रसे लाभ क्या ! क्या इस प्रकारका अन्याय करनेके लिए ही वह अध्यात्मचर्चा किया करते थे ? अरे अध्यात्मचर्चा करने का प्रयोजन तो होना चाहिए था पापकार्योंसे बचनेके लिए व अपने आपके आत्मस्वरूपका अनुभव प्राप्त करनेके लिए, मगर यह गुण तो नही मिला, इस कारण उसे सारे श्रुतके अध्ययनसे भी वह आत्मज्ञान न बने तो उसके ज्ञान नही, श्रद्धान नही, दोनो बातें कह दीजिए, वह अज्ञानी है।

१३९७—गुणोपयोगितामें ही सन्मार्गका लाभ—

देखो कोई किसीके चित्तका क्या निर्णय बनायेगा, ऊपरी निर्णय भी न बना सकेगा, कोई ऐसे गृहस्थ पुरुष होते हैं कि उनके भीतर क्रोधकी बडी ज्वाला जल रही और ऊपरसे ऐसे-ऐसे शब्दोका प्रयोग करेंगे कि जिससे यह जाहिर होगा कि यह तो बडे शान्त है, और भीतर से जल रही क्रोधकी ज्वाला। यह कला उर्दू भाषाके जानकार लोगोमे विशेष तौरसे पायी जाती है, उनके उर्दूके कुछ ऐसे शब्द है कि जिनके बोलनेसे बडी शराफत (सज्जनता) मालूम होती, पर भीतरमे क्रोध की भावना रह सकती। ऐसे ही विशेष मानकी चाह रखने वालोके भी कुछ ऐसे शब्द होते हैं कि अन्दरसे तो मानकी बडी चाह भरी होती मगर ऊपरके शब्दोमे बडी सरलता टपकती। मायाचारी की बात तो बडी विचित्र है, सभी लोग इस बातको खूब समझते हैं, किसीके अन्दरकी मायाचारीको कोई दूसरा समझ सकनेमे समर्थ नही, ऊपरसे तो इतना सरलताका व्यवहार दिखेगा कि लोग उसकी सरलतासे विशेष

प्रभावित हो जायेंगे, मगर अन्दरसे ऐसी मायाचारी बसी रहा करती कि जिसका कुछ कहना नही। तृष्णाके सम्बन्धमें भी यही बात है। मानलो किसीका कुछ अपयश बन गया है तो वह अपनी प्रतिष्ठा की चाहमे बोली बोलेगा तो लाखो रुपयोके दानकी बोलेगा, वहाँ ऊपरसे देखनेमे तो ऐसा लगता कि इसके मनमे तो जरा भी लाभ नहीं है मगर उसके अन्दरके परिणामोंको तो देखो उसके अन्दर अपनी इज्जत प्रतिष्ठा सम्मानका भयकर लोभ छिपा हुआ है। तो हम आपका एक यह निर्णय होना चाहिये कि अपनी एक ऐसी प्रकृति बने कि जिससे किसी भी जीवको देखें तो सर्वप्रथम उसका स्वरूप दृष्टिमे आ जाना चाहिये। यह बात पानेके लिये हमको सर्वप्रथम अपने आपके आत्मस्वरूपके दर्शनका अभिलाषी होना चाहिये। यही बात यहाँ कही जा रही है कि लक्ष्य अपना अतस्तत्त्वकी दृष्टिका बनाना चाहिये। बस, एकै साधे सब सधे, एक अपने आपके अतस्तत्त्वकी साधना बनायें तो उससे सारी सिद्धि प्राप्त हो जायगी।

१३६८—जीवोको अध्यवसायका कष्ट—

प्रकरण चल रहा है कि ससारी जीवोको परेशान कर रखा है इस अध्यवसायने। इसके अतिरिक्त जीवोको और कोई कष्ट नही। सब जीव ज्ञानानन्दसे भरे हुये हैं, इन जीवोको क्या कष्ट है? भीतरमें जो एक उमग बनी, पर पदार्थोंमे करनेकी, परको आपा माननेकी और यहाँ तक कि जो भी पदार्थ ज्ञानमे आ रहे हैं, चाहे उनका प्रयोजन हो चाहे न हो, बस उसके जाननेमे ऐसा तन्मय हुआ कि यह अपनेको और अपनी प्रक्रियाको तो भूल जाता है और जैसा जाना बस उस ही रूप अपनेको अनुभव करता है। जैसे कितने ही पुरुषोकी आदत होती है कि अगर ऊपरसे उडकर हवाई जहाज जा रहा हो तो उसे देखे बिना चैन नही पडती। वैसे उस जहाजसे प्रयोजन कुछ नही, न जहाज नीचे उतरेगा, न उसपर कोई चढ़ेगा, पर उसे बिना देखे चैन नही पडती, ऐसे ही यहाँ जितने भी पदार्थ ज्ञानमे आ रहे, काम कुछ नही हैं, मगर भीतर जो एक मिथ्याभाव पडा है उसके कारण जैसा जाना उस ओर ही इसकी लगन है कि मैं इसको जान रहा हूँ। प्रक्रिया भी भूल गया कि मैं स्वय के अन्तर्ज्ञेयको जानता हूँ और बाह्य ज्ञेयमे तन्मय रहता है। यह सब कहलाता है अध्यवसाय।

१३६९—अध्यवसायके सभावित अर्थ—

अध्यवसायका अर्थ क्या है? इसमे दो शब्द हैं अधि+अवसाय। अधि उपसर्ग है और अवसाय नाम है निश्चयका व लगनेका। तो निश्चयकी तो यो कहो कि जो अधिक जान ले अधिक निश्चय कर ले उसका नाम है अध्यवसाय याने भगवानमे भी अधिक बढा यह मोही निश्चय करनेमे, जो भगवान से भी होड करे। भगवान! तुम क्या जानते? तुम तो जो है उसे जानते हो? पर हमारा काम तो देखो जो हमारा नही है हम तो उसे भी पचा लेते हैं, उसको भी हम अपना लेते हैं "ऐसा भगवानसे भी होड करके अपनेको भारी जनवा बनाना, बस इसके मायने है अध्यवसाय। अध्यवसायके बारेमे और भी कई बातें कही जावेंगी, उनमेसे एक बात यह भी है,—भगवान नही जानते कि यह मकान इसका है मगर ये मोही लोग जान रहे कि यह मेरा मकान है। प्रभु तो इतना ही जानते कि यह यह है व वह वह है। जो है नही उसे कैसे जाने तो जो अधिक अवसाय करे सो अध्यवसाय। दूसरी बात अवसाय मायने लगना, जिससे व्यवसाय बनता, व्यवसायमे वि उपसर्ग है और अवसाय शब्द है। जिसका अर्थ है लगना। ऐसा अपने आत्मामे लगना कि कर रहा है कुछ। अनन्त ज्ञानको भगवान जानते रहते हैं, वहाँ कुछ नही जचता कि ये कुछ जान रहे, क्योकि जिसे जाना वही फिर जाना, वही फिर जाना,

याने इनमे (भगवान मे) कुछ कला ही अधिक नहीं है, और यहाँ हममे तो देखो—इस इस तरह से लग रहे हैं, ऐसी ऐसी प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं कि अद्भुत लगेगी सबको। भला एकेन्द्रियमे जन्म लेना, भिन्न-भिन्न वृक्षोमे भिन्न-भिन्न रूपसे फैलना, पत्ते पत्तेमे, फूल फूलमे, डाली डालीमे फैल जाते, फूलोके मकरद जैसी जगहमे फैल जाते। ऐसे ऐसे अनोखे काम हम कर रहे, जो लग रहा कि नई नई प्रवृत्ति की, तो ऐसे जो अधिक अवसाय हैं उसे कहते हैं अध्यवसाय। मतलब यह है कि आत्माके स्वभावमे जो बात नही है सो बाते करनेकी तरगें हममे उठती, ऐसे ये सब अध्यवसाय कहलाते है। अध्यवसाय निश्चय अर्थमे भी आता, और लगने अर्थमे भी आता। अध्यवसाय क्या ? कोई अधिक बात माननेको याने कोई उल्टी बात होनेको अध्यवसाय कहते हैं।

१४००—पराश्रित भाव अध्यवसायको तजकर स्वमे विश्राम करनेका सदेश—

ये अध्यवसाय पराश्रित हैं, पर पदार्थोंका उपयोग करके पर पदार्थोंमे जुटान करके जो एक इसकी लम्बी छलाग होती है, अवसाय होता है वह अध्यवसाय है, वह सब त्याज्य है, याने सीधे अपने घरमे बैठो, क्यो दगामे पड रहे ? क्यो लडाई झगडा ऊधम कर रहे हो ? अपने घरमे बैठो, शान्त रहो, यह तो विवेक है, मगर अपने धामको छोडकर बाहरी पदार्थोंमे जबरदस्तीका एक अधिकार बनाना, मान न मान मैं तेरा महिमान यह सब दु खकारी मुग्ध व्यवसाय अध्यवसाय है। जैसे कोई बेसरम यो ही जब चाहे पहुच जावे, वहा रहना भी विचार करके लेकिन उस घरके लोग आदर देते नही, कहाँ तक आतिथ्य करेंगे, पर यह कहता मान न मान मैं तेरा मेहमान। तो ऐसे ही ये अज्ञानीजन इन बाह्य वस्तुओसे मानो यह कह रहे है कि तुम मुझे मानो चाहे न मानो, पर मैं तो तेरा महिमान बनकर रहूगा। भला बताओ वह अचेतन पदार्थ काहे को इस तरह मानेगा ? माने तो वह अपमान हुआ। जैसे यहाँ कोई किसीसे कहे कि यह तो मेरा आदमी है तो यह तो उस आदमीके लिए गाली जैसी बात हुई, क्योकि इसके अन्दर यह भाव छिपा हुआ है कि यह सेवक है और यह इसका मालिक है। तो यहा कोई मनुष्य तो इस तरह की बात सुनना पसद न करेगा। वह तो इसमे अपना अपमान महसूस करेगा, पर यह बेचारा अनजान मकान क्या उत्तर दे सकता ! यदि यह मकान भी इस तरहकी बात समझता होता कि यह भी इस तरहकी बात सुनना पसद न करना, तो वह इसमे अपनी तौहीनी समझता। यहाँ किसी भले मनुष्यको कोई यह कहकर देख तो ले कि यह मेरा आदमी है, यह मेरा सेवक है या यह मेरा दोस्त है। ऐसा कहनेमे स्वामित्वकी बदबू भरी है तो उसमे मालिकाई आयी। कोई अपने लिए दूसरे की मालिकाई कैसे सोच सकता ? मगर यह सब अज्ञानी जीवोका व्यवहार है, चल रहा है तो यह अध्यवसाय है।

१४०१—शुभोपयोगमें आत्मस्व अध्यवसाय—

अच्छा पापका अध्यवसाय, मैं हिंसा करता हूं, झूठ बोलता हू, इसको यों गवाही दूगा, इसको यों अपमानित करूँगा, अच्छा और मानलो शुभ काम भी किया, जैसे भगवानकी पूजा कर रहे, पूजा करने मे गुण है क्योकि भगवानका स्वरूप और मेरा स्वरूप समान है, उस स्वरूपकी याद रहे तो अपने स्वभाव से सम्बध बने, स्वभावकी याद आती, और इसी कारण बहुत नजदीक बात बन जाती, मगर उसके भीतर यो आस्था रखना कि मैं भगवानको पूजता हू तो भगवानको कोई पूज सकता क्या ? फिर तो लो वह अध्यवसाय बन गया। तो ऐसे ही देखिये पराश्रितपनेकी बात नियामक नही होती जिसके बाबत हम कोई विकल्प बनाये, वह मेरे विकल्पगत कामको बना दे ऐसा नही होता जैसे ज्ञान, इसने

शास्त्रोका ज्ञान करना यह सम्यग्ज्ञान है, तो यदि शास्त्रका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता, तो जो जो लोग शास्त्र का ज्ञान करते हैं वे सब आत्मज्ञानी कहलाते । आत्माका ज्ञान सो ज्ञान । और, शास्त्रोका ज्ञान है सो आत्माके ज्ञानके लिए है, मगर बाहरमे यहाँ ही दृष्टि लगाकर वहाँ ही ज्ञान खोजें तो यह क्या हुआ ? पराश्रित बात हुई अध्यवसाय, और आत्माके आश्रित जो ज्ञान है उसके बारेमे नियम है कि वह ज्ञान ही है, वह मोक्षमार्ग है, ऐसे ही चलते चलें ७ तत्त्वो का श्रद्धान सम्यग्दर्शन और तीनो लोकको जो भी चीजें हैं उनका ज्ञान करना और ज्ञानकी तनिक मजबूती करना यह है व्यवहार । अच्छा तो कितने ही जीव तो ऐसे हो सकते हैं कि उन तत्त्वोकी बात करें, चर्चा करें और भीतरमे सहज अंतस्तत्त्वका श्रद्धान न हो सके ।

१४०२—प्रतिषेध्य होकर भी तीर्थपरम्परा बनाये रखनेके लिये शुभोपयोगमे प्रवर्तन—

तो अब समझिये स्वके आश्रयसे जो बात हुई वह तो है निश्चय अथवा प्रतिषेधक और हमारा व्यवहार प्रतिषेध्य है हालाकि तीर्थ प्रवृत्तिका भग न करना यह श्रद्धालुजनोका कर्तव्य है, तीर्थपरम्परा को नष्ट न करना यह जैन शासनके प्रति एक श्रद्धा जो रखता है उसमे प्राकृतिक बात बनती है इसलिए जो जो कुछ आम्नाय है, प्रवृत्ति है, व्यवहार है सो वह उस पदमें चलता है, चलना चाहिए, क्योकि और लोग भी धीरे-धीरे आयेंगे किस प्रकारसे ? जैसे एक अपने पर ही घटालो, जो आज अध्यात्मके प्रेमी बनते हैं वे बचपनमे क्या थे, फिर क्या हुआ, फिर किस तरह हुआ, आखिर पहले उस व्यवहार मे रहे, उसीमे बढे चले, कुछ सिलसिला बना, परिचय बना, फिर ज्ञान बना, फिर अपनी ओर कुछ झुके तो वहाँ अपने आपका कल्याण करनेके लिए एक अवसर मिला, कैसे दूसरेको समझाया जायगा कि अब तुम इस व्यवहारमे न पडो अपने आत्मतत्त्वमे लगो, यह बात अगर उसे समझायी जाय जो व्यवहार मे आया ही नही है, कि यह व्यवहार बिल्कुल त्याज्य है, इससे दूर रहो, इसे छुवो मत तो फिर उसकी स्वच्छदता और भी बढ जायेगी । जैसे कोई पुरुष नीचे खडा है और उससे ऊपर वाला पुरुष कहे कि देखो भाई सीढी छोडनेसे हम ऊपर आये हैं तुम लोग सीढीको मत ग्रहण करो, छोडे रहो, तो उसका ऐसा कहना योग्य नही । अरे उसे तो यह कहना चाहिए कि हम तो सीढीको ग्रहणकर, छोडकर आये हैं ऐसा ही तुम भी करोगे तो ऊपर आ जावोगे, ऐसे ही इस व्यवहार मार्गका यहाँ निषेध नही है मगर व्यवहार मार्गमे जो चल रहे है उनके लिए यह उपदेश है कि व्यवहारको मोक्षमार्ग मत मानो, मोक्ष मार्ग तो निज सहज स्वभावका आश्रय है । यह व्यवहार ही तुम्हारे लिए सर्वस्व नही है, कल्याणकारी नही है, किन्तु अपने अंतस्तत्त्वको सम्हालो ।

१४०३—अविकार स्वभावके आश्रय द्वारा व्यवहारकी प्रतिषेध्यता—

जो शुभोपयोगी मुनि हैं उनपर डाट अधिक पडी है समयसारमे । शुभोपयोगासक्त मुनियोका सबोधनकी डाट पडी है कि तू इस शुभोपयोगको मोक्षका हेतु मानता है, तू उसको एक मोक्षमार्ग मानता है, अरे जितना वीतराग तत्त्व है वह है मोक्षमार्ग, तू अपने आपका श्रद्धान कर, तो अपने हितकी बात चित्तमे आना चाहिए । शुभोपयोग किसी पदवी तक बताया है, मगर वह सर्वथा उपादेय शुद्धोपयोग है । एक परिणति है आचार आदिक अगोका ज्ञान करना, यह ही ज्ञान मोक्षका हेतु हो सो बात नहीं अभव्य भी एकादश अगका ज्ञान करते है, इसमे नियम नही बनता कि जो ११ अगका ज्ञान कर लिया जो ७ तत्त्वोकी श्रद्धा बना लिया जो षट्कायजीवरक्षा कर लिया वह नियमसे रत्नत्रय है । व्यवहार क्रियामे मोक्षमार्गका नियम नही बनता, मगर यह नियम है कि जो जो सहज अंतस्तत्त्वमे अहका

अनुभव करे, ज्ञान करे, यहाँ मग्न हो वह नियमसे मोक्षमार्गी है, तो यहाँ पराश्रित व्यवहारका त्याग कराया गया है, लेकिन उसे अनर्थ माने कोई तो तीर्थ मिट जावेगा, अब यहाँ एक प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यह तो समझमे आया कि जो रागादिक हैं वे हेय हैं, बंध हैं, इस जीवकी परतन्त्रताके हेतुभूत है, मगर ये बने कैसे, ऐसा प्रश्न यहाँ इस काव्यमे कर रहे है।

रागादयो। बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता ।
आत्मा परो वा किन्नु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहु ॥ १७४ ॥

१४०४—चिन्मात्र तेजसे अतिरिक्त भाव रागादिके निर्णयसे तथा अविकार स्वरूपके परिचयसे ज्ञानीके अन्तरमे निर्व्यग्रपना—

रागादिकभाव ये बधके निदान कहे गए हैं, जीवस्वरूपको देखे, जब अपने ध्यानमे यह बात आयी कि मैं समस्त पर पदार्थोंसे विविक्त परके द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे, प्रभावसे, उसका निमित्त पाकर अपनेमे होने वाली परिणतियोसे विविक्त सहज शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, ऐसा ध्यान जाय जिस समयमे, कुछ अनुभव बने उस समयमे तो वह यो समझो कि त्रिलोकीनाथ राजा है, अनाकुल है, वह तो परम आल्हादका अनुभव करने वाला है, उसको कोई शल्य नही, कोई फिक्र नही, कोई चिन्ता नही, मगर ऐसी स्थिति ठहर तो नही पा रही, तो क्या बातें आ जाती ? जो कर्मविपाक प्रतिफलित हुए बस उनमे यह झुक जाता, उनके स्वरमे स्वर मिलने लगता। जो सहज ज्ञानानन्द स्वरूपको अहं रूपसे मिलाये सो तो सम्यग्दृष्टि, उसके भी उपभोगनिमित्तक कुछ व्यग्रता होती फिर भी ऊपर व्यग्र होकर भी निराकुलताका अनुभव कर लेते हैं, तो उसकी यादमे, उसकी प्रतीतिमे यह भीतरमे व्यग्र नही होता। यह ज्ञानी गृहस्थ प्रमत्त व्यग्र होता हुआ भी निर्व्यग्र है, जब क्षोभ होता है तो वह क्षोभ तो क्षोभ ही कहलाता फिर भी वह अतरगमे निर्व्यग्र है।

१४०६—ज्ञानीकी प्रमत्तदशामे भी निर्व्यग्रताका कारण अविकार स्वभावके आश्रयपर अधिकार—

जैसे किसीको कोई अधिकार मिला है, अधिकार है पूर्ण उसको और कदाचित कोई बात ऐसी होती हो ऊपरी बात जो थोडी प्रतिकूल पडे तो जैसे वह निर्व्यग्र है, क्योकि उसको अपने अधिकारपर गौरव है, कभी भी अधिकारका प्रयोग कर प्रतिकूलताको हटा देगा। अब आज कलकी ही बात देख लो, जो देशमे आपत्तिकालीन स्थिति बनी है इससे पहले देशमे ही कही विघटन वाली बाते भी कोई कोई करने लगे होंगे। लेकिन सरकारको यह पता तो था ही कि ये ये कानून बने है और किसी न किसी दिन ऐसे कानून लागू कर दिये जावेंगे सो व्यग्रता तो न रही उन्होने पहलेसे ही अपनेको सावधान कर लिया था। ऐसे ही ज्ञानी सम्यग्दृष्टिको अपने उस भीतरके अतस्तत्त्वपर इतना अधिकार है कि वह जानता है कि जब दृष्टि करें तब देख लेंगे जैसे एक उर्दू शायरने कहा है अपने ही अन्दर छिपा है वह खुदा, जब जरा गर्दन झुकायी देख लो। तो इस ज्ञानीने निराकुल होनेका जो इतना प्रभुत्व पा लिया है गृहस्थावस्थामे भी, प्रमत्त मुनि अवस्थामे भी इसकी जो निराकुल दशा है उसका कारण यह है कि इसको अपने उस मूल स्वरूपपर ऐसा अधिकार है समझनेका, अनुभवनेका, परखनेका कि उस सन्तोषके कारण, उस धैर्यके कारण कर्म विपाककी व्यग्रतायें भी हो, क्षोभ भी हो तो भी वह यो ही गिनता है कि जैसे कोई बच्चा साधारण ऊधम करे, पिता देखता रहता उस बच्चेका ऊधम, मगर वह कुछ नहीं बोलता। क्योकि उस पिताको अपने अधिकारपर गौरव है कि जब चाहूँ तभी इसका ऊधम बद कर सकते है। और करता भी यही है कि जब देखा अब ठीक नही है ऊधम तो उस ऊधमके समय उसका

हाथ पकडकर २–४ तमाचे जड देता तो उसका ऊधम मचाना बद हो जाता है, ऐसे ही जिस ज्ञानी को पता है कि यह क्षोभ आता है तो आने दो यह तो कर्मविपाकका खेल है, कुछ हर्ज नही, अपनी कलापर उसे गौरव है कि जहाँ ही अपने इस ज्ञायक स्वरूप अतस्तत्त्वको सम्हाला, वहाँ दृष्टि दी कि क्षोभ खतम। यहाँ अलकारमे बोल रहे, कहीं ज्ञानी इस तरह प्रमाद नही रखता कि ये क्षोभ, राग वगैरह आते तो आने दो, वे सब जरा सी देरमे मिट जायेंगे। एक बाह्य तत्त्वकी उस समय अनास्था है, उपेक्षा है, कही इस तरह नही कहता कि आता है तो आने दो जरा सी देरमे मिटा लेंगे, ऐसा स्वच्छदताका भाव वहाँ नही है। यह तो हम आप सबकी भाषामे बोल रहे, वह तो स्वभावाश्रयके अधिकारके कारण निर्व्यग्र रहता है, भैया धर्मपालन अपने निजकी चीज है, जो पराधीन नही है, किसी का आश्रय नही तकना है, किसीको आशा नही बनाना है कि मेरा धर्म कोई कर देवे। कोई दूसरा दे देवे। वहाँ कोई ऐसा जाप नही है कि किसी पाँडेसे जाप करा लें तो अपने पाप मिट जायेंगे। यहाँ भी यह स्वपौरुषसे सिद्ध होने वाली स्वाधीन बात है। ज्ञानीको स्वानुभवके सन्तोषका इतना गौरव है, गुरुता है, अधिकार है, विश्वास है कि उसे निरखकर वह सारे क्षोभको दूर कर लेता है।

१४०६—विकार निष्पत्तिके निमित्तके परिचयकी जिज्ञासा—

हाँ तो बधनके कारण कौन हुए ? रागादिक भाव। ये बधके निदान बताये गए हैं। कैसे हैं वे रागादिक भाव ? आत्माका जो चैतन्य तेज है, सहज स्वरूप है उससे अतिरिक्त है, पृथक है वह तेज। उल्लघन करके स्वरूपका आदेश नही है ऐसा कि रागादिक बनें, मगर वह स्वरूप इस प्रकारका है कि विपाक हो, प्रतिफलन हो, विकल्प हो, ये बातें यहा बना करती है, तो बन तो गया, मगर स्वरूपसे निराली चीजें है ये विकार, विकारनिष्पत्तिके सम्बधमे एक विचार करना चाहिए कि आत्माके जो रागादिक हुए हैं, विकार हुए हैं सो इनके उत्पन्न होनेमे कोई बाह्य तत्त्व निमित्त है या नही है, कोई इसमे निमित्त पडता या नही पडता अथवा निमित्त पडता है तो बाहरी चीजें निमित्त पडती है या खुद ही निमित्त बनता है ? इन सब प्रश्नोपर विचार किया जायगा, जिसकी उत्थानिकामे कह रहे हैं कि इसका निमित्त क्या है ? आत्मा है या पर है ? ऐसा प्रश्न करने वालेको इतना तो ज्ञात है ही कि जो विकारभाव हुए हैं वे निमित्त पाये बिना नही हुए किसी निमित्तके अभावमे नही हुए याने स्वय अपने स्वरूपमे खुद ही अपने आप ही नही उत्पन्न हुए निमित्त कुछ इसमे अवश्य है। तबही तो ये नैमित्तिक कहलाते, जैसे कहा कि क्रोध नैमित्तिक है तो उसका अर्थ यह न लेना कि जिस मनुष्यपर क्रोध आया है वह इसका निमित्त है क्रोधमे और यह क्रोध नैमित्तिक है यह अर्थ नही है वहाँ वह पुरुष वह बाह्य प्रसग यह तो निमित्त है ही नही, इसने तो पुरुषको आश्रयभूत बनाया है उसमे उपयोग जोडा है, वह उसके क्रोधमे निमित्त नही है। निमित्त तो वह परखा जायगा कि जिसके होनेपर ही यह क्रोध हो और जिसके न होनेपर यह क्रोध न हो, ऐसी कोई दूसरी चीज है, उसमे निमित्तपना आता है। हर जगह आप घटा लीजिये। उस नौकरके होनेपर ही क्रोध हो, उस नौकरके न होनेपर क्रोध न हो, क्या यह नियम बनता है ? घरमे बच्चेपर क्रोध कर रहे हैं, जैसे मानो कभी कोई बडे फसावमे पड गया, एक झझटमे पड गया और भीतरमें बडी व्यग्रता हो रही तो बच्चोपर क्रोध करने लगते, जैसे एक कहावत है कि धोबीसे न जीते गधीके कान मरोरे। जैसे किसी धोबीकी उसकी खुदकी स्त्रीसे लडाई हो गई, कुछ कहा सुनी हो गई तो धोबीने गुस्सामे आकर स्त्रीको पीट दिया। अब वह स्त्री धोबीको तो पीट नही सकती थी, सो क्या किया कि पासमे ही बँधी थी उसकी गधी, सो कोई बहाना बनाकर

उसीके कान मरोडने लगी, तो ऐसे ही समझो कि ये पर पदार्थ निमित्त नही है हमारी कषायके लिए, हमारे विभाव परिणामोके लिए, किन्तु वे सब आश्रयभूत है।

१४०७—शुद्धपरिणतिके लिये निमित्त एव आश्रयभूतको अनावश्यकता व विकारपरिणतिके लिये निमित्तके सांनिध्यकी अनिवार्यता—

जिस कालमे सम्यक्त्व उत्पन्न हो रहा उस कालमे उसका कोई बाहरी पदार्थ आश्रयभूत नही है, वह तो तीर्थप्रवृत्तिकी रक्षाके लिए है, जैन ग्रन्थोमे धवलामें वर्णन किया है कि सम्यग्दर्शनके कही चार निमित्त हैं, कही तीन निमित्त है क्या-क्या ? वेदना, ऋद्धिदर्शन, जिनविम्बदर्शन, कल्याणदर्शन आदि उससे क्या शिक्षा ली जायगी सो भी बतायेंगे, मगर जिस कालमे वह जिनविम्ब दर्शन, उपदेश श्रवण आदि जो जो भी बात बन रही उस कालमे उसका शुभोपयोग तो हो जायगा, वहाँ शुद्धोपयोग नही है। सम्यक्त्व होता है, पर सम्यक्त्वसे पहले शुभोपयोग होना अनिवार्य है, अशुभोपयोगके बाद सम्यक्त्व किसीको नही हुआ, तो सम्यक्त्वसे पहले जो शुभोपयोग है उस शुभोपयोगमे तो आश्रयभूत था वेदनानुभव जिनविम्बदर्शन आदि और उसके बाद ही सम्यक्त्व हुआ। वही एक प्रकारका प्रवाह संतति चले इस कारणसे तीर्थ प्रवृत्तिके लिए यह बात कही गई है कि सम्यक्त्वके ये ये कारण हैं। अर्थ क्या लेना कि इन कारणोको जुटावे, इनमे रहे इनमे रहकर स्वरूपकी दृष्टि करना सीखे तो गैल मिलेगी, सम्यक्त्व होगा। तो शुद्ध परिणतिके लिए आश्रयभूत कारण नही होता। वहाँ निमित्त होता क्या ? शुद्ध परिणतिकी उत्पत्तिके लिए याने प्रथम समयकी शुद्ध परिणतिके लिए कर्मका क्षय, अनुदय याने कर्मविपाक का अभावरूप है निमित्त, उस शुद्ध परिणतिके विपरीत जो परिणाम हो रहा था विभाव परिणाम, उसमे तो सद्भावरूप निमित्त था मिथ्यात्वका उदय, अन्य अन्य प्रकृतियोका उदय, वह उदय समाप्त हुआ क्षयको प्राप्त हुआ किसी तरह समझो और यहाँ शुद्ध परिणति हुई, तो वहाँ प्रथम समयमे कह लीलिए कि उस प्रकृतिके क्षय होनेपर हुआ। और, वह धारा चलती रहेगी। अब वहाँ प्रति समय क्या निमित्त बनता रहता हैं सो विचारिये। कालद्रव्य एक ऐसी साधारण चीज है कि उसमे अन्वय व्यतिरेक इस तरह नही चलता कि देखो कालद्रव्य न हो तो यह परिणमन तो नही होता, यह कोई बता नही सकता इस कारण वह भी सामान्य निमित्तभूत है। तो ये विकार जितने हुए हैं वे सब विषम परिणाम हैं, इनमे निमित्त कोई अवश्य है। तो वह निमित्त खुद आत्मा है, या कोई पर पदार्थ निमित्त है, निमित्त क्या है ? आचार्यदेव अब इस विषयमे उत्तर दे रहे हैं।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

१४०८—रागादिभावकी निष्पत्तिमे आत्माके निमित्त बननेकी असंभवता—

इससे पहले वाले कलशमे यह प्रश्न किया गया था कि यह तो जाना कि रागादिक भाव बंधके कारण है और यह भी समझा कि ये चैतन्य तेजसे अतिरिक्त भाव हैं, पर यह नही जान पाया कि इन रागदिक भावोके होनेमे यह आत्मा निमित्त है या कोई परवस्तु निमित्त है। ऐसा प्रश्न किया गया था, उसके उत्तरमे यह कलश कहा जा रहा है। आत्मा कभी भी रागादिकके निमित्त भावको प्राप्त नही होता। अर्थात् आत्माके रागादिक भाव होनेमे आत्मा निमित्त नही है। मोटा दोष क्या है ? अगर रागादिक भाव होनेमे आत्मा ही निमित्त बने तो जैसे आत्मा उपादान सदा है ऐसे ही यह निमित्त माना गया आत्मा भी सदा है, फिर तो विकार सदा ही रहना चाहिये और फिर इनके विनाशका कोई

अवसर न आ पायगा। दूसरी बात स्पष्ट यह है कि किसी भी वस्तुके विकारमे वही वस्तु स्वय निमित्त नही होना अर्थात् अपना स्वभाव बिगाड़नेमे खुद निमित्त कोई नही होता।

१४०९—अर्ककान्तमणिके दृष्टान्तपूर्वक विकारमे परसगके ही निमित्तत्वकी सिद्धि—

जैसे अर्ककात मणिका एक दृष्टान्त है कि वह मणि सूर्यका सन्निधान पाकर आग बन जाता है, अच्छा अर्ककात मणि तो किसीने देखा नही, इतना तो सब लोग देखते हैं कि सूर्यसन्तापके सन्निधानमे काठ गर्म हो जाता, उससे अधिक गर्म पत्थर हो जाता, उससे अधिक गर्म सीमेंटका फर्श हो जाता, और बहुत अधिक गर्म डामरकी सडक हो जाती, ऐसे ही होता होगा कोई अर्ककात-मणि जो की डामरसे भी बढकर होता हो जो सूर्यका सन्निधान पाकर आग बन जाता। तो वह अर्ककात मणि जो आग बनता है उसमे वह मणि खुद ही निमित्त नही है, ऐसा दृष्टान्त देकर यह बात कह रहे है कि आत्माके रागादिक भाव होनेमे यह आत्मा स्वय निमित्त नही है किन्तु तस्मिन्नमित्त परसग एव, उन रागादिक भावोके होनेमे निमित्त परका सग ही है। देखिये इस प्रकरणसे शिक्षा क्या लेना है कि सबसे निराला स्वभाव अपना स्वरूप समझमे आये और उस स्वभावका आश्रय मिले। इस प्रयोजनके लिए यह प्रकरण बहुत ही लाभदायक है।

१४१०—निमित्तनैमित्तिक योग और वस्तुस्वातन्त्र्य का एकत्र दिग्दर्शन—

निमित्तनैमित्तिक योग जहाँ होता है वहाँ यह न जानना कि निमित्तकी परिणतिसे उपादान परिणम गया। यह तो त्रिकाल ही नही। यह बात तो द्रव्यके ६ साधारण गुणोसे ही स्पष्ट है और आगे बढनेकी जरूरत भी क्या? प्रत्येक पदार्थमे ६ ऐसे गुण हैं कि जो सभीमे मिलेंगे। अस्तित्व गुण- जिस गुणके प्रतापसे वस्तुकी सत्ता है। वस्तुत्व गुण- अपने स्वरूपसे रहे, पररूपसे न रहे। देखिये यहीसे ब्रेक लग गया, यहीसे नियन्त्रण हो गया। और जब द्रव्यत्वगुणके बाद अगुरुलघुत्वकी बात सुनो तो और स्पष्ट हो जाता। साधारण गुणोके परिचयमे ही यह बात बसी हुई है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमता नही। कोई पदार्थ अपनी परिणतिसे दूसरेका परिणमन करता नही, मगर इसके साथ विकार-कार्यमे निमित्तका मानना भी अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी विकार हो तो उस विकारमे निमित्त परसग ही है। किसी पर उपाधिका सन्निधान हो, वहाँ ही ये विकार जगा करते हैं। यद्यपि परने विकाररूप परिणति नही की, मगर ऐसा ही एक सहज योग है कि अनुकूल निमित्तके सान्निध्यमे योग्य उपादान विकार परिणमन कर लेता। जब उपादान और उसके कार्यकी ओर दृष्टि देते हैं तो यह भी नजर आयगा कि उपादानने अपने परिणमनमे निमित्तकी अपेक्षा नही की, किन्तु वह सहज योग रहा। इसी को अपेक्षा की ऐसा कह दे, मगर सत्य तो जानना चाहिए कि ऐसे ऐसे प्रकरणमे ऐसे वातावरणमे उपादानने स्वय अपनेमे अपना प्रभाव प्रकट किया है। जैसे रास्तेमे चलते जा रहे हैं, कोई पेड खडा है सडकके पास, वहाँ यह मनुष्य जाता है तो इसका शरीर छायारूप परिणम गया, फिर आगे गया तो धूप रूप परिणम गया तो कही यह छाया रूप परिणमनेके लिये परकी अपेक्षा नही करता, किन्तु ऐसा ही सहज योग है, कि ऐसा निमित्तसन्निधान होनेपर ऐसी योग्यता वाला उपादान अपनेमे अपना प्रभाव बनाता है। तो चूँकि निमित्तके अभावमे वहाँ रागादिकका प्रभाव नही हुआ इस कारणसे यह ही कहा गया है और श्री कुन्दकुन्दाचार्यने इसकी गाथामे स्पष्ट कहा है कि पर द्रव्यके द्वारा ही आत्मा रागादिक रूप परिणम जाता है, शब्द ये है, उसका भाव यह लेना कि परद्रव्यके अभावमे, परसगके अभावमें विकाररूप परिणम नही हो सकता, ऐसा एक अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है, इससे यह बात जानना कि पर

उपाधिके सन्निधानमे इस जीवने अपनेमे रागादिक विकार उत्पन्न किया।

१४११—स्फटिकमणिके दृष्टान्तपूर्वक विकारमें परसगके ही निमित्तत्वकी सिद्धि–

विकारमे परसगकी निमित्तताको सिद्धिके लिये आत्मख्याति टीकामे गद्यटीकामे स्फटिक पाषाणका दृष्टान्त दिया है, जैसे स्फटिक पाषाण केवल अकेला है तो परिणमनका स्वभाव तो उसमे है ही। प्रत्येक पदार्थमे परिणमनका स्वभाव होता है। तो परिणमनका स्वभाव होनेपर भी स्वय अपनी ओर से तो वह शुद्धस्वभावरूप है सो वह स्वय अपनी ललाईमे निमित्त नही बनता। अकेला पडा हो स्फटिक पाषाण, पर उपाधिका सन्निधान नही है तो स्वय ही वह केवल परिणमनेका स्वभाव रखता है, पर वह रागादिक रूप नही परिणम जाता। इस टीकाके शब्दोमे कहा जा रहा है कि स्वय रागादिकका निमित्तपना न होनेसे यह स्फटिक पाषाण रागादिक रूपसे, ललाई रूपसे स्वय नही परिणमता, किन्तु परद्रव्येणैव दूसरे द्रव्यके द्वारा ही वह रागादिक रूपसे परिणमता है, अब यहाँ कोई दो द्रव्योमे कर्ताकर्मपना न समझ ले, जब एक इस प्रकारकी शक्तिके साथ कहा गया है कि परद्रव्यके ही द्वारा यह स्फटिक पाषाण रागादिक रूपसे परिणमता है, मायने लाल पीले आदिक रूप बनता है, तो इस शब्दको सुनकर कर्तृकर्मत्वकी कल्पना न कर लेना, इसके बीचमे यह विशेषण दिया है कि अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ यह स्फटिक पाषाण रागादिक रूपसे परिणम रहा है। यह बात एकदम स्पष्ट है।

१४१२—दर्पणके दृष्टान्तपूर्वक विकारमे परसंगके ही निमित्तत्वकी सिद्धि—

अच्छा स्फटिक की जगह यहा आप उदाहरणमे दर्पण ले लो, यह दर्पण स्वय तो शुद्धस्वभाव वाला है, तो स्वय शुद्ध स्वभावरूपसे ही बन रहा है और सामने आये हुए उस लाल पीले कपडेने इसको लाल पीला बना दिया हो यह बात तो नही है, फिर भी उनका सन्निधान पाकर यह दर्पण इस प्रकार लाल पीला आदिक रूप बननेमे अपनी शुद्ध स्वच्छताकी व्यक्तिसे च्युत हुआ और वह फोटो रूप परिणम गया याने परिणमन इसका खुदका है। अच्छा और ऐसा निमित्त योग बना क्यो ? हुआ क्यो ? यो निमित्त हुआ कि निमित्तभूत पदार्थ स्वय रागादिकभावसे आपन्न है। श्री अमृतचन्द्र सूरिके शब्दोमे यह बात ध्वनित हुई कि "परद्रव्यके ही द्वारा" चूकि वह परद्रव्य स्वय लाल रगसे आपन्न है, वह कपडा स्वयं लाल है, सो उस पर द्रव्यके द्वारा ही दर्पण शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ लाल रूपसे परिणमता है। वह इस दर्पणकी लालिमाका निमित्तभूत है। कहते है ना कि अनुरूप कारण होना चाहिए, अनुकूल कारण होना चाहिए। जब एक प्रश्न होता है कि जैसे कोई कार्य हो रहा तो उस समय तो वहाँ अनेको चीज उपस्थित हैं, सभी क्यो नही निमित्त कहलाते ? कोई एक पदार्थ ही क्यों निमित्त कहलाता ? तो जो कार्य होना है उस कार्यके अनुरूप ही निमित्त कारण होता है, उसका सन्निधान पाकर उस प्रकारका कार्य बनता है तो यह लाल कपडा स्वय ललिमासे आपन्न उसके सानिध्यमे यह दर्पण स्वय अपने शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ लालिमारूपसे परिणम जाता है। देखिये शिक्षा क्या लेना है ? कि यह जो दर्पण लाल रूप परिणमा है सो यह दर्पणका स्वरूप नही, दर्पणका स्वभाव नही, किन्तु यह तो औपाधिकभाव हैं, अनुकूल निमित्त सन्निधानमे यह परिणमन बना है, यह दपणकी चीज नहीं, तो दर्पणकी स्वच्छतापर दृष्टि सहसा सुगमतया पहुच जायगी इस निर्णयमे कि दर्पण तो अपनेमे एक स्वच्छतामात्र है।

१४१३—आत्माके विकारमें परसंगके ही निमित्तत्वकी सिद्धि–

अब दार्ष्टान्त परखिये केवल यह आत्मा परिणमनका स्वभाव तो रख रहा है। यह तो प्रत्येक द्रव्यकी प्रकृति है, तो परिणमनस्वभाव रखनेपर भी स्वय यह आत्मा शुद्धस्वभावरूप है, यह आत्मा

अपने सत्त्वसे, अपने स्वरूपसे केवल एक दर्शनज्ञानसामान्यात्मक याने प्रतिभासमात्र है, जैसे कि प्रकाश तो प्रकाशमात्र है, अब वहा लाल पीला हरा आदि जिस रगका वल्ब चढा हो या जिस रगका कागज चढा हो, उपाधिका सन्निधान हो तो प्रकाश हरे पीले रूप होता है मगर प्रकाशका स्वय स्वरूप क्या है इस लाल पीले आदिकसे अलग ? आत्माका स्वयका स्वरूप क्या है ? शुद्धस्वभाव प्रतिभासमात्र, तो स्वय शुद्ध स्वभावमात्र होनेसे यह आत्मा स्वय अपने आपके रागादिक विकारोमे निमित्त नहीं होता। तो स्वय तो अपने विकारमें निमित्त होता नही, तो हुआ क्या ? परद्रव्यके द्वारा ही यह आत्मा स्वय रागादिक रूपसे परिणम गया। कितना इन वाक्योमें नियन्त्रण है हर जगह, ताकि कोई इनको सुनकर किसी प्रकारकी अटक न पाये। पर द्रव्य द्वारा परिणमा तो है यह आत्मा रागादिक विकार रूप, मगर यह स्वय परिणमा। ऐसा वह परसग एक सन्निधान है, वातावरण है, वहाँ यह आत्मा स्वय रागविकार रूप परिणमा। मगर निमित्त खुद नही कहलाया, निमित्त परसग ही है। कैसे परिणम गया ? अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ परिणम गया। कही ऐसा नही है कि कर्मोदय आया और यह आत्मा तो स्वय अपने शुद्ध स्वभावसे परिणमनेका ही काम कर रहा और इस कर्मविपाकने उसे अपनी शक्ति से परिणतिसे इसको रागरूप बनाया हो। वह तो निमित्त है। परिणमा यह जीव स्वय है।

१४१४—अनुकूल निमित्तका दिग्दर्शन—

वे कर्मविपाक स्वय रागादिक भावोसे आपन्न हैं मायने जो कर्म उदयमे आये हैं वे कर्म जब भी बँधे थे कोई कोडाकोडी सागर पहले बँधे थे कोई कभी बँधे थे, जिस कालमे बँधे थे उस ही कालमे उसमे प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाग बध हो गया था। प्रकृति बध मायने ये इतने निषेक ये अमुक प्रकारकी प्रकृतिके हैं, ज्ञानावरण प्रकृतिके हैं, ये राग प्रकृतिके हैं आदि। प्रदेश मायने परमाणु। स्थिति मायने कितने दिन तक ये निषेक आत्मामे ठहरेंगे और अनुभाग मायने कितनी डिग्री तक वे फल देने की शक्ति रखेंगे। तो यह उन कर्मोमे स्वय अनुभाग पड गया था। जैसे कि कपडा लाल है और दर्पण के सामने आया, दर्पण लाल फोटो रूप बन गया, तो जैसे कपडा खुद लाल है ऐसे ही ये कर्मनिषेक खुद राग खुद द्वेष याने इनमे प्रकृति वही पडी है, ये अचेतन हैं। कैसा कर्मनिषेकमे रागविपाक है हम इस विषयमे ज्यादह नही कह सकते हैं, क्या सूक्ष्म पर द्रव्यगत बात है यह मगर युक्ति बतलाती है, आगम बतलाता है, स्वय कुन्दकुन्दाचार्यने गाथाओमे बतलाया है मिच्छत्त पुण दुविह जीवमजीव तहेव अण्णाण। अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा। कषाय मिथ्यात्व आदि ये सब दो दो हैं— जीव मिथ्यात्व, अजीव मिथ्यात्व आदि। कर्ममे जो मिथ्यात्व प्रकृति है प्रदेश हैं, अनुभाग है वह सब अजीव मिथ्यात्व है। तो अजीव मिथ्यात्वका उदय है, अजीव कषायका उदय है। अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिक ये स्वय कर्म हैं, इनका विपाक काल आया, बस यह तो कहलाया निमित्तपना, अब उस कालमे यह जीव स्वय अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ राग विकार रूप परिणम जाता है यह हुआ नैमित्तिक कार्य।

१४१५—रागादिविकारके निमित्तका दृढतापूर्वक निर्णय—

यहाँ आचार्यदेवने जोर इस बात पर दिया कि रागादिक विकार रूप यह जीव परद्रव्यके द्वारा ही परिणमा सो अपने कर्तव्यकी बात इसमे कुछ मत लगाओ। यह मेरी चीज है, यह मेरा स्वरूप है, मैं इसे क्यो जाने दूँ, मैं इस रागकी क्यो न रक्षा करूँ, आखिर हमारी ही तो चीज है। जैसे कि सोचते हैं ना माता पिता, माँ अधिक सोचती कि आखिर यह मेरे पेटसे ही तो पैदा हुआ लड़का है। क्यो न

मैं इसे अपनाऊँ ? क्यो न मैं इसे सुखी करूँ ? अगर देश निकालाका आदेश दे दिया राजाने उस लड़केके माता पिताको तो वे माता पिता सोचते—मैं अपने लडकेको भी साथ क्यो न ले जाऊँ, आखिर वह मेरा ही तो बेटा है। तो ऐसा यहाँ विकारके सम्बन्धमे न सोचना। यदि कोई विकारको अपनाये तो यह अज्ञान दशाकी बात है कि ये रागादिक परिणतियाँ मेरी ही तो है, मैं इन्हे क्यो जाने दूँ, मैं इनकी क्यो न रक्षा करूँ, ऐसा उन रागादिक भावोमे आत्मीयता का प्रतिषेध करनेके लिए इस प्रकरणमे बताया जा रहा है कि ये रागादिक भाव परभाव है, क्योकि इनकी उत्पत्तिमे यह आत्मा खुद निमित्त नही है, परसग ही इसमे निमित्त है, तो कहते हैं कि स्वय जो रागभाव करके सहित है वह कर्मप्रकृति उसके ही द्वारा यह जीव शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ रागविकार रूप परिणम जाता है। जातु, तावद्, वस्तुस्वभाव, एव, इन चार शब्दोको इस एक ही कलशमे रखनेसे कैसा दृढ निर्णय बताया भली प्रकारसे यह वस्तुका स्वभाव है, याने आत्मामे रागादिक विकार इसी प्रक्रियासे होते हैं। देखिये यह सब निष्पत्ति दृष्टिसे कथन चल रहा है। जब निर्णय किया जाता है वैज्ञानिक विधिसे तो कैसे बना, कैसे क्या हुआ सब निर्णय लेना और जब यह निरखते है कि विशिष्ट ज्ञानियोने तो जान ही लिया, यद्यपि जाना उन्होने वही जिस विधानसे जो बात हुई है, होगी, मगर जान तो लिया, अब उस जाननकी ओरसे देखे तो यह बन गया निर्णय कि जिस समयमे जो बात होती है उस समयमे वह बात हुई, मगर हुई किस विधिसे, उस विधिका निर्णय निष्पत्ति दृष्टिसे बनता है।

१४१६—रागादिविकारमे परसगके ही निमित्तत्वका दृढ बोध होनेपर स्वयमे विकारके अकारकत्वकी सिद्धि—

परद्रव्यके द्वारा ही आत्मा रागादिरूपसे परिणत होता है। स्वभावको जो पहिचान लेगा मायने रागादिक विकार जीवमे जीवकी ओरसे जीव ही निमित्त बनकर नही होता, ऐसा जो जानेगा वही दृढतासे यह कह सकेगा कि मै रागादिक भावको करता नही, रागादिक भावोका कर्तृत्व मिटानेके लिए यह प्रकरण बहुत ही सहयोगी है, ऐसा यह स्वभाव है मायने एक पद्धति है, इस तरह होता है। इस बातको तावत्, एव, स्वभाव, जातु इन शब्दोमे कहकर पुष्ट किया है। यहाँ कही यह न जानना कि दो द्रव्योका वर्णन चल रहा है, घटनाकी बात कही जा रही है सो यह व्यवहार है और असत्य है। देखिये व्यवहार कोई सत्य है, कोई असत्य है। कौनसा व्यवहार असत्य है? उपचारवाला व्यवहार, यहाँ तीन बाते समझना असत्य, सत्य और आश्रणीय। प्रकरणमे जो रागादिकी निष्पत्तिकी विधि कही है। यह बात तो सत्य है, यह वस्तुस्वभाव है, रागादिक विकार इस पद्धतिसे बने, पर आश्रयणीय क्या है, इसके फलस्वरूप जो एक निर्विकार अखण्ड विविक्त चैतन्यस्वभाव दृष्टिमे आये वह आश्रयणीय है, असत्य आश्रयणीय नही होता है, सत्य ही कोई आश्रयणीय है कोई नही भी है। सत्यको परसम्बधित सत्य, स्वसम्बधित सत्य और स्वोपयोगी सत्य तीन प्रकारमे देखना। बाहरी पदार्थमे क्या हो रहा, किस तरह हो रहा, क्या घटना है, यह सब सत्य है, जानते ही हैं रोज रोज चूल्हा जलता है, रोज रोज उस आगसे रोटी सिकती है, सब बात जान रहे हैं कि क्या निमित्तनैमित्तिक योग है, अगर निमित्तनैमित्तिक योग नियत व्यवस्थामे न हो तो रोज रोज अटपट विडम्बना बने, आज तक तो रोटियाँ आगसे ही सिकती रही, पर पता नही अब आगसे सिकेगी या धूलसे या पानीसे, या अन्य किसी चीजसे ? ऐसी भी कोई शका करता है क्या ? अरे सभी के चित्तमे निमित्तनैमित्तिक योगकी नियत व्यवस्था घर कर गई है मगर ध्यान यह देना है कि इस निमित्तनैमित्तिक योग के प्रकरणमे भी वस्तु सब न्यारी-न्यारी हैं, सब अपनी अपनी परिणतिसे परिणमने वाली हैं।

१४१७—विकारनिष्पत्तिके तथ्यका उपसहार—

विकारमे ऐसा सहज योग होता है कि वह परसग पाकर ही विकृत बनता है, मगर परने विकृत नही बनाया। जैसे उपादान खुद ही विकारमे निमित्त होता तो वहा यह दोष आता है कि फिर तो ये विकार सदा रहने चाहिए, ऐसे ही निमित्त अगर विकार परिणति करता है तो वहाँ भी यह ही दोष आता है फिर इसमे आत्माका क्या उठता ? वह तो उसकी मर्जी है, निमित्त तो परका विकार परिणमन करनेमे स्वतत्र है, वही विकाररूप परिणमा देता है तो बस उसकी मर्जीपर बात है सब। कदाचित् मर्जी आये निमित्तकी, स्वय विकार परिणमन न कराये तो छुट्टी मिल पायगी, सो भला निमित्त क्यो ऐसा बुद्धू बने कि वह कभी विकार न परिणमाये, वह तो अपना कुन बढायेगा ही, तो ध्यान दोनोमे देना, रागादिक विकार होनेमे यह आत्मा स्वय निमित्त नही, एक बात, दूसरी बात-पर द्रव्यका निमित्त सन्निधान पाकर ही यह जीव रागादिक विकाररूपसे परिणमा है तो भी निमित्तने रागादिक रूप नही परिणमाया, किन्तु यह जीव स्वय शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ उस प्रकरणमे रागादिक रूपसे परिणम गया है, यह एक निर्णय दिया, इस निर्णयसे क्या शिक्षा मिलती और इस जीव का क्या भला होता और इसको किस ढगमे घटाना चाहिए, इन सबका उत्तर आगेके कलशमे आयगा।

इति वस्तुस्वभावं स्व ज्ञानी जानाति तेन स ।
रागादीन्नात्मन कुर्वन्नातो भवति कारक ॥ १७६ ॥

१४१८—आत्माके शुद्धस्वभावत्व, विकाराकर्तृत्व व समुचितोपादानस्वभावका दिग्दर्शन—

पिछले कलशमे यह बताया गया था कि कभी भी आत्मा अपने रागादिक भावोके होनेमे खुद ही निमित्त नही हो पाता। उसमे निमित्त परसग ही है और यह एक वस्तुस्वभाव है कि ऐसी पर्याय योग्यता वाला पदार्थ ऐसे निमित्तसन्निधानमे अपने आपमे अपना विकार परिणाम करता है, जिसको आत्मख्याति टीकामे इन शब्दोमे कहा कि यह आत्मा स्वय रागादिक रूप नही परिणमता किन्तु परद्रव्योंके द्वारा ही शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ आत्मा रागादिक रूपसे परिणमाया जाता है। यहा अर्थ तो यह है मगर इस बातको बडे जोरदार शब्दोमे कहनेका प्रयोजन क्या है ? प्रयोजन यह है कि इस आत्माकी समझमे यह बात आ जाय कि मैं रागादिकका अकर्ता हूँ, इस प्रयोजनके लिए यह प्रकरण दिया है क्योकि बहुत पहिलेसे यह प्रकरण चला आ रहा था कि यह जीव मिथ्या अध्यवसाय करता है कि मैं मारूँ, जिलाऊँ, आदि। ज्ञानीके अध्यवसाय नही होता, अज्ञानीके अध्यवसाय होता है जैसे कि मैं करने वाला हूँ, मैंने अमुक काम किया, आचार्यदेव यहाँ यह बतला रहे हैं कि इन आश्रयभूत कामोमे इसको मैंने किया, यह बात तो दूर रहो मगर आत्मामे उठने वाले जो रागादिक भाव हैं उनको भी मैं नही करता हूँ, ज्ञानीकी यह आस्था है, वह परख रहा है कि ये रागादिक विकार जो हुए सो यद्यपि मेरी ही भूमिमे हुए तो भी मैं इनका कर्ता नही, क्योकि इनका निष्पत्तिमे निमित्त परसग ही है। जैसे सिनेमाके हालमे पर्देपर चित्र आते, चित्रोका आधार है वह पर्दा, मगर उस दूसरे कमरेमे बैठा हुआ जहाँ फिल्म आफिस है वहा वह अपनी मशीन चलाता रहा है और उस उस प्रकारकी फोटो फिल्मकी एक रीलमे आती जाती है, उसमे बिजलीका तेज प्रकाश भिदता रहता है और उसका निमित्त पाकर उस पर्देपर वह सारा चित्रण प्रकट हो जाता है, तो उस कालमे उस पर्देका जो एक शुद्ध सफेद स्वरूप है, पर्दा सफेद ही तो है, वह पर्दा अपनी उस शुद्ध सफेदीको छोडकर उन चित्रोरूप परिणम रहा है, मगर ऐसा परिणमनेमे वही पर्दा खुद निमित्तभूत नही है, किन्तु फिल्म परका संग ही निमित्त है।

इसी प्रकार इस उपयोग पर्देपर जो कुछ भी चित्रण चल रहा है, रागद्वेष क्रोधादिक भावोंका यह चित्रण यहां चल रहा, परिणम रहा यह उपयोग जीव, मगर उसमें परसंग ही निमित्त है, आत्मा स्वयं निमित्त नहीं। तो यहाँ वह यह उत्साह कर रहा है भीतरमें कि इसको करनेवाला मैं नहीं।

१४१६—प्रमाणसे परखनेपर आत्माके शुद्धस्वभावत्व व अकर्तृत्वका परिचय—

देखिये एक दृष्टिकी बात—अशुद्ध निश्चयदृष्टिसे देखना है, तो क्या कहेंगे कि आत्मामें जो रागादिक विकार परिणमन हो रहा है उसका करने वाला आत्मा है, अपनी परिणतिमें करता है, अपनी योग्यतासे करता है। यहाँ यह भी एक तथ्य है, मगर यह किस रोगको मिटानेकी औषधि है? जो यह बात बसी थी कि कर्मने रागादिक किया, निमित्तके कर्तृत्वका राग जहाँ बस गया था उसको हटानेके लिये कहा गया है कि निमित्तने अपनी परिणतिसे कुछ नहीं किया, किन्तु जो निमित्तत्वका वातावरण रहा उसके अभावमें राग परिणमन नहीं हो सकता था, हुआ उपादानकी योग्यतासे। वह तो एक निश्चयनयसे ही देखनेमें बैठा है याने एक ही पदार्थको देखनेमें बैठा है तो एक पदार्थको जब देख रहा तो एकमें एकका तो बोध चलता है, वहाँ यह ज्ञान बनाना कि आत्मामें ज्ञानविकल्प हुआ, इसकी योग्यतासे हुआ, यों होता चला आ रहा, यह सब तो कहा जा सकता, लेकिन वहाँ दूसरेकी चर्चा ही न करना चाहिए, क्योंकि वह निश्चयनयके मूडमें देख रहा है। वह दृष्टि केन्द्रित है, वहाँ दूसरेकी चर्चा तक भी न करना चाहिए कि उस समय निमित्त यह है इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं, अगर कहता है कोई तो वह निश्चयनयके मूडमें रहा नहीं, तो निश्चयनयकी दृष्टिमें केवल एक ही एक पदार्थ नजर आता—यह है, ऐसा परिणमा, अपनी योग्यतासे परिणमा, यह दृष्टि रखना है, अब जरा प्रमाण दृष्टिसे देखें, आखिर यह हुआ क्यों? युक्तिमें निरखें कि आखिर यह बना क्यों? क्या आत्मामें रागादिक विकार जितने होते हैं वे मात्र अपनी योग्यतासे ही याने परसंग बिना ही हो जाया करते हैं? उसके लिए अभी बताया गया था कि आत्माका परिणमन स्वभाव है, उसमें कोई दखल नहीं दे सकता, वह परिणमता ही रहेगा, आत्मा खुद तो शुद्धस्वभाव है याने अपने स्वरूपसे सत्, पररूपसे असत् ऐसा परसे विविक्त अपने ही स्वभावमय है, तो जब स्वयं शुद्धस्वभाव है तो अपने विकारभावमें खुद निमित्त कैसे हो सकता?

१४२०—विकारपरिणमनोंकी नैमित्तिकताके परिचयसे आत्माके अकर्तृत्वका परिचय—

जितने भी विकार विषम परिणमन है वे सब नैमित्तिक है अनैमित्तिक नहीं होते हैं विषम परिणमन याने अभी कुछ था, अब कुछ बन गया, ऐसा जो व्यक्त बदल होती है उस बदलका कोई परसंग निमित्त होता है। अब करें खोज अपनेमें, रागादिक भाव होना अपने आप पर ही घटित करें, मेरे इस विकार भावमें परसंग ही निमित्त है, और ऐसा ही यह वस्तुभाव है कि ऐसा उपादान ऐसे निमित्त सन्निधानमें अपने विकारको उत्पन्न करता जिसे यहाँ अमृतचन्द्र सूरिने और कुन्दकुन्दाचार्य देखने जोरदार शब्दोंमें कह दिया कि परद्रव्यके ही द्वारा आत्मा रागादिकरूप परिणमाया जाता है, तो ऐसा जानकर हमें शिक्षा क्या मिली? अगर हम बहुत बातें कहते रहे बोलते रहे, जानते रहे और उसमें हम अपना कोई प्रयोजन न हल कर सकें, न निकाल सकें, अपने हितकी बात न पा सकें तो उस चर्चासे लाभ क्या? तो इस चर्चामें, इस तथ्यके परिचयमें कौनसी उपलब्धि होती? यह उपलब्धि होती कि इस प्रकारके वस्तुस्वभावको जानता हुआ यह ज्ञानी केवल जानता ही है, परन्तु उन रागादिक भावोंको, जिनमें निमित्त परसंग ही है, उनको अपना नहीं करता याने आत्मा इनको करने वाला है, यह बात तो तब

कहलायगी कि जब यह स्वय ही उपादान और स्वय ही निमित्त होता, जैसे कि सिद्ध अवस्थामे सिद्ध प्रभु परिणम रहे, स्वय ही उपादान है, निमित्तकी बात क्या है ? वहाँ वह अनैमित्तिक परिणमन है।

१४२१—स्वभावपरिणमनोकी अनैमित्तिकता तथा स्वभावपरिणमननिष्पत्तिप्रथमक्षणमें स्वभावविरुद्ध-परिणमनके निमित्तकी निवृत्तिकी (अभावकी) निमित्तता—

एक बात जानना कि जितने भी शुद्धभाव होते हैं वे सब अनैमित्तिक परिणमन हैं, अब यहाँ देखना कालद्रव्य साधारण है, उसकी चर्चा कहो न लायें, वह तो सबके लिए साधारण परिणमनहेतु है, पर जितने भी शुद्ध परिणमन हैं उन परिणमनोमे न आश्रयभूत कारण मिलता और न निमित्त कारण मिलता याने आश्रयभूत करनेकी तो बात ही क्या कहे, वहाँ कोई परद्रव्यका सद्भाव रूप निमित कारण भी नही होता। आत्मा परिणमन स्वभाव वाला है, स्वय शुद्ध स्वभाव है। बस कालद्रव्यका निमित्त होना सबको एक साधारण बात है। परिणमनस्वभाव होनेसे आत्मा अपनेमे अपने स्वभावके अनुरूप निरन्तर परिणमता रहता है। परन्तु एक बात और समझें शुद्ध परिणतिका जो प्रथम समय हैं याने प्रारम्भमे जिस कालमे वह शुद्ध परिणमन हुआ, चाहे सम्यक्त्व कहो, चाहे केवलज्ञान कहो, जो भी शुद्ध परिणमन हुआ है किसी पहले समयमे याने उससे पहले शुद्ध परिणमन न था और अब शुद्ध परिणमन हुआ। तो इतनी बात तो जाननेमे आयी कि कोई नया परिवर्तन हुआ है, जो समझमे आता है कि ओह, पहले वह एकदम यह था, अब यह एकदम इस प्रकार बन गया तो ऐसी उस शुद्ध परिणतिका जो प्रथम समय है याने शुद्ध परिणतिकी निष्पत्तिका काल है उस कालमे यह तो थोडा सोचना होगा कि जब एक प्रकारके परिणमनसे एक अद्भुत परिणमन हुआ है तो वहाँ कोई निमित्त है, मगर वहाँ निमित्त क्या है कि उस शुद्ध परिणमनसे पहले जो अशुद्ध परिणमन था और उस अशुद्ध परिणमनका जो निमित्त था बताया ही है कि परसग ही विषम परिणमनका निमित्त है। जिस जिस प्रकृतिका उदय शुद्ध परिणमनके प्रतिपक्षभूत विकारका निमित्त था उस निमित्तका क्षय होना, उसका अभाव होना यह अभावरूप निमित्त उस शुद्धपरिणमनके प्रथम समयमे है। जो निमित्त अशुद्ध परिणामका कारण था उस निमित्तका अभाव होना ही शुद्ध परिणमकी निस्पत्ति होनेका निमित्त है, अर्थात् अशुद्ध परिणामका निमित्त हटकर बस साधारण स्थिति आयी, शुद्ध परिणाम हुआ। अब उसके बाद जितने भी शुद्ध परिणाम होते जायेंगे उसमे अब वह बात भी न सोचें, वह केवल प्रथम समयके लिए सोची हुई बात थी, आगे शुद्ध परिणति धर्मादिद्रव्यवत् होती रहती है।

१४२२—सम्यक्त्वघातक सप्त प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशममे निवृत्तिरूपताका दर्शन—

एक बात और स्मृत कीजिये कि जिसे सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका जो प्रथम समय है जिस समय सम्यक्त्व हुआ तो सम्यक्त्व होनेके कालमे कारण क्या ? किस कारण को पाकर सम्यक्त्व हुआ ? इसका सही समाधान पानेके लिये पहले तो यह ही निर्णय बनायें कि सम्यक्त्व शुद्ध परिणाम है या शुभ परिणाम है या अशुभ परिणाम है ? यह तो सब कोई कह देगा कि सम्यक्त्व शुद्ध परिणाम है, शुभ नही, अशुभ नही तो उस सम्यक्त्व शुद्ध परिणामकी उत्पत्तिमे न तो कोई आश्रयभूत कारण होगा और न कोई सद्भावरूप निमित्त होगा। जब सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ उस कालमे यह तो बताया गया कि ७ प्रकृतियो का उपशम, क्षय, क्षयोपशम निमित है। हा बात ठीक है और निमित है, मगर उसका अर्थ क्या ? ७ प्रकृतियोके उपशम का अर्थ क्या कि अब ७ प्रकृतियोका उदय नही चल रहा। अब अन्तर्मुहूर्त कालमे ७ प्रकृतियोका उदय नही है। मिथ्यात्वादि प्रकृतिका उदय है सद्भाव

रूप निमित्त और वह है मिथ्यात्वका निमित्त । मिथ्यात्वभावकी निमित्तभूत ७ प्रकृतियोका उदय न रहा तो अभाव ही अर्थ आया ना उपशमका ।

१४२३—उपशम सम्यक्त्वमे सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोके अनुदयकी व्यवस्था—

उपशमके लिये व्यवस्था यह होती है कि जैसे मानो ७ प्रकृतियोकी सत्ताका कोई समय रख लो, मानो ८ बजे तक है, है तो सागरोकी बात । ८ बजे तक है, इस समय मानो पौने ८ बजे है और उपशम सम्यक्त्वका काल है मानो ७ बजकर ५० मिनटपर । तो अब क्या है ? सत्ता पडी हुई है अनन्तानुबंधी ४ की व दर्शनमोह ३ की । किसीके ५ की सत्ता, किसीके ७ की सत्ता, यह अनादि व उद्वेलनावाले मिथ्यादृष्टि आदि मिथ्यादृष्टिका भेद है। अब जैसे मानो ७ बजकर ४८ मिनिट पर पहुँचे, उस समय क्या होने लगता कि ७ बजकर ५० मिनट से ७ बजकर ५१ मिनट तक एक मिनट तक उपशम सम्यक्त्व रहना है तो उस एक मिनिटकी स्थितियाँ आगाल प्रत्यागाल द्वारा कुछ तो पहले समयमे मिल जाती हैं, कुछ अगले समयमे मिल जाती हैं । एक मोटा दृष्टान्त लो, जैसे कोई धार्मिक वकील है और उसको अचानक इच्छा हुई कि हमको भादोके दस लक्षणके दिनोमे कोर्टमे नही जाना चाहिए, तो वह क्या करता है कि उन दस लक्षणके दिनोमे कोई तारीख लगी हो तो उस तारीखको वह दस लक्षणसे आगे या पीछे लगवानेकी कोशिश करता है, बस इसीको कहते हैं आगाल प्रत्यागाल । पहिले लगवाने को आगाल और पीछे लगवानेको प्रत्यागाल कहते हैं । तो उस एक मिनटकी स्थितिके ७ प्रकृतियोके निषेक ४९ वें व और पूर्वके मिनटमे आ जायेंगे, कुछ ५२ आदि मिनटमे पहुच जायेंगे, ऐसा हो होकर जब यह अन्तरकरण पूरा हो जाता है मायने उस मिनटमे उस स्थितिकी कोई ये प्रकृतियाँ नही रहती तो अन्तरकरण होनेके बाद अन्तर्मुहूर्त विश्राम करके अन्तरके आदि समयमे औपशमिक सम्यक्त्व होता है, होता रहता है सब अनिवृत्तिकरण परिणाममे, अनिवृत्तिकरण परिणाममे अन्तरकरण हो, विश्राम हो और फिर वह कालप्राप्ति आयी, वह ५० वे मिनटमे पहुच गया, यहाँ अनिवृत्तिकरणका अन्त है । अब एक मिनट तक उपशम सम्यक्त्व है, वहाँ उदय तो न रहा । उदयकी बात तो दूर रहो, उस स्थितिका वह कर्म भी नही है । देखो कितनी विचित्र बात है । किसी भी कर्मकी स्थिति क्या इस तरह टूटती है कि आजसे मानो १० वर्ष तककी स्थितिका है कर्म कोई तो बीचमे किसी स्थितिका रहे नही, यह बडी अद्भुत बात है, और इस करण परिणामके द्वारा ऐसी अद्भुत बात उपशम सम्यक्त्वके लिए बने तो अनुदय रहा ना, तो उस दर्शनमोहका अनुदय वहाँ उपशम सम्यक्त्वका हेतुभूत है ।

१४२४—क्षयोपशम सम्यक्त्व व क्षायिक सम्यक्त्वमे अनुदयकी विधि—

क्षयोपशम सम्यक्त्वमे भी यह ही बात है, वहाँ जो ७ प्रकृतियाँ है, अनन्तानुबधी ४, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, इनमे ६ तो हैं सर्वघाती, उनका तो उदयाभावी क्षय होगा और सत्ता वालेका उपशम होगा, और सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय है वहाँ, लेकिन वह उदय सम्यक्त्वको विगाडने मे समर्थ नही । कुछ चल मलिन अगाढ दोष बनता है तो उन दोषोका निमित्त रहे, किन्तु सम्यक्त्वका हेतुभूत उदयाभावी क्षय व उपशम तो है उन छह प्रकृतियोका, कितना विशुद्ध परिणामोका प्रभाव आ रहा है । उन ७ प्रकृतियोका उदयक्षण न आये, उदयावली आये, उदयकालसे एक समय पहले वे ६ प्रकृतिया अन्य अन्यरूप बन बनकर उदयमे आकर निकल जाती हैं, इसे कहते हैं उदयाभावी क्षय और उनकी स्थिति जो आगेकी पडी है वह कही उदीरणामे न आ जाय, याने पहले फल देने न आ जाय ऐसा नियंत्रण है उपशम, तो इसमे अनुदय रहा। जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है वहा ७ प्रकृतियोका क्षय है ।

१४२५—परम्परया कारणोके रूपमे सम्यक्त्वके बाह्य निमित्तोकी चर्चा—

अब फिर भी यह सोचो कि आगममे यह बात लिखी है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेमे इतने कारण हैं देवदर्शन, ऋद्धिदर्शन, कल्याणदर्शन, अरहतदर्शन आदिक, और नरकोमे वेदनानुभव आदिक, इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनसे पहले अनिवार्य है शुभोपयोगका होना, अशुभोपयोगके बाद शुद्ध परिणाम नही हुआ करते, उस शुभोपयोगमे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होनेसे पहले हुआ उस शुभोपयोगमे ये कारण जो बताये गए हैं वे आश्रयभूत हैं, निमित्त वे भी नही हैं, जीवके भावमे एक कर्मदशा ही निमित्त होती है, बाकी जितनी भी चीजें कारण रूपसे कहो जाये उसका अर्थ है आश्रयभूत कारण, निमित्त कारण नही। तो उस शुभोपयोगकी निष्पत्तिमे वह आश्रयभूत कारण था, तो चूकि उस शुभोपयोगके बाद ही तो उस धारासे चल-चल कर याने बीचमे अशुभोपयोग न आये उसमे रहकर इसने उन विकल्पोको त्याग कर सम्यक्त्व पाया है इसलिए परम्परया कारण कहकर उनका जिक्र किया जाता है। बात यह है कि शुद्ध परिणमनमे तो निमित्त नही है बाह्यवस्तु परसग, परन्तु अशुद्ध परिणाम मे परसग ही निमित्त है, अशुद्धपरिणमन अनैमित्तिक नही होता।

१४२६—आत्माके रागादिकके अकारकत्वका समर्थन—

भैया, रागादिभावका करनेवाला तब यहाँ जानें आत्माको कि जब ये जो रागादिकभाव हो रहे हैं इनमे आत्मा खुद निमित्त बने। ये मेरे स्वभावसे उठी हुई बात नही इनमे परसंग निमित्त है तो मैं कर्ता नही। यहाँ निमित्तपर दृष्टि दी और उसपर कर्तृत्वका आरोप किया। देखिये-आत्माके उस ज्ञानविकल्पको कर्मने अपनी परिणतिसे नही किया उसे तो किया इस जीवने, अपने ही स्वरूपमे विकार लगा लिया। किन्तु यह हो सका परसगसान्निध्यमे ही, आत्माने अपने आपसे विकार नही किये, अत आत्मा रागादिक विकारोका अकारक है, यह बात यहाँ दिखाई गई है। इसमे निमित्त चूकि परसग ही है इस कारण मैं उन रागादिक विकारोका कर्ता नही। तो अपनेमे विकारोका अकर्तृत्व समझनेके लिए इन उपायोका प्रयोग बनाये, वस्तुस्वभावका परिचय बनाये कि मैं इन रागादिकोका अकारक हू, ऐसा समझ लेनेके बाद यह समस्या अपने आप हल हो जाती कि ज्ञानी जीवके अध्यवसाय नही होता, क्योंकि वह अकारक है, अकर्ता है। जो अहकार रखे सो कर्ता, जिसको अहकार नही वह कर्ता नही। तो इस प्रकारके स्ववस्तुस्वभावको ज्ञानी जानता है, तो यह रागादिकको अपना नही कर रहा। देखिये अशुद्ध निश्चयनयमे यह निर्णय आयगा कि मैने ज्ञानविकल्प किया। अब जब यहाँ सर्वतोमुखी दृष्टि हो रही है और आत्माके भीतर उस शुद्ध स्वभावको निरखा जा रहा है, वहा यह निर्णय है कि रागादिकको मैने नही किया। आत्मा रागादिकका अकर्ता है, क्योंकि रागादिक भावोमे इसको राग नही है ना। हुआ है सो उसे जानता है जानता भर है, पर उसका कर्ता नही, उसमे अपनापन नही। उसमे अपनापन क्यो नही कि उसने यह जाना कि अपना तो केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र सर्वस्व है और कुछ नही है तो वह निष्पत्ति विधिमे जैसी कि बात होती रहती है उसका वह जाननहार है, वह रागादिक भावोका कर्ता नही। अपने आपमे अकर्तृत्व समझनेके लिए यह प्रकरण, एक सर्वविशुद्ध ज्ञानको अनुभवनेके लिए यह प्रकरण और इस प्रकारका निर्णय सुगम ढगसे लाभ पहुचा रहा है। मैं रागादिका कर्ता नही यह प्रकरण चलेगा इस अधिकारमे अन्त तक। अब वहो वही विषय होगा कि यह आत्मा रागादिक भावोका कर्ता नही है दृष्टान्त देकर युक्ति देकर यह प्रकरण होगा कि यह आत्मा अकर्ता है। होता है रागादिक विकार उसको जान लिया कि इस परसगकी सनिधिमे इस इस प्रकारका इस भूमि

पर परिणमन हो रहा, पर इसके अन्दरसे कोई उमग नही वहा। वह रागको अपनाता नही, अपना नही बनाता और निरख रहा कि मैं रागादिक का कर्ता नही हू।

१४२७—राग होना व रागका कर्ता होना इन दोनोका विश्लेषण—

राग होना और रागका कर्ता होना इन दोनोमे पहले अन्तर समझिये। राग होनेकी विधि तो यह है कि जो कलके कलशमे प्रतिपादित हुआ। तस्मिन्निमित्त परसग एव, उसीसे सम्बध पाकर यह विधि बनी कि रागका मैं कर्ता कैसे ? मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हू, मैं इन रागादिक भावोका निमित्त नही हू, और ये रागादिक भाव निमित्त बिना हो सकते नही, क्योकि निमित्त बिना याने निमित्त सन्निधानके अभावमे जो भी परिणमन होगा वह शुद्ध परिणमन होगा, वहाँ विकृत परिणमन न होगा, तो सब परख लिया कि यह है विकारका विधान, इस तरह हुए है ये रागादिक 'मै इनका कर्ता नहीं' राग होना यह बात तो ज्ञानीके भी चल रही है, अगर रागमे राग हो तो वह कर्ता कहलाता है याने इस रागरूप मैं हू, मै कितना अच्छा कर रहा हूँ इस तरहसे अगर वह अपनेमे निर्णय रखता है तो वह कर्ता है।

१४२८—अध्यवसायवाला विचार न करके शुद्धतत्त्वका मनन करनेका अनुरोध—

लोग तो ऐसा सोचते कि मैंने तो इस कामको बहुत विचार कर किया, बहुत दिनो तक इस काम का विचार किया, अब तो मुझे यह काम करना ही चाहिए। अरे भाई यह भी तो सोचो कि मैंने अनादिकालसे लेकर अब तक न जाने क्या-क्या विचार किया, पर यह विचार कभी नही किया कि हमे स्वरूपदर्शन चाहिए, स्वभावकी अनुरूपता चाहिए, आत्महितकी बात चाहिए। अरे अब तो एक अपना यही विचार बनाओ कि हमे तो अपने आत्माका कल्याण करके ही रहना है। आज तक जो कुछ विचारते आये, जो कुछ करते आये उसको तो खोटा समझकर छोडना ही चाहिए, तो ये अध्यवसाय सब नैमित्तिक है, खोटे है, दु खदायी हैं, इन्हे मैं नही करता, ऐसा जानकर अब मैं अपने आपके शुद्धस्वभावको यह मैं हूँ चैतन्यमात्र ऐसा जान ले, उसका आदर करें, उसका आश्रय लें, बराबर उसकी दृष्टि बनाये रखें, उस ही दृष्टिके प्रतापसे हम नियमसे इस ससार सागरको पार कर लेनेका एक सुन्दर अवसर प्राप्त कर लेंगे।

इति वस्तुस्वभाव स्व नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १७७ ॥

१४२९—स्वपरोभयसत्यके परिचयसे ज्ञानीके विकारोके अकारकत्वका निर्णय—

पहले बताया गया था कि ज्ञानी पुरुष इस तथ्यको जानता है कि यह मैं आत्मा स्वय परिणमन स्वभावी हूँ, स्वय शुद्धस्वभावी हू। स्वय शुद्धस्वभावी हू अर्थात् अपनेमे अपने आपके ही द्वारा यहाँ किसी प्रकारका विकार नही। विकारमे निमित्त परसग ही है, वह क्या ? कर्मविपाक, कर्ममें विपाक स्फुटित हुआ। उसका निमित्त पाकर रागादिक विकार हुए, आत्मा स्वरूपमे से विकार नही कर रहा याने आत्माका स्वभाव विकारका नही, मैं स्वय अपने आप विकाररूप नही बन रहा, उसमे परसग ही निमित्त है और इस स्थितिमे ऐसा हो रहा है। मैं रागादिकको करता नही, मैं रागादिक विकारोको करनेवाला नही। देखिये मैं विकारको करता नही, ऐसा ध्यान जिस उपायसे बन सकता था उस उपाय का प्रतिपादन श्री कुन्दकुन्दाचार्यने २७८ वी २७९ वी गाथामे बताया है। स्वानुभवमे पहुचनेके लिए पूर्ण साधकतम है शुद्ध नय। शुद्धनयमे पहुँचनेके लिये साधक है परमशुद्धनिश्चयनय। परमशुद्ध निश्चयनय तक पहुंचनेके लिए यहाँ हम कितने ही प्रकारके नय, विज्ञान, प्रमाण इन सबका उपयोग किया करते हैं।

१४३०—विभावोंकी परभावता व आत्माके आत्मना स्वय अकारकत्वके परिचयका साधन स्वपरोभय सत्यका परिचय—

निश्चयदृष्टिमे रागादिक विकारोके बारेमे यह तो जान लेवें कि वहाँ केवल एक आत्माको ही देखा जा रहा है, यह आत्मा रागादिक विकारोरूप परिणम रहा है, अपनी योग्यतासे परिणम रहा, उसमे ये ये परिणमन चलते जा रहे इस दृष्टिसे दूसरी चीज न देखना, क्योंकि इस निश्चय दृष्टिमे न अभाव बतानेके लिए न सद्भाव बतानेके लिये, किसी भी परकी चर्चा नही बन पाती। जैसे सूक्ष्म ऋजु सूत्रनयकी दृष्टिसे जब कोई ज्ञान करता है तो एक एक समयकी पर्याय बस, वही उसके ध्यानमे है, उस दृष्टिमे उपादान उपादेयका निर्णय नही बनता, न कार्य कारणका निर्णय बनता, न निमित्तनैमित्तिक का निर्णय बनता, और विशेष्य विशेषण सम्बध भी नही बनता, याने सम्बध नामकी कोई भी बात सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयके मूडमे नही है तो वहाँ सम्बधकी बात करना ही न चाहिए, ऐसे ही समझिये कि निश्चय दृष्टिमे केवल एक ही वस्तु दिखती है। एक आत्मा अशुद्ध दिखे तो अशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध पर्यायमे दिखे तो शुद्ध निश्चयनय, पर्यायमे नही, किन्तु मात्र स्वभावमे दीखा परमशुद्ध निश्चयनय। तो जब निश्चयनयके उपयोगमे चलते है तो यह जीव है, राग विकाररूप परिणम रहा हैं, अपनी परिणतिसे परिणमता है और परिणमता जा रहा है, जिस समय जैसा परिणमन चल रहा उस समय वहाँ वही परिणमन बन रहा, वही वही बात निश्चयनयकी दृष्टिमे दिख रही है। किन्तु ये राग विकार परभाव हैं, इसका निर्णय यह निश्चय दृष्टि नही कर पाती, उसका उपयोग जितनेके लिए है उतना उपयोग लेना। यह विकार परभाव है, यह निर्णय करनेके लिए और इसी कारण मैं इसका कर्ता नही हू, मैं रागादिक विकारोका अकर्ता हू उसके लिए अभी एक प्रयोग बताया गया था, वहाँ इसने क्या समझा कि समुचित उपादान कारण मायने वह योग्य उपादान वह अपनेमे ऐसा ही स्वभाव रखा रहा कि इस प्रकारका अनुकूल परसग निमित्तके सन्निधान होनेपर ही वह अपने विकाररूपसे परिणमता। इसी तथ्यको आचार्यदेवने इतने कडे शब्दोमे, स्पष्ट शब्दोमे यह कह दिया कि यह जीव परद्रव्योके द्वारा ही रागादिक रूपसे परिणमाया जाता, बीचमे एक विशेषण दिया है वह बडे मार्केका है। अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ रागादिक रूपसे परिणमाया जाता है, कर्मवाच्यका प्रयोग हैं, वहाँ इतना तेज निर्णय प्रयोग क्यों किया है कि रे आत्मन्! तू यह समझ कि तू रागविकारको करता नही। तू अपने शुद्ध स्वभावरूप है, और देख तेरे ही सत्य स्वरूपमे उसीके ही अनुरूप पर्याय हो तो बस उसका ही तू अपने को कर्ता समझ।

१४३१—कर्तृत्व का स्वयका मिथ्यापन—

अथवा कर्ताकी बात जाने दो, कर्ता शब्द क्यों दुनियामे रखा गया? क्या जरुरत थी? देखो खुद प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है सो खुद खुदमे परिणमता चला जा रहा। निमित्तकी बात यह है कि वह एक अपने ढगका वातावरण है, ऐसे वातावरणमे उपादान अपनी परिणतिसे विकार रूप परिणम रहा, तदनुरूप परिणम रहा। वस्तु है और अपनी प्रकृतिके कारण परिणम रहा, इसमे करनेकी क्या बात आयी? खुद खुदका करता क्या? यह तो है सो परिणमता रहता है, और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको करता नही, और खुद खुदको करे क्या? खुद दूसरेको कभी कर सकता नही, तब फिर यह करनेकी धातु, करनेका शब्द यह शब्दशास्त्रमे (कोष मे) वैयाकरणोंने रखा ही क्यो? क्या हम सब लोगोको भ्रममे डालनेके लिए रखा गया। अरे जरा वैयाकरणो, बुद्धिजीवियो! आवो तो, तुम

इस कृ धातुको डुकृञ् को बाहर निकाल दो, यह बढिया बात नही है। यह शब्द सुननेमे भी बडा कठोर लगता है, मूल धातु है डुकृञ्, इस डुकृञ् धातुको कही ले जावो, इसकी हमे कुछ जरूरत नही। इसका सारा व्यवहार सब कुछ करनेका नाम न कहेगे और व्यवहार भी सब होता रहेगा। वह पढ रहा है, उसका पढना हो रहा है, वह चाकूके द्वारा पेंसिलको ठीक कर रहा है, लो, उसके द्वारा इस चाकूके साधनसे पेन्सिल ठोक हो रही है, हम सब बात निभा लेंगे, पर हे डुकृञ् तुम जावो, खुदमे खुदको करना क्या, खुद दूसरेका कर सकता नही। 'अरे तुम तो इस डुकृञ् से इतना नाराज होते हो, और आचार्य महाराजने कहा है कर्ता, कर्ता कौन ? य परिणमति स कर्ता, जो परिणमे सो कर्ता, तो सुनो आचार्य महाराजने उमगके साथ नही कहा, किन्तु करनेके रोगियोके प्रतिबोधके लिये कहा, जब करना, करना, करना, यह सारी दुनियामे गूज रहा, जहाँ से सुनो बस वही करना, देखो जितनी भी लडाइयाँ हैं, जितने विवाद हैं वे सब करनेके नामपर है, तो करना करना जिनसे गूज रहा ऐसे लोगोको समझाना था सो बताया है कि जो परिणमता है उसे कर्ता कहते है। अरे कर्ता क्या, डुकृञ् इस धातुने तो ससारी जीवोको भ्रममे डाला, कृपा करके इस डुकृञ् को निकाल फेंको।

१४३२—विधि विधानसे परिणमतेमे कर्तृत्वकी गुंजायशका अभाव—

देखो निष्पत्तिमे कोई विधि होती है, विधिको कोई नही मेट सकता। जहा यह बात दृष्टिमे आती है कि बस भगवानने जाना वही होता, हाँ 'यह बात ठीक है, मगर भगवानने जाना क्या ? जो बात जिस योगमे जिस विधानमे जिस प्रकारसे निष्पन्न हो रही, जैसा निष्पन्न होगा वैसा तैयार मामला ज्ञानमे आया, न कि प्रभुके ज्ञानसे पदार्थकी तैयारी बनी। तो बात निमित्तनैमित्तिक योगकी असत्य नही है याने ऐसा योग होनेपर यह योग्य उपादान इस प्रकारसे परिणम जाता, मगर वहाँ वस्तु स्वातन्त्र्यको परखो, भले ही निमित्तनैमित्तिक योग है, सहज है, मगर एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको करता नही वहाँ वह ही उपादान स्वय इस लायक है, इस योग्य है कि ऐसे वातावरणमे वह इस रूपसे अपनेमे विकार रूप परिणम जाता। वह विकार कही परकी अपेक्षा नही करता, लेकिन सहज योगमे हो उपादान ऐसा कर पाता है तब ही तो कहते हैं कि निमित्त बिना विकार नही हाता। निमित्त विकारको नही करता व निमित्त बिना विकार नही होता। दोनो का सामजस्य तो देखो और उसके एक सही सतुलनसे एक ठीक सीधा मार्ग बनाओ। निमित्त नैमित्तिक योग है, वस्तुस्वातन्त्र्य है, बात सब ज्यो की त्यो है, मगर डुकृञ् धातु पसद नही, हो रहा है परिणमन जिस विधिसे जो चल रहा है। उसमे करनेकी तुक क्या है। क्योकि खुद खुदको करता क्या है ? इस अगुलीने अगुलीको टेढी कर दी, अच्छा करना तो तब जचता है कि जब कोई दूसरा हो और इसे करदे, खुद-खुदमे परिणम जाय, इसमे करनेकी क्या बात दिख रही है ? इस पर्यायको छोडा, इस पर्यायरूप परिणम गया, इतनी ही तो बात है, खुदने खुदको किया क्या ? परिणम गया। निमित्तयोगमे परिणय गया। उस निमित्तयोग बिना परिणम नही सकता विकार। सारी मजूर, मगर खुदका खुदमे करना क्या ? खुद दूसरेका कुछ त्रिकाल कर सकता नही। कई बार अगुलीका दृष्टान्त आ जाया करता, मगर वह सब भिन्न-भिन्न प्रसग है, और उनकी भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ है, सारी बाते यहाँ दृष्टिसे घटती है।

१४३३—करनेके कोलाहलकी सुननेमे भी सहायता—

यहाँ यह कह रहे कि खुद खुदको करे ऐसा शब्द प्रयोग जरा अखरता है, वह है, स्वभाव है, परिणमता है, हाँ निमित्त योग मिला, वहाँ यह अशुद्ध उपादान विकाररूप परिणम गया। ये सब बाते

व्यवस्थित बनती है, करने करनेकी बात कोई बहुत बोले तो वह बोलते बोलते उकता जायगा और सुनने वालोकी दृष्टिमें भला न लगेगा। किसी भाईने चाहे मदिर बनवाया हो, चाहे, अस्पताल खुलवाया हो, चाहे पाठशाला खुलवाया हो, चाहे अन्य कोई काम परोपकारकी दृष्टिसे किया हो, पर वह सभामे आकर ऐसा नही बोल सकता कि भाइयो मैंने यह काम तुम सबके उपकारके लिए किया है, ऐसा बोलनेमे कर्तृत्वबुद्धि बसी है, यह कर्तृत्वबुद्धि ऐसा अपराध है कि ऐसा बोलनेमे भी सरम आती है। और, जब कोई कठिन कषायभावमे हो, असभ्यतामे हो तब वह करनेकी बात बोल पायगा, असभ्यता न हो तो फिर यो बोलेगा कि भाइयो आप सबके आशीर्वादसे यह काम हो गया, मैंने इसे नही किया, मैं तो उसमे निमित्त मात्र था। वह ऐसा भी नही बोल सकता कि मैंने यह परोपकार का काम इसलिए कर दिया कि आप लोग उससे लाभ उठायें। तो यह तथ्य दृष्टिमे लेना है कि मैं रागादिक भावोका अकर्ता हू, अकारक हू, मैं रागादिकको करता नही।

१४३४—विभावको परभाव समझ पानेका उपाय—

देखिये मैं रागादिविकारका अकारक हू इस बातको पुष्ट करनेके लिए निश्चय दृष्टिसे मदद न मिलेगी, वहाँ केवल यह ही दिखेगा कि बस यह है परिणम रहा है, योग्यतासे परिणमता चला जा रहा। अच्छा और यह विकाररूप परिणम गया, हा विकाररूप परिणम गया, कैसे परिणम गया ? अपनी योग्यतासे परिणम गया। तो अब इसमे परभाव मायने क्या ? कदाचित् हम जबरदस्ती ऐसी बात लादें कि हमने परका लक्ष्य करके विकार किया इसलिए परभाव है, तो परका लक्ष्य क्यो किया ? "अपनी योग्यता से ? तो वे सब मेरे स्वरूपकी क्रियायें कहलायगी" जब तक "परसग एव निमित्त" इतनी बात न समझमे आये तब तक रागादि विकारोका परभावपना भली प्रकारसे निर्णीत करना कठिन है, और परिचय पाना कठिन है कि इसी कारण यह आत्मा रागादिकका अकारक है। यह बात जमानेके लिए बधाधिकारमे ये सब अन्तमे खबरें ली जा रही हैं कि तू अपने स्वभावको देख, अपने शुद्ध स्वभावको निरख, तू तो रागादिकका अकारक है। भैया, परसग का निमित्त याने बिना अकर्तृत्वकी, अकारकपने की बात स्पष्ट यो न आयगी कि फिर प्रश्नपर प्रश्न उठते जायेंगे। परलक्ष्य करके भाव किया तो हमने अपनी स्वतन्त्रतासे ही किया क्या ? या इसमे कोई परसग निमित्त है। यदि स्वतन्त्रतासे किया तो इसमे परभावकी क्या बात आयी ? केवल ज्ञानी भी तो परको विषय करके ज्ञान किया करते। तो क्या इतने मात्रसे परभाव हो गया केवलज्ञान ? नही हुआ, तो कैसे हुआ विकार परभाव ? जैसे हम स्पष्ट देखते हैं कि दर्पण रखा है सामने, कोई लाल पीली फोटोका सान्निध्य मिला, यह लाल पीले रूप परिणम गया। बच्चोसे लेकर बृद्ध तक सब वहाँ समझते हैं कि दर्पणमे जो लाल फोटो है वह दर्पणकी चीज नही, वह परभाव है। यहाँ थोडा विवेक जरूर किया जायगा कि परका निमित्त पाकर होने वाले दर्पणका भाव है, यहाँ परभावका यह अर्थ है, कही कपडेकी वह ललाई कपडेसे निकलकर दर्पणमे नही घुसी, मगर परसगकी बात समझे बिना परभावकी समझकी बात ठीक नही बैठती कि ये रागादिक भाव परभाव हैं, मैं इनका कर्ता नही।

१४३५—निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयका प्रयोजन आत्माके अकारकत्वका निर्णय—

सबके प्रयोजन अपने-अपने होते हैं, मैं विकारको करता नही, मैं शुद्ध स्वभावरूप हू, लो यहाँ अब परमशुद्ध निश्चयपर उतरें। इसके बाद अखण्ड शुद्धनय आयगा और वही ज्ञानरूपमे अनुभूति और शब्द रूपमे विकल्पनय है, अज्ञानी इस रहस्यको नही जानता सो वह उपादान रागादिक विकाररूप

परिणम जाता है। तथ्य तो यही है कि परसगके निमित्त सन्निधानमे ही जीव विकाररूप परिणमता है यह अपने आप अपने ही स्वभावमे, अपने ही रूपसे अपने ही द्वारा विकाररूप नही परिणमता, आचार्य ने आत्मना शब्द दिया, अपने ही द्वारा रागरूप नही बनता, मायने पर उपाधि सन्निधान बिना यह स्वय अपने ही सत्त्वसे रागादिक रूप नही बनता इसलिए यह विकारका कर्ता नही है, यह कर्ता है तो अपने शुद्धस्वरूपका कर्ता है, अध्यात्मसहस्री पुस्तकके १३ वे अध्यायके प्रवचन हुए थे, उनमे षट्कारक का भी बहुत वर्णन है। होते-होते जब हाँ शुद्ध स्वरूपकी ओर भक्ति उमडी, इस ओर दृष्टि गई तो एक बार यह भी देखा गया कि इस जीवमे मिथ्यात्व करनेकी अपनी शक्ति नही, सम्यक्त्व करनेकी शक्ति है। देखिये इस प्रकरणमे अर्थ क्या लेना कि जो अपने आप परके सम्बध बिना, परकी अपेक्षा बिना केवल अपने ही से अपने स्वरूपके ही द्वारा जो बात की जा सकती, सामर्थ्य तो वह है असली, और, होता रहता है। तो उस ही की दृष्टि यहाँ जग रही है, यह मैं विभावोको, परभावोको नही करता हू, यह ज्ञान अज्ञानीको नही है, इस वस्तुस्वभावको अज्ञानी जानता नही है, वह तो कर्मविपाक से उत्पन्न हुए याने कर्मविपाक निमित्तका सन्निधान पाकर उत्पन्न हुए रागद्वेष मोह भावो रूपसे परिणम रहा मायने अज्ञानीको रागमे राग बन रहा, इसी कारण अज्ञानी जीव विकारका कर्ता है।

१४३६—रागकी बीमारी और रागमे रागका पागलपन—

वस्तुका राग हुआ, यहाँ तक तो गुजाइस है अपनी रक्षाकी, पर रागमे राग हो फिर वहाँ किसी का वश नही चलता, इसका क्या वश चले ? वहाँ फिर गुजाइस नही, बीमार हो कोई वहाँ तक तो वश चलता और कदाचित् वह बिलकुल पागल बन जाय, दिमाग खराब हो जाय तो फिर वश होना कठिन है, बीमारी तकमे तो लोग साथ निभा देते, पर बिलकुल पागल होनेपर कोई साथ नही निभाता, प्रायः ऐसा देखा जा रहा है, चाहे घरमे कोई कितना ही प्यारा हो, पर जब वह पागल हो जाता तो वे ही घरके लोग उसे बिल्कुल मरा जैसा जान लेते और उससे फिर सम्बध नही रहता। ऐसे ही यह पागल हो गया अज्ञानी, ज्ञानी बीमार है, अज्ञानी पागल है, किसी हद तक ज्ञानीको जरा बीमारी है, जब तक रागविपाक है, तब तक उसके थोडा-थोडा राग भी चलता है, जैसे यहाँ कोई मनुष्य कितना ही स्वस्थ हो फिर भी उसके कोई न कोई रोग रहता है चाहे सर्दी जुखाम का ही जैसा क्यो न हो, ऐसे ही ज्ञानीको भी पूर्वबद्ध कर्मके विपाकके अनुसार कुछ न कुछ राग रहता है, यह रागकी बीमारी लगी है ज्ञानीके साथ चारित्रमोहके उदयमे, उसके प्रीति भी जग रही, वह घरमे भी रह रहा, दूकानमे भी बैठता, सारे काम काज देखता, पर वह अभी पागल नही हुआ, अज्ञानी पागल हो गया। बाह्य पदार्थोके प्रति प्रीति उत्पन्न हो तहाँ तक तो चिकित्सा चल सकती, पर बाह्य पदार्थोके प्रति जो प्रीति है, उसके प्रति जो आसक्ति हुई, वहाँ चिकित्सा नही चल सकती। इस अज्ञानीने रागादिकमे अपनायत किया, कि इनका मैं ही तो करने वाला हू।

१४३७—निश्चय और व्यवहारके निर्णयोकी उपयोगिता और उपचारमे मात्र प्रयोजनका लक्ष्य—

देखिये अशुद्ध निश्चयनय तो कहता है कि जीव रागका कर्ता है, उसकी दृष्टि और है और यहाँ कहा जा रहा कि जीव रागका कर्ता नही, निश्चयका अर्थ मात्र इतना ही है कि एक को देखकर ही बोलना, दूसरेको न देखना, इसके मायने यह नही कि दूसरा कुछ है ही नही, निश्चय ही यथार्थ है दूसरा सब झूठ है ऐसी बात नही, जहा निश्चय और व्यवहार इन दो मे मुकाबला करते हैं कि निश्चय सही है, व्यवहार गलत है, तो वहाँ व्यवहारका अर्थ है उपचार वाला व्यवहार और तभी माणक एव

सिहः दृष्टान्तमे बोला, वह उपचारकी बात कही। व्यवहार शब्दके अनेक अर्थ हैं। इस अर्थमे कुशलता अवश्य होना चाहिए। उपचारका अर्थ क्या? उपचार वह कहलाता है जहांपर स्वामित्व और पर कर्तृत्वकी भाषामे प्रयोग हो। उसमे असत्यता क्यो आयी कि वह परका स्वामी नही। परका कर्ता नही मगर भाषामे थोडे समयमे व्यवहार बतानेके लिए बोला जाता है, फिर भी जो विवेकी पुरुष हैं वे उसे सुनते क्यो हैं? इस उपचार भाषाको समुद्रमे क्यो नही फेंकते। क्यो आगममे प्रयोग करते? इसका कारण है प्रयोजनपर दृष्टि डालनेकी। उपचार भाषाके प्रयोगका केवल इतना हो प्रयोजन है कि उसके प्रयोजनको पहिचान लेना, और हो रहा है ऐसा। माने कहा बच्चेसे कि घीकी डबलिया ले आवो तो वह झट जाकर उठा लाता है। उस बच्चेके चित्तमे जरा भी भ्रम नही होता कि कही ऐसा तो नही है कि जैसे मिट्टी, लोहा, टीन आदिकी डबलिया होती वैसी हो घीका होती होगी यो उसे रच भी सदेह नही होता, वहा वह प्रयोजन समझ लेता कि जिसमे घी रखा है उसे घीकी डबलिया कहा गया है। तो उपचार भाषाका प्रयो न है, प्रयोजनको समझें, पर जो शब्द प्रयोग है उसे ही कोई सत्य माने तो वह भ्रममे पडेगा, इसी प्रकार परकर्तृत्वकी भाषामे प्रयोग होता उसे कहते हैं उपचार। जैसे कर्मने जीवको रागी बनाया, यह कर्तृत्व भाषाका प्रयोग है, और प्रमाण प्रयोग यह है कि कर्मविपाकके सन्निधानमे यह अशुद्ध उपादान विकाररूपसे परिणम गया। अब इतनी बडी बातको सक्षेपमे कहनेका कोई शब्द न था। तो प्रयोजन क्या है और भाषा क्या है, बस दोका विवेक करनेकी बात है, तो यह उपचार भाषा जिसको परस्वामित्व परकर्तृत्वकी बोलीमे बोला जा रहा है वह उपचार है। जिसे कहते हैं कि यह असत्य है। अब इसके अतिरिक्त कितनी ही तरहके और व्यवहार होते हैं ये असत्य नही, खूब विचार करके परखे कि वहाँ घटना ऐसी हो रही या नही।

१४३८—उपचार सजक व्यवहारकी भाषाकी असत्यता, शेष व्यवहारोकी सत्यता—

व्यवहार मायने परिणमन जैसे क्षणिक व्यवहार, व्यवहार मायने भेद, व्यवहार मायने प्रतिपादन, व्यवहार मायने साधन, व्यवहार मायने उपादान इत्यादि अनेक अर्थ हैं। देखिये जहाँ यह चर्चा चलती है कि पूर्व पर्यायसयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान कारण है वहाँ यह बतायेंगे कि यह किस नयकी भाषा है। यह है व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनयकी भाषा। दार्शनिक शास्त्रमे इन बातोका बहुत निर्णय है। निर्णय करनेका प्रधान हक दार्शनिक विषयको है। वहाँ जब यह बात चली कि प्रागभावका क्षय प्रध्वसाभाव। जैसे कि घडा फूटा और खपरिया बन गई तो खपरियोका प्रागभाव क्या है? घट। तो घटकी खपरियाँ बनी कैसे? किसी दार्शनिकने कहा कि प्रागभावका अभाव होनेसे खपरियाँ बनी, तो जैन दार्शनिक उसमे विवाद उत्पन्न करते कि प्रागभाव तो पहली परिणतिका नाम है ना, कार्यसे प्रथम समयकी पर्याय, वह है प्रागभाव और इस प्रागभावसे पहलेकी जो अनन्त पर्यायें गुजरी, वे यह प्रागभाव नही ना? हाँ नही। तो उन पहले समयोमे खपरियाँ याने कार्य हो जाना चाहिये प्रागभावका पहले भी अभाव है। वहाँ प्रागभाव नही है ना। इस प्रागभावका अभाव जब खपरियाँ बन गई उसके बाद भी तो भविष्यकी पर्यायोमे इस प्रागभावका अभाव है, जैसे कि पहलेकी पर्यायोमे उस प्रागभावका अभाव है। वह कार्य बहुत पहले और बहुत पीछे क्यो नही हो जाता। तो उत्तर देते कि प्रागभावका अभावके मायने कार्य नहीं, किन्तु प्रागभावके उपमर्दनका नाम कार्य है। अष्टसहस्री ग्रन्थमे जब हमने यह शब्द पढा 'उपमर्दन' तो वहाँ आचार्यदेवके ज्ञानपर ऐसी उत्कृष्ट श्रद्धा बनी कि कैसे युक्तिवादी होते हैं ये पुण्यात्मा पुरुष। प्रागभावका अभाव कार्य नही किन्तु प्रागभावका उपमर्दनात्मक

अभाव कार्य है। हाँ तो फिर वही बतलाया, उपादान उपादेय। तो स्पष्ट लिखा कि यह व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनयसे ज्ञानमे आता कि पूर्वपर्यायसयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान है, क्योकि उसमे अन्वय और द्रव्यत्वकी मुख्यता है। अच्छा और आप निरखिये ७ नय कहे उसमे नैगम सग्रह व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिकनयके भेद बताये है और ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवभूतनय, ये पर्यायार्थिकनयके भेद बताये हैं। व्यवहारनयका जब विश्लेषण करेंगे तो कितनी कितनी बाते आयेगी, कितनेही तरहके अर्थ है, कितनेही प्रसग हैं। बुद्धि स्वय जवाब दे देगी कि यह बात ऐसी है तो वह ठीक हैं। उसमे देखेंगे आप कि सत्य चार प्रकारके होते है।

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्य समग्र बलात्, तन्मूल बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकाम समम्। आत्मान समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसविद्युतं, येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥ १७८ ॥

१४३६—आत्माके विकाराकारकत्वका विचार—

ऐसा विचार करके, कैसा विचार करके ? जो कि इससे पहले कहा गया है, क्या कहा गया है ? कि आत्मा अपने आपसे शुद्ध स्वभाव होनेके कारण रागादिक रूप नही परिणमता, किन्तु पर द्रव्यके सान्निध्यमे और आचार्यदेवके शब्दोमे परद्रव्योके द्वारा ही यह शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ रागादिक रूपसे परिणमाया जाता है, ऐसा यह एक वस्तुस्वभाव है, योग्य उपादान अनुकूल परद्रव्यके सान्निध्यमे ही अनुरूप विकाररूपसे परिणमता है इसको जो नही जानता वह अज्ञानी है और वह रागादिक भावो को अपना बनाता है, मैंने किया, इन रागादिक भावोका मैं कर्ता हूँ, इस तरह जान रहा, क्योकि उसे निमित्तनैमित्तिकयोगकी जानकारी नही और वह अपने आपको मान रहा कि मैं रागादिकका करने वाला हूँ। इस प्रकार जो अपने आपको रागादिक रूप कर रहा है वह अज्ञानी जीव कर्मोंसे बँध रहा है और जो यह जानता है कि मैं तो शुद्धस्वभावरूप हूँ, मेरी जो शुद्ध परिणति है, हो सकती है उस ही रूपमे परिणमनेमे मैं स्वय समर्थ हूँ और पर निमित्त भी उसमे नही होता, स्वय ही सब कुछ रहा। एक काल द्रव्य साधारण निमित्त है, उसकी प्रतिष्ठा यो नही की जाती कि न हो काल तो न परिणमे ऐसा व्यतिरेक नही मिलता। वस्तुस्वभावको जो नही जानता वह अज्ञानी रागादिकको अपना बना रहा है और वह कारक होता है, सो वह कर्मविपाकसे उत्पन्न हुए रागद्वेष मोहादिक भावो से परिणमता हुआ अज्ञानी रागद्वेष मोहभावका कर्ता होता हुआ बँधता है, इसको अगर बहुत सीधी भाषामे बोलें तो राग होता है और होते हुए उस रागको जिसने अपना राग माना है अपना कर डाला है कि यह मेरा स्वरूप है, इस प्रकार जो रागमे राग बनाये है उसको कर्ता बोलते है।

१४४०—करनेके प्रयोगकी व्यर्थता—

यह बात पहले कही थी कि केवल पदार्थ–पदार्थकी बात निरखी जाय तो करना नाम किसका ? खुद खुदमे करता क्या ? परिणमता है, खुद दूसरेको त्रिकाल कर सकता नही, इस कारण करना जो बोलते है, यह सब फालतूका व्यवहार है। अगर सही सही वर्णन करें तो यो कर देंगे कि अमुक द्रव्यके सान्निध्यमे अमुक पदार्थ इस रूप परिणम रहा, तब करनेकी बात कुछ न आयी यह एक वातावरण है, जिसके होनेपर ही यह जीव विकार करता है, जिसके न-होनेपर जीव विकार नही करता, मगर करनेकी बात चूकि एक प्रसिद्ध शब्द हो गया सो न करें तब भी करना शब्द लगा दिया जाता है, पर कोई खुदमे या परमे करता कुछ नही, परिणमन है सर्वत्र और इस ही परिणमनको कर्ता कहा जाता। तो इस दृष्टिसे देखें तो अज्ञानी भी कहाँ कर्ता है, किसका कर्ता है, कैसे कर्ता है ? अज्ञानी जीवके राग

परिणमन होता रहता है, अच्छा और बढ़कर कहो, रागपरिणमनमें आसक्ति, मोह चल रहा है याने उस राग परिणमनसे अपनेको तन्मय मान रहा है, इसमें करनेकी क्या बात आयी ? पर उस राग परिणमन मे अपनेको तन्मय माननेका नाम कर्ता कहलाता है। तो जो वस्तुस्वभावको नही जानता वही यह कहता है कि मैं रागभावका कर्ता हू।

१४४१—निमित्तनैमित्तिकयोगके परिचयमे आत्माके विकाराकारकत्वका परिचय—

देखना, अशुद्ध निश्चयनय यह बात बतलाता है कि यह ससारी जीव अपने रागादिक परिणामो का कर्ता है, मगर इसे निश्चय क्यो कहा गया है ? इस कारण कि एकको ही देखकर बात कही जा रही है। अब यहाँ यह देखो कि इस व्यवहारने उस अशुद्ध निश्चयके विषयसे भी बढकर बात कही कि यह जीव रागादिकका कर्ता नही, किन्तु यह तो उस वातावरण द्वारा परिणमाया गया है, परिणमा है, मगर यह अपने ही शुद्धस्वभावरूप है। यह रागादिकका कर्ता नही। प्रमाणसे इस बातको और विशेषतासे प्रमाणित किया कि भाई ऐसे इस विपाकके कालमे यह जीव अपने शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ रागादिक रूप परिणम रहा है। सब उपदेशोमे प्रयोजन एक लेना कि जिस प्रकार यह जीव शुद्धस्वभावकी ओर अभिमुख हो सके उस प्रकार परिचय प्राप्त करना है। सबका प्रयोजन एक है और उस प्रयोजनके नातेसे जितने भी ज्ञानी पुरुष हैं उन सब ज्ञानियोके एक ही मार्ग है शुद्धस्वभावको परखना, अखण्ड अन्तस्तत्त्वका आलम्बन लेना। एतदर्थ आवश्यक है स्वभावका परिचय होना। कही एकदम साक्षात् परिचय हो जाय स्वभावका, उसे कहते हैं परम शुद्धनिश्चयनय और कही अन्य उपदेशो द्वारा उस स्वभावका निर्णय बनेगा याने परम शुद्ध निश्चयनय बनेगा उसके ये सब उपाय हैं। जितने भी समयसारमे जहाँ जहाँ जो भी कथन है, सबको इस तरहसे ही समझना कि जिससे सर्वविविक्त आत्माका चैतन्यस्वभाव दृष्टिमे आये। तो यह जब वस्तुस्वभाव नही जाना, उस जीवने अज्ञानवश रागादिक भावोको अपना किया, अपना बनाया, अपना माना, यह मैं इसका कर्ता हूँ, सो जो विकारका कारक बनता है, वह कर्मसे बँधता है, किन्तु जो अकारक है, वह कर्मसे नही बँधता। यह सब तथ्य जिसके विचारमे आया उसके एक निर्णय बनता कि यह आत्मा स्वय ही अपने आपसे रागादिक भावोका कारक नही है। क्यो नही है, इसका कारण अब दूसरा बतला रहे।

१४४२—प्रतिक्रमणादिके द्वैविध्यके उपदेशसे आत्माके विकाराकारकत्वकी सिद्धि—

अगर यह आत्मा अपने स्वभावसे रागादिकका कर्ता होता तो यह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इन दोके द्वैविध्यका उपदेश न दिया जाता। क्या मतलब ? इनके दो दो पने का उपदेश नही दिया जाता, क्या मतलब ? अप्रतिक्रमण दो प्रकार के हैं द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण। द्रव्य अप्रतिक्रमण-पूर्व कालमे जो पदार्थ मिला था उस पदार्थके प्रति पूर्व कालमे राग किया था, वह तो बात हो गई, गई गुजरी, पर अज्ञानीके नही हुई गई गुजरी ? किया था उसने राग, मगर उसका ख्याल करके वर्तमानमे उसे गल्ती नही समझ रहा, वह उसकी गल्ती थी और यहाँ उसे भला समझ लेता है, मैंने ठीक किया था, यह हुआ द्रव्य अप्रतिक्रमण, जैसे अब भी तो जब कभी कोई बात आ जाती, कोई चीज बनाया, निर्माण किया और किसीने कुछ कहा कि आपने ठीक नही किया तो यह कहता है कि मैंने तो ठीक किया था। अरे जब किया था तब किया था मगर आजके भावमे पहलेके उस सयोगको जो अच्छा समझ रहा है वह द्रव्य अप्रतिक्रमण कर रहा है, याने बात न चीत, बात तो गई गुजरी मगर त्रुटिको वर्तमानमें सही समझ करके पापबध कर रहा, इसे कहते हैं द्रव्य अप्रतिक्रमण। और,

भाव अप्रतिक्रमण क्या ? उस द्रव्य अप्रतिक्रमणके सम्बधमे याने उस बाह्य पदार्थसे राग करके जो हमने अपनी मौज मानी, जो विकार किया, जो प्रीति मानी, उस राग, प्रीति और मौजके प्रति आज ममता बनी, मैंने क्या मौज किया था उस उस बातमे, उस उस सगमे मैंने कैसा मौज माना, कैसे मेरे अच्छे आनन्दके दिन थे, इस तरह उन भावोमे जो कि पहले माने गए थे उनका स्मरण कर आज सस्कार बनाया जा रहा है, वासना की जा रही है कि मैंने वहाँ खूब मौज लूटा था । बडा अच्छा समय गुजरता था, यह हो गया भाव अप्रतिक्रमण ।

१४४३—द्रव्य अप्रतिक्रमण व भाव अप्रतिक्रमणके निमित्तनैमित्तिकपनेका विश्लेषण—

द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमण इन दो बातोमे एक ध्यान दीजिए, कि भाव अप्रतिक्रमण कब बना पहले समयमे जो अव्रत क्रिया की, पाप काय किया पापका साधन जोडा और उससे जो इसके पापभाव बने उन पापभावोंका जो आज मौज माना जा रहा है कि मैंने कैसा आनन्द लूटा था । कैसा मेरा मौज चल रहा था, इस प्रकारका जो भाव अप्रतिक्रमण बना याने भाव जो पहले भोगा था उन भावो को आजकी वासनामे उभाडा जा रहा है, यह समझिये नैमित्तिक काम हुआ और इसका आधार क्या रहा ? द्रव्य अप्रतिक्रमण । तो उन बाहरी पदार्थोंका जो सम्बध बना, उस सम्बधकी जो इच्छा की वह बात हो तो फिर इच्छाकी इच्छा बनी । देखो सीधे एक वर्तमानकी बात ले लीजिए । कहते ना-राग हुआ और रागमे राग हुआ तो रागमे राग हुआ, इसका आधार तो राग था ना ? राग न होता तो उस रागमे राग कहाँ से होता ? जैसे यहाँ हम आप समझ सकते है ऐसे ही भूत की बात समझिये कि द्रव्य अप्रतिक्रमण नही होता तो भाव अप्रतिक्रमण कहाँ ठहरता तो इसमे यह बात दर्शायी गई है कि द्रव्य अप्रतिक्रमण निमित्त हुआ और भाव अप्रतिक्रमण नैमित्तिक हुआ तो ऐसे इन दो बातोमे जो निमित्त नैमित्तिक की व्यवस्था बतायी है वह इस बातको सिद्ध कर रही है कि आत्मा रागादिकका अकारक है । किन्तु, आत्माकी वे विकृत परिणतियाँ विशिष्ट विपाक वश होती है, इनमे फसाव होना यह भी एक निमित्त नैमित्तिक योगकी बात है । आत्माकी और पर वस्तुकी जो परिणतियाँ है उनमे निमित्त नैमित्तिक भाव है परतु आत्मामे कारकता न बनाइये, क्योकि आत्मा तो शुद्धस्वभाव रूप है, उसके साथ अन्वय व्यतिरेक नही बनता । जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक बने वहाँ लगाओ सम्बध निमित्त नैमित्तिक का । ऐसा जब यहाँ देखा जा रहा है तो इसने यह निर्णय किया कि मैं आत्मा अकर्ता हूँ जो द्रव्य और भावरूपसे अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान का उपदेश है वह द्रव्य और भावमे निमित्त नैमित्तिक भावको प्रसिद्ध कर रहा है, और वहाँ निमित्त नैमित्तिक भावकी प्रसिद्धि क्या ज्ञापन कर रही है कि आत्मा अकर्ता है ।

१४४४—आत्मस्वभावकी विशुद्धताका दिग्दर्शन—

आत्मा स्वय अपने स्वरूपसे जैसा है उस स्वरूपमे देखे तो सही, वहाँ कही विकार रखे हैं क्या ? स्वभावमे विकार नही पडे हैं, स्वभावका परिणमन हो तो स्वभावके अनुरूप होना चाहिए, उसका वह कर्ता कहलाया, मगर यहा विरुद्ध परिणमन चला तो स्वय, मगर निमित्त हुआ परसग ही । आत्मा ही विकारमे निमित्त हो और विरुद्ध विकार परिणमन चले, उसका यहा निषेध किया, क्योकि इसमें आत्मा नित्य कर्ता हो जायगा । तो परसग ही उसमे निमित्त है, ऐसा कह करके पहले सिद्ध किया था कि आत्मा रागादिकका अकर्ता है, और अब दूसरी युक्तिसे सिद्ध कर रहे हैं कि आत्मा रागादिकका अकर्ता है । अगर आत्मा रागादिकका कर्ता होता तो ये द्रव्य अप्रतिक्रमण, भाव अप्रतिक्रमण इनके कहने

का अर्थ क्या ? और, ये दो जब कहे गए हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिकका कर्ता नही है, तब क्या युक्त रहा ? परद्रव्य निमित्त है और आत्माके रागादिक भाव नैमित्तिक हैं । यदि ऐसा न कहा जाय तो यह उपदेश किया है कि द्रव्य अप्रतिक्रमण कर्ता है और भाव अप्रतिक्रमण कर्म है, यह उपदेश अनर्थक हो जावेगा, क्यो अनर्थक न होना चाहिए, क्योकि शास्त्रोमे लिखा, युक्तिसे जाना, अनुभवसे माना, यह उपदेश अनर्थक नही । इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा रागादिकका अकर्ता है। वह तो हो गया अनर्थक । और, यहाँ आत्माको रागादिक भावोकी उत्पत्तिमे मान लिया निमित्त तो यह नित्य कर्ता हुआ, मोक्षका अभाव हो जायगा । क्योकि अनादिसिद्ध यह अपने स्वभावसे रागरूप परिणमता रहता है तो उस स्वभावको कौन मेटेगा ? स्वभाव है जब विकारका, तो निरन्तर होता रहे, फिर उसका नाम विकार ही क्यो कहा ? क्योंकि स्वभावसे चल रहा है, वह स्वभाव ही स्वभाव है वह सब विकार है वह भी स्वभाव हो तो यह अवसर हो कैसे आयगा कि ये विकार न रहे, तो स्वभावसे जब यह आत्मा अपने रागादिक विकार को करे, ऐसा माना जाय तो यह सदा कर्ता हो जायगा ? अब जो बात यहाँ कही जा रही है कि परद्रव्य निमित्त हैं, रागादिक नैमित्तिक हैं, इससे यह बात लेना है कि यह आत्मा रागादिक का कर्ता नही है । देखो जब ऐसा मानें कि आत्मा अपने आपसे रागका करने वाला है तो फिर रागसे छुटकारा मिलना कठिन है । ये दोनो ही बातें सदा हैं सो रागको करता ही रहेगा । और, ऐसा माना जाय कि कोई पर पदार्थ आत्मामे रागादिक परिणति करता है तो सदा होता रहेगा राग, क्योकि दूसरा पदार्थ गम क्यो खायगा कि मैं कुछ इसको सुविधा दूँ । आत्मा राग परिणति न करे और निमित्त उसका कर्ता बने तो विकार कभी मिटेगा नही और उपादान स्वय निमित्त होकर कर्ता बने तो विकार कभी मिटेगा नही । इस तरह यह उपदेश बताया कि कर्म विपाकका जब उदयकाल है, उदय आया तो उस उदय कालमे उस विपाकके सान्निध्यमे यह जीव शुद्ध उपादान स्वय शुद्धस्वभावको छोडता हुआ रागादिक रूप परिणम जाता है । परिणमा यह जीव ही, मगर उस वातावरणमे यह राग विकाररूप परिणमा ।

१४४५—कर्मवेगकी हीनता व अधिकताका कर्मगत कारण—

एक बात और करणानुयोगकी जाने, जैसे कि पडित टोडरमलजी ने एक प्रसगमे कहा कि नदी वह रही है, उसमेसे कोई मनुष्य पार कर रहा है तो जहाँ उसका वेग कम हो वहाँ वह पौरुष करता है और उस नदीको पार कर लेता है । तो वेग क्या चीज है ? वहाँ है जलका वेग, यहाँ है विभावो का वेग और दूसरा है कर्मविपाकका वेग । तो यह कर्मविपाक कैसे मद तीव्र वेगमे आया करते हैं उस कर्मकी बात सुनिये जरा । जीवने एक समयमे कर्म बाँधा । मानो बँधना तो है करोडो सागरोकी स्थितिमे, दृष्टान्तमे कुछ भी ले लो । मानो १०० वर्षकी स्थिति बाँधी और मानो कई करोड परमाणु बाँधे, बँधते तो हैं अनन्त परमाणु, किन्तु दृष्टान्तमे मान लो, तो कई करोड परमाणु एक समयमे उदयमे न आयेंगे किन्तु किस तरह आवेंगे ? उन बद्ध परमाणुओंकी अबाधाकाल जैसे समझ लो एक मिनट है तो उस एक मिनटको तो छोड दो । उस आबाधाकालके बाद एक मिनट कम १०० वर्षके जितने समय हैं उन प्रत्येक समयोंमे वे कई करोड परमाणु बँट जायेंगे । वह कहलाती है भिन्न-भिन्न निषेकोकी स्थिति, तो बढते कैसे हैं वे ? उसकी गुण हानियाँ होती हैं । तो वहाँ एक मिनट कम १०० वर्षके जितने समय है उन प्रत्येक समयोमे वे इस प्रकार परस्पर परमाणु बँट गए । कौन बाँटने वाला है ? सब प्रक्रियामे हो रही हैं, निमित्तनैमित्तिक योग सर्वत्र दिखता है, कर्मके निमित्तसे जीवमे परिणमन

हुए, केवल इसीको न देखना, जीवके भावोके निमित्तमे कर्ममे क्या गुजरता, यह भी एक योग है, अच्छा, तो वे बँधे तो हैं मगर पहले समयमे परमाणु ज्यादह बँटते हैं, मिलते हैं, दूसरे समयमें उससे कुछ कम फिर और कुछ कम होते होते अन्तमे मायने १०० वर्षके आखिरी समयमे वे कर्म परमाणु बहुत कम मिले, पर अनुभागका क्या हाल है कि जहाँ अधिक परमाणु मिलते याने पहले समयमे उसकी शक्ति कम है और कम कम जैसे पाते गए शक्ति बढती गई और अन्तमे १०० वर्षके आखिरी समयमे जहाँ समझो ४-६ परमाणु हिस्सेमे हैं, परमाणु तो एक पुञ्जमे अनन्तानन्त होते किन्तु दृष्टान्तके लिये यह सब कहा जा रहा है। अब वहाँ जो कम परमाणुके निषेक है, उनकी ताकत पूर्वसे अनन्त गुणी है, देखो शायद इसी बातको परखा हो वैज्ञानिकोने जिससे अणुबम खोज निकाला हो, एक परमाणुमे कितनी शक्ति है इसका अदाज उस एटम बमसे भी हो जाता। यह तो हो गया प्रथम एक समयमे जो कर्म बाँधे वे भविष्यमे बटे। अब उसके बादके समयमे भी यह प्रक्रिया हुई। उसमे भी मानो १०० वर्षकी स्थिति बाधी तो उसके १०० वर्षसे एक समय अधिक पडा ना ? वहाँ तक अबाधाकालको छोडकर सब समयोमे कर्म बँध गए। बात वही, पहले ज्यादह फिर कम ऐसे ही अनेको समयोके कर्मोंके बन्धके सम्बधमे समझना।

१४४६—कर्मवेगकी हीनताका अवसर

अब उदयकी बात देखो जो कर्म बाँधे थे, उनमे आज जो निषेक उदयमे आ रहे हैं वे कब कब के बाँधे आ रहे, उनकी सख्या कितनी है, उनका अनुभाग कितना है, और उन सबका अनुभाग जो अनुपात मे बैठे वह उस एक क्षणकी फलदानशक्ति है, जैसे २० औषधियोको मिलाकर गोली बनाई तो उन औषधियोंमे प्रत्येक औषधिकी तासीर जुदी है, तेज और वेग जुदा जुदा है, किन्तु उन सबकी एक गोली बननेपर उनका जो अनुपात होगा उसके अनुसार रोगीको काम देगा। इस तरहके अनुभागमे जिस समय अनेकसमयबद्ध एकसमयोदयागत निषेकके अनुभागकी डिग्रियाँ कम होगी उस समयमे जीव पुरुषार्थ करके ज्ञानमार्गमे बढ लेता है। जैसे कि किसी नदीमे से कोई पुरुष पैदल दूसरे पार जा रहा है, अब नदीमे वेग भी रहता है, तो जब उसमे वेग न हो तो ऐसी स्थितिमें वह नदीको पार कर लेता है, तो अब आप सोचिये कि जो आज कर्म उदयमे आ रहे हैं वे अनगिनते भवो पहलेके हैं, और कदाचित् उन्हे अनन्त भी कह दिया जाय तो कह सकते है किन्तु उस अनन्तका अर्थ अन्तरहित नही है। अवधि ज्ञानके विषयसे परे हो वह भी अनन्त कहलाता है। अनन्त ९ प्रकारके बताये गए।

१४४७—कर्मबन्धनकी पूर्वचिरकालताके परिचयका दिग्दर्शन—

देखिये ऋषभदेवके समयमे जो मारीचि था, जिसके बारेमे यह उपदेशमे आया, जब पूछा गया कि अपने कुलमे तीर्थंकर कौन होगा ? तो उत्तर मिला कि मारीचि तीर्थंकर होगा। यह बात सुनकर उसे अहकार आ गया और तबसे लेकर चौथे कालके करीब अन्त तक भ्रमण करता रहा वह कितना काल व्यतीत हो गया ? एक कोडाकोडी सागर, यह कितना होता है उसके सम्बधमे तो पीछे बताया ही जा चुका है। उसमें बीचमे मानलो १० दिनके लिए भी वह लब्ध्यपर्याप्तक बन गया हो या जो भव बताया ग्रन्थोमे तो अब दस दिनमे कितने भव हो जायेंगे, एक श्वासमे १८ बार जन्म मरण करें, एक नाडी उचकी तो इतनेमे १८ बार जन्म मरण हो जाता, तो एक अन्तर्मुहूर्तमे कोई ६६३३६ बारके करीबमे पड जाता है, अब एक घडेमे मानलो एक लाख हुए, इस तरहसे १२ घटेमें हुए १२ लाख, एक दिन रातमे हुए २४ लाख, ऐसे दस दिनमे ढाई करोड जन्म मरण हुए अब मान लो १०० वर्ष तक रहे

तो न जाने कितने ही बार जन्म मरण होगा। तो बात यह कह रहे कि हमारे कितने भव पहलेके बांधे हुए कर्म आज स्थित है और उदयागत होते हैं। तो अब जो एक समयमे उदय आया है तो वह वह जो कभी किसी समयका बँधा, उसी तरहसे प्रदेशका बटवारा और अनुभागका बटवारा हुआ। अब एक समयमे जो उदयमे अनुभागका अनुपात आया वह वर्तमानमे विकारका निमित्तभूत है, इसी कारण तो कहते हैं कि अनुकूल निमित्तके सानिध्यमे नैमित्तिक कार्य होता है।

१४४८—दृष्टान्तपूर्वक कार्यके निमित्तानुरूपत्वकी सिद्धि और नैमित्तिकभावके अस्वभावभावत्वकी सिद्धि—

जैसे दर्पणके सामने कोई पीला कपडा रखा तो दर्पणमे फोटो पीला आयगा तो पीला स्वय वह कपडा है, उसका सान्निध्य पाकर दर्पणमे अपनी स्वच्छताको त्यागकर पीले फोटोरूपमे परिणमन किया है। हाँ तो जो कर्मविपाक उदयमे आया उसका प्रतिफल तो अनिवारित है। अब ज्ञानीकी विजय इस बातमे है कि वह रहस्य समझे कि यह विकार मेरे स्वरूपका नही है किन्तु यह नैमित्तिक है। मैं इस विकारका कर्ता नही हूँ, जिसको ऐसा ज्ञान जगा हैं तो इस विशुद्ध परिणामके सान्निध्यमे बध आश्रव नवीन नही हो रहा है, वहाँ अबुद्धिपूर्वक कलुषता तो हुई, वह है विपाक प्रतिफलनरूप किन्तु ज्ञानीने उसे अपनाया नही है इस कारण यह ज्ञानी कर्ता नही और ससार प्रकृतिका बधक नही। जिसके सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोका उपशम क्षय क्षयोपशम हुआ है उसको ऐसा स्पष्ट आत्मप्रतिबोध हुआ है कि वह अपने स्वभावभावके अतिरिक्त किसी भी परभावको अपना नही करता है, परभाव तो किसी आत्माका स्वरूप नही है किन्तु अज्ञानीने मान्यताकी कि यह मेरा है इस कारण वह कर्ता कहा जाता है, जैसे मकान आपका तो नही है किन्तु मान्यतामे यह बात लायें कि यह मेरा है तो आप उसके कर्ता कहलाने लगते ऐसे ही जो नैमित्तिक विभाव है वह जीवका स्वरूप तो नही है लेकिन उसे जो अपना करे तो वह कारक कहलाने लगता है।

१४४९—अप्रतिक्रमण द्वैविध्य विषयक उपदेशके अनुसार आत्माके विकाराकारकत्वका चिन्तन—

ज्ञानी जीव यह चिन्तन कर रहा है कि यह आत्मा अपने आपसे स्वय विकारको करने वाला नही हैं। कैसे जाना कि आत्मा विकारका अकारक है? आगममे यह उपदेश है कि परद्रव्यका त्याग न करना यह होता है निमित्त और विभावोका त्याग न करना यह होता है नैमित्तिक याने द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण, तो जब वहाँ निमित्तनैमित्तिक की व्यवस्था ही है तो उससे यह सिद्ध है कि आत्मा रागादिक विकारोका करने वाला नही है, उसे यो समझ लीजिए कि ऐसे वातावरण मे विकार हो जाता है, यह जीव अपने आपके स्वभावसे विकारको नही करता। तो यहाँ इससे प्रसिद्ध वह बात के लीजिए—परवस्तुका त्याग न करना, मायने परवस्तुके बारेमे इच्छा बनाये रहना यह तो हुआ निमित्त और उस इच्छा विकार आदिकमे अपनी रुचि करना, उसे अपना मानना, यह हुआ विभावका अपनाना नैमित्तिक, यो परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है द्रव्य अप्रतिक्रमण व भाव अप्रतिक्रमणमे। वह यह सिद्ध कर रहा कि जीव रागद्वेषका करने वाला नही है, और मोटी बात लो कि जैसे एक दृष्टान्त दिया हैं कि धानके ऊपरका छिलका साफ न उतरा हो तो भीतर रहने वाले चावलमें जो ललाई या पतली भुसी सी रहती वह दूर नही की जा सकती, पहले धानके छिलका तो दूर हो, उसके बाद उद्यम करता है कूटने वाला कि वह चूर्ण जैसी भुसी भी दूर हो जाती है इसी तरह बताया कि बाह्य परिग्रहका त्याग न किया तो अन्तरग मूर्छा ममता इन भावोका त्याग नही किया जा सकता, इस ओरसे तो नियम है और बाह्य परिग्रहोका ग्रहण करे, उसमें मन रमावे और कहे कि बाहरी

परिग्रह हैं, उनसे क्या सम्बध है ? अन्तरगभाव शुद्ध होना चाहिए, यह आत्मवचना है। परद्रव्य निमित्त है और विभाव नैमित्तिक हैं, ऐसी जो बात कही गई है वह यह बात सिद्ध कर रही है कि आत्मा रागादिकका अकारण है। इस तथ्यकी कई बातोसे, कई उपायोसे सिद्धि चल रही है, उसीको कह रहे है कि तभी तो यह बात बनी कि परद्रव्य ही आत्माके रागादिक भावोका निमित्त हुआ, और जब ऐसा तथ्य है तो यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिकका अकारक है।

१४५०—द्रव्यअप्रतिक्रमण व भाव अप्रतिक्रमणके अन्वय व्यतिरेकका दिग्दर्शन—

यहाँ यह बात भी जानना कि जीव निमित्तभूत द्रव्यका जब तक त्याग नही करता, प्रतिक्रमण नही करता, प्रत्याख्यान नही करता, तब तक विभावोका त्याग नही बनता, और जब तक उन भावोका त्याग नही बनता तब तक वह कर्ता हा है जिसको अपने स्वरूपकी न्यारी सुध नही है, और जो विभाव जगते हैं उनको वह स्वरूप मान रहा है, तो इसमे परिणमनेका काम तो चल रहा है, पर विभाव परिणमनमे ममता और तन्मयता आनेसे वह उसका कर्ता कहा जाता है। और इसी तरह यह भी जानना कि जिस समय निमित्तभूत द्रव्यका त्याग करता है प्रत्याख्यान प्रत्याक्रमण करता है उस ही समय यह नैमित्तिकभूत भावोका भी प्रतिक्रमण करता है, त्याग करता है और जब भावोका त्याग कर दिया याने उन रागादिक विकारोमे, विभावोमे जब इसने रुचि न रखी, उनसे निराला अपनेको समझा भाव प्रतिक्रमण हुआ तो उसी समय यह जीव साक्षात् अकर्ता होता है, इस प्रसगमे बस यह बात बतायी गई कि यह जीव रागादिकका अकर्ता है, और इसका कारण यह दरशाया गया है कि द्रव्य अप्रतिक्रमण, भाव अप्रतिक्रमण यो जो दो प्रकार का उपदेश है और उनमे भी द्रव्य अप्रतिक्रमण कर्ता, भाव अप्रतिक्रमण कर्म इस तरहका उपदेश है, इससे यह सिद्ध हुआ कि यह जीव रागादिक भावोका अकारक है।

१४५१—द्रव्य और भावकी निमित्तनैमित्तिकताके विषयमे उदाहरणके लिये अधः कर्म व उद्दिष्टका निर्देश—

अच्छा, द्रव्य और भावमे निमित्तनैमित्तिकपना बताया है, इसका कोई उदाहरण है क्या ? समयसारमे तो आचार्यदेवने स्वय उदाहरण दिया है कि देखो जैसे अधःकर्म और उद्दिष्ट ये दो दोष हैं ता इनमे अध कर्म और उद्दिष्टका त्याग जो नही करता उसके बधकभावका त्याग न बनता तो ये परद्रव्य और नैमित्तिक भाव इनका उदाहरण बना ना ! भाव क्या है ? अध कर्मके मायने है कि अशुद्ध भोजन बनाना, हिंसा सहित भोजन बनाना, अमर्यादित भोजन, जैसी चाहे प्रवृति करके, जैसे चौकेमे घसीटकर बर्तन लाना, इस तरह भोजन बनाये गए का नाम है अध कर्म, और भी बडी-बडी बातें ले लो, और उद्दिष्ट मायने केवल पात्रके लिए ही बनाया गया भोजन उद्दिष्ट है, इसका जब तक त्याग नही करता, तब तक भाव प्रत्याख्यान नही होता। देखिये उद्दिष्ट त्याग मायने क्या है? मन,वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदना, नवकोटिका विशुद्ध परिणाम होना, नवकोटिसे आहारमे सम्मिलित न होना इसे कहते हैं उद्दिष्टका त्याग, यह परिभाषा मुनिकी ओरसे है, और उद्दिष्ट मायने केवल मुनिके लिए ही भोजन बना दिया, स्वय जैसा बनाते सो तो अलग है ही, अगर उसके लिए ही केवल अलगसे चूल्हा, सिगडी आदि साधनपर बना दिया तो वह उद्दिष्ट भोजन है।

१४५२—उद्दिष्ट व अतिथिसंविभागमे अन्तर—

अब ऐसा ध्यान दीजिए-उद्दिष्ट और अतिथिसम्विभाग इन दो का अन्तर देखो। अतिथि सम्विभाग करना इस श्रावकका कर्तव्य है मायने अतिथिके लिए उसमे विभाग बनाना, मैं भोजन बना रहा हूं अतिथिका भी मैं विभाग बनाऊंगा, यह काम अतिथिसम्विभागमे है, याने केवल अतिथिके लिए हो

भोजन बनाकर उसे आहार कराना इसमे उद्दिष्टका दोप है, जैसे कभी कोई अवसर ऐसा आता है कि कोई अचानक ही आहारटाइमके अतिरिक्त मौके पर आ गया, मानलो दिनके दो ढाई बजे आ गया जब कि चौका सम्बधी काम खतम हो चुका था ऐसे मौके पर आ गया और उसके लिये ही मात्र बनाकर खिलाया जाय तो इसमे उद्दिष्टका दोप है। और स्वय चाहे रोज अशुद्ध खाता हो, पर एक दिन भी भाव करे कि मै तो आज पात्रदान करूँगा, शुद्ध विधिसे आहार बनाऊँगा और उसी जगहपर बनाये, सबके लिए बनाये, वहाँ फिर यह विभाग न बने कि इतना तो सबके लिए रसोईमे ऐसा भोजन बनालो और अतिथिके लिए ऐसा अलग बना लो, ऐसा विभाग वहाँ न करे तो वह उद्दिष्ट न कहलायगा। अतिथि सम्विभागमे भी सोचा तो गया है कि मैं अतिथिको आज पात्रदान करूँगा और उसके लिए भी बनाये, पर अपन सबके लिए वह अलगसे न बनाये तो वह अतिथिसम्विभाग है। इसका एक उदाहरण सुनिये। ऐसा भी नियम लेता है श्रावक कि प्रत्येक महीनेके अन्दर इस इस दिन मैं पात्रदान करूँगा, मायने वह रोज-रोज तो अशुद्ध खाता था अब उसने ऐसा सोच लिया अब मैं तीजको, या पचमीको, या दसमीको किसी भी दिनके लिए सोच ले, पात्रदान करूगा तो ऐसे भावसे जो अतिथि सम्विभाग करता है उसे युक्त कहा गया है। चाहे रोज नही कर रहा, उसने कोई एक दिन ही किया, वह अतिथि सम्विभाग है। यदि केवल पात्रके लिये ही भोजन कोई बनाये तो यह है श्रावकके आश्रयका दोप। और वहाँ मुनिजन उस विषयको मनसे, वचनसे, कायसे न तो करेंगे, न करायेंगे और न अनुमोदना करेंगे न वचनसे बोलेंगे किसी तरहका विकल्प न रखेंगे तो उनका नवकोटि विशुद्ध आहार बना और इसीके मायने है निरुद्दिष्ट भोजन देखिये यहाँ जो वर्णन चल रहा है वह यह चल रहा है उस जगह कोई और भी उदाहरण दे सकते थे, मगर यह ग्रन्थ मुनियोने बनाया है और प्रधानतया मुनियोके प्रतिबोधके लिए बनाया है, इसलिए ऐसा दृष्टान्त आना एक प्राकृतिक बात है।

१४५३—द्रव्य अप्रतिक्रमण व भाव अप्रतिक्रमणके निमित्तनैमित्तिकभूतपनेका विवरण—

पुद्गलद्रव्य, जो निमित्तभूत है उसका त्याग न करता हुआ वह बध साधक नैमित्तिक भावोका त्याग नही करता। त्याग क्या है ? मन, वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे उसमे सम्मिलित न होना याने भावोसे द्रव्यका त्याग है द्रव्यका प्रत्याख्यान। तब ही तो कोई बाह्य पदार्थका त्याग कर दे फिर भी ममताका त्याग हो भी सके न भी हो सके, छोड दिया बाहरी चीज, पर ममता तो कही भी हो, चित्तमे बसी रह सकती है। पुष्पडाल मुनिके सम्बधमे सुना होगा, उन्होने सब कुछ त्याग दिया, निर्ग्रन्थ मुनि हो गये, जगलोमे रहने लगे, फिर भी उन्हे अपनी स्त्रीकी ममता उत्पन्न हुई। तो बाहरी पदार्थों को छोडकर भी ममताका त्याग किया या नही किया दोनो बाते सम्भव हो सकती, मगर बाह्य पदार्थों का ग्रहण करते हुये ममताका त्याग कर सके यह कभी सम्भव नही। यहां एक तरफसे नियमकी बात समझना। और, इसी कारणसे यहाँ पर द्रव्योको निमित्त कहा और तत्साधक भावोको नैमित्तिक कहा। यहाँ और कोई दूसरी बात कहनेका प्रकरण नही है, किन्तु यह जीव रागादिक भावोका कर्ता नही है, यह समझानेकी मंशा है। तो जैसे यहाँ यह बात समझी गई कि ये परद्रव्य निमित्त और तद्विपयक भाव नैमित्तिक, इसी प्रकार सर्वत्र जानना। देखिये दृष्टान्त चलता है, मगर सब जगह विवेक करना होगा, यहाँ जो दृष्टान्त दिया सो एकदम सामने तो यो नजर आ रहा कि यह बाह्य पदार्थोंका दृष्टान्त दिया गया, मगर उसमे यह ध्यानमे लायें कि बाह्य पदार्थोंका ग्रहण करनेका भाव यह तो हुआ द्रव्य अप्रतिक्रमण और उस भावसे अपने आपको रमा लेना यह हुआ भाव अप्रतिक्रमण। यह बात कब घटित

होती, जब विधिपूर्वक ही यह वर्णन चल रहा, यह बात ध्यानमे लाते, और वैसे तो निमित्त नैमित्तिक भावमे कर्मविपाक निमित्त है और प्रतिफलन या क्षोभ परिणाम जीवका बना वह नैमित्तिक है, मगर आत्मा तो अपने आपमे उस रागादिकका अकारक है, ऐसा ध्यान क्यों दिलाया गया कि यह जीव अपने उस शुद्धस्वभावको दृष्टिमे ले, यह तो अकर्ता अभोक्ता है। यह तो अपने शुद्ध चैतन्यमात्र है, ऐसे शुद्धस्वभावरूपमे अपने आपकी जानकारी बनी।

१४५४—विभावोकी पौद्गलिताका सप्रयोजन वर्णन—

इस प्रसंगमे एक बात और जानना। जैसे कहते है कि व्यवहारसे ये रागादिक विकार पौद्गलिक है। उस व्यवहारका मतलब है विशिष्ट एक देश शुद्ध निश्चयनय, समयसारकी जो आचार्यजयसेनकृत टीका है उसमे जब यह पूछा गया कि शुद्धनिश्चयसे ये विकार पौद्गलिक हैं, आत्माके नही ठहराये, अशुद्धनिश्चयसे आत्माके हैं, तो उसी प्रसंगमे बताया गया, विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चनय, देखिये कितनी दुहरी तैयारी है, ऐसा चिंतन करने वाला भीतरमे अपने आत्मस्वभावको ऐसा सुरक्षित रखता है कि कोई इसमे ढका न लगा सके, यह पूर्ण विशुद्ध दृष्टिमे रहे, एक तो यह थी तैयारी, दूसरी बात, कोई यहाँ पूछ ही रहा बार-बार अनुरोध ही कर रहा कि तुम्हे तो बताना ही पड़ेगा कि ये रागादिक विकार किसके हैं, जीवके है या पुद्गलके ? तो जब इस स्थितिमे है यह कि अपने शुद्ध स्वभावको वह अछूता रखे, उसमे कोई धक्का न लगाये, उसमे कोई कमी न आये, वह पूर्ण शुद्धस्वभाव दृष्टिमे रहे तो उसके फलमे राग विकार किसके है ? ऐसा पूछनेपर उत्तर दिया है कि ये राग विकार पौद्गलिक है, यहाँ दूसरी बात यो समझिये कि जब मिथ्यात्व कषाय रागद्वेष सभी दो दो प्रकारके कहे गए जीव मिथ्यात्व अजीव मिथ्यात्व, तो अजीव मिथ्यात्वके मायने वह मिथ्यात्व कर्म प्रकृति जिसमे मिथ्यात्वका अनुभाग पडा है, जैसे दर्पणके आगे कोई नीली वस्तु रखी हो तो उस वस्तुमे स्वय नील रूप पडा हुआ है, और फिर उसके सन्निधानमे स्वच्छताविकार बन गया दर्पणमे, ऐसे ही मिथ्यात्व प्रकृतिमे मिथ्यात्व अनुभाग पडा हुआ है उसके निजकी गाँठका, उसके विपाककालमे इस जीवमे स्वच्छताका विकार बना, जो मिथ्यात्वरूप परिणत हो रहा है, तो ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि जीव तो शुद्ध स्वभावरूप है, वह रागादिक विकारका कर्ता नही है, रागका अकारक है, ऐसा कहकर ध्यान दिलाया गया है अपने विशुद्ध स्वभावका, अपनी उपासना बनाय कि मैं विशुद्ध चैतन्यमात्र हू, इसमे कोई बात उठे, शुद्ध चैतन्यकी तरग उठे, अनुभवन बने तो शुद्ध चैतन्यका अनुभवन बने, मगर इसके अतिरिक्त याने इस चैतन्य-तेजके अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे सब नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, उनको यह ज्ञान अपना नही करता, अपनेको शुद्ध स्वभावमे निरख रहा है।

१४५५—समस्त धर्मकार्योका प्रयोजन अन्तस्तत्त्वका आश्रय—

एक प्रधान बात हर जगह समझना कि प्रयोजनको छोडकर मद पुरुष भी कार्यमे नही लगते, तो जब हम कार्यमे लगे, स्वाध्यायमे, उपदेशमे, तत्त्वविज्ञानमें, तत्त्वपरीक्षणमे लगें तो हमें कभी भी अपना उद्देश्य न भूलें। अपना उद्देश्य है स्वभावकी दृष्टि होना, स्वभावका आश्रय होना। बस यह बात जिस प्रकार प्राप्त हो उस प्रकारसे उपदेश और चर्चा धर्मादिक अन्य सब बाते क्रियायें भी सब इसी मूल उद्देश्यको रखकर बन जायें कि मेरेको मेरेमे विशुद्ध चैतन्यमात्रका अनुभवन बने। उसीके लिए यह सब प्रकरण बधाधिकारमे अन्तमें कहा जा रहा है, तो इसका अर्थ यह रहा कि यदि समस्त परद्रव्योका त्याग नही हुआ, तो उनके निमित्त हुए भावोको यह त्यागता नही है। अब दूसरी बात यह सोच रहा

ज्ञानी कि जो अधःकर्म है, जो उद्दिष्ट है वह पुद्गलका कार्य है, वह आत्माका कार्य नही है, उसका कार्य तो मन, वचन, कायसे कृत कारित अनुमोदनाके, जो विकल्प बने, ये हैं, पर इसका भी निमित्त है, क्या ? कर्मविपाक जिस प्रकारका विपाक होता, वैसा ही प्रतिफलन होता है। मैं तो यह चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ, इस तरह अपनेको परख रहा है, यह अधः कर्म और उद्दिष्ट पदार्थ इनके विषयमे एक तत्त्वज्ञान पूर्वक विचार कर रहा है। इस तरह यह जीव जब सभी परद्रव्योका त्याग कर देता है। तब यह तन्निमित्तक शुभभावोका त्याग कर लेता। इसमे यह बात बतायी गई कि अपनेको इन भावोमे निरखें कि जैसा मैं अपने सत्त्वके कारण हूँ, केवल एक चैतन्य प्रकाशमात्र हूँ, यह दृष्टिमे रहेगा तो बध न बनेगा, और जहाँ इस दृष्टिसे हटे शुद्ध स्वभावकी दृष्टिसे च्युत हुए तो बाहरी पदार्थोमे यह उपयोग लगायगा, जैसा बाहरी पदार्थोका आश्रय किया वैसा इसके बध चलेगा, सो बाहरी पदार्थोमे लगना तेरे लिए लाभदायक नही है। तू तो अपने स्वरूपमे बस, तेरा स्वरूप निर्विघ्न है। उसमे किसी तरहका अतराय नही। जाप मे, ध्यानमे किसी भी जगह आत्मापर दयाभाव रखकर कि मेरा जगतमे कोई साथी नही, मैं अटपट विकल्प न करूँ, मैं अपने इस विशुद्ध निज तत्त्वको निरखू उस स्वरूपमात्र अपनेको मान लू, बस यह ही काम पडा है अपने आपको सुखी करनेके लिए सतुष्ट रखनेके लिए।

१४५६—आत्माकी परद्रव्योसे विविक्तताकी प्रायोगिक भावना—

यह जीव उक्त प्रकार विचार करके समस्त परद्रव्योसे अपनेको विविक्त निरखता है। सर्व परसे निराला यह मैं एक स्वतन्त्र सत् हूँ, परिणमता रहता हूँ, परिणमे बिना एक समय भी नही रहता। और विकाररूप जब परिणमन होता है तो ऐसा ही यह अशुद्ध उपादान है कि अनुकूल वातावरणके सन्निधानमे ही यह अपनेमे अपनी ही परिणतिसे विकाररूप परिणमता है, मगर यह चूकि नैमित्तिक भाव है, परभाव है सो इसमे आत्मीयता नही करता, इसका ज्ञाता रहता है। यहाँ यह हो गया कि यह ऐसा ही मपर्कज भाव है कि ऐसी घटनामे ऐसी बात बन गई, मगर यह मेरे स्वभावकी चीज नही। अपने को उससे अलग मानना है, इसके वास्ते आचार्यदेव कह रहे हैं कि अरे इन समस्त परद्रव्योका तू बल पूर्वक त्याग कर, जानकर त्याग, उनसे हट, बाह्यसे हट और भीतरमे उनके प्रति प्रीतिका भाव न रख। देखिये परद्रव्योके प्रति अगर प्रीतिकी उमग रहती है तो यह तेरे लिए अनर्थकारी है। अरे परभाव ये तो आत्माके विकार है, इनको करता हुआ तू अपनेको बडा बुद्धिमान समझता है, तू तो इन परद्रव्यो को मूलत. त्याग कर, अपनेमे उठे हुए चित्रित हुए इन परभावोका त्याग कर, इन परभावोसे निराले अपने आपके विशुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव कर। बस यह हो बधको मिटाने वाला भाव है। इसका इसमे वर्णन किया गया है।

१४५७—आत्माके विकाराकारकत्वके परिचयका परिणाम निज शुद्धस्वभावकी अभिमुखता—

यह बधाधिकारका उपान्त्य कलश है। यहाँ प्रकरण और प्रयोजन यह है कि यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभावको निरखे अर्थात् इसका जो अपनी सत्ताके कारण सहज भाव है चैतन्यमात्र, प्रतिभासमात्र, ऐसे उस स्वरूपको निरखे और उसमे मग्न होवे। इस प्रयोजनसे यह वर्णन चल रहा है। यह आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूपको देख सके उसके लिये पहले यह निर्णय बताया कि अपने आपको ऐसा निरखें कि मैं विकारका करने वाला नही हूँ, किन्तु मैं स्वभावमात्र हूँ, और मैं विकारका करनेवाला नहीं इसका निर्णय दो तरहसे दिया; एक तो यह कि आत्मा अपने आपसे विकारका करने वाला नही, क्योकि कर्मप्रकृति परद्रव्यके द्वारा ही यह विपरिणमा अर्थात् उन परद्रव्योके सन्निधानमे ही यह जीव अपने

राग विकार रूप परिणम सका, इस कारण यह रागविकारका कर्ता स्वयं नही है। अर्थात् यह स्वयं समर्थ कारण नही कि केवल अपने आप अपने ही द्वारा अपना ही निमित्त करके बिना परसम्बन्धके भावोमे रागविकार करे, ऐसा तो नही हो रहा। इसमे स्वभावकी दृष्टि करायी कि रागविकार करनेका इसका काम नही है। दूसरी युक्ति दी कि जब द्रव्यअप्रतिक्रमण और भावअप्रतिक्रमणकी व्यवस्था बताई गई है कि परद्रव्य निमित्त है और भाव नैमित्तिक है, द्रव्य अप्रतिक्रमण निमित्त है, भाव अप्रतिक्रमण नैमित्तिक है, और इन दोनोमे ही कर्तृकर्मत्वका उपदेश किया। द्रव्यअप्रतिक्रमण कर्ता, भाव अप्रतिक्रमण कर्म। तो यह उपदेश यह बात सिद्ध करता है कि जीव रागविकारका कारक नही है।

१४५८—स्वयं ज्ञानमात्र स्वभावका निर्णय होनेपर परद्रव्यके ही निमित्तसे विभावनिष्पत्तिका तथ्य जानने के बाद ज्ञानीका परद्रव्यके परिहारका कृत्य—

उक्त दो युक्तियोसे यह ध्यानमे लिया ज्ञानीने कि मैं शुद्ध ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, इसके जाननेपर अब यह प्रतिबन्ध होना चाहिये कि उस परद्रव्यका त्याग करें, परद्रव्योसे उपेक्षा रखें, परद्रव्योमे उपयोग न फसाये, अच्छा यह भी कुछ-कुछ किया, मगर भली भाँति न हो सका इसका कारण क्या ? इसका कारण यह है कि परद्रव्यमूलक जो नाना प्रकारकी भावसततियाँ होती हैं उनको मूलसे उखाडनेका हमने अभी भीतरसे ज्ञानबलका पौरुष नही किया। पर द्रव्य हैं, इनका मैं कर्ता नही। इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमे नही, ये मुझसे अत्यन्त निराले हैं, इनका आश्रय करके मैं अपने आपको ससार मे भटकाता हूँ इनका आश्रय छोडें, बाहरसे छोडें, भीतरसे छोडें। जो बाहरसे छोडनेकी बात है वह तो परद्रव्यके त्याग रूप है। जैसे चरणानुयोगमे बताया है कि जो आश्रयभूत हैं उन वस्तुओका परित्याग करे और अन्दरसे देखनेके मायने है कि किसी भी परद्रव्यमे हम ममता न लावें, उसका ख्याल न बनावें, उससे हित अहितकी बात चित्तमे न लावे, तो इस प्रकार मूलसे ही उन विभाव सततियोको उखाडने की आकाक्षा रख रहा है। यह उमग हो तो उनके त्यागमे फिर कोई दिक्कत नही। हाँ तो अन्दरसे, बाहरसे परद्रव्योका परिहार करते हुये यह आत्मा अब अपने भगवान आत्माको प्राप्त कर रहा है।

१४५९—परद्रव्यका परिहार करनेसे हुई ज्ञानीको उपलब्धि—

पहले यह आत्मा विभावोमे उलझा था, परद्रव्योमे उलझा था। अब इसकी उलझन इसने दूर की तो क्या पा रहा अपनेमे कि बडे अतिशयसे उमडने वाले पूर्ण एक ज्ञानसे युक्त आत्माको पा रहा है, बाहरका विकल्प छोटा तो अन्दरमे क्या पा रहा ? एक ज्ञानविलासमे अनवरत रहने वाले अपने आत्मा को पाया। ऐसे अन्तस्तत्त्वको पाकर यह भगवान आत्मा उन्मूलितबध हो जाता है। बन्धको उन्मूल कर दिया, उसकी जड तोड दी, बधकी जड अब न रही, क्योकि बधकी जड क्या थी ? स्वरूपसुधसे च्युत होकर बाह्य पदार्थोमे राग करनेसे बध चल रहा था। अब वह सधि टूट गई, जीवभाव क्या है, और यह औपाधिक क्या है ? सर्व रहस्य जान लिया गया। यहाँ निमित्त नैमित्तिक योगकी कथनीसे अकर्तृत्वको प्रसिद्ध किया है कि आत्मा अकारक है, करने वाला नही है। यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयसे यह बात निरखी जा सकती थी कि आत्मा एक है और वर्तमानमे वह अपने राग परिणामको कर रहा है, पर अकारकत्व निरखना है जिससे कि आत्मा अपने विशुद्धस्वरूपको सुगमतया पा ले। उस अकारकत्वकी प्रसिद्धिके लिये यह तथ्य बताया गया है। यह रागरूप स्वय अपने आपसे नही परिणमता। परिणमता यह अवश्य है, मगर अपने आपसे नही परिणमता, पर उपाधिके सन्निधानमें यह अपना बल प्रकट कर पाता है अतएव यह आत्मा अकर्ता है। शुद्ध स्वभावको निरखनेके लिये जो उपाय बताये गये

है उन उपायोंसे मनन करके समस्त परभावोसे निराले शुद्ध स्वभावका अनुभव करना है। यह भगवान आत्मा, इसने बधका उन्मूलन किया, सो यह आत्मा अपने आपमे स्फुरायमान होता, विकसित होता।

१४६०—अभूतपूर्व उपलब्धि—

संसारमे अब तक इस जीवने अपने आपके इस विशुद्ध स्वभावको नही जाना, और जैसा अशुद्ध परिणम रहा उस ही रूप अपनेको अनुभव किया। जो अपनेको अशुद्ध परिणमनरूप अनुभव करे उसके अशुद्ध परिणमनकी सतति चलती है, जो अपनेको केवल सहज स्वभावरूप अनुभव करे उनके शुद्ध परिणमनकी सतति चलती है। जो काम अब तक न किया गया हो वह काम जिस क्षण प्रकट हो, अपने शुद्ध स्वभावकी सुध हो वह इसका एक नया दिन समझिये नया दिवस, नया युग, नया वर्ष उसको एक नई बात है। अब तक यह ससार और ससारमार्गमे था, अब यह मोक्षमार्गमे आया। आत्माकी उपासना आराधना, और कुछ स्याल नही। हितमे बाधक है कषाय, किसी भी प्रकारकी कषाय बनता है तो वह बाधक है और उसमे भी धर्मके विषयमे, धर्मके बहाने उस धर्मके रूपमे कषाय जगती है वह अधिक बाधक है घरमे रहते है अनेक कषायें बन जाती हैं। हो गई कषाय तो वह नियमत अनन्तानुबधीका रूप न रखेगी, मगर धर्मके प्रसगमे यदि कषायभाव बनता है तो वह नियमत अनन्तानुबधीका रूप रख लेती है और वह भगवान आत्माके मिलनमे साक्षात् बाधक बन ती है। इसमे धर्मप्रसगमे याने आत्माके अनुभवके प्रसगमे सबसे प्रथम बताया है कि हमको इतना गहन यथार्थ द्रष्टा होना चाहिए कि समस्त जीव स्वरूपत. समान हैं, यह दृष्टिमे हो और उस समानताके दृढ निर्णयके कारण किसी भी जीवमे अनादर बुद्धि न आये तब वह समता बनेगी, जिस समताके प्रसादमे आत्माका अनुभव बनता है। सयाना चतुर, बुद्धिमान वह कहलायगा जो अपने आपके स्वानुभवका पौरुष बना ले।

१४६१—दृश्यमानके मोहमे कर्मके साम्राज्यकी निरन्तरायता—

देखो जो भी दृश्यमान हैं वे कोई रहेगे नही मिलेंगे नही, वे अपने काममे आयगे नही जिनका लक्ष्य रखकर हम रतिकी उमग बनाते, अरतिकी उमग बनाते वे कोई मददगार नही। यह केवल खुदही अपने किए का फल पाता है। जैसे पार्श्वनाथ पुराणमे पार्श्वनाथ भगवानके अनेक भव और उनके साथियोके भव दिखाये तो जहा नरकभवकी बात दिखायी है वहा विवेकी जो नारकी है वे वहा विवेकी नारकी इस रूपसे चिन्तन करते हैं कि अहो जिसके लिए मैंने नाना पाप किये कषाय किये वे अब कोई यहाँ साथ नही दे रहे, केवल खुदको ही यह भोगना पड रहा है, जिसको कुटुम्ब समझा जिसको गोष्ठी समझा, मित्र समझा और उस रतिके कारण कुछने कुछ व्यवहार भी किया, दूसरोपर अन्याय हो जाय ऐसे भी व्यवहार बने, इन सब करनीका फल भोगने कोई दूसरा न आयगा। जिनके लिए ममता करके विकल्प बनाये वे कोई भोगने न आयेंगे, भोगना इस खुदको अकेले ही पडेगा। देखिये-कर्मबध, कर्मोदय यह एक जैसे यहाँ की चीज है देखते हैं, यह ठीक है, तथ्य है ऐसे ही कर्मकी बात भी कोई कहने मात्र की नही है, यह पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओकी परिणति है। जब विकारभाव जगा, रागद्वेष जगे तो उसके सान्निध्यमें ये कार्माण वर्गणायें उस अनुरूप परिणत हो गई याने कर्मरूप बन गई, कर्मरहित दशा और कर्मत्वसहित दशा ये दो बाते कार्माणवर्गणामे होती रहती हैं। अब कर्मबध हो गया, सत्तामें बना है, जब तक वे सत्तामे हैं तब तक उनका फल नही मिल रहा भले ही वे सत्तामे है, किंतु जो जो उदयमे आ रहे उनका ही फल प्राप्त हो रहा, पर सत्तामे रहने वालोका फल नही प्राप्त हो रहा, अर्थात् उसका उदयकाल आता है, विपाक होता है तो कर्मकी बात वहाँ कर्मके ढगसे कर्ममे बनती चली आ रही

है। विपाक काल आया, जिस कालमे विपाक होता है तो चूंकि यह आत्मा उपयोग स्वरूप है तो वह विपाकका प्रतिफलन वहाँ न आये यह नही हो सकता। विपाकका प्रतिफलन होता है यहाँ तो जीव जान जानकर कषायोके आश्रयभूतको समझना है कि यह अमुक है यह अमुक है। किंतु अदरमे बुद्धिपूर्वक नही बन रहा प्रतिफलन, मगर ऐसा ही योग है कि वह विपाकका प्रतिफलन आने अँधेरा इस उपयोगमे आता है।

१४६२—ज्ञानस्वच्छस्वभाव और आगंतुक प्रतिफलनके भेदके अभ्यासीकी प्रगति—

कर्मविपाकके प्रतिफलनके कालमे यदि यह अज्ञानी है तो इस मोहीको उसमे आसक्ति होती है, उस रूप अपनेको मानता है और ज्ञानी है तो वह प्रतीतिमे अपने स्वरूपको ही लिये हुये है और ज्ञाता द्रष्टा रहता है यह हो गई कषाय, यह हो गया विकल्प, यह मैं नही हूँ, इस तरह अपनेको निराला रखता है। तो कर्तव्य तो यह है ना कि अपने स्वरूपका सही परिचय पाये और स्वरूपके अतिरिक्त जो भी भाव हो उन भावोको औपाधिक नैमित्तिक परभाव सर्व तरहसे निर्णय करके उनसे उपेक्षा कर लें। इनमे लगनेसे मेरा हित नही है। सो स्वाध्याय द्वारा, अध्ययन मनन द्वारा ऐसी एक अपनी भावना पुष्ट करें, मैं यह हूँ चैतन्यप्रकाशमात्र। बहुत विकल्प और निर्णय जब हुये, हुये, किये, किये, उनके बिना भी काम नही चला, मगर जब निर्णय कर चुके और अपने सहज स्वरूपका अनुभव पा चुके तब उसकी ऐसी एक साधारण स्थिति रहती है कि जिसमे रहता हुआ यह भव्य आत्मा जब चाहे समय-समयमे जरा दृष्टि की, स्वभावको निरखा और उन सकटोको शान्त कर दिया जो कर्मविपाकवश आया करते हैं। मैं ज्ञानमात्र हूँ…। ज्ञानी बाह्यविकल्पोसे, पर पदार्थोंसे इस तरह अलग होता हुआ, जैसे मानो झटका देता हुआ, यह मैं नही, इस तरह एक छुटकारा सा करता हुआ यह अपने अन्दरमे निरखता है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, थोड़ा सा यह कुछ विषादमे आ गया था, कर्मविपाक ऐसा ही आया और यह क्षोभमे आया, कोई विकल्प किया, कुछ परेशानी इसके आयी, कुछ परेशान सा बन रहा था, अब यह किसी भी समय जैसे ही अपने अविकार स्वरूपपर दृष्टि देता है वहाँ परेशानीका काम नही। और ऐसा ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वका अनुभव यदि कुछ ही काल बना रहे, आज तो सम्भव नही, मगर जब भी सम्भव था और की गई इस अविकार स्वरूपकी अनुभूति बहुत काल तक, जिसे कहते हैं योग्य अन्तर्मुहूर्त तक अनुभूति रही, तो उसके फलमे वह श्रेणीपर चढ गया, कर्म नष्ट हुये, केवली अरहत बन गये, यह स्थिति सुगमतया शीघ्र आ जाती है। तो समझ लो एक बार स्वका अनुभव बनकर फिर चाहे कुछ काल न अनुभव बने तो स्मरण तो रहेगा। मैं यह हूँ, इस ही स्मरणका ऐसा प्रताप है कि यह जीव अनेक अनर्थोसे बच जाता है।

१४६३—मान्यतानुसार वृत्ति—

जो जैसा मानता है वैसी उसकी वृत्ति होती है। जो अपनेको किसीका पिता समझता है तो उस समझके अनुरूप भीतरमे विकल्प चलते हैं, इसको यो पढाना, लिखाना, यो होशियार बनाना, यो काम मे लगाना, यह मेरा है, कितना अच्छा है, उस रूप इसकी वृत्तियाँ चलती हैं। तब ही तो देखते ना कि कोई अच्छी चीज हाथमे आयी तो खुद न खा सकेंगे, पर बच्चोको खिला देंगे। उसमे ये बडा सतोष मानते खुश होकर कहते कि हमारी यह चीज अकारथ नही गई, किन्तु हमारे बच्चेने खाया। अब उन बच्चोके प्रति एक आसक्तिकी बात तो देखिये पहले समयमे लोग जब साफा धोती पहना करते थे तो मानो कोई नया साफा अपने बेटेके लिए पहननेको लाये, कुछ दिन वह पहनले कुछ पुराना सा हो

जाय तो उसे उसका पिता बाँधा करता था, तो एक प्रीति की बात देखिये इन अज्ञानी जीवोको कितनी आशक्ति बनी हुई है, करने न करनेकी आलोचना नही कर रहे, किन्तु भीतरमे जो यह बात पडी है कि बाकी जीव तो ये अजीव जैसे हैं, ये बहुत-बहुत चिल्लाये, दु खी हो तो भी ये मोही जीव समझते कि ये दु खी नही हो रहे, ये तो ऊपरी ऊपरी रो कर नाटक सा दिखा रहे। और, कभी खुदके बच्चेको जरा सा सिर दर्द भी हो जाय या कोई छोटी मोटी फुसी भी हो जाय तो इसके इलाज करानेको बडी परवाह करते, उसके लिए बडे चिन्तित होते, अब यहाँ किसीको मना क्या करें ऐसा करनेके लिए, परतु एक भीतरी भावकी बात कह रहे कि कैसी कुछ जीवोमे ममता बस रही है। खैर जिन्दगी तो गुजर रही हैं, जीवनके जो क्षण गुजर गए वे वापिस नही आते, मरणके सम्मुख पहुच रहे है और अपनी आदतको ये मोही जीव छोडते नही हैं।

१४६४—अपमानकारक घटनाओमे मोहीके आत्मप्रशसाकी मान्यताकी उमग—

वे मोहीजन अपनी आदतसे बाज नही आते, ये मोह करने वाले लोग बहुत बहुतसी बातें भी करते ज्ञानकी, धर्मकी, व्याख्यानकी, पर इनके मोह करनेकी आदत नही छूटती। मेरा मकान, मेरा घर, मेरा कुटुम्ब, इससे मेरी बडी महिमा है, इसे देखकर किसीकी प्रशसा करे कोई और कहे यह कि साहब आप इन्हे नही जानते, इन साहबका क्या कहना, इनके चार लडके हैं, सो एक तो है मिनिस्टर, एक है डाक्टर, एक है कलेक्टर और एक है इन्स्पेक्टर। अब इस बातको सुनकर वह सेठ बडा खुश होता। वह यह समझता कि इसमे मेरी प्रशसा की गई पर दी गई उसे गाली। कैसे, कि यदि उसमे कुछ गुण होते तो उसके गुणोकी बात कही जाती जैसे ये सेठ जी बडे दानी हैं, परोपकारी हैं, उदार हैं, '। ये कोई बाते तो कही नही गई। वहाँ तो लडकोके विषयमे कहा गया कि इनके लडके इतने ऊँचे-ऊँचे ओहदोपर है, उसमे यह बात स्वय ही बसी हुई है कि इन सेठ साहबके लडके तो ऐसे ऐसे बुद्धिमान हैं पर ये सेठ कोरे बुद्धू हैं, इनमे कोई कला नही, कोई गुण नही। और भी देखो जैसे किसीने किसीके प्रति कहा कि इन सेठजी का क्या कहना हैं, इनके पास ऐसी हवेली है कि जिसे बस देखते ही बनता है, उसका मुख्य द्वार इतना सुन्दर बना है कि जिसमे बडे कलात्मक ढगसे चित्रकारी की गई है, उसके बनानेके लिए विदेशी कारीगर आये थे '। अब इन सब बातोको सुनकर सेठ बडा खुश होता, वह समझता कि इसमे तो मेरी बडी प्रशसा की जा रही है, पर दी जा रही उसे गाली। कैसे कि यदि उस सेठमे कोई कला होती तो उसकी बात कही जाती, कही तो गई उस हवेलीकी बात कि यह हवेली, ये ईंट पत्थर तो इतने अच्छे हैं, इनमे इतनी-इतनी कलायें हैं, पर सेठमे कोई कला नही, यो दी तो गई उस सेठको गाली, पर वह प्रशसा जानकर खुश होता। याने मोहके थपेडे देखो, किस किस ढगसे यह जीव अपने आपको बडा खोटा अनुभव कर रहा। अच्छा यह तो साधारणजनोकी बात हैं। कोई धार्मिक क्षेत्रमे भी उतरे तो वहाँ भी देखो ये मोहके थपेडे कैसे कैसे चल रहे।

१४६५—मोहकी विभिन्न करतूतें—

प्रथम तो देखो भगवानके आगे दर्शन कर रहे, ढीले ढीले खडे, जैसे तैसे जल्दी-जल्दीमे स्तुति पढ रहे, और वहाँ कोई दर्शन करने वाले लोग आ गए तो उन्हे देखकर झट अटेन्सन मे भी हो गए और बडे स्वरमें स्तुति पढने लगे। वहा बात तो यह घट गई कि उसके लिए तो भगवान वे दर्शन करनेवाले लोग हो गए, नही तो वह ऐसा क्यो करता ? यदि वे दर्शन करने वाले लोग इसकी निगाहमे न होते, एक भगवानकी ओर ही इसकी निगाह रहती तो वहाँ तो एक स्वय सहज भक्ति होती, तो ये मोहके थपेडे न जाने कहाँ कहाँ जाकर इस जीवको सताते '। इस मोहकी आदतकी कभी खोट नही हटती

है। मोह जहाँ जाता बस वही इस जीवको सताने लगता। जैसे पुष्पडाल मुनिको उस जगलमे भी अपनी कानी स्त्रीकी याद आयी, वहाँ उन्हे उसके प्रति मोह उमडा, अच्छा और भी इस मोहके थपेडे देखो—यह पुरुष निर्ग्रन्थ भेषको लेकर आत्मसाधनाके ध्यानसे तो गया, मगर इस भेषपर ममता हो गई कि मैं ऐसी उपाधि वाला हू, ये लोग ऐसे ही है, इनमे मैं श्रेष्ठ हू, इनको मेरे प्रति ऐसा ही झुकना चाहिये, मैं इनमे मुख्य हूँ, "इस दृष्टिमे इस मोहीने अपनेको अब तक यहाँ इस ढगसे सताया। अच्छा, यहाँ भी सताया जाता, खैर यह भी अभी एक व्यक्त रूप सा है, कि हाँ ऐसा न करना चाहिये, मगर इस मोहकी बात देखो किन्ही साधुपर, जैसे पहले कोल्हूमे अनेक साधु पेल दिये गये, उनमेसे जो विवेकी साधु थे, वे अपने आत्मस्वभावका लक्ष्य लेकर उस ही रूप अपनेको अनुभव करते हुये दिवगत हुये मोक्ष गये या जो भी जिसे हुआ और जो मोहमे रहकर कोल्हूमे पिले याने जिनकी यह दृष्टि रही कि मैं मुनि हूँ, चाहे कोई कुछ करे, पर मुझे किसीसे द्वेष नही करना है, यो देहाश्रित लिङ्गके प्रति आत्मरूपताकी मान्यता जिनके थी बस उनका मोक्षमार्ग रुक गया। देखिये यह बात सुननेमे तो भली लग रही होगी कि उन मुनियोने वहाँ ठीक ही तो सोचा कि मैं मुनि हूँ, मुझे किसीसे द्वेष न करना चाहिए', पर कल्याणके मार्गमे परद्रव्य व परभावके प्रति अहकारका विकल्प उठना बाधक बताया गया है। तो यह मोहबधन कैसे मिटाया जाता, यह सब बात इस छदके अन्दर बतायी है, कैसा कैसा पौरुष किया और इस ज्ञानमय आत्मस्वभावको किस तरह किसने प्राप्त किया।

रागादीनामदयमुदयं दारयत्कारणानां, कार्यं बंध विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योति क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्, तद्वद्यद्वत् प्रसरमपरः कोऽपि नास्या वृणोति ।।१७६।।

१४६६—स्वभावाश्रयसे विभावविदारण—

यह बधाधिकारका अन्तिम कलश है। पहले जो वर्णन चला था तो उसका ध्येय यह है कि रागादिक भावोसे उपेक्षा हो और अपने स्वभावभावमे अवस्थित हो। तो जिस तरहसे इन रागादिक भावो को धुतकारा गया है सो मानो इस ज्ञानज्योतिने इन रागादिक भावोका, उन कारणोका जो कर्मबधके निमित्तभूत हैं, इन रागादि विभावोका निर्दयतासे विदारण किया है। जब यह ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वभावको निर्लेप अविकार जैसा कि सहज स्वरूप है उस स्वरूपमे जब निरखता है तो वहाँ विभावोका दारण हो जाता याने ये विभाव दूर हो जाते है, छिद जाते हैं, कट जाते हैं। ये अपनी पोजीशन नही बना पाते। मानो तब ही वह ज्ञानी दयापूर्वक मदिरमे जाता हुआ नि सही नि सही पहले बोलता है। उस नि सही का क्या अर्थ है ? निकलो निकलो, अलग हो। यह ज्ञान मानो यह सूचना दे रहा है इन रागादिक विभावोको कि हे विभावो ! तुम बडी अच्छी तरहसे मौजसे हमारेमे रहे। हमने भी तुम्हारा यथा तथा जैसे बना स्वागत किया। रहे तुम, मगर अब हम वीतराग प्रभुके दर्शन करने जा रहे हैं, वहाँ अब तुम्हारी दाल न गलेगी। तुम अचानक ही बुरी मौतसे मरोगे इसलिए हम तुम्हे सूचना दे रहे कि तुम धीरेसे यहाँसे निकल जावो, हम मन्दिरके द्वारपर ही खड़े होकर बोल रहे। वहाँ मानो दया करके इन रागादिक भावोको सूचना दी। एक यह व्यवहार विधि है। मगर ऐसी सूचना ज्ञानी देता नही। वे रागादिक भाव अचानक ही मर जाते हैं। जहाँ स्वभावदृष्टि की तहाँ ये सब छिन्न-भिन्न हुये, तो बताओ यह सब विदारण निर्दयतासे हुआ कि नही ? (हँसी)

१४६७—रागविदारणसे आत्मदया व आत्मरक्षा—

देखिये, आपसे प्रीति करके आपकी जड़ काटे कोई तो वह निर्दयता कहलायेगी ना। इसी

तरह अनादिसे पल पुस रहे राग संततियोको जो मूलत उखाड फेंके तो उसे निर्दयता क्यो नही कहेंगे ? अरे यह निर्दयता नही, आत्मदया प्रखर थी । यह भगवान आत्मा अब तक मोहमे झुलसा चला आ रहा था, तो उसने अपने आपपर दया की । उस परम करुणाके प्रोग्राममे बस उसकी रक्षा हुई है। रागादिकका क्या विगडता, मिटने दो, मिटने तो थे ही, वे यो न मेटें, तो मिटते है। और खूब राग करें तो भी ये मिटते ही रहते है । कोई पर्याय आगे तो नहीं चलती, पर्याये व्यतिरेकी हैं । मिटनी तो थी ही, बस इसने इतना ही किया कि भाई नवीन न आवें या आवें तो कम आवें । अब बताओ यह भी कोई अन्याय हो गया क्या ? यह भी कोई निर्दयता हो गई क्या ? अरे होने वाले रागको नही यह नष्ट कर रहा, वह तो अबुद्धिपूर्वक हुआ, कुछ हुआ, मगर यह सतति नहीं होने देता, आगामी नहीं होने देता । इसीको रागादिक अपनी कमेटी करके चाहे निर्दयताका प्रस्ताव करें । ज्ञानी जीवके निज स्वभावाश्रयके बलसे इस तरह रागादिक भावोका विदारण होता, और उस विदारणके अर्थ यह जो कहा अन्तिम प्रयोग बंधाधिकारमे, यह प्रयोग बहुत लाभदायक बना और इसे करना चाहिए। भीतर ऐसा निरखें कि ये जो रागभाव हुए हैं सो यह कर्मोदयका प्रतिफलन है, यह नैमित्तिक है, इससे मेरा क्या मतलब ? मेरा स्वरूप नही, मेरे स्वभावकी चीज नहीं । मैं तो केवल विशुद्ध चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ ऐसी उपेक्षा तो करे ।

१४६८—उपेक्षास्त्रका प्रभाव—

अहानेमे कहते हैं कि 'बडी मार करतारकी, दिलसे दिया उतार ।' घरमे कोई मुखिया है और उससे किसीकी बात न बनी, किसीने मुहजोरी की, जवाब दे डाला, आज्ञामे न चला उद्दण्डतामे पेश आता तो वह मुखिया क्या करता ? उससे बोलता नही, उसकी ओर टुक देखता ही नही; तो वह क्या कहता है कि स्त्री हो चाहे पुत्र हो, चाहे पिता जी हो, मेरेसे कुछ बोलते ही नही, मेरी तरफ देखते ही नहीं, बडा कष्ट है। क्या कष्ट हो गया ? बडी मार करतारकी दिलसे दिया उतार । तो यह रागादिकपर ऐसी मार चल रही है । अज्ञान अवस्थामे यह जीव रागादिक भावोसे प्रेम करके, एकमेक बनकर चल रहा था । अब भेदविज्ञान जगा, आत्माके स्वभावकी सुध हुई, सब कुछ जाना कि इन रागादिक भावो की प्रीतिमे दु ख है, भविष्यमे दु ख है फिर प्रीति क्यो ? कोई परमार्थ बात हो तो चलो उसकी प्रीति करे, परमार्थ तो कुछ है नही और ऐसा हौवा बना है कि जो न तो कर्मको चीज है और न जीवकी चीज है । जैसे हौवा न माँकी चीज है न बच्चेकी चीज है, न भीटकी चीज है न उजेलेकी चीज है, कुछ है ही नही, पर एक हौवा बना है, ऐसे ही देखो कि जो ज्ञान विकल्प हुआ वह आत्माकी चीज तो यो नही कि आत्मामें स्वभावसे नही हुए । स्वय आत्मा समर्थ हो, निमित्त स्वय बने तो कुछ बात बतायें, पर यह आत्मा स्वय निमित्त नही है । स्वभावसे नही आया सो आत्माकी चीज नही, कर्म हैं परद्रव्य उसकी तो चीज हो ही क्यो ? यो भी देखो । और यो भी देख लो—चूकि कर्मके उदयमे ही ये विकार बने कर्मोदयके अभावमे नही बने इस कारण इनके मालिक कर्म रहे, जावें ये कर्मके पास, हम इन्हे निज घरमे जगह न देंगे; क्योकि विकारभावो ! तुम कर्मविपाकके होनेपर ही तो होते हो और उस कर्मोदय के न होनेपर नही होते तो तुम्हारा अपना नाता रिस्ता कर्मोदयके साथ लग रहा हमारे यहाँ तुम्हें जगह नही, जावो, अनेक प्रकारके ऐसे ही प्रयोग करें; चिन्तन करें यह जीव अपने शुद्ध स्वभावमे रुचि बढाता है, उसका फल यह है कि ये रागादिक भाव, इनका विदारण होता है ।

१४६९—रागविदारणसे बन्धका प्रणुदन—

रागादिविदारणसे क्या बना कि उन कारणोंका जो कार्य था मायने रागादिक विकारोका निमित्त

पाकर जो कार्माणवर्गणायें हैं वे कर्मरूप बन जाया करती थी, सो अब कर्मत्व आना दूर हो गया। जैसे कोई घर पाप करके कभी फला फूला चलता है, धन भी बढे, परिवार भी बढे, इज्जत बढे, प्रतिष्ठा बढे बहुत पाप करके, मायाचार करके किसी तरह खूब बढोतरी हुई, और जब पापका उदय आया, पुण्य पूरा समाप्त हुआ तो किस किस प्रकारसे क्या क्या बात बनती है, यह भी गया, वह भी गया, यह मरा, वह मरा, अमुक यो मरा। तो जैसे वहाँ एक विनाशकी प्रगति चलती रहती है ऐसे ही यहाँ जब तक अज्ञान किया, अज्ञानसे बडे बडे पाप बाँधे उन पापोसे यह लौकिक हिसाबसे खूब फला फूला और जिस समयमे अज्ञान पापका घडा फूटा, सम्यक् ज्ञानका उदय हुआ तो ज्ञानका उदय होनेपर फिर रागादिकका विनाश, यह गया, बन्ध भी गया, विकारका भविष्य भी बिगडा, ये सारी बाते ज्ञानज्योतिके उदय होनेपर होती है। दृष्टान्तमे केवल विनाशकी बात लेना, तो इस तरह यह ज्ञान ज्योतिके कारण कर्मबन्ध भी खतम हुआ, करणानुयोगके हिसाबसे चूकि अभी ज्ञानज्योति पूर्ण नही है, जितने अशमे है शुद्धोपयोग वीतरागता उतना सम्वर और निर्जरण चलता है। चौथे गुणस्थानमे ४१ प्रकृतियोका सम्वर है याने मिथ्यात्व और अनन्तानुबधी, इनके परिणामके कारण जो बध हो सकता था वह बध अब यहाँ नही। अर्थात् जो प्रकृतियाँ शेष हैं चारित्र मोहकी, उनका विपाक है अभी, तब ही कभी बुद्धिपूर्वक कषाय है, कभी अबुद्धिपूर्वक कषाय है, रागविकार हैं, तो तत्कृत यथायोग्य जैसे सम्भव है वैसे बन्ध चला, मगर वह सब बध मिटनेकी ओर, जैसे पेडकी जड कट जाय तो गिर गया पेड और हरा भी बना है, मगर वह हरापन मिटनेकी ओर है, जवानीकी ओर नही है ऐसे ही ज्ञानी जीवको जो कुछ राग रहा वह सब मिटनेकी ओर है, जवानीकी ओर नही, यह रागविदारण हुआ, ससारपरम्परा मिटी, ये सब बाते किस आधारपर हुई ? बस एक ही बात, अपने स्वरूपको विशुद्ध चैतन्यमात्र ऐसा भीतर निरखना।

१४७०—ज्ञानकी लक्ष्यपर बेरोक पहुंच—

कोई कहे कि कैसे निरखें तत्त्व, पर्याय तो गुजर रही है, पर्यायमे विकार है, यह तो गुजर रहा है, फिर तत्त्व निरखा कैसे जाय ? तो देखो ज्ञानमे ऐसा अद्भुत बल है कि रागादिक गुजर भी रहे और उनमे उपयोग न टिकाये और उपयोग आत्माके शुद्ध चैतन्यस्वरूपमे टिकाये, ऐसा उपयोगका सामर्थ्य है, ज्ञानीका ज्ञानबल है। मगर, इस बलका प्रयोग निरतर अन्तर्मुहूर्त भर कर सके तो केवलज्ञान हो जाय, सो ज्ञानी असमाधिदशामे स्वभावके प्रति ज्ञानोपयोग निरतर नही कर पाता। वह कर्मवश कर्मोदयविपाकवश इसके सान्निध्यमे यह नही टिक पा रहा है, मगर मिथ्यात्व अनन्तानुबधी न रहनेसे इसमे इतना बल हुआ है कि वह अपने स्वभाव भाव को निरख सकता है और ऊपर कुछ रागविकार की लहरें चल रही है और भीतरमे ज्ञानस्वभावकी सुध लेकर अपनेमे दृढ कडा बना हुआ है, ऐसी विचित्र स्थिति, एक अद्भुत अपूर्व स्थिति ज्ञानीकी बन जाती है, क्योकि ज्ञान जिस लक्ष्यको लेता है उसके बीच कोई भी चीज आडे आये तो उनसे यह छिडता नही है। ज्ञानमे ऐसी एक धारा और बल होता है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यत्र, यह तो पौद्गलिक ही बात है, उस एक्सरा मशीनपर कोई खडा हो जाय जिससे हड्डीका फोटो लिया जाता तो वह न तो रोमको ग्रहण करता, न चमडीको ग्रहण करता, न खून, मास, मज्जाको ग्रहण करता और वह केवल हड्डीका फोटो ले लेता। तो फिर भला यह जो ज्ञान है यह जिसका फोटो लेना चाहता है उसके बीचमे चाहे कुछ भी आ पडे, उन सबको छोडता है और अपने वेध्य वेद्य विषयको ही ग्रहण करता है, जैसे अज्ञानक किसीको खबर आ जाय

कि घरमे कोई चीज रख आये, तिजोडीके अन्दर सन्दूक, उस सन्दूकके अन्दर डिब्बा, उस डिब्बेके अन्दर एक पोटलीमे बाँधकर अगूठी रख आये, अब उसका ख्याल आ गया कि जो अगूठी रख आये वह ठीक ठीक रखी कि नही, तो अब देखो यहाँ बैठे बैठे उसका ज्ञान करनेमे कही द्वारसे किवाड आडे नही आये, भीट भी आडे नही आयी, लोहेकी तिजोरी भी आडे नही आयी, सदूक आडे नही आयी, सीधे यह ज्ञान उसी अगूठीपर पहुच गया, याने ज्ञानने जिसका लक्ष्य किया उसीको पकड लिया। यहाँ यह अद्भुत बल अज्ञानियोको नही मिला, उनको लौकिक ढगका मिलता, व्यवहारिक बातका मिलता। मगर रागादिक विकारोसे यह उपयोग नही छिडा यह तो ज्ञानीके हो जाता है। विकार तो हो रहे मगर यह ज्ञान उन विकारोको न निरखकर उस दृष्टिमे केवल आत्माके चैतन्यस्वरूपको निरखना चाहे तो उससे कोई चीज छिडती नही है, यह खुद छिडे तो छिड जाय।

१४७१—ज्ञानज्योतिके उदयसे ज्ञाताकी क्षपिततिमिरता—

जिस जीवके एक ज्ञानज्योति प्रकट हुई है उसका सारा अन्धकार दूर हो गया, स्पष्ट झलकने लगा कि मैं यह हूँ। जैसे कभी दो दोस्तोके बीच किसी एक चुगलने आकर मनमोटाव कर दिया और मानो ६ महीने तक भी उसे न सुहाये, वह बडा दृढ मित्र था, मगर भ्रमकी बात ऐसी बन गई। और, कोई समय वह भ्रम निकल गया तो वे दोनो मित्र मिलकर रोते हैं। अरे मैंने भ्रममे आकर आधे साल का समय व्यर्थ खोया। इसका तो कोई अपराध था ही नही। भ्रममे ये सारी बातें बनी हुई थी। जहाँ भ्रम मिटा वहाँ इसका अन्धकार दूर हो गया कि यहाँ तो कोई दु खकी बात ही नही। मैं अब तक दु ख मानता रहा। यहाँ तो कोई ऐसी गडबड बात हो नही। मैंने भ्रम करके भारी गडबडियाँ की और देखो हमने केवल की तो भावोके द्वारा गडबडियाँ और फल मिला इसका ऐसा कि भावोकी विकृतियाँ भी हुई और द्रव्यकी भी विकृतियाँ हुई। जिस भवमे गया, जिस शरीरमे गया उस तरहसे यह फैलना फिरा, द्रव्यव्यञ्जन पर्याय बिगडी, गुण व्यञ्जन पर्याय (गुण पर्याय) बिगडी। तो जब एक चेत हुआ, कुछ समझ बनी तो अब उस सारे भ्रमपर इसको खेद हो रहा, खेद भी क्या है? वह मीठा खेद कि अनादिकालमे मैंने अब तक सब भ्रममे खो डाला। देखिये एक क्षणको भी अगर अपनी इस स्वभाव ज्योतिका अनुभव बने, प्रकाश मिले, उपयोग स्वीकार कर ले कि मैं सहज इस स्वरूपमे हूँ, तो उसके अनन्तकालके लिये सारे सकट दूर हो जायेंगे। और, एक क्षणके लिए अगर यह वैषयिक सुखोका लोभ बनाये, जैसे बहुतसे लोग कहने लगते ना कि जिन आलू भटा न खाये, वे काहेको जगमे आये? कोई सोचे कि अरे अभी मौज ले लो आगेकी कौन देख आया? तो कहते हैं कि यह एक क्षणका वैषयिक सुख चिरकाल तक भव-भवमे पटकेगा।

१४७२—निरुपाधि ज्ञानज्योतिके प्रसारकी अबाधता—

यह ज्ञानज्योति प्रकट हो, विकार अधकार दूर हो, तो इस ज्ञानके प्रसारको अब कोई रोक नही सकता, कोई आवरण नही कर सकता, यह ज्ञान जानता है। मेरा स्वभाव है जाननेका। जाननेका स्वभाव कैसा है कि जो भी सत् है बस वह ज्ञेय हो ऐसा इसका स्वरूप है। तो स्वरूप तो कही मिटेगा नही। उस स्वरूपका कुछ विकास रुका था। आवरण था साक्षात् तो विभाव द्वारा और निमित्त दृष्टि से उन कर्मों द्वारा बधन था, इसका विकास रुका था। जब यह विकास आया, वह आवरण दूर हुआ, विभाव दूर हुये तो अब जो उसमे अपना स्वरूप है बस वही स्वरूप उमड गया। अब उसके प्रसारको सीमा कौन बनायगा? अगर कृत्रिम प्रसार हो, नैमित्तिक हो तो वहाँ कुछ सीमा बने, मगर जहाँ

स्वरूपकी ही बात है तो स्वरूपके अनुरूप पूर्णता आ वह बात स्वय आ ही जायगी, उसे कोई रोकनेमे समर्थ नही । कोई पदार्थ कही भी स्थित हो, पीठ पीछे हो, आगे हो, भूतमे हो, जो सत् है वह सत्र ज्ञानमे ज्ञेय हो जाता है । जब यहाँ हम आप लटोरे घसीटे भी १०-२५ साल पहले तककी बातोंको भी ढगसे जानते है, युक्तिसे भविष्यकी भी जानते है और अवधिज्ञानी पुरुष आत्मीय शक्तिसे स्पष्ट जानता है जितना वह अपनी सीमामे जानता तो इससे अदाज लगा लो कि ज्ञानमे ऐसा स्वभाव है, स्वरूप है कि यह सबको जाने । तो जब विकास होता तो इसका कितना असीम विकास होता । अब इसके इस प्रसारको कोई रोकनेमे समर्थ नही ।

१४७३—आत्माके विकाराकारकत्वके मननके उपायकी महनीयता—

बधके प्रकरणमे उपाय बहुत बताये, मगर एक सरल उपाय जो रागादिकका अकर्तृत्व बतानेमे प्रयुक्त किया है इस उपायके प्रयोगके बाद यह बधाधिकार समाप्त किया जा रहा है, उसमे जैसे बहुत आसानीसे अपने शुद्ध स्वभावकी निरख बने उस प्रकार बताया गया है । मैं स्वभावत प्रतिभासमात्र हूँ, इसके साथ साथ सब ज्ञान है इस ज्ञानीको । एक प्रतिभास मात्र ही मैं होऊँ, परमार्थभूत कुछ नही हूँ, ऐसा नही है । जो ऐसा मानते हैं उन्होने स्याद्वादको छोडा, और उनका एक प्रतिभासाद्वैत अलग ही बना सम्प्रदाय । मैं प्रतिभासमात्र हूँ, पर मैं प्रतिभासीसे जुदा नही हूँ, कि कोई परमार्थवस्तु और उसका यह प्रतिभास उसमे चल रहा है । तो वह परमार्थवस्तु जो प्रतिभासका आधार है वह अपरिणामी ही होता ऐसी मान्यता बने तो वह स्याद्वाद शासनसे दूर हो गया, क्योकि वहाँ नित्य अपरिणामित्व आया, और नित्य अपरिणामी है तो प्रतिभास क्रिया कैसे बन सकेगी ? किसीने इस प्रतिभासको निरखा क्षण-क्षणमे बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे देखा कि नया-नया प्रतिभास एक एक समयका परिणमन यही पूर्ण-पूर्ण वस्तु है, ये सब स्वतत्र है, अपने आपमे वही-वही है इसका अन्यसे कुछ सम्बध नही, ऐसा जिन्होंने देखा उनका सम्प्रदाय बना सौगत, क्षणिकवादी । ज्ञानीको सारी प्रतीति सही-सही है, पर समय-समयपर जिस जिस प्रयोगको मुख्य करके यह कुछ स्वभावके आश्रयकी ओर चलता है तो शेषको तो गौण करता है और विवक्षितको यह प्रधान करके चलता है । जिस किसी भी प्रकार हो, अपने आपमे स्वभाव दृष्टि जगे, अनुभव बने कि यह मैं केवल ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ ।

१४७४—विशुद्ध परिणतिकी भावना तथा वंधवेषका निरसन—

कब ऐसी परिणति हो कि कोई नाम लेकर खूब चिल्लाये, पर भीतर यह बात ही न घुसे कि मुझे बुलाया जा रहा है । कब ऐसी भीतरमे स्वभावाश्रयकी दृढता हो कि जगतमे कुछ भी होता रहे, ज्ञानमे न आये, आये तो ज्ञाताद्रष्टा रहे । हो रहा है, ऐसा यह सब स्वभावभावनाके अभ्याससे साध्य है और स्वभावभावकी भावना तब काम करेगी जब इसका हृदय विशुद्ध हो । किसी कषायमे, किसी आग्रहमे, किसी पक्षमे उलझा हुआ न हो । एक आत्माका ही नाता चित्तमे रहे तो वहाँ इस स्वभावभावनाकी पात्रता बनती है, और स्वभावभावनाका अभ्यास जैसे-जैसे बढता जाता वैसे ही वैसे मोक्षमार्गमे प्रगति होती चली जाती है । तो स्वभावभावना न रही और बाह्य पदार्थोंको आश्रय बनाकर नाना तरहके अध्यवसाय किए थे, जिसका फल कर्मबन्धन रहा । अब स्वभावको जाना, वह अध्यवसाय दूर हुआ जो कि एक चला करके ससारको बना रहा था उस अध्यवसायके दूर होनेसे अब इसके सही अवसाय आया अधिक अवसाय खतम हो गया, और जो स्वरूपमे है बस उसीका ही अब इसके निर्णय है, निश्चय रहा, उसका परिणाम यह है कि यह बध निकल भागेगा । इस प्रकरणमे जो बध भेषमे आया हुआ था उसको-

जाना ज्ञानज्योतिने । ये विभाव, ये कर्म, ये सब बंधरूपी चीजें हैं, इनका भेष है। ये बंध वस्तुत क्या हैं ? द्रव्यबंधमें तो ये साधारण विस्रसोपचय कार्माणवर्गणाये हैं और उनमें एक एक पुद्गल अणु है, भेष बना डाला उनने यह । और यहाँ पर विशुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र परमार्थ वस्तु है और भेष बना डाला उसने, इस विकाररूप । जब यह पता पड जाता कि यह पार्ट अमुक लडका खेल रहा है तो उस पार्ट करने वाले का प्रभाव नहीं रहता दर्शकोपर, ऐसे ही यहाँ यह जान लें कि परमार्थ तत्त्व यह है और यह भेष है ऐसा जाना, तो अब इस भेषका असर नही रहता, तो यह भेष छोडकर निकल जाता, इस तरह यहाँ से यह बंध निकल जाता है।

इति बन्धाधिकार समाप्त

अथ मोक्षाधिकारः

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद् बंधपुरुषौ, नयन्मोक्ष साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं परं पूर्णं ज्ञान कृतसकलकृत्य विजयते ।। १८० ।

१४७५—प्रज्ञा ककचके द्वारा बन्ध और पुरुषका द्विधाकरण—

अब यह ज्ञान, परमपूर्ण ज्ञान जिसने कि समस्त कृत्योको कर लिया है याने आत्महितके लिए, अपने आपकी शुद्धताके लिए जो भी करने योग्य काम था वह सब जिनके द्वारा किया जा चुका है ऐसा यह परिपूर्ण ज्ञान अब विजय प्राप्त कर रहा है । कहाँ है विजय इसकी ? आखिरी विजय है मुक्त होनेमें, सो क्या किया उपाय ? पहले प्रज्ञारूपी करोतीसे विदारण करके बंध और पुरुषको दो कर दिया । यह बंध है यह पुरुष है । अज्ञान अवस्थामे बंध और आत्मस्वभाव स्वभाव और विभाव ये सब एकमेक मान्यतामें थे । अज्ञानीको इन विकारोसे विविक्त आत्माके सहज स्वरूपकी सुध न थी, तो सबसे पहिले मोक्षमार्गका प्रारम्भ यहाँ से हुआ कि वह अपनेमे जाने कि ये विभाव ये बंध और यह आत्मतत्त्व इसमे स्वरूपभेद है, सबसे पहले प्रज्ञा करोतीसे विदारण कर बंध और पुरुषको भिन्न-भिन्न किया और ऐसा करके इस पुरुष (आत्मा) को मोक्षमे पहुचाया, मोक्षको प्राप्त कराया इस ज्ञानने, कैसा है वह मोक्ष ? पुरुष याने आत्मतत्त्वकी उपलब्धि द्वारा ही जो नियत है, मोक्षके कारण सिवाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके अन्य नही है, लेकिन जब तक इनकी पूर्णता नही है तब तक जो और और विभाव उत्पन्न हुआ करते हैं उनका बचाव कैसे बने, साधकका पात्रताप्रयोजक गुजारा कैसे चले ? सो वही स्थिति है बाह्य प्रवृत्तिकी, उससे अपात्र नही बनता, पात्र रहता है, शुभोपयोग व्यवहार चारित्र आदिक प्रवृत्तियोमे जो व्रत समिति गुप्ति आदिक कहे हैं उन प्रवृत्तियोमे रहने वाला जीव पात्र तो है, अपात्र नही बना, पर मुक्ति मिलती है तो आत्मतत्त्वके रमणसे मिलती है, सो ऐसे उपायने पुरुष की ही एक अनुभूति द्वारा जो नियत है ऐसे मोक्षको प्राप्त कराया जाता है ।

१४७६—बन्धके स्वरूपके ज्ञानमात्रकी मोक्षहेतुताका अभाव—

मोक्षके कारण क्या हैं ? इस बातपर भी इन शब्दोमे संकेत मिलता है । सबसे पहली बात बतायी गई—आत्मा और बंधका दो टूक कर देना, यह है बंधच्छेदन । वहाँ दो टूक कहीं उपयोगसे होता है कहीं साक्षात् याने अब कुछ सम्बन्ध नही रहा, अन्य कुछ है ही नही वहाँ, केवल एक आत्मस्वरूप है, उसका नाम है मोक्ष । तो वह मोक्ष एक गप्पसे न मिलेगा । बंधके स्वरूपके ज्ञानमात्रसे भी न मिलेगा, उसके लिए विभावोसे उपेक्षा, स्वभावकी धुन, स्वभावमे रमण, यह अन्त क्रिया बने, निरन्तर रहे तो उसे मोक्षकी प्राप्ति हो । बंधस्वरूपके ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं मिलती । कैसे जाना ? कुछ उदाहरण है

इस बातका ? उसका ठीक उदाहरण तो क्या दिया जा सकता, वह तो वही है, पर यहाँ देख लो कि किसी कैदीको बेडी पहना दी, तो बेडी उस स्वरूपके ज्ञानमात्रसे नही कटती, किन्तु बेडीको काटे, दो टूक करे तो कट जायगी। ऐसे ही बंध हुआ है तो मात्र उसका स्वरूप जान लिया कि यह है बंध। तो इतने मात्रसे बेडी नही कटेगी, किन्तु प्रज्ञा करोतीमे उसको ऐसा दो टूक करे, स्वभावको जाने, स्वभाव विभावका अन्तर समझे और अन्तर जानकर विभावमे उपेक्षा, और स्वभावमे रमण बने यह बात जिसके सही बनेगी उसको मुक्ति प्राप्त होगी। तो केवल बंधकी चर्चा कर ली इतने मात्रसे सन्तोष न होना चाहिए। इससे सिद्धि नही है, हाँ वह भी एक साधन है, जाने तो सही जिसमे कि हमे अलग होना है। मगर स्वरूपचर्चा, ज्ञानचर्चा, बधचर्चा करने मात्रसे सिद्धि न बनेगी। कुछ भीतर आना होगा। स्वरूपकी रुचि करना, स्वरूपमे समाना ऐसा जो करेगा उसके लिए सारा जगत, समस्त जीव एक समान रहते है। धर्मके प्रसगमे, स्वनुभवके पौरुषमे यह बहुत बडा भारी विघ्न है कि धर्मके नामपर कुछ थोड़ा आग्रह बने, यह एक इतना बडा शल्य है कि इसके रहते हुये सम्यक्त्व नही, अनुभूति नही। एक बार जब तक यह दृष्टिमे न आये कि सब जीव एक समान हैं, उनमे मेरे तेरेकी बात नही, ऐसा जिसके उदात्तपना न आया उसके वह पात्रता नही होती कि वह स्वानुभूति बना सके। केवल स्वरूपज्ञानमात्रसे सन्तुष्ट नही होना है, किन्तु प्रज्ञा करोतीसे विभावोका विदारण करना, आत्मा और बधको पृथक बनाना है।

१४७७—स्वभावाश्रय विना मात्र बन्धचिन्ताप्रबन्धकी मोक्षहेतुताका अभाव—

कितने ही लोग तो इसमे थोडा और आगे बढनेको कहते कि बंधके स्वरूपका ज्ञान करे और बंध कैसे मिटे इसकी चिन्ता बनावें तो मोक्ष हो जायगा, उसका चिन्तन बनावें। तो कहते हैं कि यह भी बात नही, अरे जान भी लिया कि यह बेडी है, यह बंध है और उसकी भावना भर रहे कि यह बेडी कट जाय, कट जाय, कैसे कटे। इतना सोचने मात्रसे बेडी दूर नही होती, किन्तु उसके दो टूक करे तब ही दूर होती है। ऐसे ही अन्त जो अपनी समाधिका पौरुष करे उसके ही यह बंध बेडी टल सकेगी, केवल एक ऊपरी इस चित्तको आराम मिले वडी चर्चायें करके, इतने मात्रसे प्रगति नही होती। प्रज्ञा क्रकच चलाकर बंध और पुरुषको दो टूक करना है। क्या होता है वहाँ ? यह परिचय बनता हैं कि यह मैं निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र हूँ। स्वरूपत देखो—स्वरूपकी बात कही जा रही, जैसे गरम पानीको कोई कहे कि इसका स्वभाव ठडा है तो वहाँ कोई लड भी सकता कि तुम बहुत झूठ बोलते, पानी तो गरम है और तुम स्वभाव ठडा कहते हो तो हम तो तुम्हारे ऊपर यह तेज गरम पानी डाले देते है, तब तो शायद आप चिल्लाकर यही कहेगे कि नही नही, पानीका स्वभाव ठँडा नहीं, यह तो बडा गरम है। अरे भाई गरम पर्यायमे तो है पर स्वभाव ठडा है इसमे शका नही। यह भैया स्वभावका उदाहरणमात्र है छोटा सा, वस्तुत पानीका स्वभाव न ठडा है न गरम। पानीका स्वभाव तो है द्रवत्व (बहना) उसमे जो जो भी बात पायी जा रही है वह उसका स्वभाव है, मगर एक प्रसिद्धि है, ऐसा दृष्टान्त देने की तो जैसे गर्म होते हुए भी उसका स्वभाव ठडा कहा जाता तब ही तो लोग पखा करके या आग हटाकर उसे ठडा करनेका यत्न करते है। यदि यह विधि न होती, इसका स्वभाव न होता ठडा तो ऐसा कौन यत्न करता ? तो ऐसे ही आत्मामे इस समय विकार है, विकार होते हुए भी स्वभावमें विकार न बताया जायगा। स्वभाव है अविकार। विकार तो नैमित्तिक हैं, औपाधिक है, स्वभावसे उठा हुआ नही है। तो अविकार चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभावको जानो, यह है आत्माका स्वभाव।

और, बन्धोका स्वभाव क्या है कि ऐसा निरपराध सीधे सरल सारभूत इस जीवमे विकारको करे यह है बन्धका स्वभाव तो इन दोनोका स्वभाव जान कर बधसे तो विराम लें, विरक्त हो, उपेक्षा करें। बधसे उपेक्षा हुई तो स्वभावमे रमण बनेगा।

१४७८—स्वभावरमणमे सहजपरमानन्दसरसता—

बन्धसे उपेक्षा व स्वभावमे रमण यह जो अन्त प्रयोग है यह ही समस्त कर्मोसे मोक्षको करेगा, इससे मोक्षका हेतु क्या मानना कि आत्मा और बधका द्विवाकरण कर देना, यही सर्वप्रथम विशेषणमे बताया कि प्रज्ञारूपी करोतीसे बध और पुरुष इन दोको इस भव्यात्माने दो कर दिया, अलग कर दिया, ऐसा करके जब यह जीव निज स्वभावमे ही लगता है तो इसीको कहते हैं समाधि, इस समाधि बलसे सहज परम आनन्द उसके उछल रहा है, चिन्ता तो कुछ है नही, चिन्ता, दु ख, क्लेश ये बाह्य पदार्थो के विषयमे विचार विकल्प बनाकर हुआ करते हैं, जहाँ केवल सहज स्वभावका आश्रय है, उस ही रूप अपने आपका अनुभव है, तो वहाँ सहज परम आनन्द उत्पन्न हुआ उससे यह सिद्ध पद प्राप्त हुआ वहाँ उपयोग आत्मामे आया, उस ही मे सिद्ध प्रभु अनन्त काल तक रम रहे हैं, वे सिद्ध प्रभु अब अपने उपयोगको आत्मामे टिकानेकी प्रवृत्ति नही करते, किन्तु उनकी सहज वृत्ति ऐसी है केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द रूप। यहाँ तो यदि थोडा जाप देने बैठते हैं तो झट उपयोग इधरसे उधर पहुच जाता है, जरा सी गर्मी भी वरदास्त नही कर सकते, उपयोग बाहर ही बाहर डोलता फिरता, मगर उन सिद्ध प्रभुका उपयोग बाहर कही नही डोलता, आत्मामे कोई आग नही है जो वहाँ कुछ भय खाकर उपयोग बाहरमे लगे, किन्तु विकल्पोको आगसे झुलसा है यह उपयोग तो किसी तरह थोडा आत्माकी ओर लग जाता है मगर वहाँ इसका मन नही लगता। वहाँ बडी कठिनाई मालूम करता है और यह बाहर-बाहर डोलता है। उस राग सतापको यह पुरुष मिटा दे और अपने आपमे आनन्दका अनुभव जगे तो आनन्द मिल गया, फिर क्यो वह बाहर जायगो ? अपने आपमे जब तक आनन्द नही मिला तब तक यह बाहर-बाहर डोलता है। अपनेमे आनन्द प्राप्त हो तो यह बाहर न डोले।

१४७९—निकटभव्योंको ही मोक्षलाभके उमगकी सभावना—

भैया, एक बात और सोचना कि बोलो अनन्त काल तक तुम्हे मोक्ष जैसी बात चाहिए या ससारका जन्म मरण करके रुलते रहनेकी बात चाहिए, दो बातें सामने हैं। तो जल्दी–जल्दीमे तो हर एक कोई यह कहेगा कि हमे मोक्षकी बात चाहिए, पर जिम्मेदारीसे भीतर सब कुछ निर्णय करके बात देखना कि क्या चाहिए। जब उसपर तुल जाते हैं कि हमे तो एक टूक होकर फैसला करना है कि ससारमे जन्म मरण करते रहनेकी प्रक्रिया बनाना है या सदाके लिए जन्म मरणके सकटोसे छूटकर मोक्ष पानेका केवलमे रमनेका हमे प्रोग्राम बनाना है, जब निर्णय करने चलेंगे तो समझना तो पडेगा कि मोक्षमे क्या स्थिति रहती है, कैसे मोक्षमे पहुचते, कैसे रहते ? तो वह सब बात आगे दिखाई देगी कि बाह्य परिग्रहको त्यागें, अतरङ्ग परिग्रहको त्यागे, विकल्पोको छोडे, अपने स्वरूपमे रमे और अकेला रह जावें सदाके लिए, बस यह ही है मोक्षकी बात। बताओ ऐसा मजूर है कि नही ? मजूर होगा ज्ञानी पुरुषको, जिसको अब ससारसे कोई प्रयोजन नही रहा, अन्यथा मन्दिरमे तो बहुत बहुत विनती करते भगवानके सामने कि हे भगवान मुझे मोक्ष चाहिए, मोक्ष दीजिए, मानो कोई एक पुरुष ऐसा था कि रोज रोज विनती करे कि प्रभो मुझे मोक्ष दीजिए, एक दिन मानो कोई देव आया और उसने कहा कि तुम एक महीनेसे प्रभुसे रोज–रोज कह रहे हो कि मुझे मोक्ष दीजिए, आज मैं इसी

लिए आया हूँ कि तुम्हे मोक्षमे ले जाना है। तो वह पुरुष बोला—अच्छा, उस मोक्षमे, क्या क्या है? वह देव बोला अरे वहाँ कुछ नही है, सब सूना है, केवल आत्मा ही आत्मा है। तो वह पुरुष बोला-क्या वहाँ चाय पीनेको नही मिलती? स्त्री पुत्रदिक नही मिलते?? धन दौलत वगैरह वहा ये कुछ नही मिलते क्या? अरे वहां ये कुछ नही मिलते। मात्र एक अकेला आत्मा रहता है। तो वह पुरुष बोला— अच्छा ठहरो, हम अभी नहीं जायेगे मोक्ष, फिर कभी मोक्षका प्रोग्राम बनायेंगे। तो मोक्षके लिए जब प्रोग्राम बनाने चले कोई तो उसे कुछ पता पडता है,यो कहना तो आसान है।

१४८०—मोक्षमार्गमे कदम रखनेपर भावयात्राकी असुविधावोके प्रसंगका अनुभव—

ऐसे ही भैया जो मोक्षमार्गमे कुछ थोडा बहुत चलता है, अपनी साधना करता है, ध्यान करता है और जब शरीर साथ लगा है तो कुछ बाह्य प्रवृत्तियाँ भी करनी होती है। वे प्रवृत्तियाँ है बाह्य तप त्यागकी, तो उसके प्रति भी चित्तमे बडी आलोचना प्राय रहती है गैर जिम्मेदारोमे, क्योंकि खुदका ऐसा काई प्रोग्राम नही व्रतका, नियमका, त्यागका, तो बाहरमे सर्वत्र वे आलोचना करते, दोष देखते कि यह ऐसा, यह ऐसा। जब उस तरफ चले, थोडा बढे, थोडा कदम रखे तो वहाँ पता होता है। जब उसमे ध्यान रखते हैं तो किस तरहसे क्या-क्या बाधायें आती हैं और किस तरह क्या होता है इसका पता पडता है। एक दिन हम ऐसा सोच रहे थे गर्मीके दिन थे, कही जा रहे थे, तो रास्तेमे एक दृश्य देखकर विचार आया कि लोग खूब मनमाना ठढा जल पी रहे, जब चाहे तब पीते, खाते, आराममे रहते तो इनको तो कोई कष्ट नही, व्रती लोगोको तो इनसे अधिक कष्ट है क्योंकि उनकी सब चीज नियमसे चलती है। बाहरसे देखनेमे तो यही लगता कि सयमी लोगोको असयमी जनोकी अपेक्षा अधिक कष्ट है, पर फिर विचार बना कि ऐसा सोचना यो ठीक नही कि सयमी जन, व्रतीजन अपने जीवनमे हर बात का नियम लेकर चलते जिससे उन्हे बाहरी कष्ट कोई कष्ट नही महसूस होते। वे अन्त. प्रसन्न रहा करते हैं। ऐसे ही एक दिन शौचनिवृत्त्यर्थ घूमने जाते हुए मे रास्तेमे ऐसा विचार बना कि देखो बरषातके दिनोमे इस पृथ्वीपर न जाने कितनी जीवराशि मरणको प्राप्त होती है। और, उस जीवराशिका मृतक शरीर सड गलकर इस मिट्टीमे मिल जाता है। तो यह मिट्टी तो अपवित्र कहलायी, फिर हम जो शौचादिककी क्रियाओमे मिट्टीसे हाथ धोकर हाथोको शुद्ध करना विचारते यह तो योग्य नही, उसमे तो बहुत बडा दोष है यो विचार चला, आखिर शौच भी गए, हाथ भी उसी मिट्टीसे धोया, रोज रोज धोते रहे, धोये बिना काम तो न चले। एक दिन अचानक ऐसा समाधान स्वत ही मिल गया कि अरे यह पृथ्वी तो ऐसी ही है कि जहाँ मास बहुत दिनो तक पडा रहे तो वह परिवर्तित हो कर उस मिट्टी रूप परिणत हो जाता है, वहा फिर मासका दोष नही रहता। तो जब कभी कोई किसी मार्गमे चले तो उसके अनुरूप बात चित्तमे आया करती है। तो केवल गप्पसे, बातसे ही कोई सिद्धि नही है, उसमें प्रवेश करना, लगना आवश्यक है।

१४८१—स्वभावभावनामूलक कृतकृत्यपनेके आशयका आनन्दानुभवमे सहयोग—

भैया, स्वभावरमणके प्रयोगके अर्थ अभ्यास बनावें स्वभावभावनाका। स्वभावभावनाके अभ्यासमें बाधायें आयेगी। जो घरमे रहते हैं उनको दसो बातें आती है, विकल्प चलते है, शल्य बनती हैं, बाधायें आती है और कुछ धुन होती है आत्माकी ओर। आत्माकी धुन वाला पुरुष घरमे नही रह सकता। उसकी धुनमे जब तक कमी है तब तक घरमे है। अगर अतस्तत्त्वकी धुन बनी है तो वह विकल्प जालमें रहना पसद नही करता, विकल्प जालमे वह रहेगा नही। तो अतस्तत्त्वको धुन बनानेका अपना पौरुष

करना चाहिए, जब ऐसे स्वभावभावकी भावना बढे तो उससे सारी बातें बनती हैं ? जो सब करना योग्य है, कृतकृत्य किसे कहते हैं ? कृत कृत्य येन स कृतकृत्य जिसने करने योग्य सब कुछ कर लिया, कुछ करनेको नही रहा। आनन्द जगता है तब, जब कि कृतकृत्यताकी बात चित्तमे आती है। और जब करनेकी बात चित्तमे रहती है तो वहाँ आनन्द नही जगता। इस समय भी जितना जिसको आनन्द आता है जब जब भी, वह कार्य करनेको पड़ा है यह विकल्प न रहनेका आनन्द है, कार्य करने का आनन्द नही, खूब बडी गम्भीरतासे विचार कर लो, हर स्थितिमें जब भी आनन्द मिलता है तो करनेका आनन्द नही किन्तु करना अब नही रहा, इस भावका आनन्द मिलता है, आपने कुछ काम किया मकान बनानेका, अभी जब तक बन नही पाया तब तक आप उसके प्रति कितने ही विकल्प करते और जब बन चुकता है तो कैसा आरामसे बैठकर बडे विश्रामकी सास लेते हैं। तो बताओ वह आनन्द किस बातका आया ! अरे वह आनन्द इस बातका है कि अब हमे मकान बनानेका काम नही रहा यह बात मनमे घर कर गई, और जब तक उसके प्रति करनेका विकल्प था तब तक चित्तमे अशान्ति थी, बेचैनी थी। तो ऐसे ही समझो ज्ञानी जीव, निर्ग्रन्थ पुरुष जिनका निर्णय है कि जगतमे मेरे करने योग्य कुछ भी नही, उनको आनन्द अपने आप पड़ा हुआ है, और उस लोकको काम करनेके बाद थोडा उस आनन्दका झलक मिलती है। सो भैया आनन्द मिलता है तो मेरे करनेको काम नही रहा, इस भावका आनन्द मिलता है।

१४८२—करणचिन्तामे विडम्बनावोका आक्रमण—

मेरेको यह काम करनेको है ऐसी चिन्ताके समय खुद सोचलो कि चैन है क्या ? आनन्द है क्या ? चाहे वह किसी तरहसे करनेकी बात मिटे, किन्तु भावोमे जब तक कृतकृत्यताकी बात नही आती तब तक आनन्द नही जगता। एक धुनिया इसी बातसे ही तो बीमार हो गया था। वह विलायतसे पानी के जहाजसे आ रहा था। उसमे कोई दो चार ही आदमी थे बाकी हजारो मन रूई लदी थी। उस रूई के इतने बडे स्टाकको देखकर उसके चित्तमे यह बात समा गई कि अरे यह सब रूई मुझे ही तो धुननी पडेगी, मैं इसे कब धुन पाऊँगा ? एक उसके चित्तमे ऐसी हाय समा गई जिससे उसको सिरदर्द हो गया, खैर किसी तरहसे वह घर पहुँचा, घर पहुचते पहुचते तेज बुखार चढ आया, काफी बीमार हो गया। अब उसके ठीक करनेके लिए बहुत से डाक्टर वैद्य हकीम आये, पर कोई उसे ठीक कर सकनेमे समर्थ न हुए। भला बताओ उसकी चित्तकी बीमारी कोई कैसे ठीक कर सके। एक बार कोई बुद्धिमान पुरुष आया, उसने कहा हम इसे ठीक कर देंगे। ठीक है करो ठीक। सबको वहाँसे हटा दिया और उस बीमार पुरुषसे पूछा कहो भाई तुम कबसे बीमार हुए ? अमुक दिनसे ? कहाँसे आ रहे थे ? विलायत से ? किससे आ रहे थे ? पानीके जहाजसे। उसमे कितने लोग बैठे थे ? अरे आदमी तो कोई दो चार ही थे, पर उसमे हजारो मन रूई लदी थी। यो उसकी एक दर्दभरी आवाज सुनकर वह पुरुष बीमारीका कारण भली भाँति समझ गया। सो बोला—अरे तुम उस जहाजसे आये। वह तो आगेके बंदरगाहपर पहुचते ही अग्नि लग जानेसे रूई सहित जलकर भस्म हो गया। अरे भस्म हो गया। लो चगा हो गया। तो देखो—उसको बीमार होनेमे कारण था उसके करनेका विकल्प। जहाँ करनेका विकल्प हटा कि चगा हो गया। जहा किसी प्रकारसे करनेका विकल्प नही, केवल अपने अपने आत्मस्वभावकी धुन है उसको परम आनन्दकी प्राप्ति होती है।

१४८३—भावदृष्टिकी मुख्यतासे आत्मस्वरूपका परिचय करके स्वभावभावनाके बलसे कृतकृत्यता पाकर ज्ञानको विजयी करनेका संदेश—

भला बताओ इस कर्तृत्वबुद्धिसे अपनेको कुछ लाभ है क्या ? मेरा लाभ तो अपने आपके स्वभाव मे रमनेसे है, अन्य बातसे नही, और फिर अन्य बात मैं कर ही क्या सकता हूँ ? मैं तो अपने भावमात्र पदार्थ हू। देखो एक दृष्टिसे मानो जानकारीके उपाय ६ हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव, नाम और स्थापना, हर एकका परिचय इन ६ बातोसे चला करता है। जीवद्रव्यका परिचय इस दृष्टिसे बनाये तो सही कि किस दृष्टिसे किस द्रव्यका अधिक ज्ञानसम्बन्ध मिलता है। द्रव्य मायने पिण्ड ढेला, इससे तो पुद्गल अच्छी तरह जाने जाते हैं। आकाशका परिचय क्षेत्रकी मुख्यतासे है, कालकी मुख्यतासे काल जाना जाता। अच्छा, और नाम स्थापनाकी मुख्यतासे किसका अच्छा परिचय बनता ? नाम क्यो धरते। नाम चलानेके लिए धरा जाता, नाम हो तो व्यवहार चले। तो नामकी याने गतिकी दृष्टिसे जो हेतु बनता है उसका ज्ञान होता, धर्मद्रव्यका ज्ञान होता। और स्थापना याने धर दे, ठहरा दे उससे हुआ अधर्मद्रव्यका विशेष परिचय। अब रह गया भाव। तो इसकी नाप तौल, गुण पर्याय सारे गिन डालो, इससे आत्माके सहज स्वभावका अनुभव न बनेगा। अनुभवके लिए अखण्ड स्वभाव लक्ष्यमे चाहिए वही कहलाया भाव। तो भावकी मुख्यतासे जीवका परिचय होता। तो ऐसे सहज ज्ञानभावकी, स्वभावकी भावना बढा बढाकर इसमे रमकर जहाँ कृतकृत्यता प्रकट होती, परिपूर्णता होती ज्ञानकी, वह परिपूर्ण ज्ञान मोक्षको ले जाता हुआ विजयशील रहता है।

प्रज्ञाछेत्री शितेय कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः, सूक्ष्मेन्तः संधिबधे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य। आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे, बध चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ।।१८१

१४८४—जीवकी विडम्बनाका विधान—

इस जीवको जो भी कष्ट हो रहा है उसका कारण है मूल कि इस जीवने अपनेको सही स्वरूपमे और औपाधिक भाव विकारमे अन्तर नही समझा और दोनोकी संधिमे एक मेलपनेकी मान्यता की। तो जहा विकारमे मान्यता की कि यह मैं हूँ, तो विकारका जो हुक्म है, विकारकी जो प्रकृति है उसका यह कर्ता बनेगा, भोक्ता बनेगा और कष्ट पायगा। स्वरूपदृष्टिसे देखो तो खुदमे क्या कष्ट है ? यह एक पदार्थ है और सब पदार्थोंमे सारभूत पदार्थ है जो अपनी व्यवस्था बनाये, अपना ज्ञान करे, सर्वका ज्ञान करे, ऐसा एक परमार्थभूत पदार्थ है, इसमे परम स्वच्छता है, सो इसमे यह स्वच्छपना गुणके लिए था मगर एक ढगसे देखे, जिसे कहते है दोषव्याज कथन। हे आत्मन् ! तुममे स्वच्छता है, यह ही तो अवगुण है, यही तो विकार काहेको आते ? जिसमे स्वच्छता नही है उसमे कही विकार आतेहै ? यह सीधा खडा है खम्भा, इसमे किसी प्रकारका विकार आता है क्या ? तो हे आत्मन् ! यह ऐब है तुझमे कि तेरेमे स्वच्छता है। अरे यह ऐब नही है, इसे कहते हैं दोषव्याज उपन्यसन। अच्छा एक तथ्य और समझो अन्दरमे कि यह आत्मा एक है, है रहा आये सब पदार्थ रह रहे, यह भी रहा आये, जैसे सब बस रहे हैं वैसे ही आत्मा भी बस रहा है, उसमे कोई नुकशान नही पड रहा। वे सब अपने अपने स्वरूपमे बस रहे हैं। अब फर्क इतना है कि वे सब अपनेमे द्वैत पैदा नही करते। कोई भी पदार्थ दुविधा पैदा नही कर रहा। पुद्गल द्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश, काल ये कोई भी दुविधा नही पैदा कर रहे। इस जीवने एक दुविधा पैदा कर दी। क्या ? इसने पहिले ही यह द्वैत पैदा कर दिया—मैं हूँ और यह है। ऐसी बात अन्य कोई पदार्थ नही लाते चित्तमे। उनके चित्त ही कहाँ ? इस आत्माने यह द्वैत पैदा

किया पहले कि यह मैं हूँ, यह ज्ञेय है। इसकी एक ज्ञान कलाके कारण ये जो दो बातें पैदा हुई सो ये ही दो बातें भूलमे एक बडी विडम्बनाकी जड बन गई। बनना तो न चाहिए था। यह तो ज्ञानका स्वरूप है कि जो प्रतिभास होता है कि यह मैं हूँ और यह ज्ञेय है, मगर कोई विरुद्ध सम्पर्क है ऐसा कि जिससे इसमे विडम्बना बनी। तो पहले ये दो बातें हुई कि मैं हूँ और यह ज्ञेय है। अच्छा फिर इस ही से स्व परका एक अन्तर बन गया कि यह मै हूँ, यह पर है, इसके पश्चात् उस परमे भी स्व परका द्वैत बन गया, यह इष्ट है यह अनिष्ट है, इष्ट अनिष्टका भाव होनेसे विविध क्रिया बन गई, इसको पकडना चाहिए, इसको हटाना चाहिए, ऐसे हो होते होते यह सब विडम्बनाओका जाल बन गया। तो जो चीज गुण थी वही चीज दोष बन गई, किसके लिए ? अज्ञानीके लिए, मोहीके लिए। प्रभु है, वहाँ भी तो ज्ञान और ज्ञेय है, यहाँ कौनसी आफत आ गई ? जो जो प्रवर्तन मूलमे प्रभु कर रहे वही तो हम कर रहे, ससारी जीव कर रहे मूलमे, मायने जानना बन रहा, पर प्रभु निरुपाधि और यहाँ सोपाधि जीव, इसके कारण बस जहाँ जाना वहाँ स्वपरकी बात आयी, पर आते ही उसमे इष्ट अनिष्टका द्वैत हुआ, फिर वहाँ क्रिया कारक बनने लगे, और यो फिर तो जरा झगडा उठना चाहिए मूलमे, फिर तो वह बढता ही जाता है।

१४८५—महाकलहका मूल हास्यास्पदसी घटना—

भैया, कितना भी बडा झगडा हो, किसीके दिखता हो बहुत बडा झगडा, मगर जानकारी कीजिए कि आखिर यह झगडा शुरू कहाँसे हुआ ? मूलमे क्या बात थी कि इतना बडा झगडा बन गया तो आपको मूलमे इतनी सी छोटी बात मिलेगी जो एक हास्यापद जैसी होगी, कुछ मायने नही रखती, ऐसी छोटी बात मिलेगी झगडेके मूलमे। किन्ही भाइयोका झगडा चल जाय, बडा झगडा हो जाय बटवारेमे, तो बडी चीजके बटवारेमे झगडा कभी नही होता। सामने दिख रहे कि चार मकान हैं, इतनी कीमतके हैं, एकने कह दिया, एकने छाँट लिया। बडी बातमे कभी झगडा नही होता। घर जेवर धन बर्तन वगैरह बटनेके बाद कोई एक आध फुट जमीनके पीछे उनमे आपसमे झगडा बन जाता है, और वह झगडा इतना बडा रूपक रख लेता है कि उसके पीछे फिर सारी जायदाद दोनो पक्षोकी लुट जाती है। सुना है कि कलकत्तामे किसी जगह दो फोटो ऐसे बने हैं कि जिनमे यह दिखाया गया है कि दो भाइयोका कोर्ट झगडा चला किसी जरा सी बातके पीछे तो उस झगडेका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि एक भाईके हाथमे झोली रह गई और दूसरेके हाथमे फैसलेका कागज। बाकी दोनोकी सारी जादाद उस मुकदमेके पीछे बरबाद हो गई। तो देखो झगडा तो था एक मामूली बातपर, कोई एक आध फुट भूमिपर, पर हालत क्या से क्या हो गई।

१४८६—जीवकी स्वापराधकृत ससृतिविडम्बना—

भैया, लगता है यहाँ भी बहुत बडा झगडा, एकेन्द्रिय हुए, दो इन्द्रिय हुए, ऐसे ऐसे विचित्र देह मिले तो इस सब झगडेका मूल कारण क्या है, इस पर भी तो कुछ विचार करना चाहिए। कहाँ तो यह चैतन्यतत्त्व महाप्रभु भगवान आत्मा जिसका केवल प्रतिभास स्वरूप, ज्ञाता द्रष्टा रहे और कहाँ इतनी बडी विडम्बना, तो इतने बडे झगडेकी जड क्या है ? अरे जड क्या ? कोई तेज कषाय करते, ऐसा बध होता, ऐसी योनियाँ मिलतीं। तो ऐसी तेज कषाय बनी क्यो ? अरे इसने मान लिया किसी परपदार्थको कि यह मेरा है, मकान मेरा है, फलाना मेरा है। तो ऐसा मान क्यो लिया इसने कि मकान मेरा है, अमुक चीज मेरी है ? कहते है कि कैसे न मानें ? भीतरमे तो ऐसा ही एक अँधेरा

उजेला मिला हुआ मिश्रण सा तो चल रहा है मोहका अधेरा, ज्ञानका प्रकाश, तो ऐसा हुआ क्यो ? क्यो यह अन्दरमे वृत्ति चल रही ? अन्दरमे वृत्ति यो चल रही कि कर्मविपाकका प्रतिफलन है, उससे मतलब क्या ? अगर प्रतिफलन उपयोग स्वरूप होनेको हुआ इतना ही हो जाने देते, गम खाते तब तो ठीक था, पर यह जीव उसमे भुक गया, इतनी जरा सी गल्ती कर गया, अब कहनेको तो जरा सी पर उसकी इतनी बडी विडम्वना बन गई कि ससारमे यह विचित्र योनियोमे उत्पन्न होता । तो क्या इतने छोटेसे अपराधका इतना बडा दण्ड मिलना चाहिए ? क्यो न मिलना चाहिए ? कोई अगर अदालतमे न्यायाधीशके प्रति कुछ बात कर दे तो कहते है ना कि अदालतका अपमान किया; उसका तो बडा केस होता फिर यह जो अपनी अदालत है भगवान आत्मा उसका बडा केस क्या हुआ ? अपने स्वरूपको ढक दिया, उसकी सुध न ली और उससे मुख मोड लिया, तो यह कम अपमान है क्या ? इस उपयोगने इस भगवान आत्मासे पीठ फेर लिया, और भगवान आत्माका जो दुश्मन है विभाव है उससे जाकर सधि कर ली, इसे क्या छोटा अपराध कहेगे ? इसलिए ये सारी विडम्बनायें हैं।

१४८७—संसृतिविडम्बनासे निकलनेके उपायकी चर्चा—

अच्छा जान तो लिया कि ये सब विडम्वनायें बन गई । जैसे जब बहुत बुरे फस जाते हैं तो कहते है कि भाई बहुत बुरे फसे, पर अब उपाय तो बताओ कि कैसे निपटें इस भगडेसे ? तो अब वहा उस निपटाराके उपायकी चर्चा चलेगी कि भगडेमे फस तो गए, मगर निपटारा कैसे बने ? अब कोई उपाय निकाले जिससे कि इन सब सकटोसे छुटकारा बन सके सो बस उपाय यह ही है, मूल बात क्या थी कि कर्मविपाकरसमे जो उसके प्रतिफलन रूपसे उपयोगमे आया उस कर्म विपाकरसमे और अपने आप के स्वरूपमे एकदम भेद ज्ञात करले, पृथक् करले कि यह यह है, मैं यह हू केवल दो टूक ज्ञान करें कि भीतर फिर उसके प्रति प्रीति रच भी न रहे, कोई दो मित्र हो, दो मित्रोमे खूब दोस्ती है, कैसी दोस्ती कि जैसे कहते दांतो काटी रोटी, बहुत परम मित्रता है और किसी बातसे जब उनमे अनबन बनती है तो वे एक दूसरेका मुख नही देखना चाहते, इतनी तेज अनबन बन जाती कि एक दूसरेको देखना भी नही पसद करते । और दिख जाय तो आँखें मीच ले, ऐसा भी कुछ हो सकता है, तो कितनी ही तेज दोस्ती हुई हो, अगर उस दोस्तीमे कपट चल रहा है पहलेसे और उस कपटका भेद खुल जाय तो फिर बस एकदम अलग हो जाते है, फिर चित्तमे ही नही रहता कि यह कुछ था, तो ऐसे ही स्वभाव विभावकी दाँतो कटी रोटी जैसी दोस्ती थी और यह अनादिकालसे चली आयी, जिस कालमे इस ज्ञानी ने, इस आत्माने विभावका कपट जाना, पोल जानी, असारता जानी, उसी बातमे बन रही माया तो जहाँ इतना छल समभा, असारता समभी बस तबसे यह आत्मा उससे ऐसा हटा कि अब उसका नाम भी नही चाहता उसकी वासना भी नही रखता, उसके प्रति कोई प्रीतिकी भी गुजाइस नही हैं । अच्छा, ऐसा करनेसे फायदा क्या मिलेगा ? फायदा यह मिलेगा कि अपने ही स्वभावमे अपने उपयोगका समाना हो जायगा । इससे तत्काल तो अशान्ति दूर होती और कुछ ही कालमे वे सब बातें जैसी होनी हैं विधि विधानसे विकारकी, कर्मकी निर्जरा हो जाना और और बातें, ये सब भी दूर होगी ।

१४८८—भगवती प्रज्ञाके प्रसादसे विजयका लाभ—

भैया, आत्महितका उपाय यह है कि पहले आत्मा और बधको दो कर दें, अलग-अलग कर दें, समभ ले, अच्छा तो कैसे करे ? उपाय बताओ । उपाय क्या करना ? बताओ अच्छा स्वभाव और विभाव इन दोनोमे जो एक सम्बध बनाया था सो किसके द्वारा बनाया था ? ज्ञानके द्वारा, दूषित ज्ञान

के द्वारा। तो अब वहाँ अलग क्या किसी और बातसे हो सकेगा ? वह भी ज्ञानके द्वारा। तो यहीं आत्मा द्वैधीकरणका कर्ता है और यह ही आत्मा साधन है, ज्ञान द्वारा ही वहाँ द्वैधीकरण करता है, बस इसी प्रज्ञाको बोलते है भगवती। भगवान आत्माकी जो परिणति है उसे बोलते हैं भगवती। भगवान और भगवती। और लोग तो पास पास बैठाल देते फोटोमें कि ये तो हैं भगवान और यह हैं उनकी भगवती। अच्छा फिर लोगोको यह पसद न आया कि भगवान और भगवती इतनी दूर बैठें सो एक ही फोटोमें आधा अग पुरुषका और आधा अग स्त्रीका बना दिया, तो ये हो गए भगवान और भगवती। जैन शासनको यह अन्तर न पसद आया सो कह दिया कि सर्वांगमे भगवती आनी चाहिए, आधे अगमे भगवती के विराजनेसे क्या लाभ ? तो वह भगवती है प्रज्ञा भगवती, यह ज्ञानलक्ष्मी, यह तो आत्माके सर्व प्रदेशोमे है। कोई स्त्री पुरुष नही हैं वे। भगवत इय इति भगवती जो भगवानकी परिणति है सो भगवती। लोग कहते हैं कि 'भगवती फतेह करे। तो उनकी यह बात' सच है। भगवती ही फतेह कर सकती है, किसी दूसरेमे ऐसी ताकत नहीं, याने आत्माकी जो स्वानुभूति है प्रज्ञा बस यह ही विजय कर सकती है और प्रकारसे अपनी विजय नही बनती। तो इस प्रज्ञाके द्वारा इसको छिन्न कर दिया। बध और यह आत्मा, ये दो हो गए।

१४८९—प्रज्ञा छैनीका स्वलक्षण सूक्ष्मान्त सन्धिपर निपातन—

बन्ध और आत्माका द्वैधीकरण कैसे कर दिया गया ? इस ज्ञानने जाना सबका लक्षण। बधका यह लच्छन है और आत्माका यह लक्षण है। लच्छन शब्द कहते हैं कोई बुरी बात हो तो। यह है तुम्हारा लच्छन, वहाँ लक्षण शब्द पूरा सही नही बोलते। तो बधके ये हैं लच्छन। खुद मरे, दूसरेको मारे, बरबाद हो, बरबाद करे। अच्छा और आत्मस्वभावका लक्षण क्या है ? यह ध्रुव चैतन्यभाव जो गम्भीर है, उदार है। जहाँ दोनोके स्वलक्षणको जाना और देखा कि यह सन्धि कहाँसे बनी, वह सन्धि क्या है ? यह ही सन्धि, यह प्रतिफलन, और यह उपयोग, इनका भावात्मक सम्पर्क, बस इस सन्धिपर इस भव्यात्माने ऐसा लक्षण भेद प्रज्ञामयी पैनी छैनीका निपात किया कि ये दोनो जुदे हो गए ज्ञानमे। समझ लिया गया कि आत्माका लक्षण तो वह है जो सर्वदा आत्मामे ही पाया जाय, और जिसको व्यापकर यह आत्मा निरन्तर रहा करे। यह ज्ञानस्वरूप ज्ञानमे ज्ञानपनेको लिये हुये निरन्तर रहना है। अगर अलग कर दिया जाय ज्ञानको तो आत्माका अस्तित्व नही और विकारको अलग कर दिया जाय तो आत्माका अस्तित्व नही क्या ? है ही। अज्ञानी विकार बिना अपना अस्तित्व नही मानता अगर विकारको अलग कर दिया तो मेरा अस्तित्व नही रहनेका, अज्ञानीके तो यह बुद्धि रहती है। क्रोध कर रहा है अज्ञानी और किसीके समझानेसे क्रोध जरा ठडासा बने तो भीतरमे यह कोशिश करता कि हमारा क्रोध ठडा न होने पावे बल्कि और तेज होना चाहिए, नही तो हम बदला ही नही ले सकते। आत्माका स्वरूप है ज्ञान, प्रतिभास। और बधका स्वरूप है बधन, विकार परभाव, औपाधिक। तो इस प्रकार भेद करके इस जीवने जाना कि ये रागादिक तो आत्मामे निमित्तसान्निध्यमे ही होते, ये आत्मा मे साधारण नही हैं मायने त्रिकाल ये पाये नही जाते, किन्तु ज्ञान एक त्रिकाल स्वरूप है, परम सहज आनन्द स्वभावको लिये हुये है।

१४९०—चेतकचेत्यमात्र संबंधसे बढ़कर साम्यसीमाका उल्लंघन करनेवाले बधभावको आत्मासे पृथक् कर आत्मत्वका चैतन्यधाममे स्थापन व बंधका अज्ञानभावमे स्थापन—

रागादिक जो मुझमे आये हैं, झलके हैं, सो यह मैं चेतक हूँ, विकार चेत्य बन गया, बस इतना

ही नाता था, सम्बध था, तो यह ही क्या, और पदार्थ भी ज्ञानमे आते। तो भीतरमे विकार अबुद्धिपूर्वक कैसे चेत्य बने, इतना ही तो उनमे प्रत्यासत्ति सम्बध है, उनमे अन्य कोई सम्बध नही, वे एक द्रव्य नही, दोनो मिलकर एक नही। जैसे दर्पणके आगे कोई वस्तु रखी है हरी पीली, यहाँ प्रतिबिम्ब हो गया, तो बस यह स्वच्छ है, दर्पण झलकाने वाला है, वह झलकमे आने योग्य है, इतना ही तो सम्बध है, पर एकपना नही, एक द्रव्यपना नही, तो ऐसे ही रागादिकमे और मुझमे बस यह चेतक चेत्यकी बात तो आयी थी, मगर यह उससे बढ गया, समता सीमाका उल्लघन कर गया। साम्यभावकी सीमा तक निरखता तो जीव सही रहता। अगर उससे आगे बढ गए तो यह बध है, किन्तु यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे कुशल पुरुषोंने बडे वेगसे भीतरमे विभाव स्वभावकी सधिमे जैसे ही इस प्रज्ञा छेनीको पटका कि यहाँ दो टूक हुआ, अच्छा दो टूक हो गया, जैसे काठको कुल्हाडीसे काटा, दो टूक हो गए तो एक टूक इधर गिरा एक उस तरफ, कही तो गिरा, कही तो पहुचा तो जब आत्माके और बधके दो टूक हो गए तो यह आत्मा कहाँ जावे और यह बध कहाँ जावे? आत्मा तो इस निर्मल चैतन्य पूरमे मग्न हुआ और यह बध अज्ञानभावमे डुबोया गया या इस विकारको बधको, वही पहुचा दो जिसके बल पर ही यह उद्दड हो रहा था, जिसके अभावमे यह नही होता, अच्छा जोत दो कर्मके पास। यह स्वभाव यह निर्मल ज्ञान प्रतिभास स्वरूप है। यह आत्माका सहज निरपेक्ष परमपारिणामिक भाव है इस चैतन्य पूरमे समा दो। बस टुकडे भी कर दिये और उन्हे ठिकाने भी रख दिया। कही टुकडा होकर ये कही अनिश्चित से न रहे इससे उन्हे ठिकाने भी पहुचा दिया, बध तो अज्ञानभावमे चिपका दिया गया और यह अन्त स्वभाव, इस चैतन्यपूरमे मग्न हुआ। अब अपना स्वरूप एक चैतन्य अतस्तत्त्व है, बस उसका ही आश्रय है वही उपयोगमे है और एक उपाय है जिससे कर्म छूटते है, मार्ग बढता है, हम प्रगतिकी ओर जाते है।

१४६१—आत्महितका एकमात्र मौलिक अमोघ उपाय—

भैया, आत्महितका मूलमे एक यही उपाय है, क्योंकि अपना जो सहज निरपेक्ष सत्त्वके ही कारण अपने आप जो भाव है परिणामिकभाव, चैतन्यस्वरूप, बस उसमे अनुभवन बने, मैं यह हूँ, यह एक ऐसा अमोघ उपाय है कि जिसके फलमे याने कैवल्यकी ओर बढना इसमे अतराय न आ सकेगा। और, एक मूलस्वरूप धामका ही पता न हो और यह उपयोग बाहर-बाहर बहुत सी बाते बनाये कि यह करना, वह करना, धर्म फैलाना, बाहर ही बाहर यह उपयोग डोले तो उसने तो धर्मकी जड ही नही पायी, वह मुक्तिमे कदम क्या रखे? इसे यो कहो कि देखनेमे जो बडे-बडे परिश्रम लग रहे, अभी पूजा करना, नहाना, जाडेमे नहायें, जाप कर रहे, सामायिक कर रहे, स्वाध्याय कर रहे, सत्सग कर रहे, सेवायें कर रहे, उपवास कर रहे, बहुत बहुत कार्य किया। देखो इसके साथ एक छोटी सी बात और ले लो, छोटी यो कह रहे हैं कि उनमे चाहे कष्ट मालूम हो पर जो बात बताते इसमे कष्टकी कुछ बात ही नही, क्या बात? जरा भीतर निहारकर अपने ज्ञानमे अपनेमे अपनेको ऐसा निरख लें कि यह मैं एक चैतन्यप्रकाश मात्र हू, इतना जरा अमृतपान और कर ले, फिर तो कही कोई उलझन नही, जो भी करेगा उसीसे ही गुण बनेगा। और, एक इस अतस्तत्त्वको न पाया तो कर्मबध मिटे, निर्जरा हो ऐसी उसने कुञ्जी नहीं प्राप्त कर पायी। सो भीतरमे इस स्वभाव विभावकी सधिको मेटिये, और अपनेमे यह अनुभवें कि मैं चैतन्य प्रकाशमात्र हू, अभ्यास बने, भावना बने, बारबार यही ज्ञानमे रहे, उपयोगमें इसीको ही रगड़े इसीके बीच कोई क्षण आयेंगे कि सारे विकल्प दूर भागेंगे और यह उपयोग उस सहज ज्ञानस्वभावमें

उतरेगा, कुछ क्षणको मानो जैसे कि वह छुवा ही है, उस समय इसको एक सहज आनन्दकी अनुभूति होगी, उसके बाद फिर इसको स्मरण रहेगा सही कि यह अतस्तत्त्व इस तरह अपने आपके स्वरूपमे है।

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद् भेत्तु हि यच्छक्यते, चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि, भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

१४६२--आत्मा और बधका भेदन और उस भेदनका प्रयोजन--

इस आत्मामे जो जो कुछ भी भिन्नता की जा सकता है उस सबको अपने अपने स्वलक्षणसे भिन्न कर देना चाहिये, क्या क्या भिन्नता की जा सकती है ? जो जो आगतुक हैं, औपाधिक हैं, स्वभावसे ही नही हुये, जिनकी निष्पत्तिमे पर निमित्त हैं, जो पर उपाधिके अभावमे हो ही नही सकते हैं वे वे सब भाव भिन्न किए जा सकते हैं। उनको भिन्न किया किसके द्वारा ? प्रज्ञाके द्वारा। प्रज्ञासे उनके अपने अपने लक्षणोको समझा। आत्माका लक्षण, जिस जिसमे व्याप कर आत्मा रहे और जिस जिसको लेकर आत्मा हटे वह सब आत्मा। और, यह बध क्या है ? जो आत्मामे साधारण रूपसे न रहे, अर्थात् किसी विशिष्ट सान्निध्यमे, परिस्थितिमे ही जो रह सकता है वह सब बध है। और, इस तरह उन लक्षणोकी पहिचान करके भेदन किया, भेदन करके क्या करना चाहिए ? सो खुद समझ लो, यदि चावल शोधना है, एक थालीमे चावलका शोधन किया जा रहा है तो यह समझा गया कि यह तो है चावल और यह है अचावल, चावलसे भिन्न पदार्थ यह जान लिया ना ज्ञानसे, अब उसके बाद क्या-क्या जाना ? क्यो जाना, ऐसे उस जाननेका फल क्या ? कि जो अचावल है, कूटा है और कुछ धानका छिलका, उस सबको अलग कर दिया जाय और जो चावल है उसको ग्रहण कर लिया जाय, क्यो ग्रहण करते कि वे चावल खाये, जायेंगे, सुख शान्ति मिलेगी, इसलिए ग्रहण करते हैं, तो ऐसे ही इस आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्वका भेद पहिचानें अपने-अपने लक्षणसे। अब भेद करके क्या करना ? अनात्मतत्त्वकी तो उपेक्षा करें, बाहर फेंकें और आत्मतत्त्वको ग्रहण करें, किसलिए ग्रहण करें कि उस ग्रहणमे शान्ति मिलेगी, कल्याण होगा, शान्ति, शुद्धिकी शाश्वतता रहेगी इस कारणसे उस आत्मतत्त्वको ग्रहण करें, यही है आत्मा और बधका भेद करनेका फल। याने बधको छोडें रागादिक विकारोको छोडें और अविकार चित्स्वरूप ही जिसका लक्षण है ऐसे शुद्ध आत्माको ग्रहण करें, बधके और आत्माके दो टूक कर देनेका प्रयोजन इतना ही है शुद्ध आत्माका उपादान करना, मायने अपने आप आत्माका जो सहज स्वरूप है उस रूपमे आत्माको ग्रहण करना।

१४६३--शुद्ध तत्त्वके आश्रयका बल--

शुद्धका अर्थ यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि जो निर्मल है, जिसकी पर्याय विशुद्ध है उसे कहते हैं शुद्ध। किन्तु, यहाँ शुद्धका अर्थ यह नही, निर्मल पर्याय नही किन्तु वह स्वय वस्तु अपने आप जो परसे भिन्न है और अपने आपके स्वभावसे तन्मय है, ऐसा परसे असम्पृक्त अविकार निज वस्तुको देखना इसका नाम है शुद्धको ग्रहण करना, याने जोड और तोड से रहित वस्तुको निरखना सो शुद्धका ग्रहण करना है, जोड तो यह किया था अब तक इस जीवने कि इन रागादिक विभावोको आप मान लिया, ऐसा जोड किया जोडमे बात बढती है, बिगडती है, घटती नही, मगर यहाँ जोडमे बात घटी, प्रगति नही हुई, अथवा इस जोडसे बात बढती ही गई, बिगडती ही गई। ८४ लाख योनियोमे कैसे-कैसे भ्रमण किया, जन्म लिया, विविधताये बढी तो वहा बढती ही गई, बिगडती ही गई बात, एक भजन है--"बात थी कितनी सी जडमे, हो गया कितना बतगड, बात भी कितनी सी करनी, दूर होगा सब भदगड।" तो बात मूलमे

कितनी थी ? यहाँ यह उपयोग न मुडा, यहाँ मुड गया। अधिक गल्ती नही हुई, जडमे (मूलमे) बात इतनी सी थी कि यह अपना उपयोग स्वयके अभिमुख नही मुडा और बाह्यकी ओर, विपाककी ओर मुड गया, सो इस मुडनेमे भी कोई क्षेत्रभेद नही हुआ कि जैसे कोई आदमी बैठे ही बैठे मुखको आगे किए हो और पीछे करना हो तो थोडा फर्क पड जाता है क्षेत्रका। क्षेत्रका फर्क भी नही पडा और ऐसी कलासे मुडा यह उपयोग कि बात कुछ समझमे नही आयी, कहाँ मुडा, कहाँ गया और अपनी ओरसे मुड गया, तब विपाकमे उस कर्मरसमे, उस प्रतिफलनमे यह अबुद्धिपूर्वक जुट गया, ऐसा ही जुटान हो जाता अशुद्ध का, बस बात थी कितनी सी जडमे, हो गया कितना बतगड। कैसा शरीर, कैसी इन्द्रिय, कैसा योग, क्या-क्या विकास, ये विभिन्नताये बन गई। और, बात भी कितनी सी करनी ? बस जो मुड गया ना, उसको अब मोड दो अपनी ओर, स्वतत्त्वके अभिमुख करलो उस उपयोगको। यही प्रयोजन यहाँ बताया जा रहा है कि उस बन्धको भिन्न जानकर क्या करना ? अपनी ओर मुडना, बस बात भी करनी है इतनी, दूर होगा सब भदगड। उपयोगके स्वाभिमुख होते ही जो जो कुछ नटखट हुये थे वे सब दूर होते जायेंगे। तो आत्मा और बधमे भेद समझनेका प्रयोजन क्या ? परतत्त्वसे हट कर स्वतत्त्वको ग्रहण करना है।

१४६४—शुद्धतत्त्वाश्रयीकी सुभवितव्यता—

भाग्यवान तो उस पुरुषको समझिये भैया, सुभवितव्य वाला तो वह पुरुष है जिसके चित्तमे यह बात बैठ गई कि इस जीवनमे करनेके लिए काम बस स्वसहज स्वरूपको जानना और जानते रहना ही है, बाकी सब बेकार। किसी तरह समस्त अनात्मतत्त्वोसे हटकर इस स्वभावमय आत्मतत्त्वमे लगना, इसके अतिरिक्त और कुछ न चाहिये। सब विदा हो, यह तो बने ध्यान, और ऐसा ध्यान बने कि जिसके कारण यह निष्पक्ष बने, आग्रहहीन रहे। परसगमे, परतत्त्वमे, परघटनामे आग्रहहीन रहे। जहाँ जो कुछ करनेमे आये सो आये, मेरेको तो यह करनेको है, और दूसरी बात, ऐसे दो चार पुरुष प्राय सभी गाँवोमे मिलते हैं मगर वे कभी मिले जुलेसे नही रहते, फैलफुट रहते। तो जो ससार, शरीर, भोगोसे विरक्त हो, अपने आपके स्वभावमे, लक्ष्यमे आये हो, ऐसे पुरुषोका सत्सग करे। अपना लक्ष्य सही बनाना और सत्सग करना ये दो बातें जिसमे पायी जाती हैं उसका जीवन सफल है। यहाँ बतलाया जा रहा है कि प्रज्ञाके द्वारा इस जीवने अनात्मतत्त्व और आत्मतत्त्वमे भेद किया। उस भेद करनेका फल यह है कि शुद्ध आत्माको ग्रहण करना।

१४६५—शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे ही सकटोसे मुक्ति—

देखो एक बात इस प्रसगमे यह समझो कि जो पर्यायत शुद्ध आत्मा हैं, उनके बहिरग आश्रयसे तो भक्तमे शुद्धता होगी नही। यह बात सुननेमे कुछ अटपटी सी लगती होगी, शुद्ध आत्मा हैं अरहत और सिद्ध, वे हमारा कल्याण करने यहाँ न आयेंगे। हा, जब हम उनके स्वरूपका विचार करते हैं तो चूकि उनका स्वरूप स्वभावके समान है व्यक्त, सो यह तारीफ है कि उनके स्वरूपका विचार करनेमे अपना स्वभाव विचारमे आ गया, और यही इस प्रकरणमे तारीफ है कि वहाँ अपना कल्याण बनता है, मगर परतत्त्वको समझते हुए बाहरमे उसका आश्रय करके तो बात न बनेगी। अच्छा और यह खुद शुद्ध है नही, कषाय है, विपाक लिए है, ससारमे है, खुद यह निर्मल है नही तो अब यह बतलाओ कि कौनसा ऐसा सहारा है कि जिससे यह आत्मा शुद्ध परिणतिमे आये ? बस वह सहारा है यह शुद्ध अतस्तत्त्व। जैसे कोई बलवान और जवान बडी भीडभाडको चीरकर अपने ठिकाने पहले पहुच जाता है

ऽहा सभाका मुख्य स्थान है या खेलकी मुख्य जगह है, ऐसे ही यह बलवान वेगवान, यह ज्ञान इस पर्याय की भीडको चीरकर अपने सही मचपर पहुच जाता है, वह उपयोग भूमि, वह है आत्माका शुद्ध सहज अतस्तत्त्व, उसको ग्रहण करता है ।

१४९६—प्रज्ञासे आत्माका चैतन्यस्वरूपमे ग्रहण—

आत्माको कैसे ग्रहण किया जाना चाहिए ? वस काम एक ही है-प्रज्ञासे भेद किया, प्रज्ञासे ही ग्रहण करें, क्योकि यह आत्मा अपने आपमे परसे विभक्त और निजमे तन्मय स्वय ही तो है । और, वह प्रज्ञा स्वय ही तो है, सो प्रज्ञाके द्वारा स्वय अपने आत्माको जैसा विभक्त किया वैसा ही ग्रहण करना । कैसे ग्रहण करना ? आत्माको ग्रहण करनेके लिए क्या हाथ चाहिए ? ज्ञानसे ज्ञानको ज्ञानमे पाना, समझना, यह ही उसका ग्रहण करना है जो पहिलेसे ही है उसका ग्रहण करना क्या है ? सुध आ गई ग्रहण हो गया, जैसे मुट्ठीमे कोई मुदरी बँधी है और भूल गये, तो उसका ग्रहण करना क्या ? जहाँ खबर आ गई कि यह है, बस यह ही ग्रहण करना है, तो प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करना पहले भेद किया था, भेदकर उनमे से विभक्त यह चैतन्यमात्र तो मैं हू और ये सब जो कुछ बचे हुए भाव हैं वे मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं । बचे हुए के मायने जो हमे मजूर है, जो हमे स्वीकृत है, जो मेरे हैं उनको ग्रहण किया तब बाकीके वे भाव बचे हुए ही तो कहलाये । कई मिली हुई बाते है उनमे से छाँट कर ली तो अब बाकी बातें बची हुई हैं । इस बची हुई को कोई ले जाय, हमें न चाहिए । तो ऐसा जो यह अविशिष्ट भाव है, अनात्मभाव, औपाधिकभाव वह सब तो इस चेतनमे व्यापने वाला नही, उपयोग स्वरूप वाला नही, इसका यहाँ स्थान नही, यह तो बाहर लोट रहा, औपाधिक है, यह मेरे से अत्यन्त भिन्न है । देखो भेद की बात जब होती है, मूड होता है तब तैसी बात आया करती है । जब अशुद्ध निश्चयनयसे विचारा तब तो यह लगा कि ये राग जीवके हैं, जीवकी परिणति है, इनका कर्ता जीव है, जीवमे यह सब दीखा और जब व्यवहारसे विचारा जिसे कहते है विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय याने स्वभावकी रक्षा करना और विभावोको अलग करना, ऐसे मूडमे जब देखा तो यह जाना ना कि यह नैमित्तिक भाव है, उपाधिके अभावमे नही हो पाता इसलिए यह इस आत्माके बलपर जिन्दा कहाँ है ? जिसके होनेपर ही हो, जिसके न होनेपर न हो, यह तो उसका सेवक बना, मेरे आधारसे इसका कुछ नही, अत उनको कहा कि ये मुझसे अत्यन्त भिन्न है ।

१४९७—अशुद्धनिश्चयनयसे परमशुद्धनिश्चयमे आकर शुद्धनयके लाभकी सभावना—

कल्याणमार्गमे साक्षात् कृपा शुद्धनयकी होती है, निश्चयनय और व्यवहारनय ये दोनो वस्तुको परीक्षाके लिए हैं, जाननेके लिए हैं, निश्चयनय एककी ही दृष्टि करा कर एक द्रव्यमे पदार्थमे ही दृष्टि रखकर निर्णय करता है तो व्यवहारनय अगल बगल की घटना सम्पर्क निमित्तनैमित्तिक इन सब बातो का पूर्ण चिन्तन करता हुआ निर्णय बनाता है, इसका फायदा किससे मिला ? इसका फायदा देखो अशुद्ध निश्चयनयसे मिला, वह जरा देरमे मिला, क्योकि जीवका यह राग है, जीवकी यह परिणति है, जीवके परिणमनसे हुआ, और कुछ नही देखा जा रहा ना । अभी तो जरा तकलीफ है, जीवने रागसे सम्बध जोडा, राग इस जीवकी परिणतिसे हुआ । अच्छा जोडा तो सही, अभी तो कोई बढिया बात नही आयी इस निश्चयमे, मगर एक तपश्चरण इसमे जरूर हो रहा कि उस एक को एकमे ही निहार रहे और मनको ऐसा नियन्त्रित कर रहे, ऐसा नियन्त्रण कि उस निमित्तको तो भूल ही गया, आश्रयको तो भूल ही चुका, उसका तो यह ख्याल कर ही नही रहा, तो जब बाह्य पदार्थका यह ख्याल नही

करता है और ऐसी उस विरागतासे उस एकमे एकको ही निरख रहा तो एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि जो सोच रहे है वह भी सोचना बंद हो जायगा। जैसे, कभी-कभी अच्छी तरहसे सुन रहे है, एक मनसे सुन रहे है और कभी-कभी एक अच्छी मीठी नीद भी आ जाती और सुनते सुनते जो जो सोच रहे थे वह भी छूट जाता है या हाथमे माला लिए हो तो वह भी गिर जाती है। यो सोच तो रहे थे यह कि इस जीवमे हुआ, जीवकी परिणतिसे हुआ, पर इस एकाग्रताके कारण याने जहाँ अन्य वस्तुका सम्बध नही बनाया ऐसी दृष्टिमे जब रागके जिन्दा रखनेका साधन नही बन रहा यहाँ, तो स्वत अवसर ऐसा आयेगा कि पर्यायकी दृष्टि न हो व स्वभावको देखे। राग जिन्दा रहता है बाह्य पदार्थोमे आश्रयोमे उपयोग लगानेसे, बाह्य पदार्थका आश्रय करनेमें, तो जिस रागकी चर्चा कर रहे हैं उस रागकी जिन्दगीका कोई साधन नही जुडा रहा है इस अशुद्ध निश्चयमे तो एक निसर्गत अवसर आता है कि वह भी बात छूटती है और एक स्वभावदृष्टिमे आ जाता जो कि परमशुद्ध निश्चयनयका विषय है।

१४९८—निमित्तनैमित्तिकयोगके यथार्थ परिचयसे शुद्ध तत्त्वको सुगमतासे ग्रहण करनेकी संभावना—

अच्छा जब निमित्तनैमित्तिक योगके विचारमे चल रहे तबकी तारीफ देखिये। वहाँ ज्ञान हो रहा है कि ये विभाव हैं, ये नैमित्तिक है, ये स्वभावमे नही हैं, ये तो आये है, ये मेरे स्वरूप नही, मुझसे ये अत्यन्त भिन्न हैं, देखो इस निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयसे शुरूसे ही रागादिककी भिन्नता, उपेक्षा, अनादर तिरस्कार सब कुछ चित्तमे आया, और ऐसे प्रयासमे तो बहुत ही जल्दी स्वभावदृष्टिमे आ गया, अपना स्वभाव ग्रहण किया, चेता, जाना, देखा। वह हुआ परमशुद्ध निश्चयनय। अब यहाँ एकसे एक को अखण्ड देखा, आत्मामे यह स्वभाव, इतना भी भेद मिटा और अखण्ड अतस्तत्त्व आया यह हुआ शुद्धनय। यहाँ अभेद स्वका उपयोग, स्वानुभूति, यह सब शुद्धनयके प्रसादसे हुआ। जैसे बने वैसे अन्तस्तत्त्वका उपयोग बनावे। भैया, उपदेशमे जो कुछ लिखा है सबका सदुपयोग करना, बजाय इसके कि यह गलत है ऐसी कोशिश करे, उसका ऐसा सदुपयोग बनाये कि हम निज स्वभावका आश्रय कर सकें।

१४९९—चैतन्य और बन्धमे भेद करनेका फल चेतनामे चेतना—

यहाँ इस साधकने स्वलक्षणज्ञान बलसे उन सबका भेदन किया जो जो कुछ भिन्न किया जा सकता था, भेद करके फिर अपने आप उस शुद्ध अतस्तत्त्वको प्रज्ञासे ग्रहण किया। किसने ग्रहण किया? मैंने ग्रहण किया। बाहरमे सोचना हो तो अन्य पुरुषोकी बात सोचना। मैंने ग्रहण किया, किसको ग्रहण किया? मुझको ही मैंने ग्रहण किया। यह काहेके द्वारा किया? सब कुछ निरखते जाइये याने इस ज्ञानने अपने स्रोतभूत ज्ञान स्वभावको अपने ज्ञानमे लिया, तो उसमे क्या बना? ज्ञानका ही ग्रहण किया, ज्ञानमे ही ग्रहण किया, ज्ञानके द्वारा ही ग्रहण किया, ज्ञानसे ही ग्रहण किया, कोई अलग स्वभाव नही है जिससे कि कोई विषमता व्यग्रता या चिन्ता होवे कि यह काम बने कैसे? हा, ग्रहण किया, इस ग्रहणका अर्थ क्या? मायने चेतनाने चेता, चेतना है ना, यह प्रतिभासमात्र है ना? तो इसने अपनेमें अपने कामको प्रतिभासा, चेता, तो अब उसकी चर्चा करे। काहेसे चेता? खुदसे। किसमें चेता? खुदमे। काहेके द्वारा चेता? खुदके द्वारा। अथवा यहाँ दूसरी कुछ बात ही नही है। है, मात्र चकचकायमान, बस इतनी सी बात और इस तरह अपनेको ग्रहण करता है। चेतना है, यह ही ग्रहण करना है।

१५००—व्यवहारसे काम लेकर व्यवहार छोड़कर शुद्धनयमे प्रवेश करके तत्त्वानुभवका योग—

हाँ थोडा समझनेके लिए तो बात की गई थी ऐसी कि मैं चेतता हूँ, अपनेमे चेतता हूँ आदिक,

मगर वहाँ है क्या ? वह चेतना कैसी है, किसके द्वारा चेता गया ? अरे वह तो एक चेतना है और परिणति हो रही है, मैं शुद्ध चैतन्यभाव मात्र हूँ। अच्छा फिर ये भेद तो किये गये हैं अभी कारकके। हाँ तो इसमे देखा विशुद्ध चैतन्यमात्र और उसका परिचय कराया गया कारको द्वारा, अच्छा और ये कारक भी तब प्रयुक्त होते जब इसके गुण समझे गये और इसके साथ धर्म जाने गये, अपनेमे है परमे नही, परका प्रवेश नही, ये सारी बातें ये परिचयके लिये बतायी गई। भेद किया गया, तो करें, वे भी कुछ कामके थे, उनके बिना भी गाडी चलती न थी, मगर तत्त्व तो दीखा उस विशुद्ध चैतन्यमे, इस अपने व्यापक तत्त्वमे, तो ये कोई भेद पडे हुये नही, भेद करके समझाया गया। भेदका ही नाम व्यवहार है, सो यह भेद करके समझाया गया तो समझने दो, होने दो भेद, चलने दो तीर्थ प्रवृत्ति, वह भी कामकी है, लोग आयेंगे रास्तेमे, समझेंगे मगर तत्त्व तो देखें, जो व्यवहारसे काम ले चुका वह समझ रहा है कि यह जो अखण्ड विशुद्ध चैतन्य तत्त्व है इस चैतन्यतत्त्वमे कोई भेद नही। देखो व्यवहारसे काम लेकर व्यवहारको छोडा है, व्यवहारसे काम लिया ही नही और पहलेसे ही इसको हेय कहा तो वह आगे नही बढ़ सकता। व्यवहारसे सब परिचय किया, सब जाननेके बाद अभेद तत्त्वको निरखें ऐसा निर्व्यवहार अभेद चैतन्य तत्त्वमात्र मैं हूँ, सो यहाँ अपनेमें अपनेको अनुभवते हुए अपने स्वरूपको ग्रहण किया गया है।

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो बिना व्यापकादात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित्॥१८३॥

१५०१—चेतनकी मोक्षविधिका संकेत—

यह मोक्ष अधिकार है। यहाँ बताया गया अपना मोक्ष। अपना मोक्ष मायने मोक्षमे होता क्या है ? दो चीजें थी साथ तो उनका अलगाव हो गया तो अकेला ही मात्र आत्मा रह गया। देखिये कर्म का भी मोक्ष हो गया और जीवका भी मोक्ष हो गया, मगर कर्मकी आदत बुरी है। मोक्ष होनेके बाद फिर वह दूसरेसे मिल जायगा, कर्म बन जायगा, पर जीवकी ईमानदारी बढिया है कि एक बार मोक्ष हुए बाद विकार नही आता। तो दोका हटाव करना है। वे दो क्या ? आत्मा और बध, आत्मा और विभाव। इनका लक्षण जाना था ये बिल्कुल जुदे-जुदे तत्त्व है। उनमे जो दुःखदायी है, अपवित्र है, औपाधिक है उससे तो मुख मोडें और जो अपना स्वरूप है, शाश्वत है, जहाँ धोखा रच नही उसे ग्रहण किया जाय। क्या ग्रहण किया जाता है ? बस वह है चेतना। चैतन्यस्वरूप, चेतना, आत्माचेतन, किन्ही शब्दोमे कहो, बधसे मुख मोडकर यह अन्तस्तत्त्व वहाँ ग्रहण किया गया। उस चेतनाकी बात कही जा रही कि जो ग्रहण किया गया। वह है कैसी ? तो यह चेतना अद्वैत है। यह आत्मा अद्वैत है। देखो धर्म और धर्मी जुदे-जुदे मूडमे जब दृष्टिमे लिए जाते हैं तो यद्यपि वस्तु वही है, फिर भी उसका एक जुदा जुदा स्वरस प्राप्त होता है। चेतना अद्वैत है।

१५०२—सर्वाद्वैतकी अविचारित रमणीयता—

अद्वैत होते हैं दो प्रकाके—(१) सर्वाद्वैत और (२) विशिष्टाद्वैत। सर्वाद्वैत वह कहलाता है कि सब कुछ वह एक ही है, जैसे बताया है सर्वं वै खल्विद ब्रह्म। सारा जगत, जीव अजीब सब कुछ एक है दूसरा नहीं, "और दूसरा दिख तो रहा है ?" दूसरा नही दिख रहा, उस एक के ही ये आराम दिख रहे, परिणमन दिख रहे, वह एक है अद्वैत। यह है सर्वाद्वैतवादियोका मत। अच्छा, उनको ऐसा ख्याल आया क्यो ? देखो ज्ञान सबमे है, प्रत्येक ज्ञानी पुरुष, दिमाग वाले, बुद्धिमान, कल्याणकी चाह रखने

वाले जो कुछ विचारेंगे तो अच्छा, मगर कोई चूक हो जाय तो उसमे दोष आता है। विचार तो अच्छा किया, मगर चूक हो गई, स्याद्वादका सहारा नही रहा। सर्वाद्वैतवादीको क्यो ऐसा नजर आया कि यह यह सब कुछ एक ब्रह्मस्वरूप है ? पहली बात तो यह है सद्ब्रह्म, जो कुछ है वह सत् है, सत्से अलग है क्या कुछ ? तो जब एक सत् स्वरूप है उसकी दृष्टि जब सत्त्वमात्रमे गई तो उसे वह एक ही प्रतीत हुआ, अथवा चैतन्य ब्रह्म, आनन्द ब्रह्म, यह सब एक चैतन्यात्मक ब्रह्म है ऐसा भ्रम क्यो ? उसका कारण यह बना कि देखो जो कुछ दिख रहा है आपको, यह चेतनके सम्बध बिना यह आकार नही बन सकता था, जो भी नजर आ रहा, आँखसे जो भी दिखता, नाम ले लो, आप कहोगे कि यह रेडियोका पोगा, यह कैसे आकार बना ? यह काहेका है ? लोहेका। वह कहाँसे आया ? बाजारसे, उसे कहा से लाये ? फैक्टरीसे, वह माल कहाँसे लाया गया ? कच्चे माल वालोसे, कच्चा माल कहाँसे आया ? खानसे निकला, खानमे लोहा था तो लोहा जीव है कि अजीव ? जीव है, जब तक खानमे था बताते है ना। भेदकी बात अलग है, तो यह जीव था। उस जगह जीव न आता तो उसके शरीरकी यह मुद्रा न बनती, यह आकार न बनता, फिर जीव निकल गया, निकल जाय, पर आकार निर्माण जो हो पाया था वह जीवसहित दशाओमे बना था। बना शरीरमे शरीर, मगर एक प्रसगकी बात बोल रहे। उनको भ्रम क्यो हुआ कि यह सारा जगत भी चैतन्यब्रह्म है, तो चैतन्यके सम्बध बिना कुछ बात ही नही बन पाती थी यहाँ, यह हुआ पुद्गलका पुद्गलमे, मगर जीव होता तो यह बढता हैं, फैलता है, उसका रूप बनता है। अच्छा कुछ दिखनेमे आनेवाले पदार्थोमे और भी देखो यह दरी है, यह क्या है ? कपाससे बना, कपास खेतमे पैदा होता, वह पेड था, एकेन्द्रिय जीव था, वहाँ जीवका सम्बंध था, सो हरा हुआ, बढा, कपास हुआ, उससे सूत बना, दरी बनी। तो ये जो रूपक जितने बने वे जीवके सम्बध पाकर बने, इसलिए ये सब जीव ही उसे नजर आये, था इसमे जीव पहले, तो सारा यह जीवात्मक है। अच्छा खैर कुछ भी कारण बने, सर्वाद्वैतवादीने माना कि सब कुछ एक अद्वैत ब्रह्म है।

१५०३—प्रकृत चेतनाके अद्वैतपनेकी विशिष्टाद्वैतसे भी विलक्षणता—

दूसरा अद्वैत है विशिष्टाद्वैत, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने अपनेमे अद्वैत है, पूर्ण है, एक है, अखण्ड है, वहाँ दो बातें नही पायी जाती। तो यह ही एक विशिष्टाद्वैत है, यह विशिष्टाद्वैत भी एक सम्प्रदाय है, पर उसने आगे चलकर कुछ गडबडी पायी, वैसे तो यह विशिष्टाद्वैत जैन शासनसे मिलता हुआ मत है। प्रत्येक पदार्थ है, जुदा जुदा है और वे सब जुदे-जुदे अद्वैत हैं। यहाँ चेतनाकी बात चल रही है। इस चेतनामे सर्वाद्वैतकी बात तो यहाँ प्रकृत नही, विशिष्टाद्वैत भी यहाँ नही लेना, क्योकि विशिष्टाद्वैत व्यक्तिभेद करता है और यहाँ व्यक्तित्व नही देखना है, क्योकि व्यक्तित्व देखेगा तो चेतनाकी वे सब तारीफें जो अभी कही जायेंगी ये तारीफे घटित न होगी। व्यक्तिरूपसे चेतनाको न देखना, किन्तु स्वरूपसे चेतनाको देखना। यह ही बात होती है अनुभूतिके लिए। आत्माका स्वभाव कैसा है ? तो कहते कि परमे रहित। एक और आगे बढकर बोला कि अधूरा नहीं, पूरा। तो एक और बढकर बोला कि पूरा ही नही, वह है आदि, मध्य, अन्तसे रहित। तो एक और उससे बढकर बोला कि नही, ऐसा सोचकर भी वह है एक, याने अलग अलग जीवोको देखकर न बताओ आत्मस्वभाव, जैसे कि आप देखते यह भी आत्मा, ऐसा निरखकर आप आत्मस्वभावको न बता सकेंगे, व्यक्तित्व मिटा दीजिए, एक को लाइये। एक है वह। मगर एकके कहनेमे व्यक्तित्व तो आ ही गया। इस व्यक्तित्वसे भी हटे तो क्या ? सकल विकल्प जालसे रहित दशा हुई, वहाँ यह पायगा कि आत्मा होता क्या है ? सर्वाद्वैत तो

चेतना है नहीं, और विशिष्ट द्वैतमें व्यक्तिका बन्धन है। तब फिर यहाँ स्वरूपमें ही निरखना है कि यह चेतना अद्वैत है। इसमें यह है, इसमें दूसरा कुछ नहीं है। न द्वैत यत्र तत् अद्वैत, जिसमें दूसरी चीज नहीं, उसे कहते हैं अद्वैत।

१५०४—चेतनाकी अपनी अद्वैतता—

यह चेतना अद्वैत है, लक्ष्यकी बात है। इसका लक्ष्य करें। देखो—लक्ष्य वालेको लक्ष्यसे भिन्न बातपर झुंझलाहट होगी क्यों हुआ ऐसा, वह लक्ष्यमें रहता है। एक ऐसी घटना हुई, वह सच घटना है। एक घटना सुनी है, शायद ग्वालियरके राजाकी है। राजा एक बार बहुत तंग आ गया एक शेरसे। वह पास पड़ोसके बहुतसे लोगोंके प्राणोंका अपहरण कर चुका था और जनता उससे खूब तंग आ गई थी, सो राजाने उस शेरको मारनेका उपाय रचा। भील लोग तो रहते ही थे वहाँ, सो किसी भीलने कहा—राजन् हमें पता है उस शेरका कि कहाँ कहाँ वह रहता है, आप हमारे साथ जंगल चलें तो हम आपको उसे दिखा दें। ठीक है, पहुँचे दोनों जंगलमें। शेर किसी गुफाके पास बैठा हुआ था। सो भीलने दूर से ही कहा देखो राजन् वह शेर बैठा है ?…कहा ? वह देखो ? 'अरे अभी नहीं दीखा'… अरे वह देखो …, फिर भी नहीं दीखा तो उस प्रकरणमें उस भीलको राजापर गुस्सा आयी और उल्टा सीधा गाली बकना शुरू कर दिया जैसे अरे अंधे हो क्या ? तुम्हारी दोनों आँखें फूट गई क्या …? तेरी आँखोंमें… । वहाँ भीलको इसकी कुछ खबर न रही कि यह तो राजा है और मैं भील हूँ, मुझे राजा पर इस तरहसे क्रोध करके उल्टी सीधी गाली न देना चाहिए। खैर राजाने वहाँ उसको क्षमा कर दिया, आखिर दोनों अकेले-अकेले ही वहाँ थे, अकेले अकेलेमें क्या बुरा लगना ? यदि किन्हीं अन्य लोगों के सामने इस तरहसे बोलता तो बुरा भी लगता। तो जैसे भीलके कहनेसे राजाने उस लक्ष्यको न पाया इससे उस भीलको राजापर क्रोध आया, भला बुरा कहा। ऐसे ही ज्ञानी जीवको भी लक्ष्यभ्रष्ट आत्मा नहीं सुहाता तो वह क्रोध नहीं करता, बल्कि दयाभाव लाता। देखिये—दो बातें होती हैं, जब किसीके अज्ञान होता है तो लौकिक लक्ष्यभ्रष्ट सुहाते नहीं अज्ञानीको, जब ज्ञान होता है तो लक्ष्यभ्रष्टों पर दया आती है ज्ञानीको, न सुहानेकी बात क्यों ? जगतमें अनन्त जीव हैं, उनमें से कुछ ही मनुष्य हैं ऐसे जो कुछ धर्ममें लगे दिख रहे, बाकी जो धर्ममें नहीं लग रहे उनके लिए ज्ञानी पुरुष संक्लेश करेगा क्या ? न करेगा। ज्ञानी पुरुषमें धर्मविरुद्ध बात निरखकर न सुहानेकी बात मनमें नहीं आती, किन्तु एक करुणाबुद्धि (दयाबुद्धि) उनके प्रति उत्पन्न होती है, कैसी करुणाबुद्धि कि क्यों नहीं ये अपने उस लक्ष्यको निरखते और क्यों नहीं विधिपूर्वक ये अपने आपको धर्ममार्गमें लगाते ? यों ज्ञानियोंकी करुणा-बुद्धि तो जगती मगर झुंझलाहट नहीं बनती।

१५०५—प्रकृत चर्चाका लक्ष्य आत्मधर्म—

वह धर्म क्या है ? बस इस चैतन्यको निरखना, जिसकी यह चर्चा चल रही। वह चैतन्य अद्वैत है मायने अपने स्वरूपमें स्वरूपमात्र है, केवल स्वरूपको निरखा जा रहा। इस चेतनकी, चेतनाकी चर्चा कर रहे इतनी ही बात नहीं, किन्तु मात्र चेतनाकी चर्चा कर रहे। वह चेतना अद्वैत है, अद्वैत होनेपर भी यह चेतना ज्ञान दर्शन रूपको नहीं छोड़ रही, मायने जैसे चेतनाके भेद करते ना, दर्शन और ज्ञान, वह दर्शन और ज्ञान क्या चीज है ? चेतनका सामान्यविशेषात्मक स्वरूप है, कोई भी पदार्थ हो वह सामान्य विशेषात्मकसे रहित नहीं होता।

१५०६—ऊर्ध्वतासामान्य व ऊर्ध्वताविशेषका चेतनामें दर्शन—

यहाँ विचारें क्या सामान्य है और क्या विशेष है ? सामान्य और विशेष कितने रूपोंमें निरखें

जाते ? तो पहली बात लीजिए ऊर्ध्वता सामान्य, ऊर्ध्वता विशेष, एक ही पदार्थमे निरखना है यह सब। पदार्थ प्रति समय पर्यायोसे परिणमता रहता है, वहाँ परखिये ऊर्ध्वता सामान्य व ऊर्ध्वता विशेष। तो जो भी पर्याय है भिन्न-भिन्न समयमे जो पर्याये हुई है वे कहलाती है ऊर्ध्वता विशेष और उन सब पर्यायोमे, उन सब समयोमे रहने वाला जो एक तत्त्व है वह है ऊर्ध्वतासामान्य। ऊर्ध्वता कहते है ऊपरकी ओर, ऊपरपना, ऊँचा ऊँचापना। दो विधियाँ होती हैं, जब कोई एक समान एक साथ वस्तुकी चर्चा की जाती है तो उसका सकेत हाथसे यो तिरछा बनता है और जब किसी एक पदार्थमे भूत भविष्य वर्तमान याने ऐसे समयकी बात की जाती है तो उसका सकेत हाथको ऊँचा उठाकर किया जाता है। जैसे जब यह कहा जाता कि उस सभामे बहुतसे लोग थे, ब्राह्मण थे, क्षत्रिय थे, वैश्य थे यो बताते ना तिरछा हाथ करके, यह एक प्राकृतिक बात है। कोई यो नही कहता कि ब्राह्मण थे, क्षत्रिय थे, वैश्य थे यो ऊँचा हाथ उठाकर एक साथ एक सभामे बैठे हुएका संकेत नही किया जाता, तिरछा हाथ चलता है समानतासे और जब काल भेदकी बात करते है—जैसे एक मनुष्य देखा पहले बच्चा था, फिर जवान हुआ फिर बूढा हुआ यो ऊँचा हाथ चलाते, भेद यहाँ भी बताया वहाँ भी भेद बताया, मगर एक साथ ऐसी स्थितिमे जब सामान्य विशेषकी बात कहते है तो हाथ तिरछा चलता है, इसीको कहते है तिर्यक्। और, जब काल भेदसे भेदकी चर्चाये करते हैं तो हाथ ऊँचा उठता है, इसे कहते है ऊर्ध्वता, तब ऊर्ध्वता सामान्य और ऊर्ध्वता विशेषमे देखा तो वहाँ ऐसा सामान्य विशेष पडा हुआ है।

१५०८—तिर्यक् सामान्य व तिर्यग् विशेषका चेतनामे भी दर्शन—

तिर्यक् सामान्य तिर्यग् विशेष ये दो प्रकार होते हैं। एक ही पदार्थमे सामान्य विशेष देखना और अनेक पदार्थोमे सामान्य विशेष देखना। एक पदार्थमे कैसे सामान्य विशेष देखा कि आत्मा यह सामान्य। इसमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्दगुण भेद किया यह हो गया-विशेष। यह भी तिर्यक् व्यवस्था रखता है क्योकि एक ही समय मे है ना सब। और नाना जीवोमे सामान्य विशेष क्या ? जैसे सामान्य सबका स्वरूप, यह है तिर्यक् सामान्य। और बाबू व्यापारी, पडित, त्यागी, ब्राह्मण आदि भेद करना, यह है तिर्यग् विशेष।

१५०८—प्रकृत चेतनाके सामान्य विशेषकी विलक्षणता—

इस चेतनाका सामान्य विशेष जो इस छदमे बताया जा रहा है वह इससे भी विलक्षण है, इससे निराला तो नही, मगर जिसका लक्ष्य किया जा रहा है उसका सामान्य विशेष देखिये इसमे होता हुआ भी इसकी रश्मियाँ किस प्रकार हैं। यह चेतना एक वस्तुको लेकर देखी जा रही, चेतनामे चेतनाको निरखो, जैसे हँसना, बोलना, खेलना, उठना, बैठना ऐसे ही चेतना, जब उस चेतनामे चेतनेको देखा तो वह चेतना दो प्रकारसे विदित होगी। सामान्य और विशेष, सामान्य चेतनाका नाम है दर्शन विशेष चेतनाका नाम है ज्ञान। अब देखो तो जितने अद्वैत बताये उनसे निराला अद्वैत आचार बैठा चेतनेमे। जितना सामान्य विशेष प्रसिद्ध है उनसे भी निराला यह सामान्य विशेषपना चेतनासे नजर आया। अत्यन्त निराला नही, किन्तु एक उसीका ही पोषण करने वाला, तो यह चेतना दर्शनज्ञानस्वरूपताको नही छोडती।

१५०९—दर्शन और ज्ञानके स्वरूपका दिग्दर्शन—

दर्शन क्या और ज्ञान क्या ? इसके बारेमे कई प्रकारसे लक्षण किया गया, मगर लक्ष्य सबका एक है। अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन कहते हैं, बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान कहते हैं। एक यह लक्षण है, बाह्य अर्थ

पदार्थों का भेद न करके अविशेष रूपसे प्रतिभास होनेको दर्शन कहते हैं। अच्छा घरेलू भाषामे बोलना जरा, यह आत्मा जानता है, बाहर नही जानता, अन्तरमे ही जानता, यह आत्मा जानता सबको है, पर जानता अपनेमे है, सबको सबमे नही जानता, सबको अपनेमे जानता, यह तो एक बडी कठिन समस्या सी लग रही होगी कि सबको जाना और अपनेमे जाना ऐसा तो कही नही होता। कही दूरकी चोज पर प्रयोग करें और प्रयोग यहाँ होवे ऐसा तो जरा बडा कठिन लग रहा। यह कठिन नही, यहाँ यह ही सुगम है। यह ज्ञान अपनेसे हटकर सबमे जाय और वहाँ जाने ऐसा नहीं हैं, किन्तु इसका स्वरूप ही ऐसा है, इसकी जिन्दगी ही ऐसी है कि यह निरन्तर इसी तरह जानता ही रहे। जो सत् है जगतमे वह सब यहाँ ज्ञेय बने, प्रतिभासित हो, इसका स्वरूप ही ऐसा है। तो हमने अपनेमे जाना, ज्ञान किया, बस इस ज्ञान करने वाले आत्माको प्रतिभासे यह है दर्शन। इसमे थोडा यो अन्तर आयगा कि यह बात तो वहाँ बहुत अच्छी घटेगी जहाँ युगपत् ज्ञानदर्शन उपयोग है। १३ वे १४ वें गुण स्थानमे और सिद्ध भगवानमे सयोगकेवली, अयोगकेवली व सिद्ध प्रभुके केवल ज्ञान केवल दर्शन एक साथ होते, निरन्तर जान रहे और जानते हुए अपनेको प्रतिभास रहे। अब यहाँ समझ लीजिए कि ऐसा प्रतिभासे बिना ज्ञान नही ठहर सकता और ज्ञान हुए बिना यह दर्शन नही ठहर सकता।

१५१०—छद्मस्थोके ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोगकी विधि—

अच्छा अब देखो ये ही उपयोग चूँकि वासना सस्कार वाले ससारी जीवोमे छद्मस्थ जीवमे ये बने हुए हैं ना, तो वहाँ यह बात क्रमश बन गई। किसी पदार्थको जान रहे थे, उसका जानना छोडकर दूसरे पदार्थको जानने चले तो चूँकि दूसरे पदार्थके जाननेसे पहलेकी जो एक प्रतिभासकी तैयारी या परिणति या अन्त वातावरण जो है बस उस ही स्थितिमे यह दर्शनोपयोग अपना काम करता है। तो चूँकि यह ससारी जीव इतना इस समय अक्षम है कि यह मानो भिन्न-भिन्न पदार्थोंको जाननेके लिए जाननेसे पहले एक बल प्रकट करता है। दर्शन ज्ञानको बल देता है। अपने आत्माका स्पर्श ज्ञानके लिए बल देता है। जैसे ऊँची कूद (His Jump) होती है ना, तो उसमे जो लडका नीचे जमीनमे पैर तेजी से गडाकर उछाल लेता है वह ऊँची कूद पाता है। कोई अगर डोरीके पास यो ही ढीला ढाला सा रह-कर कूदना चाहे तो वह नही कूद सकता। उस ऊँची कूदके कूदनेमे जो लडका सबसे ऊँची कूद कूदता है उसके कूदनेमे जमीनमे एक गड्ढा सा बन जाता है। वह मानो ऊपर उठनेके लिए नीचेकी ओर जोर देता है, बल देता है। ऐसे ही यह उठना कहलाया ज्ञान। अभी उठा सा फिर रहा यह जीव। इसे जाना, उसे जाना, यह जाना, तो ऐसे ही जो जम्प कर रहा है, यह आत्मा ज्ञान कर रहा, जान रहा नाना पदार्थोंको। तो ऐसा ज्ञान होनेके लिए इसका बल चाहिए और वह बल है अपने आपमे स्पर्शका जोर देना। कैसा यह अपनेमे घुसकर प्रवेश करता, यह जोर दे रहा है स्व मे।

१५११—चेतनाकी दर्शनज्ञानस्वरूपता—

भैया, दर्शनके लक्षणसे देखो सब आत्माका दर्शन कर रहे। जितने भी जीव हैं, मगर उन्हें इस दर्शनकी सुध नही है इसलिए अज्ञानी है। दर्शन करते हुये भी इसका दर्शन नहीं किया। न आत्माकी सुध और न दर्शनकी सुध। इसलिए दर्शनका फल नही मिल पाया। दर्शनका दर्शन हो तो सम्यग्दर्शन हो जाता। यो यह चेतना दर्शन ज्ञानरूप है। अगर वह सामान्य विशेषरूप को छोड दे तो चेतना ही क्या है ? वह अपने स्वरूपको खो बैठेगा। सर्व पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है और उसमे से आप क्या अलग निकालेंगे ? अगर सामान्य फेंक दें, है ही नहीं इसमे सामान्य, मानो नीचेसे ढुडककर बाहर कही

भी हो जायगा तो किसमे वह विशेष विराजेगा ? अच्छा, तो सामान्य बडा जबरदस्त है, इसे तो फेंका नही जा सकता । इन विशेषोको फेंक देंगे । यह भी नही हो सकता फिर यह सामान्य कहाँ विराजेगा? कहाँ पहुँचेगा । आप किसे फेंके ?, केवल सामान्य ही बनाये तो नही बनता, मात्र विशेष ही बनाये तो नही बनता । इसी हठपर तो अनेक सम्प्रदाय बने । देखो बहुत बडे खोजकी बात है । केवल एक ही बात है सामान्य विशेषकी । इस ही त्रुटिके आधारपर चाहे सैकडो सम्प्रदाय हो वस्तुस्वभावके खोजी, इसने सामान्य विशेषके सम्बन्धमे यहाँ त्रुटि की, इसलिए यह विवाद खडा हो गया । सामान्य विशेषको तोडा नही जा सकता । तदात्मक पदार्थ है इसी कारण यह चेतना भी सामान्यविशेषात्मक है । अद्भुत सामान्यविशेषात्मकताके कारण यह आत्मा दर्शनज्ञानस्वरूप है ।

१५१२—बंधाधिकारके उपदेशोमे स्वभावाश्रयविधिका दिग्दर्शन—

मोक्षाधिकारमे मोक्ष कैसे होता है इन उपायोपर प्रकाश डाला गया है । क्या करना चाहिये पहले । पहले तत्त्वज्ञान करे, वस्तुओका स्वरूप जाने, घटनाओका तथ्य जाने । बध है एक घटना, और उससे हटना है, तो जब बधकी घटनासे हटना है तो आखिर बधकी घटना भी तो जानें कि बध हुआ किस तरह, यह बात बतलायी गई थी । बधाधिकारमे बताया तो गया था कि बध कैसे होता है, मगर प्रत्येक उपदेशमे निचोड यह निकलता कि स्वभावका आश्रय कैसे बनता है । वैसे कुछ भी कथन हो सबमे तथ्य यह ही निकलेगा कि स्वभावका आश्रय किस प्रकार हो । बधाधिकारमे जो अन्तमे बात कही गई थी वह अपना प्रयोग करनेके लिए खास बात है । वहाँ बताया गया था स्फटिकका दृष्टान्त देकर । अपनेमे ऐसा निरखें कि मैं विशुद्ध स्वभावमात्र हूँ । मेरेमे स्वयसे अपने आप विकारकी गुंजाइस नही । मैं खुद हूँ, विशुद्ध हूँ चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ । मैं परिणमूँ अपने आप तो मेरा इसके अनुरूप ही परिणमन होगा, विशुद्ध चैतन्य, ज्ञाता द्रष्टा रहना मात्र, तो विकार मेरे स्वरूपमे नही । फिर जिज्ञासा होती कि ये विकार आये तो किस तरह आये । ये विकार कर्म उपाधि परद्रव्यके सन्निधानमे आये । आचार्योंने तो इन शब्दोमे बताया है कि उन परद्रव्योके द्वारा विकाररूप परिणमाया गया है । तात्पर्य उसका यह है कि पर उपाधिके सन्निधानमे ही यह जीव रागादिक विकाररूप परिणमा । चूकि वह परके सान्निध्यमे ही परिणमा, उसके बिना नही परिणम सकता, अत विकार नैमित्तिक है, मेरा स्वरूप नही ।

१५१३—निमित्तके सान्निध्यमे उपादानका निमित्तानुरूप विपरिणमन—

बहुत कुछ देखनेपर यो जचेगा भी कि जैसे दर्पणके सामने रखो हुई चीजका फोटो आया दर्पण मे तो वह फोटो उस वस्तुके अनुरूप है, जैसा कि निमित्तसन्निधान है लाल पीली वस्तु, उसके अनुरूप है वह फोटो । अब चूकि उसके सान्निध्यमे ही हुआ है, उसके अभावमे नही हुआ फोटो, इसलिए इसका सम्बध उस निमित्तके साथ जोड दो, क्योकि दर्पणका स्वच्छ स्वरूप हो निरखना है । ऐसे ही कर्मविपाकानुरूप विकल्पका सबध विकल्पके निमित्तभूत कर्मके साथ जोड दो क्योकि मुझे तो अपने विशुद्ध स्वरूपमे विश्राम लेना है, यहाँ नही है विकार यो निरखना है । अब यहाँ बात हुई किस तरह ? देखिये सर्वत्र एक यह कुञ्जी जानें कि ये विकारभाव उत्पन्न हुए कैसे इस विषयमे । क्या ? कि निमित्त के सान्निध्यमे यह उपादान अपनी योग्यतासे, अपनी कलासे विकाररूप परिणम जाता है । उपादानके विकारको निमित्तभूत द्रव्यने परिणमाया नही, क्योकि उसकी परिणति उस ही मे रहेगी, निमित्तभूत द्रव्यका जो कुछ उठता है वह उसका उसमे ही है । निमित्तभूत द्रव्यका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव यह कुछ यहाँ नही पहुचा, मगर उस अशुद्ध उपादानकी प्रकृति इस प्रकार है कि वह ऐसे वातावरणमे

उसके अनुरूप अपनेमें विकार परिणाम कर लेता है। जैसे कोई देहाती आदमी पहली बार अदालत गया और पहलेसे ही उसने सुन रखा था कि वहाँ जज बैठता है, सिपाही होते है, बडी चीज है, अदालत इस नामसे वह डर रहा था। अब उसे किसी मुकदमेकी वजहसे जाना पडा। जब वहाँ पहुचा तो उस जजको देखकर वह डर गया, भयभीत हो गया, धोती ढीली हो गई या यो कहो कि धोती बिगड गई। बताओ यह सब प्रभाव उसपर उस जजने डाला क्या? अरे वह तो अपनी कुर्सीसे उठा तक भी नही, बात वहा यह हुई कि उस देहातीकी ऐसी योग्यता थी, ऐसा ही बल था, ऐसा ही डर था, ऐसा ही स्वभाव था कि जिससे उस जजका आश्रय कर, जजको निरखकर उसने अपने आपको भयभीत बना डाला। अच्छा, तो देखिये निमित्तने किया नही और निमित्तके अभावमे हुआ नही। कही, ऐसी घटना को देहाती घरमे तो न करता था कि यों कापे, यो करे। तो दोनो बातें निरखना है निमित्तभूत द्रव्यने कुछ नही किया और निमित्तभूत द्रव्यके सान्निध्य बिना यह विकार कुछ हुआ नही। इस परिचयसे यह बल मिला कि विकारको कर्म करे तो करे मुझे इससे क्या, मैं तो अपनेमें अविकार, सनातन, अहेतुक चित्प्रकाशमात्र अन्तस्तत्त्वमे ही विश्राम करता हूँ।

१५१६—विभावोंको परभाव जानकर विभावोके सवेग हटावका पौरुष—

मोक्षका कारण है स्वभावका आश्रय। स्वभाव है चैतन्यभाव, उस चैतन्यभावका निरखना कैसे बने? इस ससार अवस्थामे जहाँ कि कर्मका बन्धन है, विभाव लदे हैं वहाँ इस चैतन्यस्वरूपका अलगसे कैसे निरखना बने? इसके उपायोमे बधाधिकारके अन्तमे बताया था कि चूकि ये विभाव, ये आत्मामे आत्माके द्वारा स्वय नही बनते, किन्तु परद्रव्यके सान्निध्यमे बनते, वहाँ कहा है कि परद्रव्यके द्वारा परिणमाया जाता है, यहाँ अर्थ लेना कि परद्रव्य कर्मविपाकके सान्निध्यमे यह आत्मा विकाररूप परिणमता है, ऐसा निरखना किस प्रयोजनसे है कि विकारको मैं स्वय अपने आपसे नही करता, वे मेरी चीज नही है, मेरे स्वभावमे नही बसी है। वे तो नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, नैमित्तिक है, एक आक्रमण है यो किन्ही भी शब्दोमे कहो, विभावोसे अपना हटाव बडी तेजीसे करना है जिनसे मेरा कुछ मतलब नही। हाँ तो उस प्रसगकी चर्चा चल रही थी कि कर्मविपाक हैं पर निमित्त, उस परका सग ही निमित्त है, इसका मतलब क्या हुआ? क्या उस कर्मने जीवके परिणामको कर दिया? नही किया, किन्तु वह कर्मविपाक, वह प्रतिफलन ऐसा वातावरण है कि उसमे ही यह जीव विकार कर पाता है। उस वातावरण के अभावमे, उस निमित्तके असान्निध्यमे जीव विकार नही कर पाता। निष्पत्ति विधिसे देखना, उस बीचमे ज्ञप्तिकी दृष्टि लायी गई तो विकारको परभावताका तथ्य न मिलेगा और परभावोसे अपनेको निराला समझना है इसके लिए उमग और दृष्टि न बनेगी। तो यह बताया गया है कि जब कर्मविपाक हुआ तो जीवमें रागविकार हुआ, हुए दोनों एक समयमे, उपादान उपादेयमें तो समयभेद है, किन्तु निमित्तनैमित्तिक भावमे समयभेद नही है, क्योकि उपादान कहलाता है पूर्व पर्यायसयुक्त द्रव्य और उपादेय हुआ वर्तमान पर्याय। तो पूर्व पर्याय प्रागभाव है उत्तर पर्यायका यानें उस प्रागभावका उपमर्दन उत्तर पर्याय कहलाता। देखिये यहाँ रहस्यकी बात, प्रागभावके अभावका नाम कार्य नही, किन्तु प्रागभावके उपमर्दनका नाम कार्य है। परन्तु निमित्त नैमित्तिक क्या है कि जिस कालमे निमित्त है उसी कालमे नैमित्तिक है, तो निमित्तने जीवमे विकार परिणति नही की, फिर भी ऐसा सहज योग है कि कर्मविपाकके अभावमें यह विकार नही बनता, इसके लिए उदाहरण कई आए थे। मतलब यह जानना कि अपनेको अपने स्वय चैतन्यभावको सर्व विशुद्ध शुद्धका भेद न करके पर्यायको न निरखकर केवल उस चैतन्य

स्वरूपको निरखना। उसकी बात बोल रहे है कि वह चेतना सामान्यविशेषात्मक है।

१५१७—चेतनाकी विलक्षण सामान्यविशेषात्मकता—

यह सामान्य विशेषपना किसमें आया, अब सामान्य विशेषपना वस्तुधर्ममे घटित किया जाता है, वह भी यहाँ है, मगर उन दोनो प्रकारके सामान्य विशेषोसे विलक्षण कुछ तार्तीय चीज है। क्या, कि चेतनासामान्य तो दर्शन और चेतनाविशेष ज्ञान है। अर्थात् यह आत्मा स्वको परको जानता है और ऐसा जानते हुए आत्माको यह प्रतिभासता रहता हैं। एक दर्पणका हो दृष्टान्त लो, दर्पण बाह्य पदार्थ के आकारको झलकाता रहता है, फोटो आयो ना, याने परिणमा वह स्वय, भाषा उपचारकी हो चलेगी, बोलने समझनेमे, तो दर्पणमे आकार झलका और आकार झलकाये हुए दर्पणको स्वय दर्पणने अपनी चिलचिलाहटसे अपनेको कायम रखा या नही ? बहुत ध्यान देनेकी बात है, अगर दर्पणने अपने भीतर अपनी चिलचिलाहटमे अपनेको, उस फोटो वाले दर्पणको अपनेमे कायम नही रखा तो वह फ़ोटो नहीं आ सकती और केवल अपने भीतर चकचकामात्र ही बने, फोटो न आए, तो वह चिलचिलाहट ही क्या है ? वह एकमेकपना ही क्या है। तो जैसे वहाँ स्वच्छतासामान्य और विशेषके बिना बात नही बनती, दर्पणकी निजी स्वच्छतामे चकचकाहट नहीं तो फोटो भी नही आ सकती, और अगर फोटो नही आती तो समझ लो वहाँ चकचकाहट नही, ऐसे ही आत्मामे समग्र पदार्थोंका ज्ञान होता है, वह किस बलपर ? अगर आत्मा दर्शनस्वरूप न हो, अपने आपके भीतरके चकमकको प्रतिभासको, यह न पाए तो बाह्य वस्तुका ज्ञान नही हो सकता, और बाह्य वस्तुका ज्ञान न हो तो किस अपनेको प्रतिभासित करे, किस रूप अपनेको अपनी चिलचिलाहटमे रखे वह भी न बनेगा, इसलिए दोनो बाते चेतनमे पायी जाती हैं। उनमेसे एकको निकाल दिया जाय तो दूसरा ठहर नही सकता।

१५१८—दृष्टान्तपूर्वक सामान्यविशेषात्मकताका परिचय—

मोटे रूपसे सामान्य विशेषको यो देख लो, मनुष्य तो है सामान्य और बच्चा, जवान बूढा है विशेष। अगर बच्चा जवान बूढा ये कुछ न मानें तो फिर आप बताओ मनुष्य क्या कहलाया ? आप कोई ऐसा मनुष्य लाकर तो दिखाओ जो न शिशु, हो न बच्चा हो, न कुमार हो, न जवान हो, न बूढा हो, जितनी भी दशायें है वे सब कह लो, किसी दशामे तो हो नही और मनुष्य लावो तो कहाँ मिलेगा ऐसा मनुष्य ? ऐसा कहे कि आप बच्चेको तो लावो, पर मनुष्य मत लावो, आप जवानको तो लें आवो मनुष्य मत लावो, ऐसा भी तो नही बनता। सामान्यविशेषात्मक है पदार्थ। आत्मा भी सामान्यविशेषात्मक है, अर्थात् चेतन भी सामान्यविशेषात्मक है, अगर सामान्यविशेषात्मक न हो मायने यहाँ प्रतिभास न हो ज्ञानका, चेतनेका तो आत्मा जड हो गया, अगर ऐसी सामान्यविशेषात्मक चेतना नही है तो आत्मा जड हो गया। अरे, और जड भी क्यो हो गया ? आत्मा तो कुछ रहा ही नही, जड भी क्या बतायें ? तो वहाँ यह समझिये कि सामान्यविशेषात्मक चेतना अद्वैत होकर भी ज्ञानमें आ रही है।

१५१९—चेतनाके अभावमें चेतनके अस्तित्वकी असभवता—

यहाँ इस छदमे बतलाया है कि चेतना है व्यापक, आत्मा है व्याप्य। देखिये व्यापक के अभावमे व्याप्य रह नही सकता जैसे एक दृष्टान्त लो कि वृक्ष तो है व्यापक और नीम है व्याप्य। जैसे कोई नीमका पेड खडा है तो नीमका पेड कैसे व्याप्य है और वृक्ष कैसे व्यापक है याने नीम भी वृक्ष है, नीम के अतिरिक्त और भी वृक्ष हैं, जो वृक्ष ही नही है वह नीम कैसे रह सकते है ? व्यापकके अभावमे व्याप्य नही रहता, तो व्यापक कहो चेतना और व्याप्य कहो आत्मा, चेतनाके बिना आत्मा रह नही सकता।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि लगता तो ऐसा है कि व्यापक है आत्मा और व्याप्य है चेतना। चेतना मायने ज्ञान और दर्शन। आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है, अब कुछ और बचा क्या ? हाँ बचा तो है, चारित्ररूप है, आनन्दरूप है, और और भी बातें बतायेंगे तो आत्मा ज्ञानदर्शनके अलावा और रूप भी हो गया तो आत्मा व्यापक कहलाया। व्याप्य हुई चेतना, तो यहाँ चेतनाको व्यापक और आत्माको व्याप्य कहनेका प्रयोजन क्या है ? समाधान–परख जो होती है वह चेतना द्वारा हो रही है, और यह निरखा जा रहा है कि यह चेतना आत्माकी सर्व अवस्थाओंमे रहती। यहाँ परिचायक है चेतना, परिचेय है आत्मा तो चेतना परिचायकताके कारण व्यापक है और आत्मा परिचेयताके कारण व्याप्य है, चेतना न हो तो आत्मा नही रह पाता। इस प्रकार यह आत्मा दर्शन ज्ञानस्वरूप मायने सामान्यविशेषात्मक है।

१५२०—चेतनासामान्यमात्रका आग्रह करनेवालोके प्रतिबोधके लिये चेतनाकी सामान्यविशेषात्मकताका विवरण—

शंका–चेतनाकी सामान्यविशेषात्मकतापर इतना जोर क्यों दिया जा रहा है ? सीधी बात कहते कि आत्मा चेतन है, थोडा बोल देते, पर इतना विशेष तूल क्यों बनाया ? तूल यों बनाना पडा कि आचार्योंका उपदेश सबके हितके लिए होता है। वहाँ कही किसी सम्प्रदायके लिए बोलते, ऐसा नहीं है, उनकी दृष्टिमे तो सब सज्ञी मानवमात्र दयाके पात्र हैं। कोई लोग चेतनको मात्र सामान्यरूप ही मानते आये उनका भी तो भला करना, कोई पुरुष चेतनाको केवल विशेषरूप ही मानते आये तो उनको भी तो प्रतिबोधना है। है क्या कोई ऐसा दार्शनिक जो चेतनाको केवल सामान्यमात्र मानता हो, चेतना सामान्य, मायने उस चेतनको ज्ञान न मानता हो, केवल एक दर्शन जितना ही मानता हो, प्रतिभासमात्र ही मानता हो। प्रथम तो सांख्य दर्शन ही ले लीजिए–ज्ञान आत्माकी चीज नही है। वहाँ ज्ञान प्रकृतिका धर्म है और प्रकृति है अचेतन, अचेतनसे ज्ञानकी उत्पत्ति हुई है याने उपादान अचेतन है ज्ञानका, ऐसा इस दर्शनमे माना है। आत्मा ज्ञानरूप नही और बल्कि जब तक इस आत्मामे इस ज्ञानका सम्बध रहता है याने प्रकृति अचेतनका गुण जो ज्ञान है, धर्म, वह जब तक आत्मामे चिपका रहता है तब तक यह जीव मोही है, अज्ञानी है, ससारी है, रुलने वाला है और जिस कालमे यह ज्ञान आत्मासे दूर हो गया याने पुरुष और प्रकृतिका विवेक हो गया उस समय आत्मा मोक्षमार्गमे लग गया। कौन लग गया, क्या लग गया ? और कुछ क्या सोचना, ऐसा ही है मोक्षमार्ग। यहा तक तो अभिप्राय बना हुआ है कुछ दार्शनिकोका। मगर ऐसा होता क्या कि प्रकृतिका धर्म है ज्ञान और आत्मा है केवल एक सामान्य चेतना मात्र, तो फिर बतलाओ इस आत्मामे भ्रम होता कि नही ? उस दर्शनके हिसाबसे भ्रम नही है आत्मामे। वह सदा भ्रमरहित है। तो भ्रम करता कौन है ? प्रकृति करती है भ्रम। तो अब आत्माको अटकी क्या है जो अपनेको मोक्ष दिलावे, प्रकृतिको भ्रम हुआ सो प्रकृतिको मोक्ष दिलाओ। अच्छा तुम आत्मा हो कि प्रकृति ? तो प्रकृति कहनेमे जरा उसे अच्छा नही लगा। जो श्रेष्ठ पदार्थ हो उस ही रूप अपनेको मानेगा। जब बच्चे लोग खेल खेलते तो एक खेल खेलते चोर, सिपाही, राजा, तथा वजीर बननेका उनमे से जब किसी बच्चेसे कोई बच्चा कहता कि तुम चोर बन जाओ तो पहले तो वह चोर बनना पसद नही करता। वह तो यही कह देता कि मैं क्यों बनू चोर, मैं तो राजा बनूगा ? तो ऐसे ही इस आत्मासे पूछो कि बोलो तुम प्रकृति हो या पुरुष ? तो कहेगा, पुरुष, सो तुम हो केवल सामान्य चेतना मात्र, इसमे कुछ गडबड होती नही। तुम तो सदा शुद्ध हो। विकार तुममे नही आते। विकार आते है प्रकृतिमे। ज्ञान इसमे नही आया, ज्ञान होता है प्रकृतिमे, अहकार होता है प्रकृतिमें।

तो ऐसा केवल चेतन सामान्यको मानने वाले दार्शनिकोके प्रतिबोधके लिए यहा चेतनाको सामान्य विशेषात्मक कहा है ।

१५२१—कल्याणार्थ प्रयास होनेपर भी स्याद्वादशैलीको तजनेका दुष्परिणाम—

देखिये—उन साख्य दार्शनिकोने सोचा तो है ऐसा, मगर भीतरमे बेईमानी उनके भी न थी । किसी कारणसे चूक जाय वह बात अलग है । मगर कोई ऐसा जोर देकर कहे कि मैं तो ऐसा उल्टा दर्शन बनाऊँगा कि इन सब लोगोको खूब भटकाऊँगा, ऐसी उनकी मसा थी क्या ? नही । उनकी भी कल्याण की अच्छी भावना थी । कभी देखा होगा कि दार्शनिक लोग कितने निष्पक्ष होते हैं । अगर कोई किसी विषयमे पी एच डी कर रहा या और कोई बडी खोज कर रहा, दार्शनिक है, और वह खोज करने मे जिस सम्प्रदायका वह खुद है उसमे अगर कोई दोषकी बात दिखती तो उसको कहनेमे उसे कुछ हिचकिचाहट नही होती । दार्शनिकोके लिए स्व और पर कुछ नही रहता । यह मेरा मजहब है यह दूसरेका मजहब, ऐसा दार्शनिकोकी दृष्टिमे पक्ष नही होता, पर समझमे ही जो आया सो बन गया । किस तरह उन्होने यह बात निकाली कि आत्मा तो मात्र सामान्य चेतना मात्र है, इसमे ज्ञान नही । ज्ञान तो कलक है और ज्ञान तो इसकी प्रकृतिके सम्बन्धसे जबरदस्ती जुडा हुआ है, यह विकार है यह बात उन दार्शनिकोके चित्तमे कैसे आयी ? तो चित्तमे यो आयी कि इतनी बात तो यहाँ ही बतायी जा रही है कि रागद्वेष विकार ये आत्मामे नही हैं, आत्माके धर्म नही है ये कर्मविपाक हैं । इसी तरहसे तो अभी वर्णन चला था । यह कर्मरस है, यह पौद्गलिक है, ये आत्माके विकार नही । तो आत्माकी विशुद्धता समझनेके लिए यह आवश्यक समझा गया ना कि आत्माको तो ऐसा शून्यकी ओर ले जाओ कि इसमे जो बातें तरग रूप हुई वे हट जाये, ये विकार परभाव है । तो अब इससे बढकर उन दार्शनिकोने और कदम बढाया कि हम तो इस आत्माको पूरा विशुद्ध रखेंगे तो देखो कि यह विकार जगा क्यो ? यह विकार जगा यो कि ज्ञानमे आया तो विकार जगा । उपयोगमे प्रतिफलित हुआ, उपयोग जगा सो कहते है कि जड़से ही हटाओ इस विडम्बनाको मायने उपयोग और ज्ञान इसको ही अस्वरूप बताकर पूरा हटा दो तो खाली शुद्ध चैतन्य सामान्य रह जायगा । बेचारोने कोशिश की अच्छी, विशुद्धताकी ओर बढना चाहा मगर अति सर्वत्र विडम्बना उत्पन्न कर देती हैं । तो इस तरह माना कि प्रकृतिसे यह महान् याने ज्ञान जगा, प्रकृतिसे महान उत्पन्न हुआ । महानको वे ज्ञान कहते है ।

१५२२—ज्ञानकी महत्ता—

जगतमे महान कौन है ? ज्ञान । ज्ञानसे भी बडा कोई है क्या ? कुछ नही । अच्छा इस बातको जैनदर्शनकी ओरसे देखिये बडा और छोटा । मोटी चीज बडी होती या पतली, ऐसा एक प्रश्न रखा । लोग तो यह कहेगे कि मोटी चीज बड़ी होता है, पतली चीज कहाँ से बडी होगी ? मगर यह बतलाओ कि बडेमे पतली चीज समाती या पतलेमे मोटी ? अच्छा सुनो इसका उत्तर—देखो पतलेमे मोटी चीज समाती। जैसे पृथ्वी मोटी है जलसे, मगर जिस चाहेसे पूछ लो, वैज्ञानिक भी यही कहेंगे कि जलमे पृथ्वी समायी है । जलका बहुत बडा विस्तार है और पृथ्वी कम जगहमे है । अच्छा, इस मध्य लोक की अपेक्षा जैन दर्शन भी बताता है कि पानी अधिक जगहमे है, पृथ्वी कम जगहमे है । एक स्वयभूरमण समुद्रका ही विस्तार देखलो कितना बडा है कि जिसकी तुलनामे सारे द्वीप समुद्र भी नही हैं, तो जलमें पृथ्वी समायी है, पतली चीजमे मोटी चीज समायी है । अच्छा तो जल और हवा इनमे पतला कौन ? हवामे जल समाया है । जहाँ जल है वहाँ भी हवा और जहाँ पृथ्वी है वहा भी हवा और बाहर भी हवा,

अच्छा हवा और आकाश इन दोमे पतला कौन? आकाश, जहाँ हवा चलती, पृथ्वी है, वहाँ भी आकाश है, और उसके बाहर भी आकाश है, और आकाशमे ये सब समाये हुए है। अच्छा यह बतलाओ कि आकाश और ज्ञान इनमे पतला कौन है? ज्ञान। याने जितना लोक है वह भी ज्ञानमे समाया और ऐसे लोकालोक कितने ही होते तो वे सब भी ज्ञानमे समा जाते, तो महान कौन? ज्ञान।

१५२३—ज्ञानस्वरूप माने बिना चेतनासामान्यकी भी सिद्धिका अभाव—

साख्योने ज्ञानका नाम धरा महान। वे ज्ञान शब्दको अधिक बोलते ही नही, कभी कभी बोलेंगे, और सिद्धान्त भी यह कहता है कि प्रकृतिसे महान उत्पन्न होता, महानसे अहकार उत्पन्न होता। देखिये सब लौकिकतासे समर्पित होता जा रहा है, अहकार वहाँ बनता? जहाँ ज्ञान हो मैं बडा हूँ, ज्ञानी हूँ, यो इस ज्ञानसे बना अहकार और अहकारसे ये इन्द्रिय आदिक बन गए, और उनसे बना यह शरीर, और फिर ये जितने भूत दिख रहे है यह सब प्रकृतिका विकार है। तो उन्होने ज्ञानको प्रकृतिका विकार मान कर एक चैतन्यसामान्य ही करार किया है कि आत्मा पुरुष केवल चैतन्य मात्र है, मायने दर्शन स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप नही। ज्ञानस्वरूप माने बिना आत्माके चेतनासामान्यकी भी सिद्धि नही हो सकती।

१५२४—मात्र ज्ञानक्षणरूप विशेषकी छलाग भरनेवालोके प्रतिबोधके लिये चेतनाकी सामान्यविशेषात्मकताका निरूपण—

अच्छा तो कोई दार्शनिक ऐसे भी है ना कि जो केवल चैतन्यविशेष मानते हैं, चैतन्य सामान्य नही मानते, ऐसे भी दार्शनिक है उनमेसे एक निरशवादी पुरुष है जो आत्माको एक ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं और इतना ही नही, इनकी मान्यता है—ज्ञानक्षण बस उसीको ही लोग आत्मा कह देते है और इसी कारण तो ज्ञान क्षण क्षणमे नया-नया बनता है, तो जो लोग ज्ञानको आत्मा बोल तो यह समझ लो कि आत्मा भी प्रतिसमयमे नया-नया बनता है और उनका वह नया-नया बनना ऐसा पृथक्त्व है उसमे कि एकका दूसरेसे अन्वय नही है, सम्बन्ध नही है, है बिल्कुल पृथक-पृथक। ये निरशवादी इनका नाम क्षणिकवादी तो कह दिया है, असलमे क्षणिकवाद नही, किन्तु निरन्वय निरशवाद है वहाँ क्योकि क्षणिकवाद शब्द तो है उस सम्प्रदायका एक धर्म कहने वाला और निरश शब्द है उस सम्प्रदायकी सारी बात कहने वाला। जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निरश माना। द्रव्यसे निरश, क्षेत्रसे निरश, कालसे निरश, भावसे निरश माना, ये चारो ही निरशता उस सम्प्रदायमे हैं, मगर परिणमना कालके अशमे है। सो केवल कालका अश हो सो नही, द्रव्यका अश करके अणु अणु एक पदार्थ है। ऐसा तो जैनदर्शन भी मानता? नही, उस अणुमें भी रूपक्षण अलग पदार्थ, रस अलग पदार्थ, गध अलग पदार्थ, स्पर्श अलग पदार्थ, उस द्रव्यमे से और अश कर दिया और उन अशोको स्वतन्त्र मान लिया, ऐसे ही तो भावके अश मायने ज्ञानक्षण और उनको ऐसा स्वतन्त्र मान लिया कि एकका दूसरेसे सम्बन्ध ही नही। यह ऋजुसूत्रनयका एकान्त है। तो कुछ लोग चेतना विशेष मात्र ही मानते, कुछ लोग चेतना सामान्य मात्र ही मानते, पर ऐसा है नही। तो उनके प्रतिबोधके लिये सकेत दिया है कि यह चेतना सामान्यविशेषात्मक है, दर्शन ज्ञानात्मक। ऐसे उस चित्को निरखिये, वह उसका स्वरूप है, अविकार है, वहाँ परका प्रवेश नही स्वरूपमे। वह स्वय परिपूर्ण है, अपने आप दु खोसे रहित है, ऐसे इस चैतन्यस्वभावको प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करना, यह ही आत्मा और बधके भेदनका प्रयोजन है। ज्ञानमे ही भेद किया। यह मैं आत्मा हूँ, यह विकार बध है, ज्ञानसे ही ग्रहण किया कि मैं तो चैतन्यस्वभावमात्र हूँ, मैं अन्यरूप नही हूँ। कुछ ग्रहण करके क्या करना? अब क्या करना, बस यह ही हमारी मजिल है। हमारा पुरुषार्थ, आखिरी

मंजिल यही है। अपने स्वरूपको निरखे और अपने स्वरूपमे अपने आत्मतत्वका अनुभव करे।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावा परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥

१५२५—स्वके चिन्मय भावकी स्वभावरूपता व परके भावोंकी पररूपता—

चेतनमे तो एक चिन्मय ही भाव है और परपदार्थके जो भाव हैं वे पर ही हैं, उनमेसे चिन्मयभाव तो ग्रहण करने योग्य है और बाकी सर्व परभाव सर्व तरहसे हेय ही हैं। प्रकरण यह चल रहा है कि मोक्ष कैसे होता है। उसका एक ही साधन है। अपने सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वभावका आश्रय, उसमे अहका अनुभव होना, यह मैं हूँ और विकल्परहित होकर उस ही ज्ञानतत्त्वका स्वाद लेना, इसमें आश्रय किसका हुआ? चैतन्यमात्र भावका, चिन्मयभावका केवल चेतन ही चेतन। चेतनमे ही जो रचा गया है मायने जो चैतन्यमात्र है उसे कहते हैं चिन्मयभाव। कभी देखा होगा कि जब कोई चिडियाका छोटा बच्चा, जिसके अभी पैर नही निकले, जमीनपर पडा है, पख नही निकले, चल भी नही पा रहा, उसे क्या कहते हैं लोग? चेनुवा। अभी तो यह चेनुवा है। इस चेनुवाका अर्थ क्या है? यह शब्द कहाँसे निकला? तो पहले लोग ज्ञानी होते होगे, उन्होने देखा कि यह शरीर तो अभी बना ही नही है, मानो शरीर है ही नही। जब तक शरीर अच्छा न बने तब तक उनकी निगाहमे शरीर है ही नही, ऐसा कई बातोंमे बोलते। जैसे कोई स्वर्ण बेचनेको लाये और शुद्ध स्वर्णका रुचिया सर्राफ उसे कसौटीपर कसे और उसमे बहुत हल्की खोट निकले, कोई दो चार आने भर फिर भी वह कहता—अरे यह सोना है क्या? क्यो पीतल ले आये। तो देखो पीतल तो न थी वह, बस जरा सी खोट थी, मगर व्यवहारमे ऐसा कह दिया जाता है, तो ऐसे ही जब वहाँ देखा कि इसके तो शरीर ही नही है मायने बना नही तो शरीरपर दृष्टि न गई और चिन्मयपर दृष्टि गई। चैतन्यमात्र है, और दो हैं ना वहाँ चेतन और शरीर। शरीर तो बना नही, सो वहाँ एकदम ऐसी दृष्टि बना दिया कि है ही नही शरीर। ऐसा होता है। बात पूरी नही है, तो कहते हैं कि है ही नही। है नहीं तो क्या रह गया? वह चिन्मय याने चेतन रह गया। लो चिन्मयसे बिगडकर बन गया चेनुवा। उसकी दृष्टिमे शरीर नही है। सब यहाँ दिख रहा कि चेतन ही चेतन है। अच्छा, तो आने इस शरीरको तो बहुत देख रहे, मगर अपने इस चेनुवाको भी तो देखो—अपने भीतर विराजमान जो चिन्मात्र है उसकी कोई खबर नही करते, बस शरीर ही शरीर।

१५२६—कल कलकी नातेदारीका तथ्य—

लोग कहते हैं अरे कल-कल क्यो करते, पर कल कल न करें तो क्या करें? कलके मायने है शरीर। यहाँ ये जो हजारो लोग बैठे है वे कल कल न करें तो फिर क्या करें? तो कल-कल मायने शरीर शरीर। उसपर जो है लोगोकी दृष्टि बहुत और जितना व्यवहार है वह सब शरीरसे चल रहा है। यह मेरी नानी, यह मेरी माँ, यह मेरा पिता, यह मेरा स्वसुर, यह मेरी सास आदिक ये सब इस शरीरके नाते है। भाई किसे कहते हैं? यह शरीर जहाँसे पैदा हुआ वहीसे जो और शरीर निकला हो उसका नाम है भाई। बाप किसे कहते? जिस शरीरसे यह शरीर बना उसका नाम है बाप। पुत्र किसे कहते? इस शरीरसे जो शरीर बना उसका नाम है बेटा। याने ये शरीर-शरीरके नाते तो दिखे। स्त्री किसे कहते हैं? इस शरीरको रमानेके लिए जो दूसरा शरीर हो उसे कहते है स्त्री। कोई सा भी तो नाता बताओ सभी नाते इस शरीरके नातेसे निकले। आत्माका नाता किसीसे न बनेगा और

इसीलिए लोग बिल्कुल सत्य बोल रहे हैं-हमारी इससे नातेदारी है, दारी मायने सम्बध, ना मायने नही, ते मायने तुम्हारा याने वे तेरे कोई सम्बन्धी नही ऐसी मेरी इनसे नातेदारी है। ये हमारे कुछ नही हैं बस यह ही सम्बध है। लोग बोलते तो बहुत सत्य है, पर उसपर डटते नही। तो ये बाहरमे जितने भी पदार्थ है, उपाधि जन्य कष्ट हैं, जितने भी भाव है वे सब परभाव है, ये मेरे स्वरूप नही है।

१५२७—स्वरूपाश्रित धर्ममे उपयुक्त होनेकी निःशकताकी उमग—

मैं तो केवल एक चिन्मात्र हूँ, तब क्या करना ? अपनेको चिन्मात्र स्वरूप जानकर उसको ग्रहण करना मायने उस पर ही अधिक दृष्टि रखें मैं चिन्मात्र हूँ, चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। देखो जो बात अनन्त काल तक रहेगी, क्या रहेगी, इस चैतन्यस्वरूपमे मग्न होना यह अनन्त काल तक रहेगा, तो जो बात अनन्त काल तक रहेगी उसको यहाँ थोडी देर भी करने बैठते तो उसमे घबडाहट क्यो होती ? कुछ ठनगन सा क्यो आता, जैसे लडकीको तो ससुरालमे जीवनभर रहना है, मगर पहली बार या कुछ कई बार जाती तो वह ठनगन खूब करती, खानेमे दुःख प्रकट करती व रोती है। अरे रहना तो जिन्दगीभर है मगर एक दो बार ठनगन चलता है, ऐसे ही इस आत्माको अनन्त काल तक चैतन्यस्वरूपमे रहना है मगर जब इस चैतन्यस्वरूपसे इसका एक सम्बध बना तो शुरू शुरूमे यह रहनेमे ठनगन कर रहा, नही रह पाता, उचट जाता; कही प्रदेशसे बाहर भागता नही, जहाँ यह रहा आया अनादिसे, जिस घरमे रहा आया उस घरकी बराबर प्रतीति तो न रही, पर एक बार उसको मानो यादसी जरूर कर लेता। पूर्वका यह सस्कार बना है। भैया, ऐसी एक हिम्मत बनाये कि इस चैतन्यस्वरूपमे तो अनन्त काल तक मग्न रहना ही है, फिर अब उसमे घबडाहट क्यो होवे ? इसका शरण ही यह है इसका पूरा ही यहाँ से पडेगा, ऐसा जानकर इस चैतन्यमात्र भावको ग्रहण करना चाहिए, और जो अन्य भाव हैं उनका परित्याग करे। ज्ञानी पुरुष ऐसा करता है, ज्ञानी किसे कहते हैं ? जिसको ज्ञानका ज्ञान है उसका नाम है ज्ञानी, अच्छा, उपयोगको देखलो, और जिसको बाहर ही बाहर बाहरी चीजोका ज्ञान है वे बाहरी चीजें हैं उपयोगमे, वह ज्ञानी नही है। जैसे बतलाया धर्मास्तिकाय, जिसके चित्तमे विकल्प है धर्मद्रव्यके बारेमे, उपयोगसे वहाँ धर्मास्तिकाय हैं, जडको जो सर्वस्व मान रहा है उसे कहते है जड, जीवकी बात कह रहे। वह स्वरूपसे जड नही हुआ, मगर करतूतसे जड है, जो ज्ञानको जान रहा वह है ज्ञानी, कौन बना ज्ञानी ? जिसने आत्मस्वभाव और अनात्मतत्त्व इनका जुदा जुदा लक्षण जाना है और उन लक्षणो के विभागपर जिसने अपनी प्रज्ञा छेनी पटकी है, दो टूक किया और विवेक किया मैं यह नही, मैं हूँ यह।

१५२८—सर्व परीक्षणोमे स्वभावाश्रयका उद्देश्य—

देखो प्रभुके उपदेशमे अपना काम बना लें, स्वभाव और परभावका भेद ज्ञात करनेमे निमित्त नैमित्तिक योगका सही परिचय यह बहुत सहयोग देता है। ये क्रोधादिक भाव परभाव हैं, यह सिद्ध करने मे हमे इन्ही उपायोसे बल मिलता है, इसी कारण बधाधिकारके अन्तमे इन उपायोको बताकर अधिकार पूरा किया कि विचार करते रहो और परभावको त्यागकर स्वरूपको जानते रहो। निमित्त नैमित्तिक शब्द ही यह बतलाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका त्रिकाल भी कर्ता नही, उसी शब्दमे, उसी योगमें यह बात पडी हुई है। वस्तुका स्वरूप है कि वह स्वय परिणमा करे, उसे दूसरा न परिणमायगा। ६ साधारण गुणोसे ही सारी व्यवस्था बन गई। अब असाधारण गुण तो इसके लिए है कि बता दिया कि यह पदार्थ अपनेमे अपने स्वरूपसे परिणमता, मगर वह स्वरूप क्या उसकी तो सुध नही साधारण गुणोमे, तो असाधारण गुण बताया और विशेष स्पष्ट समझनेके लिए साधारण गुणके परिचयने मदद दिया सो

उपादानकी कलाको निरखिये कि यह योग्य उपादान, किस किस द्रव्य, क्षेत्र काल भावके बीच उपस्थित हुआ, उपादान किस रूपमे अपना परिणमन कर लेता है, तो विकार रूप जो परिणमता है सो वहाँ किसी एक वातावरणमे एक विशिष्ट सान्निध्यमे उसके यह बात बनी इसमे यह समझमे आया, आत्मामे आत्माके स्वभावसे ऐसा विकार बननेकी गुजाइस नही। यह तो एक चैतन्य प्रकाशमात्र है। जब यह उद्देश्य बन जाता है ज्ञानीका कि स्वभावका आश्रय किए बिना हमारा उद्धार नही है, तो वह सर्व उपदेशोसे यही ग्रहण करता कि जिससे स्वभावका परिचय मिले।

१५२९—विभावरमणके रोगीको नयोके नुक्शाकी औषधि—

जिसने स्वभावाश्रयका उद्देश्य नही बनाया, बल्कि ज्ञान ही नही कि हमे क्या करना स्वभावके आश्रयसे तो ऐसे उन निरुद्दिष्ट पुरुषोमे विचित्र चर्चाये चलती हैं—अजी वह क्या करे उपादान, निमित्त ने ही परिणति कर दी, वह निमित्तके कर्तृत्वपर उतर आया, जिसको अपने स्वभावकी रुचि नही, स्वभावाश्रयका उद्देश्य नही बनाया, उसने ऐसा ही देखा कि देखो जीव ही तो राग कर रहा है, उसका ही तो परिणमन चल रहा है। अरे, उसे दूसरेने नही किया, दूसरा कोई निमित्त भी नही, यह तो अपने आप अपनेमे राग बनाता चला जा रहा है। यद्यपि यह भी एक अशुद्ध निश्चयनयका विषय है, मगर जब कोई बीमारी होती है तो जो कुशल वैद्य है वह इस तरहसे चिकित्सा करता है कि कही ऐसी प्रतिकूल तेज चिकित्सा न हो जाय कि बजाय फायदेके और खराबी कर जाय। तब ही तो वैद्य चार-छह दवाइयाँ एक साथ मिला लेता। जैसे कोई है तो शीतका रोगी और उसे खूब तेज गरम दवा दी जाय तो शीत तो उसकी मिट जायगी मगर गर्मी बढ जायगी जिससे उसका रोग असाध्य बन जायगा, या किसीको गर्मीका रोग हो और उसे शीत दवा दे दी जाय तो वह भी उसके लिए हानिकारक होगी। इसलिए होशियार वैद्य शीत उष्ण दवाओका मिश्रण करके दवा देता है जिससे उस रोगीका रोग दूर हो जाता है और वह स्वस्थताको प्राप्त हो जाता है। यहाँ स्वस्थता है स्वभावदृष्टि, और रोगी वह है जो परभावोमे विश्राम कर रहा। अब परभावोमे विश्राम करने वाले रोगीकी गुरुजनोने चिकित्सा की। और वह चिकित्सा है नयोका नुक्शा। जैसे एक नुक्शा देनेके लिए नुक्शाकी कई चीजे लिखी जाती। तो नयोका नुक्शा दिया गुरुजनोने। अब उस नुक्शाको मिलाकर पियो, जानो, प्रमाणसे जाने गए पदार्थ मे विवक्षावश, प्रयोजनवश किसी एक अशको बताना सो नय कहलाता है। जानो, किसीने यह जाना कि जीवमे विकार तो होते ही नही, वह है अविकारी। यह एकान्तत माना, कि उसे इन विकारोको कर्मने कर डाला ऐसी तेज दवा पिला दी, निमित्तने किया, यह खुद क्या करेगा? लो उसे रोगको मेटना था, स्वस्थताको लाना था, और निमित्तकर्तृत्वकी तेज दवा दे दी, वहाँ यह नही समझ पाया कि बात यो बन रही है कि ऐसे ऐसे अनुकूल निमित्तके सान्निध्यमे यह प्रयोगी अपने आपमे ऐसा प्रभाव बनाया करता है। अच्छा तो निमित्तकर्तृत्वका रोग जब आया तो उसे मेटना चाहिए। एक रोगको मिटानेकी ऐसी तेज दवा मिल गई कि दूसरा रोग खडा हो गया था। अब इस रोगको दूर करनेके लिए ऐसी दवा दी इस रोगीको कि बस यह जीव अपनेमे अपनेसे अपनी योग्यतासे बस विकार करता चला जा रहा, यह इसका स्वभाव ही है, ऐसा ही इसने अपनेमे निर्णय बनाया कि मैं ऐसा ऐसा करता ही रहूँगा, तो अब यहाँ निमित्त नैमित्तिक योगको छोड दिया सो यहाँ दूसरा रोग आया। जब मैं विकार करता ही रहता हूँ अपने ही कारणमे, अपनी ही योग्यतासे, अपने ही स्वभावसे, तो वह कैसे मिटेगा?

१५३०—आत्माके स्वास्थ्यके लिये संतुलित चिकित्साका आधार—

नयोका यथावसर योग्य प्रयोग करना, यह एक बहुत बडा सन्तुलित काम है। कैसे समझना ? और कुछ कठिन नही है, केवल एक लक्ष्य बना ले कि मेरेको तो अपने सहज चैतन्यस्वभावका आश्रय लेना है। एक लक्ष्य बन जानेपर फिर ज्ञान कला सहज आ जाती। आपको कोई अधिक मेहनत न पडेगी। न विचारका श्रम करना होगा विशेष। किसीसे पूछनेकी भी अधिक आवश्यकता नही। स्वय ही तो यह ज्ञानवान है। सब ज्ञानकी बातें निकलती जायेंगी एक लक्ष्यको सही बना लेनेपर। भैया, जितने विवाद होते हैं उनमे अगर कोई लक्ष्य वाला है, अपने आत्मापर करुणा रखने वाला है कि मेरे को कषाय न चाहिए, स्वभावका आश्रय चाहिए, स्वभावदृष्टि रहे, ऐसा अगर लक्ष्य वाला है तो उसको कही अडचन नही आ सकती। सबका यह अर्थ सही समझ लेगा। तो स्वभावका आश्रय करना और उसका लक्ष्य बनाना यह सबसे बडा मुख्य काम है ? वह स्वभाव क्या ? चिन्मात्र, चैतन्यमात्र। सो ऐसा जो चिन्मात्र स्वरूप है वह तो ग्राह्य है और शेषभाव वे सब हेय है, क्यो हेय हैं कि वे सब परकीय भाव हैं।

१५३१—निमित्तनैमित्तिक योगके यथार्थ परिचयसे विभावकी परभावता व चित्स्वरूपकी स्वकीयताका सुगम परिचय—

परकीयभाव जाननेमे देखिये करणानुयोगकी यह बात बडी मदद दे रही कि जो निमित्तभूत कर्मविपाक हैं, इन विपाकी कर्मोंमे सब पूरे अपने स्वरूपमे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग सब उनमे पडे हुए है। जिस समय बांधा था तब ही ये पड गए थे। उनकी स्थिति पूरी होती है और वे अपने विपाकमे आते है। जैसे किसी दुष्टको घरमे ठहरा लेवे तो जितनी देर वह घरमे ठहरा है वह भले ही दबा हुआ है और घरसे निकलता हुआ अपनी कलाका परिचय देता हुआ जायगा ऐसे ही ये अनेक प्रकारके अनुभव वाले कर्म जब तक आत्माने ठहरे हैं तब तक ये दबेसे पडे हैं, जिस समय ये कर्म इस घरसे निकलते हैं तब ये अपना विपाक बरसाते है। उदयके मायने क्या ? निकलना, जैसे सूर्यका उदय होरहा मायने सूर्य निकल रहा, अपने स्थानको छोड रहा ऐसे ही कर्मके उदयके मायने क्या ? वे कर्म अब यहाँ से निकल रहे, तब ही तो एक दिन कहा था कि पुण्यके उदयसे वैभव मिला इसका अर्थ है पुण्यके निकलनेसे वैभव मिला, और चूकि वे पुण्यकर्म निरन्तर निकलते रहते हैं, उनके निकलनेका तांता बना हुआ है इसलिए पुण्य वैभव भी बना हुआ है। कोई कष्ट होता है तो यह पापके उदयसे हुआ, मायने जो पापकर्मकी सत्ता थी उनका निकलना चल रहा और पापकर्मके निकलनेसे यह कष्ट हो रहा, अब पापकर्मके निकलनेका एक तांता सा बना हुआ है इसलिए बहुत काल तक कष्ट रहता है। तो जब कर्मविपाक उदित होता है तो कर्ममे कर्मका अनुभाग खिलता है, वस्तुके स्वरूपका ऐसा निश्चय रखे कि किसी भी समय, किसी भी परिस्थितिमे, किसी भी घटनामे एक पदार्थ दूसरे पदार्थकी परिणतिको नही कर सकता, मगर विकार जब जब भी होते हैं तो उपादान ऐसी योग्यता वाला है, इस प्रकारकी वह पर्याय योग्यता है कि वह उपादान किस निमित्त प्रसगमे वह अपना कैसा रग बदल लेता है, कैसा अपनेमे परिणाम कर लेता है, बस यह ही सर्वत्र नजर आ रहा है। तो वहाँ कर्ममे कर्मका विपाक जगा तो यो समझिये कि ठीक जो दर्पणके आगे लाल कपडा किया तो वह लाल लाल कपडा है, उसके सान्निध्यमे, दर्पणको स्वच्छताका विकाररूप लाल रग है, ऐसे ही हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि ये सब कर्ममे पडे हैं, कर्ममें उदित हो रहे हैं,

कर्मका स्वरूप रग ढग है यह सब कर्मके हिसाबका, परके सान्निध्यमे इस जीवकी स्वच्छताका ऐसा विकार हुआ, वह विकार ही हमको एक इसका ज्ञान कराता कि ऐसे-ऐसे कर्मका उदय है, निमित्तका ज्ञान नैमित्तिक कराता है ? तो निमित्तका ज्ञान तो नैमित्तिक के ज्ञानसे बनाकि अहो ऐसा निमित्त है, पर वह नैमित्तिक निमित्त सन्निधानमे हुआ इस कारणसे नैमित्तिक कहलाता, तो इस विधिसे जो जान रहा है उसको समझमे ये कषाय परभाव हैं, यह भलो भाँति घर कर जाता, परभाव है, इससे मेरा क्या मतलब ? मैं तो एक चैतन्यमात्र तत्त्व हूँ ।

१५३२—परभावोके वैविध्यका अन्य दिग्दर्शन—

ज्ञानी जानता है कि मैं चिन्मय भावमात्र हूँ और ये सब औदयिक भाव परभाव हैं, ऐसा जानता हुआ कोई ज्ञानी किस परभावको कह सकेगा कि यह मेरा है, जैसे यहाँ लोग दूसरेके लडकेको कब कहते है कि यह मेरा है, कभी खुदके लडकेका और पडोसके लडकेका झगडा हो जाय और उसमे यह अपने लडके को डाटे और मारे और दूसरे लडकेको कुछ न कहे तो क्या आप यह जान रहे है कि इसको उस दूसरे लडकेसे प्रेम उत्पन्न हुआ है इस कारण दूसरेके लडके को यह कुछ नही कह रहा । अपने लडकेसे प्रेम है तेज इस कारण अपने लडकेको मार रहा है । भीतरी बात देखो, भले ही देखनेमे ऐसा लग रहा कि यह बडा निष्पक्ष है, इसको कुछ भी ममता नही है अपने लडकेमे, तो देखो यह अपने लडकेको ही मार रहा और उसे बडा पक्ष है अपने लडकेका, उससे बडी ममता है सो मार रहा । वह एक लौकिक नीतिकी विधि है, परिणाम तो भीतरके भीतर है, कुछ बाहरी चेष्टासे क्या अदाज कर सकते ? कोई लडका छत की मुडेर पर खडा, जरा सा झुक रहा है माँने देखा तो वह झट उठती है यह कहते हुए कि अरे मरजा और लडकेको जोरसे अपने पैरोमे या गोदमे या यो ही वही छतमे पटक देती है, अब बताओ क्या उसके द्वेष है उस बालकसे ? अरे उसे बडा राग उत्पन्न हुआ, बडी तेज ममता है इसलिए वह मारती है उस लडकेका, तो यह बाहरी प्रवृत्ति है, इसमे हम क्या निर्णय बनाये ? कोई पुरुष द्वेषी है, सुहाता नही, परिस्थिति कुछ और है तो वह बडी प्रच्छी बात कहता है, बडे प्रेमकी बात बोलता, मगर उसका कुछ निर्णय है क्योंकि वह सुहाता नही है ? माँ ने मरना कहा तो भी द्वेष सिद्ध नही हो रहा, एक मायावी जोवने प्रेमकी बात भी कही तो भी उससे प्रीति सिद्धि नही होती बाहरी चेष्टाओं से हम क्या जानें ?

१५३३—निमित्तसान्निध्य व स्वच्छताविकारका बोध और निष्पादन—

ये परभाव जो भीतर उत्पन्न हो रहे, जितनी तरहके होते जीवके उतनी तरहके कर्मके विपाक हैं । यहाँ कार्यको देखकर कारणका अनुमान होता, पर कार्यसे कारण हो सो बात नही । काममे तो कारणमे कार्य हुआ, मगर कार्यके ज्ञानसे हुआ कारणका अनुमान । अगर नदीमे पूर आ गया तो पूर देखकर यह ज्ञान करते कि ऊपर बडी तेज वर्षा हुई, तो क्या वहाँ यह कहेगे कि पूर आनेसे तेज वर्षा हुई है यह तो न बोला जायगा । पूर देखनेसे ऊपर वर्षा हुई है इसका ज्ञान तो हुआ मगर इधर वर्षा हुई है इसलिए पूर आया, यो चलेगी क्या बात ? तो ये परभाव इसी प्रकार तो है कि उस जातिके कर्मविपाक हुए, उस सान्निध्यमे इस जीवने अपनी स्वच्छतामे विकार बना लिया । ऐसा रोज देखते ही हैं कि दर्पणके आगे हाथ किया तो दर्पणमे उस प्रकारका स्वच्छता विकार बना, दर्पणके उस विकारको देखकर यह तो ज्ञान बनेगा कि पीछे उस लडकेने हाथ उठाया मगर यह न कहा जायगा कि दर्पणके फोटो वाले हाथसे लडकेका हाथ बना, किन्तु बच्चेका हाथ सामने आया उसका निमित्त नैमित्तिकका

प्रयोग निमित्त नैमित्तिक ढगसे ही होगा। नैमित्तिकके ज्ञानसे निमित्तका ज्ञान हुआ। किन्तु निमित्तके सान्निध्यमे नैमित्तिक कार्य हुआ यही विधान निष्पत्तिका है। जाना, ये परभाव हैं, अत्र यह ज्ञानी उन परभावोको क्यो ग्रहण करेगा ? वह जानता है कि इनमे मेरा स्वत्व नही है। मैं तो एक परम ज्योति चिन्मय मात्र हूँ।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि सेव्यताम्, शुद्ध चिन्मयमेकमेव परमं ज्योति सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणास्तेहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

१५३४—उदात्तचित्त मोक्षार्थियोको अपरिवर्त्य एक सिद्धान्तकी सेवाका आदेश—

जिनका चित्त और चरित्र उदात्त है, श्रेष्ठ है ऐसे मोक्ष चाहने वाले पुरुषोको एक चिन्मात्र अतस्तत्त्वकी ही सेवा करना चाहिए। जिनका चित्त उदात्त है उनको सम्बोधा गया है, उनके लिए आचार्य देवने निर्देश किया, क्योकि जिनके चित्तमे श्रेष्ठता नही, जिनका चित्त माया (कपट) से उलझा हुआ है, मोह ममताकी वासनामे जिनका चित्त अनुवासित है ऐसे चित्त वालोको समझानेके मायने जैसे अहानेमे कहते हैं कि भैंसके आगे बीन बजाना। होगा कोई ऐसा आदमी, साँपके आगे तो बहुत बीन बजाते मगर कोई भैंसके आगे बजाने लगे तो उसे कुछ भान नही होता, तो ऐसे ही पात्रको सम्बोधा है, और इससे यह शिक्षा लेना है कि अपना पहला काम है अपने हृदयकी सफाई रखना जिसके चित्तमे उदात्तता नही उनको धर्ममे प्रगतिका कोई मौका नही। जब संसार छोडनेका हम प्रोग्राम बनाते हैं, मुक्तिमे जाना चाहते है तो मोक्ष जानेका तो हम मनमे भाव रखें और यहाँ ससारी जीवोमे मेरा तेरा अच्छा बुरा अथवा किसी भी प्रकारका ईर्ष्या विरोध मात्सर्य कुछ भी चित्तमे चलें तो भला इतना तो सोचना चाहिए कि हम सदाके लिए इस ससारको छोडकर जानेके प्रोग्राममे लगे हैं या मोक्ष जानेके। तो जिनको हम छोडकर जा रहे उनमे हम निग्रह विग्रह क्यो करें मायने उनमे हम माया कपटकी बात क्यो बनायें? सबको एक समान निरखें, अपने नाना प्रकारके सुकर्तव्योसे चित्तको श्रेष्ठ बनाना हमारा पहला कर्तव्य है। चित्त श्रेष्ठ बनेगा मिथ्यात्वके दूर होनेसे और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोके मद होनेसे। कषाय सब दूर हो गए तब तो और भी उत्कृष्ट है, मगर इस समय हम आपकी कषायें दूर हो जाये यह जरा सम्भावित नही है इसलिए इन कषायोको मद तो कर लिया जावे और यह सम्भावना है कि हम मिथ्यात्वको मूलसे उखाड दें, क्षायिक सम्यक्त्व आज नही है मगर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो होता है, औपशमिक सम्यक्त्व तो होता है। यो एक बार अपने अन्दर विराजमान उस चिन्मात्र तत्त्वके दर्शन तो कर लीजिए। अब तक जगतमे बहुतसे पदार्थोंको शरण मानते आये, मगर ज्यो ज्यो उन्हें शरण मानते गये त्यो त्यो वे असहाय बने और शरणकी मान्यता छोड दो तो अब यह शरण मिल जायगा अपने आपका। बाह्य पदार्थोंमे शरणकी मान्यता करना अपने आपको अशरण बनाना है। चित्तमे उदात्तता आये, कषाये मद हो, मिथ्यात्व दूर हो।

१५३५—उदात्तचरित्र मोक्षार्थियोको अपरिवर्त्य हितकारी एक सिद्धान्तकी सेवाका आदेश—

उदात्त चित्तकी तरह जिनका चारित्र भी उदात्त है, श्रेष्ठ है, व्यसनोसे रहित है, पापवासनासे रहित है ऐसे मोक्षार्थी पुरुषोको आचार्य महाराज सम्बोध रहे हैं, कि एक चिन्मय तत्त्वकी सेवा करो। देखिये कुछ अपना चारित्र उत्तम न हो, योग्य न हो तो वहाँ सम्यक्त्वकी पात्रता नही होती, भले ही सयमासयम सम्यक्त्वके बाद या साथ होता है, उसकी बात नही कह रहे, मगर पहले ही अज्ञान अवस्थामे भी यदि कोई सप्त व्यसनोका सेवन करने वाला है, जुवा, मदिरा, मास, वेश्यासेवन आदिमे

आशक्त है व: पुरुष आत्माकी पुन लेनेका पात्र कैसे हो सकता है ? बहुत दिनो तक तो यह रिवाज था कि जो सप्तव्यसन वाला हो वह भगवानकी पूजा नही कर सकता, जब पुराने बडे लोग थे तो वहाँ कुछ कायदे थे, जो वेश्यागामी हो, परस्त्रीसेवन करने वाला हो, मास भक्षी हो, शराब पीता हो उसको पूजा करने की मनाही थी। जो पुराने लोग होगे उन्हे ख्याल होगा, तो कुछ चरित्र ऐसे है जो प्रारम्भिक होते, जिन्हे कहते पाक्षिक, याने जैन दर्शनका अगर पक्ष है कि मैं जैन हूँ, मुझे कुछ करना चाहिए वह प्रतिमाधारी नही हो, किन्तु पाक्षिक तो है, उसका भी चारित्र उज्जवल होता। तो जिनका चित्त और चारित्र उज्जवल है ऐसे मोक्षार्थी पुरुषोको एक इस चिन्मय अतस्तत्त्वकी भावना करना चाहिए, क्योंकि यह मैं एक परम ज्योतिमात्र हूँ, मै कौन हूँ, इसके उत्तरमे अगर यह बात आये कि मै मिट जाने वाला हूँ, मैं वह हूँ जो मिट जाता हूँ, ऐसा तो कोई उत्तर देगा भी नही, चाहे वह कितना ही बरबाद हो मगर भीतरमे यह चाह न करेगा कि मैं वह हूँ जो मिट जाने वाला हूँ, हर एक कोई अपनेको ध्रुव चाहता है और क्रियाकलापोमे देख लो, किसीको अगर कहा जाय कि भाई तुम खोचा फेरते हो ५०) की अपनी पूजीमे तुम दिन भर अपना उपाय करते हो, हम तुमको कल दिन भरके लिए पूरा राज्य सौपे देते हैं मगर एक शर्त है कि परसोके दिन तुमसे हम सब कुछ छुड़ा लेंगे, और तुम्हारे पास जो ५०) की पूजी है उसको भी छुडा लेगे, तो क्या वह इस बातको पसद करेगा ? न करेगा। अरे वह तो यह कहेगा कि हमको तो वह खोचा ही अच्छा है, जो सदा निभता रहे वही स्थिति मैं चाहता हूँ, यह जीव इन लौकिक प्रसगो मे भी कभी न चाहेगा कि मैं एक वर्षको बडा बन जाऊँ और दूसरे वर्षमे सब गिर जाय। चाहे गिर जाय यह उदयकी बात है मगर किसीको यह प्रतीक्षा नही। अपने आपके बारेमें ध्रुव रहनेकी आकाक्षा है। सो भाई यही तो कहा जा रहा है कि जो ध्रुव है उसे मानो कि यह मैं हूँ तब तो बात बनेगी और अध्रुवका सग्रह करे और अपने मे चाहे कि मै ध्रुव रहूँ, सो कैसे बने। ध्रुव का आश्रय लो, तुम ध्रुव ही तो हो। ध्रुव तत्त्व है एक चैतन्यमात्र स्वरूप।

१५३६—चिन्मय ध्रुव तत्त्वकी सेवाका ही एकमात्र सिद्धान्त—

एक बात और समझें, हमारा उपयोग किसी तत्त्वका आश्रय करता है, उस पर उपयोग टिकता नही है, किसी एक बात पर यह उपयोग जमकर रहता नही है यह गल्ती है हमारी कि हमारा उपयोग जमता नही है तो इस ओरसे कमी आयी कि नही ? और उपयोग उसको विषय करे जो विषय खुद टिकता नही है, तो अब यहाँ दोनो ओर से आफत आ गई। जसे ये बाहरी दृश्यमान पदार्थ अध्रुव है, विनाशीक हैं, जिन पर हमारा अधिकार नही उनको हम जानते हैं, सोचते हैं, उपयोग उनको विषय करता है, उनका आश्रय लेता है तो पहले तो यह उपयोग ही चचल है और फिर जिसका आश्रय किया वह भी चचल है, अब यहाँ से ये विषयभूत पदार्थ खिसके कि लो अब उपयोगको आश्रय क्या रहा तो उपयोग भी खिसका, उपयोग भी मिटा। यह उपयोग खुद हटनेकी आदत बनाये हुए हैं। तो इस वक्त कमसे कम इतनी तो एक गुंजाइस बनावें कि हमारा उपयोग अगर हटता है, नही टिकता तो एक ओर से गल्ती है, सो रहे मगर विषयकी तो गल्ती न करें, विषय तो ध्रुव पदार्थका करे और अपने स्वरूपमें करे तो वहाँ केवल एक ओर से ही तो चचलता चलेगी। इसमे इस ध्रुव तत्त्वकी ओरसे इस अत. स्वभाव की ओरसे धोखा तो न होगा कि यह यहाँ से खिसक जायगा इसलिए आश्रय करे तो उस ध्रुव चैतन्य स्वरूपका आश्रयले, और यह बहुत सम्भावना है कि ध्रुवसे आश्रयले तो यह उपयोग भी कभी सतत धारासे अच्छी तरह ध्रुव बन जायगा। यह नया नया बनता है, यह ध्रुव नही होता, मगर एक धारा

मे ज्ञान चले तो वह ध्रुवज्ञानी ही है। तो हम आपको एक निर्णय रखना है जिन्दगीमे कि हमारा शरण हमारा रक्षक, हमारा आश्रेय, मेरेमे ही विराजमान जो सहज स्वरूप है बस उसका सहारा लेना है। अन्यभाव अन्य पदार्थ आश्रयके योग्य नही है, यह अपना निर्णय करें फिर परिस्थितिवश हमको शुभोपयोग करना होगा, हमको क्रिया व्रत तप आदिकमे से गुजारना होगा। गुजारें मगर लक्ष्य अपना यह ही रहे कि मेरा जो एक सहज स्वरूप है बस वही मेरा सत्य है, वही मेरा शरण है, वही स्पष्ट है, स्वाधीन है, निरपेक्ष है, निजकी बात है, इसके अतिरिक्त जो विभाव आते हैं वे अध्रुव हैं, तो यह है सिद्धान्त।

१५३७—मुख्यसिद्धान्तसाधक सिद्धान्तोको मुख्यसिद्धान्तसाधनाके लिये कदाचित् प्रयोजनवत्ता—

हम कौनसा सिद्धान्त लेकर जीवनमे चले ? ऐसा कोई प्रश्न करे कि एकमात्र जिसको बदल न हो वह बतलावो। तो वह है यह सिद्धान्त कि अपना जो एक सहज चैतन्यस्वरूप है वहाँ दृष्टि दें कि मैं यह हूँ, यह घूमनेवाला, यह शरीर वाला, यह कषाय वाला, यह कर्मबध वाला, यह मैं नही हालाकि परिस्थिति ऐसी चल रही है मगर स्वरूप मेरा यह नही, मैं स्वरूप मात्र हूं। बीते, वह बात अलग है, मैं एक परम ज्योतिस्वरूप हूँ, अन्य भाव सब मेरे से पृथक् है, यह है सिद्धान्त, जिसके अनुसार हमको चलना है। इसके अतिरिक्त और भी सिद्धान्त बनते हैं मगर वे बदल जाते हैं, जैसे किसी पुरुष को समझाया कि भाई देखो तुम देवदर्शन किया करो और इसके बिना जीवन बेकार है, तो उस कालमे वह उपादेय है, करना, मगर देवदर्शन या अन्य-अन्य बातें यही करते रहना है क्या अनन्तकाल तक, इसका तो उत्तर दीजिए।

१५३८—विस्मयतत्त्वसेवातिरिक्त अन्य भावकी ससीम उपासनीयताका एक उदाहरण—

एक छद है तवपादौमम हृदये, मम हृदय तव पद्द्वयेलीन तिष्ठतुजिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसप्राप्ति। इसीका ही एक अनुवाद है—तुवपदमेरे हियमे, मम हिय तेरे पुनीत चरणोमे। जब शुरू शुरूमे हम सागर विद्यालय पहुचे, उस समय हमारी उम्र कोई पौने आठ वर्षकी थी, तो वहाँ गुरू गणशप्रसाद वर्णीजी हमारी परीक्षा लेने लगे—एक सस्कृतका छन्द पढवाया। वह था यही तव पादौमम हृदये मम हृदय तव पदद्वये लीन, तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सप्राप्ति'। और कहा इसका अर्थ करो अब हमने सस्कृत तो पढा न था पर हिन्दीमे ऐसा ही सुन रखा था घर पर चाचा पूजा पढाया करते थे सो कहा कि ऐसा ही हिन्दीमे भी तो कहा है "तुव पद मेरे हियमे मम हिय तेरे पुनीत चरणनमे।" तो वहाँ सही उत्तर पाकर गुरूजी हम पर प्रसन्न हुए और झट पास कर दिया और छठवी कक्षामे हम को भर्ती कर लिया। हिन्दीमे ऐसा है ना तुव पद मेरे हियमे, कि हे प्रभो तुम्हारे चरण मेरे हृदयमे रहे और मेरा हृदय तुम्हारे चरणोमे रहे, क्या अनन्तकाल तक के लिए आप चाहते हो कि प्रभुके चरण मेरे हृदयमे रहे ? देखो इस ज्ञानी पुरुषको भगवानकी मुहजोरी करनेमे जरा भी लाज नही आयी। यह बोला कि तब तक रहें प्रभुके चरण मेरे हृदयमे जब तक कि मेरे को मोक्षपदकी प्राप्ति न हो, भला किसी धनीसे थोडा ऐसा भी तो कहो कि हम आपकी तब तक सेवा करते है जब तक कि हम आपसे अपना स्वार्थ न सिद्ध कर लें। ऐसा सुनकर वह धनी कुछ भला मानेगा क्या ? अरे उसे तो यह बात सुनकर बुरा लगेगा, पर भगवान किसीकी बात सुनकर बुरा नही मानते कि यह ज्ञानी मुझको यो कह रहा जानकर, और इस ज्ञानीको कुछ सकोच नही, जब एक सिद्धान्त, एक रास्ता, एक मार्ग प्रभुत्वका मिला, तब वहाँ सकोच की कुछ बात नही, भगवान दूर नही हैं भक्तसे, जो बहुत दूर हो उससे डर लगता है, जो दूर नही रहता है उससे डर मिट जाता है। भगवान भक्तसे दूर नही

है, भगवानके निकट है भक्त, इस कारण एकदम साफ कह रहा है कि "तुव पद मेरे हियमे, मम हिय तेरे पुनीत चरणोमे, तब लौं लीन रहे प्रभु'" 'जब लौ प्राप्ति न मुक्ति पदकी हो । प्रभु तत्त्वस्वरूप हैं, यह तत्त्व प्रेमी है, वहाँ सकोचको बात नही है ।

१५३९—विभावोंसे लगाव हटनेपर आश्रयभूत पदार्थोंसे हटावकी स्वयनिष्पन्नता—

तो एक चैतन्यमात्र तत्त्वकीउपासनाके अलावा जितने भी भाव हैं—शुभोपयोगके हो, अशुभोपयोग के हो, ये सभी भाव परभाव हैं और ये मेरे स्वरूप नही हैं मेरे स्वरूपसे पृथक लक्षण वाले हैं वे सब भाव मैं नही हूँ, अब देखिये अपनी जिन्दगीमे जहा कर्तव्य यह है कि अपनेमे उठने वाले जो औदयिक भाव हैं ये औदयिक भाव याने कर्मविपाकके उदयकालमे जो इस जीवके प्रतिफलन और विकल्प जगे हैं वे सारे भाव मेरे नही हैं तो फिर और मेरे क्या होगे ? इन भावोमे से, ममता हट जाय तो बाह्य सारे पदार्थोंमे ममता करेगा कौन ? जब अपने आपमे उत्पन्न हुए इन औपाधिक भावोको भी अपनाया नही और उसकी विभिन्नता स्पष्ट नजर आ जाय तब फिर बाह्य विषयोमे ममता करेगा ही किस तरहसे ? जैसे एक बच्चो की कहानी है कि किसी गीदडनी ने (स्यालिनीने) एक शेरकी गुफामे बच्चों को जन्म दिया । अब स्यालने सोचा कि इसमे तो शेर आयगा तो बच्चे खा जायेगा, सो उसमे बचने का एक उपाय रचा । क्या किया कि स्यालिनी को तो सिखा दिया कि यहाँ जब शेर आवो तो तुम बच्चो को रुला देना जब हम पूछे कि ये बच्चे क्यो रोते हैं तो कहना कि ये बच्चे शेरक मास खानेक मांगते है' बस हम काम बना लेंगे ।. .ठीक है । अब वह स्याल तो वही ऊपर किसे टीलेपर बैठ गया, जब कभी शेर आये तो स्यालिनी नीचेसे बच्चोको रुलावे, ऊपरसे स्याल बच्चोक रोनेका कारण पूछे स्यालिनी बोले कि ये बच्चे शेरका मास खानेको माँगते तो झट शेर डरके मारे दूर भाग खडे हो । यो अनेक शेर तग आ गए । एक दिन कई शेरो ने सलाह किया कि देखो यह जा ऊपर टीले पर स्याल बैठा है इसकी सब बदमाशी मालूम होती है, चलो अपन सब चलकर उसको पकड कर मार दें। 'ठीक है । आखिर आ तो गए मारने, पर उस टीलेपर चढें कैसे ? सो सलाह हुई कि एक शेर पर एक, यो सब चढकर ऊपर पहुचे और मार दें। पर नीचे कौन शेर खडा हो ? 'यह लगडा शेर, क्योकि यह ऊपर नही चढ सकेगा । अब नीचे तो लँगडा शेर खडा हुआ और उसके ऊपर एक पर एक चढ गए । जब ऊपर पहुचने ही वाले थे कि स्यालिनीने झट बच्चोको रुला दिया, स्यालने पूछा ये बच्चे क्यो रोते ? तो स्यालिनी बोली, ये बच्चे लगडे शेरका मास खाने को माँगते । तो यह बात सुनकर लगडा शेर डरा, नीचेसे खिसका तो सारे के सारे शेर भद भदकर गिरे और भगे । तो ऐसे ही इन औदयिक भावोको लगडा शेर जैसा समझो, ये मजबूत नही है, आत्माके स्वभावसे ये नही हुए, आत्मा उन्हे अगीकार नही करता और कर्मोंकी यह परिणति नही । हुए कर्मोके उदयकालमे और कर्मोका निमित्त पाकर ही हुए मगर कर्मकी वह परिणति नही, और कर्मको भी परिणति हो, जो कर्ममे है तो वह भी तो अध्रुव है । इसका पाया मजबूत नही है, यदि ऐसा यह लगडा शेर यहाँसे अलग निकल जाय तो हम आप पर जो ये बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धके उपद्रव बन रहे है वे सब शान्त हो जावे ।

१५४०—चिन्मयभावातिरिक्त अन्य भावोकी परभावरूपताका दिग्दर्शन—

देखो—यह मैं आत्मा एक शुद्ध चैतन्यमात्र तत्त्व हूँ । शेष जो अन्य भाव हैं ये सब मेरेसे पृथक् लक्षण वाले है, मेरे स्वरूप नही हे । कौन कौनसे भाव ? तो ये ही भाव सब मार्गणा हैं गुणस्थान हैं । जो जो भी बाते चल रही हैं ये सब पृथक् लक्षण वाले हैं । आप कहेगे, कि गुणस्थान के कैसे पृथक् लक्षण

है, ये तो बडे अच्छे हैं। अब १२ वाँ गुणस्थान हो गया अब १३ वाँ गुणस्थान हो गया। देखो १३ वें गुणस्थान तक आश्रव है। ११, १२, १३ गुणस्थानमे ईर्यापथाश्रव है, यहाँ स्थिति न बनेगी। आया राग और गया। आप देखो समयसारमे बताया कि मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग ये चार आश्रव है, और उसके भेद है १३। पहले गुणस्थानसे १३ वें गुणस्थान तक। अच्छा तो किस विधिमे देखना ? उन गुणस्थानोमे जो विकास है- वह विकास तो है मगर उसको मुख्यतासे न देखना, किन्तु वहाँ जो कमी है केवल उस परविचार करना। भगवान हो गए, योग है, एक हो ढगकी बात कहो। तो जो कमी रह गई है वह है एक कर्मकी छाया, कर्मरस, वह गुजर रहा और वही आश्रवका रूप है। प्रत्येक गुणस्थानमे जो कमी है उस कमीसे आश्रव कहा गया है, वह स्वभावरूप तो नही है और वह गुणस्थान बना ही उस कमीके कारण। इसका विकास होनेके बावजूद जो कमी रह गई उस कमीने गुणस्थानका नाम धराया, रूप बनाया और वह अश आश्रवरूप है। तो एक चैतन्यमात्र अतस्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे भाव प्रतिकूल लक्षण वाले हैं। मैं हूँ चैतन्यस्वरूप और क्रोधादिक भाव ये हैं विभावरूप। ऐसा अपनेमे और परभावोमे भेद जानकर अपनेको ग्रहण करें, ग्रहण करनेके मायने उस रूप अपने को अनुभावना और शेष परभावोका परित्याग करें याने उनकी उपेक्षा करना।

१५४१—समग्र परभावोकी परद्रव्यताके रूपसे दर्शन—

वे परभाव क्या है ? वे समग्रभाव परभाव है, परद्रव्य है, अरे जिसमे मुख मोडना है, जिसकी उपेक्षा करना है उसको तो भले प्रकार अतिशय करके अतिरेक करके भी एक परतत्त्वके निर्णयमे ले चले ऐसा लोग करते ही हैं। अभी कोई स्वर्ण बेचने वाला आया और उस स्वर्णको किसी जौहरी ने लेकर अपनी कसौटीपर कसा, उस जौहरी को रुचि थी शुद्ध स्वर्णका व्यापार करनेकी सो उसने जब कसौटीमे कसकर देखा तो उसमे कोई दो तीन आनेभर खोट थी सो वह झिलाकर बोला—अरे तू क्या पीतल लाया ? अब भला बतलाओ वह पीतल थी क्या ? था तो स्वर्ण बस जरा सी खोट थी, लेकिन वह तो जौहरीके एक मूडकी बात थी सो वैसा कहा, उस समय उसकी वैसी ही दृष्टि थी, शुद्ध स्वर्ण निरखनेकी उसकी रुचि थी, ऐसी दृष्टिमे अशुद्ध पदार्थ उसके लिए परद्रव्य हो गया। याने जिस पर द्रव्यका निमित्त पाकर ये परभाव हुए उनको उस खतौनीमे डाला इस ज्ञानीने। जानो, तुम परद्रव्य हो स्वरूप नही हो, अपने आपको अति विशुद्ध चैतन्यमात्र निरखनेके मूडमे यह ज्ञानी पुरुष निर्णय दे रहा है कि वे सारे भाव समग्र परद्रव्य हैं, उससे मेरी कोई रुचि नही। एक चैतन्यमात्र तत्त्वको निरखना यह है सिद्धान्त, जो अकाट्य है, जो जीवनमे बदलनेके काबिल नहीं। बढते चले जावो, यह ही बात मिलेगी अन्त तक कि यह चिन्मय, जब शरीरादि निगाहमे नही रहता तब केवल एक वह चिन्मय चैतन्यमात्र तत्त्व ही दृष्टिमे रहता। बस इस सिद्धान्तका सेवन करना चाहिए कि मैं चैतन्यमात्र ही हूँ, अन्य भावरूप नही, भावना बने, निरन्तर अभ्यास बने, ध्यान करें, कोई समय निकालें, बार बार ऐसा भीतर सोचें या कही पडे हुए भी किसी भी जगह सोचे, आत्म चिन्तन चलना चाहिए अन्यथा यह माया यह सब मिट जायगी, मरण हो ही जायगा और इस अमूल्य मानव जीवनका फिर लाभ जो मिल सकता था वह न पा सके तो आगे क्या भवितव्य होगा, सो यह ससार जो दिख रहा है दुर्दशाके लिये यह ही प्रमाणभूत है कि ऐसा ही भवितव्य होगा।

परद्रव्यग्रह कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये सवृतो मुनि ॥ १८६ ॥

१५४२—परद्रव्यके ग्रहणसे अपराध—

प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि आत्माका तो एक शुद्ध चिन्मयभाव ही सर्वस्व है, और ये उत्पन्न होने वाले नैमित्तिक भाव क्रोधादिकभाव ये मेरे नहीं हैं और इसमें यहाँ तक कह दिया कि ये समग्रभाव तो परद्रव्य हैं, वे यद्यपि भाव-भाव है, द्रव्य नहीं है और वे हैं आत्माके ज्ञानविकल्परूप, किन्तु वे नैमित्तिक है। जिस उपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं उन भावोंको दूर करनेके अभिप्रायसे, उनकी अत्यन्त उपेक्षा करनेके आशयसे उन भावोंका सम्बंध जोड़ा निमित्तमें। परिणतिकी वर्तमानता से ये मेरे भाव हैं। जैसे यहाँ भी तो दर्पणमें फोटो निरखकर कहते ना कि यह मेरी फोटो है, यद्यपि वह फोटो परिणमन दर्पणका परिणमन है, पर दर्पणकी अत्यन्त स्वच्छता ज्ञानमें रखनेके लिए उस निमित्तनैमित्तिक नातेमें उसको निमित्तके पास पहुँचाया जाता है। अच्छा, और फिर इतना ही नहीं किया, किन्तु उसको उस रूप मानकर कहते है कि ये परभाव परद्रव्य है। तात्पर्य यह है कि अपना भाव है शुद्ध चेतनाप्रकाश और उसकी नैमित्तिक दशायें जितनी हैं वे सब औपाधिकभाव हैं, ये है परद्रव्य। सो कहते हैं कि परद्रव्यको जो ग्रहण करेगा वह अपराधी है और जो स्वद्रव्यको ग्रहण करेगा वह निरपराधी है। जैसे लोकमें भी जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराध ही तो करता है, विकल्पजाल होता है, उसके बधकी शका रहती है, बंध होता है, और जो पुरुष शुद्ध आचरण से रहता हो किसी दूसरेकी चीजको नहीं चुराता, नहीं ग्रहण करता वह अपराधी नहीं है। उसके बधकी शका नहीं, ऐसे ही आत्माका जो भाव है, स्वभाव चैतन्यमात्र उसको जो ग्रहण करता है उसके बधकी शका नहीं। और, जो अपने इस स्वभावको त्यागकर, इसकी सुध छोड़कर इन औदयिक कषायादिक भावोंको जो ग्रहण करता है याने इनरूप अपनेको मानता है उसके बधकी शका होती है, बध है। क्यों होता बध ? यह अपराधी है। अपराध मायने परद्रव्यको ग्रहण करना।

१५४३—सापराध व निरपराधका निर्देशन—

अपराध शब्दका क्या अर्थ है ? अपमायने दूर हो गया, अपगत हो गया, राधा मायने सिद्धि जिसकी, यानी आत्माकी दृष्टिको राधा कहते हैं। वह राधा जिसके पास नहीं है वह पुरुष अपराधी है। और राधाको लेले तो निरपराध हैं। राधाके मायने आत्मदृष्टि, आत्मोपलब्धि। अपने ज्ञानमें आत्मस्वरूप आये उसे कहते हैं राधा। भगवान पार्श्वनाथ राधेश्याम हैं, क्योंकि श्याम तो वह हैं ही। भगवान पार्श्वनाथका रग बताया गया श्याम और उनके राधा और लगी हुई है, सिद्धि, आत्माकी उपलब्धि, सो वे प्रभु पारसनाथ राधेश्याम है। यहाँ भी हम आप बनाते ना राधेश्याम। शरीरकी बात नहीं कह रहे किन्तु यहाँ इन कषायोंको हटानेके लिये, मारनेके लिए हम श्याम बनाते, काला बनाते, ऐसा विशुद्ध परिणाम होवे कि ये रागादिक भाव दूर हो तो क्या मिले राधा, सिद्धि, आत्माकी दृष्टि। सो यह राधा जिसके पास नहीं वह है अपराधी। और जिसको राधा मिल गई, कहाँ मिल गई ? कहीं बाहर नहीं है, अपने आपके स्वरूपमें है यह दृष्टि बस वह निरपराध है। अच्छा यह आत्मा अपराध क्यों करता है ? यह खुद अशुद्ध होता हुआ अपराध करता है। शुद्धकी दृष्टि हो वहाँ भी अपराध नहीं, फिर जो शुद्ध हो उसका तो अपराध ही क्या ? भगवान अरहत सिद्ध ये पूर्णतया निरपराध हैं, शुद्ध हैं। सो यह जीव अशुद्ध होता हुआ परद्रव्योंको ग्रहण करने रूप अपराध करता है।

१५४४—वैभाविक भावोंकी परद्रव्यरूपता—

जिसका ग्रहण करना अपराध है वह परद्रव्य कौनसा ? आत्मामें उठे हुये क्रोधादिकभाव, इनकी

चर्चा है यह। कही दूसरेके घरमे कोई चीज धरी हो और उसको उठाये तो उसे अपराध कहे, इसकी चर्चा नही है। अपराध तो वह भी है मगर चीज उठानेसे अपराध नही। दूसरेकी चीज लेनेका भीतर मे जो भाव बना, और जो ऐसे विभावोको अपना रहा, अपराध कर रहा, वह चोर। बाहरी प्रवृत्ति अपराध नही। बाहरी प्रवृत्तिसे पाप नही। तो फिर आप कहेगे कि फिर तो जो चाहे प्रवृत्ति करे, सो बात नही। भीतरमे हिंसा, झूठ, चोरी आदिकके भाव होना, पर पदार्थोंके प्रति राग होना, अपने आपमे इच्छा होना, लगाव रहना, अगर यह नही हैं और आपकी प्रवृत्ति हो रही है तो आपको बध नही है, पर निरीक्षण तो करें कि जितनी हम प्रवृत्तियाँ करते हैं उनके साथ हमारे ये खोटे भाव, ये विभावके लगाव बने हैं, कि नही बने हैं ? वे तो बने हुए हैं, तो इस कारणसे पापका बध है। कार्माणवर्गणाये कर्मरूप परिणम जाती है, तो उसका निमित्त केवल जीवके विभाव परिणाम हैं। हाथ कैसे उठायें पैर कहाँ रखे, यह निमित्त नही है कार्माणवर्गणाओमे कर्मरूप परिणमन होनेका, किन्तु मोह और योग है। तो सर्वत्र यह ही बात आप देखिये कि बाहरी पदार्थोंमे जो जीव लगा हुआ है उसके भीतर तद्विषयक राग है, उस रागके कारण बध है, हाथ उठाने धरनेके कारण बध नही, मगर तत्त्व को जो नही जानता और कही सुन लिया ऐसा कि देखो वहाँ लिखा था कि प्रवृत्तिसे बध नहीं होता तो करे खूब खोटी प्रवृत्तियाँ, पर यह भी तो सुना नही क्या कि प्रवृत्ति विषयक, पदार्थ विषयक राग हो और अपनेमे उठे हुए राग विभावमें लगाव हो तो कर्मबध होता है। यह तो अनसुनी कर देवें, और चूंकि विषयोमे राग है सो प्रवृत्तिसे बध नही होता, उसमे खूब लग जावे तो यह तो उसका मिथ्या-आशय है। परद्रव्यको ग्रहण करनेके मायने है आत्मामे उठे हुये विभावोको अपनाना। जो विभावोको अपनाता है, उनको ग्रहण करता है उसके निश्चित बध है।

१५४५—स्वभाव व परभावका निर्देशन—

बात बहुत पहलेसे यह चली आ रही है स्वभाव और परभाव। स्वभाव तो है चैतन्यप्रकाश और परभाव है कषायादिक, इसको पहले युक्तियोसे सिद्ध किया था, और यहाँ फिर बताया कि पर-भावोंको तो त्यागना चाहिए और स्वभावको ग्रहण करना चाहिए। फिर चलते हुये जब मानो यह गाडी नही चल रही, समाधिकी ओर। बहुत कष्ट भी आते, आत्मा अपने आपको ओर नही जा रहा, तब और तरहसे समझाया जा रहा कि ये परभाव हैं, सो ये सारेके सारे परद्रव्य हैं। परद्रव्योको जो ग्रहण करेगा वह अपराधी है। जो अपराधी है वह बँधेगा। जो बँधेगा सो ससारमे रुलेगा। ससारमे रुलनेमे देख लो कितनी आपत्तियाँ हैं। ये ही तो हैं ससारी जीव एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक। पशु–पक्षी आदिक। किसी पशुको खूब तेज पिटते देखे कोई तो आपका दिल जो एक दयासे भर जाता और दिल कप जाता। वह क्यो कप जाता कि आपके भीतर सबके स्वरूपको अपने स्वरूप जैसी प्रतीति बसी है कि जैसे यह पिट रहा और यह दुःखी हो रहा ऐसे ही दुःख होता है, इसका इसे अनुमान हो गया और इन कारणसे उसका दिल कप जाता है, भीतरमे भाव यह भरा है कि कही ऐसा हमपर पिटाई हुई तो क्या होगा, ऐसी भीतरमे बात बसी हुई है और उससे दिल काँप जाता है, तो स्वरूपसे देख लो अपने आपको, तो वहाँ कोई विकार नही, और होते तो स्वरूपपर ही विकार जैसे सनीमाके चित्र आते तो पर्देपर है पर वे पर्दे के चित्र नही ऐसे ही ये विभाव आते तो इस आत्मापर ही है, पर आत्मामे ये विभाव नही भरे है, उस स्वरूपको निरखिये।

१५४६—अपराधीकी शकालुताकी प्रकृति—

अन्तस्तत्त्वका निर्णय, उसका ज्ञान रखना, यह तो है स्वको ग्रहण करना, यह अपराध नही यह

बडी शान्तिमे है, इसको बधकी शका नही है, और जिसने उन परभावोको, पर द्रव्योंको ग्रहण किया, अपना माना, उसका अपराध हो गया, उसके बधकी शका है। एक बार सागर विद्यालयमे किसी की चीज कही गुम गई थी, किसी ने चुरा ली होगी, अब उस चीजके चुराने वाले को तलासना था, तो क्या किया कि एक छोटे कमरेमे कोई चीज ऐसी रख ली जैसे कोई डडा रख लिया और उसमे कपडा लपेटकर उसमे कुछ कजली जैसी काली या कोई सुगन्धित चीज लगा दिया और सब लडकोसे कहा गया कि देखो सभी लडके बारी बारीसे इस कमरेके अन्दर जाकर इस डडेको छूकर आयेगे। जिस लडकेने वह चीज चुराया होगा बस उसका हाथ डडेमे चिपक जायगा, वही चोर समझा जायगा। ठीक है, अब एक पडितजी यह परीक्षा करने बैठ गये कि कौनसा लडका इस डडेके छूता है कौन नही। जो न छुवेगा उसका हाथ कजलीसे काला न होगा और जो उस डडेको छू लेगा उसके हाथमे कजली लग जायगी अब सभी लडके बारी बारीसे छूने लगे उस डडेको। हम भी उन्हे लडकोमे से एक थे। खैर हम सबने तो छू लिया, कुछ बात न हुई, पर जिस लडकेने वह चीज चुराया था उसने मारे डरके डडा न छुवा, आखिर समझमें आ गया कि उस चीजको उसने ही चुराया था। वही अपराधी सिद्ध हुआ। तो जो स्वय अशुद्ध है वही परद्रव्यको ग्रहण करता है सो अपराध करता है। जैसे लोकमे भी जो आदमी स्वय गडबड विचारका है, खोटी आदतका है वही पुरुष दूसरेकी वस्तुको ग्रहण करनेका अपराध करेगा। जैसे जो जुवा खेलने वाला है, वेश्यागामी है, और-और ऐब हैं तो वह स्वय अशुद्ध है और अशुद्ध है तो वह चोरी करेगा, दूसरेकी वस्तु चुरा लेगा, ऐसा ही जिसका अशुद्ध उपादान है ऐसा जीव और वहाँ ही परभावका, परद्रव्यका समागम भी होता है तो वह उसको ग्रहण करेगा तो वह बँधा और जो बँधा उसकी दुर्गति है।

१५४७—परमार्थलाभके पौरुषीका लौकिक घटनाओंमें फसावकी असंभवता—

देखो आज हम मनुष्य हैं, हमको वाणी मिली है, हमको मन श्रेष्ठ मिला है, हम अनेक बातें विचार सकते है। यदि हमने मोक्ष लक्ष्यका भाव न बनाया और अपनी सामर्थ्यका सदुपयोग न बनाया और विवादमे, लडाईमे, कषायमे, मोहमे यह जिन्दगी बिता दी तो उसका फल क्या होगा ? जो ससार मे ये जीव दिख रहे दु खी ऐसी ही अपनी दुर्गति होगी। तो बोलो ऐसी दुर्गति, ऐसी कुयोनिमे जन्म मरण कुछ भला लग रहा क्या ? नही लग रहा तो कुयोनियोमे जन्म मरण करनेका काम न करना। वह काम क्या है ? मिथ्यात्व याने मोह तथा कषाय, इन दोनोको त्यागनेका अभिप्राय रखना और जैसे कोई चतुर सेठ किसी बडे भारी लाभके लिए, थोडी सी हानिको बडी प्रसन्नतासे सह लेता है, जिसमे वह जानता है कि इतनी अगर हानि हो जाय तो होने दो मगर इसमे लाभ बहुत है। तो उस लाभके ख्यालसे हानिको सह लेता है तो ऐसे ही यह चतुर ज्ञानी भव्य आत्मा यह अनन्तकाल तक मगल स्वरूप पायगा, आनन्दसे, शान्तिसे भरपूर रहेगा। इतने बडे लाभके लिये एक भवमे तृष्णाका त्याग, सयमकी आराधना, और और प्रकारके कष्ट उनमे रच नही, जिनको ज्ञानदृष्टि हो गई वे अपने ज्ञानमे रमना चाह रहे तो उसके लिए बाहर क्या है, फिर भी जो उपद्रव उपसर्ग कुछ भी चीज आये, उन्हे यह जानता है कि यह तो मामूली बात है, इसमे क्या बिगाड ? हो गया तो ठीक, न हो तो ठीक।

१५४८—शान्तिके रुचियोके परपरिणतिसे क्षोभका अभाव—

एक किसान किसाननी थे, तो किसाननी तो थी बडी चतुर और किसान था उजड्ड, १०-१२ साल हो गए थे उसका विवाह हुए। देखिये देहातियोका ऐसा ख्याल रहता है कि अगर अपनी स्त्रीको दो

चार बार पीट लिया तब तो समझते कि हम हम मर्द हैं और हमारा घर पर शासन है। तो उन १०-१२ वर्षोंमे उसे कोई ऐसा बहाना न मिल सका कि जिससे वह उस स्त्रीको पीट सके। एक बार उसने क्या किया कि जेठ अषाढके दिनोमे जब कि वह खेतोमे हल चला रहा था तो दोपहर के समय वह स्त्री रोज-रोज खेत पर खाना लाती थी, सो एक दिन उस किसान ने क्या किया कि बैलो को औंधा सीधा जोत दिया, याने एक बैलका मुख किया पूरबको, एकका पश्चिमको और उनके गरदनपर पाची रखकर उसमे हल फास दिया। सोचा कि इस प्रकारका दृश्य देखकर स्त्री कुछ न कुछ तो बोलेगी ही, जैसे—अरे ऐसे कैसे काम चलेगा, क्या इसी तरह से जोता जाता है ? क्या इसी तरह से कमायी हो जायगी , बस पोटनेका मौका मिल जायगा, अब वह स्त्री जब रोटी लेकर आयी और उस तरहका तमासा देखा तो झट समझ गई सारी बात, सो बोली कि मेरा काम तो रोटी लाने का है सो ये ले लो, फिर तुम चाहे औंधा जोतो चाहे सीधा, हमे उससे कुछ मतलब नही, और लो यह मैं चली, यो कहकर सीधे चली भी गई। किसान यो हा देखता रह गया। सोचा कि अरे इतने तो नटखट किए, पर आज भी इसे पीट न सका। तो यहाँ यह समझिये कि ज्ञानी जीवको अपने ज्ञान स्वभावके अनुभव का, प्रतीतिका इतना बडा बल रहता है कि वह हर घटनामे यही समझा है कि इसमे मेरा क्या बिगाड ? मानो लाखोका टोटा हो गया तो इसमे मेरा क्या बिगाड ? मानो घरमे आग लग गई, कोई इष्ट गुजर गया, कुछ भी अचानक घटना घट गई तो बस इसमे मेरा क्या। एक अपने ज्ञानस्वरूपकी प्रतीतिका इतना महान बल रहता है कि यह तो मैं पूराका पूरा हूँ, आनन्दमय हूँ, स्वरक्षित हूँ, इसमे किसी दूसरेका दखल ही नही है। इससे मेरा क्या बिगाड ? चाहे परद्रव्य यो चलें चाहे यो परिणमे, इससे मेरा क्या बिगाड ? सहज ज्ञानस्वभावके आश्रयका जिसको महान बल प्रकट हुआ है वह बाह्य पदार्थोंकी तृष्णा, चोरी तो करेगा क्या ? वह तो अपने अन्त प्राप्त हुए उन परभावोका ग्रहण नही करता, वह है निरपराध।

१५४६—आत्मप्रतीतिसे तृप्त आत्मावोका आन्तरिक आह्लाद—

कहते है ना कि मन चगा तो कठौतीमे गगा, अपनी आत्मदृष्टि है, अपने आत्मस्वरूपकी प्रतीति है, मात्र यह हूँ मैं और कुछ नही, कदाचित् कोई नाम लेकर गाली भी कह रहा तो वह ज्ञानी पुरुष यह सोचता कि यह तो मेरा नाम ही नही। यह तो मुझे कह ही नही रहा। यह गाली देने वाला किसको देखकर कह रहा ? क्या मुझ चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वको देखकर कह रहा ? अगर मुझ चैतन्य मात्र अततत्त्वको यह देख लेता तो यह तो गाली बोल ही न सकता था। ऐसा अपने परिपूर्ण आनन्दमय अन्त स्वरूप का इतना महान बल है कि वह अपराध नही करता। क्योकि यह भीतर चगा है, भीतर अपनी स्वरूपदृष्टि करके यह अपने आपमे तुष्ट है, मन चगा तो कठौतीमे गगा, सुना तो पहले भी है आप लोगोने यह अहाना, पर क्या अर्थ है, क्या मतलब है सो सुनो—एक बार कोई ब्राह्मण अपने गाँवसे गगाजीपर फूल चढानेके लिए जा रहा था, तो रास्तेमे क्या देखा कि किसी दूसरे गाँवमे एक जगह एक चमार (मोची) जूते बना रहा था। उसके पास एक काठका कठौता था जिसमे पानी भरा था और उस पानीमे चमडा भिगो-भिगोकर जूते बना रहा था। सो जब वह ब्राह्मण वहाँसे निकला तो उस मोचीने पूछा पडितजी आप कहाँ जा रहे है ? गगाजीमे फूल चढाने। अच्छा मेरे भी ये दो पैसे ले लो इन्हे गगाजी मे चढा देना, मगर एक शर्त है कि जब गगाजी अपना हाथ पानीसे बाहर निकालें तब चढाना, नही तो हमारे पैसे हमको वापिस कर देना। अच्छा ठीक है, ले लिया पैसे और चल दिया।

कुछ चलकर रास्तेमे उस ब्राह्मण ने सोचा कि इन दो पैसोंको लेकर कुछ खाना पीना चाहिए, कहाँ वह गगा पानीसे बाहर हाथ निकालेगी ? झूठ मूठ कह देंगे कि हाँ मैंने पैसे चढ़ा दिये थे, पर सहसा ही उसके मनमे इस कामके करनेमे कुछ ग्लानि सी हुई और पुन उस मोचीके पास आकर बोला भैया ये लो अपने पैसे कही गगादेवी पानीसे बाहर हाथ नही निकाला करती। तो वहाँ वह मोची बोला-अरे पडितजी आप क्या बात करते, हम तुमको इसी जगहपर करके दिखाये देते है कि गगादेवी पानीसे बाहर अपना हाथ निकाल देती है। अच्छा करके दिखाओ। अब उस मोचीने क्या किया कि गगादेवी का सही दिलसे ध्यान करने बैठ गया, थोडी ही देरमे क्या देखा कि उस कठौतीमे जो पानी भरा था उसमेसे एक हाथ बाहर निकल आया और उसे पैसे दे दिया। देखिये हम नही जानते कि कैसा क्या हुआ पर यह जानते कि ऐसा हो जानेमे भी आश्चर्य कुछ नही। कौतूहल करने वाले व्यतरदेव ऐसा करके दिखा भी सकते हैं। तो तबसे यह अहाना चला कि अपना मन चगा तो कठौतीमे गगा।

१५५०—निरपराधतामे प्रसन्नता—

चगाका अर्थ समझना प्रसन्न होना, मौज मानना नही। प्रसन्नशब्द उपसर्गपूर्वक सद्धातुसे बना है, 'क्त' प्रत्यय लगाकर प्रसन्न बना, जिसका अर्थ है निर्मल होना, प्रसन्नका अर्थ खुश होना नही है, मौज मानना नही है, किन्तु निर्मल होना है। जो प्रसन्न होगा उसे शाति तो अपने आपमे मिलेगी, और तब ही तो देखो बताते हैं कि भादोंके वर्षा ऋतुमे ये पोखरे प्रसन्न हो गये, मायने पोखरे पानीसे खूब लबालब भर गये, उस समय तो पानी गदा रहता, मटमैला रहता, पर शरद ऋतु आनेपर वह जल निर्मल हो जाता है, याने प्रसन्न हो जाता है। तो अपनेमे समझिए कि यह प्रसन्नता कबसे हुई ? जब मैं अपने ही स्वभावको ग्रहण करूँ, अपने ज्ञानमे चैतन्यमात्र हूँ, ऐसा ही अनुभव करूँ, प्रतीति लूँ, जिसका फल क्या है कि परद्रव्य, परभाव, ये औपाधिक भाव, इनकी तो सुध भी न रहेगी। सो ऐसी जो कोई चोरी नही करता और अपने घरकी चीज बापरता वह प्रसन्न रहता। उसे कोई डर नही रहता। ऐसे ही जो अपने चैतन्यस्वरूपको ही बापरता है, मायने उसकी ही प्रवृत्ति रखता है और पराई चीज कषाय और मोह अज्ञान आदिक भाव इनको नही छूता, वह भव्य आत्मा अन्त प्रसन्न रहता है। उसको बध की शका नही। तो इस प्रकार यह उपदेश मिला कि इन समस्त परभावोका त्याग करते हुए तुम अपने चैतन्यमात्र शुद्ध आत्माको ग्रहण करो, ऐसा करनेपर ही तुम सचमुच निरपराध कहलावोगे।

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः, स्पृशति निरपराधो बन्धनं जातु नैव।
नियतमयमशुद्ध स्वं भजत् सापराधो भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

१५५१—अपराधीका अनवरत अनन्त कार्माणवर्गणाओसे बन्धन—

जो अपराध सहित है वह निरन्तर अनन्त कार्माण वर्गणाओसे बँधता रहता है। अपराधी कौन ? जिसकी राधा अपगत हो गई हो, राधा मायने क्या ? ससिद्धि। राधा, सिद्धि, साधना, आराधना, यह सब एक ही बात है, यह जिसके न हो मायने आत्मस्वरूपकी दृष्टि जिसके नही हो पाती वह राधासे रहित है, अपराधी है। जो अपने अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यप्रकाशमात्र सहज परमात्मतत्त्वको नही लखता है और लखता है किन्ही बाह्य परद्रव्योको, परभावोको वह मनुष्य, वह जीव अपराधी है। और, जो अपराधी है वह निरन्तर अनन्त कर्मवर्गणाओसे बँधता रहता है। देखिये जीवने विभाव किया, अपराध किया तो उस निमित्तके सान्निध्यसे कार्माण वर्गणाये स्वयं कर्मरूप परिणम जाती है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव, असर ये कुछ भी नही डाल पाता। मगर उपादान

मे ऐसी कला है, अशुद्ध उपादानमे ऐसी योग्यता है कि वह अनुकूल निमित्तके सान्निध्यमे अपना रग बदलता रहता है। देखिये वस्तुस्वातत्र्य यह ही है कि अपनी ही परिणतिसे परिणमे, दूसरेकी परिणति से न परिणमे, निमित्तनैमित्तिक योग समस्त विकार परिणमनोमे अलघ्य है, यह टलता नही, क्योकि निमित्तसान्निध्यके अभावमे कोई भी पदार्थ विकार परिणमन नही कर पाता, यह है एक निष्पत्ति विधान। भले ही एक ज्ञप्तिकी दृष्टिसे जान लिया, प्रभुने सब ज्ञात किया है, जिसमे जो परिणमन हो रहा है, पर प्रभुने मनमाना अटपट स्वच्छन्दतासे ज्ञात नही किया, किन्तु जहाँ जो जिस विधानसे जो हुआ, हो रहा, होगा वह विषयभावको प्राप्त हुआ है। और, इसकी विशेष समझ बनानेके लिये एक बार यह भी ध्यानमे लावे कि भगवान जो जानते हैं वे मुक्त जानते हैं, कैसे कि उनका जाननेका स्वभाव है, जानते है। उससे कही पदार्थोंपर असर नही होता कि पदार्थ ऐसा जाना गया इस कारण से यो परिणम गया व कार्य कारण विधान हो गया।

१५५२—निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका लाभ—

निमित्तनैमित्तिक भावका अर्थ उपादान उपादेय नही होता है, किन्तु इसका व्यापक प्रयोजन है। निमित्त नैमित्तिक योग मे भी कार्य कारण विधानका प्रयोग होता है और उपादान उपादेय मे भी कार्यकारण भावका प्रयोग होता है। दार्शनिक शास्त्रोमे कार्यनिष्पत्तिकी सिद्धिमे निमित्त नैमित्तिक भावकी घटनामे कार्यकारण शब्द का प्रयोग होता है और वस्तु स्वातन्त्र्यकी प्रसिद्धिके प्रसगमे उपादान उपादेय भावकी घटनामे कार्य कारण शब्दका प्रयोग होता है, तो जहाँ जो भाव है, जिसका जो आश्रय है इतना आश्रय रख करके वह ध्यानमे रखना चाहिए। तो बात यह है कि मिमित्त नैमित्तिक योग भी है एक तथ्य और वस्तु स्वातत्रण भी है एक तथ्य। किसी भी प्रसगमे कभी भी यह नही हो सकता कि निमित्तभूत द्रव्य अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव, असर कुछ भी कह लो वह उपादानमे डाल सके वह अन्य पदार्थको उत्पन्न करदे, यह कभी नही होता, और यह भी कभी नही होता कि उपादान अपने आपसे ही याने निमित्त सन्निधान बिना विकाररूप परिणम जाय, ऐसा भी कभी नही हो सकता। अच्छा आगममे वस्तु स्वातत्र्य व निमित्तनैमित्तिक योग दोनोंको ही बताया है वह है अपना प्रयोजन और हित सिद्धि करनेके लिए। जब इस तरह देखा कि निमित्तभूत द्रव्य अपना कुछ भी उपादानमे नही रखता तो इससे अपने स्वातत्र्यका बोध हुआ, कलुषता मिट गई। अब कितंव्यमूढता नही रही कि कोई निमित्त मेरेको ऐसा कर देता है तो अब वहाँ मे क्या करूँगा? उसके पुरुशार्थका विकल्प छोड दे, क्या पुरुषार्थ करें? जब निमित्त अपनी परिणतिसे परिणमा देता है। सो वहाँ यह जानना कि निमित्तभूत द्रव्य अपनी परिणितसे उपादानको नही परिणमाता, किन्तु होता क्या है कि यह मैं उस वातावरणमे अपनी ही शक्तिसे परिणतिसे उस उस विकाररूप परिणम जाता हूँ, यह भेद जाना, उत भेदज्ञानके साथ ही अनेक बातें झलकमे आयी क्या कि निमित्तसे मेरा कोई सम्बध नही, ये मेरे कुछ नही लगते। अच्छा अब देखो निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका प्रभाव निमित्त कर्मविपाकके सान्निध्यमे जो परभाव हुए वे मेरे स्वभावसे नही उठे हैं, वे निमित्तभूत द्रव्यके सानिध्यमे हुए हैं। यहाँ तो जोवमे वह उपयोग उस विपाकका प्रतिफलनरूप होता है, यह भेद जब जान लिया तो यह हिम्मत बन जाती है कि उस प्रतिफलनमे अपने उपयोगका एकत्व न करें आश्रयभूत पदार्थमे अपना उपयोग न लगावे। उसको यहाँ ऐसे पौरुषका अवसर मिल जाता है, अपने सभी कथनोसे हमे अपनी स्वभाव दृष्टि करनेका स्वभावका आश्रय करनेका लाभ उठाना चाहिए।

१५५३––परभावकी स्वीकारताका महान् अपराध–

यहाँ यह बतला रहे कि जो अपराधी है वही कर्मोंको बांधता है और जो अपने स्वभावका परिचय नही किए हुए है और बाह्यभावोमे अपने को तन्मय मान रहा है वह अपराधी है, वह चोर है, उसने पर द्रव्यों को अपना माना। चोर किसे कहते ? तो इसका हर एक कोई उत्तर देगा कि दूसरेके घरमे कोई रखी हुई चीज जो उठा लावे सो चोर, हाँ दीखा तो आपको ऐसा ही है मगर चोर किस कारण कहलाता वास्तवमे कि उस चीजके प्रति उसके भीतरमे यह भाव भर गया कि अब यह मेरी चीज हो गई। भीतरी भावकी परख करें तो परद्रव्यका जो उपयोगसे ग्रहण हुआ, वहाँ ममता हुई, चोरी हुई, जितने भी, पाप होते हे वे सब पाप हिंसा कहलाते है। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह यह भी हिंसा है और हिंसामे सभी पापगर्भित है, पर चोरी आदि अलग क्यो बतायी गई कि जरा प्रवृत्तिमे लोगोको झट मालूम हो जाय कि ऐसे ऐसे काम करनेमे पाप होता है, सर्वत्र हिंसा पाप है, किसीका दिल दुःखाना यह हिंसा, किसीको पीडा पहुचाना हिंसा, तो इस क्रियामे क्या हुआ कि मनमे जो एक घृणाका भाव, द्वेषका भाव, उसका बुरा करनेका भाव जो भीतर हुआ, जिससे प्रेरित होकर वह कोई बध बधनकी चेष्टा कर सके, वह भीतर की दुर्भावना है हिंसा, झूठ बोल गए, झूठ मायने क्या ? जिन वचनोमे दूसरो का अहित होवे उसे झूठ कहते हैं। झूठकी मौलिक परिभाषा यह है, और फिर वे क्या-क्या होते है सो उनका वह विस्तार है। तो जैसे झूठी गवाही दे दी तो उससे उससे दूसरेका दिल दूखा ना तकलीफ हुई ना, तो लोग प्राण कहने लगे। कहते हैं ना ११ वाँ प्राण, चाहे उन्हे न मालूम हो कि वे १०प्राण कौन कौन से कहलाते जिसपर धन मिला दें तो ११प्राण कहलाने लगे, मगर यह बात सब कहते कि यह धन ११ वाँ प्राण है। जो इस धन को हरता है वह मानो प्राण हरता है तो हिंसा हुई ना। कुशील दुर्भावना होना, विचार गदा होना, परमे आशक्त होना वहाँ हिंसा है, भाव हिंसा भी है और द्रव्यहिंसा भी है, परिग्रह मूर्छा किसी दूसरेकी चीजको अपनाना, यह परिग्रह कहा जाता है, बात वहा क्या हुई कि वह चीजका ग्रहण तब ही तो कर रहा जब उसके प्रति ममता हैं, तो मूर्छा हुई यह पाप हुआ, ऐसा कोई अपराध करे तो वह कर्मोसे बँधता ही है, यह न्याय है।

१५५४––अपने भावोकी सम्हाल करनेका कर्तव्य–

जो पापभाव करता सो पापोसे बँधता, यह न्याय है। पाप करे, खोटे भाव करे और कर्म न बाँधे तो यह अन्याय हो गया। ऐसा अन्याय कही होता नही है। बडे व्यापक दृष्टिसे देखो, यह सब बात चल रही है कि अपने परिणामोको बहुत सम्हालकर रखना चाहिये। आज नही कुछ उन पाप परिणामोका फल दिख रहा, पुण्यका उदय है ना, मगर जो दुर्भावना है, जो अनीतिके भाव है उसके उसी समय पाप कर्मका बध होता, उसका उदय आयगा, उसका फल भोगना होगा। इससे यह अपनी दया करना, किसी भी प्राणीके सम्बन्धमे उसके अहितकी बात न सोचना, घृणाकी बात न सोचना, चाहे वह कितना ही बडा पुरुष हो, चाहे वह कितने ही बडे भारी वैभव वाला हो, जो परजीवके प्रति अपराध और घृणाका भाव रखे, जो दुर्भावना रखता है, उसके निरन्तर अनन्त कर्मपरमाणुओका बधन चल रहा है। जो अपराधी है वह बँधेगा। कथानकोमे आप बहुत-बहुत पढते हैं कि अमुकने अमुकको सताया, और ऐसे कथन बहुत मिलेंगे कि अमुकने अमुक महाराजपर उपद्रव किया, एक मुनिराजपर कूडा डाल दिया। मुनिसे कहा–हटो हमे यहाँ झाड़ू लगाना है, वह मुनिराज कुछ बोले नही, ध्यानमे बैठे रहे, वहाँ उसे क्रोध आया और मुनिराजके ऊपर कूडा फेंक दिया फिर उस कूडा डालने वालेको

क्या क्या गतियाँ हुई, कैसी कैसी स्थितियाँ हुई, यह सब वर्णन आया है, ऐसी अनेक बातें बहुतसे चरित्रोमे मिलेंगी। प्राणिमात्रसे भी घृणा न करें और फिर कोई वडा हो, ज्ञानी हो त्यागी हो, मुनि हो, साधु हो उसके प्रति घृणाका भाव हो तो उसमे अधिक पाप लगता। देखो जैसे वतलाया ना कि एकेन्द्रिय की हिसा करने से अधिक पाप दो इन्द्रियकी हिंसामे है, दो इन्द्रियसे अधिक पाप तीन इन्द्रिय की हिंसा मे है। यो वढते जावो, चार इन्द्रिय, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय, सज्ञीपञ्चेन्द्रिय और उनमे भी रत्नत्रयधारी मुनिकी हिसा करनेमे बहुत अधिक पाप है। भूतवत्यनुकम्पादान आदि। भूतमे अनुकम्पा याने प्राणियो प्राणियोमे दया, फिर कहा व्रतियोमे दया, इसे अलगसे क्यो कहा ? तो मतलव यह कि जब एक धर्म-मार्गमे अपन लोग चलते तो सर्वसाधर्मियोमे हृदयसे निश्चल वात्सल्य हो अन्यथा क्या होगा, जो करेगा सो भोगेगा। दूसरा कोई मददगार नही। अज्ञानका अँधेरा हृदयमे नही रखना और अपनी ही भलाई के लिए अपनी प्रवृत्ति रखना। जो अपराधी है वह भीतर अनन्त परमाणुओसे बँधता है।

१५५५—विशुद्ध अतस्तत्त्वके आदरमे सिद्धि—

राध मायने क्या ? सिद्धि। सिद्धि मायने क्या ? परद्रव्योके परिहारके द्वारा स्वकी सिद्धि, आत्मा की प्राप्ति, उपलब्धि, दृष्टि। परद्रव्य क्या क्या ? देखो अभी कलशमे इन रागादिक विकारोको परद्रव्य कह दिया था जिससे उपेक्षा करनी है उसके लिये सारे उपाय बताये कि उनसे उपेक्षा हो जाय और अपने इष्ट अभीष्ट स्वरूपकी ओर दृष्टि हो जाय। आप कहेगे कि अभी तो यह कह रहे थे कि सबमे वात्सल्य रखें और वहाँ रागद्वेष विभावोमे उपेक्षाकी वात कहने लगे, इन रागद्वेषोसे घृणा करें और सबमे समता रखें, सबका आदर करे। हाँ ठीक तो है सबका आदर करें ये रागादिक भाव कोई पदार्थ थोडे ही हैं, जीव थोडे ही हैं, ये तो जीवके विकार है, आदर करें मायने जीवोका निरादर न करें। अपनेमे बसा हुआ जो अन्त भगवान है यह आत्मा सहज स्वरूप स्वभावमात्र इसका निरादर हुआ ना अगर विभावोसे प्रीति की तो। इन विभावोसे उपेक्षा करना, इनके परिहार द्वारा शुद्ध आत्माकी दृष्टि करना, इसका नाम सिद्धि है। देखो धर्मपालन करनेके लिये कोई बडी समस्या नही है समझनेमे। यही समझ लो, कोई बडी बात नही। जब बैल, घोडा, बदर, नेवला ये भी समझ सकते हैं तो भला मनुष्य न समझ सकेंगे ? और यह सोचना भी एक भीतरकी कमजोरी है कि हम पढे लिखे नही अधिक हम कैसे सम्यक्त्व पा सकते ? अरे उन घोडा, बैल वगैरहको भी तो किसीने नही पढाया, उन्होने कैसे सम्यक्त्व पाया ? एक दृष्टिकी ही तो बात है। अब देख लो, कितने ही पढे लिखे, लोग भीतरमे दुर्भावनाये रखते, द्वेष रखते, कषाय बनाते, ऐसे मिलेगे और जो नही पढे लिखे लोग हैं, कोई एक दो क्लास ही पढे हैं या बिल्कुल भी नही पढे हैं, जैसे कि बहुतसे पुराने बूढा बुढिया ऐसे होते कि जो पढे लिखे कुछ नही होते, पर उनके अन्दर देखो तो बडे विशुद्ध परिणाम होते हैं, बडी सरल प्रकृतिके होते हैं। सबका भला चाहे यह तो अपनी अपनी विशुद्धिकी बात है।

१५५६—भगवान अन्तस्तत्त्वकी विमुखतामे अपराधोकी भरमार—

एक यह दृष्टि लें कि मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञानमात्र हूँ। भीतर सोचो, आँखें बन्द करो। इन्द्रिय मनका व्यापार बद करो, अपने आपके भीतर ज्ञानसे ही देखो, शरीरकी भी दृष्टि छोड दो। कैसे छोड दें ? अरे इतनी मोटी बात तो जानते हैं ना कि मर गए तो यह शरीर यहीका यही रह गया, उसे जला दिया जाता, तो यह शरीर न्यारा है और जो जीव चला गया वह न्यारा था। तो जो चला गया उन्हीमे से तो मैं हूँ, ऐसी बात ध्यानमे लावें तो कोई दिन ऐसा होगा कि यह शरीर

यही धरा रहेगा और जीव इसे छोडकर चला जायगा। तो इस वक्त भी शरीरकी निगाह तज दें। देखो ना मेरे शरीर लगा, इसका नाम ही न लें और भीतर केवल ज्ञानप्रकाश नजरमे लावे, ज्ञान-ज्ञान, जानन-जानन प्रयोग करें, सब बात बनेगी। आगे प्रयोग करे, यही प्रयोग कर ले। आप अपनी जगह मे बैठे हुये अपने शरीरमे ही तो बने हुए वही इन्द्रिय व्यापार बद करे, आँखोसे निरखना बन्द करे, शरीरको भूल ही जावे और भीतर परखें—यह मैं एक ज्ञानज्योतिमात्र। बस होनहारकी बात, जिसकी दृष्टि जग गई, जिसका उपयोग अपसे ज्ञानस्वरूपमे आ गया, उसको यहाँ सारे विकल्प छूटकर अद्भुत आनन्द मिलता है और यह विलक्षण आनन्द, इसका अनुभव क्या कि एक मोहर लग गई कि तथ्य यह ही है, ज्ञानने ज़ाना, अपने स्वरूपको अनुभवा, स्वानुभव बना और आनन्दकी, अनुभूतिकी उस पर मोहर ठोक दी। तत्त्व यह ही है, तथ्य यह ही है, कल्याण यह ही है, क्योकि वह मोहर ज्ञाननेत्रके आगे सुगमतया रहेगी। वह सारा मजबून जो लिखा है उसे तो बाँचनेमे विलम्ब होगा, किन्तु प्रमाणित करने मे मोहर बन्दी त्वरित दिख जायगी। प्रतीतिमे क्या है ? जो अनुभूतिकी मोहर लगी थी, उसका ही तो वह ख्याल है जिसे कहते हैं प्रतीति। आत्माको अपनी अनुभूतिकी प्रतीति भई हैं, यह बात यहाँ कर ली ही जायगी, झगडेमे कुछ नही रखा, अपनेमे अपनी बात प्राप्तकर अपने सकट मिटा ले, अन्यथा वह सब अपराध ही अपराध कहलायगा। चाहे कितनो ही कोई चेष्टायें करे, चाहे दुनियाको कुछ भी दिखाये वह सब अपराध है, जो अपराधी है वह अनन्त कर्मपरमाणुओसे बँधता है। अच्छा अपराधी कौन ? जिस चेतनको, जिस आत्माको अपने आपके स्वरूपकी, सिद्धिकी याद नही। जहाँ यह राधा नही वहाँ अपराध ही अपराध है। हुआ क्या वहाँ कि इस अपराधीने परद्रव्यका ग्रहण किया।

१५५७—अनात्मतत्त्वको अन्तस्तत्त्व माननेमे परमार्थत. चोरीका अपराध—

यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कितना बडा चोर है। चोर कौन ? जो इन बाहरी चीजोको अपनी माने वह चोर ? अब आप लोगोमे जो इन स्त्री पुत्र, धन वैभव, मकान महल वगैरह बाह्य पदार्थोंको अपना मानता है, या यह जो दृश्यमान शरीर है उसको अपना मानता है तो बताओ उसे चोरकी सज्ञा दी जा सकती या नही ? अरे चोर तो कहा ही जायगा। जो ऐसी करनी करेगा, जो ऐसा मिथ्याभाव रखेगा वह कर्मकी बेडियोसे बँधेगा जो भ्रम करेगा उसके कर्मबधन है और साथ ही जीवनभर उसको आकुलता है। जैसे कभी देखा होगा कि रेलगाडीसे मुसाफिरी करते समय जब कोई मुसाफिर अपने सीटसे उठकर कोई बाधानिवारणार्थ चला जाता और उसकी सीटपर दूसरा कोई आकर बैठ जाता। अब पहले बैठा हुआ पुरुष आता और बोलता कि भाई साहब यह तो हमारी सीट है, उठो अभी हम बैठे थे, बस पेशाब भर करने चले गए कि आप आकर बैठ गए। तो यदि वह समझदार हुआ तो झट उस सीटको छोडकर दूसरी जगह जाकर बैठ जाता, उस सीटके छोडनेमे वह जरा भी कष्ट नही मानता। वह तो जानता कि क्या है, इस जगह न सही, वहाँ बैठ गए। और यदि कोई ना समझ हुआ तो वह उस सीटके लिए उससे झगड जाता है। और जब उसका निर्दिष्ट स्टेशन आ जाता है तो फिर वह उस सीटको निर्मोही सा बनकर छोड देता है, अब उसे कोई जबरदस्ती पकडकर उस सीटपर बैठाना चाहे तो भी नही बैठता। क्यो नही बैठता ? क्योकि उसे सही ज्ञान है कि यह सीट मेरी नहीं है, मुझे तो इस सीटको छोड ही देना होगा, तो जैसे समझदार पुरुषको सीट छोडनेमे कुछ दु ख नही होता इसीप्रकार ज्ञानी पुरुषको भी इन सासारिक बाह्य सामग्रियो को छोडनेमे रच भी दु ख नही होता। वह तो जानता है कि ये एक न एक दिन तो छूटेंगे ही, और अज्ञानी जनोको उनके छोडनेमे बड़ा कष्ट

होता, वे तो उनके पीछे मुग्ध होते, आशक्त होते।

१५५८—अपराधी व अनपराधीका अनुग्रह—

कभी कभी देखा होगा कि कोई बूढ़ा जब मरणका समय आ जाता है तो वह कह उठता बस अंतिम समयमे अमुक लड़की को तार देकर बुला दो, अमुक मुन्नेको मेरी छाती पर धर दो, छाती ठंडी हो जायगी। यो अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंमे अपनायतकी बुद्धि रखते हैं तो बताओ वे चोर कहलायें कि नही ? जरा एक बार मुखसे आप लोग बोल तो दो, बोलनेमें क्यो सकोच करते ? कहना पडेगा आखिर यही कि हां जो ऐसा करते हैं वे चोर तो हैं ही जो इन बाह्य पदार्थोंमे मोह रखे, उन्हें अपनाये वही तो चोर कहा जाता। और साहूकार कौन ? जिसे अपने निज आत्मस्वरूपमे दृष्टि है, उसी को मानता कि बस मेरा तो सब कुछ यही है, यह आत्मस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नही, बस वही साहूकार है। वही सचमुच निरपराधी है, और जो बाह्य पदार्थोंको अपनाता है वह बहुत बडा अपराधी है। तो जहां पर द्रव्यका ग्रहण किया वहां शुद्ध अविकार चैतन्यस्वरूपकी सुध नही रहती। जब यह बात गुजर रही तो फिर यह जीव तो अशुद्ध है, यह तो अपराधी है, यह तो भगवान अतस्तत्त्वका विराधक है। यह ही कारण है कि वह निरन्तर कर्मपरमाणुओंसे बँधता रहता है, परन्तु जो निरपराध है मायने जो समस्त परद्रव्योंका परिहार कर दे और शुद्ध आत्मतत्त्वकी सिद्धि उसके चल रही है उसको बधकी शका ही नही।

१५५६—अन्तस्तत्त्वके आराधकके बन्धनका अभाव—

देखिये इस मूडमे जैसे कि भेद विज्ञानकी बात चल रहीं और उसके प्रभावकी बात चल रही वह बुद्धिपूर्वक प्रभावकी चल रही। ग्रन्थोंमे, अध्यात्ममें बुद्धिपूर्वक कथन होता है, अन्य बात सोचना ही नहीं, जो किया जा सके उसका वर्णन है अध्यात्ममे, बुद्धिपूर्वक तो वह निरपराध है, शुद्ध आत्माकी सिद्धि है, बधकी शका उसके नही है, और, ऐसा ही उसका निश्चय बना हुआ है कि ज्ञान ही एक मात्र जिसका लक्षण है ऐसा यह मैं एक ज्ञानमात्र शुद्ध अतस्तत्त्व हूँ, अब वह इस ही की आराधना कर रहा, अपने आपमे अविकार चित्स्वरूपको आराधना बन रही, वह आराधक है, शुद्ध है, ऐसा पुरुष कर्मोंसे नही बँधता, कर्म उन्हे छूता ही नही, अच्छा भावकर्मके साथ भी यही कथन बैठा लो। जो अपराधी हैं मन, वचन, कामकी क्रिया उसके चलती है, जो निरपराध है वह नि शक आत्मामे अवस्थित रहता है, सो भाई जो अपनेसे अशुद्ध की अशुद्ध ही समझे वह अपराधी है किन्तु जो शुद्ध आत्मतत्त्वकी सेवा करें, शुद्ध अतस्तत्त्वकी भावना आराधनाये रहे वह निरपराध है, उस निरपराधके बधन नही होता। तो देखो जितनी शक्ति है, जितना आपका ज्ञानबल चले, अधिकाधिक उपयोग इस ओर लगावें कि इस सहज अविकार स्वरूपमे याने अपने आपकी ओरसे अपने ही सत्वके कारण उसका जो लक्षण है, उस लक्षणमे आत्मत्वकी आस्था रहे। आत्मलक्षण केवल ज्ञानदर्शन प्रतिभास प्रकाश प्रतिभासमान है यह ही मेरा स्वरूप है, तो ऐसी ही वृत्ति रहे यह है इसकी ईमानदारी अपने आपकी ही सामर्थ से की जाने वाली बात, शुद्ध अतस्तत्त्वकी सेवा अन्तस्तत्त्वका आराधक निरपराध है, इसके बधन नही।

अतो हता प्रमादिनो गता. सुखासीनता, प्रलीन चापलमुन्मीलित मालम्बनम्।
आत्मन्येवालानित चित्तनासम्पूर्ण विज्ञानघनोपलब्धे ॥ १८८ ॥

१५६०—शुद्धात्मतत्त्वसेचितामे निरपराधताके समर्थनपर एक क्रियाकाण्डीकी जिज्ञासा—

ऊपरके छन्दमे यह कहा गया था कि जो शुद्ध आत्माका सेवन करने वाला है वह निरपराध है,

जो अशुद्ध आत्माको भजने वाला है वह अपराधी है । इसका अर्थ क्या हुआ कि जो अपनेमे ऐसी प्रतीति लिये हुये हैं कि जो ये बन रहे है कषाय विकल्प आदिक जो भी विभाव बस ये ही तो मैं हूँ, वह कहलाता है अशुद्ध आत्माका भजने वाला और जिसकी यह प्रतीति है कि मैं सहज अपने ही सत्त्व के कारण स्वय ही अपने आप जो कुछ चित्प्रकाशमात्र हूँ, बस यही तो मैं हूँ, इस प्रकारकी जो प्रतीति दृष्टि रखता है वह है शुद्ध आत्माका सेवन करने वाला । तो जो शुद्ध आत्मतत्त्वका दृष्टा है वह है निरपराध, इसपर कोई शकाकार कहता है कि क्या शुद्ध-शुद्ध आत्मा रट रखा ? अरे इसकी उपासना के पुरुषार्थसे क्या बनता ? आत्माकी शुद्धि तो प्रतिक्रमण, प्रायश्चित वगैरहसे होती है और उसीसे यह निरपराध कहलाता है, यह शका है क्रियाकाण्डीकी और जो अप्रतिक्रमण है मायने अव्रती रहना, असयमी रहना, अप्रतिक्रमणमे रहना, यह स्वय अपराध है । तो जो अपराध करे सो बँधेगा और जो व्रतमे रहे, सयममे रहे, तपश्चरण करे और कदाचित गल्ती हो जाय, कोई त्रुटि हो जाय, दोष लगे तो उसका गुरुसे प्रायश्चित लें, प्रतिक्रमण करे, इससे ही दोष टलते हैं और इससे ही अपराध दूर होते है । शुद्ध आत्माकी उपासनामे क्या रखा ? और देखो कोई अव्रतमे रहे, अप्रतिक्रमणमे रहे, दोष बने रहे और उसका प्रायश्चित न ले, ऐसी जो अपनी हालत बनाये सो वह अपराधको दूर नही कर पा रहा, यह है विषकी चीज और प्रायश्चित्त करना, गुरुजनोसे दोष निवेदन करना, प्रतिक्रमण पढना, यह सब अपराधोको दूर करता है, सो यह तो अमृत है और अव्रत रहे, असयम रहे, दोष करता रहे, पापकी कुछ परवाह न रखे, यह है विषका घडा, फिर शुद्ध आत्माकी चर्चासे क्या लाभ निकलेगा ? और, यह एक बात ही बात नही कह रहे, आगममे भी लिखा, व्यवहार सूत्रमे भी बताया कि जो अप्रतिक्रमण है, दोषशुद्धि न करना है वह सब विषकुम्भ कहलाता और प्रतिक्रमण करे, पढे, तपश्चरण करे, ये सब अमृत कुम्भ कहलाते । फिर ऊपरके कलशमे जो यह कहा गया है कि जो शुद्ध आत्माका सेवन करे वह निरपराध है यह कैसे युक्त रहा ।

१५६१—उक्त जिज्ञासाका प्रारम्भिक समाधान—

अब उक्त जिज्ञासाका समाधान निरखिये—पहले तीन बाते समझमे रखनी होगी--अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण । प्रतिक्रमण कहते किसे हैं ? कोई दोष लगे तो उस दोषकी शुद्धि करना, प्रायश्चित्त लेना, तपश्चरण करना, त्रुटि निकालकर दूर करना, यह है प्रतिक्रमण । इन तीन बातोको समझें—(१) अज्ञानीका, असयमीका अप्रतिक्रमण और (२) व्रतीका, संयमीका प्रतिक्रमण और (३) प्रतिक्रमण, अप्रतिक्रमण इन दोनो विकल्पोसे रहित केवल एक सहज ज्ञान-सामान्यका अनुभवन, प्रतीति, यह है तीसरी भूमि वाला अप्रतिक्रमण । समाधान तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जो अव्रतीका असयमीका जो अप्रतिक्रमण प्रवर्तन चल रहा है वह तो विषकुम्भ ही है । वहाँ दूसरी बात नही की जा सकती और फिर जो प्रतिक्रमण है, मायने ज्ञानी सयमी तपस्वीजन उनके कोई कदाचित दोष लगे तो उन दोषोकी शुद्धि करना तपश्चरण द्वारा वह है अमृतकुम्भ । जब वह विषकुम्भ रहा तो यह अमृतकुम्भ रहा, लेकिन वह तृतीय भूमि याने आत्माका सहज शुद्ध चित्प्रकाश जो द्रव्य प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण दोनों से विविक्त ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वका अनुभवन है उसका नाम दूसरा कोई तीसरी भूमि रख ले तो अटपट न लगेगा उसका नाम अप्रतिक्रमण रखा तो चलो इसी तरह सोचो यह है अमृतकुम्भ । लो अब इस तार्तीयकी भूमि शुद्धात्मसेवा के समक्ष दोनो विषकुम्भ बन गये । ऐसी बात सुनकर कोई प्रमादमे आ सकता ओह प्रतिक्रमण भी विष है, मगर ध्यान यह दीजिये कि प्रतिक्रमण विष किसको है ? जो प्रति-

क्रमणको करता हुआ, आगे बढता हुआ जो अपनी समाधिमे बढ रहा है उसको उस स्थितिके आगे लक्ष्यशून्य पुरुषका वह प्रतिक्रमण विष है, इस चेतावनीको इस कलशमे बताया गया है।

१५६२—शुभोपयोग और शुद्धोपयोगकी उपयोगिता बताते हुये द्रव्यप्रतिक्रमणकी विषकुम्भता व अमृत कुम्भताका निर्णय—

देखो एक बात ध्यानमे रखो—जैसे कोई योद्धा युद्धभूमिमे उतरता है तो उसके पास दो चीजे होती हैं ढाल और तलवार। अब समयके अनुसार ढाल और तलवारके रूप बदल जाते हैं, ढाल होती थी कोई गोल-गोल चीज। बताया है कि ढाल प्राय करके कछवाकी पीठकी या लोहेकी होती थी। कोई गोली मारे, तलवार मारे, बल्लम मारे तो उसे रक्षा करनेके लिए भिडा दिया। उसका नाम था ढाल। और तलवार जो शस्त्र है वह बडी तीक्ष्ण धारा वाला होता है, जिससे शत्रुका सहार किया जाता है। तो ढाल काम आती शत्रुका वार रोकनेके लिए और तलवार काम आती दूसरोका सहार करनेके लिए। *ठीक इसी प्रकारकी स्थितियाँ आत्मरमणके सम्बन्धमे हैं, मोक्षमार्गमे हैं।* इस युद्धस्थल मे उतरे हुये जो भव्यजन है सो उनके लिये ढाल चाहिये और तलवार चाहिये। उनकी ढाल तो है शुभोपयोग प्रतिक्रमण, तपश्चरण आदिक और तलवार है शुद्धोपयोग, अतस्तत्त्वका आलम्बन और जैसे युद्धमे दोनो ही अपनी अपनी जगह उपयोगी हैं ऐसे ही ये दोनो अपनी अपनी परिस्थितिमे उपयोगी हैं। इस जीवके साथ अज्ञान वासना लगी हुई है, अभी सम्यक्त्व होनेके बाद भी अविद्याके अभ्यासका सस्कार बना है। समाधितन्त्रमे इसे बहुत विस्तारके साथ कहा गया है तो वह कभी विषयमे उतरता है, गृहस्थीमे रहता है, अनेक काम करता है, और कभी कोई खोटे भाव आ जायें तो उनके लिये ये क्रियायें करे, देवदर्शन करे, स्वाध्याय करे आदि षट्कर्म उसके लिए एक बचावकी चीज है, यहाँ मदिरमे आये, अथवा उपयोग चल रहा तो अनेक खोटी बातोसे बच रहे, यह है व्यसन और पापके आक्रमणसे बचाव का उपयोग। अच्छा तो फिर कर्म शत्रुओका सीधा सहार कौन करेगा? यह शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि। जिसे कहो शुद्धोपयोग जहाँ जैसा जिसको प्राप्त है वह अपना उसके अनुसार निर्जरण करता है तो यह अप्रतिक्रमण जो तीसरे दर्जेका बताया गया यह प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण दोनोके विकल्पोसे रहित अखण्ड चैतन्यमात्र अतरतत्त्वकी प्रतीति अनुभूति वाली स्थिति है। तो जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमण हैं याने प्रायश्चित तपश्चरण यह व्यवहार धर्म ये सब दीक्षा साधना व्रत पालन, और और भी जितने जो कुछ भी कार्य है ये समस्त शुद्धात्मतत्त्व सेवनके सम्बन्धमे अज्ञानियोके अप्रतिक्रमण विषरूप आपत्तियोका निराकरण करनेमे समर्थ हैं इसलिए प्रतिक्रमणको अमृतकुम्भ कहा गया है।

१५६३—शुद्धान्तस्तत्त्वके आश्रयकी अमृतकुम्भरूपता तथा द्रव्यप्रतिक्रमणमे अमृतकुम्भत्वकी साधकता—

ग्रन्थोमे जो लिखा है वह ठीक है, द्रव्यप्रतिक्रमण अमृत कुम्भ है, तो भी जिसको सहज चैतन्य स्वरूपमात्र अमृत तत्त्वका अनुभव न हो, प्रतिक्रमण आदिकसे विलक्षण तृतीयभूमि ब्रह्मस्वरूप तुरीयपाद इसकी जिसको अनुभूति नही हुई, इस भूमि को जिसने नही देख पाया वह पुरुष अपना ही कार्य करने मे असमर्थ हैं, याने उस सहज आनन्दका अनुभव लेना, सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव करना, जिसके प्रसाद से भव-भवके बाँधे हुए कर्म दूर होते हैं, क्षयको प्राप्त होते हैं, उस कार्यको करना इसमे द्रव्यप्रतिक्रमण समर्थ नही सो यदि उसने सहज अतस्तत्त्वका अनुभव नही पाया तब तो यह अपराधी कहा ना, आत्म सिद्धि तो हुई नही, तब यहाँ यह द्रव्य प्रतिक्रमण विषकुम्भ है और तीसरी भूमि, याने तुरीपयाद, चतुर्थ तत्त्व (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ये तो हैं तीन पाद और चतुर्थपाद है ब्रह्मस्वरूप चैतन्यतत्त्व)

इसकी अनुभूति यह स्वय शुद्ध आत्माकी सिद्धि रूप है। शुद्ध आत्मा मायने परसे विविक्त अपने आपमे कैवल्यको लिए हुए जो स्वरूप है, स्वभाव है उसकी दृष्टि, आत्माकी प्राप्तिमे समर्थ है, अत सारे अपराध विषो को मूलसे उखाडनेमे समर्थ है इसलिए साक्षात् अमृत कुम्भ तो अतस्तत्त्वकी अनुभूति है और फिर व्यवहारसे द्रव्यप्रतिक्रमणमे भी अमृत कुम्भपने को यह ही सिद्ध करता है, जिसको इस शुद्ध अतस्तत्त्वका बोध है, दृष्टि है, अनुभूति है, जो इसकी सेवामे रत है वह पुरुष जाय कहाँ ? शरीर है ना ? सो चलेगा, आहार करेगा, बोलना भी होगा, मौन भी रखेगा और कदाचित् इन बातोकी विधियोमे दोष लग गया तो उनका प्रतिक्रमण भी करेगा। इसका यह प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है, इसको किसने सिद्ध किया ? इस अतस्तत्त्वकी साधनाने सिद्ध किया, तो एक इस तृतीय भूमिके अनुभवसे यह जीव निरपराध होता है, आत्माके निरपेक्ष स्वरूपमे अहका अनुभव बने, इसीको कहते हैं तृतीय भूमिको देखना, इससे ही यह आत्मा निरपराध होता है। यह बात अगर नही है तो द्रव्य प्रतिक्रमण कितना ही किया जाय तो भी वह अपराध ही रहता है, अपराध मायने शुद्ध आत्माकी दृष्टिसे अलग रहे। तो निरपराधपना कहाँ ठहरी ? इस तृतीयभूमिमे चैतन्यस्वभावकी दृष्टिमे, और द्रव्य प्रतिक्रमण क्यो कर रहे ? इस ही चैतन्यस्वभावकी प्राप्तिके लिए। अब इस वर्णनसे यह निर्णय रखना कि आगमका कथन यह प्रतिक्रमणका त्याग नही कराता कि भाई तुम क्यो तप व्रत करते ? क्यो तपश्चरण करते ? ऐसी बात नही कहता यह आगम, किन्तु यह बतला रहा है कि हम केवल द्रव्यप्रतिक्रमण ही करेंगे, व्रत-तप ही करेंगे और तृतीयभूमिका हम दर्शन न करेंगे, अपने शुद्धस्वरूपकी सुध न रखेगे तो आपके इन व्रत तप प्रतिक्रमणोसे मोक्ष न हो जायगा, यह बात आयी तो इस ही पर यह आचार्यदेव कह रहे हैं कि इस विवरणको जानकर प्रमादी जीव मारे गए अर्थात् जो प्रमाद करने लगे थे उस निश्चयकी दुहाई लेकर कि क्या रखा है व्रतमे, क्या रखा है प्रतिक्रमणमे, मौज से रहे, जैसा चाहे खाना, जैसा चाहे रहना, एक बात ही बात करलें, गप्प करलें एक शुद्ध जीवकी, धर्म मिल जायगी मुक्ति मिल जायगी सो बतला रहे कि ये प्रमादी जनहता थे। मारे गए मायने ये प्रमादीजन मोक्षमार्गमे नही हैं, यह सिद्ध हुआ। अरे कौनसे प्रमादी मारे गए ? जो सुखमे, मौजमे आसीन हो गए थे। उनकी स्वच्छन्दवृत्तिका निराकरण किया। जो कुछ नही सोचते कि क्या करना ? बस चर्चा मात्र, और उनकी यह चपलता, चित्तकी चचलता प्रलीन करा दी और आलम्बनको उन्मीलित किया याने इस तृतीयभूमिके लिए उन्हे प्रेरणा दी कि इनको तुम पावो। शुद्ध अन्तस्तत्त्वको पानेका प्रारम्भिक उपाय है कि तुम अपने व्यवहारको विशुद्ध करो और यह प्रक्रिया करते रहो भीतर अपने आपकी दृष्टि विशुद्धि रहे और यह न करोगे तो जो द्रव्य प्रतिक्रमण करते उससे कोई सिद्धि न होगी।

१५६४—प्रकृत प्रसंगमे मोक्षमार्गमे प्रमाद न करने देनेका आशय—

प्रमादी कौन ? प्रमत्तविरत गुणस्थानमे भी प्रमाद शब्द दिया उसका अर्थ क्या ? जो मोक्षमार्ग का साधन है उसमे जो प्रमाद करे उसे कहते हैं प्रमादी। दोनो ही बाते आयी। शुद्ध तत्त्वका ध्यान न करे वह भी प्रमादी और शुद्ध तत्त्वकी गप्प ही मारे और उसका प्रयोग न बनाये वह भी प्रमादी, जब तक सम्पूर्ण विज्ञानकी उपलब्धि नही होती तब तक अपनेमे प्रयोग बनाइये। देखिये धनके लाभके लिए लोग झूठे काम करनेके लिए भी हर घडी तैयार रहते, उनमे कोई काम सफल होता कोई नही सफल होता, पर सब कुछ अपना प्रयत्न करके उसके लिए तैयार रहते और अपने वास्तविक लक्ष्यको भूल जाते हैं तो ऐसे ही अपने आत्माका लक्ष्य है अपने अतस्तत्त्वकी उपलब्धि होना, उसमे ही रमना, ऐसी धुन

वाला भव्य जीव बस यह करना और कुछ नही करना, उनका यह निर्णय रहता और यह ही अनवरत करते बने तो अन्तमुहूर्तमे उनको मोक्ष हो जाता है, निरन्तर धारासे यह बात बन सकेगी। परन्तु यहाँ बन नही पाती। खूब देखते है अपने आपके स्वभावमे रमनेकी बात नही बनती तब क्या करना? इसका उत्तर है चरणानुयोगकी प्रक्रिया, आज कोई अलगसे सोचे कि क्या करना, यो भी करना, तो ऐसा सोचनेका परिश्रम न करें, जो चरणानुयोगमे उपाय बताया, आश्रयभूत पदार्थों के त्याग करनेकी जो विधिया बतायी वे हजार वर्ष लाख वर्ष से परीक्षित निरीक्षित शुद्ध होती हुई अब तक परम्परामे चली आयी। अब नई बात कोई खडी करे तो उसका विशुद्ध रूप बन पायेगा या नही? इसे अभी कौन कहे, मगर उसके परीक्षणमे सैकडो वर्ष चाहिए, तब यह निर्णय हो पायगा कि यह विधि, ये प्रवृत्तियाँ मोक्षमार्गके लिए प्रतिकूल है या नही हैं? मगर जब सब कुछ तैयार भोजन रखा है, आत्माका ध्यान करो, ज्ञान करो, आत्मामे रमो ऐसी बात न बन पाये तो चरणानुयोग की विधिसे अपनी प्रवृत्ति बनावें। देखिये ये ढाल है, चरणानुयोग का प्रवर्तन जो कि अनेक उपद्रवोसे इसको बचाकर रखेगा और अतस्तत्त्व की उपासना यह वह तीक्ष्ण शस्त्र है कि जिसके आगे भाव कर्म, द्रव्यकर्म ये कप जाते हैं और ये क्षयको प्राप्त हो जाते हैं, तो अपनी उपयोगिता सब बातो की समझकर जैसे अपने आत्माके उद्धारका काम काम बने ऐसा कार्य अपनेको करना योग्य है।

१५६५—मोक्षमार्गमे प्रमाद न कर ऊँची ऊँची गुणस्थितियोमे आरोह करनेका अनुरोध—

भैया, मोक्षमार्गमे प्रमादी न बनें, किन्तु क्या करें और ऊपर ऊपर चलते जायें, सीढियो से गुजरे किसी सीढीपर न ठहर जायें, प्रमादी न बनें, किन्तु सीढियोको पार करके एक के ऊपर चढ चढकर धीरे-धीरे सब सीढियोके पार हो जायें और आ जाये ऊपरकी मजिल पर, क्या क्या बात आती है, क्या क्या स्थितिया बनती हैं, कैसे उनमे से यह गुजरना होता है, यह तो प्रयोग करनेपर पता पडता है है कि धर्म मार्गमे, चारित्र मार्ग, रत्नत्रयविधिमे आत्म उपासनामे बढने वाले के सामने क्या क्या परिस्थितिया हुआ करती हैं, क्या क्या त्रुटिया हुआ करती हैं और कैसे उनका दोष निवारण करते हैं। एक मोटी सी बात समझिये कोई दोष बन गया, कोई पाप बन गया और कोई ऐसा सोचे कि बध जाने दो पाप, क्या हर्ज है, जहाँ स्वभावकी दृष्टि किया कि बस वह पाप यो ही खिर जायगा, उसका मन धर्ममे न लगेगा, मन अन्तस्तत्त्वकी न लगेगा, एक शल्य है यह, वह एक बार गुरुसे निवेदन करे कि मेरे को यह दोष लगा, मुझे कोई प्रायश्चित्त दीजिए, उन्होने कुछ मुखसे कहा और इसने पूर्णरूपसे मान लिया कि ऐसा कर लेने पर वह मेरा अपराध दूर हो गया। प्रायश्चित तपश्चरण किया कि विकल्प से दूर हो गए, शल्य न रहे, अब उसके लिए अपने स्वभावमे उतरनेका, मग्न होनेका उसे अब अवसर हो गया।

१५६६—शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी सेवाके प्रयोगसे तथ्योका अनुभव—

भैया, सन्मार्गमे गमनका प्रयोग करें तब पता पडता है। और, बहुत दूर-दूर हो गए प्रक्रियासे, उस प्रयोगमे न आये तो यह जैसा चाहे देखता है. जैसे मानलो सम्मेद शिखर जीके पहाड पर कोई जाना चाहता है तो जब वह कोई ८-१० मील दूर था तो वहाँ से ऐसा दीखता था कि यह तो जरा सा ऊँचा पहाड है, देखो इस पर कैसा वृक्षोका गद्दा सा बिछा है, इस पर अभी जरा सी देरमे चढ जायेंगे, पर जब वह पहाड पर चढना शुरू करता, कुछ ऊपर जाता तब पता पडता कि अरे यह तो बडा दुस्तर पहाड है। तो ऐसे ही उस अन्तस्तत्त्व की साधनाके लिए तैयार होइये, असुविधायें भी आयेंगी, अड़चने

भी आयेंगी, सरलतायें भी आयेंगी सबको पार कर लिया जायगा। अगर एक धुन बन जाय कि मेरे को तो केवल एक अन्तस्तत्त्वकी उपासना ही करनेका काम है, ऐसी धुन तो बने नहीं, और यहाँ वहाँ अगल बगलकी बातचीत, अनेक तरहकी गप्प सप्प ये सब चलते रहे तो उससे काम न बनेगा। भीतरमे तेज उमंग बने कि मेरे को तो इसके सिवाय और कुछ करना ही नहीं है तो वह वहाँ गति करेगा, बढ़ेगा, सयम होगा और उत्तरोत्तर वह एक अपनेमे आनन्द पायगा और उस पूर्तिमे वह भव्य जीव उस द्रव्यानुयोगकी, चरणानुयोगकी, करणानुयोगकी, प्रथमानुयोगकी साक्षात् साधना कर लेगा, वहाँ केवल लिखा, वह सब आपको यहाँ मिलेगा, तारीफ किस बातकी है? अपनेमे अन्त प्रकाशमान शाश्वत सहज चैतन्य स्वभावका परिचय होना, अनुभव होना, मूलमे ठोस काम यह है, यह ठोस काम आया तो समझिये कि आगे हम अपनी सिद्धि और प्रगति बराबर करते चले जायेंगे। तो सब तरफसे बात सुनो और यह आपको बराबर निश्चय मिलेगा कि आगममे जहाँ जहाँ जो जो भी वचन कहे है वे सब सत्य हैं, उनमे एक भी बात असत्य नहीं है। चारो अनुयोगोके सभी वर्णनोमे से जिन्हे कोई वर्णन अप्रयोजन जचता सा हो, उनकी यह अवस्थाका फल है। कोई भी वर्णन अप्रयोजन नहीं है। स्वभाव दृष्टिमे आवे, स्वभावाश्रयकी झकार सब उपदेशोका प्रयोग वह इस प्रकार करेगा। श्रद्धालुको आगमोपदेशोमे स्वभावाश्रयकी झलक आयगी याने सब जगह से स्वभावाश्रयकी झाई मिलेगी।

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यतिजन प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमाद ॥ १८९ ॥

१५६७—अज्ञानी जनोके अप्रतिक्रमणकी ऐकान्तिक विषरूपताका समर्थन—

इस प्रसगमे यह बताया गया है कि अप्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण और दोनो कल्पनाओसे विचारो से रहित विशुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय, अनुभवन यह तीसरी भूमिका अप्रतिक्रमण है, अब इन तीनो का निर्णय किया गया था कि जो अप्रतिक्रमण है, अविरतभाव है, असयमभाव है वह तो विष है और तब द्रव्यप्रतिक्रमण अमृत है याने कोई दोष करे, उन दोषोका निवेदन किया, कुछ प्रायश्चित्त लिया तो वह अमृत कुम्भ है किन्तु यह द्रव्यप्रतिक्रमण अमृत कब बनता है जब कि तृतीयभूमि का स्पर्श उसके हो, अन्यथा वह द्रव्य प्रतिक्रमण भी विष है। तो जहाँ प्रतिक्रमणको भी विष कहा है वहाँ अज्ञानी जनोमे पाया जाने वाला अविरतभाव अप्रतिक्रमणभाव यह कैसे अमृत हो सकता है, यह बात समझायी गई तो इससे क्या निष्कर्ष लेना। इससे यह निष्कर्ष लेना कि इस अविरत भावमे असयमभावमे कुछ मौज सा मानते हुए क्षण मत बिताओ, वह मोहविष है। ऊपर सयमभावमे आयें, व्रत तपश्चरण आदिक परिणामोमे आयें, पर केवल इतने को ही सर्वस्व न मानें किन्तु जो सहज स्वभावका आलम्बन है उसकी ओर बढे, वह है आपका प्रधान लक्ष्य और जिसने अपना लक्ष्य नहीं पाया उसके लिए व्रत, तप, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदिक सब बातें ये अमृत नहीं हो सकती। तब नीचे नीचे न गिरें, किन्तु ऊपर उसके उठे, अविरतभावसे हटें, सयम भावमे आइये, सयम से ऊपर आइये और सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव का आलम्बन लीजिए, निष्प्रमाद होकर ऊपर-ऊपर उठना चाहिए।

१५६८—अपने उद्धरणकी चर्चा—

देखिये यह बात किसी दूसरेकी नहीं है, खुदको समझना चाहिए, शान्तिके काम बनावें। शान्तिके काम किसी परमोंका निग्रह अनुग्रह नहीं किन्तु अपने ज्ञानको विशुद्ध बनावें शान्ति मिलेगी, यह ज्ञानकी विशुद्धि क्या ? अपना जो सहज स्वरूप है उसे मानने लीजिए, मैं क्या हूँ, जिसको अपने आपका

पता नहीं वह शान्तिका पात्र कैसे हो सकेगा ? किसी बड़ी भीड़मे कोई बच्चा गुम गया और बच्चा अपना पता न दे सके कि मैं अमुक हू, मेरे पिताका यह नाम है, मेरा यह घर है, तो उस बच्चेका ठिकाना लग सकता क्या ? और, भूल गया, भीड़मे बिछुड़ गया, रो गा रहा मगर पता है उसको अपना कि मैं यह हू, मैं इस जगह का रहने वाला हू, लोगो को बतावेगा, सो लोग उसे ठिकाने पहुँचा देंगे। तो ऐसे ही जिस जीवको अपना पता नहीं है उसका क्या ठिकाना लग सकता, वह तो रुलेगा, यहाँ वहा भटकेगा, तो परमात्मा से बिछुड गया ना ? वह अज्ञानी, उसकी क्या खैर क्या है ? जिसको अपने आपका पता है वह कही भी रहे, अपने आपके स्वरूपमे अपनी झलक पाले, शान्ति हो जायगी। यहाँ बाहरी पदार्थ आश्रयभूत कारण हैं पञ्चेन्द्रियके विषयभूत पदार्थ इनका सम्बध जुडना, आश्रयभूत कारण हैं इनसे हटना, निमित्त कारणोसे हटना, नैमित्तिक भावसे हटना, एक सहज स्वभावको लेना·· यही तो उद्देश्य है मोक्षमार्गका । इसमे फर्क ही नही तो विवाद बनावें, एक ही बात है, आश्रयभूत कारणसे हटना मायने विषय कषायोके आधार आश्रयभूत जो ये बाहरी पदार्थ हैं परिजन मित्रजन वगैरह उनसे हटनेके मायने यह ध्यानमे लावें कि बाहरी परिणतियाँ मेरे को सुख दुख क्लेश सक्लेश पैदा नही करती, किन्तु यह मैं आत्मा ही अपने मूडमे किए हुए उन बाहरी पदार्थोंमे उपयोग जुटाकर खुद अपने को सुखी दुखी मान अनुभव करता हू, ये बाहरी पदार्थ मेरेको दुखी नही करते, मेरे मे कोई परिणति नही करते, ऐसा परिचय पा लेना यह ही आश्रयभूत कारणसे हटना है। फिर और विशेष हटे एक सयममे बढते हुए, पर इसका यह हटाव भी तो एक प्रारम्भिक कदम है।

१५६९—आश्रयभूत कारणसे हटनेकी प्रक्रिया—

कोई भी बाहरी पदार्थ मेरेको सुखी दुखी नही करता, यह बात जब चित्तमे नही रहती तो बडा कष्ट उठाना पडता है, कोई भी जीव मेरेको सुखी नही कर सकता। मैं ही स्वभावसे चिगता हूँ और अपनेमे कल्पनायें बनाकर दुखी होता हूँ, कभी किसी रिसाते हुए बच्चेको देखा होगा पैर फैलाकर बैठ जाता और हाथ पैर हिला हिलाकर रोता रहता। अगर बहुत देर तक रोते-रोते कुछ रोना कम होता है तो फिर वह बल लगाता है और पैरो को तोड मरोड कर फिर अपनेमे वह बात लाना चाहता है तो जैसे वह बालक अलग बैठा बैठा रोता रहता उसे कोई मार भी नही रहा पर रोने की आदत है ऐसे ही ये अज्ञानी जीव स्वय अपने आपको दुखी कर रहे, वस्तु तो कोई दूसरा जीव किसी दूसरे को दुखी करनेमे समर्थ नही, अगर कोई सोचे कि इस दूसरे ने मुझे दुखी किया तो वह उसका अध्यवसाय है, मोह है। ऐसी भिन्नता का परिचय होता यह कहलाती है आश्रयभूत कारणसे हटनेकी प्रक्रिया।

१५७०—निमित्तकारणसे हटनेकी प्रक्रिया—

अच्छा, और उक्त ही प्रक्रिया है निमित्त कारणसे हटने की, मुझे अपने आपके विकारके कारणो से हटना है, कषायका उदय आया, क्रोध प्रकृति का उदय आया, अन्य अन्य प्रक्रियावो का उदय आया यहाँ आत्मामे क्रोधादिक जगे और जो यह मानेगा कि देखो अमुक ने क्रोध पैदा कर दिया, कर्मने इस जीवमे क्रोध परिणति कर दी, अब निमित्तसे हटने की गुजाइस कहाँ रही ? निमित्तभूत कर्म प्रकृतियाँ इस जीवमे रागादिक परिणमन नही करती, अगर करे तो ऐसे ही चाहे ईश्वरको मान लो चाहे कर्मको चाहे यह कहो कि ईश्वर ने दिया दुख सुख, चाहे कर्मने दिया यो कह लो, हाँ तो फिर कैसी बात भई ? ये विकार कैसे पैदा हुये ? विकार यो पैदा हुए कि उस कर्म विपाकके उदयकालमे ऐसा ही वह निमित्त योग है कि यह अशुद्ध उपादान वाला जीव अपनी परिणतिसे क्रोधरूप परिणम गया। अच्छा

यही बता दो कि इतने श्रोता जो यहाँ पर बैठे हैं वे सब हमारे को ये सब परिणतियाँ कर रहे क्या ? अरे हमारी परिणतियों को दूसरा कोई नही कर रहा पर एक वातावरण ही ऐसा है कि इन सब श्रोतओंका ऐसा सन्निधान पाकर हम अपने अन्दर अपनी परिणति कर रहे, अगर ये सब श्रोता न होते और मैं इस जगह बैठा हुआ अकेला ही इस तरह से बोलने, हाथ हिलाने आदि की चेष्टायें करता तो देखने वाले लोग तो समझते कि आज तो महाराज जी, कुछ पागलोकी जैसी चेष्टाये कर रहे, तो इस वातावरणके बिना मैं इस प्रकार कह नही सकता, यह ही तो बात है रागादिक परिणतिकी । कर्मके उदयके बिना यह जीव राग विकार कर नही सकता, पर कर्मने अपनी परिणति से राग कर दिया हो यह बात नही, तो निमित्तसे हटना, आश्रयभूत कारणसे हटना इन दो का हटाव परस्पर कर्ता कर्म बुद्धि के प्रतिषेध से हुआ ।

१५७१—नैमित्तिक भावोसे हटनेकी प्रक्रिया—

अच्छा आश्रयभूत कारण व निमित्तकारण दो से तो हटा दिया, अब नैमित्तिकभावसे कैसे हटे ? जो एक खास बात है, अत्यन्त निकटकी बात है, खुदमे जुडा हुआ ऊधम है, उससे जीव कैसे हटे ? तो तो नैमित्तिक भावसे हटनेका उपाय निमित्तनैमित्तिक योगका परिचय करना है । अब आप यही प्रयोगात्मक देख लो, दर्पण रखा है, सामने लाल चीज रखी है तो उस लाल चीजका फोटो दर्पणमे आया हुआ है, अब वह लाल फोटो हटाना है तो कैसे हटावे ? जब यह ज्ञानमे है कि यह फोटो अमुक लाल कपडेका निमित्त पाकर हुआ है तो आपको उसके हटानेका भी उपाय मिल जाता, चूकि ये दोनो अचेतन हैं इसलिए कपडा हटा दिया, फोटो हट गया । पर चेतनमे तो यह विधि नही कि कर्मविपाक को हटा दे और जीवविकल्प हट गया । होना तो यो हो है कर्मविपाक न रहा तो विकार न रहे जीव मे होने की बात दूसरे ढगकी नही, पर यह जीव कर्मविपाकको हटाये कैसे ? अपने ज्ञानको सम्हाले तो कर्म विपाक हटेगा । तो चूकि ये रागादिक विकार नैमित्तिक है, मुझे इनसे प्रयोजन नही, रुचि नही, इनमे मैं न लगूगा, ये दुख रूप है, दुखी करने वाले है, इनमे मेरा प्रयोजन नही है । ऐसी उपेक्षासे ज्ञानस्वभावमे प्रवेश होता है ।

१५७२—अनात्मतत्त्वसे हटकर स्वभावाश्रय करनेके पौरुषका प्रकाश—

आश्रयभूत कारणसे हटना है निमित्त कारणोसे हटना है, नैमित्तिक भावो से हटना है और अपने सहज स्वभावमे आना है, जिस विधिसे इन तीनो का हटाव बनता हो उस विधिसे ज्ञानप्रयोग किया जाय उद्देश्य यह है कि मैं सर्व पर और परभावोसे हटकर अपने आपके स्वभावमे मग्न होऊँ । स्वभाव दृष्टि, स्वभावका आश्रय, यह है तृतीय भूमि । इसका भी नाम अप्रतिक्रमण है । और अज्ञानी होनेसे जो असयमभाव हैं, जो दोष कर रहे है उन पर ग्लानि भी न आना आदिक जो एक उद्दण्डता इसे भी अप्रतिक्रमण कहते और द्रव्यप्रतिक्रमण मायने सयमी पुरुषके, व्रती पुरुष के कदाचित कोई दोष लग जायें तो उन दोषोकी निवृत्तिके लिए जो साधना करते, गुरुसे निवेदन करते, प्रतिक्रमण करते यह कहलाता है द्रव्य प्रतिक्रमण और भावसे भी अपने साथ है तो यही भाव प्रतिक्रमण है, तो यहाँ यह बात जानना कि अज्ञानीजनो का अप्रतिक्रमण तो अत्यन्त विप है ही, उसमे दूसरी बात सोचने की गुजाइस नही, मगर ज्ञानी जीवके जो प्रतिक्रमण चलता है वह एक निगाहसे देखा अमृत कुभ और एक जगहसे देखा विषकुम्भ । और ये प्रतिक्रमण व्रत तप सयम आदिक ये सब व्यवहार चारित्र ये भी अमृत बनें, इसका कारण क्या ? वह तृतीयभूमि

१५७३—ज्ञानके अवशिष्ट दोषोके प्रतापके परिचयसे ज्ञानीके ज्ञानकी श्लाघ्यता—

ज्ञानी जीवके साथ, सम्यग्दृष्टिके साथ जो कुछ राग शेष रहता है वह उस रागवश जो कुछ प्रवर्तन होता है उसकी भी बडी महिमा है। तीर्थंकर प्रकृतिका बध हो गया तो क्या वीतराग भावसे बध हुआ? उस सम्यक्त्वके रहते हुये जिनको भीतरमे यह भावना उत्पन्न हुई है कि मैं लोगोका कल्याण करूँ उनके तो यह कर्तृत्वभाव बन गया, किन्तु ये जगतके जीव जिनको स्वभाव दृष्टिगोचर हो रहा है, यह जीव उपयोगस्वरूप खुद ही तो आनन्दस्वरूप है, ये जीव क्यो नही अपनी दृष्टि अपनी ओर लगाते और ससार सकटोको मेटते? इस भावनाके फलमे उन्हे तीर्थंकर प्रकृतिका बध होता। तो देखिये जैसे—किसी बडे मिनिस्टरके साथ छोटे छोटे सिपाही भी हो तो उनकी भी महिमा होती है उनसे भी लोग डरते है, उनका भी लोग आदर करते हैं, उनका भी कुछ प्रभाव है। ऐसे ही ज्ञानी जीवके साथ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र जहाँ तक जो सम्भव है उसके साथ जो कुछ राग शेष रहा है उस रागकी भी इतनी अद्भुत महिमा है कि इन्द्र चक्रवर्ती आदिकके बडे ऊँचे ऊँचे पद यह जीव प्राप्त कर लेता है। अगर लक्ष्य रहे अपने आत्मस्वभावका तो इन दोषोमे भी प्रभाव बनेगा इतना ऊँचा। और आत्मस्वभावका लक्ष्य नही है तो इन दोषोमे भी बल नही होता। तो बात जो जहाँ जैसी है समझिये, अपनेको ऊपर ऊपर चलना है, नीचे नही उतरना है, मायने नीचे उतरनेका यत्न नही करना है।

१५७४—प्रभुस्वरूपदर्शनका विशुद्धिमे सहयोग—

अपने आपकी भावनामे उत्कृष्टता जगे, विशुद्धि जगे, इन सबके उपाय बनायें, क्या क्या उपाय बनें, बनावे? देखो तीन बातें तो कहते आ रहे—देवदर्शन, स्वाध्याय, गुरुसेवा, इन तीनोका अद्भुत प्रभाव है, देवदर्शन करना, प्रभुके गुणोका स्मरण, अपने स्वभावका स्मरण, प्रभुसे और अपने उस अन्त स्वरूपसे तुलना और जब पर्यायकी तनिक खबर भई, यह वीतरागता और यहाँ सरागता इतनी बातमे इतना बडा अन्तर है कि वे तो है पवित्रप्रभु त्रिलोकाधिपति और यह मैं बन रहा ससारी भिखारी, जब इसकी सुध नही आती तो यह एक खेदमे होता, प्रभु पूजामे, देवदर्शनमे और जब स्वरूपकी तुलना होती है तो एक अद्भुत आनन्द जगता है उमग जगती है कि मैं भी तो यह हो सकता हूँ। जरा भी तो रुकावट नही, स्वरूपकी समता है। तो भला कभी कोई ऐसी नदी देखो कि जिसमे दो नदियाँ एक जगह आकर मिल गई, एक नदी ठडे जल वाली और एक नदी गरम जल वाली। देखा है कि रुडकीमे है एक दृश्य ऐसा कि जैसे मानो पूरब दिशासे पश्चिमकी ओरको नदी निकली और उत्तर दक्षिणको ऊपरसे नहर निकली। उन दोनोका पानी एक जगह मिल जाता और वहाँ इन्जीनियरोने कोई ऐसा पुल बनाया है कि जिसमेसे पानी झरता रहता है, जिस दिन पानीका झरना बन्द हो जायगा उस दिन वह पुल टूट जायगा, ऐसा भी इन्जीनियरोका कहना है। तो वहाँ जब दोनोका पानी एक जगह मिलता तो वहाँ गरम जल व ठडा जल ये दोनोभी अलग अलग महसूस होते। तो ऐसी ही बात यहाँ देखना है कि प्रभु भक्तिके समय जो भक्त को अन्दर अश्रुपात होवे उसमे दोनो प्रकारके अश्रुवो का समावेश होना चाहिए, एकता आनन्द के अश्रुव और दूसरे अपने दोषोके प्रति पश्चाताप के अश्रु ऐसी स्थितिमे अपने अन्दर एक बडी पवित्रता जगती हैं।

१५७५—सभी अनुयोगोके स्वाध्यायकी लाभ करता—

अच्छा अब स्वाध्यायकी बात सुनो स्वाध्याय मे जो कुछ भी बढें उससे अपने आत्मस्वभावकी दृष्टि बने, इस तरह के मूड से पढना चाहिए, और पढें सब। कभी कोई कथा ग्रन्थ भी लिया जाय,

कभी चरणानुयोग ग्रन्थ लिया जाय, दार्शनिक शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र, करणानुयोग देखिये—प्रगति के लिए बहुत सभी उपाय है सो आप खुद अनुभव कर लेंगे, क्योंकि मान लो हम एक ही तरह का छोटा शास्त्र लेकर बैठ गए, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता, बस यही चार छेह दस बार बोले। रोज रोज, तो ऐसी रूटीन बन जायगी कि जैसे ठठेरे का कबूतर। जैसे एक ठठेरेकी दूकानमें कोई कबूतर रहता था, अब वहाँ तो २० घंटे बस वही ठन-ठन की आवाज होती रहती थी, अब वह कबूतर वहाँ उड़े ही नहीं, बस वही खूटीपर बैठा रहा करे। मानो किसी ने पूछा उससे कि रे कबूतर तू तो जरा सी ठन ठन की आवाज सुनकर उड़ जाने वाला पक्षी है, पर इस दूकानमे तो बहुत ठन ठन की आवाज होती ही रहती वहाँ से क्यों नहीं उड़ता? क्यों बड़े ठाठ से बैठा रहता? तो मानो वह कबूतर बोला भाई क्या करें, ऐसा तो रोज रोज ही ठन ठन होता रहता, हम कहाँ तक रोज रोज उड़ें? तो यहाँ आप प्रयोग करके देख लो, आपमें कुछ प्रगति होती है या नहीं, यदि नहीं होती है तो कुटेव छोड़ दो। दार्शनिक शास्त्रमे जहां आत्मतत्त्व विवेचनात्मक चलता है आपको आध्यात्मिक तत्त्वका जानकार बनेगो तो चूंकि वह युक्तिपूर्वक अनुमान पूर्वक अविनाभावका दर्शन कराता हुआ प्रतिपाद्य तत्त्वका वर्णन करता है तो आपको अपनी उस प्रक्रियाके वर्णनमें अपने आपके ज्ञानस्वरूपके निर्णयमे एक ऐसा स्पष्ट प्रकाश मिलेगा कि उपयोग आनन्द विभोर हो जायगा। आप पढ़े प्रथमानुयोग के ग्रन्थ, कभी कोई चारित्र पढ़े, मानो श्रीराम भगवानका चरित्र पढ़े तो उन प्रसंगो में आपको बड़ी उमंग जगेगी, जब वर्णन आता है चक्रवर्तीका इतना बड़ा वैभव और जब विरक्त हुए तो उपेक्षाका परिणाम न बनेगा क्या? थियेटर (नाटक) देखने के मायने क्या? वह एक प्रथमानुयोग का स्वाध्याय समझो। मान लो आप अकलंक निकलंक नाटक देख रहे तो वहाँ आप क्या दृश्य देख रहे कि अकलंक निकलंकसे बार बार प्रार्थना करता है कि ऐ मेरे भैया देखो हम तुम दोनों को जैन धर्मावलम्बी जानकर ये विद्वेषीजन अपने अपने हाथोंमे खड्ग लिए हुए हम तुम दोनोंको मौतके घाट उतारने आ रहे हैं सो तुम यहीं कहीं छिप जावो किसी झाड़ीमें या तालाब में, मैं इनके पास जाकर सहर्ष अपने प्राण न्योछावर कर दूंगा, तो वहाँ वह निकलंक क्या कहता है, भैया मुझे इस बात की भिक्षा दो, मैं तुमसे यह माँगता हूँ कि तुम तो किसी तरहसे लुक छिपकर बच जाओ और मुझे ही सहर्ष उनके पास जाकर प्राणों का दान दे देने दो।⋯इस प्रकार की बातें जब नाटक में देखते हैं तो वहाँ कैसा एक दयासे हृदय भर जाता है, तो प्रथमानुयोग के ग्रन्थों को पढ़ने से भी एक बहुत बड़ी प्रेरणा मिलती। जब करणानुयोगके ग्रन्थ पढ़े तो वहाँ भी इस बातका चिन्तन करना चाहिए कि मेरे अन्दर ये कोई कषायें न जगें, उसका ही तो प्रभाव बनता है, तो करणानुयोग के ग्रन्थों का विषय नरकभाग, स्वर्ग भूमियें, चिन्तनमें जब यह उपयोग लगता है तो वहाँ कषाय नहीं जगते, वहाँ एकाग्रमन होता, और उनमें भी कर्मकी चर्चा करना इसको अध्यात्म शास्त्र कहा, धवला वगैरह में देखो ये अध्यात्म शास्त्र ⋯ भावने आत्मामें जो गुजर रही उसका वर्णन करे।

१५७६—प्रभुपूजा, स्वाध्याय, गुरुसेवा करते हुए अन्तस्तत्त्वकी उपासनामे मोक्षमार्गमें निर्बाध प्रगति—

अब यहाँ अपने ढंगसे सोच लो, निमित्तसे हटना, नैमित्तिकसे हटना, आश्रयभूत कारणसे हटना है, ⋯ दोनों सो आप यहाँ भी कोई चीज पायेंगे? सर्व प्रकारसे स्वाध्याय करें और जीवनभर ⋯ आत्मदर्शन करनेके सिवाय और कुछ काम नहीं पड़ा है ऐसा मानना एक मजबूत निश्चय करें, ⋯ सेवा, जिन इनमें सेवा होती, क्षमा होती, वह जिन समर्पित है तो गुरुसेवा है और जहाँ जिन

अलग है, वहाँ गुरुसेवा नही बनती। बहुत से भाई ऐसी बात सामने रखा करते कि हम तो बहुत बहुत स्वाध्याय करते मगर हमारे भावोमे तो कुछ प्रगति नही होती, तो भाई यो कैसे भावोमे प्रगति बने ? इसके लिए तो तीन बातें चाहिए देव दर्शन, स्वाध्याय और गुरुसेवा, इन तीनो से अपने जीवनमे एक विकास करना है, बढे चलो जो काम कर रहे आप वह क्या अमृत है ? हाँ है, तो क्या अमृत ही हैं ? नही हैं। यह काम करने के लिए काम नही है, किन्तु एक शुद्ध अतस्तत्व स्वभावकी प्राप्तिके लिए यहाँ से भी गुजर रहे, इस तरह अपने जीवनको निर्मोह और मद कषाय इन दो विधियोमे बितायें तो इससे भविष्यमे आत्मगुणो का विकास होगा।

प्रमादकलितः कथ भवति शुद्धभावोऽलसः, कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमित स्वभावे भवन्मुनिः, परमशुद्धता व्रजति मुच्यते वाचिरात् ॥१९०॥

१५७७—प्रमादकलित भावकी अशुद्धता—

इसमे ऊपरके छन्दमे बताया कि जहाँ प्रतिक्रमणको भी विष कहा वहाँ अज्ञानी जनोका अप्रतिक्रमण अमृत कैसे बन जायगा ? फिर हे भव्य जीवो ! क्यो प्रमाद करते हो ? प्रमाद कर करके क्यो गिर रहे हो, नीचे क्यो जा रहे हो ? क्यो नही प्रमाद रहित होकर ऊपर-ऊपर चढते हो ? याने प्रतिक्रमणसे भी ऊपर जो एक तृतीय भूमि है उसमे निवास करें। आजके छन्दमे कह रहे हैं कि प्रमाद क्या चीज है और प्रमादसे होता क्या है और तब कर्तव्य क्या है एव उसका फल क्या है ? प्रमाद कहते है कषायके भारसे वजनदार हो जानेसे जो मोक्षमार्गके भावमे अलसता आती है ऐसी अलसताका नाम प्रमाद है। लोकमे देखा जाता है कि जो प्रमाद लिये हुये हैं उसने कोई नशाका भार या जैसे बहुत ज्यादह नसेली चीज खाई है उससे एक बडा बोझ सा होता है, वह गिर जाता है । ऐसी स्थितिको ही तो आलस कहते हैं। आलसियोकी बहुत बडी विचित्र कथा है। उनकी क्या होड लगाते। उनकी एक कथा सुनी होगी। कोई तीन आदमी कही जा रहे थे। रास्तेमे एक जामुनके पेडके नीचे लेट गये। एक जामुन एक पुरुपके बगलमे गिरा। एक दूसरे पुरुपकी छातीपर गिरा और एक तीसरे पुरुपके बिल्कुल ओठोपर गिरा। अब वे इतने आलसी कि सभी एक दूसरेसे बढ बढ कर कि उनमेसे एक कहता है कि भैया इस जामुनको कोई उठाकर हमारे मुखमे धर देवे, जिसकी छातीपर जामुन पडा वह कहता कि कोई इस जामुनको उठाकर मेरे मुखमे धर देवे, जिसके ओठोपर जामुन धरा वह कहे भैया हमारे ओठ खोलकर यह जामुन कोई हमारे मुखके अन्दर कर देवे। ऐसी तो है इन लौकिक आलसियोकी बात। फिर मोक्षमार्गके आलसोके तो भावही नहीं। मोक्षमार्गमे आलसी कौन ? जिसको अपने स्वभावमे मग्न होनेके लिए उमग न जगे उसे कहते हैं प्रमादी (आलसी)।

१५७८—प्रमादकी मुद्रायें—

छठवें गुणस्थानमे प्रमाद रहता है। लोग सुनकर जरा अटपटा सा ख्याल करते कि छठे गुणस्थान वाले मुनि महाराजको कहते है यह प्रमादी है, तो प्रमादके मायने क्या ? मोक्षमार्गके उचित काममे, स्वभाव दृष्टिमे प्रमाद करना, अन्य-अन्य बातोमे लगना इसे कहते हैं प्रमाद। व्यवहारमे लगना, शिक्षा देना, दीक्षा देना, उपदेश देना ये सब प्रमाद है मोक्षमार्गके लिए। इनसे भी हटकर निर्विकल्प आत्मसाधना करना यह है अप्रमाद। चार प्रकार की कथायें—स्त्रीकथा, राजकथा, राष्ट्र कथा, भोजन कथा। ये चारो मोक्षमार्गमे बाधक हैं। स्त्री चर्चा मायने स्त्रियोंके साज श्रृगार भोग विलास सम्बन्धी चर्चायें करना, राजकथा—राजाके ठाठबाट वैभव साम्राज्य यश प्रतिष्ठा, भोग विलास आदिकी चर्चायें करना

राष्ट्र कथा–देश विदेश की खबरें पढना सुनना आदि, भोजनकथा खाने पीनेके मौज उडाने आदिकी चर्चायें करना ये सब कथायें इस जीवके मोक्षमार्गमे बाधक है, ये सब इस जीवके प्रमाद कहलाते हैं। क्यो जी ? कोई बहुत बडा पहलवान हो, वह खूब दण्ड बैठक कसरत व्यायाम कर रहा हो तो बताओ वह प्रमाद कर रहा कि नही ? अरे वैसे तो बाहरके देखनेमे वह प्रमाद नही कर रहा मगर मोक्षमार्ग मे कदम रखनेके लिए तो उसका प्रमाद चल रहा है, मात्र शरीरके पुष्ट रखनेकी उसकी दृष्टि है, शरीरकी सेवा करनेका तो उसे बडा ध्यान है, पर आत्माकी सेवा करनेका उसने अपना प्रोग्राम ही नही बनाया तो फिर उसे मोक्षमार्गमे आलसी नही तो फिर क्या कहा जायगा ? तो चूँकि जो प्रमाद से भरा हुआ जीव है वह आलसी है जो जिस काममे रुचि न रखे, प्रगति न करे उसे कहते है उस काम मे आलसी। तो ऐसे जो प्रमादसे आलसभावसे भरे हुये हैं उनके शुद्धभाव कैसे हो सकते ?

१५७६—प्रमादभावोंसे हट कर अन्तस्तत्त्वमे उपयुक्त होनेके कर्तव्यका स्मरण—

देखो अज्ञानी जनोका जो अप्रतिक्रमण है, अविरत है, असयम है, वह जो आलस्य है, प्रमाद है, सो विष है, उसकी निवृत्तिके लिए जो व्रत तपश्चरण आदिक किये जाते हैं उनमे रहने वाला जो विकल्प है वह विकल्प भी प्रमाद है। वहाँसे हटकर जो केवल एक विशुद्ध तत्त्वमे उपयोग रखे, अप्रमत्त दशा मे रहे यह है अप्रमाद। तो प्रमाद रहित होनेमे पूरा भला है। देखो जिसका होनहार भला है उसको ही इस अतस्तत्त्वकी चर्चा सुहायेगी। इस अतस्तत्त्वकी साधनाका सग सुहायगा। यह अतस्तत्त्व जहाँ प्रकट हुआ है विकसित हुआ है उसकी भक्ति सुहायेगी। अतस्तत्त्वका ध्यान सुहायगा, और जिनका ससारमे जन्म मरण चलेगा उनको तो विषय विष ही सुहायगा। ससारमें बतलाओ कौन सुन्दर है और कौन असुन्दर है ? पुरुष लोग स्त्रीजनोके बारेमे सोचते होगे कि इनका रूप सुन्दर है और चाहे स्त्रीजन भी ऐसा ही पुरुषोके प्रति सोचती हो, अब जरा एक व्यापक दृष्टि तो लावो–कौन सुन्दर कौन असुन्दर? किसीको कोई सुहाता किसीको कोई, जैसे देखा होगा कि गाय, बैल, भैंस वगैरह पशुओमे भी जब उनके पसन्द करने वाले लोग उनके पास जाते तो कोई किसी जानवरको पसन्द करता कोई किसीको। ऐसे ही अपनी बात समझना। अरे इस जगतमे कोई सुन्दर नही। इस जीवको रागभाव होता है वह पर वस्तुको सुन्दर बनाता है। जिसके रागभाव नही है, घृणाभाव है वह उस पदार्थको असुन्दर बनाता है। नही तो बतलाओ जो यहाँ कधेके बीच रखा है यह सिर मस्तक इसमे क्या-क्या गन्दी चीजें नही भरी है–अरे नाक, कनेऊ, थूक, कफ, कीचड, खून आदि महा अपवित्र चीजें इसमे भरी है बस ऊपरसे एक पतली चाम ढकी हुई है। इतनी अपवित्रताका जिसे पता है उसको कैसे सुन्दर जचेगा ? जिसको राग-भाव लगा, काम वासना लगी वह तो ये कुछ अपवित्रताये न देखेगा, उसे तो एक अपूर्व चीज दिखती हैं, सुन्दर दिखती है। जगतमे बाहरमे कुछ भी अपना हितकार तथ्य नही है, अपना हित अपनेको अपनेमे अत प्राप्त है। अपने रससे भरे हुए निज स्वभावको देखो।

१५८०—अज्ञानहठके परिहारसे आत्मविकास—

कोई मनुष्य जगह-जगह डोलता है, ठोकरें खाकर घरमे आरामसे बैठता कि मेरेको बाहरमे कोई शरण नही। यह जीव अनादिकालसे बाहरी बाहरी चीजोमे रमकर, ठोकरे खाकर अब तक इस तरह दुखी होता आया है मगर अपने आनन्दमय घरमे नही बैठ सकता। जिस भवमे जाता उस भवमे जो मिलता वह उसे ऐसा नया लगता कि मानो इसने कभी पाया ही नही। तो बाह्य वस्तुओ मे रमना यह प्रमाद है, क्योकि उसके साथ मोह और कषाय दोनो ही लग रहे है–अज्ञान है और कषाय

है। जो जैसा करता है वैसा भरता है, ऐसा जानकर कषायके हुक्ममे अपने आत्माको मत लगावें। जो कषायने हुक्म दिया, जो रागने प्रेरणा दी उसमे ही बह गये, वही पकडकर रह गये ऐसा आग्रह न करो। इस आग्रहका फल बुरा होता है। इस आग्रहके सम्बन्धमे एक घटना सुनो-एक गाँवका कोई मुखिया किसी पचायतमे इस बातपर हठकर गया कि ३० और ३० मिलकर ७० ही होते हैं। बाकी सब लोग कहे कि ६० ही होते है। कुछ शानमे आकर मुखिया बोला कि यदि ३० और ३० मिलकर ७० न होते हो तो मैं अपनी सारी भैंसे हार जाऊँगा। अब तो सभी पचोने समझ लिया कि इस मुखियाकी सभी भैंसे हम लोगोको मिल जायेंगी। उधर मुखियाकी स्त्रीको भी पता पड गया कि आज हमारे पति देव साहब पचोके बीच इस इस तरहसे बोल गये सो वह बडी दु खी थी, वह सोच रही थी अब क्या होगा, सारी भैसे घरसे चली जायेंगी, अब न जाने बच्चोका पालन पोषण कैसे होगा ? कमाईका और कोई जरिया भी नही है इस प्रकारका चिन्तन करती हुई वह मुखियाकी स्त्री घरमे उदास बैठी हुई थी। उसी समय मुखिया पहुचा घर। स्त्रीको बहुत दु खी पाया। दु खी होनेका कारण पूछा। तो स्त्री बोली तुम्हारी करतूतने हमको दु खी किया। अरे कैसी करतूत ? यही कि तुम पचोके बीच यह बोल आये कि ३० और ३० मिलकर अगर ७० न होते हो तो मैं अपनी सारी भैंसे दे दूगा , तो मुखिया बोला—अरे तू तो बडी भोली है, जब मैं अपने मुखसे कहूँगा कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं तभी तो वे हमारी भैंसे ले सकेगे। अब बताओ ऐसा तो आग्रह लोग करते। तो ऐसे पक्ष आग्रह विषय ये सब मोक्षमार्गमे बाधक है। इनसे हटना है। ऐसी प्रवृत्तिसे भरा हुआ जो भाव है अशुभभाव, पाप भाव, अज्ञान भाव, वह शुद्ध भाव कैसे हो सकता है। और, जब शुद्ध भाव नही है तो फिर शान्तिपथमे गमन कैसे हो सकता।

१५८१—स्वरसनिर्भर स्वभावमे स्थिर होनेका कर्तव्य—

अब क्या करना है कि स्वरससे भरे हुये स्वभावमे स्थिर होते हुए, चैतन्यरस प्रतिभासमात्र सहज आनन्दमय अन्तर्भावमे नियमित होते हुये अपनी साधनामे चलते हुये उस परम शुद्धताको प्राप्त करो। देखिये जो जिस प्रकारका उपयोग रखता है, एकाग्र होकर जैसा ध्यान रखता है, बस उसकी वैसी ही वृत्ति बन जाती है। चाहे कोई खेल भी हो, नाटक हो, किसी जगत् हो, जैसा अपनेको सोचा उसके अनुसार उसकी वृत्ति बन जाती है। बच्चे लोग भी तो घोडेका खेल खेलते। दोनो हाथ दोनो घुटनाये पैरोसे चलकर घोडेका खेल खेलते, वे उस समय अपनेको घोडारूप अनुभव करते, एक दूसरेके सिर से सिर भिडा देते, जोर जोरसे एक दूसरेके सिरमे सिर मार देते, उनमे तेज लडाई सी हो जाती। उस समय वे बालक अपनेको घोडा रूप अनुभव करते। ऐसे ही जब मानलो बालक पैदा हुआ तो उस समय पिता यह अनुभव करता कि मैं इस लडकेका बाप हूँ तो इस निर्णयके साथही साथ कितनी उमग होती है, कितना भार होता है याने वे सब कलायें आ जाती जो कि बापके अध्यवसायमे बना करती हैं। इस आत्माका धन सिर्फ ज्ञान है और ज्ञानके द्वारा ये सब कुछ अपनी परिणतियाँ और भविष्य बना करते हैं। उल्टा सोचना, खोटा सोचना, अच्छा सोचना, सब कुछ इस ज्ञानपर ही निर्भर है, तो जब ज्ञानसाध्य ही ये सारी बातें है, तो कोई अनुपम ज्ञान बनाना चाहिए जिससे कि ससार सकटोसे अपनी निवृत्ति हो जाय। जो शुद्ध तत्त्व निरन्तर ध्यानमे रखेगा वह शुद्ध बनेगा, जो अशुद्धरूप अपनेको अनुभवेगा वह अशुद्ध बनता हुआ ससारमे जन्म मरण करेगा। शुद्ध तत्त्वके मायने अपना सहज स्वरूप। मैं स्वय अपने आप क्या हूँ, उस भावमें अनुभव बनाये कि मैं यह हूँ। जो अनवरत अनवच्छिन्न धारा

से अपनेको शुद्ध स्वरूपमे निरखेगा, उसके कषाये हटेंगी, अज्ञान हटेगा। ऐसा अध्यात्मयोगी एक अद्भुत आनन्दका अनुभव करता है, यह है परमधन जीवका जिससे कि यह अमीर कहलाता। भैया धनके कारण अमीर मानना भ्रम है, धन न होनेके कारण गरीब मानना भ्रम है। उस दुनियाकी गरीबी और अमीरीसे आत्माको क्या लाभ अलाभ है।

१५८२—दुःखियो द्वारा सुखमुद्राकी बनावट—

भैया, थोडासा जीवन है। इतनेसे जीवनमे कुछ मान्यता सी बन गई, कल्पना बन गई, कल्पना से कुछ मौज मान रहा, सो उसमे भी जितना मौज माना उससे कई गुना कष्ट है, तो ऐसा लग रहा है यह सब दिखावा। जैसे अचानक कोई पुरुष किसीके घर पहुचता तो वहाँ उसका पता पाते ही उस घर वाला वह पुरुष क्या करता पहले तो जैसा चाहे फटा पुराना कोई कपडा पहने बैठा था, मानो फटे पुराने तौलिया बनियानी ही पहने हो, पर उस पुरुषके आ जानेपर साफ स्वच्छ कपडे पहनता, कुछ तेल लगाकर कघासे बाल औछता, कुछ अपना ढग बनाता तब वह उस पुरुषसे मिलता है। ठीक ऐसा ही हाल हम आप सबका चल रहा है। दुःख, कष्ट, विकल्प, विरोध, ईर्ष्या और और भी बाते जीवनमे चलती हैं मगर इनकी बाहरी मुद्रा देखकर तो यो समझमे आता कि इन्हे कोई कष्ट नही है, सब लोग बडे आरामसे बैठे हैं, तो यह उसी तरहकी तो बात हुई जैसे वह पुरुष घरमे कैसे ही फटे पुराने वस्त्र तौलिया, बनियानी वगैरह पहने था, पर किसी अतिथिके आनेपर नये नये पहन लेता, तेल, कघा कर लेता" ऐसे ही ये देखनेमे तो बडे शान्त सुखी नजर आतेपर जरा इनके भीतरकी बात तो पहचानो, ये भीतर ही भीतर कष्टकी ज्वालामे झुलस रहे हैं। तो यह सब अज्ञानकी लीला है। अज्ञानी की सारी बातें अज्ञानमय ही चलती हैं। अब क्या करना? अपने ज्ञानस्वभावको निरखो, शरीरसे कैसा ही रहो लोग कैसा ही समझे, इन लोगोकी समझसे अगर अपना आचरण बनाया व्यवहार बनाया तो पार नही पा सकते सबको हम खुश नही कर सकते। नम्रता करे तो कहते कि यह कायर है और कठोरता करे तो कहते कि यह घमडी है, थोडा बोलें तो कहते कि यह तो कुछ नही जानता, किसीसे इसको प्यार ही नही है। मौनसे रहे तो कहते कि किसीका यह ख्याल ही नही करता, खूब बोले तो कहते कि यह तो बडा बकवादी है, बहुत बोलता है।

१५८३—सबको प्रसन्न करनेकी अशक्यता—

यहाँ कोई किसी दूसरेको खुश नही कर सकता? मेरे खुश करनेसे सभी खुश हो जायें ऐसा हो नही सकता। कोई खुश होता तो कोई नाखुश भी। इसलिए यहाँ किसको खुश करना सोचते? इसके सम्बन्धमे एक दृष्टान्त लो--एक सेठके चार बेटे थे और ५ लाखकी सम्पत्ति थी। चारो खुशी खुशीसे सही न्यारे हो गए, तो सेठ बोला अपने बेटोसे कि तुम लोग सहर्ष न्यारे हो गए अब इसके उपलक्षमे सभी लोग बारी बारीसे प्रीतिभोज कराना, बिरादरीकी पगत कराना। ठीक है। सबसे पहले छोटे बेटेने बिरादरीकी पगत किया तो उसने ५-७ मिठाइयाँ बनवायी, बडा उत्सव मनाया, तो उस पगतमे बिरादरीके लोग जीमते जाये और कहते जायें कि मालूम होता है कि इसको सबसे अधिक धन मिला है। छोटा बेटा है प्यार भी इसीपर रहा होगा। चाभी भी तो तिजोरीकी इसके हाथमे रहा करती होगी, इसने बहुत सा धन तो दाब भी लिया होगा तभी तो यह बडा उत्सव मना रहा।" उसके बाद दूसरे बेटेकी बारी आयी प्रीतिभोज करानेकी तो उसने कोई दो तीन ही मिठाइयाँ बनवायीं। वहाँ बिरादरीके लोग जीमते जायें और कहते जाये देखो यह कितना बदमास निकला, इसने तो बस दो तीन

मिठाइयो मे ही टरका दिया, दाब रखा हो चाहे बहुत सा धन । तीसरे बेटे की पगत कराने की वारी आयी तो उसने मिठाइयो का नाम न लिया, बस वही पूडी साग बनवाया, वहाँ भी बिरादरी के लोग जीमते जाते और कहते जाते अरे यह तो बडा कजूस निकला, इसने तो मिठाई का नाम तक नही लिया, बस पूडी सागमे ही टरका दिया ', चौथे बेटे ने जब पगत किया तो उसने मिठाई पूडी साग ये कुछ न बनवाया, बस सीधी सादी रोटी दाल बनवाया, वहाँ भी बिरादरी के लोग जीवते जाते और आपस मे बात करते जाते अरे यह तो महा कजूस निकला । इसने तो बस रोटी दालमे ही टरका दिया। यह सेठका सबसे बडा बेटा था, सबसे पहिला प्यारा था । शायद सेठ ने इसको सबसे ज्यादह धन दे रखा होगा, पर यह सबसे कजूस निकला । तो भाई यहाँ किसको खुश करना चाहते, आप कितना ही कुछ कर ले पर किसी को खुश नही कर सकते । दूसरो को खुश करने की बात चित्तसे निकाल दो ।

१५७४—लोक को प्रसन्न रखने के लिये कमर कसने वालो की विडम्बना—

यहाँ आप कितना ही कुछ कर लें, पर आपके करने से सभी लोग खुश हो जायें ऐसा हो नही सकता । एक दृष्टान्त है कि एक बार कोई बाप बेटा किसी दूसरे गाँव को जा रहे थे सो बाप तो बैठा था घोडे पर और बेटा पैदल चल रहा था । तो जब किसी गाँव से निकले तो लोग बोले अरे देखो यह बाप कितना चालाक है । खुद तो घोडे पर लदा है और अपने सुकुमाल बेटे को पैदल चला रहा है, यह बात सुनकर बाप बोला अपने बेटे से, ऐ बेटे ! अब हम घोडे पर बैठकर नही चलेंगे, लोग हमारा नाम धरते हैं, अब तुम घोडे पर बैठकर चलो । ठीक है, बेटा घोडे पर बैठ गया, जब दूसरा गाँव मिला तो वहाँ के लोग बोले—देखो यह लडका कितना उद्दण्ड है, खुद तो हट्टा कट्टा पट्ठा घोडे पर लदा है और अपने बूढे बाप को पैदल चला रहा है । यह बात सुनकर बेटा बोला अपने बाप से पिता जी हम भी नही बैठेंगे इस घोडे पर क्योकि लोग हमारा नाम धरते हैं । खैर दोनो मे सलाह हुई कि अपन दोनो घोडे पर बैठ कर चल । सो दोनो घोडे पर बैठकर जा रहे थे, रास्ते मे कई तीसरा गाँव मिला, वहाँ के लोग बोले मालूम होता है कि यह घोडा माँगे का है तभी तो ये दोनो हट्टे कट्टे इस घोडे पर लदे हैं। यदि खुदका घोडा होता तो ऐसा न करते । इस बात को सुनकर दोनो ने सलाह किया कि देखो इसमे भी लोग नाम धर रहे तो चलो अब अपन दोनो पैदल चलें । अब दोनो पैदल चल रहे थे घोडे की लगाम पकडे हुए, आगे चौथा गाँव पडा, वहाँ के लोग बोले ये दोनो बडे मूरख मालूम पडते हैं, अरे जब पैदल ही चलना था तो फिर साथमे घोडा लेकर चलने को क्या जरूरत थी ? अब भला बतलाओ क्या काम करे वे दोनो जिससे कि सभी लोग खुश हो जावे ? शायद इस कामके करने से सब लोग खुश हो जावेंगे कि घोडे के चारो पैर रस्सी से बाँधकर उसके बाच एक लाठी फँसाकर दोनो (बाप बेटा) अपने अपने कधे पर लाठी रखकर घोडे को लादकर चलें (हँसी) । अरे भाई यहाँ किसको खुश करना चाहते ? यहा कितना ही कुछ कर लो, पर सब को खुश नही कर सकते । यहा मोहीजन सोचते है कि हमे तो ऐसा काम करना है कि जिससे ये सब लोग खुश रहे तो वे तो मोहियो के सिरताज कहलायेंगे । या सिरताज शब्द सुनकर खुश न हो जाना, जैसे डाकुओ का सिरताज, बदमासोका सिरताज, ऐसे ही मोहियो का सिरताज । अरे बाहरमे कही कुछ न सोचो, अपने भीतर परख करो, अपने सहज स्वभाव को निरखो और उसको निरखते निरखते अपने आपमे प्रसन्नता प्राप्त करो तो यह तो है भलाई का काम और इस अपनी स्वरूप सुध को छोडकर बाहर बाहर ही उपयोग भ्रमाया, भटकाया तो इसका फल नियमसे दुर्गति पाना है, ससारमे जन्म मरण करना है ।

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्य समग्रं स्वयं, स्वे द्रव्ये रतिमेति य स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्चलच्चैतन्यामृत पूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१६१॥

१५८५—अशुद्धिविधायि परद्रव्यके त्यागकी प्रथम कर्तव्य—

यह भव्य आत्मा किस प्रकार शुद्ध होता हुआ समस्त कर्मों से छूट जाता है उसका इसमे चित्रण किया है, इस जीवने सर्वप्रथम तो अशुद्धिका विधान करने वाले समग्र परद्रव्योको त्यागा, देखिये बात कुछ भी कही जाय आखिर दृष्टिमे दोनो है, अपने अनस्तत्त्वका परिचय हुए विना समस्त परद्रव्योको त्यागा कैसे जा सकता है ? तो यह समझ इसमे अन्डर स्टुड (Understood) है। जो सही ज्ञानमे, प्रवृत्तिमे आयगा, रास्तेमे आयगा कि वह जीव सर्वप्रथम समग्र परद्रव्योका त्याग करेगा, परद्रव्य हैं क्या ? समग्र आश्रयभूत पदार्थ, ये अशुद्धिको करने वाले है, इनका करने वाला मैं नही, पर अशुद्धिका जहाँ निर्माण होता है, वहाँ वह उसका आश्रयभूत है। चरणानुयोगका समग्रविधान इस ही कुञ्जीपर बना है कि अध्यवसानके आश्रयभूत जो जो भी द्रव्य है उनका त्याग करें और अपने अन्तरमे अपने स्वरूपको निरखे, परद्रव्योका त्याग, आश्रयभूत पदार्थोंका त्याग, अभक्ष्यका त्याग, और और भी परिग्रह परिमाण, अन्य अन्य का भी त्याग इस प्रकार पर द्रव्योका त्याग करें, क्योकि ये अशुद्धिके उत्पन्न होनेमे आश्रयभूत हैं। तथा और कौनसे परद्रव्यका त्याग ? निमित्तभूत कर्मद्रव्यका त्याग, उसका त्याग कैसे? यहाँ जानते ही नही कि कर्म हमारे बँधे है, तो फिर उनका त्याग कैसे करें ? अरे कर्मके फलमे भाव लगा रहा था ना? यह ग्रहण कर रहा था ना? कि यह मैं हूँ, तो कर्मफलमे अहकारका ममकारका जो त्याग बना वह यह साबित करता है कि कर्मका भी त्याग हो गया, और जानलिया इस युक्तिसे कि कर्म कोई द्रव्य है अन्यथाये विपाक, विभाव ये नैमित्तिकभाव होते कहाँ से ?

१५८६—विकारकी परभावताका परिचय होनेसे स्वय उपेक्षा—

एक कुञ्जी है कि जगतमे जिनपदार्थोंमे विकारभाव होते हैं, विलक्षणभाव होते है वे अन्य परद्रव्य के सगके निमित्तसे होते है, अन्यथा विकारभाव विलक्षणभाव, विषमभाव ये हो ही नही सकते। कोई भी पदार्थ अपने आपके ही द्वारा अर्थात् स्वय निमित्त होकर विकारको उत्पन्न नही कर सकता, नि:सग पदार्थमे तो अपने स्वरूपके अनुरूप ही परिणमन बनेगा। परिणमन करनेका स्वभाव तो है आत्मामे और स्वय परिणमनेकी उसके अन्दर बात है फिर भी विभावरूप परिणमने मे स्वय निमित्त नही है, वहाँ पर द्रव्यकर्म वही एक निमित्त है, उसके विपाककालके वातावरणमे यह जीव अपनी कमजोरीसे अपने आपमे विकार भाव उत्पन्न किया करता है। इसी कारण ये नैमित्तिक है, परभाव हैं, और ये परिचय ऐसी उमग दिलाते हैं कि तेरे स्वरूप नही हैं, विभाव तो इनसे निराला है, अविकार स्वरूप है, तो अशुद्धिको करने वाले निमित्तभूत पदार्थका त्यागकर उस निमित्त सन्निधान मे यहाँ उत्पन्न हुए आत्माके जो विभाव हैं ये नैमित्तिक हैं, वे भी परद्रव्य हैं, इनसे भी उपेक्षा कर जैसे यहा दर्पणमे फोटोको निरखते हैं तो यह ज्ञात होता है कि यह लाल पीला कपडा परद्रव्य है, ऐसा ही सहसा ज्ञात होता है निमित्त नैमित्तिक योगसे निरखते हुएमे कि यह फोटो भी पर है, तो समग्र परद्रव्योका पहले त्याग किया। अशुद्धतासे विविक्त अपने आपके स्वरूपकी परखमें उद्यमी, यह भव्यात्मा क्या क्या कर रहा हैं ? अपने द्रव्यमें यह रतिको प्राप्त होता है।

१५८७—बाहरी पदार्थमें शरण्यताकी असंभवता—

कहाँ प्रीति जगे, कहाँ वात्सल्य उमड़े, किसकी शरणमे जाऊँ, वह शरण है स्वद्रव्य। बाहरमें कुछ

भी इस जीवको शरण नही है । राजा भोजके समयमे एक बार सभी कवि राज दरबारमे उपस्थित थे, तो राजाने एक कविके बापसे कहा कि तुम एक समस्याकी पूर्ति करो । "क्व याम कि कुर्म हरिणशिशुरेव विलयति ।" अब यह कोई नियम तो नही है कि कविका बाप भी कवि ही हो, मगर पूछ दिया कविके बापसे । अब वह देहाती बिना पढा लिखा बाप था, वह क्या उत्तर दे सके ? कविसे पूछता तो जवाब भी मिलता । तो वहाँ अपने पुत्र कविसे वह बाप बोला--अपनी देहाती भाषामे कि पुरा रे बापा, याने इस समस्याकी तू पूर्ति कर दे । तो वहाँ उस कविने अपने पिताकी शान, इज्जत रखनेके लिए कि कोई यह न कह सके कि यह अज्ञानी है, मूर्ख है, सो पुरा रे बापाका ही एक श्लोक बना दिया पुरा रेवा पारे गिरिरतिदुरारोहशिखरे । गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहनज्वालाव्यतिकर । धनु पाणि पश्चान्मृगयुशतक धावति भृश क्व याम कि कुर्म हरिणशिशुरेव विलयति । जिसका अर्थ है कि रेवा नदीके एक पार पर एक हिरणीका बच्चा अपनी माँसे बिछुड गया । सैकडो शिकारी उसे मारनेके लिये पीछा कर रहे । वह हिरण बच्चा शिकारियोसे अपने प्राण बचानेके लिए भागे । आगे देखा तो नदीका भयकर तीव्र प्रवाह था, दाये बाये देखा कि भयकर अग्नि जगलमे जल रही थी अब वह हिरणा बच्चा यह दृश्य देखकर घबडाता है कि कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ? ठीक यही हाल इन ससारी जीवोका है । ये अज्ञानी जीव यहाँ नाना स्थितियोसे घबडाकर कभी घरमे रहे वहाँ भी अशान्त, घर छोडकर वनमे रहे वहाँ भी अशान्त, त्यागी बने वहाँ भी अशान्त, क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ यह सोच सोचकर दु खी होते है ।

१५८८—अहकार ममकार आदि अज्ञानभावोके दूर होनेमे ही कल्याणपथका लाभ—

देखिये जब तक अज्ञान भाव दूर न हो, स्वद्रव्यके सही स्वरूपका बोध न हो, तब तक इस जीव को शान्ति नही मिल सकती । गृहस्थ हो चाहे त्यागी हो, जैसे चाहे जैन हो, चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान सबके पैदा होने व मरनेकी विधि एक है । जिस कामकी जैसी विधि है वह काम उस ही विधि मे होता है । तो शान्ति पानेकी एक ही विधि है, दूसरी नही । अपने आपके सहज निरपेक्षस्वरूपका परिचय करे और उसकी दृष्टि करें, उसमे तृप्त होनेका अपना परिणाम करे । दूसरा परिणाम नही है शान्त होनेका । तो इस भव्यआत्माने समग्र परद्रव्योका त्याग किया और निज द्रव्यमे इसने रति की, अनुराग किया, वात्सल्य किया, अब यह जीव सर्व अपराधोसे दूर हो गया, अपने आत्माके सहजस्वरूप की प्राप्ति हुई उपयोग द्वारा, पूर्ण विकास हुआ । ज्ञानमे ज्ञान आया और यह ज्ञान वही रमना चाह रहा, वही रमनेका उद्यम कर रहा, यह तो अपराधसे दूर है । जैसे कभी कोई मास्टर अपने शिष्योसे कहता है कि देखो जिस शिष्यने यह अपराध किया हो वह बतादे तो उसका कसूर माफ, ऐसे ही यह जैन शासन कहता है कि जिसने ऐसा कसूर किया है वह यदि अपना कसूर समझ ले तो वह माफ हो जायगा । जिसने अपराध किया यदि अपना अपराध स्वीकार करले तो उसका दण्ड कम हो जाता है, अपराध यह हो रहा है कि यह जोव परवस्तुओमे अहकार रख रहा, और उसका कारण क्या कि इसने अपने स्वभावका विभावसे भेद नही किया । मैं क्या हूँ उस ओर इसकी प्रीति नही जगी । अपराध बन रहे, क्या अपराध बन रहे है अहकार—बाहरी पदार्थोमे यह मैं हूँ इस प्रकारका अहकार भाव, शरीर मैं हूँ और अत्यन्त भिन्न पदार्थ जो एक क्षेत्रमे भी नही उनके प्रति भी कह रहा, यह मैं हूँ । मोही ऐसा ममकार ममता कर रहा, देखते ही क्या दृष्टि बनती है । खुदका लडका दिख गया तो भीतरसे मन खुश हो गया । भले ही ऊपरसे अपनी मुद्रा दूसरोके सामने कुछ बनाये, मगर अन्दरसे उसका हृदय खिल गया । कैसी ममता भरी है ? और चाहे कोई बडा धर्मात्मा भी हो, साधु भी हो

पर उसके प्रति हृदयमें वात्सल्य का भाव नही उमडता, यह कितना एक मर्मता का गहरा विष पडा है, तो ममकार यह अपराध है, कर्तृत्व बुद्धि भी यह जीव कर रहा, मैंने ऐसा किया, मै ऐसा कर सकता हूँ, मेरे बिना भला कोई यह काम कर तो लेवे । यह सब क्या है ? अज्ञानभाव । यह अपराध कर रहे, जो अपराधी हैं वह शान्ति कैसे पा सकता ? भोक्तृत्वबुद्धि मै भोगता हूँ, मुझे ऐसा आराम है । मेरे ऐसा पुण्य है, ऐसा प्रताप है मैं उसको भोग रहा हूँ "ये सब बातें अज्ञानभरी हैं ।

१५८६—अज्ञानापराधके दूर होनेपर सत्समृद्धिका लाभ—

पहले यही तो परख कर लो कि मेरे ऐसी प्रवृत्ति चल रही या नही, चल रही तो इतना बडा जो अज्ञान बसाये हुए हैं, खुद तो इतने अधर्मी हैं फिर दूसरे जीवोंके प्रति क्यो प्रतिकूल व्यवहार ? अपराध रहित बने तो शान्ति मिलेगी । अपराध रहते हुए शान्ति नही हो सकती । अब यह जीव जिसने कि परद्रव्यो से उपेक्षा की, निज सहज स्वभावमें रुचि की, वह अपराध से दूर हो गया । अपराध से दूर हुआ कि बंधका ध्वस हो गया । बंधन तो अपराध तक था, अपराध की वासना तक था । जहाँ अपराध दूर हुआ वहाँ बंध तोड दिया गया । अब इस जीवको जिसने स्वभावाश्रयके बलसे समग्र पर द्रव्योसे नितान्त उपेक्षाभाव सिद्ध कर लिया और जब इससे ऊपर बढ रहा, धुन हो रही तो बीच-बीच मे जो विघ्न आते हैं, विकल्प उठते हैं, आश्रयभूत पदार्थोमे बसने के कारण विकल्प जग रहे है तो इतने समग्र आश्रयभूत का त्याग करना है । बाह्यमे कैवल्य, अन्तरङ्गमे कैवल्य दोनोका सहारा लेकर चलना है, निर्ग्रन्थ केवल ज्ञानमात्र की धुन होता है अपने आपके आत्मामे जो साधु हैं जो परमेष्ठी है उनके उपयोगमे मैं साधु हूँ, ऐसी आस्था नही होती । मैं चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ, अपने लक्ष्य को लिए जा रहे हैं, लक्ष्य मे बढते चले जा रहे हैं, अब समाधि बढती जा रही, श्रेणी में पहुच गए । वहाँ शुक्ल ध्यान चल रहा । शुक्ल ध्यान अग्नि से स्वाभाश्रय के प्रयोक्ता के जो एकाग्रता से ध्यान चल रहा, स्वभावरूप अपने ज्ञान को प्रवर्त रहा ऐसा जीव कर्मो का ध्वंस करता जा रहा है । और अब उसके ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ, वह भव्यात्मा ऐसी शुद्ध हुआ कि अब वह नित्य उदीयमान है ।

१५६०—प्रभुस्वरूपकी नित्य उदीयमानता—

कहते है ना कि यह सूर्य तो उदय होता और अस्तको प्राप्त होता, पर हे प्रभु आपका गुण, आपका पद, आपका प्रकाश यह अस्तको प्राप्त नहीं होता । नास्त कदाचिदुपयासि न राहुगम्य स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति । नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावं, सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके । लोग सूर्यको देवता कहा करते हैं । क्यो लोकमे प्रसिद्धि है कि उसके कारण बडा उपकार चल रहा है । खेती अच्छी होती है । सूर्यकी किरणें न मिलें तो खेती खतम, आराम खतम । १५ दिन सूर्य न निकले तो देख लो लोगोकी क्या दशा हो जाय ? हरा भरा रहना, उजेला रहना, यह सब उपकार देख करके पहले यह बात थी कि जिसका उपकार समझा उसीको देवता मानने लगते थे, उसीके प्रति बडी भक्ति रखते थे सो लोकजन सूर्यको आराधनीय देवता मानते हैं । भैया, सूर्यदेव तो जरूर है ज्योतिषी देव, मगर आराध्य देव नही । उपकार तो हो रहा उसके निमित्तसे, उपकार कोई किसीका करता नही; मगर परके सन्निधानमें ये बातें चल रही है ऐसे ही सूर्यसे भी अतिशायी है आपकी महिमा । वह तो बादलोसे ढक जाय, पर हे प्रभो आपका ज्ञान किसीसे नही ढकता, यह नित्य उदीयमान है । क्या हो रहा है वहाँ ? उनकी ही स्वयंकी जो ज्योति हैं ज्ञान प्रकाश, उस आत्मप्रकाशमे जो बहुत स्वच्छ उछलता हुआ अमृत प्रवाह है उससे जिसकी महिमा भरपूर है ऐसा वह सिद्ध होता हुआ समस्त

कर्मोसे मुक्त होता है। नीतिमे कहते हैं न शीतलाश्चन्दन चद्ररश्मयो आदि याने शीतल चदन नहीं, शीतल कूपजल नही, शीतल कोल्डस्टोरेज नही, शीतल एयरकडीसन नही, शीतल तो सज्जनोके वचन हैं। मगर परमार्थत शीतल तो अपने ज्ञानकी स्वच्छ रश्मियाँ हैं, जहाँ केवल प्रतिभास है, रागद्वेषका कोई कालुष्य नही, विशुद्ध प्रतिभास। शीतलता तो वहाँ है, यही है चेतन अमूर्त। वह प्रवाह उनके निरन्तर चल रहा है। ज्ञानस्वभावमे से स्वभाव विकास प्रतिसमय उठता चला जा रहा है। जैसे बडे तेज प्रकाशमे और कुछ रश्मियाँ सी दिखती, हल्के एक तीव्र प्रकाशके कण नजर आते और मानो वही वही घूम रहा, प्रवाह हो रहा, ऐसा नजर आ रहा ना? ऐसे ही उस शुद्ध ज्ञानमे चू कि वहाँ ही विकास है अरहत प्रभुका, सिद्ध प्रभुका, तो वह जो शुद्ध ज्ञान प्रकाश है तो मानो उस शुद्ध स्वभावसे उस अनुरूप निरन्तर अमृतका प्रवाह चलता है। उसीसे जिसकी महिमा है।

१५६१—अनन्त आनन्दके अनुभवको सर्वोत्कृष्ट महिमा—

देखिये भगवानकी महिमा किस बातसे है—सहज परम उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव होनेसे। और, यह हो रहा है उस अनन्त ज्ञानके कारण, सो यह अनन्त ज्ञान, यह विशुद्ध सहज ज्ञान प्रकाश, इससे प्रभु की महिमा है। वहाँ तीनो लोकालोक ज्ञेय हो रहे, इससे महिमा नही, वह तो स्वरूप ऐसा है कि इन सब पदार्थोंको अपना समर्पण वहाँ करना पडता है। इतना एक अतुल विकास है कि तीनो लोकको अपना समर्पण करना पडता है। वह वही है, मगर ज्ञेयाकार तो सब आया, उसीको कहा जाता कि समस्त पदार्थोंको अपना ज्ञेयाकार समर्पण करना पड रहा है, हो रहा है। यह उस अद्भुत ज्ञानकी महिमा है मगर इसके कारण भगवान हमारे लिए बडे नही किन्तु एक अद्भुत अलौकिक आनन्दके कारण भगवान बडे हैं। तो सहज परम उत्कृष्ट आत्मीय आनन्दरससे परिपूर्ण तृप्त हैं इस कारण बडे हैं। देखो बडे तो दोनोसे है। अगर कहा जाय कि आपको हम बहुत ज्ञान करायेंगे—यह कला भी सिखायगे, वह कला भी सिखायेंगे, मगर आपको रोटी न देंगे तो भला वह यह बात मजूर करेगा क्या? न मजूर करेगा। जब कभी देशमे आन्दोलन चलता तो रोटी कपडा पहिले देते, तो ऐसे ही अपनेको चाहिये निराकुलता, अपनी रोटी यह है। अपनेको निराकुलता चाहिए, शान्ति चाहिए। चाहे तीनो लोकका ज्ञान न हो मगर शान्ति चाहिए। एक कल्पना करो कि तीनो लोकका ज्ञान भी जग जाय और आकुलता बढ जाय, होता नही ऐसा मगर क्या आप उस ज्ञानको पसन्द करेंगे? अरे आप तो आनन्द चाहेगे। उस शान्तिका मेल है केवल ज्ञानका इसलिए स्वरूप बताया है कि केवल ज्ञान एक यह उत्कृष्ट तत्त्व है, ऐसी वहाँ अनाकुलता भी है। ऐसा अनाकुल स्वरूप, वह सहज ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान वहाँ उदित हुआ है, कैसे हुआ? जैसे हुआ वैसे अपना काम करें।

१५६२—आप्तवाणीकी मगलमयता—

आप्तकी वाणी ही प्रमाणीक है, आप्तका सही अर्थ क्या है, जो धातुसे निष्पन्न हो, आप्त मायने पहुँचा हुआ होना। जैसे कोई बहुत बडा ज्ञानी हो तो कहते हैं कि साहब यह तो बहुत पहुँचे हुए आत्मा है। अरहत भगवान तो बहुत पहुँचे हुए जीव हैं मायने जो समग्र तत्त्वोका ज्ञान करे, ससार पार कर जो उत्तम धाममे पहुँच चुके हैं उनकी वाणी पूर्ण प्रमाणीक है, जैसे कोई नदीको पार करके दूसरे किनारे पर पहुँच गया है उसका कहना सत्य है, अधिकारपूर्ण बात है कि इस दूसरे किनारे खडे हुए लोगोसे कहे कि देखो तुम इस गलीसे आवो, वहाँ गड्ढा है, वहाँ अमुक विपद है, वहाँ से हम चल करके पार हो गए, आप लोग सब इस रास्तेसे चलो और इस किनारे आ जावो, ऐसे ही मानो प्रभुवाणीमे

यह ही संकेत कर रहे कि जैसे हम जिस जिस गलीसे चल-चलकर इस संसार नदीको पार करके इस मोक्षके किनारे पर लग गए हैं ऐसे ही हे भव्य जीव तुम भी इस गलीसे आना। अन्य किसी दूसरी गली से न आना, क्योंकि अन्य अगल बगलकी गलियोमे क्या विपत्ति हैं, क्या विडम्बना है सो इस सही सुगम सहज इस रास्तेसे आवो, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्रकी गलीसे आवो और इस किनारेपर आ जावो जिसपर हम हैं। प्रभु वाणीमे यह ही तो सकेत है, यह रत्नत्रयका रास्ता बड़ा अच्छा है, अपनी शान्ति करलो, सहज अपना ज्ञान करो और अपने स्वरूपमे रम जावो, और गलियाँ बडो खराब हैं, पर वस्तुमे रमे, तो उसकी आशा प्रतीक्षा करनी पडेगी, उससे कृपा चाहेगे, यह जरा प्रसन्न हो जाय तो मुझे सुख मिले। अरे इन विषयोंकी गली छोडो, इनमें तो बहुत पराधीनता है, पर व्यर्थके अज्ञानसे पराधीनता बनी हुई है, तो इस गलीसे मत आइये नही तो डूब जावोगे, जिस गलीसे हम चले है उस गलीसे चलकर आवो और जहां हम हैं वहाँ आ जावो, प्रभुवाणीमे यह ही बताया है, जैसे हो वैसे इस स्वभावका आदर करो। स्वभावका आश्रय लो, अपनेमें सहज निरपेक्ष चैतन्य स्वरूप मात्र है, ऐसी अपनी प्रतीति करें, सब कुछ मिलेगा इसके प्रसादसे। एकको साधा तो सब सध जायगा और जगतमे बाहरी पदार्थोंमें किसीको मनायें, किसीका आश्रय लें तो न वह मिलेगा, न यह मिलेगा। वह तो यो न मिलेगा कि विनश्वर चीज है, आपका उसपर हक भी नही और खुद यो न मिलेगा कि आपने इन बाहरी पदार्थोंमे रुचिकी वहाँ प्रभु प्रसन्न नही होता। वह मिलेगा कैसे ? सो एक निज सहज निरपेक्ष अतस्तत्त्वका आश्रय रखें, इसके प्रतापसे अपना काम बनना है और जैसा बनेगा यह पूर्ण विकसित हो जायगा। इस प्रकार ये प्रभु अपने स्वरूपमे रमकर अपनी चैतन्य महिमाको पूर्ण कर शुद्ध होकर सदा के लिये संसारके सकटों से, कर्मोंसे सबसे छूट गए और अनन्तकालके लिए अपने निज सहज आनन्दका ही अनुभव करेंगे।

बन्धच्छेदात् कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतन्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसरसतोऽत्यन्तगंभीरधीरं पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१६२॥

१५६३—सिद्ध होनेका मूल उपाय बन्धच्छेद—

यह मोक्ष अधिकारका अन्तिम कलश है, कुछ ऐसा सुयोग है कि आज दसलक्षणके दिन पूरे हो रहे और आज ही यह अधिकार भी पूर्ण हो रहा है। और इस कलशमे भी यही कहा जा रहा है कि यह ज्ञान अपनी अचल महिमामे लीन होता है। इस ज्ञानीकी महिमा, बडप्पन, विकास उदारता बहुत विशाल है तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ युगपत् प्रतिभासित हो, ऐसी है इनकी महिमा, और यह महिमा अचल है, आज है, कल न रहे, ऐसा नही है, ऐसी अचल महिमामे अब यह ज्ञान लीन होता है, इस तरह क्या किया पहले, जो इतनी ऊँची बात मिल गई। सर्वप्रथम बंधका छेद हुआ उपयोगसे, श्रद्धासे बधका छेद बहुत पहले हो गया था, और अब विभावोंसे उपेक्षा करना, स्वभावमे ही उपयुक्त रहकर स्वभावके ही अभ्यासमे ऐसी महिमा बैठायें कि कुछ भी अविनाशी अनुपम मोक्षपद प्राप्त हो, मोक्षकी कोई उपमा है ? सिद्ध भगवानको क्या सुख है, सिद्ध भगवानकी क्या स्थिति है, इसके लिए कोई उपमा मिलेगी क्या ? हाँ मिल तो जायगी, बोलो अच्छा, सिद्ध भगवान का पद सिद्ध भगवानकी तरह है, और दूसरा न मिलेगा कहने सुनने को, तो बधका छेद होनेसे इस अतुल अविनाशी मोक्षको पाता हुआ यह ज्ञान ऐसा हो गया कि नित्य प्रकाशमान दशा जहाँ जिसका उद्योत निरन्तर चल रहा ऐसे प्रकाशके कारण जिसकी सहज अवस्था एकदम स्फुटित हो गई, प्रकट हो गयी।

१५६४—मोहमे दुर्लभ ससारकी सुगमता व सुगम मोक्षकी असभवता—

देखो सिद्ध बननेमे कुछ व्यायाम नही पडा, जोर नही पडा, कठिनाई नही पडी, पर ससारमे रहने मे बहुत कठिनाई पडती, न जाने किस किस पर पदार्थ की आशा करें, किस किसका मोह बतायें, किस किसका सग्रह करें, किस किसको मनाये, कितनी ही बातें करनी पडती हैं, तब ही तो इस ससारका मिलना बडा दुर्लभ है, यह अपने वशकी बात नही है, आसानीसे ससार नही मिलता, दुर्लभ है यह ससार न जाने क्या क्या विकल्प करे, न जाने कितनी कितनी चीजोका सग्रह विग्रह करें, बहुत दुर्लभ है ससार और मोक्ष यह बहुत सुगम है, खुदका खुदसे मतलब, खुदको जाने, खुदमे रमे, इसमे न कोई किसी की आशा, न किसीकी प्रतीक्षा, और निज स्वभावके आश्रयसे बस वही स्वभाव प्रकट हो गया, सिद्ध बन गए, तो सिद्ध होना कोई बडी कठिन बात नही, कठिन बात तो यह है ससारमे रुलना सो देखो हम आप लोग ये ससारके जीव है, ये सब ससारके लोग सिद्ध भगवानसे भी बडा काम कर रहे, बडा अज्ञान छाया है इस निर्णयमे कि ऐसे विरुद्ध पराश्रित अनेक मलिनताओसे यह सयोजन, ये काम तो लग रहे आसान और सिद्ध पदकी प्राप्ति यह लग रही कठिन, इसको क्या कहा जाय ? जो मोहका नशा ही कहना चाहिए, जो निजकी बात है, सुलभ बात है, सुगम हैं, सहज है उसकी तो सुध तक नही है और जो असम्भव है उसमे कल्पना लग रही है, तो प्रभुका मार्ग कितना निर्विघ्न है, कितना अनुपम है और कितना एक विडम्बना रहित है, जो अपने आपकी ओर दृष्टि करे उसको तो मोक्ष पाना बिल्कुल स्पष्ट है, इस ज्ञानने अब वह सहज अवस्था दृष्टिमे प्राप्त की ।

१५६५—सहज सौन्दर्य—

भैया, सहज अवस्थामे ही सुन्दरता है । जो बहुत श्रृङ्गार किया जाता है शरीरपर तो यो समझ लो कि शरीरमे खुद सुन्दरता नही इसलिए उसे सजाया जाता । खुद सुन्दरता हो तो सजानेकी क्या जरूरत ? जब अशुचिका भरा है यह शरीर तो कहीसे पसीना बन रहा तो कहीसे नाक बनती, कही से कीचड बनता, कहीसे कुछ, तो यह अपवित्रता लोगोके ध्यानमे नही आये और यह सुन्दर जच जाय, इसका उपाय यह ही है कि चमकदार कपडे पहिन लिये जायें और चमकदार हाथमें कगन पहन लिये जायें, वे चमकते रहेगे तो यह भीतरकी पोल ढकी रहेगी, यह भाव है श्रृङ्गारका । जो अपवित्र शरीर है, जिसे देखकर घृणा होनी चाहिये । अब उस बाहरी बातको ढकनेका क्या उपाय है ? बस यही उपाय है । सो ज्यो ज्यो हम उपाय करते हैं त्यो त्यो क्या बात घटित होती है कि यह कपडा, यह हीरा, यह अगूठी, यह तो सही है, ढग है, जिसके कारण शरीरकी अशुचिता ध्यानसे हटकर बढिया बताना चाहते । बताओ अब वह शरीर बढिया रहा कि कपडा ? सहज अवस्था वही सुन्दर अवस्था है और बनावट अवस्था विकृत अवस्था है, वह एक चिन्ता उत्पन्न करने वाला है, प्रभुकी अवस्था सहज अवस्था है, यह ज्ञान अपने नित्य चेतन प्रकाशके उदित होनेसे सब सहज अवस्थामे आ गया ।

१५६६—सहज परमात्मतत्त्वकी एकाकारस्वरसनिर्भरता—

अब यह ज्ञान एकान्तत शुद्ध है, मायने अत्यन्त शुद्ध है, पर्याय शुद्ध । स्वभाव शुद्ध तो था ही पर्याय शुद्ध और हो गया, ऐसा यह ज्ञान अब अपनी अचल महिमामे लीन हो रहा है । अब क्या है ? एकाकार । मानो जो कुछ जाना जा रहा है वह उसमे रहा स्वभावके अनुरूप, जान गए, तो भी जाना गया सा नही, क्योकि वह ज्ञातादृष्टाकी स्थिति है, सामान्य अवस्था है । सहज अवस्था है इसलिये अब एकाकार हो गया और वही उसका स्वरस है, इसीसे वह भरपूर है । जो था सो ही रह गया,

केवल रह गया, शुद्धपर से रहित जो कुछ है सो ही वह नानाकार होकर भी एकाकार है, तीन लोक तीन कालको जानते हुये भी विकल्पकोंका दृष्टिमे न जाननेकी तरह, ऐसी स्वभावके अनुरूप दशा बनी है। भला एक दृष्टि तो बनाओ, कहते हैं कि रूप, रस, गंध, स्पर्श पुद्गल है। हमे तो विविधता बहुत अच्छी जचती है। नाकसे सूँघों तो गंध लगती, आँखोंसे देखें तो रूप दिखता और रसनासे चखें तो रस समझमे आयगा, और हाथसे छुवें तो स्पर्श समझमे आयगा, मगर सिद्ध भगवानके तो शरीर ही नही, इन्द्रिय ही नही। उन चारोका ज्ञान किस ढग का होता होगा ? कोई अदाज किया जा सकता है ? जैसे यहाँ नानाकारता इसको ध्यानमे आती है ऐसी नानाकारता वहाँ चलती है क्या ? जानता है और नही जानता यो कह लो, जानना भी नहीं जानना सा हो रहा। एकाकार, स्वरस, सब कुछ जान गए मगर स्वरस झरता, अपने ही स्वरसके फलसे वह अत्यन्त गभीर है, ऐसा ज्ञान ही अपनी महिमामें लीन हो रहा।

१५६७—स्वरूपपरिचयसे स्वरूपसर्वस्वकी सिद्धि—

भैया, ऐसी पवित्रताका अपना कार्य बने—इस ज्ञानमे स्वरूपका बोध, परभावका बोध, परपदार्थ का बोध, आत्मवस्तुकी कला, स्वभावका परिचय, उसका अभ्यास। देखिये जिसके ज्ञानमें स्वरूपसर्वस्व आ जाय उसको सरल है सब और जिसके मनमें स्वयका तत्त्व नहीं आता उसको कठिन है। जब सुकौशल आदिककी कथा सुनते हैं सुकौशलकी पत्नीके शुरू शुरूका गर्भ, छोटी अवस्था, वैराग्य हो गया, वनमे पहुँच गये दीक्षा लेने लगे तो मोहियोको अचरज होता और सम्भव है कि कई कई मोही तो यह भी कह उठते होगे कि कुछ दिमाग खराब तो नही हो गया। अरे स्त्रीको छोडकर जा रहा। और ज्ञानी जन आश्चरण करते इस बात पर कि जहाँ कुछ मिलता जुलता नही, वहाँ ये मोही लोग क्यो रम रहे ? अज्ञानी इसपर आश्चर्य करते कि यह सबसे उदास होकर अपनेमे, ज्ञानमे, अपनी दीक्षामे लगे, तो कोई दिमागमे फितूर तो नही हो गया। जिसको जो बात रुचती है उसके लिए वह बात सुगम है। अब पर पदार्थ रुच जाय तो उसे नफा क्या मिलेगा। और स्वरुच गया तो पवित्रता, कल्याण, साक्षात् शान्ति, सब कुछ मिल गया। तो यह भाव क्यो नही बनता कि मुझे पर पदार्थ न रुचे, स्व ही रुचे और इसके लिए थोडा ऐसा जानकर प्रयोग करें। बच्चे पर, मानो आपका हजारो रुपया खर्च होता तो गैर पर, औरोपर उसका कुछ अश तो खर्च करने, की आदत बनाओ, जिससे धीरे-धीरे यह बात समा जाय कि सब जीव समान हैं, अब उस मोहका विकल्प कर रहे, सुन रहे, सब कर रहे, वही इसके लिए प्राण न्योछावर हैं दूसरेको कुछ नही, इतना गहरा जहाँ आग्रह है दृढ, तो वहाँ एक ऐसा प्रयोग कीजिए कि यह कुछ अपनेमे प्रगति कर सके। प्रयोग बनाओ, छोडना तो है ही सब, छूटेगा तो है ही सब। न कोई किसीका लडका, न कोई किसीका कुछ। इस जिन्दगीमे भी नही, मृत्यु बाद तो फिर होगा ही क्या ? अपने सबसे निरालेपनकी, भावना बने तो धर्मलाभ भी मिलेगा। तो मोह ममत्व से दूर हो तो कल्याण बने।

१५६८—मोक्ष-तत्त्वके-निरखकी सम्पूर्णता—

जिसको स्वरूपज्ञान हुआ, उसकी अभ्यास बना, कर्मकी निर्जरा हुई। कर्मकी बात कर्ममे चलेगी आपकी बात आपमे चलेगी। क्या सोचना किसी दूसरेकी बात ? खुदका खुदमे करें ना ? अतस्तत्त्व की दृष्टिका अभ्यास होते होते यह ज्ञानलीनता हो जाती है। वह आराधक ज्ञान ऐसे ज्ञानस्वभावमे आता जो परिपूर्ण है, धीर है, वहाँ चलनपना नही, क्षोभ नही, ऐसा यह ज्ञान अब इस अपने अचल-

स्वरूपमें लीन होता है। लीन हो गया मायने बस वह साफ पार हो गया। अब इसको करनेको कुछ नही रहा। वहाँ तो यह हुआ और यहाँ आराधकका, साधकका, अन्तस्तत्त्वका स्वरूप निरखने वाले का उपयोग भूमिमे किये हुये इस नाटकमे क्या हुआ कि मोक्षका वर्णन करते आ रहे थे, तो अब मोक्ष का वर्णन समाप्त हो रहा, मायने ज्ञानमे जो मोक्षकी बात शुरू हो रही थी, भेष था सो यहाँ मोक्षका निष्क्रान्त हुआ, केवल मोक्षकी चर्चा करने वाले ज्ञान करने वाले उसका उपयोग कर रहे थे, अब दूसरा उपयोग चलेगा। मोक्ष तत्त्वका वर्णन हो चुकनेके बाद अब क्या रह गया कहनेके लिये ? क्योकि कहने के लिये इतनी सारी बातें और रह गई जितनी कि कह चुके। क्यो रह गई। हुआ तो सब मगर राग वासनासे वे सब भूल गये। अब वही चर्चा फिर होना। किन्तु लेखनकी रचनामे वह अधिकार तो कुछ नही आता कि वे सब अधिकार तो इस साधकके चिंतनमे मननमे कई बार आयेंगे। मगर लिखनेमे कुछ भी अधिकार न आयगा। सारभूत जिसका आश्रय करनेसे सकट टलते हैं, मुक्ति प्राप्त होती है, बस एक निचोड़ रूप, सारभूत ब्रह्मस्वरूप सर्वविशुद्ध ज्ञान, बस उसकी चर्चा सुन लेनेके नातेसे होगी, बाकी जो वक्तव्य था ७ पदार्थोंके बारेमे सक्षिप्त, वह इस अधिकारमे अब समाप्त हो रहा है।

इति समयसार कलश प्रवचन तृतीय-चतुर्थ भाग समाप्त।

म०प्र० वर्णी जैनसाहित्य मंदिर जबलपुर हेतु उमाशकर पाण्डे, सरस्वती प्रेस, लार्डगंज जबलपुर द्वारा मुद्रित।